प्रथम भाग

योगवासिष्ठ

भाषा

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

सच्चिदानन्दाय नमः

योगवासिष्ठ भाषा

प्रथम भाग

जिसमें-

१-वैराग्यप्रकरण, २-मुमुक्षुप्रकरण, ३-उत्पत्तिप्रकरण,

४-स्थितिप्रकरण, ५-उपशमप्रकरण है।

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई

संस्करण : अगस्त २०१७, सम्वत् २०७४

मूल्य : १२०० रुपये मात्र

मुद्रक एवं प्रकाशक
खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष : श्री वेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग
मुंबई – ४०० ००४

Printers & Publishers
Khemraj Shrikrishnadass
Prop : Shri Venkateshwar Press
Khemraj Shrikrishnadass Marg.
7 th Khetwadi, Mumbai. 400 004
Tel / Fax : 91 22 23857456

Web Site : http://www.khe_shri.com
E-Mail khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s.Khemraj Shrikrishnadas
Prop.: Shri Venkateshwar Press, Mumbai 400004
at their Shri Venkateshwar Press,
66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411013

ॐ

सच्चिदानन्दाय नमः

योगवासिष्ठ भाषा

प्रथम भाग

जिसमें

१ वैराग्यप्रकरण, २ मुमुक्षुप्रकरण, ३ उत्पत्तिप्रकरण,
४ स्थितिप्रकरण, ५ उपशमप्रकरण है ।

मुद्रक एवं प्रकाशक:

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,

खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, मुंबई - ४०० ००४.

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,™
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers :
Khemraj Shrikrishnadass Prop: Shri Venkateshwar Press, Khemraj Shrikrishnadass Marg, 7th Khetwadi, Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.Khe-shri.com
Email : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s.Khemraj Shrikrishnadass Proprietors Shri Venkateshwar Press, Mumbai-400 004, at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411 013

श्रीसच्चिदानन्दब्रह्मणे नमः

प्रस्तावना

हे पाठकगण! उस सच्चिदानन्द परब्रह्म को हम कोटिशः धन्यवाद देते हैं कि, जिसने वेदान्तसिद्धांत वाक्यरूप कतरनियों से हमारा मायाजाल कतरकर उद्धार किया है और आनन्दमय अपना धाम दरशाया है। अहो! उस दयालु प्रभु की दयालुता को हम कैसे वर्णन कर सकते हैं कि, जिसने चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमते हुए हम लोगों को मनुष्य शरीर दिया, फिर भी हमारा अज्ञान नष्ट करने के लिये वेदान्तशास्त्र प्रकट किया। हाय! इतने पर भी हम न समझें तो हमारी ऐसी मूर्खता है कि, जैसे हथेली पर आया हुआ अमृत अज्ञान से त्याग देना और खाना नहीं। अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं कि, उसी वेदांतसिद्धांत शास्त्र में यह एक ग्रन्थ योगवासिष्ठ है जिसे कि महर्षि वाल्मीकिजी ने निर्माण किया है और वसिष्ठजी महाराज ने रघुवंशमणि श्रीरामचन्द्रजी के प्रति उपदेश किया है। अहो! इस ग्रन्थ की शैली को क्या अन्य ग्रन्थ प्राप्त हो सकता है? कदापि नहीं, कि जिसमें वेदान्त के गूढ पदार्थ कथारूप करके ऐसी सरलरीति से दर्शाये हैं मानो करतल में आमलक। अब इस आबालवृद्ध विख्यात अतिअवदात ग्रन्थ की अविज्ञात ग्रन्थ के समान प्रशंसा करनी उचित न समझकर इस भाषाग्रन्थ के विषय में लिखता हूँ कि, यह योगवासिष्ठ भाषा ग्रन्थ ऐसा कदापि न जानना चाहिये कि, अज्ञान भ्रम को दूर नहीं कर सके, यह अवश्य ही अज्ञान भ्रम को दूर करता है क्योंकि, किसी महात्मा ने युक्ति के साथ कहा है. जैसे कि:—

दोहा—ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी वाणी वेद ।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद ।।१।।

इसलिये जब अन्य ब्रह्मज्ञानीजनन की भाषावाणी भी अज्ञान दूर करने के लिये वेदरूप है तो फिर महर्षि वाल्मीकिजी के ग्रन्थ के भाषानुवाद का तो कहना ही क्या है। यद्यपि यह ग्रन्थ अक्षरार्थानुरूप अनुवादित नहीं किया गया किंतु कथानुरूप अनुवादित किया गया है तथापि इसके कथा दृष्टांतो को दार्ष्टांतिकों पर ऐसा समेटा है कि, मानो सागर का जल गागर में भर लिया है। इसका कथानुरूप अनुवाद होना का कारण भिन्न भिन्न प्रकार से सुना जाता है। कोई तो कहते हैं कि कोई महात्मा कहीं योगवासिष्ठ की कथा श्रवण करके आया करते और अति दयालुता से मुमुक्षुजनों के हितार्थ उतनी ही कथा को कण्ठ से लिखा लिया करते थे, और कोई ऐसा कहते हैं कि, अब से १०० वर्ष पूर्व पंजाब देश के अन्तर्गत सर्वविज्ञात पटियाला नामक राजधानी में श्रीसाहबसिंह नाम वाले राजा हुए उनकी दो बहिनें विधवायें थीं। उनकी अद्वैतमत में अत्यंत निष्ठा थी इसलिये वेदान्तशास्त्र की ही कथा श्रवण किया करती थीं। एक समय निरंजनी साधु रामप्रसादजी के मुख से इन्होंने इस योगवासिष्ठ की कथा श्रवण करी पश्चात् वेदांतसिद्धान्त का प्रकाश सूर्यरूप इस ग्रन्थ को समझकर इन्होंने विचार किया कि, यह उत्तम ग्रन्थ देववाणी में होने से सर्वोपयोगी नहीं इसलिये इसकी भाषा कराकर हम ऐहलौकिक यश और पारलौकिक कल्याण को प्राप्त होवें ऐसा विचारकर फिर उसी (उक्त) साधु से कथा का प्रारंभ कराया और दो पंडित लिखने के वास्ते बैठा दिये, जैसे जैसे ये साधु कथा का

व्याख्यान करते गये वैसे वैसे ही पंडित लिखते गये। आशय यह कि, व्याख्यानरूप यह योगवासिष्ठ की सम्पूर्ण कथा पंजाबीमिश्र हिन्दीभाषा में लिखी गयीं और दोनों पुस्तकों का मिलान कर एक शुद्ध प्रति बनायी गयी। पश्चात् अति उत्तम होने के कारण शीघ्र ही यह ग्रन्थ सब देशों में प्रचलित हो गया। इन पूर्वोक्त उपकारपरायणों को हम कोटिशः धन्यवाद देते हैं कि, जिन्होंने परलोक सुखसाधन भूत यह ग्रन्थ प्रचलित करके परम उपकार किया। इस ग्रन्थ के वैराग्य आदि षट् (६) प्रकरण हैं उनमें उस उस नामवाले प्रकरण में उस उस विषय का ऐसा वर्णन किया है कि, मानों साक्षात् मूर्त्तिमान् वह विषय उपस्थित है। इस प्रकार वेदान्तसिद्धान्त इसमें ऐसा दर्शाया गया है कि, जिसका श्रवण मनन और निदिध्यासन करने से अवश्य ही मनुष्य प्रपंचजाल से छूटकर मोक्षपद का भागी हो जाता है। इस ग्रन्थ की पंजाबी मिश्रित हिन्दी भाषा को विशुद्ध हिन्दी में करने का आग्रह बहुत दिनों से पाठकगण कर रहे थे। हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत संस्करण संस्कृत तथा हिन्दी के विशिष्ट विद्वान् श्री० पं० हरदत्तजी शर्म्मा शास्त्री (जम्मू–काश्मीर निवासी) की लेखनी द्वारा अत्यन्त सरल, सुगम और परिमार्जित हिन्दी भाषा में कराकर हम जन–जनार्दन की सेवा में यथा–विषय और विशुद्ध रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है विद्वत्समाज और महात्मा वृन्द को सुरुचिकर होगा। इसे सर्व समय विचारोपयोगी होने के कारण इसके दो भाग किये गये हैं। अब महात्माओं से निवेदन है कि इसमें कहीं दृष्टिदोष से जो अशुद्धियां रह गयी हों उन्हे क्षमा करें।

आपका कृपाकांक्षीः—

खेमराज श्रीकृष्णदास

श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई–४



श्रीयोगवासिष्ठ की अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

इति

ॐ

परमात्मने नमः ।

अथ श्रीयोगवासिष्ठे

वैराग्यप्रकरण–प्रारंभः ।

प्रथमः सर्गः १.

अथ कथारंभवर्णनम् ।

आत्मा, जो कि सत् चित् आनन्द रूप है, उसको नमस्कार है। वह आत्मा कैसा है? जिससे यह सब दृश्य भास रहा है, और जिसमें यह सब लीन होता है तथा– जिसमें सब स्थित है। उस सत्य आत्मा को नमस्कार है। ऐसे ज्ञानरूप आत्मा को जिससे कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, कर्ता, करण, क्रिया, सिद्ध होते हैं। जिस आनन्द सागर के एक कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दवान् है और जिस आनन्द से सब जीव जीते हैं, उस आनन्द आत्मा को नमस्कार है।

अगस्त्यमुनि का एक सुतीक्ष्ण नाम शिष्य था, उसके मन में कुछ संशय उत्पन्न हुआ, उसकी निवृत्ति के लिये वह अगस्त्य मुनि के आश्रमपर गया। उसने विधिपूर्वक नम्रभाव से मुनिवर को प्रणाम किया और बोला – हे सर्वतत्वज्ञ? सर्वशास्त्रों के ज्ञाता भगवन्! मेरे मन में एक संशय है।

कृपा करके आप उसे निवृत्त कीजिये! मोक्ष का कारण ज्ञान है कि कर्म है, या दोनों हैं! वास्तव में मोक्ष का जो कारण है उसे कहिये!

अगस्त्य बोले—हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म मोक्ष का कारण नहीं और केवल ज्ञान से भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता, दोनों ही से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता। अन्तःकरण की शुद्धि के बिना केवल ज्ञान से भी मुक्ति नहीं होती, तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण शुद्धि हुए बिना न तो ज्ञान—निश्चय भली भाँति होता है और न ज्ञान की स्थिति होती है, इसलिए दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्योंकि जब कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है और मोक्ष की प्राप्ति होती है—जैसे दोनों पंखों से पक्षी आकाश मार्ग में उड़ सकता है ऐसे ही कर्म और ज्ञान दोनों से मोक्ष सिद्धि होती है। हे ब्रह्मण्य! इस विषयपर एक पुरातन इतिहास है, उसे सुनो—

एक कारुण्य नाम ब्राह्मण जो कि अग्निवेश्य का पुत्र था, गुरु के पास जाकर चारों वेदों का षडङ्ग सहित अध्ययन करके घर पर आया और कर्म से रहित होकर चुप—चाप बैठा रहने लगा, सारांश यह कि संशययुक्त होने से उसने कर्म का त्याग कर दिया। पिता ने उसकी ऐसी अवस्था देखकर कहा— बेटा! तू कर्म का पालन क्यों नहीं करता, कर्म किये बिना कृतार्थ कैसे होगा। अपने कर्म के त्याग का कारण मुझे सुना!

कारुण्य बोला, हे पिताजी! मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हुआ है उसीसे मैं कर्म रहित हुआ हूँ सुनिये! वेद ने एक स्थान पर कहा है कि जबतक—जीता रहे तब तक कर्म करे, अग्निहोत्रादि कर्मों का कभी त्याग न करे। और वेद ने ही दूसरे स्थान पर कहा है धन से मोक्ष नहीं होता, कर्म से मोक्ष नहीं होता, केवल त्याग से मोक्ष होता है, इन दोनों पक्षों में मेरा क्या कर्तव्य है! मेरा यह संशय कृपा करके निवृत्त कीजिये।

अगस्त्यमुनि बोले—हे सुतीक्ष्ण! जब कारुण्य ने पिता को इस प्रकार कहा तब अग्निवेश्य कहने लगे, हे पुत्र! मैं तुम्हें एक पुरानी कथा सुनाता

हूँ उसको अपने हृदय में धारण कर, आगे जो तेरी इच्छा हो सो करना।

· सब अप्सराओं में उत्तम एक सुरुचि नाम की अप्सरा थी, वह एक समय हिमालय के शिखर पर बैठी थी। हिमालय मन की कामनाओं को पूर्ण करने वाला है, जहां देवता और किन्नर लोग अप्सराओं से क्रीड़ा कर रहे हैं और जहां गंगा का परम पावन प्रवाह लहरें लेता चला आरहा है। शिखरपर बैठी हुई सुरुचि ने देखा कि इन्द्र का दूत अन्तरिक्ष से चला आरहा है। जब वह समीप आगया– तब उसे अप्सराने कहा अहो सौभाग्य देवगण श्रेष्ठ–देवदूत! कहो कहाँ से आये और कहाँ जा रहे हो। देवदूत बोला हे सुभद्रे! कहता हूँ–सुनिये–

अरिष्टनेमि नाम के एक राजर्षि ने अपने पुत्र को राज्य देकर स्वयं वैराग्य धारणकर लिया। समस्त विषय वासना का त्याग करके गंधमादन पर्वतपर जाकर उग्रतप करने लगा। उस धर्मात्मा के साथ मुझे कुछ काम था उसे पूरा करके आ रहा हूँ। इन्द्र के पास जाकर मुझे सारा वृतान्त कहना है क्योंकि मैं उसका दूत हूँ। अप्सरा बोली–भगवन्! वह वृत्तान्त कैसा है, मुझे भी सुनाओ। तुम मुझे अतिप्रिय लग रहे हो, इसीलिये पूछती हूँ। महापुरुष अवश्य ही प्रश्न का उत्तर देते हैं, अतएव मैं आपसे पूछ रही हूँ।

देवदूत बोला – हे भद्रे! उस वृत्तान्त को सुनो–मैं विस्तार से कहता हूँ, उस राजा ने गन्धमादन पर्वतपर जाकर बड़ा कठिन तप किया, तब देवताओं के राजा इन्द्र ने मुझे बुलाकर आज्ञा दी कि हे दूत! तुम गन्धमादन पर्वतपर जाओ और अपने साथ विमान, अप्सराएँ, गन्धर्व, यक्ष किन्नर, ताल, मृदंग वादित्र आदि सब सामग्री ले जाकर उस राजा को विमान पर बैठाकर यहां (स्वर्ग) में ले आओ। हे सुन्दरि! इन्द्र की आज्ञानुसार मैं सर्व सामग्री सहित वहां पंहुचा और मैंने राजा से कहा–राजन्! मैं आपके लिये विमान लाया हूं, इसपर बैठकर स्वर्ग में चलिये और वहां–देवताओं के भोग भोगिये ? मेरी बात सुनकर राजा ने कहा–

हे देवदूत! पहिले तुम स्वर्ग का वृत्तान्त मुझसे कहो–कि तुम्हारे स्वर्ग में दोष क्या और गुण क्या हैं! स्वर्ग के गुण दोष सुनकर मैं विचार करूंगा कि मुझे क्या करना चाहिये। देवदूत बोला राजन् ? स्वर्ग में बड़े दिव्य भोग होते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति जीवों को बड़े पुण्य से होती है। जो बड़े पुण्यवाले लोग होते हैं। उन्हें उत्तम सुखवाले स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो मध्यम पुण्यवाले होते हैं उन्हें मध्यम सुखवाले स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो कनिष्ठ पुण्यवाले हों उन्हें कनिष्ठ सुखवाला स्वर्ग मिलता है यह स्वर्ग के गुण मैंने आपको सुना दिये, अब स्वर्ग के दोष सुनिये। हे राजन् स्वर्ग में जो अपने से ऊँचे आसन पर बैठे दीखें और उत्तम सुख भोगते जान पड़ें उन्हें देखकर सन्ताप पैदा होता है, क्योंकि उनकी उत्कृष्टता सही नहीं जाती।

जो लोग अपने समान सुख भोगते हैं उन्हें देखकर क्रोध उत्पन्न होता है कि–यह मेरे समान क्यों बैठा है और जो अपने से नीचे बैठे हैं और कनिष्ठ पुण्यवाले हैं उन्हें देखकर अभिमान उत्पन्न होता है कि मैं इनसे श्रेष्ठ हूं। एक और भी दोष है कि जब जिसके पुण्य क्षीण होते हैं उसे तुरन्त मृत्यु लोक में गिरा दिया जाता है, वहाँ एक क्षण भी रहने नहीं दिया जाता। हे राजन् आपके प्रश्न के अनुसार यह–मैंने स्वर्ग के गुण दोष कहे हैं।

हे भद्रे! जब मैंने राजा से इस प्रकार कहा, तब राजा बोले–हे देव, दूत! हम इस स्वर्ग के योग्य नहीं और हमें ऐसे स्वर्ग की इच्छा भी नहीं, हम तो–उग्र तप करेंगे और तप द्वारा इस देह को भी त्याग देंगे, जैसे सर्प अपनी पुरानी त्वचा का त्याग करता है, वैसे ही हम भी देह का त्याग करेंगे। हे देवदूत! तुम अपने विमान को जहां से लाये हो, वहीं ले जाओ हमारा नमस्कार है।

हे देवि! जब राजा ने इस प्रकार मुझसे कहा, तब मैंने विमान अप्सरा आदि सबको लेकर स्वर्ग में आकर इन्द्र से सारा वृत्तान्त कहा। इन्द्र ने प्रसन्न होकर मधुर वाणी से मुझे कहा–हे दूत! तुम फिर वहीं राजा के पास जाओ। वह संसार से उपराम हुआ है उसको आत्मपद की इच्छा है.

उसको साथ लेकर आत्म तत्त्व को आत्म रूप से जाननेवाले वाल्मीकि के पास ले जाओ। मेरा संदेश कहना कि हे महर्षि! इस राजा को तत्त्वबोध का उपदेश कीजिये! क्योंकि यह तत्त्वबोध का अधिकारी है। इसे स्वर्ग की भी इच्छा नहीं, यह सब प्रकार की कामनाओं से रहित है, इसलिये इसको तत्त्व ज्ञान का उपदेश दीजिये कि जिसे प्राप्त करके संसार दुःख से मुक्त हो जाय।

हे सुभद्रे! जब इस प्रकार देवराज ने मुझसे कहा, तब मैंने वहाँ राजा के पास जाकर उसे कहा कि राजन्! संसार सागर से पार होने के लिये वाल्मीकिजी के पास चलो वे तुम्हें उपदेश देंगे। इस प्रकार मैं राजा को साथ लेकर वाल्मीकिजी के आश्रम पर पहुँचा। वहाँ राजा को बिठाकर वाल्मीकिजी से इन्द्र का संदेश कहा। अब वहाँ जो कुछ वृत्तान्त हुआ उसे सुनिये। जब वहाँ जाकर राजा प्रणाम करके बैठ गये, तब वाल्मीकि बोले–राजन्! कहो कुशल है!

राजा ने कहा–हे भगवन् परम तत्त्वज्ञ वेत्ताओं में श्रेष्ठ! मैं आपके दर्शन से कृतार्थ हुआ हूँ और अपना परम कुशल मानता हूँ. प्रभो! कुछ पूछना चाहता हूँ कृपा करके कहिये, जिससे मैं संसार बन्धन से मुक्त हो जाऊँ।

श्रीवाल्मीकि बोले– हे राजन्! महारामायण रूप औषध का प्रभाव तुमसे कहता हूँ उसे सुनकर उसका तत्त्व हृदय में धारण करने का प्रयत्न करो।उसके धारण करने अर्थात् उसे यथार्थ जान लेने से जीवन्मुक्त होकर विचरोगे। हे राजन् यह वसिष्ठजी और रामचन्द्रजी का सम्वाद है। उसमें मोक्ष के उपाय की सब कथा कही गयी है। उसको सुनकर जैसे श्रीरामचंद्रजी स्वभाव में स्थित हुए और जीवन्मुक्त होकर विचरे हैं, वैसेही तुम भी विचरोगे।

राजा बोले– हे भगवन्! रामचन्द्रजी कौन थे कैसे थे, और कैसे होकर विचरे, यह कृपा करके कहो। वाल्मीकिजी बोले– हे राजन्! शाप के वश से भगवान् विष्णु ने अपनी माया से मानव शरीर धारण किया। यद्यपि–भगवान् अद्वैत ज्ञान सम्पन्न हैं, तो भी अपनी योग माया द्वारा

मनुष्य शरीर धारण किया। राजा बोले–हे भगवन्! चिदानन्दरूप हरि को किस कारण से शाप हुआ और किसने दिया। वाल्मीकि बोले–हे राजन्! एक समय की बात है कि निष्काम महात्मा सनत्कुमारजी ब्रह्मपुरी में बैठे हुए थे कि इतने में त्रिलोकीपति विष्णु भगवान् वैकुंठ से उतर कर ब्रह्मपुरी में आये। उन्हें देखकर सारी सभा ब्रह्मासहित उठकर खड़ी हुई और उनका पूजन किया। परन्तु सनत्कुमार ने पूजन नहीं किया। इसको देख विष्णुभगवान् बोले–हे सनत्कुमार! तुम्हें निष्कामता का अभिमान है, इसलिये तू सकाम होकर अवतार लेगा और स्वामिकार्तिक तुम्हारा नाम होगा। विष्णुभगवान के ऐसा कहने पर सनत्कुमार बोले–हे विष्णु! तुम्हें सर्वज्ञताका अभिमान है, कुछ समय के लिये तुम्हारी सर्वज्ञता निवृत्त होगी और तुम्हें प्राकृत मनुष्यसा होना पड़ेगा।

हे राजन्! एक तो यह शाप हुआ और भी सुन–एक समय स्त्री के वियोग में दुःखी हुए भृगुजी को देखकर विष्णुजी हँसे, तब भृगु ब्राह्मण ने शाप दिया–हे विष्णु! मुझे देखकर तुम हँसे हो, इसलिये मेरे सामने तुमको भी स्त्री के वियोग में आतुर होना पड़ेगा।

एक समय देवशर्मा ब्राह्मण ने नरसिंह भगवान् को शाप दिया था उसे भी सुनलो– एक दिन नरसिंह गङ्गा तीर पर गये, वहाँ देवशर्मा ब्राह्मण की स्त्री को भयानक रूप दिखाकर हँसे, उन्हें देख ऋषि की स्त्री ने भयभीत होकर प्राण छोड़ दिये। तब देवशर्मा ने शाप दिया कि तुमने मुझे स्त्री से वियुक्त किया, इसलिये तुम भी स्त्री के वियोग से दुःख पाओगे।

हे राजन्! भृगु, सनत्कुमार, देवशर्मा और वृन्दा के शाप से विष्णु भगवान् को मनुष्य का शरीर धारण करना पड़ा। वह राजा दशरथ के घर में प्रकट हुए। हे राजन्! यह शरीर धारण करने का और आगे का, जो वृत्तान्त है उसको सावधान होकर सुनो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कथारंभवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २.

कथारंभवर्णनम् ।

देवलोक, पृथ्वीलोक और पाताल लोक रूप त्रिलोकी को प्रकाशित करनेवाले अन्दर बाहर आत्मतत्त्व से परिपूर्ण अनुभवात्मक मेरी आत्मसत्ताको नमस्कार है। हे राजन्! यह शास्त्र, जो आरंभ किया गया है इसका विषय क्या है? प्रयोजन क्या है ? सम्बन्ध क्या है और अधिकारी कौन है ? सुनो– सत् चित् आनन्दरूप अचिन्त्य, चिन्मात्र आत्मा का वर्णन ही इसका विषय है, परमानन्द आत्मा की प्राप्ति और अनात्म अभिमान दुःखकी निवृत्ति इसमें प्रयोजन है, मुक्ति लाभके लिये ब्रह्म विद्या द्वारा आत्म प्रतिपादन ही इसमें सम्बन्ध है। और–जिसको निश्चय हुआ है कि मैं अद्वैत ब्रह्म अनात्म देह का साथी हुआ हूँ किस प्रकार छूटूँ, जिसे ऐसा ज्ञान है और जो मुमुक्षु है ऐसा विकृति आत्मा यहाँ अधिकारी है। इस शास्त्र का मोक्ष उपाय है, परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष की महिमा है। जो पुरुष इस मुक्तिप्रद शास्त्र का विचार करे, वह ज्ञानवान् होकर फिर जन्म मृत्युरूप संसार में नहीं आता। हे राजन्! यह महारामायण परम पावन है, इसके श्रवण मात्र से सब पाप निर्मूल होते हैं। इसमें रामकथा है वह मैंने पहले अपने शिष्य भरद्वाज को सुनाई है। एक समय भरद्वाज एकाग्र चित्तहो मेरे पास आया था उसको मैंने उपदेश किया था, जिसे सुनकर उसने वचन रूपी समुद्र के साररूप रत्न हृदय में धारण कर लिये। वह एक समय सुमेरु पर्वत पर गया, वहां पितामह ब्रह्मा बैठे हुए थे, भरद्वाजने उन्हें प्रणाम किया और उनके पास बैठ गया और उसने ब्रह्माजीको यह कथा सुनाई।

तब ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर भारद्वाज से कहा– हे पुत्र! कुछ वर मांग, मैं तुझपर प्रसन्न हुआ हूँ। हे राजन्! जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने कहा, तब परम उदार आशय वाले भरद्वाज ने कहा– हे भूत, भविष्य के ईश्वर! यदि आप प्रसन्न हुए हैं, तो यह वर दीजिये कि जिस उपाय से सम्पूर्ण जीव संसार के दुःख से मुक्त होकर परम पद को पासकें ऐसा उपाय मिले।

ब्रह्मा बोले— हे पुत्र! तुम अपने गुरु वाल्मीकि के पास जाओ, उसने जो आत्मबोध महारामायण अनिंदित शास्त्र का आरम्भ किया है उसको सुनकर जीव महामोह संसारसमुद्र से पार हो जायेंगे। महारामायण शास्त्र संसारसमुद्र तरने के लिये सेतुरूप है और परम पावन है।

वाल्मीकि बोले— हे राजन्! जब इस प्रकार कहा, तब परमेष्ठी ब्रह्मा भरद्वाजको साथ लेकर स्वयं मेरे आश्रममें आये, मैंने यथोचित रीतिसे उनका पूजन किया। सर्वभूतोंके हितैषी भगवान् ब्रह्माने मुझसे कहा—हे मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि! यह जो राम स्वभावकी कथा का आरंभ तुमने किया है, इस उद्योग का त्याग न करदेना। इसको आदि से अन्त पर्यन्त समाप्त करना होगा। यह मोक्ष उपाय संसार सागर पार करनेके लिये जहाज है, इससे सब जीव कृतार्थ होंगे।

वाल्मीकि बोले—हे राजन्! इस प्रकार मुझसे कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। जैसे समुद्रसे आर्वतचक्र एक मुहूर्तभर उठकर फिर लीन हो जाता है, ऐसेही ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये, तब मैंने भरद्वाज से कहा—हे पुत्र! ब्रह्माजी ने क्या कहा।

भरद्वाज बोले— हे भगवन्! आपको ब्रह्माने ऐसा कहा है कि हे मुनिश्रेष्ठ! तुमने जो यह रामके स्वभाव कथन का उद्योग किया उसका त्याग न करना, अन्त पर्यन्त अवश्य पूर्ण करना। यह कथा संसार समुद्र पार करने के लिये जहाज है, इससे अनेक जीव कृतार्थ होंगे अर्थात् संसार संकट से मुक्त होंगे।

वाल्मीकिजी बोले—हे राजन्! जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने मुझे कहा, तब उनकी आज्ञाके अनुसार मैंने इस ग्रन्थका निर्माण किया। और भरद्वाजको कहा—हे पुत्र! वसिष्ठजीके उपदेशको पाकर जिस प्रकार रामजी निश्शंक होकर विचरे हैं, उसी प्रकार तुम भी विचरो। तब उसने प्रश्न किया.

भरद्वाज ने कहा— हे भगवन्! जिस प्रकार रामचन्द्र जीवन्मुक्त होकर विचरे हैं, वह कथा प्रारम्भसे क्रमपूर्वक मुझसे कहो।

वाल्मीकिजी बोले— हे भरद्वाज! रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, कौसल्या, सुमित्रा, दशरथ यह आठों अष्टमन्त्री, अष्टगुण आदि लेकर जीवन्मुक्त होकर विचरे हैं। उनके नाम सुनो— रामजी से लेकर दशरथ पर्यन्त आठ तो यह कृतार्थ हुए हैं, अविरोध परम बोधवान् हुए हैं और कृतभासी १ शतवर्धन २ शुकधाम ३ विभीषण ४ इन्द्रजित् ५ हनुमान ६ वसिष्ठ ७ वामदेव ८ यह अष्टमन्त्री निश्शंक होकर चेष्टा करनेवाले हुए हैं और सदा अद्वैत निष्ठ रहे हैं, इनको कभी स्वरूपसे द्वैतभावका स्फुरन नहीं हुआ, यह अनामय पदकी स्थिति जो केवल चिन्मात्र शुद्ध पद है प्राप्त कर तृप्त हुए हैं और परम पावनता को प्राप्त हुए हैं, इनके समान चलोगे तो जानलो मुक्त हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कथारंभवर्णनंनाम् द्वितीयः सर्गः॥२॥

तृतीयः सर्गः ३.

अथ तीर्थयात्रावर्णनम्।

भरद्वाजने कहा—हे भगवन्! जीवन्मुक्तकी स्थिति कैसी होती है ? और रामजी किस प्रकार जीवन्मुक्त हुए हैं ? आदिसे लेकर अन्त पर्यन्त सब कहो। वाल्मीकिजी बोले—हे पुत्र! यह जगत् जो भासता है वास्तवमें कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, अविचारसे भासता है, विचार करनेसे निवृत्त हो जाता है, जैसे आकाशमें जो नीलता भासती है, यह भ्रमसे है, जब विचार करके देखें तब नीलताकी प्रतीति दूर हो जाती है, इसी प्रकार अविचारसे जगत भासता है और विचारसे लीन हो जाता है, हे शिष्य! जब तक सृष्टिका अत्यंत अभाव नहीं होता, तब तक परम पदकी प्राप्ति नहीं होती। जब दृश्यका अत्यंत अभाव होजाय, तब शुद्ध चिदाकाश आत्मसत्ता भासेगी।

कई इस दृश्य को महाप्रलय में कदाचित् अभाव कहते हैं, परन्तु मैं तुमको तीनों ही काल का अभाव कहता हूँ। इस शास्त्र को श्रद्धावान् होकर आदिसे अन्त पर्यन्त सुनो और उसको धारण करो, तब भ्रान्ति निवृत्ति हो जायेगी और अव्याकृत पद की प्राप्ति होगी, हे शिष्य! संसार भ्रममात्र सिद्ध है, इसको भ्रममात्र जानकर विस्मरण करना ही मुक्ति है और वासना ही बन्धन का कारण है, वासना से भटकता फिरता है। वासना का क्षय होजाने से परम पद की प्राप्ति होती है। जो वासना में फिरता है, उसका नाम मन है। जैसे जल सरदी की दृढ़ जड़ता पाकर बर्फ बन जाता है और सूर्य के ताप से गलकर फिर जल हो जाता है तब केवल अपने शुद्ध जल रूप में रहता है, इसी प्रकार आत्मारूपी जल में संसार की सत्यतारूपी जड़ता शीतलता है उससे मनरूपी बर्फ का पुतला बना है, जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होगा, तब संसार की सत्यतारूपी जड़ता शीतलता निवृत्त हो जायगी।

जब संसार की सत्यता और वासना निवृत्त हो गयी तब मनका नाश हो जायगा। जब मन नष्ट हुआ तब परम कल्याण की प्राप्ति निश्चित है। इसलिये इसके बन्धनका कारण वासना है और वासना के क्षय से मुक्ति है, वह वासना दो प्रकार की है, एक शुद्ध और दूसरी अशुद्ध अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से अनात्मरूप देहादिक में अहंकार करने पर जब अनात्मा में आत्म अभिमान होता है तब नाना प्रकार की वासना उपजती है उससे घटीयन्त्र के समान चक्र घूमता है, हे साधु! यह जो पञ्चभूत का शरीर देखते हो सब वासना रूप है, वासना चक्र है, जैसे—मनके धागेके आश्रयसे खड़े रहते हैं और धागे के टूट जानेपर अलग अलग हो जाते हैं, ठहर नहीं सकते। वैसे—ही वासनाके क्षय होनेपर पंचभूतों का शरीर नहीं रहता, इसलिये सब अनर्थों का कारण अशुद्ध वासना है। शुद्ध वासना में जगतका अत्यन्त अभाव निश्चय हो जाता है। हे शिष्य! अज्ञानीका निश्चय वासनासे अनेक जन्मोंका कारण बन जाता है और ज्ञानीकी वासना अनेक जन्मोंका कारण नहीं बनती, जैसे—एक कच्चा बीज होता है दूसरा दग्धबीज होता है, उनमें जो कच्चा है वह

फिर उत्पन्न होता है और जो दग्ध है वह फिर नहीं उत्पन्न होता, ऐसे ही अज्ञानी की वासना रस सहित है। इसलिये जन्मका कारण है और ज्ञानीकी वासना रस रहित है वह जन्म का कारण नहीं, ज्ञानीकी चेष्टा स्वाभाविक गुणके अनुसार आरम्भ होती है। ज्ञानी किसी गुणके साथ मिलकर चेष्टा नहीं करता, खाता है, पीता है, देता है, बोलता है, चलता है विचार करता है, परन्तु अन्दर अपने आपमें सदा निश्चेष्ट अद्वैत भावमें रहता है, उसको कभी द्वैतभावना फुरतीही नहीं, वह अपने स्वभावमें स्थित है इसलिये निर्गुण और अरूप है, उसकी चेष्टा जन्म का कारण नहीं है, जैसे कुम्हारके चक्र को जब तक घुमाया जाय तब तक घूमता है, जब घुमाना छोड दिया जाय तो मन्द गतिसे उतरता उतरता स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार जबतक अहंकार सहित वासना होती है तब तक जन्म पाता है, जब अहंकार से रहित हुआ, तब पुनर्जन्म नहीं पाता है।

हे साधु! इस अज्ञान रूपी वासना का नाश करने के लिये ब्रह्म विद्या ही एक अति उत्तम उपाय है। ब्रह्मविद्या मोक्षदायक शास्त्र है, यदि इस शास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्र में प्रवेश करोगे तो कल्पपर्यन्त भी अव्याकृत पद की प्राप्ति न होगी, और यदि ब्रह्मविद्या की शरण में आओगे तो आनन्द से आत्मपद की प्राप्ति हो जायगी। हे भरद्वाज! यह मोक्ष उपाय श्रीरामजी और वसिष्ठजी का संवाद है, विचार के योग्य है, बोध का परमकारण है, इसलिये आदि से अन्तपर्यन्त इसे सुनो कि रामजी किस प्रकार जीवनमुक्त होकर विचरे हैं। एक दिन श्रीरामजी विद्या पढ़कर अध्ययनशाला से घर आये, उन्हें सारा दिन विचार करते ही बीत गया। मनमें तीर्थयात्रा और हरिमंदिरों को देखने का संकल्प लेके पिता दशरथ के पास आये। समस्त प्रजा को सुख में रखनेवाले और सम्पूर्ण प्रजा जिनको अपना परमहितैषी महाराज मानती थी, ऐसे महाराजा दशरथके चरण रामजी ने ग्रहण किये, जैसे सुन्दर कमल को हंस ग्रहण करता है, जैसे कमलमें कोमल पंखुड़ियों होती हैं, उन पंखुड़ियों सहित ही कमल को हंस पकड़ता है इसी प्रकार दशरथजी के चरणों की अंगुलियाँ पकड़कर रामजी बोले– हे पिता! मेरे चित्त में तीर्थयात्रा और

देवदर्शन करने की तीव्र उत्कण्ठा है। अतः यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपनी यह इच्छा पूरी कर आऊँ, मैं आपका पुत्र हूँ मेरा यह नम्र निवेदन स्वीकार कर लेना आपको उचित ही है, इससे पहिले मैंने कोई प्रार्थना नहीं की, इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये, कि मैं जा सकूँ। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा यह मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा, क्योंकि त्रिलोकी में ऐसा कोई न होगा जिसकी मनोऽभिलाषा आपके द्वार से पूर्ण न हुई हो। इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! रामचन्द्रजी ने जब यह बात कही थी तब वसिष्ठजी भी पास बैठे हुए थे, उन्होंने भी दशरथ से कहा– हे राजन्! रामजी को तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि इनके चित्त का संकल्प है। इनके साथ कुछ सेना भी कर दीजिये, मन्त्री लोग धन लेकर साथ जायँ और कुछ ब्राह्मण भी भेजे जायँ, जिससे यह इच्छानुसार तीर्थयात्रा तथा देवदर्शन कर आवें।

हे भरद्वाज! इस विचार के निश्चित हो जाने पर शुभमुहूर्त में रामजीको दशरथ ने आज्ञा दे दी। चलने के समय रामजी ने माता पिता के चरणों पर प्रणाम किया, सबको कण्ठ से लगाकर मिले और प्रेमाश्रु बहाते हुए चले। लक्ष्मणादि भाई, शास्त्रविधि के जानने वाले वसिष्ठादि ब्राह्मण, मन्त्री, सेना, तथा बहुत सा धन, साथ ले लिया, दानपुण्य करके जब घरसे बाहर निकले तब वहाँ के लोगों ने जैसे आकाश से बर्फ गिरती है इस प्रकार रामजीपर पुष्पवर्षाकी। और प्रेमसे रामजीकी मूर्तिको हृदयमें धारण करलिया। इस प्रकार ब्राह्मणों और निर्धनोंको दान देते, तथा गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियोंमें विधिपूर्वक स्नान करते हुए, रामजीने पृथ्वीके चारों ओर उत्तर दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में दान किया। चारों समुद्रोंमें स्नान करलेनेपर सुमेरु और हिमालय पर्वतकी यात्राकी, शालग्राम, बद्री, केदार आदिमें स्नान दर्शन किये। ऐसेही सब तीर्थों में विधिपूर्वक स्नान, तप, ध्यान करते हुए रामजी एक वर्षमें यात्रा पूर्ण करके घर आये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे तीर्थयात्रा वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

चतुर्थः सर्गः ४.

अथ दिवसव्यवहारवर्णनम्।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! तीर्थयात्रा करके जब रामजी अयोध्या में आये, तब नागरिकोंने उनपर पुष्पवर्षाकी, और नगरभरमें भारी उत्सव मनाया गया, जय जयकारकी गम्भीर ध्वनिसे आकाश गूँज उठा। जैसे इन्द्रका पुत्र अपने स्वर्गमें आता है, ऐसेही रामजी घरमें आये, उन्होंने आतेही राजा दशरथ और वसिष्ठजीको प्रणाम किया। राजसभाके लोगोंसे यथायोग्य मिलकर अन्तःपुरमें गये और कौशल्या आदि माताओंको नमस्कार किया, इस प्रकार परिवारके सब लोगोंसे प्रेमपूर्वक भेंटकी।

हे भरद्वाज! इस प्रकार अयोध्यामें सातदिन रामजीके आनेका उत्साह रहा, इस समयमें कोई कुछ लेने आया तो लेकरही गया जो केवल मिलने गया उसको भी दान दिया गया। बाजे बज रहे हैं, भाट लोग स्तुति कर रहे हैं, आनन्दका पारावार उमड़ रहा है। अब सुनिये–कि इनदिनों रामजीका कार्यक्रम कैसा था। प्रातःकाल स्नान सन्ध्या जप तप और अन्य सत्कर्म किये जाते थे। मध्यान्ह में भोजनके अनन्तर भाइयों के साथ बैठकर तीर्थयात्रा की कथा कहते और देवदर्शन की बातें सुनाते थे। इसी प्रकार प्रसन्नता की बातोंमें दिनरातका समय बीतता था।

एक दिन प्रातः काल उठकर रामजी राजा दशरथके दर्शनार्थ दरबारमें गये तो देखा कि इन्द्रके समान तेजस्वी पिता दशरथ विराजमान हैं, वसिष्ठजी महर्षि भी सभामें बैठे हैं, रामजी वसिष्ठजी से वार्तालाप कर रहे थे इतने में राजा दशरथने कहा–रामजी! आप शिकार खेलने जाया करें। पिताकी आज्ञानुसार रामजी उस दिनसे स्नान सन्ध्यादि नित्य कर्म तथा भोजन करके लक्ष्मणादि भाइयों सहित शिकार खेलने जाने लगे। वहाँ अन्यजीवों को दुःख देने वाले हिंसक जानवरों को मारते और औरों की रक्षा करते थे, इसप्रकार दिनको शिकार खेलने जाते और रातको

राजसी ठाठके साथ घरमें आया करते थे, इस कार्यक्रम में कई दिन बीत गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे दिवसव्यवहारवर्णन नाम चतुर्थः सर्गः।।४।।

पञ्चमः सर्गः ५.

अथ कार्श्यवर्णनम्।

उस समय रामजीकी अवस्था कुछ महीने कम १६ वर्ष की थी । इन दिनों रामजी सबका त्याग करके अन्तःपुरमें आकर एकान्तमें बैठे बैठे चिन्तन किया करते थे।

हे भरद्वाज! रामजीने युवराजों की सी सब चेष्टायें त्याग दी थी उन्होंने श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का सर्वथा त्याग कर दिया, शरीर निर्बल होने लगा, कान्ति घट गई, मुखका रंग ऐसा पीला पड गया जैसे–कमल सुखकर पीतवर्ण हो जाता है, जैसे सूखे कमलों पर भँवरे बैठे हों, इस प्रकार सूखे मुख कमलपर नेत्र रूपी भँवरे भासने लगे।

उनकी इच्छा बिलकुल निवृत्त हो गई, जैसे शरत्कालमें ताल निर्मल होजाता है वैसेही इच्छारूपी मलिनतासे रहित हुआ रामजीका चित्तरूपी ताल निर्मल होगया। सब वासनाएं मनसे निकल गई, प्रतिदिन शरीर निर्बल हुआ जा रहा है, चिन्तायुक्त होकर जहाँ बैठते हैं वहीं बैठे रहजाते हैं। हाथपर चिबुक (ठोडी) रक्खे चुपचाप बैठे सोच रहे हैं, जब सेवक व मंत्री–लोग आकर बारबार कहते हैं–कि प्रभो! स्नानसन्ध्याका समय हुआ है उठो! तब कहीं उठकर स्नानसंध्या करते हैं उनका स्वंय इन बातोंकी ओर ध्यान नहीं जाता। उनकी खानपान पहिरान आदि सब क्रियाएँ विरस होगई, रामचन्द्रजीकी ऐसी अवस्था देखकर लक्ष्मण और शत्रुघ्नभी उन्हींके समान उदास रहने लगे, तब–यह बात राजा दशरथ तक पहुँच गई, वह रामजीके पास आये और उन्हें इतना कृश तथा उदास देखकर परम व्याकुल हुए, कि हाय २ इनकी यह क्या अवस्था होगई,

शोकातुर हो दशरथजीने रामजीको गोदमें बैठा लिया और पूछने लगे, कि हे पुत्र! तुम्हें क्या दुःख प्राप्त हुआ है जिससे तुम इतने शोकवान् हुए हो, रामजी ने कहा—पिताजी! मुझे कोई दुःख नहीं, बस, इतनाही कहकर चुप होगये। जब कितने ही दिन इसीप्रकार बीत गये तब राजा और सब रानियों को अति चिन्ता हुई। मंत्री लोग राजासे मिलकर विचार करने लगे कि पुत्रका कहीं विवाह कर देना चाहिये। जब राजाको किसीकी बातसे सन्तोष न हुआ तो उन्होंने वसिष्ठजीसे पूछा, कि हे मुनीश्वर! आप कहें कि मेरे पुत्र शोकवान् क्यों हैं! तब वसिष्ठजीने कहा राजन्! महापुरुषोंको क्रोध, मोह और शोक अल्प कारणसे नहीं होते, जैसे—पृथ्वी, जल, वायु आकाश, यह महाभूत अल्पकारणसे विकारवान् नहीं होते, जब जगत् की उत्पत्ति व प्रलय होती है तब विकारवान् होते हैं, उसी प्रकार महापुरुषभी अल्प कारणसे विकारवान् नहीं होते। इसलिये हे राजन्! तुम शोकमत करो, रामजी जो शोकवान हुए हैं किसी विशेष कारणसे हुए हैं, इस शोकके बाद इनको सुख मिलेगा, आप शोक मत करें।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कार्श्यवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः।। ५।।

षष्ठः सर्गः ६.

अथ विश्वामित्रागमनवर्णनम्।

वाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज! ऐसे वसिष्ठजी और राजा दशरथजी विचार कर रहे थे, इतने मैं श्रीविश्वामित्रजी अपने यज्ञकी सहायता माँगने के लिये वहां आ पहुँचे, उन्होंने द्वारपालसे कहा कि राजा दशरथ से जाकर कहो— गाधिपुत्र विश्वामित्र बाहर खड़े हैं, द्वारपाल ने अपने से बड़े द्वारपाल से कहा कि हे स्वामिन्! एक बड़ा तपस्वी द्वारपर खड़ा है। उसने मुझे कहा है कि राजा दशरथ से कहो—विश्वामित्र आये हैं, उस बड़े पौरियाने सुनकर राजा दशरथके दरबार में सूचना दी कि बाहर गाधि के पुत्र विश्वामित्र खड़े हैं, यह खबर सुनतेही महाराजा दशरथ जो

कि समस्त मण्डलेश्वरपूजित सुवर्णसिंहासन पर विराजमान हैं, तत्काल उठकर सब मण्डलेश्वरों सहित नंगेपाव चलता हुआ द्वारपर आया। वसिष्ठजी तथा वामदेवजी उसके साथ हैं, मण्डलेश्वर स्तुति करते चल रहे हैं, राजाको जब विश्वामित्रजी दृष्टि पड़े, तबही वहींसे प्रणाम करता हुआ आगे चला प्रणामके लिये पृथ्वीपर बारबार झुकते हुए राजाका रत्नजडित स्वर्णमुकुट जब पृथ्वीसे स्पर्श करता था, तब पृथ्वीभी अत्यन्त शोभित होती थी, इस प्रकार प्रणाम करता हुआ राजा दीर्घजटाधारी, महातपस्वी, परमतेजस्वी, अग्नि और सुवर्णके समान प्रकाशमय शरीरवाले परंमशान्त, कोमल स्वभाव, विलक्षण कान्तियुक्त हाथ में बाँसकी लकड़ी लिये, अति धैर्यवान् श्रीविश्वामित्रजीके चरणोंपर इसप्रकार जा गिरा, जैसे सूर्य सदाशिवके चरणोंपर गिरते थे। मस्तक झुकाने के अनन्तर राजा बोला–अहोभाग्य! आज आपके दर्शन हुए। आपने मुझ पर परम अनुग्रह किया। आपके दर्शन से मुझे जो आनन्द मिला है उसका आदि अन्त नहीं, वह अकृत्रिम और अविनाशी है, हे भगवन्! आज मैं अपने भाग्यकी जितनी प्रशंसा करूँ, थोड़ी है। आपके दर्शनके प्रतापसे मैं धर्मात्माओंमें गिना जाऊँगा। हे भगवन्! मुझे आपके आनेकी आशा नहीं थी, क्या कहूँ कि मुझपर कितनी कृपा हुई है, आपका आना तो मुझे इस प्रकार दीखता है जैसे सूर्य भगवान् किसी कार्य वश पृथ्वीपर आजायँ। मुझे आपके समान कोई उत्कृष्ट नहीं दीखता, क्योंकि आपमें दो गुण हैं, एक तो क्षत्रियका और दूसरा ब्राह्मणका स्वभाव भी आपमें है।

आप शुभगुणोंसे पूर्ण हैं, हे मुनीश्वर! आप क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए हैं, यह सामर्थ्य किसी अन्यमें नहीं देखी गयी, आपके प्रकाशमय शरीरको देखनेसे मालूम होता है कि आप जिस मार्गसे आये हैं और जिन स्थानोंपर आपकी दृष्टि पड़ी है वहाँ पर अमृत–वृष्टि हुई है। आपके आनेसे मुझे जो लाभ पहुँचा है, उसका वर्णन नहीं होसकता।

हे भरद्वाज! इस प्रकार राजा दशरथने विश्वामित्रका स्वागत सत्कार किया, तदनन्तर वसिष्ठजीने विश्वामित्रजीको कण्ठसे लगाया।

और दोनों प्रेमसे मिले, सभी मण्डलेश्वरोंने भी विश्वामित्रजीका अभिवादन किया, तब राजा दशरथ उन्हें घर ले आये, अति सम्मानसे राजाने सिंहासनपर बैठाया, वसिष्ठजी तथा वामदेवजीके भी बैठजाने पर दशरथने विश्वामित्रका पूजन किया, अर्घ्य देकर प्रदक्षिणा की। वसिष्ठजीने विश्वामित्रका और विश्वामित्रने वसिष्ठका पूजन किया, इस प्रकार पूजन होजानेपर सब अपने अपने आसनपर जा बैठे, राजा दशरथने कहा–भगवन्! हमारे धन्य भाग्य हैं जो आपका दर्शन हुआ, ग्रीष्मकी तपशसे झुलसे हुएको अमृतकी प्राप्तिसे, जन्मके अन्धेको नेत्र मिल जानेसे, निर्धनको चिन्तामणिके लाभसे, जो आनन्द मिलता है वही आनन्द आपके दर्शनसे मुझे प्राप्त हुआ है, अथवा यों समझो कि जैसे किसीका कोई प्रिय बान्धव मरगया हो, और आकाश मार्गसे विमान पर चढ़ा हुआ आता दीखे तो उसके सम्बन्धीको जो अकथनीय आनन्द मिलता है, वही आनन्द मुझे आपके दर्शनसे मिला है, हे मुनिवर! जिस उद्देश्यसे आपका आना हुआ है कृपाकरके मुझे निस्संकोच कहिये और अपना वह कार्य पूर्ण हुआ ही जानिये, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं आपको न देसकूँ, मेरे पास सब कुछ विद्यमान है। आप आज्ञा कीजिये, आपको जिस वस्तुकी आवश्यकता है उसे मैं शीघ्र जानना चाहताहूँ, जो आज्ञा करोगे, वही स्वीकार करूँगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे विश्वामित्रागमन वर्णनं नाम षष्ठः सर्गः॥६॥

सप्तमः सर्गः ७

अथ विश्वामित्रेच्छावर्णनम्।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! राजा दशरथके इस प्रकार कहने पर मुनिवर विश्वामित्र परम प्रसन्न हुए प्रसन्नतासे उनका शरीर रोमाञ्चित होगया। जैसे पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर क्षीर–सागर प्रसन्न होता है ऐसे प्रसन्न होकर बोले–हे राजशार्दूल! तुम धन्य हो, ऐसा क्यों न हो, तुम्हारे

अन्दर दो गुण बहुत बड़े हैं। एक यह कि तुम रंघुवंशी हो, और दूसरा यह कि वसिष्ठजी तुम्हारे गुरु हैं, उनकी आज्ञानुसार चलते हो, इसलिये राजन्! सुनो—मैं अपने आनेका प्रयोजन तुमसे कहता हूँ, मैंने दशरात्र यज्ञका आरम्भ किया है। मैं जब यज्ञ करने लगता हूँ,तब राक्षस,खर और दूषण यज्ञ भंग कर देते हैं, मैं जहाँ जाकर यज्ञ करता हूँ,वहाँ वहाँ आकर रुधिर, मांस अस्थि आदि अपवित्र वस्तुएं डाल देते हैं, तब वह स्थान यज्ञकरने योग्य नहीं रहता, और अब मैं कोई दूसरा स्थान ढूँढ़ता हूँ तो वहां भी आजाते हैं और उसी प्रकार स्थानको भ्रष्ट कर जाते हैं, उनका नाश करनेके लिये ही मैं तुम्हारे पास आया हूँ, यदि आप कहें कि उनका नाश करनेको आप स्वयं समर्थ हैं तो राजन्! इस बातका उत्तर यह है कि मैंने यज्ञका आरंभ किया है, क्षमा यज्ञका अंग है, इसमें कोई संशय नहीं कि मैं उनको शापसे भस्म कर सकता हूँ, परन्तु शाप क्रोधके बिना नहीं दिया जासकता, और क्रोध करनेसे यज्ञ निष्फल होजाता है, और यदि चुप रहूँ तो राक्षस अपवित्र वस्तुएं फेंक जाते हैं, इसलिये मैं आपकी शरण आया हूँ, मेरा कार्य अवश्य पूर्ण करो– आपके काक पक्ष संयुक्त कमलनयन यह जो रामजी पुत्र हैं इनको मेरे साथ करदो, यह राक्षसोंको मारकर मेरा यज्ञ सफल करेंगे, तुम इस बातकी चिंता न करो कि मेरा पुत्र बालक है, यह इन्द्रके समान शूर वीर हैं, इनके सामने राक्षस नहीं ठहर सकेंगे, जैसे सिंहके सामने मृगके बच्चे नहीं ठहर सकते, इसी प्रकार तुम्हारे पुत्रके सन्मुख ठहरनेकी शक्ति राक्षसों में नहीं, इसलिये इन्हें मेरे साथ करदो, इससे एक तो तुम्हारा धर्म रहेगा और मेरा कार्य सिद्ध होजानेसे यशभी होगा, इस बातमें आपको सन्दिग्ध नहीं होना चाहिये।

हे राजन्! ऐसा त्रिलोकी में कोई काम नहीं जो रामजीका किया न हो सके, इसी लिये मैं तुम्हारे पुत्र को लिये जाता हूँ, यह मेरे हाथों सुरक्षित रहेगा, मैं इसकी किसी प्रकार से हानि न होने दूंगा, तेरे पुत्र वास्तवमें जो कुछ हैं मैं जानता हूँ और वसिष्ठजी भी जानते हैं तथा और जो कोई ज्ञानवान् त्रिकालदर्शी महात्मा जानते होंगे परंतु अन्य किसीकी

सामर्थ्य नहीं कि इनको जानसके, इसलिये तुम इनको मेरे साथ भेज दो कि मेरा कार्य सफल होजाय।

हे राजन्! जो कार्य समयपर होता है, वह थोड़ा करने पर भी अधिकफल देता है, जेसे द्वितीयाके चन्द्रमाको देखकर एक तन्तु का भी किया हुआ दान बहुत फल देता है, और पीछेसे किया हुआ वस्त्र का दान भी वैसा सफल नहीं होता। इसलिये समयोचित कार्य करना श्रेष्ठ है। समय बिताकर करनेमें बुद्धिमता नहीं, तुम्हें उचित है रामजीको मेरे साथ कर दीजिये।

खर दूषण बड़े दैत्य हैं, मेरा यज्ञ भंग करते हैं, परंतु रामजी के आनेपर भाग जायेंगे, रामजी के आगे खड़े न हो सकेंगे, इनके तेज से उनका बल क्षीण हो जायगा, जैसे सूर्य के तेजसे तारागण का प्रकाश छिप जाता है, वैसे ही रामजी के दर्शन से वे खड़े न रह सकेंगे, जैसे गरुड के आगे सर्प नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार रामजी के आगे राक्षस ठहर न सकेंगे इन्हें देखकर भाग जायँगे। इसलिये रामजी को मेरे साथ करदो। इससे मेरी कार्य सिद्धि होगी, तुम्हारा यश होगा, किसी राक्षस की सामर्थ्य नहीं जो रामजी के निकट आसके, इस विषय में सन्देह मत करो, मैं हर प्रकार से रामजी की रक्षा करूंगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे विश्वामित्रेच्छावर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ।। ७।।

अष्टमः सर्गः ८.

अथ दशरथोक्तिवर्णनम् ।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! विश्वामित्र का कथन सुनकर राजा दशरथ चुप होगये और गिरपड़े, एक मुहुर्त पर्यन्त पड़े रहनेके बाद उठे, महामोहसे उनकी अतिदीन दशा होगयी, धैर्य जाता रहा; परन्तु बोले–हे मुनीश्वर! आपने क्या कह दिया, रामजी तो अभी बहुत छोटे हैं, उन्होंने तो अभी शस्त्रविद्या और अस्त्रविद्या सीखी भी नहीं, अभी तो वह फूलोंकी शय्यापर शयन करनेवाले हैं, वह युद्धको क्या जानें,

अन्तःपुरमें स्त्रियोंके पास बैठने योग्य हैं, बालकों के साथ खेलनेवाले हैं, रामजी ने तो रणभूमि कभी देखीही नहीं, भ्रकुटी चढ़ाकर कभी युद्धभी नहीं किया, उनके कमलसे हाथ और कोमल शरीर है, वह राक्षसोंके साथ युद्ध कैसे करेंगे, कहीं पत्थर और कमलका भी युद्ध हुआ है! रामजीका कमल समान कोमल शरीर और वे राक्षसलोग महाक्रूर–और वज्रशरीर हैं, उनके साथ युद्ध कैसे होगा।

हे मुनिवर! मैं नौ हजार वर्षका हो चुका हूँ, अब दसवाँ हजार लगा है, वृद्ध होगया हूँ, बुढ़ापे में मेरे घर पुत्र हुए हैं, चारों बेटों में कमल नयन रामजी इस समय १६ वर्षके हुए हैं, मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मेरे प्राण हैं, रामजीके बिना एक क्षणभरभी नहीं रह सकता, यदि इसे ले जाओगे तो मेरे प्राण निकल जायँगे, मैं मर जाऊँगा।

हे मुनीश्वर! राम के साथ केवल मेरा ही स्नेह नहीं है, उसके लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न भाई, और उसकी माताएं, यह सब लोग उसे प्राण प्यारा जानते हैं, यदि रामजी को ले जाओगे तो हम सब ही मर जायँगे, अगर हमें राम के वियोग में मारने के लिये आये हो तो ले जाओ, हे मुनिवर! मेरे तो राम ही आधार हैं इन्हें मैं आपके साथ कैसे भेजदूं, जैसे क्षीर सागर चन्द्रमा को देखकर प्रसन्न होता है ऐसे ही मैं राम को देख देखकर प्रसन्न होता हूँ, जो आनन्द चन्द्रमा को देखने से चकोर को, बादल की बूँद देखने से पपीहे को होता है वही आनन्द रामदर्शन से मुझे होता है, अब आपही विचार कर कहें कि राम के वियोग में मेरा जीवन कैसा होगा? हे मुनिवर! मुझे स्त्री, धन और राज्य भी राम के समान प्यारा नहीं, अथवा ऐसा जान लीजिये कि संसार भर में दूसरी कोई वस्तु ही नहीं जो मुझे राम के समान प्यारी हो, अतः आपके वचन सुनकर मैं अत्यन्त शोकाकुल हुआ हूँ, मुझे मालूम होता है कि यह मेरे दुर्भाग्य का उदय हुआ है जो आप इस निमित्त से यहाँ आये हैं, आपके वचन सुनकर मुझे ऐसी व्यथा हो रही है जैसे पत्थरों की वर्षा से कोमल कमलों की हो सकती है, जैसे पत्थरों की वर्षा कमलों के नाश के लिये है, ऐसे ही आपके वचन भी मेरा नाश ही करने वाले हैं, जैसे–आकाश में मेघों की घनी

घटाएं बरसने के लिये चढ़ी हों और वेगवान् प्रबल पवन आकर उनकी गम्भीरता को नाश करदे, उसी प्रकार आपके वचनों से मेरी प्रसन्नता का अभाव होता जारहा है। जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी ज्येष्ठ आषाढ़ की धूपसे सूख जाती है, वैसे ही आपके वचनों से मेरे हृदय की प्रसन्नता जली जारही है, हे मुनिवर! मैं राम को देने में असमर्थ हूँ। हाँ यदि आप कहें तो मेरी महाबलवती अक्षौहिणी सेना जिसमें बड़े २ वीर योधा हैं उपस्थित है, यह सेना अस्त्रविद्या, शस्त्र विद्या और मन्त्रविद्या को जानती है, इसके सभी योधा युद्ध करने में परम निपुण हैं, इस सेना को साथ लेकर मैं चलता हूँ और उन राक्षसों का नाश करता हूँ, हाथी, घोड़े, रथ और पदाति इन चार अंगोंवाली चतुरंगिणी सेना को ले जाओ और उन यज्ञ के विरोधियों का नाश करो, एक बात आपसे कह दूँ कि यदि यज्ञ भंग करनेवालों में कुबेर का भाई और विश्रवा का पुत्र रावण होगा तो उसके साथ युद्ध करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं। मुनिवर! पहिले मुझमें बड़ा पराक्रम था, मेरे समान पराक्रमी कोई त्रिलोकीमें नहीं था, जो कोई मुझे मारने के लिये मेरे ऊपर चढ़ाई करके आता था वह स्वयं मेरे हाथों मारा जाता था, अब मेरी वृद्ध अवस्था है, शरीर जर्जर हो चुका है, अतः रावण के साथ युद्ध करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि अब वह पराक्रम नहीं रहा, मैं रावण के नाम से काँपता हूँ, केवल मैं ही नहीं काँपता, इन्द्रादिक देवता भी रावण से काँपते हैं, किसी की शक्ति नहीं जो रावण से युद्ध करे, इस समय वह बड़ा शूरवीर है।

हे मुनिवर! जिस काम के लिये मैं ही असमर्थ हूँ, तो रामजी क्या कर सकेंगे, और जिस राम को लेने आये हो उसका स्वास्थ्य ही ठीक नहीं, उसको ऐसी चिन्ता ने आ घेरा है कि महादुर्बल हो गया है, अन्तःपुरमें एकान्त में बैठा रहता है, खान पान छूट गया है, उसकी राजकुमारों की सी सब चेष्टायें विरस हो गई हैं, मैं नही जानता कि उसको क्या दुःख है, जैसे कमल सूख कर पीतवर्ण हो जाता है, ऐसा तो उसके मुख का रंग हो गया है, उसमें युद्ध करने की सामर्थ्य कहाँ? जिसने अपने स्थान को छोड़कर बाहिर की भूमिका कभी दर्शन भी नहीं किया, वह युद्ध कैसे करेंगे।

हे मुनीश्वर! आप इस बात को यथार्थ मानें कि रामजी युद्ध करने के योग्य नहीं हैं और मेरे प्राणाधार हैं तो राम हैं, राम के वियोग में मेरे प्राणों का रहना किसी प्रकार भी संभव नहीं, जैसे मछली का जल ही जीवन है, वैसे ही दशरथ का राम ही जीवन हैं, राक्षसों से युद्ध करने को कहो तो हम चलने के लिये तैयार हैं परन्तु रामजी के ले जाने का विचार छोड़ दो, रामजी युद्ध करने के योग्य नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे दशरथोक्तिवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः ।।८।।

नवमः सर्गः ९

अथ वसिष्ठसमाश्वासनवर्णनम् ।

वाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज! राजा दशरथ के इस प्रकार दीनता और मोह से भरे अधीर वचन सुनकर मुनि विश्वामित्र क्रोध से बोले—राजन्! तुम अपने धर्म का स्मरण करो। तुमने प्रतिज्ञा की है कि आपका जो भी मनोरथ होगा, मैं पूर्ण करूंगा, आप उसे पूर्ण हुआ ही जानिये, परन्तु अब अपने धर्म का त्याग करते हो और सिंह होकर मृगों के समान भागते हो, तुम भले ही भागो, परन्तु इससे पहिले रघुवंश में ऐसा कोई नहीं हुआ । चन्द्रमा के मण्डल में शीतलता होती है, उसमें से आग नहीं बरसती तुम्हारे कुल में ऐसा व्यवहार किसी ने नहीं किया, तुम करते हो तो करो, हम चले जायँगे, शून्य घर से प्रायः शून्य ही जाना पड़ता है, परन्तु ऐसा करना तुम्हें उचित न था, अच्छा सुख से राज्य करो वसते रहो, जो कुछ होगा हम निपट लेंगे, तुम्हें अपना धर्म त्यागना ही था, त्याग दो।

वाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज! जब अति क्रुद्ध होकर मुनि विश्वामित्रजी ने ऐसे क्रूर वचन कहे, तब उनके क्रोध के वेग से पृथ्वी काँपने लगी और इन्द्रादिक देवता भयभीत हुए कि यह क्या हुआ। तब वसिष्ठजी ने कहा—हे राजन्! इक्ष्वाकु कुल में सब लोग परमार्थी हुए हैं, तुम धर्म का त्याग क्यों करते हो, तुमने मेरे सामने कहा है—कि तुम्हारा

जो मनोरथ होगा पूर्ण करूँगा, तो अब क्यों भागते हो रामजी को इनके हाथ में सौंप दो, यही राम की रक्षा करेंगे । जैसे सर्प से अमृत की रक्षा गरुड़ करता है, इसी प्रकार तेरे पुत्र की रक्षा करेंगे । यह कैसे पुरुष हैं सुनो— यह बल की मूर्ति हैं, इनके समान कोई बलवान् नहीं है और नहीं इनके समान कोई शूरवीर है, यह परम धर्मात्मा है, तपस्वियों में इनका स्थान सबसे ऊँचा है। यह तपःपुञ्ज हैं, इनके समान कोई बुद्धिमान नहीं है, अस्त्र शस्त्र विद्या में इनके जोड़ का कोई दूसरा है ही नहीं, क्योंकि दक्षप्रजापति की दो पुत्रियां जया और दूसरी सुभगा इन्हींको दी गई थीं, जया से दैत्यों को मारने के लिये पांच सौ पुत्र प्रकट किये गये और सुभगा के भी पांच सौ पुत्र हुए थे। इन सबकी उत्पत्ति दैत्यों ही के नाश के लिये हुई थी, वे स्त्रियां इनके यहां मूर्तिमती विद्यमान हैं। इसलिये किसी की सामर्थ्य नहीं जो इनको जीत सके, जिसके विश्वामित्र सहायक हों, उसको संसार में किसका डर है। अतः निस्सन्देह आप अपने पुत्र को इनके साथ भेज दें, किसीकी सामर्थ्य नहीं जो इनके होते तुम्हारे पुत्र को कुछ कह सके । जैसे सूर्य के उदय से अन्धकारका नाश हो जाता है, ऐसे ही इनके देखने मात्र से दुःख का अभाव हो जाता है।

हे राजन्! विश्वामित्रजीके साथ आपके पुत्रको खेद होगा इस प्रकारका विचार मनमें कभी न आने दें, आप इक्ष्वाकुवंशी है, आपका नाम दशरथ है,अर्थात् आप विश्वविख्यात रघुवंशी महाराज हैं, यदि आप सरीखे धर्मात्मा धर्ममें स्थिर न रहे तो अन्य लोगोंसे धर्मपालन की क्या आशा की जा सकती है, सर्वसाधारण जनता श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणका अनुसरण करती है, यदि आप अपने वचनोंका पालन न करेंगे तो दूसरे लोगों की क्या दशा होगी? आपका ऐसा करना अपने वंश विरुद्ध आचरण करना है, इसलिये अपने धर्म का त्याग मत करो, अपने पुत्र को विश्वामित्रजी के साथ भेज दो। राक्षसोंके भयसे अगर शोक कातर हो रहे हो तो यह अपनी अल्प बुद्धिका परिचय दे रहे हो, साक्षात् काल

भी सामने आकर खड़ा हो जाय तो भी विश्वामित्रके सामने तुम्हारे पुत्रकी ओर आंख नहीं उठा सकता।

अतः शोक मत करो, रामको मुनिवरके साथ भेद दो, वचनका पालन करो, यदि ऐसा न करोगे तो तुम्हारे दो प्रकारके धनका नाश होगा। आपने जो बावड़ी, कूप, ताल आदि निर्माण कराये होंगे उनका पुण्य, प्रथम धन, और तप, व्रत, यज्ञ, दान, स्नानादिका फल दूसराधन इन दोनोंका नाश हो जायगा और तुम्हारा गृहस्थाश्रम व्यर्थ सिद्ध होगा। शोक मोहका त्याग करके अपने वचन का पालन करोगे तो तुम्हारे सब कार्य सफल होंगे। यदि आपको ऐसा करना था तो विचारकर वचन देना था, बिना विचारे किये कामका परिणाम प्रायः दुःख ही होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे वसिष्ठमाश्वासनवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

दशमः सर्गः१०

अथ रामविषाद वर्णनम्

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! जब वसिष्ठजीने इस प्रकार कहा तब राजा दशरथने एक सर्वोत्तम सेवकको रामचन्द्रजीको बुलाने की आज्ञा दी।

एक अन्तःपुर में आने जानेवाला सदाचार सेवक राजाकी आज्ञा पाकर रामजीको बुलाने गया, और एक मुहूर्तके बाद वापिस आकर कहने लगा, हे देव! रामजी तो बड़ी चिन्तामें बैठे हैं, मैंने उनसे बार बार निवेदन किया कि महाराज! चलिये, केवल वह इतना कह देते हैं कि चलते हैं फिर चुप होकर बैठेही रहते हैं।

हे भरद्वाज! राजाने यह बात सुनकर आज्ञा दी कि रामजीकी सेवा करनेवाले जितने सेवक हैं सबको बुलाकर हमारे पास लाओ, तत्काल आज्ञाका पालन हुआ सब सेवक सेवा में उपस्थित हुए, तब राजाने अति

कोमल बचनोंसे उन्हें पूछा, रामजीके प्रिय सेवको! कहो रामजी कैसे हैं, उनकी ऐसी चिन्तायुक्त मनोवृत्ति कैसे हुई है, यथावत् सब कहिये।

मन्त्री ने कहा—हम क्या कहें, स्वयं महान् आश्चर्य में हैं, हम सब आपके सामने तो खड़े हैं अतः आपको हम जीवित दीखते होंगे परन्तु सच पूछिये तो हम सब प्राणहीनसे हो रहे हैं, क्योंकि हमारे स्वामी श्रीरामजी अति चिन्तामें पड़े रहते हैं, हे राजन्! जिस दिन से रघुनाथजी तीर्थयात्रा करके लौटे हैं तब हीसे चिन्तामग्न हैं, जब हम लोग खान पान की तथा मनोविनोद की सामग्री उनके सामने ले जाते हैं, उसे वह देखते तक नहीं, खाना पीना पहिरना उन्होंने त्याग सा दिया है उनको बड़े बड़े रसवत् पदार्थोंमें भी रुचि नही हं। किसी सुखदायक पदार्थ का सेवन करना तो दूर रहा, वह उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, अन्तःपुरमें माताएँ अनेक प्रकार के हीरे मणियों आदि जवाहिरात जड़े सुन्दर भूषणोंसे उनका मनोविनोद करना चाहती हैं परन्तु उन बहुमूल्य वस्तुओंको भी निस्सार समझकर वह नहीं अपनाते और निर्धन लोगों को देदेते हैं। विविध भूषण भूषिता सुन्दरियाँ हावभाव भरी चितवनसे उनके मनको मोहित नहीं सकतीं। श्रीरामजी शब्दादि विषयोंके इन समस्त सुखसाधनोंको विषवत् मानते हैं। उन सुखोंका भोगना तो दूर उनकी ओर देखते भी नहीं। जैसे—पपीहा अन्य जलकी ओर देखता भी नहीं, श्रीरामजीको इन सांसारिक सुखसाधनोंको देखकर रुचि नहीं, किन्तु क्रोध होता है।

हे राजन्! उनको कोई भी वस्तु प्रिय नहीं लगती, वह किसी ऐसी गहरी चिन्ता में मग्न हैं कि तृप्त होकर भोजन भी नहीं करते, भूखे रहते हैं, वस्त्र नहीं पहिनते, रागरंग भी उन्हें नहीं भाता जब मनमोहक सुन्दर सुगन्धियुत पुष्प मालाएँ हम लोग ले जाते हैं तो उन्हें देखकर खिन्नमन हो जाते हैं, हम नहीं जानते कि उनके मनमें किस बातकी ऐसी चिन्ता उत्पन्न हो गयी है। पद्मासन बांधे हाथपर मुँह रक्खे एक कोठरीमें बैठे रहते हैं। जब कभी महामन्त्री आकर इस उदासी का कारण पूछता है तो कहते हैं कि तुम लोग जिसको सम्पत्ति कहते हो वही विपत्ति है, जिसे

विपत्ति मानते हो वह विपत्ति नहीं है, संसार के नाना प्रकार के पदार्थोंको रमणीय मान रहे हो ये सब मिथ्या हैं। सारा जनसमाज इन्हींके पीछे पड़ा है, यह सब मृगतृष्णाका जल है, इनको सत्य जानकर दौडनेवाले हरिण मूर्ख हैं, तभी तो महादुःख पाते हैं।

हे राजन्! या तो किसी से बोलते ही नहीं, यदि बोलते हैं तो ऐसी बातें करते हैं, उनके चित्तमें किसी भी सुखदायक वस्तु द्वारा आकर्षण उत्पन्न नहीं होता, हम लोग कईबार हास्यरसके उत्पादन करने वाली बात करते हैं परन्तु उन्हें कभी हंसी नहीं आती, जिन पदार्थों में उनको कुछ प्रेम था भी, अब उन वस्तुओंको भी ग्रहण नहीं करते, फेंक देते हैं, प्रतिदिन दुर्बल हुए जारहे हैं, अन्तःपुरकी स्त्रियां उनको प्रसन्न करने के लिये अनेक यत्न करती हैं, परन्तु वह प्रसन्न नहीं होते, जैसे मेघकी बूँदोंसे पर्वत चलायमान नहीं होते, ऐसे ही आप अटल और अचल रहते हैं, यदि कोई कुछ व्यावहारिक बात करता है तो कहते हैं– न राज्य सत्य है न भोग सत्य हैं, न मित्र सत्य हैं, अज्ञानी जनता मिथ्या पदार्थोंके लिये यत्न कर रही है, मानव जिस वस्तुको सत्यरूप और सुखदायक समझ रहा है वह बन्धनका कारण है, और क्या कहें– राजन्! जब उनके पास कोई राजा या पंडित चला जाय तो उसे देखकर कहते हैं– यह आशापाशसे बंधे हुए पशु हैं।

हे राजन्! भोग्य पदार्थोंको देखकर उनका मन किंचित् भी आकृष्ट नहीं होता, उलटा क्रोध करते हैं, जैसे चातक (पपीहा) मारवाडमें जाकर भी मेघकी बूँदकी ओर नहीं देखता खिन्न होजाता है, वैसेही रामजीको विषयोंकी समीपतामें सुख नहीं किन्तु दुःख होता है, अतः हमारा अनुमान है कि परमपद पानेकी इच्छा है परन्तु यह बात इनके मुखसे कभी सुनी नहीं, त्यागके विषयमें भी इन्हें कभी कुछ कहते नहीं सुना गया, हाँ कभी गाते हुए ऐसा कहते हैं–हाय हाय! मैं अनाथ मारा गया हूँ। अरे मूर्ख! तुम संसार समुद्रमें क्यों डूब रहे हो? यह संसार परम अनर्थका कारण है, इसमें सुख लेशमात्र नहीं, इसमें से छूटनेका उपाय करो।

हे राजन्! बातचीत किसीसे नहीं करते, हँसते कभी नहीं, मंत्रीके साथ भी नहीं बोलते। अन्तःपुर की स्त्रियोंसे तो भला न बोलें, मातासे भी नहीं बोलते। किसी बड़ी गहरी चिंतामें मग्न हैं। इन्हें किसी विचित्र वस्तुके विषयमें सुनकर भी विस्मय नहीं होता, यहि कोई कहे कि आकाश में बाग लगा है, उसमें विचित्र फूल फूले हुए हैं, मैं लेकर आया हूँ, ऐसी बात सुनकर भी आश्चर्यवान् नहीं होते, सब भ्रममात्र देखते हैं, उन्हे किसी पदार्थ के ग्रहण त्यागसे हर्षशोक की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि यह तो इस समय चिंताके अगाधसागर में मग्न हैं, हमेंतो इनकी ऐसी दशा देखकर यह भी डर है कि कहीं इनका शरीरही न जाता रहे, क्योंकि खाते पीते तो हैं नहीं। चिंतासे ही शरीरको सुखा रहे है, इनको किसीका कहना समझाना भी निष्फल है, क्योंकि यह न किसी से बोलते हैं न किसीकी सुनते हैं किसीकी ओर देखते तक नहीं, हमारे विचारमें तो इनकी चिंता दूर करने की किसी में सामर्थ्य नहीं। यदि कोई जाकर इनको आशीर्वाद देता है कि तुम्हारी आयु दीर्घ हो, तुम चक्रवर्ती राजा बनो, तुम्हें परमसुख प्राप्त हो, तो उसके वचन सुनकर प्रसन्न नहीं, उलटा कुपित होते हैं।

हे राजन्! केवल रामजीकी ही नही, लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी यही दशा है, इनकी इस चिन्ता को दूर करने का प्रबन्ध शीघ्र ही होना चाहिए, इनका यह वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है, कोई ऐसा उपाय किया जाय, जिससे इनकी मनोवृत्ति ठिकाने पर आजाय।

इति श्री योगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे रामविषादवर्णन नाम दशमः सर्गः॥१०॥

एकादशः सर्गः ११

अथ रामसमाऽश्वासनवर्णनम्।

विश्वामित्रजी ने कहा— हे साधु! यदि रामजी ऐसे हैं तो उन्हें हमारे पास ले आवो, हम उनका दुःख दूर करेंगे, हे राजन्! तुम बड़े भाग्यवान्

हो जिसके पुत्रके चित्तमें ऐसा विवेक और वैराग्य उत्पन्न हुआ है। हे राजन्! हम तुम्हारे पुत्रको परमपदकी प्राप्ति करा देंगे, उनके सब दुःख अभी मिट जायँगे, हम और यह वसिष्ठादि महर्षि एक युक्तिसे उपदेश करेंगे जिससे कि उनको आत्मपदकी प्राप्ति होगी, उस समय तुम्हारे बेटे की यह दशा हो जायगी कि लोष्ठ (मट्टीका ढेला) पत्थर और सुवर्णको समान समझेगा, जो कुछ क्षत्रियकी प्रवृत्तिका आचरण है उसे पूरा करेगा, परन्तु अन्दरसे निर्लेप रहेगा। ऐसा करनेसे तुम्हारा कुल कृतार्थ हो जायगा, इसलिए रामजीको जल्दी बुलवाइये।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वज! मुनीन्द्रके ऐसे वचन सुनकर राजा दशरथ ने मन्त्री को आज्ञादी कि राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको शीघ्र बुलवाओ, राजाज्ञाका तत्काल पालन हुआ, रामजी आये, उन्होंने आते ही देखा कि राजा दशरथ, वसिष्ठजी तथा विश्वामित्रजी पर चमर डुलाए जा रहे हैं, बड़े बड़े मण्डलेश्वर दरबारमें विराजमान हैं, उन लोगोंने भी रामजी को आते देखा कि बहुत कृश हो गए हैं, जैसे महादेव स्वामिकार्तिकको आते देखें, वैसे ही राजा दशरथ ने रामजीको आते देखा, रामजी ने आते ही जैसे दशरथके चरणोंपर मस्तक लगाकर प्रणाम किया, वैसेही वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी को भी। सभा में बैठे हुए अन्य ब्राह्मणों का भी अभिवादन रूप सत्कार किया। बड़े–बड़े मण्डलेश्वरों ने उठउठकर रामजी को प्रणाम किया।

राजा दशरथ ने रामजी को गोदमें बैठाया, मुखकी ओर देखकर माथा चूमा प्रेमसे पुलकित होकर कहने लगे बेटा! केवल विरक्तिसे परमपदकी प्राप्ति नहीं होती, श्रीगुरुवर वसिष्ठजीके युक्ति युक्त उपदेश से परमपद की प्राप्ति होगी।

श्री वशिष्ठजीने कहा– हे राम! तुम धन्य हो! वीर हो! विषय रूपी शत्रुको तुमने जीत लिया है, विषय अजेय शत्रु हैं उसपर तुमने विजय प्राप्त कर ली, अतः धन्य हो।

श्री विश्वामित्रजी बोले–कमलनयन राम! समाहित चित्तसे अपना आशय प्रकट करो, तुम्हारे इस मोहका कारण क्या है ? इसका रूप क्या

है? तुम क्या चाहते हो, हम तुम्हें उसी पद पर पहुँचा देंगे जहां दुःखकी पहुँच नहीं है जैसे आकाशको चूहा नहीं काट सकता, वैसेही दुःख तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगा। हे राम! जब हम तुम्हारा सकल दुःख निर्मूल कर देने की प्रतिज्ञा करते हैं तो फिर संशय क्यों करते हो, अपना मनोऽभिलषित शीघ्र कहो।

वाल्मीकिजी बोले— हे भरद्वाज! विश्वामित्रजीका यह कथन सुनकर रामजी ऐसे प्रसन्न हुए जैसे मेघको देखकर मोर प्रसन्न होता है, उनका शोक दूर हो गया, मनमें निश्चय हुआ कि अब मुझे उस पद की प्राप्ति अवश्य होगी।

इति श्री योगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे रामसमाश्वासनवर्णनं नामैकादशःसर्गः।। ११।।

द्वादशः सर्गः १२.

अथ रामेण वैराग्यवर्णनम्।

वाल्मीकिजी बोले—हे भरद्वाज! मुनिवर वचन सुनकर रामजी प्रसन्न होकर बोले— भगवन्! अपने विचार आपसे यथाक्रम कहता हूँ— मैंने राजा दशरथ के घर में जन्म लिया, क्रम से बड़ा हुआ, समय पर यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, ब्रह्मचर्य व्रतधारण किये वेदाध्ययन में प्रवृत हुआ, इस कार्य के समाप्त होने पर मेरे मन में तीर्थयात्रा और देवदर्शन करने की प्रबल इच्छा हुई, तदनुसार पिता की आज्ञा पाकर गंगा आदि सब तीर्थों में स्नान और शालिग्राम और केदार आदि देवस्थानों में विधिपूर्वक देवदर्शन किये। घर में वापिस आकर ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान सन्ध्या जप पाठ आदि करके भोजन करने आदि का क्रम चालू रक्खा। इस प्रकार कई दिन बीत गये।

एक दिन मेरे हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि राज्य क्या है? भोग क्या है? और जगत् क्या है? सब भावमात्र है, इसकी वासना मूर्ख करते हैं, यह स्थावर जंगम रूप संसार सब मिथ्या है, यह विचार मेरे हृदय को इस प्रकार खींचकर ले गया जैसे नदी तटकी तृण लताओंको नदीका जलप्रवाह खैंचकर बहा देता है। मेरे हृदयमें जो जगत् की आस्थारूप तृण लताएँ थीं, इस विचार प्रवाह में बह गयीं।

हे मुनिवर! जितने भी पदार्थ हैं सब मनकेही कल्पित हैं, वह मन स्वयं भ्रममात्र है अनहुआसा दुःखदायी हुआ है, यह जिस पदार्थको सत्य जानकर दौड़ता है और सुखदायक जानता है वह सब कुछ मृगतृष्णाके जलवत् है, जैसे मृगतृष्णाको देखकर मृग दौड़ते हैं परन्तु वह है नहीं, दौड़ते दौड़ते व्याकुल होकर गिर पड़ते हैं तो भी जल प्राप्त नहीं होता, वैसे ही मूर्ख जीव पदार्थको सुखदायी जानकर भोगनेका यत्न करता है, परन्तु शान्ति नहीं पाता।

हे मुनिश्वर! इन्द्रियों के भोग सर्प के समान हैं जिनका मारा हुआ जन्म मरण के चक्र से नहीं निकलता। भोग और जगत् सब भ्रममात्र है, इनमें आस्था करनेवाले महामूर्ख हैं, मैं विचार से इतना जान सका हूँ कि यह इन्द्रियों के भोग आगमापायी अर्थात् आने जाने वाले हैं, पाने योग्य पदार्थ वही है जिसका नाश न हो, इसी कारण से मैंने भोग का त्याग किया है।

हे मुनिवर! जितने पदार्थ सम्पत्तिरूप भासते हैं सब विपत्तिरूप हैं, इनमें किंचित् सुख नहीं, जब किसी इन्द्रिय को कोई भोग प्राप्त होता है तब रोग के दोष से दुःखी होता है, जब नहीं मिलता तब तृष्णा से जलता है, जब भोग वियोग होता है तो कंटक के समान मन में चुभता है, इसलिये भोग दुःखरूप हैं, जैसे–शिला में छिद्र नहीं होता, वैसे ही भोगरूपी दुःख की शिला में सुखरूप छिद्र नहीं होता।

हे मुनिवर! विषयों की तृष्णा में चिरकाल से जलता रहा हूँ, जैसे हरे वृक्ष के छिद्र में कुछ आग रख दी जाय तो वह धुँधआता हुआ थोड़ा थोड़ा जलता रहता है, इन विषयों में सुख तो नाम मात्र भी नहीं, दुःख बहुत है, इनकी इच्छा करना मूर्खता है। जैसे–खाई घास पत्तों से ढकी रहती है, उसकी हरियाली देखकर हरिण उसपर कूद पड़ता है और दुःख पाता है, वैसे ही मूर्ख भोग को सुखरूप जानकर भोगने की इच्छा करता है, जब भोगता है तब जन्म जन्मान्तर रूप खाई में जा गिरता है और दुःख पाता है।

हे मुनिवर! भोगरूपी चोर अज्ञानीरूपी रात्रि में आकर आत्मरूप धन को लूट लेता है, उसके वियोग से (भोक्ता) महादीन हुआ करता है। जिस भोग के निमित्त यह यत्न करता है वह दुःखरूप है, अतः शान्ति की प्राप्ति होती नहीं, और जिस शरीर के अभिमान से यह यत्न करता है वह क्षणभंगुर है, असार है, इसलिये–जिसको सदा भोग की इच्छा रहती है वह जड़ है, मूर्ख है, उसका बोलना चालना भी ऐसा है जैसे सूखे बांस के छिद्र में पवन जाता है और पवन के वेग से शब्द होता है, ऐसे ही उस मनुष्य की वासना है। जैसे थका हुआ मनुष्य मारवाड़ (मरुस्थल) के मार्ग की इच्छा नहीं करता ऐसे ही मैं दुःखदायी जानकर भोग की इच्छा नहीं करता।

यह लक्ष्मी सब अनर्थों का कारण है, जब तक इसकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इसके पाने के लिये यत्न करना पड़ता है और महान् अनर्थ करने से इसकी प्राप्ति होती है, और प्राप्त होने पर सब गुणों का नाश कर देती है शीलता सन्तोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य, विचार, दया आदि सब गुणों को भगा देती है। जब ऐसे गुण ही न रहे तो सुख कहाँ? परम आपत्ति आ जाती है, इसको परम दुःख का कारण जानकर मैंने त्याग दिया है।

हे मुनिवर! मनुष्य में गुण तब तक ही रहते हैं जब तक लक्ष्मी नहीं मिलती, लक्ष्मी की प्राप्ति हुई कि सब गुण समाप्त, जैसे वसन्त ऋतु की मञ्जरी की हरयावल तबतक रहती है जबतक ज्येष्ठ आषाढ़ नहीं आया। जब ज्येष्ठ आषाढ़ आया कि मञ्जरी जलगयी। ऐसे ही लक्ष्मी के मिल जानेपर सब गुण जल जाते हैं, मधुर वचन तब तक बोलता है जब तक लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं हुई, लक्ष्मीवान् बनजाने पर बाणी की कोमलता के स्थान को कठोरता छीन लेती है। जैसे जल तब तक पतला रहता है जब तक शीतलता का संयोग नहीं होता। शीतलता के संयोग से कठोर हो जाता है। इसी प्रकार जीव लक्ष्मी को पाकर जड़ हो जाता है।

हे मुनिवर! सम्पत्ति आपत्ति का मूल है। क्योंकि लक्ष्मी की प्राप्ति में तो बड़े बड़े सुख भोगता है और इसके अभाव में तृष्णा से जलता है। आवागमन के चक्र पर चढ़ जाता है, अतः लक्ष्मी की इच्छा करना मूर्खता है यह क्षणभंगुर है, इससे भोग उपजते हैं और नाश होते हैं, जैसे जल से तरंग उठते हैं और मिट जाते हैं, भोग बिजली के समान अस्थिर हैं, पुरुष में शुभगुण तब तक हैं जब तक तृष्णा का स्पर्श नहीं हुआ, तृष्णा के आते ही शुभगुण भाग जाते हैं, दूध में मधुरता तब तक है जब तक उसमें सर्प का स्पर्श नहीं हुआ, सर्प के स्पर्श करने से दूध विषरूप हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्य प्रकरणे रामेण वर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ।।१२।।

त्रयोदशः सर्गः १३

अथ लक्ष्मीतिरस्कारवर्णनम् ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनीश्वर! लक्ष्मी देखने मात्र को ही सुन्दर है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सद्गुण भाग जाते हैं, जैसे विष की लता (बेल) देखने मात्र में ही सुन्दर है, स्पर्श करने से प्राण हर लेती है, ऐसे ही लक्ष्मीवान् होने से मनुष्य जब आत्मपद से पतित हो जाता है तब आत्मविमुख का जीना मरने के ही समान माना जाता है, क्योंकि महादीन हो जाता है। जैसे किसी के घर में चिंतामणि दबी पड़ी हो जब तक उसे भूमि से निकाल न सके तब तक दरिद्र ही रहता है, ऐसे ही अज्ञान से ज्ञान ढ़का हुआ है, उसके बिना ज्ञानियों की दृष्टि में महादीन (शोचनीय) हो जाता है, आत्मानंद से वंचित रहता है, लक्ष्मी आत्मानंद के मार्ग का नाश करने वाली है, इसकी प्राप्ति से जीव महा अन्ध हो जाता है।

हे मुनिवर! जब दीपक प्रज्वलित होता है तब उसका बहुत विस्तृत प्रकाश दीखता है, जब बुझ जाता है तब प्रकाश का अभाव हो जाता है

और काजर शेष रहता है, ऐसे ही जब लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तब बड़े भोग भुगवाती है, और तृष्णारूप काजर उससे उपजता रहता है, जब लक्ष्मी का अभाव होजाता है तब जो वासना तृष्णा उससे निरन्तर उपजती रहती थी, वही सामने रह जाती है, वह वासना तृष्णा अनेक जन्म पाने का कारण बन जाती है, शान्ति प्राप्त करने का कोई समय नहीं आता।

हे मुनिवर! जब जिसको लक्ष्मी प्राप्ति होती है, तब ही उसके शान्ति उत्पन्न करने वाले गुणों का नाश कर देती है, जैसे—जब तक पवन नहीं चलता तब तक मेघ रहता है, जब पवन चला तब मेघ का अभाव हो जाता है, ऐसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति होते ही गुणों का अभाव हो जाता है और गर्व की उत्पत्ति होती है।

हे मुनिवर! जो शूरवीर होकर अपने मुख से अपनी स्तुति न करे,वह दुर्लभ है और समर्थ होकर किसी का निरादर न करे सबमें समता बुद्धि रक्खे वह दुर्लभ है, ऐसे ही लक्ष्मीवान् होकर शुभगुण युक्त हो वह भी दुर्लभ है।

हे मुनिवर! तृष्णा सर्प है, उसके बढ़ाने के लिये लक्ष्मी दूध है, उस लक्ष्मीरूप दूध को पी पीकर और भोगरूपी पवन का बारम्बार आहार करते हुये यह तृष्णारूप सर्प कभी तृप्त नहीं होता। महामोह मस्त हाथी है, उसके घूमने का स्थान है लक्ष्मीरूप पर्वतीय जंगल, गुण सूर्यमुखी कमल हैं, लक्ष्मी उनके लिये रात्रि है और विषयोंके भोग चन्द्रमुखी कमल हैं, उनके लिये लक्ष्मी चन्द्रमा है। वैराग्यरूप कमलिनी को नाश करनेवाली लक्ष्मी बर्फ है,ज्ञानरूप चन्द्रमा को आच्छादन करने के लिये लक्ष्मी राहु है। और मोहरूप उलूक (उल्लू) के लिये लक्ष्मी रात है, दुःखरूप बिजली के लिये लक्ष्मी आकाश है और तृष्णारूपी लता को बढ़ाने के लिये लक्ष्मी मेघ है, तृष्णारूपी तरंगों की लक्ष्मी समुद्र है और भोगरूपी पिशाच का निवासस्थान है, तृष्णारूपी भँवर के लिये लक्ष्मी कमलिनी है, दुःखरूप जल का ताल है।

हे मुनीश्वर! यह देखने मात्र को सुन्दर लगती है वास्तव में दुःख का कारण है, जैसे खड्ग की धार देखने में अति सुन्दर लगती है परन्तु स्पर्श करने से नाशकर देती है, ऐसे ही यह लक्ष्मी है, विचाररूपी मेघ को नाश करने के लिये लक्ष्मी वायु है, सन्तोष रूपी मेघ का नाश करनेवाला यह शरत्काल है।

हे मुनिवर! मैंने विचार कर देखा है कि इसमें सुखका तो नाम नहीं दुःखही दुःख है, मनुष्यमें इतनी देर तक ही शुभगुणों का निवास होता है जब तक लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं होती लक्ष्मीकी प्राप्ति हुई कि गुण गये।

लक्ष्मीको ऐसी कुत्सित जानकर मैंने इसकी इच्छा त्याग दी है, यह भोग मिथ्या रूप हैं, जैसे बिजली प्रकट होकर छिप जाती है ऐसेही यह लक्ष्मी भी प्रकट होकर छिप जाती है अर्थात् यह स्थिर नहीं रहती, इसको छलरूप जानकर मैंने त्याग दिया है।

इति श्री योगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे लक्ष्मीतिरस्कारवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।१३।।

चतुर्दशः सर्गः १४.

अथ संसारसुखनिषेधवर्णनम् ।

हे मुनीश्वर! जैसे कमलके पत्तेपर जलकी बूँद नहीं ठहरती इसी प्रकार लक्ष्मी क्षणभंगुर है, जैसे जलमें तरंग उत्पन्न हो हो कर मिट जाते हैं ऐसेही लक्ष्मी भी चञ्चला है, इसको देखकर जो प्रसन्न होता है वह विचारहीन है।

हे मुनिवर! पवनकी गतिको रोकना कठिन है, उसे भी कोई रोक लेवे, आकाशको चूर्ण करदेना असंभव है वह भी संभव होजाय, बिजलीको रोकना अति कठिन है, उसे भी कोई रोकले, परन्तु लक्ष्मीको पाकर स्थिर होना संभव नहीं, जैसे शश (खरगोश) के सींगोंको कोई तोड़ नहीं सकता, जैसे आरसीपर मोती नहीं ठहर सकता, जैसे

तरंगकी गठड़ी नहीं बाँधी जा सकती, ऐसेही लक्ष्मी भी स्थिर नहीं रह सकती। लक्ष्मी बिजलीकी चमक है, पैदा होती है मिट जाती है, लक्ष्मीको प्राप्त करलेनेसे जो अपने आपको अमर करना चाहता है वह महामूर्ख है, और लक्ष्मीको पाकर भोग भोगने की इच्छा करना भी विपत्ति को ही निमत्रंण देना है, ऐसे जीवन से मृत्यु अच्छी है, जीनेकी आशा मूर्ख करते हैं, वे अपने नाशके लियेही करते हैं, जैसे स्त्री जो गर्भ की इच्छा करती है अपने नाशके लिये ही करती है ।

जिन ज्ञानवान् पुरुषों की परमपदमें स्थिति है, और उससे तृप्त हुए हैं, उनका जीना सुखके निमित्त से है और उनके जीने से औरोंका भी कार्य सिद्ध हो जाता है तथा वह जीना चिन्तामणिके समान श्रेष्ठ है। और जिन्हें सदा भोग की इच्छा बनी रहती है, और जो आत्मपदसे विमुख हैं, उनका जीना किसी सुखके निमित्त नहीं है, वह मनुष्य नहीं किन्तु गर्दभ हैं, जैसे वृक्षों, पशुओं और पक्षियों का जीना है, ऐसा ही उनका है।

हे मुनिवर! जिस पुरुषने शास्त्रोंका अध्ययन तो किया है परन्तु पाने योग्य पदको नहीं पाया, उसके लिये वह शास्त्र बोझ रूप है, जैसे अन्य वस्तुओंका बोझ (भार) होता है ऐसे ही पढ़नेका भी भार है। शास्त्र पढ़कर जो विचार चर्चा तो करता है परन्तु उसके सारको ग्रहण नहीं करता, उसके लिये वह विचार चर्चा भी भार है।

हे मुनिवर! मन आकाशरूप है जिसके मनमें शान्ति न आसकी तो उसके लिये मन भी भार है, जिसने मनुष्य का शरीर तो पाया परन्तु उसका अभिमान नहीं छोड़ा तो यह शरीर भी उसके लिये भार है, इस शरीर का जीना तभी श्रेष्ठ है, जब इससे आत्मपदकी प्राप्ति हो जाय, अन्यथा उसका जीना व्यर्थ है आत्मपदकी प्राप्ति अभ्यास से होती है, जैसे जल पृथ्वीको खोदने से निकलता है ऐसेही अभ्याससे आत्मपद की प्राप्ति होती है, जो लोग आत्मपदसे विमुख हैं, वे आशा पाशमें फँसे हुए संसारमें भटकते रहते हैं।

हे मुनिवर! संसारके तरंग अनन्त कालसे उठ उठकर लीन हो रहे हैं, ऐसेही यह लक्ष्मी क्षण भंगुर है, इसको पाकर अभिमान करने वाले मूर्ख है। जैसे बिल्ली चूहों को पकड़ने के लिये पड़ी रहती है, ऐसे ही लक्ष्मी लक्ष्मीवानों को नरक में डालने के लिये घर में पड़ी रहती है। जैसे अंजलिमें जल नहीं ठहरता वैसेही लक्ष्मी चली जाती है, ऐसी क्षण भंगुर लक्ष्मी और नाशवान् शरीर को पाकर जो भोगकी तृष्णा करते हैं वे महामूर्ख हैं। वे पड़े हुए हैं मृत्यु के मुखमें और आशा करते हैं जीनेकी, जैसे सर्पके मुखमें मेंडक आजाता है तो वह मच्छरको खानेकी इच्छा करता है, वे लोगभी उसी महामूर्ख के समान हैं जो मृत्युमुखमें पड़े हुए भोगों की इच्छा करते हैं ।

जवानी की उमर नदीके प्रवाहके समान चली जाती है, वृद्धावस्था आती है तो उसमें अनेक दुःख प्रकट होते हैं शरीर जर्जर हो जाता है फिर मरता है, मृत्यु इसको क्षणभर नहीं विसारती, सदा देखती रहती है, जैसे महाकामी पुरुषको सुन्दर स्त्री मिल जाती है तो उसको सदा देखते रहना चाहती हुई उससे दूर नहीं होती, इसी प्रकार मृत्यु मनुष्यको देखतीही रहती है।

हे मुनिवर! मूर्खका जीना दुःखके निमित्त है, जैसे वृद्ध मनुष्यका जीना दुःखका कारण है, ऐसेही अज्ञानीका जीना दुःख का कारण है, जिसने मनुष्य शरीर पाकर आत्मपद पानेका यत्न नहीं किया, उसने आपही अपना नाश किया है, वह आत्म हत्यारा है।

हे मुनीश्वर! यह माया अति सुन्दर भासती है, और अन्तमें नाश हो जाती है। जैसे वृक्षको अन्दरसे घुण खा जाता है और बाहिर से सुन्दर प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह पुरुष बाहिर से सुन्दर दीखता है और अन्दर से इसे तृष्णा खाजाती है, जो पुरुष किसी पदार्थको सत्य और सुखरूप जानकर उसका आश्रय लेता है वह सुखी नहीं होता, जैसे नदीमें पड़ा हुआ सांपको पकड़कर पार पहुँचना चाहे तो नहीं पहुँच सकता, ऐसेही सांसारिक पदार्थको सुखरूप जानकर उसका आश्रय लेता है वह सुख नहीं पाता, किन्तु संसार समुद्रमें डूब जाता है।

हे मुनिवर! यह संसार इन्द्रधनुषके समान है देखनेमें बहुत रंगोंका है, परन्तु उससे कार्य सिद्धि कोई नहीं हो सकती, ऐसे ही यह संसार केवल भ्रम मात्र है, इसमें सुखकी इच्छा रखना व्यर्थ है, इस प्रकार जगतको निस्सार जानकर मैंने निर्वासन होनेकी इच्छा की है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे संसारसुखनिषेधवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पञ्चदशः सर्गः १५

अथ अहंकार दुराशा वर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले–हे मुनीश्वर! इस अहंकारका उदय अज्ञानसे हुआ है, यह महादुष्ट है, और परमशत्रु है इसके भारसे दबना पड़ता है, यह यद्यपि मिथ्या है तो भी सब दुःखोंका उद्‌गम स्थान है, जब तक अहंकार है तब तक दुःखकी निवृत्ति न होगी ।

हे मुनीन्द्र! मैंने अहंकारसे जो कुछ भजन पुण्य किया है और लिया दिया है, सब व्यर्थ है, इससे परमार्थकी सिद्धि नहीं हुई। राखमें दी हुई आहुतिके समान वह कर्म व्यर्थ है जो अहंकारसे किया गया है। मेरे विचार से जितने भी दुःख हैं उन सब का बीज अहंकार है उसका नाश हो तभी कल्याण हो सकता है, इसलिए आप मुझे वही उपाय कहें जिससे अहंकार की निवृत्ति हो।

हे मुनीश्वर! जो वस्तु सत्य है उसका त्याग करने में दुःख होता है और जो वस्तु नाशवान् है और भ्रमसे देखने में आरही है उसको त्याग करने में आनन्द है। शांतिरूपी चन्द्रमा को आच्छादित करने (ढंकने) वाला अहंकाररूपी राहु है, जैसे राहु चन्द्रमा का ग्रहण करता है तब उसकी शीतलता और प्रकाश ढ़क जाता है, ऐसे ही जब अहंकार उत्पन्न होता है तो समता ढंकी जाती है, जब अहंकाररूपी मेघ गरज कर बरसता है तब तृष्णारूपी कंटक मञ्जरी बढ़ जाती है, वह कभी घटती नहीं क्योंकि अहंकार का नाश हो तो तृष्णाका नाश हो, जब तक मेघ है तब तक बिजली है, जब विवेकरूपी पवन चले तब अहंकाररूपी मेघ का अभाव होने पर बिजली का नाश होगा, जैसे जब तक तेल और बत्ती है

तब तक दीपक का प्रकाश है, तेल और बत्ती के नाश होने पर दीपक के प्रकाश का भी नाश हो जाता है सारांश यह कि अहंकार का नाश होने पर तृष्णा का भी अभाव हो जाता है ।

हे मुनिवर! परमदुःखका कारण अहंकार है, अहंकारका नाशहो तो दुःखका भी अभाव हो, हे मुनीन्द्र! यह जो मैं राम हूँ, वह नहीं हूँ, इच्छा भी कुछ नहीं है, क्योंकि जब मैं नहीं तब इच्छा किसको हो, और इच्छा हो तो यही हो कि अहंकार रहित पदकी प्राप्ति, अहंकारका उत्थान न हो यही मेरी इच्छा है।

हे मुनीश्वर! जैसे कमलका बर्फ नाश करती है ऐसे अहंकार ज्ञानका नाश करता है, जैसे पारधी जालसे पक्षीको बन्धनमें डालता है उससे पक्षी दीन हो जाते हैं, वैसे ही अहंकाररूपी पारधीने तृष्णारूप जाल डालकर जीवको बाँध रक्खा है, इस दुःख से महादीन है, जैसे पक्षी अन्नके कणको सुखरूप जानकर चुगने आता है, और चुगता चुगता जालमें बँध जाता है और उस बन्धनसे अतिदीन हो जाताहै, उसी प्रकार यह पुरुष विषयभोगकी इच्छासे तृष्णारूपी जालमें फँसकर महादीन हो जाता है, इसलिये हे मुनीश्वर! मुझे वही उपाय बताओ जिससे अहंकारका नाश हो, जब अहंकार का नाश होगा तो मैं परमसुखी हो जाऊँगा।

जैसे विंध्याचल के आश्रय से उन्मत्त हस्ती गरजते फिरते हैं, ऐसे ही अहंकाररूपी विंध्याचल के आश्रय से मनरूपी उन्मत्त हस्ती नाना प्रकार के संकल्प विकल्परूपी शब्द करता है, इसलिये वही उपाय कहो जिससे अहंकार का नाश हो, यह अहंकार अकल्याण का मूल है, जैसे मेघ का नाश करनेवाला शरत्काल है, ऐसे वैराग्य का नाश करनेवाला अहंकार है, मोहादिक विकाररूप सर्पों के रहने के लिये अहंकाररूपी बिल है। अहंकार कामी पुरुष के समान है, जैसे कामी पुरुष कामना को भोगता है और पुष्पों की माला गले में डालकर प्रसन्न होता है, ऐसे ही तृष्णारूपी धागा है मनुष्यरूपी फूल हैं तृष्णारूप धागे में पिरोये हैं उन्हें अहंकाररूपी कामी पुरुष गले में डालता है और प्रसन्न होता है।

हे मुनिवर! आत्मा सूर्य है उसको ढकनेवाला अहंकार बादल है, जब

ज्ञान रूपी सूर्यका उदयकाल आता है तब अहंकार रूप मेघका नाश होजाता है और तृष्णा रूपी तुषार (ओसा) का भी नाश होजाता है।

हे मुनिवर! यह निश्चयकर मैंने देखा है कि जहाँ अहंकार है वहाँ सब आपदाएँ आ मिलती हैं। जैसे समुद्रमें सब नदियाँ आ मिलती हैं, ऐसे ही अहंकारमें सब आपदाओंकी प्राप्ति होती है, इसलिये वही उपाय कहो–जिससे अहंकारका नाश हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे अहंकारदुराशावर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः।।१५।।

षोडशः सर्गः १६

अथ चित्त दौरात्म्यवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले–हे मुनीश्वर! यह मेरा चित्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णादिक दुःखों से जर्जर हो गया है और महापुरुषोंके जो वैराग्य, विचार, धैर्य, सन्तोष आदि गुण हैं उनकी ओर नहीं जाता, सदा विषयों की धूल फाँकता फिरता है, जैसे मोर का पंख पवनके पास नहीं ठहरता ऐसेही यह चित्त सर्वदा भटकता फिरता है, इसको लाभ कुछ नहीं होता। जैसे कुत्ता दरदर भटकता फिरता है, ऐसे ही यह इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिये भटकता फिरता है, परंतु इसे प्राप्त कुछ नहीं होता। जो कुछ प्राप्त होता भी है उससे इसकी तृप्ति नहीं होती, तृष्णा अन्दर बनी रहती है, जैसे पिटारेमें जल भरे तो वह पूर्ण नहीं होता, क्योंकि छिद्रोंसे पानी निकल जाता है, पिटारा शून्यका शून्य रह जाता है ऐसे ही चित्तको जो भोगपदार्थ मिलता है उससे संतुष्ट नहीं होता, तृष्णा बनी ही रहती है।

हे मुनीश्वर! यह चित्त महामोहरूपी समुद्र है, इसमें तृष्णारूप तरंग उठते ही रहते हैं, कभी स्थिर नहीं होते, जैसे समुद्रके तीक्ष्णवेगवाले तरंगोंके उठनेसे तटके वृक्ष जलमें बह जाते हैं, ऐसे चितरूपी समुद्रमें विषय बह जाते हैं, वासनारूपी तरंगोंके वेगसे मेरा अचल स्वभाव चलायमान होगया है, अतः इस चित्तसे मैं महादीन हुआ हूँ। जैसे जालमें

पड़ा पक्षी दीन हो जाता है, ऐसेही चित्त रूपी धीवरके वासनारूपी जालमें बंधाहुआ मैं दीन हो गया हूँ, जैसे मृग समूहसे भूली हुई मृगी अकेली दुःखी होती है ऐसे आत्म पदसे भूला हुआ मैं चित्तमें अति खिन्न हुआ हूँ।

हे मुनिवर! यह चित्त सदा क्षोभवान् रहता है कभी स्थिर नहीं होता, जैसे क्षीरसागर मंदाराचलसे क्षुब्ध हुआ था ऐसेही यह चित्त संकल्प विकल्पोंसे खेद पाता है, जैसे पिंजरे में आया हुआ सिंह पिंजरे में फिरता है, ऐसेही वासना में आया हुआ चित्त स्थिर नहीं होता।

हे मुनिवर! इस चित्तने मुझे दूर से भी अति दूर फेंक दिया है, जैसे–प्रबल पवनसे सूखा तिनका दूरसे दूर जा पड़ता है, ऐसेही चितरूपी पवनने मुझे आत्मानन्दसे दूर जा फेंका है, जैसे सूखे तृण को आग जलाती है ऐसेही मुझे चित्त जलाता है, जैसे आगसे धुआँ निकलता है, ऐसेही चित्तरूपी आगसे तृष्णारूपी धुआँ निकलता है, उससे मुझे परमक्लेश होता है, यह चित्त हंस नहीं बनता। जैसे राजहंस मिले हुए दूध और जलको भिन्न भिन्न करता है, ऐसेही मैं अज्ञानसे अनात्मामें एकसा होगया हूं,उसको भिन्न नहीं कर सकता हूँ। जब आत्मपद पानेका यत्न करता हूँ तब अज्ञान पाने नहीं देता, जैसे नदीका प्रवाह समुद्रमें जाता है उसको पहाड़ सीधा नहीं चलने देता और समुद्रकी ओर जानेसे रोकता है, ऐसे ही चित्त मुझे आत्माकी ओरसे रोकता है, परम शत्रु है। हे मुनिवर! कोई ऐसा उपाय कहिये, जिससे चित्तरूपी शत्रुका नाश हो।

यह तृष्णा मुझे खाती रहती है, जैसे मृत शरीरको कुत्ते कौए खाते हैं, इसी प्रकार मुझे तृष्णा खाती है क्योंकि आत्मज्ञान के बिना मैं भी मृतक समान हूँ। जैसे बालक अपनी परछाही को वैताल मानकर भयभीत होता है ऐसे ही चित्तरूपी वैताल ने मुझे पकड़ा है इससे मैं भयभीत हुआ हूँ, जैसे विचार करनेके योग्य हो जानेपर बालक वैताल से नहीं डरता, इसी प्रकार आप कोई ऐसा उपाय बतायें जिससे चित्तरूपी वैतालका नाश हो।

हे मुनिवर! अज्ञान से मिथ्या वैताल चित्तमें दृढ़ हो रहा है। उसको

नाश करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं, प्रज्वलित अग्निमें बैठजानेको मैं सुगम मानता हूँ बड़े कठिन पर्वत पर पैदल चलकर पहुँचना भी सुगम है वज्रको चूर कर देना भी मेरे विचारमें सुगम है, परन्तु चित्तका जीतना महा कठिन है, चित्त स्वभावसे ही अति चंचल है, जैसे स्तंभके साथ बँधा हुआ बानर कभी स्थिर होकर नहीं बैठता,ऐसे ही वासनाओंके प्रभावसे चित्त कभी स्थिर नहीं होता। हे मुनिवर! महासागरका पान कर लेना सुगम है और अग्निका भक्षण करना भी सुगम है, सुमेरु पर्वतका उल्लंघन करना भी सुगम है,परन्तु चित्तका जीतना महा कठिन है क्योंकि वह सदा चल रूप है, जैसे समुद्र अपने द्रव स्वभाव का कभी त्याग नहीं करता और सदा द्रवीभूत रहता है, उससे नाना प्रकारके तरंग उठते हैं, ऐसे ही चित्त भी चंचल स्वभावका कभी त्याग नहीं करता इसमें नाना प्रकारकी वासनाएं उपजती ही रहती हैं। चित्त बालक के समान चंचल है, किसी न किसी विषयकी ओर दौड़ता ही रहता है,पदार्थकी प्राप्ति तो कहीं होती है। जैसे सूर्यके उदय होनेपर दिन होता है और अस्त होनेपर उस दिनका नाश हो जाता है ऐसे ही चित्तके उदयसे त्रिलोकी की उत्पत्ति होती है और चित्तके लीन हुए लीन हो जाती है।

हे मुनिवर! समुद्रके गम्भीर जलमें कहीं बहुत सर्प रहते हों और जब कोई समुद्रमें प्रवेश करे तो उसको काटें तो उसे विष चढ़जाय और उस विषसे जैसे उसको महादुःख हो, ऐसा ही दृष्टान्त सुनिये, चित्तरूपी समुद्र है, वासना जल है। उसमें छलरूप सर्प है, जब जीव उसके निकट जाता है तब भोग (छल) रूप सर्प उसे काटता है तब तृष्णारूप विषका प्रसार होता है, उससे मर जाता है।

हे मुनिवर! जिस भोगको सुखरूप जानकर चित्त दौड़ता है वह भोग नहीं, केवल दुःख है, जैसे खाई तृणसे आच्छादित हो जाती है, उसको देखकर मूर्ख मृग खानेको दौड़ता है, और खाईमें गिरकर महा दुख पाता है, ऐसे ही चित्तरूप मृग भोगोंको सुखरूप जानकर भोगने लगता है तब तृष्णा की गहरी खाई में जा गिरता है और जन्म जन्मान्तर तक दुःख भोगता है।

हे मुनीन्द्र! यह चित्त कभी बड़ा गम्भीर हो बैठता है, परन्तु जब भोगोंको देखता है तब उनकी ओर चीलके समान गिर पड़ता है, जैसे गीधपक्षी आकाशमें घूमता है, जब पृथ्वीपर पड़े हुए मांसको देखता है तो झट उतरकर उसपर बैठता है और उसे ले जाता है, ऐसे ही यह चित्त कभी तो न्यारा ही उड़ता है परन्तु जब विषयोंको देखे तो आसक्तिके साथ उनमें जागिरता है, यह चित्त वासनारूपी शय्यामें सोता रहता है, इसको आत्मपद रूप जागृति कभी नहीं प्राप्त होती। इस चित्तके जालमें मैं फँसा हुआ हूँ, इस जालमें वासना रूप सूत्र हैं संसार की सत्यता रूप ग्रन्थियाँ लगी हैं इसमें भोगरूप चूर्ण (आटा) है, उसको देख मैं फँसा हूँ वासनारूप सूत्रमें घटी यंत्रके समान बँधा हुआ कभी पातालमें कभी आकाशमें घूमता हूँ, हे मुनिवर! कोई उपाय कहो, जिससे चित्तरूप शत्रुको जीत सकूँ।

अब मुझे किसी भोगकी इच्छा नहीं, जगत् की लक्ष्मी मुझे विरस भासती है। जैसे चन्द्रमा बादलकी इच्छा नहीं करता, परन्तु चातुर्मासमें उससे अच्छादित हो जाता है, ऐसे ही मैं भोगकी इच्छा नहीं करता और जगत् की लक्ष्मीको मैं नहीं चाहता, यह चित्त मेरा परम शत्रु है।

हे मुनिवर! महापुरुष इसको जीतनेका यत्न करते हैं क्योंकि चित्तको जीतनेसे ही परम पद की प्राप्ति होती है, इसलिये मुझे वही उपाय कहो जिससे मनको जीत सकूँ, इसका ही आश्रय लेकर दुःख रहते हैं। ऐसे पर्वतपर होने वाला वन पर्वतके आश्रयसे टिका हुआ है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे चित्तदौरात्म्य वर्णनंनाम षोडशः सर्गः॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

अथ तृष्णागारुडी वर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले–हे ब्रह्मन्! चैतन्यरूप आकाशमें तृष्णारूप रात्रि है। उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक उलूक विचरते हैं, जब ज्ञानरूप सूर्यका उदय होनेपर तृष्णारूप रात नहीं रहती तब इन कामादिक उलूकों का भी अभाव हो जाता है, सूर्यका उदय होनेपर बर्फ उष्ण होकर पिघल

जाता है, सन्तोषरूप रसको तृष्णारूप गर्मी सुखाती है, इस तृष्णाका ऐसा रूप है जैसे शून्य वनमें कोई पिशाचिनी परिवारको साथ लिये प्रसन्नतासे फिरती हो। आत्मपदसे शून्य चित्त ही भयानक वन है, उसमें तृष्णा ही पिशाचिनी है और काम,क्रोध, लोभ मोहादिक उसका परिवार हैं, उनको साथ लिये फिरती है।

हे मुनीश्वर! चित्तरूपी पर्वतके आश्रयसे तृष्णारूपी नदीका प्रवाह चलता है और नाना प्रकारके संकल्परूप तरंग फैलते हैं, जैसे मेघ देखकर मोर प्रसन्न होता है, वैसे ही भोगोंको देखकर तृष्णा प्रसन्न होती है, इसलिये परमदुःख का मूल तृष्णा है, जब मैं किसी सन्तोषादि गुणका आश्रय लेता हूँ तो तृष्णा उसका नाश कर देती है,जैसे सुन्दर सारंगीको चूहा काटकर खराब कर देता है ऐसे ही तृष्णा सन्तोषादि गुणोंका नाश कर देती है।

हे मुनिवर! मैं परम उत्कृष्ट पदपर विराजमान होनेका प्रयत्न करता हूँ, तृष्णा वहां स्थिर होने नहीं देती। जैसे जालमें फँसा हुआ पक्षी आकाशमें उड़नेका यत्न करता है परन्तु उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार मैं अनात्मपदसे आत्मपदमें नहीं पहुँच सकता, स्त्री, पुत्र, आदि कुटुम्बने जाल बिछाया हुआ है, उसमें फँसा हुआ हूँ, निकलना कठिन हो रहा है, आशा पाशसे बँधा हुआ घटीयन्त्र (अरहट) के समान कभी ऊपर कभी नीचे जाता हूँ, जैसे—इन्द्रका मेघमलिन धनुष बहुत रंगोंसे रंगा भरा पड़ा है परन्तु बीचमें से शून्य है, ऐसे ही तृष्णा मलिन अन्तःकरणमें होती है, गुणरूपी रंगोंसे रंगी है, बड़ी है, परन्तु इससे कार्यसिद्धि कुछ नहीं होती।

हे मुनीन्द्र! तृष्णा मानों बादल है, इससे दुःखरूप बूँदे बरसती हैं, अथवा तृष्णा काली नागिन है, इसका स्पर्श तो कोमल है परन्तु विष से भरी हुई है। इसके डँसने से कोई कभी नहीं बच सकता। तृष्णा बादल है आत्मारूपी सूर्य के आगे आवरण डाल देती है (आत्मा को ढक देती है) जब ज्ञानरूप पवन आये, इस तृष्णारूप बादल को उड़ा दे, तब आत्मपद का साक्षात्कार हो। तृष्णा रात्री है इसके आने पर ज्ञानरूप कमल मुँद

(बंद हो) जाता है, तृष्णा महा भयानक काल रात्रि हैं जिससे बडे बडे धैर्य्यवान् भयभीत हो जाते हैं, आंखवालों को भी अन्धा कर देती है, जब यह आती है तब वैराग्य और विवेक के नेत्रों को प्रकाशहीन कर देती है अर्थात् सत्य असत्य का विचार नहीं करने देती।

हे मुनीश्वर! यह तृष्णा डाकिनी है यह सन्तोषादि पुत्रोंको मार डालती है। तृष्णा एक ऐसी कंदरा है जिसमें मोहरूप मदमत्त हाथी चिंघाड़ते हैं। तृष्णा ऐसा समुद्र है जिसमें विपत्तिरूप अनेक नदियां प्रवेश कर रही हैं अतः वही उपाय मुझसे कहो जिसको पाकर तृष्णारूपी दुःखसे छूटूँ। हे मुनिवर! अग्नि से ऐसा दुःख नहीं, इन्द्रके वज्रसे भी ऐसा दुःख नहीं होता, जैसा तृष्णासे होता है, तृष्णाके प्रहारसे घायल हुएका दुःख बहुत बड़ा दुःख है। तृष्णारूपी दीपक की तपश भी निराली है, इसमें सन्तोषादिक पतंग जल जाते हैं, जैसे—जलमें मछली रहती है उसमें कंकर पत्थर रेतके कण आदि जो कुछ भी देखती है मुखमें डाल लेती हैं, उनसे उसका कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तृष्णा भी जिस पदार्थ को देखती है उसी की ओर हांफती है, परन्तु तृप्ति किसीसे होती नहीं, तृष्णा ऐसा पक्षी है सर्वदा उड़ता ही रहता है, स्थिर कभी नहीं होता। तृष्णा किसी पदार्थको और कभी किसी को लेने दौड़ती रहती है, परन्तु स्थिर होकर कभी नहीं बैठती। यह तृष्णा वानर है, जो कभी इस वृक्ष पर कभी उस मकान पर उछलता फिरता है, स्थिर हो बैठना तो जानता ही नहीं, जो वस्तु नहीं होनेवाली हो उसको पानेकी भी यत्नपूर्वक इच्छा करता है, तृष्णा अनेक पदार्थों को पाकर भी शान्त नहीं होती, इसको भोगों से तो तृप्ति होती ही नहीं, जैसे घृतकी आहुतियां देनेसे अग्नि तृप्त नहीं होती, इसी प्रकार तृष्णाकी तृप्ति असम्भव है। यह तो अप्राप्य (न मिल सकने वाली) वस्तु के लिये भी दौड़ती रहती है, शान्ति नहीं पाती।

हे मुनीन्द्र! यह तृष्णा रूपी नदी बड़ी विकट है, इसमें जिस मनुष्यका प्रवेश हो उसको कहींका कहीं ले जाती है, कभी पहाड़ों से जा मिलाती है कभी किसी दिशाको ले जाती है, यह इसी प्रकार मुझे लिये फिरती है, इसमें वासनारूप अनेक तरंग उठते हैं जो कभी मिटते नहीं, यह तृष्णा

एक प्रकार की नटनी है, इसने यह जगत् रूप अखाड़ा लगाया है ऊँचा सिर करके इसे देखती है, मूर्ख बड़े प्रसन्न होते हैं जैसे सूर्यके उदय होने पर सूर्यमुखी कमल खिलकर उन्नत होता है, ऐसे ही मूर्ख तृष्णा को देखकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णा वृद्धा स्त्री है जो पुरुष इसका त्याग करे उसके पीछे दौड़ती फिरती है,उसका त्याग नहीं करती, यह तृष्णा एक डोर है, इसमें जीवरूपी पशु बंधे हुए हैं जिधर ले जाय उधर भटकते फिरते हैं तृष्णा बड़ी दुष्टा है जब किसी में शुभगुण देखती है तो उनका नाश कर देती है। मैं इसके संयोगसे अति दीन हो जाता हूं, जैसे पपीहा मेघको देखकर प्रसन्न होता है और बूँदको लेना चाहता है, परन्तु जब मेघको पवन आकर उड़ा ले जाता हैं तो पपीहा बेचारा दीन हो जाता है ऐसे ही जब तृष्णा शुभगुणोंका नाश करदेती है तो मैं दीन हो जाता हूँ।

हे मुनिवर! तृष्णा ने मेरी बहुत हानि की है मुझे आत्मपद से बडी दूर फेंक दिया है, जैसे सूखे तिनके को पवन बहुत दूर डाल देता है ऐसे ही तृष्णा रूपी पवन ने मुझे दूर से भी दूर जा फेंका है, मैं आत्मपद से दूर पड़ा हूँ, हे मुनिवर! जैसे भँवरा कमल के ऊपर जाता, कभी नीचे बैठता, कभी उसके आस पास फिरता है और स्थिर नहीं होता, ऐसे ही तृष्णा रूप भँवरा संसार रूप कमल के ऊपर नीचे फिरता है,कभी ठहरता नहीं है, जैसे मोती का बाँस होता है, उससे अनेक मोती निकलते हैं तृष्णा रूपी बाँस से जगत् रूप अनेक मोती निकलते हैं, उनसे लोभी का मन पूर्ण नहीं होता है, ऐसे ही तृष्णा से मन पूर्ण नहीं होता, दुःखरूपी रत्नों का तृष्णारूपी डब्बा है (रत्नोंका इसलिये कहा कि अज्ञानी उन्हीं दुःखों को सुख भानता है) उसमें अनेक दुःख रहते हैं, अतः वही उपाय कहो जिससे तृष्णा की निवृत्ति हो।

यह तृष्णा वैराग्य से निवृत्त होती है, और किसी उपाय से इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, जैसे अन्धकार का नाश प्रकाश से होता है, और किसी उपायसे नहीं होता, ऐसे ही तृष्णाका नाश और उपाय नहींहोता। तृष्णा रूपी हल है गुणरूप पृथ्वीको खोद डालना इसका काम है, यह

तृष्णा रूपी लता गुणरूपी रसको पी लेती है, यह तृष्णा रूपी धूल अन्तःकरण रूप जलको मलिन करती है।

हे मुनीश्वर! यह तृष्णा नहीं है, जब भोगरूप वर्षाकाल आता है तब बढ़ती है, अपने इष्ट (प्यारे) भोगजल के प्राप्त होने पर हर्ष से बढ़ती है, जब भोगरूपी जल घट जाता है तब सूखकर क्षीण हो जाती है, हे मुनिवर! इस तृष्णा ने मुझे बहुत ही दीन किया है, जैसे सूखे तृण को पवन उड़ाता है, ऐसे ही मुझे उड़ाती है, कोई ऐसा उपाय कहो जिससे इस तृष्णा का नाश हो और आत्मपदकी प्राप्तिसे सब दुःखों का नाश तथा परमानन्द लाभ हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे तृष्णागारुडीवर्णनंनाम सप्तदशः सर्गः।।१७।।

अष्टादशः सर्गः १८

अथ देहनैराश्यवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनिवर! यह अमंगल रूप शरीर संसार में जो उत्पन्न हुआ है, बड़ा भाग्य हीन है, मांस मज्जा से भरा हुआ सदा विकारवान् और अपवित्र है, इससे मुझे किसी प्रकार की प्रयोजन सिद्धि होती नहीं दीखती,इसलिये मैं इस विकारूप शरीर की इच्छा नहीं रखता।

शरीर न अज्ञ है, न तज्ज्ञ है अर्थात् यह न जड़ है न चैतन्य है, जैसे लोहा अग्निके संयोग से अग्निवत् हो जाता है जलाता भी है, परन्तु आप नहीं जलता। ऐसे ही यह देह न चैतन्य है, न जड़ है, जड़ इस कारण से नहीं कि इससे कार्य भी होता है, और चैतन्य इस कारण से नहीं कि इसको स्वतः कुछ ज्ञान नहीं होता, अतः मध्यम भावमें है, क्योंकि इसमें जो चैतन्य आत्मा व्याप्त हो रहा है उसे मैं लोह–अग्नि समान मानता हूँ, और स्वतः यह देह अपवित्ररूप, अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र, विष्ठा से पूर्ण विकारवान् और दुःख का स्थान है,इष्ट वस्तु को पाकर प्रसन्न और अनिष्ट को पाकर शोकवान् होता है, इसलिये ऐसे शरीर की मुझको इच्छा नहीं, यह अज्ञान से उत्पन्न होता है।

हे मुनिवर! ऐसे अमंगल शरीर में जो अहंभाव फुरता है, वह दुःख का कारण है, यह संसार में रहकर नाना प्रकार के शब्द करता है और तूष्णीं (चुप) कभी नहीं रहता, अहंकार रूप बिलाव देह में रहता हुआ अहं अहं करता है, चुप कदाचित् नहीं रहता, हे मुनीश्वर! जो शब्द किसी निमित्त से हो वह सार्थक है अन्यथा शब्द व्यर्थ है, जैसे जय के निमित्त ढोल का शब्द शुभ होता है, ऐसे ही अहंकार से रहित पद का अहं शोभन है और सब व्यर्थ है।

यह शरीररूपी नाव भोगरूप रेतमें पड़ी है, इसका पार होना कठिन है, जब वैराग्यरूप जल बढ़कर प्रवाहरूपसे बहने लगे और अभ्यास रूप पतवार का बल हो,तब संसार समुद्र के पापरूप किनारे पर पहुँचे। यह शरीर रूप बेड़ा संसार समुद्रके तृष्णा रूप जलमें पड़ा है, इस तृष्णाजलका बहुत बड़ा प्रवाह है, इसमें भोगरूप भयंकर मगर हैं, जो शरीररूप बेड़ेको पार नहीं लगने देते, जब शरीररूप बेड़े का वैराग्यरूप अनुकूल वायु साथ दे और अभ्यासरूप पतवार का बल लगे तब शरीर रूपी बेड़ा पार पहुँच सकता है, हे मुनिवर! जिस मनुष्य ने इस बेड़े पर सवार होकर अपने आपको भवसागर से पार कर लिया है वही सुखी हुआ है, जिसने ऐसा नहीं किया वह सदा के लिये परम दुःख में पड़ता है अर्थात् इसी बेड़ेसे वह उलटे डूब जाता है । जैसे बेड़ेमें छिद्र हों उनमें से जल आ रहा हो तो वह बेड़ा डूब जाता है और उनमें बैठे हुओं को मगर आदि जल के जानवर खा जाते हैं ऐसे ही इस शरीररूप बेड़े में तृष्णारूपी छिद्रों से पापरूप जल भर जाता हैं और बेड़ा भवसागर में डूब जाता है, तथा भोगरूप मगर इसको खा जाते हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि मनुष्य अपने आपको इस दुर्दशा में पड़ा हुआ न जानकर सुखी मानता है और तृष्णा के कारण दुःख पाता है।

यह शरीर वृक्ष है इसमें भुजा रूप शाखाएं हैं,अंगुलियाँ इसके पात्र हैं, और जंघा इसके स्तंभ हैं, वासना इसकी जड़ है, सुख दुःख इसके फूल हैं, इसमें तृष्णारूपी घुन लगा है, वह शरीर रूपी वृक्षको खाता है। जब इसको श्वेत फूल लगते हैं,तब इसके नाश का समय आता है अर्थात् मृत्यु

के पास पास पहुँचता है, यह शरीर—वृक्ष कर्मके जल से बढ़ता है, जैसे वृक्ष से जल निकलता है वैसे शरीर द्वारा भी जल निकलता है, इसमें तृष्णारूपी विषसे पूर्ण एक सर्पिणी रहती है जो मनुष्य कामना के लिये इस वृक्ष का आश्रय लेता है, तो तृष्णारूपी सर्पिणी उसे डँसती है उसके विषसे उसकी मृत्यु हो जाती है, हे मुनिवर! इस अमंगल रूप शरीर वृक्ष की मुझको इच्छा नहीं है, यह परम दुःख का कारण है।

जब तक यह पुरुष अपने परिवार में बँधा हुआ है तब तक इसकी मुक्ति नहीं हो सकती। जब परिवारका त्याग करे तब मुक्ति हो, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इसका परिवार है, इसका इनमें जो अहंभाव है उसका त्याग करे तब मुक्ति हो, अन्यथा मुक्ति कहाँ।

हे मुनिवर! उत्तम पुरुष पवित्र स्थान में निवास करते हैं, अपवित्रमें नहीं रहते, वह अपवित्र स्थान यह देह है, इसमें रहनेवाला भी अपवित्र है, इस घरमें अस्थिरूप लकड़ी लगी है, इसमें रुधिर मूत्र, विष्ठाका कीच लगाया गया है, मांस की दीवारें हैं, अहंकार रूप श्वपच इसमें रहता है, तृष्णारूप श्वपचनी उसकी स्त्री है,और काम, क्रोध लोभ, मोह इसके बेटे हैं, आंतों और विष्ठा आदि से यह भरा हुआ है, ऐसे अपवित्र स्थान, अमंगलरूप इस शरीरको मैं अङ्गीकार नहीं करता, यह रहे या न रहे, इसके साथ मेरा अब कुछ प्रयोजन नहीं हैं।

हे मुनिवर! एक बड़ा घर है, उसमें बहुत पशु रहते हैं, वे धूलभी उड़ाते हैं, जब कोई उस घर में जाता है तो सींगों से उसे मारते हैं, और उसके ऊपर धूल भी गिरती है, वह घर यही शरीर है, इसमें इन्द्रिय ही पशु हैं, जो कोई इस घरमें प्रविष्ट होता है, उस पर महान् विपत्ति आती है, तात्पर्य यह कि जो इसमें अहंभाव करे, उसको इन्द्रियरूप पशु विषयरूप सींगोसे मारते हैं और तृष्णारूप धूल उसको मलिन करती है, हे मुनीश्वर! ऐसे शरीरको मैं अंगीकार नहीं करता।

जिसमें सदा कलह पड़ी ही रहती है, ज्ञानरूप सम्पत्ति का तो इस घर में प्रवेश ही नहीं होता, इस शरीर रूप घरमें तृष्णा चंडी स्त्री रहती है, वह इन्द्रियरूप झरोखोंसे देखती रहती है, और वह सदा कल्पना करती

रहती है, इसीलिये इस घरमें शम दमादिरूप सम्पत्ति का प्रवेश नहीं होता, इस घर में एक शय्या है, जब उसपर जीव विश्राम करता है तब इसे कुछ सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु तृष्णाका परिवार विश्राम करने नहीं देता, उस शय्याका नाम सुषुप्ति है, जब उसपर विश्राम करता है तोइस तृष्णा रूपी चंडी स्त्रीके काम क्रोधादिक बालबच्चे रोने लग जाते हैं तब उसके विश्राममें विघ्न पड़ता है अर्थात् यह उसको जगा देते हैं। हे मुनिवर! ऐसे दुःख के मूल इस शरीररूप गृहकी इच्छा मैंने त्यागदी है, यह परम दुःखदायी है, मैं इसको नहीं चाहता।

हे मुनिवर! यह शरीर वृक्ष है इस पर तृष्णारूपी कव्वी आ बैठी है, जैसे गन्दी वस्तुओं पर बैठना कव्वोंका स्वभाव ऐसे ही तृष्णा रूपिणी कव्वी भी भोगरूप मलिन पदार्थों पर बैठती है, और फिर यह तृष्णा बन्दरके समान शरीर रूप वृक्षको हिलाती रहती है, उसको स्थिर नहीं रहने देती, जैसे उन्मत्त हाथी कीचमें फँस जाता है और निकल नहीं सकता, अतिदुःख पाता है, ऐसे ही अज्ञानरूप मदसे मत्त हुआ जीव शरीररूप कीचमें फँसा है निकल नहीं सकता, पर दुःख से दुःखी होता है, मैं इसको अंगीकार करना नही चाहता।

हे मुनिवर! यह शरीर अस्थि, मांस, रुधिर आदिकों से पूर्ण है, अतएव अपवित्र है, जैसे हाथीके कान सदाही हिलते रहते हैं, ऐसे ही रोग इसे हिलाते रहते हैं, कुछ कालका विलम्ब है मृत्यु इसका ग्रास कर लेगा,इसलिये मैं इस शरीर को नहीं चाहता।

यह शरीर कृतघ्न है, भोग भोगता है, बड़ा ऐश्वर्य शाली बनता है, परन्तु मृत्यु इससे मैत्री नहीं करतीं, जब जीव इसको छोड़कर परलोक जाता है तब उसे अकेली ही जाना पड़ता है, यह उसका साथ नहीं देता, जीव इसको सुखी बनाने के लिये अनेक यत्न करता है,परन्तु यह उससे वियुक्त होजाता है, ऐसे कृतघ्न शरीर का मैंने मनसे त्याग किया है, यह दुःख दायी है।

हे मुनीश्वर! जिन स्त्री पुत्र आदिकोंसे इसे सेवा सुख मिलता है, उनका भी साथ नहीं देता। जैसे धूलिसे मार्ग ढंक जाता है, ऐसेही जब

जीव चलने लगता है तो उसे इसके साथ होनेसे क्षोभवान् होना पड़ता है क्योंकि शरीर, वासना रूप धूल से उसके मार्ग को ढंक देता है, उसे दीखता नहीं कि कहाँ जाना है, जब जीव परलोक को जाता है तो उसे इसीलिये बड़ा कष्ट होता है कि शरीरके साथ स्पर्श किया है।

हे मुनीन्द्र! यह शरीर क्षण भंगुर है, जैसे जलकी बूँद कमलके पत्र पर स्थिर नहीं रहती, क्षण भर में लुढ़क जाती है। ऐसी ही इस शरीर की दशा है, इस पर आस्था रखनी मूर्खता है, और ऐसे शरीर पर उपकार करना भी दुःखका ही कारण है, इससे सुख कुछ नहीं। धनवान् लोग शरीरको उत्तम २ भोगों द्वारा बड़ा सुख पहुँचाते हैं और निर्धन लोग थोड़े भोगों से गुजारा करते हैं परन्तु वृद्ध अवस्था और मृत्यु दोनों के लिये समान रूप से ही आती है, उसमें कुछ विशेषता नहीं होती, शरीर पर उपकार करना और इसके लिये भोग सामग्री जुटाना उलटा दुःखका कारण है, क्योंकि यह सब तृष्णा का काम है, जैसे कोई नागिन को घरमें रखकर दूध पिलाये, तो वह अवश्य किसी समय काटेगी और जीवन समाप्त कर देगी, इसी प्रकार जीवने तृष्णा रूपिणी नागिन के साथ मैत्री की है, इसका परिणाम मृत्यु है। इस तृष्णा के भोग के लिये भोगोंका जुटाना मूर्खता है, जैसे पवनका वेग आता है जाता है, ऐसे ही यह शरीर नाशवान् है, इससे प्रेम करना दुःख का कारण है, सब जीव इसकी आस्थामें बँधे हुए हैं, इसका त्याग किसी विरलेने किया है, जैसे ऐसा कोई विरला ही मृग होता है जो मरुस्थल के जल (मरुमरीचिका) की आस्थाका त्याग करता है, सब पड़े घूमते हैं।

हे मुनीश्वर! बिजलीका और दीपकका प्रकाश भी आता जाता देखा जाता है, परन्तु इस शरीरका आदि अन्त नहीं दीखता कि कहां से आता और कहां जाता है, जैसे समुद्र में बुदबुदे उपजते हैं और मिट जाते हैं उनकी नित्यता पर आस्था करनेसे कुछ लाभ नहीं, ऐसे ही इस शरीरकी आस्था करनी भी योग्य नहीं यह नाशवान् है कभी स्थिर नहीं रहता, जैसे बिजली स्थिर नहीं होती ऐसे ही शरीर भी स्थिर नहीं रहता, मैं इसकी सत्यता पर आस्था नहीं रखता, मैंने इसका अभिमान त्याग दिया

हैं जैसे कोई सूखे तृणको त्याग दे, ऐसे मैंने अहंता ममता त्याग दी है।

हे मुनिवर! ऐसे शरीरको पुष्ट करना भी दुःख का कारण है, यह शरीर किसी कामका नहीं, जलाने योग्य है। जैसे लकड़ी जलाने के बिना और काम नहीं आती ऐसे ही यह जड़ और गूंगा शरीर भी जलाने के योग्य है, हे मुनिवर! जिन पुरुषोंने काष्ठरूप शरीरको ज्ञानाग्निसे जलाया है, उनका परमार्थ सिद्ध हुआ है और जिन्होंने नहीं जलाया, उनको दुःखकी प्राप्ति हुई है।

हे मुनिवर! न मैं शरीर हूँ न मेरा शरीर है, न इसका मैं हूँ न यह मेरा है, अब मुझमें कोई कामना नहीं है, मैं निराशी पुरुष हूँ, शरीरके साथ मुझको कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिये आप वही उपाय कहें जिससे मैं परमपदको प्राप्त कर सकूँ।

हे मुनिवर! जिस पुरुषने शरीरके अभिमान का त्याग किया है, वह परमानन्दरूप है, और जिसको देहका अभिमान है, वह परम दुःखी है, जैसे कुछ दुःख ऐसे हैं जो शरीर के संयोग से होते हैं, मान, अपमान, जरा,मृत्यु, दंभ, भ्रांति, मोह,शोक आदि सब विकार देहके संयोग से होते हैं, जिसको देहमें अभिमान है, उसको धिक्कार है, सब आपदाएँ उसी को प्राप्त होती हैं, जैसे नदी समुद्रमें आकर प्रवेश करती है, ऐसे ही देहाभिमानमें सब आपदाएं आकर प्रवेश करती हैं, जिसको देहका अभिमान नहीं वह पुरुषों में उत्तम है, वन्दनीय है, मैं उसको नमस्कार करता हूँ, सब सम्पत्तियाँ उसके पास आकर निवास करती हैं, जैसे मानस सरोवर में सब हंस आकर रहते हैं, ऐसे ही जहाँ देहाभिमान नहीं रहा वहाँ सब सम्पत्तियाँ निवास करती हैं।

हे मुनीश्वर! बालक अपनी छाया में जैसे वैतालकी कल्पना कर लेता है और उससे भयभीत होता है, तथा जब उसको विचारकी प्राप्ति होती हे, तब वैतालका अभाव हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानसे मुझे अहंकार रूपी पिशाच द्वारा शरीरकी स्थिरता में आस्था दृढ़ हुई है, अतः वही उपाय

कहिये जिससे अहंकार रूपी पिशाच का नाश हो और आस्थारूप फाँसी टूटे।

हे मुनिवर! पहिले मुझे अंहकार पिशाचके कारणसे अज्ञान हुआ, उसके बाद शरीरकी स्थिरता में आस्था हुई, जैसे बीजसे पहिले अंकुर होता है, अंकुर से वृक्ष होता है, ऐसे ही अहंकार से शरीर की आस्था होती है, हे मुनिवर! इस अहंकाररूपी पिशाच ने सब जीवों को दीन किया हुआ है, इस अंहकाररूपी पिशाच की सिद्धि, सत्ता अविचार से हैं, विचार करनेसे इसका अभाव हो जाताहै, जैसे बालक को छाया में वैताल भासता है, और वह दीन हो जाता है, ऐसेही इसने मुझे दीन किया है, जैसे प्रकाश से अन्धकारका नाश होता है ऐसे ही विचार करने से अहंकार का नाश होजाता है।

हे मुनिवर! जिस शरीरमें नित्यता की आस्था रक्खी जाती है, वह शरीर जल के प्रवाह के समान अस्थिर है, जैसे बिजली की चमक स्थिर नहीं होती ऐसे ही शरीर कभी स्थिर नहीं, जैसे गन्धर्व नगर पर आस्था करनी व्यर्थ है उसी प्रकार शरीर की आस्था निष्फल है, हे मुनिवर! जो लोग ऐसे शरीर पर आस्था रखते हुए अहंकार करते हैं और जगत् पदार्थों के लिये यत्न करते हैं वे महामूर्ख हैं, जैसे स्वप्न मिथ्या है, ऐसे ही यह जगत् मिथ्या है, इसको सत्य जानकर जो इसके लिये यत्न करते हैं, वे अपने बन्धन के निमित्त यत्न करते हैं, जैसे घुरान (जीव) गुहा बनाती है वह अपने बन्धन के निमित्त है, पतंग दीपक की इच्छा करता है वह अपने नाश के लिये है, ऐसे ही जो अज्ञानी मनुष्य देहाभिमान करके भोग की इच्छा करता है,वह अपने नाश के लिये करता है।

हे मुनिवर! मैं तो इस शरीरको अंगीकार नहींकरता, इस शरीर का अभिमान करना परम दुःखदायी है, जिसको देहाभिमान न रहे उसको भोगकी इच्छा भी नहीं रहती, इस लिये मैं निराश हूँ, मुझे केवल परम पदकी इच्छा है जिसके प्राप्त हो जानेपर बारबार संसार की प्राप्ति नहीं होती।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे देहनैराश्य वर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः १९

अथ बालावस्थावर्णम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनिवर! इस संसार समुद्र में जब जन्मपाता है तो इसे जो बाल अवस्था मिलती है वह परम दुःख का मूल है। उसमें यह जीव परम दीन हो जाता है इसमें जितने अवगुण आकर प्रवेश करते हैं, उन्हें कहते हैं— अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता, दीनता और दुःख, संताप यह विकार इसको प्राप्त होते हैं, यह बालावस्था महाविकारवती है, बालक एक वस्तुकी ओर दौड़ता है तो उसे पाकर दूसरी की इच्छा करता है उसको पाकरभी स्थिर चित्त नहीं होता, इसका इच्छाक्रम चालू ही रहता है, जैसे वानर निश्चल होकर नहीं बैठ सकता और जिस किसीपर क्रोध करता है। ऐसे ही बालक कभी निश्चल न बैठकर बड़ी बड़ी असंभव—इच्छाएँ करता है उनके पूर्ण न होने से हृदयमें जला करता है, इसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती, इसी लिये यह सदा दीन सा बना रहता है भयभीत सा दीखता है, इसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे—कदली वनका हाथी सांकलसे बँधा हुआ दीन हो जाता है, ऐसे ही यह चैतन्य पुरुष बालक अवस्था से दीन हो जाता है,यह जो कुछ इच्छा करता है विचार किये बिना करता है, इससे दुःख पाता है, इसकी स्थिति भी मूढ़ और गूँगे पुरुषकी सी है। उससे कुछभी लाभ नहीं, जब कभी इसको किसी इच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है तो क्षणमात्र सुखी रहता है, जैसे तपी हुई पृथ्वी पर जल सींचनेसे वह कुछ देर तक ठंडी रहकर फिर तपने लग जाती है, ऐसे ही क्षणमात्र यह भी सुख का अनुभव करके फिर खीझने लग जाता है, जैसे रात बीतने पर जब सूर्योदय होता है तब उलूक आदि जीव कष्ट पाते हैं, ऐसे ही इस जीवको स्वरूपके अज्ञानके बाल्य अवस्था में बड़ा कष्ट होता है।

हे मुनिवर! जो मनुष्य बालक अवस्थाकी चाह करता है वह मूर्ख है, क्योंकि यह—विवेकरहित अवस्था है, और सदा अपवित्र है, बालक क्षणभर भी किसी न किसी पदार्थ की इच्छाके बिना नहीं रहता, क्षण

क्षणमें अपमानित होता है, और इसको सदा माता पिता का भय बनारहता है, बाँधवों से तथा अपनेसे जो बड़े बालक हों उनसे भय बना रहता है, पशु पक्षियोंसे डरता है। हे मुनीश्वर! ऐसी दुःख रूप अवस्था की मुझे इच्छा नहीं। जैसे स्त्रीके नयन चंचल हैं, नदीका प्रवाह चंचल है, ऐसे ही मन और बालक चंचल हैं, मेरा विचार है कि और सब चंचलताएँ बालककी चंचलतासे कनिष्ठ हैं, जैसा मन चंचल है ऐसाही बालक चंचल है, मनका रूप बालक है।

हे मुनीश्वर! जैसे वेश्याका चित्त एक पुरुष में नहीं ठहरता ऐसे ही बालकका चित्त एक पदार्थमें नहीं ठहरता, बालक के चित्तमें यह विचार भी उत्पन्न नहीं होता कि इस पदार्थ से मेरी हानि होगी और उस पदार्थसे मेरा कल्याण होगा, यूँ ही पड़ा चेष्टा करता रहता है औरसदा दीन रहता है, जैसे ज्येष्ठ आषाढ़में पृथ्वी तपती है उसी प्रकार बालकभी सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदिसे जलता रहता है, इसे कभी शान्ति नहीं मिलती।

और जब बालक का विद्यारंभ होता है तब गुरुजीका महान् भय इसे व्याकुल कर देता है, उनको साक्षात् यमराज मानता है, जैसे गरुड़ को देखकर सर्प डरता है ऐसे ही यह गुरु को देखकर भयभीत होता है, इसको जब कोई शारीरिक कष्ट हो जाता है तो बहुत दुःखी होता है, परन्तु दुःख के निवारण में समर्थ तो नहीं होता उसको सहन भी नहीं कर सकता, अन्तःकरण में जलता है परन्तु दुःख से कुछ बोल नहीं सकता। जैसे वृक्ष नहीं बोलते, और तिर्यग् योनियोंके जीव दुःख पाते हैं परन्तु कुछ नहीं कह सकते, तथा न किसी का संहार कर सकते हैं ऐसी ही दशा बालककी होती है, हे मुनिवर! ऐसी गूँगी, मूढ तथा अति दुःखसे भरी बालक अवस्था की जो कोई स्तुति करता हैं, वह मूर्ख है।

यह तो परम दुःख रूप अवस्था है,इसमें विवेक विचार कुछ नहीं है, कभी खानेकी वस्तु मिलगयी तो क्षणभर चुप है,दूसरी वस्तु की प्राप्ति में तनिक विलम्ब हुआ तो रोना आरंभ हो जाता है, जैसे –बिजली और

जल के बुदबूदे स्थिर नहीं रहते ऐसे ही बालक स्थिर नहीं रहता, ऐसी अवगुणरूप अवस्था मुझको नहीं सुहाती।

हे मुनिवर! यह महामूर्ख अवस्था है, कभी कहता है, हे पिता! मुझे यह बर्फका टुकड़ा भूनदो, कभी कहता है मुझे चन्द्रमा उतार दो, यह सब मूर्खताके वचन हैं। इसलिये ऐसी मूर्खावस्था मुझको नहीं चाहिये, जिस दुःखका अनुभव बालक को होता है, हमें कभी स्वप्नमें नहीं होता, तात्पर्य यही है कि बाल्यावस्थामें बड़ा दुःख है, यह अवस्था अवगुणोंका भंडार है, केवल क्लेशरूप हैं ऐसी नीच अवस्था को मैं नहीं चाहता इसकी स्तुति करना मूर्खता है, इसमें कोई गुण नहीं है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे बालावस्थावर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः।। १९।।

विंशः सर्गः २०

अथ युवागारुडीवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे मुनीश्वर! दुःखरूप बाल्यअवस्था के अनन्तर जो युवाअवस्था आती है वह भी उत्तम नहीं है, कहने को तो यह नीचे से ऊँचे पदपर चढ़ाती है, वास्तवमें सबसे अधिक अधःपातिनी यही है, परम दुःखदायिनी है,इस युवाअवस्थामें ही आकर समस्त विकारोंका सम्मेलन् होता है, इसमें कामरूप पिशाच महाभयंकर रूपसे आकर समस्त विकारोंके साथ इस अकेले जीवपर अतिक्रूर आक्रमण करता है, इस अवस्थामें मनुष्यका चित्त अपनी इच्छाओंका खूब प्रसार करता है, इस आक्रमण में काम पिशाच अपने जिस महान् शस्त्रसे मनुष्यको परास्त करता है, वह स्त्री है, इस अवस्थामें स्त्रीके वशीभूत होकर महान् कष्ट पाता है, जैसे किसी ने अग्निकुंड में डाल दिया हो, वह कौनसा दुःख है जो कामवश हुए मनुष्य को न पाना पड़ता हो, जैसे किसी धनवान् को देखकर निर्धन लोग उसके द्वारपर इकट्ठे हो जाते हैं इसी प्रकार युवा अवस्थामें सबदोष इकट्ठे होकर कामी मनुष्य के शरीर तथा मनमें प्रविष्ट हो जाते हैं, जो लोग

विषयों के भोगों को सुखरूप जानकर उनकी इच्छा करते हैं वे परमदुःख को निमंत्रण देते हैं, जैसे मदिरासे भरा हुआ मटका देखनेमें सुन्दर प्रतीत होता है, परन्तु मदिरापान करनेवाले की दुर्दशा और दीनताको देखनेसे ही मद्यका वास्तविक स्वरूप मालूम होता है, ऐसेही भोग देखनेको सुन्दर प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके परिणाम में जो नारकीय दुःख भरे हैं, अत्यन्त भंयकर हैं।

हे मुनिवर! यह युवा अवस्था रात्रि है, इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकाररूपी लुटेरे जीव के आत्मज्ञानरूप धन को लूट ले जाते हैं और यह जीव बेचारा आत्मानन्द के वियोग में दीन हुआ अति दुःख पाता है। हे मुनिवर! ऐसी दुःख देनेवाली युवा अवस्था को मैं नहीं चाहता, चित्त की स्थिरता में ही शान्ति है, परन्तु युवा अवस्था में चित्त विषयों की ओर ऐसा दौड़ता है जैसे बाण लक्ष्य की ओर जाता है। विषयों की प्राप्ति में विषयों की तृष्णा बढ़ती है। निवृत्त नहीं होतीं और तृष्णा का मारा जन्म जन्मान्तर दुःख भोगता है। हे मुनीन्द्र! ऐसी दुःखदायक युवा अवस्था की मुझे इच्छा नहीं है।

हे मुनिवर! ऐसा कोई संसार में दुःखही नहीं जो युवा अवस्थामें आकर नहीं मिलता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, चपलता इत्यादि सब दोष विकार युवा अवस्थामें ही आकर जवान और बलवान् होते हैं। जैसे प्रलय काल में सब रोग नाश करने के लिये आकर स्थिर हो जाते हैं। ऐसे ही युवा अवस्था में सब उपद्रव आकर स्थिर हो जाते हैं। ऐसी दुःखों भरी युवा अवस्था और वह भी बिजलीकी चमकसी क्षण भंगुर, मुझे नहीं चाहिये। यह तो समुद्र में प्रतिक्षण उठने और मिटनेवाले तरंगों के समान देखते ही देखते इस प्रकार छलकर चली जाती है। जैसे किसीको कोई स्त्री स्वप्न में छलकर चली जाय।

हे मुनिवर! युवा अवस्था जीवकी परम शत्रु है, जो लोग इस शत्रु के शस्त्रसे बच सकेहैं, वे धन्य हैं, इसके शस्त्र हैं काम और क्रोध, जो इनसे छूटा है वह बज्रके प्रहार से भी पीड़ित नहीं हो सकता, जो शस्त्रों से

पराजित है वह पशु है, हे मुनिवर! युवा अवस्था देखने में तो सुन्दर है परन्तु इसके आनेपर मनुष्य भीतर से लम्बी तृष्णाओंके द्वारा जर्जरित हो जाता है, जैसे वृक्ष देखने में तो सुन्दर हैं,परन्तु उसके अन्दर घुन लगा हुआ है, इसी प्रकार युवावस्थामें जिन भोगोंकी प्राप्तिके लिये मानव अनेक प्रयत्न करता है वे भोग आपात रमणीय हैं, कारण यह कि जब तक इन्द्रिय और विषयोंका संयोग रहता है, तब तब अविचारित भोग भले प्रतीत होते हैं और वियोग होने पर दुःखदायी हो जाते हैं,इसलिये जो लोग भोगोंकी प्राप्तिमें प्रसन्न तथा उन्मत्त होते हैं वे मूर्ख हैं,उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती, उनके अन्दर तृष्णा बैठी रहती है, उनके चित्त में स्त्री सम्बन्धी आसक्ति अधिक रहती है, जब इष्ट वनिता का वियोग होता है, तब उसके स्मरण से मन जलता है, जैसे—वनका वृक्ष आग से जलता है, ऐसे ही युवावस्था में ईष्ट वियोग से जीव जलता है, जैसे उन्मत्त हाथी सांकलों से बाँधा जाता है तब स्थिर होता है, कहीं जा नहीं सकता, ऐसे ही कामरूप हाथीको युवावस्था रूप सांकल बाँधती है, युवावस्था नदी है, इसमें इच्छा रूप तरंग उठते हैं जो कभी शान्त नहीं हो पाते।

हे मुनिवर! युवावस्था बड़ी दुष्ट है, सदा निर्मल चित्त और प्रसन्न रहनेवाले बुद्धिमान पुरुषके मनको भी यह मलिन कर डालती है, जैसे निर्मल जलवाली नदी के जलको भी वर्षाकाल मलिन कर देता है, ऐसे ही युवावस्था में बुद्धिमानोंकी विमल बुद्धि भी मलिन हो जाती है।

हे मुनिवर! यह शरीर वृक्ष है, इसपर युवावस्थारूप वल्ली प्रकट होती है, जब वह पुष्ट होती है तब तृष्णारूपी भ्रमर उसपर आकर बैठता है और उसकी सुगन्धि से उन्मत्त होकर अन्य सब विचार भूल जाता है।

जैसे—प्रबल पवन सूखे पत्ते को कहींका कहीं उड़ा ले जाता है, कहीं ठहरने नहीं देता, ऐसेही जब युवावस्था आती है तब वैराग्य, सन्तोषादिक गुणों का नाश कर देती है । युवावस्थारूपी सूर्य का

उदय होनेपर दुःख रूपी अनेक कमल खिलते हैं, अर्थात् सब दुःखों का मूल युवावस्था है, जैसे सूर्य के उदित होने पर सूर्यमुखी कमल खिलते हैं, ऐसेही चित्तरूपी कमल भी संसाररूपी पंखुरियों से विकसित होता है, तृष्णारूप भ्रमर आकर उसपर बैठता है, विषयरूप सुगन्धि से प्रसन्न होता है।

हे मुनिवर! इस संसार रूपी रात्रिमें युवावस्था के दिन तारागण के समान प्रकाशित हो रहे हैं, युवावस्थारूप रात्रि के समाप्त होनेपर तारागण के प्रकाश का अभाव होजाता है, अर्थात् युवावस्था बीत जानेपर शरीर जर्जर भावको प्राप्त हो जाता है, जैसे धान्यका छोटा पौधा तब तक हरा रहता है, जब तक वह फूलता नहीं, जब वह फूलने लगता है तो साथही सूखने लग जाता है, जब उसमें लगे हुए अनाजके दाने पक जाते हैं तब वह धान्यके छोटे २ पौधे जर्जरसे हो जाते हैं,शुष्क हो जाते हैं,उनमें वह हरयावल नहीं रहती ऐसेही जब तक जवानी नहीं आई तब तक शरीर सुन्दर और कोमल रहता है, और जवानी के आने पैर वह पक जाता है उसमें उस कोमलता और सुन्दरता के स्थान पर कठोरता और रूक्षता आ जाती है। सारांश यह कि वह वृद्ध होकर क्षीण हो जाता है।

हे मुनीश्वर! ऐसी दुःखकीं मूलरूप युवा अवस्थाकी मुझे इच्छा नहीं है, जैसे समुद्र बड़े जलसे पूर्ण है, तरंगों का प्रसार करता है, उछलता है, परन्तु मर्यादाका त्याग नहीं करता। ईश्वरकी आज्ञा मर्यादा में रहनेकी है, किन्तु यह युवावस्था तो शास्त्र और लोक की मर्यादाका उल्लंघन करके चलती है, और उन लोगोंको, जो युवावस्थामें प्रविष्ट हुए हैं, अपना विचार कुछ नहीं होता, जैसे अन्धकारमें वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता, ऐसेही युवावस्थामें शुभ-अशुभका ज्ञान नहीं होता, जिस व्यक्तिमें विचार शक्ति न रही हो उसे शान्ति कैसे मिले, वह सदा मनोव्याधियों से ग्रसा रहता है, जैसे जलें बिना मछलीको शान्ति नहीं मिलती, ऐसेही विचारहीन मनुष्यका चित्त शान्त नहीं रह सकता।

युवावस्थारूपी रात्रिके आनेपर काम पिशाच भी आकर गरजने लगता है, उसके सम्बन्ध से मनुष्यके चित्तमें यही संकल्प उठता है कि कोई कामी पुरुष आजाय तो उसके साथ यही चर्चा करूँ कि अमुक स्त्री कितनी सुन्दर है, उसके कैसे विचित्र कटाक्ष हैं, वह किस प्रकार मुझे मिल सके। हे मुनिवर! ऐसे कुविचारों में पड़ा हुआ वह सदा जलता रहता हैं, जैसे मरुस्थलकी नदीको देखकर मृग दौड़ता है, और जल न पाकर जलता है, ऐसेही कामी पुरुष विषय वासनासे जलता है और कभी शान्ति नहीं पाता।

हे मुनिवर! मनुष्य जन्म मोक्ष प्राप्ति का साधन होनेके कारण अति उत्तम है, परन्तु भाग्यहीन मनुष्य इससे आत्मपदकी प्राप्ति का लाभ न उठाकर इसको विषय वासनामें खो देता है, जैसे किसी मनुष्यको चिन्तामणि मिले, परन्तु वह उसकी महिमाको न जानकर उसका निरादर करके फेंक दे, वही दशा उसकी है जिसने मनुष्य जन्म पाकर आत्मपद नहीं प्राप्त किया, मनुष्य शरीर पाकर आत्मपदकी प्राप्ति कर लेना ही इस जन्मकी सफलता है, और सब अवस्थाओंमें भी युवा अवस्थाही एक ऐसी है जैसे यह जीव असंभव को भी संभव कर सकनेकी शक्ति रखता है परन्तु उस शक्तिको यदि आत्मपद लाभ जैसे परम आवश्यक कार्यमें न लगाकर, विषय वासनाकी पूर्तिमें व्यय कर दे तो इसके समान क़ौन भाग्यहीन है, युवावस्थामें मनुष्य संयम हीन रहकर जीवनके क्षेत्रमें दुःखके बीज बोता है क्योंकि युवावस्थामें सब विकार इकट्ठे होकर उसके पुरुषार्थका नाश करते हैं।

हे मुनिवर! यह युवावस्था विकारों से भरी है, जैसे नदीमें वायुसे अनेकों तरंगों का प्रसार होता है, ऐसेही इस अवस्थाके आने पर चित्तमें विकारोंकी बाढ़सी आ जाती है, जैसे पक्षी अपने पंखोंसे बहुत दूर दूर तक उड़ता है ऐसेही युवावस्था में चित्तको भी मानों पंख लग जाते हैं, जैसे सिंह अपने असीम भुजा बलसे पशुओंपर आक्रमण करता है, ऐसेही इस अवस्था में चित्त विषयोंपर धावा बोलता है।

हे मुनिवर! समुद्रमें तैरना जो कि बड़े भयंकर जल जन्तुओं तथा अगाध जलके कारण महा कठिन काम है, मैं सुगम मानता हूँ। परन्तु युवावस्था को वास्तव में सार्थक और सफल बनाना, महाकठिन काम है, क्योंकि इस अवस्थामें निर्दोष रहना बड़ी ही वीरता का काम है, इस अति काठिन्य भरी अवस्था में जो लोग निर्दोष रहते हैं वे धन्य हैं, वंदनीय हैं, हे मुनिवर! यह युवावस्था चित्तको मलिन करही देती है, जैसे निर्मल जलसे भरी बावली में हवा इधर उधर पड़े हुए राख, मिट्टी काँटे, पत्ते आदिको फेंककर उसे मलिन कर देती है, ऐसेही पवनरूप युवावस्था, दोषरूप धूर काँटों को चित्तरूप बावड़ी में फेंक कर मलिन कर देती है। ऐसी विकारपूर्ण युवा अवस्था की मुझे इच्छा नहीं है।

हे युवावस्थे! मुझपर कृपा कर, मुझे तुम्हारा दर्शन न हो, तुम्हारा आना मैं परम दुःखका आना समझता हूँ, जैसे पुत्रके मरनेका संकट पिता नहीं सह सकता, तथा उसको परम कष्ट का कारण मानता है,उसी प्रकार मैं भी तुम्हारा आना असह्य कष्ट दायक जान कर तुम्हें कहता हूँ, कि मुझपर दया करना, कि तुम्हारा दर्शन ही न हो।

हे मुनिवर! युवावस्था को निर्विघ्न बिताना महा कठिन है, जवानीकी उमरमें शास्त्रमर्यादाके अन्दर रहकर वैराग्य, विचार, सन्तोष, शान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न होना परम दुर्लभ है। जैसे–आकाशमें वन का होना महान् आश्चर्य है, ऐसेही युवावस्थामें पूर्वोक्त वैराग्य आदि सद्गुणोंका समावेश अत्यंत दुर्लभ है, इसलिये मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाने की कृपा कीजिये, जिससे इस भयावह जवानीकी भयंकरतासे मुक्त होकर आत्मपदकी प्राप्ति कर सकूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे युवागारुडी वर्णन नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

एकविंशः सर्गः २१

अथ स्त्रीदुराशावर्णनम् ।

हे मुनीश्वर! यह मनुष्य कामविलासके लिये जिस स्त्रीकी इच्छा करता है, वह स्त्री अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र, विष्ठा आदिसे पूर्ण है। इन्हीं अपवित्र वस्तुओंसे बनी हुई यह पुतली है, जैसे—कारीगरकी बनाई पुतली धागेसे अनेक चेष्टाएँ करती है, ऐसेही अस्थि-मांस आदिकी इस पुतलीमें कुछ और नहीं है, जो इसको विचारपूर्वक नहीं देखता उसको रमणीय मालूम होती है, जैसे पर्वतों के शिखर दूरसे बड़े सुन्दर साफ दीखते हैं परन्तु समीपसे देखने पर वह सुन्दरता नहीं रहती, ऊबड़ खाबड़ पत्थर पड़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं, ऐसे ही स्त्री भी वस्त्रों और भूषणों से सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु यदि उसके भिन्न अंगों का विचार किया जाय तो उसमें कुछ सार प्रतीत नहीं होता, जैसे नागिनका शरीर अतिकोमल होता है, परन्तु उसका स्पर्श करना ही मृत्युका ही आह्वान करता है। ऐसेही यह भी स्पर्श करने वालोंकी मृत्युकाही कारण है। जैसे विष की बेल देखने में सुन्दर और स्पर्श करने से मार डालती है, जैसे जंजीर से बँधा हुआ हाथी जिस द्वार पर बँधा हो वहीं स्थिर रहता है, ऐसेही अज्ञानी का चित्तरूपी हस्ती कामरूप जंजीर से बँधा हुआ स्त्रीरूप एकही स्थानमें स्थित रहता है अन्यत्र नहीं जा सकता, जब हस्ती को महावत अंकुश का प्रहार करता है, तब वह बन्धन को तोड़कर निकल जाता है, इसी प्रकार चित्तरूप मूर्ख हस्ती गुरुरूप महावत के उपदेशरूप प्रहारसे भाग जाता है, अर्थात बन्धनमें नहीं रहता।

हे मुनिवर! कामी पुरुष स्त्रीकी इच्छा अपने नाशके लिये करता है, जैसे कदलीवन का हाथी कागज की हस्तिनी को देखकर बँधनमें आजाता है, और परम दुःखी हो जाता है, ऐसेही परम दुःखदायी स्त्रीसंगसे मनुष्य छला जाता है। हे मुनिवर! जैसे वन की आग वन की प्रत्येक वस्तु को जलाती है, ऐसे ही स्त्रीरूपअग्नि शरीर, मन, बुद्धि इन सबको जला देती है, स्त्रीरूप अग्निसे भी अधिक दाहक है, क्योंकि अग्नि

तो केवल स्पर्श करनेसे जलाती है परन्तु स्त्रीरूप अग्नि तो स्मरण मात्रसे जलाती है, यह सांसारिक सुख आपातरमणीय हैं, स्त्री सुखके वियोग में मनुष्य शव–जैसा हो जाता है।

हे मुनिवर! स्त्रीका, अस्थि, मांस, मज्जामय, अनित्यशरीर नाशवान् वस्तु है, एकदिन भस्मके रूपमें परिणत होगा, अथवा मांसाशी पक्षी आदि जीवोंका आहार होगा, जिसको देखकर पुरुष प्रसन्न होता है उसके प्राण आकाशमें लीन हो जाते हैं, इसलिये स्त्रीकी इच्छा करना मूर्खता है, जैसे अग्नि की शिखाओं पर श्यामता है, ऐसेही इसके सिर पर केश हैं, जैसे अग्निके स्पर्शसे मनुष्य जलता है ऐसे ही स्त्रीके स्पर्शसे भी परिणाम में जलता है, यह जलाना दोनों में समान है, हे मुनीन्द्र! इस जीवका नाश करनेवाली स्त्रीरूप अग्नि है, स्त्रीकी इच्छा करने वाले लोग अज्ञानी ही नहीं, महामूर्ख हैं, क्योंकि वे अपने नाशकी स्वयं इच्छा करते हैं। जैसे पतंग अपने नाशके लिये दीपक की इच्छा करता है, ऐसे ही कामी पुरुष अपने नाशके लिये स्त्री की इच्छा करता है।

हे मुनिवर! स्त्री, विषकी बेल है, हाथ पाँव इसके पत्र हैं, भुजा शाखाएँ हैं, नेत्रादिक इन्द्रिय पुष्प हैं, और इस बेलपर कामी पुरुष रूपी भ्रमर आकर बैठते हैं। कामरूप धीवरने स्त्रीरूप जाल पसारा हुआ है, उसमें पुरुषरूप पक्षी फँस रहे हैं, कामरूप धीवर उनको इस जालमें फँसाकर परम कष्ट दे रहा है। ऐसी दुःखदायिनी स्त्रीकी इच्छा रखने वाले महामूर्ख नहीं तो और क्या हैं।

हे मुनिवर! स्त्री एक नागिन है, इसके चितवनरूप विष-भरे फुँकार से वैराग्य रूप कोमल कमल जल जाते हैं, और जब यह डसती है तब तो इसका विष डँसे जानेवाले पुरुष के शरीर में व्यापक हो जाता है, इसका प्रेमभरी चितवनसे कामी पुरुषको देखना ही महान् विष है, उसकी उस चितवन से कामी पुरुष की उसके प्रति आसक्ति का बढ़ जाना ही डसना है।

हे मुनिवर! जैसे व्याध छलसे मछलीको अपने जालमें फँसा लेता है,

ऐसेही कामी पुरुष स्त्रीरूप जालको देखकर उसमें फँस जाता है, तथा स्नेहरूप धागेसे बँधा हुआ खिंचा चला जाता है, काम उसे तृष्णाके शस्त्रसे काटता है, हे मुनीन्द्र! ऐसी दुःखदायिनी स्त्रीकी मुझे इच्छा नहीं, यह काम, डक प्रकारका व्याध(शिकारी है)। इसने रागभरी इन्द्रियोंका जाल बिछाया हुआ है, कामी पुरुष मृग हैं जोकि स्नेह की डोरीसे खिंचे हुए आ रहे हैं और जालमें फँसकर कामरूप शिकारीकी तृष्णारूप छुरीसे कट जाते हैं, हे मुनिवर! ऐसी दुःखदायिनी स्त्रीकी मुझे इच्छा नहीं, स्त्रीके मुखचन्द्रको देखकर कामी पुरुष रूप कुमुद खिल जाते हैं, परन्तु ज्ञानीरूप कमल मुंद जाते हैं, क्योंकि ज्ञानी रूप कमल ब्रह्मरूप सूर्यके साक्षात्कारसे खिलने वाले हैं, हे मुनिवर! जैसे नकुल सर्पको बिल में से निकालकर मारता है, ऐसेही कामी पुरूषको स्त्री आत्मानन्दमें से निकाल कर मार डालती है, जैसे सूखे तृण और घृतको अग्नि भस्म कर डालती है, ऐसेही कामी पुरुषको स्त्रीरूप नागिन अपने तीव्र विषसे भस्म कर डालती है।

हे मुनिवर! स्त्रीको यदि रात्रि कहें तो उसका स्नेह अन्धकार है। काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक, उलूक और पिशाच हैं, ऐसी अन्धेरी रातमें विचरना उनका स्वभाव है, परन्तु वैराग्य रूप सूर्यके उदय होनेपर इनका अभाव हो जाता है। हे मुनिवर! जवानी के घोर संग्राममें जो वीर पुरुष स्त्रीके कटाक्षरूप खड्गके प्रहार से बचा है वह धन्य है, वन्दनीय है, अतः परम दुःख दायक स्त्रीकी मुझे चाह नहीं। हे मुनिवर! रोगकी निवृत्ति रोगानुसार औषधके सेवनसे ही होती है, कुपथ्य सेवनसे तो रोगके और भी बढ़ जाने का भय हो जाता है, अतः आप मेरे रोगके अनुसार औषधि प्रदान करें। मैं अपने रोगके विषयमें कहता हूँ सुनिये! जरा और मृत्यु का रोग मुझे भयभीत कर रहा है, इस रोगके नाश करने वाली औषधि मुझे दीजिये, स्त्री आदि भोग, इस रोगके बढ़ाने वाले कुपथ्य हैं, जैसे अग्निमें घृत डालनेसे वह बढ़ती है ऐसे ही भोगसे जरा, मृत्यु आदि रोग बढ़ते हैं, इसलिये जिस औषधिसे इस (जरामरण) की

निवृत्ति शीघ्र हो, वही औषध देने की कृपा कीजिये, यहि आप ऐसा न करंगे तो मैं सब कुछ छोड़कर वनमें चला जाऊँगा।

हे मुनिवर! किसी भी भोग्य वस्तु की इच्छा उसकी समीपता से अधिक होती है, जो उससे सदा दूर रहता है उसको इच्छा भी नहीं होती, जिसने स्त्रीका त्याग कियाहै, उसने संसार का त्याग किया है, क्योंकि संसार का बीज स्त्री है, स्त्री त्याग करने वाला परम सुखी है, अतः मुझे स्त्री की इच्छा नहीं, मुझे उसी औषधिकी आवश्यकता है, जिससे जरामृत्यु आदि रोगकी निवृत्ति हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे स्त्रीदुराशावर्णनं नामैकविंशः सर्गः ॥२१॥

द्वाविंशः सर्गः २२

अथ जरावस्थावर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनिवर! बालअवस्था तो महाजड़ है, बालककी प्रत्येक वस्तुमें आसक्ति हो जाती है, जवानी आती है तो उसे अपने पेटमे समेटकर अपना रंग जमाती है जिसका दुःखदायी स्वरूप कहा जा चुका है, इसके अनन्तर वृद्धावस्था आती है, उसकी भी दशा सुनिये! शरीर जर्जर हो रहा है, बुद्धि ठिकाने नहीं रही, मौत पास खड़ी देख रही है, हे मुनिवर! अज्ञानीका जीवन व्यर्थ है, इस जड़ता मय अथवा भ्रान्ति पूर्ण जीवनसे मनुष्य की कोई अर्थसिद्धि नहीं होती। वृद्धावस्था में मनुष्यकी दशा नदीतट के वृक्ष जैसी हो जाती है, जिसको जलके प्रवाहने बार बार संघर्षसे नितान्त निर्बल जर्जर बना दिया है, मूलसे इतना शिथिल हो चुका है, कि पाँव लडखड़ा रहे हैं, ऐसी ही दशा वृद्धावस्थाके जर्जर शरीरकी होजाती है, जैसे सूखा पत्ता पवनसे उड़जाता है, ऐसेही वृद्ध शरीरमें अपने बलपर स्थित रहने की शक्ति नहीं रहती, वृद्ध शरीरमें सब रोगोंका सम्मेलन होता है, शरीर अति कृश, कान्ति रहित और निकम्मा हो जाता है, जैसे—पके हुए फल का वृक्ष त्यागकर देता है उसी प्रकार स्त्री,

पुत्र आदि कुटुम्बके लोग वृद्ध का त्याग कर देते हैं, वृद्ध शरीर लोगोंकी हँसी का कारण बन जाता है, लोग इसकी सभ्य मनुष्योंमें गणना ही नहीं करते, बावरा जानकर इसका उपहास करते हैं। जैसे कमल बर्फके गिरने से जीर्ण शीर्ण हो जाते हैं, वही दशा वृद्ध शरीर की भी होती है। वृद्धके केश श्वेत और शरीर कुबड़ा हो जाता है। जैसे अति प्राचीन वृक्ष अन्दरसे पोला और निःसत्व सा हो जाता है, ऐसे ही वृद्ध शरीर भी शक्तिहीन हो जाता है।

हे मुनिवर! इस वृद्ध शरीरमें और सब शक्तियों तो निकल जाती हैं, परन्तु लोभ शक्ति इसमें आकर निवास करती है, हे मुनीन्द्र! जरा अवस्था दुःखों का घर है, इसमें समस्त दुःखों का सम्मेलन होता है, इस कारणसे– वृद्धका शरीर अतिदीन क्षीण और पराधीन हो जाता है, जवानीके दिनोंकी उस इन्द्रियोंकी चंचलताका आज नाम भी नहीं रहा, यौवन कालका वह बल जरा काल में पता नहीं कहाँ चला गया, इन्द्रियोंके केवल वेग ही शान्त हो गये, अपितु उनकी शरीरिक व्यवहारकी चेष्टायें भी न रहीं, जैसे पिताके न रहने पर पुत्र दीन हो जाता है, उसी प्रकार जराजीर्ण शरीरकी दुर्दशा हो जाती है।

हे मुनिवर! जरा रात्रि है इसमें खांसी रूप गीदड़ी शब्द करती है, आधिव्याधि रूप उलूक बोलते हैं, अतः ऐसी नीच वृद्धावस्थाकी मुझे इच्छा नहीं, जैसे बूढ़े निकम्मे बैलको लोग त्याग देते हैं, ऐसे ही स्त्री आदि कुटुम्बके लोग वृद्धका त्याग करते हैं, उसका निर्बल, कुरूप कुबड़ा और घृणित शरीर किसी को प्रिय नहीं लगता, जिन बन्धु–बान्धवों की द्रष्टिमें उसकी प्रति श्रद्धा और मान था, वे लोग आज उसे देखकर नाक भौं सिकोड़ते हैं, वृद्धको और बान्धव तो क्या चाहेंगे, पुत्रोंको भी उसके प्रति श्रद्धा नहीं रहती उसका पूर्वसम्मानित वही शरीर अब अपमानित हो रहा है, जिस घरका वह स्वामी कहलाता था उसमें आज उसका कोई अधिकार नहीं रहा, हे मुनिवर! ऐसी नीच वृद्धावस्था की मुझे चाह नहीं, अब मेरा जो कर्तव्य हो वह मुझसे कहिये।

इस शरीर की तीनों अवस्थाओं में कोई अवस्था भी सुखद नहीं है, क्योंकि बाल अवस्था महामूढ़ है, युवावस्था विकारों का घर है, बार्धक्यमें तो दुःख ही दुःख है, बाल्य अवस्थाको जवानी अपने अन्दर छिपा लेती है और जवानी को बुढ़ापा खा जाता है, बुढ़ापेको निगल जाने के लिये काल भगवान् आगे मुँह बाये खड़े हैं, यह सब अवस्थाएँ अल्प काल की हैं। इनके आश्रयसे सुख कहाँ? आप मुझे कोई ऐसा उत्तम उपाय कहनेकी कृपाकरें जिससे मैं दुःखसे मुक्त हो जाऊँ।

हे मुनिवर! जैसे सन्ध्याकाल के आते ही रात्रि भी तत्काल आ जाती है, उसी प्रकार जरा अवस्थाके आने पर मृत्यु भी निकट आजाती है, जैसे सन्ध्याकालके आने पर दिनके आने की आशा रखने वाले लोग महामूर्ख हैं, उसी प्रकार जरा के आने पर जीने की इच्छा रखने वाले लोग भी महामूर्ख हैं। हे मुनीश्वर! जैसे बिल्ली ताक लगाये रहती है कि चूहा आये तो पकड़ लूँ ऐसे ही मृत्यु देखती रहती है कि जरा अवस्था आये तो मैं उसका आहार करूँ, जरा अवस्था तो मानो काल की सहेली है, जब रोगरूपी अग्निसे शरीररूपी आहारको पकाती है, तब काल भगवान् आकर भोजन कर लेते हैं।

हे मुनिवर! यह शरीर क्षणभंगुर है, आपात रमणीय है, परिवर्तन शील है, इसकी बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य, यह तीन अवस्थाएँ हैं तीनों ही अल्पकालस्थायिनी हैं, मोहान्ध मनुष्य इनको सुन्दर सुडौल बलवान् और सुखका आयतन मानकर भ्रान्ति में पड़ा अनन्त दुःख को निमंत्रण दे रहा है, यदि विचारसे काम लिया जाय तो यही अनित्य शरीर इसको नित्यसुख अर्थात् आत्मपदकी प्राप्ति करानेमें साहाय्य प्रदान कर सकता है, यदि पूछें कि किस प्रकार, तो सुनिये—इस शरीरको भोगोंके भोगनेका साधन न मानकर, मोक्ष द्वार समझा जाय, यह साधनोंका भंडार है, यह जीव केवल इसी एक शरीरमें आकर अपना परम कल्याण कर सकता है, यदि यह सांसारिक भोगोंकी मृगतृष्णामें न फँस कर वैराग्यवान् हुआ विवेक से काम ले तो सहज में ही इस शरीर द्वारा संसार की भूलभूलैया से निकल कर आत्मपद को प्राप्त कर सकता है। परन्तु तीनों अवस्थाओं

में यह जरा अवस्था अति अधम है, इसके आने पर शरीर इतना निर्बल हो जाता है कि हाथ पाँव आदि अंग भी कहा नहीं मानते और अपना-अपना काम करना छोड़ देते हैं , स्त्री, पुत्र आदि भी वृद्ध शरीरसे घृणा करने लग जाते हैं, सारांश यह है कि इस अवस्थामें आकर शरीर किसी प्रकार का साधन संपादन करने के योग्य नहीं रहता, वृद्ध मनुष्यके स्वभाव में क्रोध लोभ जैसे दोष अधिक हो जाते हैं, पराधीनता इतनी कि उठने बैठने के लिये भी दूसरे की मदद चाहिये, वृद्ध शरीरका रोगों को छोड़कर अन्य कोई साथी नहीं बनता, रोगों में भी खाँसी की बहुत प्रधानता रहती है, शरीरमें पाचन क्रिया ठीक ठीक नहीं होती, अन्न का परिपाक न होने से रोगों की वृद्धि और बलकी प्रतिदिन हानि होती चली जा रही है, इस प्रकार वृद्धावस्थामें यह शरीर रूपी वस्त्र फटता चला जारहा है मानो श्वासश्वास में इसकी एक एक तार निकलती ही चली जा रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इस परम सङ्कटकाल में भी जबकि शरीरकी सभी शक्तियाँ अपने अपने कामसे जबाब दे गई हैं, तृष्णा निर्बल होने की अपेक्षा बढ़ रही है।

हे मुनिवर! जैसे गङ्गा तटके वृक्षों का जीवन कुछही समय का अतिथि होता है, इसी प्रकार जराजीर्ण शीर्ण शरीर, कालव्याधके तीरका लक्ष्य बन चुका है, ऐसी जरा अवस्था महाभयकारिणी है, मुझे इससे मुक्त होने का उपाय कहिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे जरावस्थानिरूपणं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥

त्रयोविंशः सर्गः–२३

अथ कालवृत्तान्तवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले–हे मुनिवर! यह संसार एक गर्त है, इसमें अज्ञानी गिरा हुआ है, उसके संकल्प-विकल्पोंका कहीं अन्त नहीं है। ज्ञानवान् पुरुषोंका संसारके मिथ्यात्व में दृढ़ विश्वास है, इसलिये वे इस भ्रमजाल में नहीं फँसते, अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणमें तो संसार की सत्यता

ओतप्रोत हो रही है, तभी तो वह सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति के लिये हाँफ रहा है, जैसे बालक दर्पणमें प्रतिबिम्बित वस्तुओंको पकड़ने की तीव्र इच्छा करता है, ऐसे ही अज्ञानी संसारको सत्य मानकर भोग्य पदार्थों की इच्छा करता है, राग-द्वेष के साथ किसी वस्तुकी प्राप्ति तथा किसीके वियोगमें सुख मानता हुआ तत्व चिन्तन से वञ्चित रहता है, वह नहीं जानता कि संसारके सब भोग आगमापायी हैं, प्रत्येक जगत्पदार्थ अस्थिर है नाशवान् है। काल भगवान् इस सम्पूर्ण दृश्य को खोजते हैं।

हे मुनिवर! इस कालग्रासरूप दृश्यमें किस वस्तुको स्थिर माना जाय। पर्वताकार शरीरोंवाले महाबली असंख्य पुरुषोंको कालने ग्रसा है, ग्रस्त कर रहा है, करता रहेगा, जैसे पके हुए अनार को चूहा खा जाता है, जैसे सांपको नकुल खाजाता है, ऐसे ही बड़े बड़े बलवानोंको काल कराल खा जाता है।

हे मुनीश्वर! काल बड़ा बलवान् है, ब्रह्मादिकको भी नहीं छोड़ता। जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसे तो काल खाता ही है, जैसे सिंह मृगका ग्रास कर लेता है, ऐसे ही काल प्राणिमात्र को अपने पेट में ले लेता है, यह दृश्यमात्र इसका आहार है, इस काल की गति अति सूक्ष्म है, लिखी नहीं जाती, इसका आकार प्रकट नहीं हैं, निमेष काष्ठा, कला, मुहूर्त, प्रहर, दिन और रात्रि सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके रूपसे बीतनेवाला यही काल है, और किसी रूप में यह प्रकट नहीं है, किसी वस्तुकी स्थिति नहीं रहने देता, इस कालने एक बेल (लता) फैला रक्खी है, जिसकी त्वचा रात्रि है, दिन फूल हैं, उनपर जीवरूप भ्रमर मँडराते रहते हैं।

हे मुनिवर! यह जगत् गूलरका फूल है, इसमें जीवरूप मच्छर निवास करते हैं, काल इस फूल को ऐसे खा जाता है जैसे तोता अनारको, अथवा यह जगत् एक वृक्ष है, जीवरूपी पत्तोंसे भरा पड़ा है, कालरूपी हस्ती इसको चबा जाता है।

हे मुनिवर! काल महाक्रूर है, इसको किसी पर दया नहीं आती, यह

जितना दृश्य प्रपञ्च है सब इसका भोजन है, जैसे मृग सब फूलों को खाजाता है, उससे कोई बचा नहीं रह सकता, हाँ एक कमल उससे बचा है क्योंकि शांति और मैत्री उसके अंकुर हैं, और वह अपने चैतन्य स्वरूप में प्रकाशमान है, कालरूप मृगकी वहाँ पहुँच ही नहीं, वहाँ कालभी प्राप्त हुआ लीन होजाता है, बाकी सब प्रपञ्च इसके मुखमें हैं, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, कुबेर आदि मूर्तियाँ काल कृत हैं, इन सबको यह अपने अन्दर समेट लेता है, हे मुनिवर! उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सब काल द्वारा होते हैं। अनेक महाकल्प इसमें हुए हैं और होंगे, कालको इतने बड़े दृश्य प्रपञ्चका संख्यातीतवार भोजन करनेपर भी कभी तृप्ति नहीं होती, और न कभी होने वाली है, जैसे घृतकी आहुतियोंसे अग्नि देव तृप्त नहीं होते, ऐसेही समस्त ब्रह्माण्ड का भोजन करलेनेपर भी काल तृप्त नहीं होता। इसका ऐसा स्वभाव है कि इन्द्रको दरिद्र और दरिद्रको इन्द्र बना देता है, सुमेरु को राई बनाता है और राई को सुमेरु कर देता है, परम ऐश्वर्यवान् माननीय पुरुष को नीच बना देता है और सबसे नीच को उच्च बना देता है, बिन्दु को सिंधु और सिंधुको बिंदु बना देता है इतनी महत्ती शक्ति कालमें है, जीवके अपने शुभाशुभ कर्म ही काल के शस्त्र बन जाते हैं उनसे काल इसको निरन्तर काटता ही रहता है।

हे मुनिवर! इस दृश्य प्रपंच को, जिसमें बड़े बड़े सुख और विलास के साधन चमकते-दमकते दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन्हें कालकवलित ही जानिये, इस विकराल काल ने पता नहीं कितने (असंख्य) गुणज्ञ, विद्वान, वीर, बलवान, राजाधिराज, सम्राट, क्रूरातिक्रूर, शूर, चूरकर धूरमें मिला दिये हैं, यह खिलाड़ी काल, सूर्य और चन्द्रमा को गेंद बनाकर कभी ऊपर उछालता है कभी नीचे गिराता है, इसीलिये विचारवान् महापुरुष उत्पत्ति और प्रलयमें भी किसी वस्तुसे स्नेह नहीं रखते, तभी तो काल उनका नाश करने में समर्थ नहीं।

हे मुनिवर! काल के गाल में आने से कोई नहीं बच सकता, चाहे वह

कितने भी बड़े आकारका अथवा बलशाली क्यों न हो। समुद्र बहुत बड़ा है,परन्तु उसको भी बडवानल के रूप में काल पी जाता है, कालके बल वेगका कोई अन्त नहीं, सारे दृश्य जगत्को क्षण मात्रमें इसप्रकार उडा ले जाना जैसे सूखे पत्ते को हवा उड़ा ले जाती है, काल का ही सामर्थ्य है।

हे मुनिवर! सत्वगुणप्रधान देवता, रजोगुणप्रधान बड़े बड़े भूमिपति, और तमोगुणप्रधान अमितबली दैत्य राक्षस आदि लोगोंमें भी काल के आगे स्थिर रहने की शक्ति नहीं। जैसे पात्रमें अन्न और जल डालकर उसे पकाने के लिये अग्निपर रख दिया जाता है तो उसमें पड़े हुए अनाजके दाने उछलते हैं, तथा कभी नीचे कभी ऊपर जाते हैं, ऐसेही अनन्त जीव जगत्रूप पात्रमें पड़े हुए रागद्वेष रूप अग्निपर पकाये जाते रहे हैं, कर्म के अनुसार कभी ऊपर कभी नीचे जाते हैं, हे मुनिवर! यह काल किसीको स्थिरतामें नहीं रहने देता, महा निर्दय और अति कठोर है, मुझे इसका सदैव भय बना रहता है, इसलिये कोई ऐसा उपाय कहने की कृपा कीजिये, जिससे मैं कालसे निर्भय हो जाऊँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालवृतान्तनिरूपणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ।।२३।।

चतुर्विंशतितमः सर्गः २४

अथ कालविलासवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले–हे मुनीश्वर! यह काल बड़ा बलिष्ठ है, जैसे कोई राजकुमार वनमें आखेट (शिकार) के लिये जाते हैं, तो वहाँ उनके हाथों खेल खेल में ही अनेक पशु पक्षियों के इस जीवन की समाप्ति हो जाती है, इसी प्रकार इस संसाररूप वनके प्राणी इस काल का शिकार बनकर असफलतामें ही समाप्त जीवन हो रहे हैं।

हे मुनीश्वर! यह काल महाभैरव है, सबका ग्रासकर लेता है, प्रलय

में सबका प्रलय कर देता है, इसकी प्रचण्ड शक्ति का बहुत बड़ा पेट है, यह सब दृश्य प्रपञ्च इसके पेटमें चला जाता है, काल भगवान्‌की वह कालिका शक्ति सम्पूर्ण जगत् का आहार करके प्रसन्न हो नाचती है, और इस सर्वनाशके बाद फिर इन्हीं दोनोंसे जगत् का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् प्रलय के बाद फिर उसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, बन उपवन, बाग, बगीचे आदि समस्त वस्तुओंके साथ यह जगत् प्रकट हो जाता है, अति सुन्दर जीवोंकी उत्पत्ति होती है, परन्तु अल्प समय में ही फिर नाश भी हो जाता है, जलमें स्थल और स्थलमें जल कर देना तथा नगरों (बस्ती) को उजाड़ और उजाड़ को नगर(बस्ती) बना देना काल शक्ति का नित्य का खेल है, यह काल क्रीड़ा, किसीको एक रूपमें कभी स्थिर नहीं रहने देती। जैसे बाग में आकर वानर किसी वृक्षको अचल नहीं रहने देता, ऐसे ही काल किसी को स्थिर नहीं रहने देता, अपने हाथों जगत् की रचना करके अपने हाथों उसका संहार करना, यह कालका कार्यक्रम है, और निरन्तर इसी रूपसे चलता चला जा रहा है अगर एक सुन्दर, सुडौल, पुष्ट, बलवान, और विचित्र शरीर की काल उत्पत्ति करता है तो देखते ही देखते उसे क्षीण, दीन, कुरूप, निर्बल, और जीर्ण शीर्ण करके समाप्त भी कर देता है।

हे मुनिवर! इस प्रकार प्रत्येक वस्तु काल द्वारा जर्जरीभूत हो नाश हो जाती है, इसलिये यहां किस वस्तु का आश्रय ले और क्या करे, शरीर सहित सब सुख साधन नाशवान् हैं, इसलिये मुझे जगत् के किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालविलासवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमः सर्गः २५

अथ कालकालिकावर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनीन्द्र! यह काल महापराक्रमी है, इसके तेजके सामने सब तेज फीके हैं, क्षण में उच्च को नीच और नीच को उच्च बना देता है, इसको कोई शक्ति दबाब में नहीं ला सकती, सभी इससे काँपते हैं, इसकी चंडिका शक्ति एक महाभयंकर नदी है जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता, महाकालरूप काली का ऐसा भयानक और विशाल आकार है, कि आकाशमें उसका शिर है, पाताल में पाँव हैं, दशों दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं, सातों समुद्र उसके हाथों के कंगन हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी उसके हाथ में पात्र है, प्राणिमात्र उसका भोजन है, हिमालय और सुमेरु उसके दोनों कानों में रत्न हैं, चन्द्र, सूर्य नेत्र हैं, तारागण माथेकी बिन्दियाँ हैं, हाथों में त्रिशूल और मूसल ही शस्त्र हैं, हाथों में प्राणिमात्र को बाँधने—फँसाने वाला पाश है, ऐसी कालिका देवी सब जीवोंका ग्रास करके महाभैरव श्रीरुद्रके आगे अट्टहासके साथ नृत्य करती है, गले में पड़ी हुई रुण्डमाला से उसका स्वरूप अत्यन्त भयंकर प्रतीत हो रहा है, उधर श्रीभैरव भी ऐसे ही हैं, उनके सर्वनाशक स्वरूप के आगे खड़े होने की शक्ति किस संसारी में हो सकती है, विश्वके विलक्षण और भयंकर परिवर्तनों में इनका ही हाथ है, तभी तो कृतान्त और यमराज जैसे इनके डरावने नाम हैं, दूसरा ऐसा कोई बल नहीं है जो सबका संहार करता हुआ स्वयं स्थिर रहता है परन्तु अन्य किसी वस्तु की स्थिरता नहीं रहने देता, अतः इसकी महिमा धन्य है। कालको जगत् की उत्पत्ति तथा नाश के लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता, यह काम तो इसके लिये खेल है, जैसे बालक मट्टीकी फौज बनाते हैं और स्वयं ही उसका नाश भी कर देते हैं, ऐसे ही काल के लिये जगत् की उत्पत्ति और विनाश की बाबत कोई यत्न नहीं करना पड़ता, अथवा यों जानिये कि कालरूप धीवर ने कर्मरूप जाल बिछाया है, उसमें जीवरूप पक्षी आ-आकर फँस रहे हैं, और यह कर्मजाल ऐसा विचित्र है कि जो कोई इसमें एक बार फँस जाता है, न तो

वह उससे निकल सकता है और न उसको शान्ति मिल सकती है, हे मुनिवर! मुझे इस बातका पता नहीं मिल रहा कि संसार में यह सब दृश्य प्रपंच तो नाशवान् है, मनुष्य किस वस्तुका आश्रय लेकर अपनी जीवन यात्रा सफल कर सकता है, अर्थात् किसका आश्रय लेनेसे वह इस अनन्त दुःखसागर से पार हो सकता है, यह स्थावर जंगमरूप जगत् तो सब कालके मुख में है, इनका नाशवान् रूप मेरे सामने है, इसलिये मुझे आप ऐसा उपाय बतायें जिससे मैं निर्भय पद को प्राप्त कर सकूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालकालिकावर्णनं नाम पञ्चविंशतितमः सर्गः ।।२५।।

षड्विंशतितमः सर्गः २६

अथ कालविलासवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले— हे मुनिवर! संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने मुख से बार-बार बोल रहा है कि मैं नाशवान हूँ, अतः मुझे यहाँ कोई भी आश्रयणीय वस्तु नजर नहीं आती, मैं किसकी इच्छा करूँ और किसका आश्रय लूं, यह जानते हुए भी, कि संसार का नाम ही परिर्वतन शील है, उसीमें ममता के साथ प्रवृत होना तो मोटी मूर्खता है, अज्ञानकी अवस्था में की हुई मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा दुःख के रूप में परिणत होती है,उससे जीवन में किसी प्रकार की अर्थ सिद्धि नहीं होती, क्योंकि मनुष्यकी बाल्यावस्था तो मूढ़तामयी होती है, उसमें तो विचारशक्ति होती नहीं और जब युवाऽवस्था तो मूढ़तामयी होती है, तब विचार शक्ति के रहते हुए भी मनुष्य विषयोंके अनुराग में विवश होकर फँस जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मद, मत्सर, आदर, सम्मानेच्छा, आदि सब विकार, उसके अन्तःकरण में अपना डेरा जमा लेते हैं, इसलिये उस नवयुवक का अन्तःकरण मन्दिर भी विचारदीपक से शून्य (तमोमय) ही रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि युवावस्था, शक्तियों की भंडार अवस्था है, इस अवस्था में मनुष्य असंभव को भी संभव बना सकता है, दुष्प्राप्य को पा सकता है अज्ञान और दुःखों के असीम समुद्र से निकल

कर उस कैवल्यपद को प्राप्तकर सच्चिदानन्दरूप बन सकता है, परन्तु यह सब बातें तब हो सकती हैं जब वह विचार करे कि यह संसार तो भूलभुलैया का खेल है, यहाँ के विषय, विषवृक्षके फल हैं, अथवा उन फलोंसे भी अधिक हानिकारक हैं, क्योंकि विष खाने से मनुष्य एक ही बार मरता है, परन्तु विषयोंके विषका सेवन करने से तो इस गरीब जीवको सर्वदा के लिये जन्म-मरण के चक्रमें ही पड़े रहना पड़ता है, यह विषय तो जीवको प्रत्येक योनिमें मिलते ही रहते हैं, मनुष्य पशु, पक्षी आदि, जिस किसी भी योनि का शरीर जीवको अपने कर्मानुसार मिलता है, उस शरीरके अनुसार ही उसको तत्सम्बन्धी विषय सामग्री भी प्राप्त हो ही जाती है, मनुष्य शरीर को जैसे भोजन, वस्त्र, गृह, गृहिणी आदिकी प्राप्ति होना आवश्यक है, उससे अन्यरूप में घोड़ा, बैल, कुत्ता, सिंह, चीता, आदि जीवोंको भी कर्मानुसार अमुक वस्तुयें प्राप्त होती हैं, प्रत्येक जीव को अपनी योनि जन्म के अनुरूप ही तत्तद्वस्तु से अनुराग होना स्वाभाविक है, मनुष्य को जैसे चार प्रकारके भक्ष्य, भोज्य चोष्य, लेह्य, भोजनसे रसास्वाद और तृप्ति का अनुभव होता है उसी प्रकार पशुओंका अपने अपने खाद्य से अनुभव होता है, राजा अपने अति सुन्दर प्रासादों में जैसे मनोहारिणी महारानियों के सहवास से प्रसन्न है, वैसे ही बनराज (सिंह) अपनी सिंहनियों के साथ वन कंदराओं में प्रसन्न है, यही क्यों, स्वर्ग में भी इस से अधिक सुखकी सम्भावना नहीं, सन्त पुरुषों ने अपने पवित्र अनुभवसे इन बातोंको करामलकवत् प्रत्यक्ष करके ही संसार का मानसिक त्याग किया है, महापुरुष अपने पवित्र अनुभव से हमें इस मृगतृष्णाका वास्तविक रूप समझाते हुए कैसी सुहावनी चेतावनी दे रहे हैं –

इन्द्राणी श्रृङ्गार कर, चन्दन लगायो अंग,
ताको देख, इन्द्र अति कामवश, भयो है,
सूकरी ने, कीचड़ के बीचही लोटकर
आगे जाय सूकर को मन हर लियो है।

जैसो सुख सूकर को तैसो सुख मघवाको,
तैसो सुख, नर पशु पक्षीहू को दियो है,
सुन्दर कहत जाको भयो ब्रह्मानन्दसुख,
वही साधु जगत् में जीत कर गयो है।।
('सुन्दर विलास'से)

देखिये! ज्ञानवान् महात्माओंके अनुभवमें इन्द्रादि देवताओं को भी संसार के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों से अधिक वैषयिक सुख नहीं है, बाह्य महत्ता भलेही हो कि वह देवता और यह मनुष्य या पशु है, परन्तु सुख बुद्धि से इन्द्र, और सूकर, शची और सूकरी, समान रूपसे ही सुखी हैं, अन्य साज सामानकी लघुता गुरुतामें भी ममता सम्बन्धी वैषम्य नहीं समझना चाहिये, एक राजाको अपने राज्य के छिन जाने में जितनी ममताजन्य पीड़ा है, उतनी ही एक रंक भिखारी को अपने भोजन भरे भिक्षापात्रके छिन जाने से होगी तथा एक राजा अथवा धनी जैसे अपने कोश या घरको भरने के लिये अनेक सेवकों द्वारा निरन्तर यत्न करता है उसी प्रकार एक पिपीलिका भी अपने गृहभण्डार (बिल) को भरने के लिये केवल अपने मुँह में लिये हुए एक अन्नकण द्वारा भरनेको निरन्तर कटिबद्ध रहती है। सारांश यह कि उस तुच्छ विषय सुखके लिये जो कि जीवको प्रत्येक योनि में जन्म लेने पर भी उसी रूपसे प्राप्त है, उस क्षणभंगुर आपात रमणीय दुःखान्त अनित्य सुखकी लालसा में पड़कर जो लोग इस मुक्तिद्वार रूप मनुष्य जन्म की अवहेलना कर रहे हैं, वह तो संसारसे पराजित होकर जा रहे हैं, जिन वीर पुरुषों ने अपने पौरुषसे इन्द्रियों पर विजय पाकर ब्रह्मज्ञान अर्थात् आत्म साक्षात्कारकी प्राप्ति करली है वही महात्मा संसार में विजयी हुए हैं, अतः महात्माओं का अनुभव आत्मजिज्ञासु जनताके लिये अवश्य ही पथदर्शक सिद्ध होगा। मानव शरीर को मोक्ष के द्वार और साधन धाम इसीलिये कहागया है कि जीवको आगमन के बन्धन से मुक्ति इसी मनुष्य शरीरमें आने पर ही

मिल सकती है अन्य किसी शरीर से नहीं, यदि इस देवदुर्लभ शरीर को भी विषय भोगों में गवाँ दिया गया तो समझ लेना चाहिये कि ऐसा करने वालेने अपनी भारी हानि की है। मनुष्य शरीर से वही काम लेना चाहिये जो काम और किसी शरीर द्वारा न हो सकेगा परन्तु ऐसा कहाँ होता है, मनुष्य संसार में आकर प्राकृतिक साधनों से अपने आपको परम सुखी बनाना चाहता है, परन्तु उसके प्रतिकूल परम दुःखी होकर जीवनको समाप्त कर देता है!

हे मुनिवर! आयु अति चञ्चल है, मृत्यु निकट है, इसका अन्यथा भाव नहीं होता, भोग रोगरूप हैं जिसे सम्पत्ति समझा जा रहा है वही विपत्ति है, और जिसको सत्यरूप माना जा रहा है वास्तव में वही असत्य है, जिन स्त्री पुत्रादि सम्बन्धियोंको प्रिय जाना जा रहा है वे सब बन्धन के कारण हैं, असंयत इन्द्रिय वर्ग मनुष्य का शत्रु है, शरीर विकार भंडार है, मन अति चञ्चल है अहंकार महानीच है, इसने ही जीवको दीन बनाया है, हे मुनिवर! सुखदायक जान पड़ने वाले यह सब पदार्थ दुःखरूप हैं, इनसे कदापि शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, मुझे संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं जान पड़ती, यह सब दृश्य प्रपंच नाशवान् है, मैं अपनी आयुके विषयमें क्या आस्था करूँ?

हे मुनीश्वर! बड़े-बड़े समुद्र और सुमेरु आदि महान् पर्वत, सब नाश होने वाले हैं, हम लोगों की गणना ही क्या है, बड़े-बड़े दैत्य, दानव, सिद्ध, गन्धर्व, और देवताओं के भी नाम शेष रह जाते हैं, उनका कोई चिन्ह भी नहीं रहता, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आदिकों में किसी की भी सत्ता शेष न रहेगी, इन्द्र, यम, कुबेर, वरुण आदि शक्तियाँ सब नाशवान् हैं, यह आकाश पर चमकते हुए तारे ऐसे गिरेंगे जैसे सूखे वृक्ष से पत्ते गिरते हैं, और तो और, यह ध्रुव, जो स्थिर कहा जाता है, अस्थिर हो जायेगा, अखण्ड मण्डल कहलाने वाले जगत् प्रकाशक सूर्य, तथा अमृतमय मण्डल चन्द्रमा का प्रकाश भी न रहेगा।

जगत् की रचना पालन और संहार करने वाले भी अदृश्य हो जायँगे,

सबका आधार यह आकाश भी नाश को प्राप्त होगा, कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो स्थिर रहने वाली हो, अतः यहाँ किस का आश्रय लिया जाय, यह सब जगत् भ्रममात्र है, इसमें अज्ञानी पुरुषों को आस्था होगी, हमें नहीं है, संसार में जितने भी मनुष्य दुःखी हैं सब अहंकार के कारण से दुःखी है, हे मुनिवर! जीव का परमशत्रु अहंकार है, यही इसे भटका रहा है, जैसे धागे से बँधा हुआ पतंग कभी ऊपर कभी नीचे जाता है, स्थिर नहीं होता, ऐसे ही जीव को भी अहंकार शान्ति से नहीं बैठने देता, हे मुनिवर! यह जीव अपने सत्य स्वरूप को भूलने के कारण से ही भटक रहा है, अज्ञान से संसार की सत्यता में आस्था करता हुआ भोगों में आसक्त है, आसक्ति से इसकी तृष्णा बढ़ती जाती है, जितनी तृष्णा अधिक होती है उतना ही दुःख का अधिक होना स्वाभाविक है, क्योंकि यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भोग रोग रूप है, और यह रोग भी इतना व्यापक है कि इसके प्रताप से प्राणिमात्र काल के मुख में पड़ा है। हे मुनिवर! यह मनुष्य बिना विचार के अपना नाश स्वयं कर रहा है, बिना आत्मबोधके इसका कल्याण होना कठिन ही नहीं, असंभव है, यदि मनुष्य, सत् असत् वस्तुके विवेचन के साथ अपने अन्तःकरण में योग्यता प्राप्त करके आत्म चिन्तन की शरणमें जाये तो शीघ्रही इसके कल्याण की संभावना हो सकती है, जगत् के विविध पदार्थों की तृष्णा मनुष्य को अधीर कर देती है, धैर्य ध्वंस होजाने से उसकी मानसिक शक्तियाँ निर्बल हो जाती हैं, निर्बल मनमें विचार की सामर्थ्य ही नहीं होती, उसके अन्दर भोगासक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अपने वैषयिक संकल्पोंको रोक सकता ही नहीं, प्रत्युत उनके रुक जाने से उसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मनोवृत्ति और भी मलिन होकर उसके सर्वनाश का समय समीप ले आती है, इसलिये मनुष्य को अपने इस हानि लाभ के विषय में यत्न द्वारा स्वयं विचार करना चाहिये, यह बात नहीं हैकि मनुष्य अपने हानिलाभप्रद कामों को जानता ही नहीं, जानता हुआ भी हानिकारक ही काम कर देता है, मनुष्य तो परम चतुर मुक्तिका अधिकारी प्राणी है, इस बातको तो पशु, कुत्ते, बिलाव आदि

जानवर भी जानते हैं कि अमुक काम, जो मैं करने लगा हूँ खोटा है, उदाहरण के लिये कुत्ते को देखिये जब आप भोजन करलेनेके बाद उसको रोटी का कुछ अंश भी देते हैं तो वह प्रसन्न होता है और अपनी दुम बार बार हिलाता हुआ खाता है, और उसकी आकृति से बड़ी दीनता प्रकट होती है, और दुम हिलाकर वह आपको धन्यवाद देता है, उसी कुत्ते को यदि कहीं दैवयोग से रसोई का द्वार खुला मिल जाये और वह अन्दर जासके तो वहाँ पड़े हुए रोटियों के बंडल को लेकर एकदम भागता है, अब वह न तो वहीं आराम से बैठकर खाता है न दुम हिलाता है बल्कि वह जानता है कि यह चोरी का माल है, कोई अवश्य ही डंडा हाथ में लिये पीछे आ रहा होगा, अतः जल्दी जल्दी उन रोटियों को कहीं जाकर घास फूसमें व मिट्टी में छिपा देता है, जब कुत्ते जैसा प्राणी भी भले बुरे की परख रखता है तो क्या मनुष्य अपना हिताहित नहीं जानता? सब कुछ जानता है परन्तु प्रमादवश विचार नहीं करता, विचार क्या करे, विचार धैर्य से होता है, विषयों की तो तीखी तृष्णा इसको अधीर कर देती है अपनी ही कल्पना से इन जगत्के दुःखदायी पदार्थों को सुखदायी समझता है, यह जगद्भ्रम ही परम दुःख का मूल है, इसलिये हे मुनिवर! मुझे कोई ऐसा उपाय कहिये जिससे यह जगद्भ्रम मिट जाय और उस अविनाशी पद की प्राप्ति हो, इस मिथ्या जगत् में मुझे तनिक भी आस्था नहीं, संसार में कोई चाहे पहाड़ की कन्दरा में बैठे, चाहे महलों में, दुःख की निवृत्ति तो भ्रमनाश हुए बिना नहीं हो सकती ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे कालविलासवर्णनंनाम षड्विंशतितमः सर्गः ॥२६॥

अथ सप्तविंशतितमः सर्गः २७

अथ सर्वपदार्थभाववर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनिवर! यह जो विविध प्रकार की सांसारिक वस्तुएँ अतिसुन्दर प्रतीत हो रही हैं सब नाशवान् हैं, इन पर भरोसा रखना मूर्खों का काम है, यह पदार्थ वास्तव में कुछ नहीं हैं, यह सब

मानसिक कल्पना है, इन अनेक पदार्थों में मैं किस पर आस्था करूँ।

हे मुनीश्वर! अज्ञानी जीवका जीवन व्यर्थ है, क्योंकि उसके जीवन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, बाल्यकाल में बालक की मूढ़ बुद्धिमें विचार शक्ति होती ही नहीं, और यौवन काल तो उससे भी विकराल है, इसमें एक तो, युवावस्थाजन्य मदसे मनुष्य पहले ही मनोवृत्ति स्थूल जैसी होती है, और जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार मत्सरादि विकार भी आकर उसके मनमन्दिर में अपना डेरा लगा देते हैं, तब वहाँ घोर अन्धकार हो जाता है, संयम और विचार शक्तियाँ विद्यमान होती हुई भी कामक्रोधादि विकारोंके प्रबल वेगों से दब जाती हैं, जैसे जालमें बँधा हुआ पक्षी उड़नेकी शक्ति रखता हुआ भी आकाश मार्ग को देख भी नहीं पाता, इसी प्रकार कामादि वृत्तियोंसे आच्छादित मन विचार की सूक्ष्मता तक नहीं पँहुच पाता। जब वृद्धावस्था आती है तब शरीर अनेक रोगों का निवास स्थान बनकर जर्जर हो जाता है, दीनता आ जाती है, जैसे बरफ के मारे कमल का भ्रमर त्याग कर देता है इसी प्रकार जराजीर्ण शरीरका जीव त्याग कर देता है।

हे मुनिवर! शरीर तब तक सुन्दर है जब तक जरा नहीं आती, जैसे चन्द्रमाका प्रकाश कैसा मनोहर है, परन्तु जब राहु आकर उसपर आवरण डाल देता है तब नहीं रहता, ऐसे ही जराके आने पर युवावस्था की सुन्दरता नहीं रहती, हे मुनिवर! जराके आने पर शरीर कृश होकर कुरूप हो जाता है, तृष्णा बढ़ जाती है, जैसे वर्षा काल में नदी में बाढ़ आजाती है, ऐसे ही वृद्धावस्थामें, तृष्णानदीमें बाढ़सी आ जाती है, उस तृष्णाको बढ़ाकर भी मनुष्य सुखी नहीं होता, प्रत्युत पहले से भी अधिक दुःखी होता है, क्योंकि जिन पदार्थो की इच्छा करता है, वे पदार्थ भी दुःख रूप हैं।

हे मुनीन्द्र! तृष्णा के समुद्रमें चित्त की नाव पड़ी है, राग द्वेष रूप बड़े-बड़े मकरों (मत्स्यों) के कभी नीचे कभी ऊपर उछलने से यह कभी स्थिर नहीं रहती। हे मुनिवर! कामनाके वृक्ष पर विषयरूप विषफल

लगे हैं, जीवरूप भ्रमर उन पर जाकर बैठता है और मृत्यु मुख में चला जाता है।

हे मुनिवर! ऐसे भयंकर संग्राम सागरको, जिसमें बड़े-बड़े मदमत्त गजराज चिंघाड़ रहे हों और बाणोंकी बर्षा हो रही हो, पार करनेकी सामर्थ्य रखने वाले बलवान् को भी मैं शूर नहीं मानता, किन्तु मनोवृत्ति रूपी अनन्त तरंगों से भरे इन्द्रिरूप समुद्रको जो पार कर सकता है मैं उसीको शूरवीर मानता हूँ। अज्ञांनी जीव परिणाममें दुःख देने वाले कार्योंका आरम्भ करता है, आरम्भ में कठिन प्रतीत होनेवाले और परिणाम में परम सुखदायक कामोंका आरम्भ नहीं करता, उसका प्रत्येक काम किसी न किसी कामनाको लेकर ही चालू होता है, परन्तु स्मरण रखने योग्य बात है कि सकाम कर्मके आरम्भसे मनुष्य सत्यसुखको नहीं पा सकता और उसके मनमें सदाके लिये अशान्ति बनी ही रहती है, कामना के कारण चित्त जलता ही रहता है, अनात्म पदार्थों की प्राप्ति में भी जब सुखशान्ति नहीं, तब उसकी केवल तृष्णामें सुख कहाँ?

हे मुनिवर! भयंकर प्रवाह से बहने वाली तृष्णा नाम की नदी है, उसके किनारे पर वैराग्य और सन्तोष दो वृक्ष खड़े हैं तृष्णा नदी में बाढ़ आने पर दोनों वृक्षों का नाश हो जाता है तृष्णा का बहुत बड़ा प्रभाव है, वह किसीको स्थिर नहीं रहने देती, मोह नाम का एक वृक्ष है उसके आश्रित स्त्रीरूप एक विषभरी वेल है, चित्तरूप भ्रमर उसपर आकर बैठता है, उसके स्पर्श मात्र से ही जीवन खो बैठता है, अज्ञानी मनुष्यका चित्त मोर के पुच्छ के समान सदा चञ्चल ही रहता है, ऐसे मनुष्य पशु समान हैं, जैसे पशु दिनका समय जंगलमें विचर कर बिताते हैं, और रातको घरमें आने पर खूँटे से बाँध दिये जाते हैं, ऐसे ही मूर्ख मनुष्य दिनको घर छोड़कर व्यवहार के लिये बाहर घूमते हैं, और रातको घर में आकर पड़े रहते हैं, परमार्थकी सिद्धि कुछ होती, नहीं जीवन वृथा गँवाते हैं।

मनुष्य का बाल्यकाल तो विवेक विचारसे कोसों दूर रहता है यौवन के

समय का मनुष्य कामोन्मत्त हुआ मौज बहार के अतिरिक्त अन्य किसी कार्यको सुखप्रद नहीं जानता। अब रही वृद्धावस्था, उसमें शारीरिक मानसिक, दोनों प्रकारकी निर्बलता से मनुष्य केवल आयुके शेष दिन पूरे करने के लिये श्वास लेता है, वृद्धावस्था में केवल तृष्णा बढ़ती है, शरीर और उसकी सब शक्तियाँ जर्जर हो जाती हैं, जैसे बर्फके गिरने से कमल कान्तिहीन तथा क्षीण हो जाते हैं, वही दशा वृद्ध शरीरकी होती है।

हे मुनिवर! अज्ञानी पुरुष पशु के समान है क्योंकि अप्राप्य वस्तुकी इच्छा करता है अथवा उन वस्तुओंको प्राप्त करने की इच्छा करता है, जिनका ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि में सर्वथा अभाव है, जैसे कोई आदमी बड़े ऊँचे पर्वत पर चढ़कर आकाशके फूल लेने की इच्छा करे और पर्वत परसे दूर नीचे कहीं कँटीले वृक्षोंके ऊपर जा गिरे, ऐसे ही यह जीव जिस मनुष्य शरीर में आया है यह शरीरभी एक उच्च पर्वत है इस पर चढ़कर अर्थात् इसके आश्रयसे जीव रागद्वेषात्मक मनोवृत्तियों से अति आसक्तिके साथ जो सांसारिक विषयोंके सुख की इच्छा करता है, वही इसका आकाशके फूल लेने की इच्छा करना है, जैसे आकाशके फूल कथन मात्र के लिये हैं वास्तवमें कोई वस्तु नहीं, मिथ्या हैं, इसी प्रकार सांसारिक सुख भी मिथ्या हैं, इसीलिये उनको आकाशके फूल कहा गया है, इनमें आस्था करना मूर्खता है, यह तो शब्दमात्र है इससे कुछ अर्थसिद्धि नहीं होती। ज्ञानवान् पुरुषोंको इन विषयों के भोगोंकी इच्छा नहीं होती, क्योंकि आत्मप्रकाश द्वारा वे इनको मिथ्या जानते हैं ऐसे ज्ञानवान् महापुरुष अति दुर्लभ और दुर्विज्ञेय हैं, हमें तो उनके स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होते, धन्य हैं वे महात्मा जिनकी भोगेच्छाएँ निवृत्त हुई हैं और जो सर्वदा ब्रह्मरूप होकर स्थित हैं ऐसे पुरुषोंको संसार की इच्छा हो ही नहीं सकती क्योंकि उनकी दृष्टि में संसार ही मिथ्या है, तीन कालमें नहीं हुआ, तो वहां अखण्ड ब्रह्मरूपता में भेदभावना कहाँ से उत्पन्न हो। हे मुनिवर! विचारवानोंकी दृष्टि प्रत्येक वस्तुकी वास्तविकताको देखती है, वे पर्वतको जिस ओर से देखें पत्थरसे ही पूर्ण

दृष्टि आता है, पृथ्वी सारीकी सारी मृतिका रूप ही दिखती है, वृक्ष काष्ठ से पूर्ण दृष्टि आता है, समुद्र जलसे पूर्ण दृष्टि आता है, यह शरीर भी अस्थि मांस से पूर्ण दृष्टि आता है, ये सब पदार्थ पाँच तत्त्वों से पूर्ण हैं और नाशवान हैं, सकल दृश्य प्रपंच का ऐसा स्वरूप जान कर ज्ञानी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता।

हे मुनीश्वर! यह जगत् सब नाशरूप है, देखते देखते नाश होजाता है, अतः मैं किसका आश्रय लेकर सुख पाऊँ, जब चारों युग एक-एक हजार बार बीत जाते हैं, तब ब्रह्माका एक दिन होता है, उसदिनके अन्त में सारे जगत् का प्रलय हो जाता है, अपने समय पर ब्रह्माका भी नाश होजाता है, अब तक जितने ब्रह्मा हो गये हैं उनकी संख्या नहीं हो सकती, जब असंख्यों ब्रह्माओं का नाश हो गया है, तब हमारी तो बात ही क्या है, हम किसी भोगकी वासना नहीं करते, ये सब चल रूप हैं, कोई वस्तु स्थिर रहनेकी नहीं, सब प्रपंच नाशरूप है, इसकी आस्था करना मूर्खोंका काम है, इसके साथ हमारा कुछ प्रयोजन नहीं, जैसे-मृग, मरुस्थल को देख कर जलपान करने के लिये दौड़ता है, परन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती, ऐसे ही अज्ञानी जीव जगत् के पदार्थ को सत्य मानकर तृष्णा करते हैं परन्तु शान्ति नहीं पाते, क्योंकि सब असाररूप है और यह स्त्री,पुत्र, आदि तबतक ही भासते हैं जब तक शरीर नष्ट नहीं हुआ, जब शरीर नष्ट हो जायेगा तब मालूम न होगा कि कहाँसे आये थे और कहाँ चले गये। जैसे तेल और बत्ती के मेल से दीपक प्रकाशित होताहै परन्तु जब बुझ जाताहै, तब जाना नहीं जा सकता कहाँ गया, ऐसे ही यह बत्तीरूप बान्धव हैं इनमें स्नेहरूपी तेल है उसके द्वारा शरीरका भासना ही प्रकाश है, जब शरीर रूपी दीपक का प्रकाश लुप्त हो जाता है तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया। हे मुनिवर! यह बन्धु-बान्धवोंका मिलाप ऐसा है जैसे तीर्थ यात्रामें कई लोगों से मिलाप होताहै,अथवा जैसे क्षण भर के लिये कई लोग इकट्ठे होकर वृक्ष की छाया के नीचे बैठ जाते हैं, और तत्काल ही अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसा ही बान्धव

मिलाप है, जैसे उस यात्रा में स्नेह करना मूर्खता है, ऐसे ही इनमें भी स्नेह करना मूर्खता है, हे मुनिवर! अहंता ममता के सूत्र बँधे हुए सब जीव घटी यन्त्र (अरहट) के समान निरन्तर घूम रहे हैं, उनको शान्ति की प्राप्ति कदापि नहीं होती, इस प्रकार के ममताबद्ध मनुष्य देखनेमात्रको सचेत दीखते हैं, परन्तु इनसे तो पशु, बन्दर आदि जीव भी श्रेष्ठ हैं, जो कभी प्रकृति विरुद्ध व्यवहार तो नहीं करते, मनुष्य तो अहंता का मद्य पीकर संसार की अनेक प्रिय वस्तुओं पर ममता की मुहर लगाता हुआ अपने संसार बन्धन को और भी दृढ़ बनाता जा रहा है, जीव का शरीर के साथ वस्त्रों जैसा सम्बन्ध है, जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र त्यागकर नये धारण कर लेता है उसी प्रकार एक शरीर त्याग कर दूसरा नया धारण लेना ही जन्म मरण है, ऐसा जान लेने वाले मनुष्य को तो इस शरीर में ममता करना और इसके त्याग में परम कष्ट रूप मोह तो नहीं होना चाहिये। इसलिये उन लोगों को आत्मपदकी प्राप्ति होना अति कठिन है जो देहादि से इतने दृढ़ बँधे हुए हैं, जैसे पवन की प्रेरणा से वृक्षों के पत्ते अपना स्थान छोड़कर नीचे गिर पड़ते हैं, उनका वृक्षों के साथ फिर लग जाना कठिन ही नहीं, असंभव है।

हे मुनिवर! आत्मपद से विमुख मनुष्य जगत् को सत्य और सुखरूप जानता है, और जब कभी इसकी आत्माकार वृत्ति हो जाय तब जगत् को नाशवान् और निस्सार मानता है, तब कोई भी सांसारिक पदार्थ इसको ऐसा नहीं नजर आता जो नाशवान् न हो, इसलिये यहाँ किस वस्तु का आश्रय लिया जाय, यह दृश्य प्रपंच सब नाशवान् है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे सर्वपदार्थाभाववर्णनं

नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ।।२७।।

अष्टाविंशतितमः सर्गः २८

अथ जगद्विपर्यय वर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनीश्वर! यह दृश्यमान स्थावर जंगमरूप जगत्, सब परिवर्तनशील और नाशवान् है, यहाँ स्थिर वस्तु कोई नहीं, जो स्थान कुछ समय पहले खाई के रूप थे वहाँ इस समय जल ही जल है, और जहाँ जलपूर्ण समुद्र दीखते थे, वे खाइयों के रूप में बदल गये हैं, आकाशके समान शून्य स्थानों में अनन्तवन वृक्षराजि विराजमान है, जिन स्थानों पर रंगरंगकी पुष्पलताओं तथा मधुरमनोहर फलों वाले वृक्षोंसे भरे हुए अत्यन्त रमणीय बाग—बगीचे शोभायमान होते थे, वहांकी विशाल भूमि दावानलसे भस्मसात् की हुई सी दिखाई दे रही है। उजारमें बस्ती और बस्ती में उजार हो गई है, पर्वतों के स्थानोंपर मैदान और मैदानोंके स्थानों पर पर्वत दीख रहे हैं, हे मुनिवर, देखते देखते ही जगत्की प्रत्येक वस्तुमें परिवर्तन होता है कोई वस्तु स्थिर नहीं रह पाती, अतः किसका आश्रय लिया जाय, और किस वस्तुके प्राप्त करने का यत्न किया जाय, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है, संसार में बड़े बड़े ऐश्वर्यवान् कर्मवीर, बलवान् तेजस्वी और महाप्रतापी पुरुष भी मृत्युके मुख में चले गये, यहाँ किसीको भी नियत समय (आयु) के बीत जानेपर एक क्षण भी ठहरने को नहीं मिला, इस नियमके अनुसार यहाँ सबके लिये जानेका नियत समय अनिवार्य है,जब यहाँ से सबको जाना है तो हम क्या रह सकते हैं? कभी नहीं, अभी या और कुछ देर बाद हम भी जानेवाले हैं।

हे मुनीन्द्र! जगत्के प्रत्येक पदार्थका रूप अति चञ्चल है, यह एकरस नहीं रहता, एक क्षणमें कुछ होता है तो दूसरे क्षणमें कुछ और ही हो जाता है, संसार के लोग एक क्षणमें निर्धन और दूसरे क्षणमें धनवान् होते देखे जाते हैं, क्षण-क्षणमें कहीं सृष्टि और कहीं प्रलय होती ही रहती है, एक क्षणमें मरुथल जलमय प्रदेश हो रहा है, दूसरे ही क्षण समुद्र के स्थान में मरुथल दृष्टिगोचर होता है।

हे मुनिवर! इस जगत् का आभास स्थिर नहीं रहता, जैसे बालक का चित्त स्थिर नहीं रहता, ऐसे जगत् का कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं रहता, जिसप्रकार नट अनेक रंग और रूपों वाले विविध प्रकार के विचित्र स्वाँग धारण करता है, कभी कुछ बनता है कभी कुछ, एक रूप में कभी स्थिर नहीं रहता, ऐसे ही जगत् के पदार्थ और लक्ष्मी स्थिर नहीं रहते और तो और इस जीव को अपने विचित्र कर्मों के अनुसार रूप भी विचित्र बदलने पड़ते हैं, कभी पुरुष से स्त्री और कभी स्त्री से पुरुष हो जाता है, कभी मनुष्य से पशु और पशु से मनुष्य बन जाता है, स्थावर से जंगम और जंगम से स्थावर हो जाता है, यही नहीं मनुष्य से देवता और देवता से मनुष्य हो जाता है। इसी प्रकार घटीयंत्र के समान जगत् की लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती, ऊपर नीचे हुआ ही करती है, जगत् की कोई वस्तु छोटीसे छोटी, बड़ी से बड़ी, बहुमूल्य अथवा सामान्य, यत्न प्राप्त अथवा अनायास लब्ध स्थिर नहीं हैं। सब नाशवान् हैं, किसी यत्न द्वारा भी यह जगत् के पदार्थ स्थिर नहीं रक्खे जा सकते, यह बड़े-बड़े नगर महल,सामानों भरे मकान क्षणभर में अभाव के रूप में बदल जायँगे, यही नहीं कि यह कृत्रिम मनुष्य रचित वस्तुएं ही नाश के रूप में बदल जायँगी, अपितु यह सामने खड़ी प्रकृति की स्थूल रचना जिसमें बड़े-बड़े सुमेरु आदि पर्वत अगाध समुद्र और अनन्त अपार वनराजियाँ, नदियाँ, ताल, जलाशय, कूप, बावड़ी, बाग–बगीचे, स्वर्ण, रजत और रत्नों से भरी वसुन्धरा भी कालका ग्रास हो जायगी, यह जनसमाज की व्यवहार परम्परायें, यह दिन और रातके नियत काम, जो कि प्रतिदिन के अभ्यास से स्थिर से प्रतीत होते हैं, यह राजमार्गों के कोलाहल, यह मानवजीवन को सुखसम्पन्न बनाने के साधन, सब शून्यताका रूप धारण करेंगे। हे मुनिवर! संसार की इस विचित्र क्षणभंगुरता और परिवर्तन को देखकर मुझे यहाँ की किसी वस्तुपर किंचित् भी आस्था नहीं रही है, जगत् में जो वस्तु दृष्टिगोचर हो रही है उसका रूपान्तर नाश है, प्रत्येक वस्तु का परिवर्तनशील स्वभाव है, विष अमृत और अमृत विष हो जाता

है, परिस्थिति के अनुरूप वर शाप और शाप वर हो रहा है, हमारे देखते ही देखते अनके ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं कि सम्पति विपत्ति का और विपत्ति सम्पत्ति का रूप धारण कर रही है, विचार करने से इन वस्तुओं के वास्तविक रूप के ज्ञान से इनकी अनित्यता तथा निस्सारता प्रत्यक्ष मालूम हो जाती है।

हे मुनिवर! जब सूर्य और चन्द्रमा जैसी जगत् प्रकाशक तेजोराशियाँ एक दिन लुप्त होनेको हैं, जब सुमेरू जैसे महाकाय पर्वतराज चूर हो जायँगे, तब हम लोगोंके नाश हो जानेकी बात ही क्या है, हे मुनिवर! जब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी जो कि जगत् के ईश्वर हैं, एक दिन न होंगे तब और किस किस की कहें, जितना भी सम्बन्धी वर्ग माता, पिता, भाई बहन, स्त्री, पुत्र आदि लोग हैं सब देखनेमात्रके हैं, कोई स्थिर रहने वाला नहीं सब नाशवान् हैं, इनमें आश्चयणीय कोई नहीं।

हे मुनिवर! दीर्घदर्शी पुरुष के लिये तो इस संसार का अत्यन्त अभाव है क्योंकि आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपित त्तथा, जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमान में भी नहीं है, अतः विचारवानों की धारणामें संसार तीनों कालों में उत्पन्न ही नहीं हुआ, दृश्य प्रपंचके विषय में ऐसी यह सूक्ष्म, किन्तु वास्तविक भावना उन महापुरुषोंकी होती है जिनकी वृत्ति सदा अन्तर्मुख तथा आत्माकार रहती है, जो पुरुष इतने अन्तर्मुख तो नहीं कि उन्हे देहका भानही न हो किन्तु विचारवान् हैं सदसद्विवेचन समर्थ हैं उन्हें भी संसार के सब पदार्थ विरस भासते हैं, वस्तुतत्व को पहिचान लेने से उनको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु की नाशवत्ता उनके अनुभूत हो चुकी है, वे लोग सांसारिक जीवन को बिजली की चमक के समान अति चञ्चल जानते हैं, जिस पुरुष को अपने जीवनपर विश्वास न हो, उसको किसी भी प्रकारके सुखभोग की इच्छा नहीं हो सकती, जैसे किसी मनुष्य को देवतार्थ बलि देनेके लिये नियत कर दिया गया हो और साथही उसे यह कहा जाय कि तुम उत्तम से उत्तम बहुमूल्य स्वाद षड्रस भोजन यथेष्ट कर सकते हो,

तब उस मरणासन्न मनुष्यको जैसे किसी भी प्रकारके पदार्थ में रुचि नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसार की नाशवत्ता का दृढ़ निश्चयी विचारवान् पुरुष जगत्की किसी वस्तुकी स्थिति पर आस्था नहीं करता, संसार का प्रत्येक पदार्थ जब नाशवान् है तो हम उनका आश्रय लेकर सुखपाने की आशा कैसे कर सकते हैं, जिस प्रकार कोई समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य समुद्रमें रहने वाले किसी महाभयंकर 'मकर' की ही पीठपर चढकर पार जाने की इच्छा करे तो उसका डूबना तो अवश्यंभावी है, उसी प्रकार जगत्के नाशवान् पदार्थोंके आश्रय से अपने आपको सुखी बनानेका विश्वासी मनुष्य भी नाश को प्राप्त होगा।

हे मुनिपुङ्गव! जो मनुष्य सदा जगदाकार वृत्ति ही रहता है, जगत् की सत्यता का विश्वासी है, उसको यह जगत् रमणीय प्रतीत होता है, इसको रमणीय मानने से इसमें आसक्ति बढ़ेगी, आसक्ति ही विविध कर्मों की प्रेरणा करती है, परिणाम यह होता है, कि नाना प्रकार के कर्म करता हुआ नाना ही प्रकार के संकल्पों से लदा रहता है, और वही संकल्प उसके अनेक जन्मों के बीजरूप होकर उसे कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी मध्यमें, कभी अधोलोकमें, भटकाते रहने के साधन बन जाते हैं, उन्हें कभी स्थिरता नहीं मिलती, इस बात को जानते हुए भी कि संसार का प्रत्येक पदार्थ नाशवान् है, क्षणभंगुर है, फिर उन्हीं सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये लालायित रहते हैं, जैसे नदी में बहते हुए सर्पके मुख में पड़ा हुआ मेंढ़क किनारे पर उड़ते हुए मच्छर खाने की इच्छा करता है वैसे ही मृत्यु मुख में पड़े हुए भी अज्ञानी जीव, उन क्षणस्थायी भोगों की लालसा में पड़े हैं, जो स्वयं नाशोन्मुख हैं।

हे मुनीश्वर! यह संसार अति विचित्र 'भूलभुलैयाँ' का खेल है, ज्ञानवान् पुरुष इसके वास्तविक रूप को जानते हुए इसकी ओर देखते भी नहीं, देखें भी क्या उनकी दृष्टि में तो जगत् का अत्यन्ताभाव है, संसारी मनुष्य इसके वास्तविक रूप को जानते हुए बाहंर की चमक-दमक़ के चकाचौंध में यह विष मिली मिठाई खाकर नाश हो रहे हैं, वे

यह नहीं जानते कि यह सांसारिक विषयों के भोग आपात रमणीय हैं अर्थात् यह विष मिली मिठाई है, अपनी मिठास में ही, खानेवालोंके प्राण हँसीखेल में ही लेकर भी, अपनी मिठास नहीं छोड़ेगी, अतः इसके इस मिथ्यारूप के धोखे में न पड़कर, आत्मदेवकी शरणमें आने का यत्न करना चाहिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणेजगद्विपर्यय वर्णनं नाम अष्टाविंशतितमः सर्गः।।२८।।

एकोदत्रिशंत्तमः सर्गः २९

अथ सर्वांतप्रतिपादन वर्णनम्

श्रीरामजी बोले हे मुनिवर! इस संसारमें विषयों के भोग एक प्रकार की अति तीव्र और विचित्र आग है, यह बाहिर नहीं दीखती, परन्तु प्रत्येक संसारीके अन्दर लगी ही रहती है, इसको शान्त करने (बुझाने) के लिये विचार का जल चाहिये। नहीं तो जैसे तालाब में हाथी का प्रवेश करने पर उसके पाओं से कमल चूर हो जाते हैं, ऐसे ही काम, क्रोध, आदि विकारों से मनुष्य के शुभगुण नष्ट हो जाते हैं, जैसे कंटकारी के पत्तों और फलों में भी काँटे हो जाते हैं, ऐसे ही मनुष्य के चित्त में विषयोंके चिन्तन द्वारा वासना रूप काँटे पैदा हो जाते हैं।

हे मुनीश्वर! यह जगत् नाशरूप है, यहाँ कोई भी वस्तु स्थिर रहने वाली नहीं है, इन्द्रियरूप अनेक ग्रन्थियों से भरे वासना रूप जाल में जीव अनन्त काल से फँसा है, महान् दुःख भोग रहा है। हे मुनिवर! वासना रूप धागे में जीवरूपी मोती पिरोये हुए हैं, मन रूप नट आकर चैतन्य रूप आत्माके गले में डालता है, वासना रूप धागे के टूट जाने से भ्रम की निवृत्ति होती है, हे मुनिवर! जीव के बन्धन का कारण भोग की इच्छा है, इसी भोगेच्छा के कारण यह नाना योनियों में भटकता फिरता है,

कहीं शान्ति नहीं मिलती, हे मुनिवर! मुझे किसी प्रकार के भोग की इच्छा नहीं है, न राज्य की, न घर की ,न नगर की, न वनकी, कोई भी इच्छा नहीं है, न मैं मरने से दुःख मानता हूँ, न जीने में सुख, मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि संसार की किसी वस्तु में सुख नहीं है, सुख की प्राप्ति तो केवल आत्मज्ञान से ही हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, जैसे सूर्य के उदय हुए बिना अन्धकार का नाश नहीं होता, ऐसे ही आत्मज्ञान के बिना संसार के दुःख का नाश नहीं होता, अतः मुझसे कोई ऐसा उपाय कहिये जिससे मेरे मोह का नाश हो और मैं सुखी हो जाऊँ।

हे मुनिवर! इस अहंकार से ही सब उपद्रव उत्पन्न होते हैं, मनुष्य की विषयों के भोगों के भोगने की इच्छा का मूल कारण अहंकार है, मैंने इस अहंकार का त्याग किया है, इसलिये मुझे भोग की इच्छा कैसे हो सकती है।

हे मुनिवर! इन विषय रूप सर्पोंने जिनका स्पर्श किया उन्हीं का नाश हुआ, साँप जिसको काटता है, उसको एकबार मार डालता है, परन्तु यह विषय रूपी सर्प जिनको काटते हैं, वे लोग अनेक जन्मों तक मरते ही चले जाते हैं, इसलिये विषयोंकी भोगोंकी लालसा परम दुःख का कारण है, यह विषय परम विष है। हे मुनिवर! वज्रसे शरीर का चूर्ण हो जाना सह्य है, परन्तु विषयोंका सम्पर्क मुझसे किसी प्रकार भी सहा न जायेगा। इस बात का मुझे दृढ़ विश्वास है, इसलिये कृपा करके मुझे कोई अवश्य ही ऐसा सुन्दर उपाय कहिये, जिससे मेरे हृदय में से अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश हो, और यदि आप मेरे बार बार विनय करने पर भी कुछ न कहेंगे, तो मैं अपनी छातीपर एक धैर्यरूपी शिला रखकर बैठा रहूँगा, परन्तु भोगकी इच्छा न करूँगा।

हे मुनिवर! संसार के यथावत् पदार्थ है सब नाशवान् हैं, बिजली के प्रकाश के समान प्रत्येक वस्तु की क्षणिक चमक है, जैसे अञ्जलिमें जल नहीं ठहरता ऐसी ही संसार का प्रत्येक सुखभोग और आयु क्षणस्थायी है, भोग की तृष्णा ही परम दुःख का मूल है, अतः मुझे किसी पदार्थ की

इच्छा नहीं, क्योंकि यह सांसारिक सुखभोग मृगतृष्णा के समान है, जैसे मरुस्थल में मृग दूर से पानी के समान चमकती हुई मरीचिकाओं को देख कर दौड़ता हुआ उस भ्रान्तिरूप जल को आगे ही आगे जानकर दौड़ता दौड़ता थक जाता है परन्तु जल की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे ही मनुष्य, इस भावना से कि सांसारिक भोगों की प्राप्ति में ही सुख है, इसलिये उनको प्राप्त करने और पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिये किये गये जी-तोड़ परिश्रम से थक कर हार जाता है, परन्तु उसे इन भोगोंमें तनिक भी सुख की उपलब्धि नहीं होती, अपितु केवल दुःख ही दुःख अनुभव होता है। इसलिये मैं किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे सर्वांत प्रतिपादनं
नाम एकोनत्रिंशत्तम सर्गः ।।२९।।

त्रिंशत्तमः सर्गः ३०

अथ वैराग्य प्रयोजन वर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनीश्वर! संसार के गड्ढे में गिरा हुआ मोह के कीच से लथपथ परमदुःखी अज्ञानी मनुष्य कभी शान्ति का मुख नहीं देख सकता, अपने यौवन के बहुमूल्य दिन, विषय सुखों की मृगतृष्णा में वृथा बिताकर और भी अधिक दुःखी और हताश होने के लिये वृद्धावस्था में प्रवेश करता है, उसका जराजीर्ण शरीर काँपता है, जैसे नीम का वृक्ष ज्यों ज्यों वृद्ध होता है, त्यों त्यों उसकी कटुता बढ़ती जाती है, उसी प्रकार वृद्ध मनुष्यों में तृष्णा का बहुत आधिक्य हो जाता है।

हे मुनिवर! जिस पुरुष ने मानव शरीर को केवल विषय सुख का साधन माना है, वह मनुष्य इतना बुद्धिहीन है कि उसने अपने आपको अनियत कला के लिये संसाररूप अन्धकूप में गिरा दिया है क्योंकि अज्ञानी का चित्त भोग का त्याग नहीं कर सकता।

हे मुनीश्वर! संसारी पदार्थों में आसक्ति करने से बुद्धि मलिन हो जाती है, उससे जगत् के नीरस और निस्सार पदार्थ भी अज्ञानी मनुष्य को रमणीय भासते हैं, जैसे पानी का गड्ढ़ा तृण से आच्छादित होता है, और अनजान मृगबालक उस तृण को रमणीय जानकर खाने जाते हैं तो गड्ढ़े में गिर जाते हैं, वैसे ही ज्ञानहीन मनुष्य भोगोंको रमणीय जानकर उनमें फँस जाते हैं और दुःख पाते हैं।

हे मुनिवर! जगत् के पदार्थों से मेरी बुद्धि चंचल हो गयी है, इसलिये वही उपाय कहो जिससे पर्वत के समान मेरी बुद्धि निश्चल हो जाय, तभी उस परम पद की प्राप्ति हो सकती है, जिसके पा लेने से संसार मिथ्या भासने लगता है और शेष कोई वस्तु प्राप्त करनें योग्य नहीं रहती, मैं उस पद से शून्य हूँ, इसीलिये मेरे मनमें शान्ति नहीं, यह संसार और संसारके काम मोह में डालने वाले हैं, इनमें पड़ा हुआ मनुष्य कभी शान्ति अनुभव नहीं कर सकता, यदि आपका यह मन्तव्य है कि जनकादिकों के समान संसार में रहते हुए और संसार के सब विहित कार्य करते हुए ही मनुष्य वास्तविक शान्ति का अनुभव कर सकता है तो मेरे लिये भी उसी प्रकार के कार्यक्रम का निर्देश किया जाये, जिससे मैं भी संसार में रहकर संसार के यथोचित कर्म करता हुआ जल में कमल के समान निर्लेप रह सकूँ।

हे मुनिवर! जनकादि राजर्षियों ने राज्य शासन जैसे विक्षेप भरे कार्य करते हुए भी संसार में जो अपने आपको निर्लेप रक्खा है या निर्लेप कहा है, वह मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई कीच से लथपथ हो और कहे कि मुझको कीच का स्पर्श भी नहीं हुआ, अर्थात् चित्तके परम विक्षेपदायक राज्यकार्यों में मग्न रहने वाले राजर्षियों का इस प्रकार शान्त चित्त और निर्लेप रहना मुझे संभव नहीं जान पड़ता, अतः कृपया इस विषय पर प्रकाश डाल कर मेरा सन्देह दूर किया जाय।

हे मुनिवर! आप जैसे सन्त जनोंका जीवन अतिपवित्र और अत्यन्त विचित्र है कि संसार के सकल व्यवहारों की पूर्ति के लिये आप लोग

शारीरिक सब चेष्टायें करते हुए भी अपने आपमें अक्षुब्ध और निर्लेप रहते हैं, परन्तु मैं अति विस्मित हो कर आपसे यह जानने के लिये प्रार्थना करता हूँ कि वह कौनसी अति विलक्षण युक्ति है जिसके द्वारा जगत् के महान् से महान् उत्तरदायित्व भरे कर्म करने पर भी राग द्वेष तथा कामादि प्रबल विकार मनुष्यके अन्तःकरण को क्षुब्ध नहीं कर सकते। जैसे हस्ती तालमें प्रविष्ट होकर उसके पानी को तत्काल मलिन कर देता है, उसी प्रकार मोह मातंग की भयंकर तथा हिंसक चिघाड़ोंभरे मानरूप आश्रम में निवास करनेवाली बुद्धि आदि सात्विक वृत्तियों का क्षुब्ध हो जाना असंभव नहीं।

हे मुनिवर! यह संसाररूपी विषूचिका (हैजा) की कष्टसाध्य बीमारी मुझे लगी है, मैं अति दुःखी हूँ, इसका उपाय कहिये, यह रोग बुद्धि की मलिनता से होता है, जैसे बादल से चन्द्रमा के आच्छादित हो जानेपर जगत् में अन्धकार हो जाता है,ऐसे ही बुद्धिकी मलिनता से मैं आच्छादित हुआ हूँ, अतः वही उपाय कहिये जिससे यह महादुःखदायक आवरण दूर हो, और उस आत्मानन्द की प्राप्ति हो, जिसको पा लेने पर कुछ प्राप्रव्य शेष नहीं रहता, जन्मजन्मान्तरों के सब संकट मिट जाते हैं, जिससे संशय कट जाते हैं, आत्मज्ञानकी अग्नि से सब कर्म भस्म हो जाते हैं, जन्मजन्मकी अन्तःकरण ग्रन्थियाँ अनायास खुल जाती हैं, तथा अनन्त जन्मोंका अन्तःसन्ताप निर्मूल होजाता है, अन्तःकरण अनन्तशीतलता और परमानन्द का अनुभव करता है, हे मुनिवर! ऐसे आत्मज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा का मेरे हृदय में अतिशीघ्रही उदय हो ऐसा उपाय कहिये, जिसके प्रकाश से मेरी बुद्धिरूपी कुमुदिनी खिल जाय, तथा जिसकी अमृतरूप किरणों से मेरी मनोवृत्ति तृप्त हो जाय, हे मुनिवर! मेरी घरमें रहने या वनमें रहने की इच्छा नहीं, मुझे केवल आत्मपद प्राप्त करनेकी इच्छा है, जिसके पाने से सच्ची शान्ति प्राप्त हो जाय।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे वैराग्यप्रयोजनवर्णनं नाम त्रिंशत्तमः सर्गः ।।३०।।

एकत्रिंशमः सर्गः ३१

अथ अनन्यत्यागवर्णनम् ।

श्रीरामजी बोले—हे मुनिवर! जीवनकी नित्यतापर विश्वास रखनेवाले लोग मूर्ख हैं, जैसे पत्ते पर जलकी बूँद अधिक देर नहीं ठहरती किंचिन्मात्र हिली कि लुढ़क गयी, ऐसे ही मनुष्य जीवन भी क्षण भंगुर है, जैसे वर्षाकाल में दर्दुर (मेंढ़क) जब बहुत शीघ्रतासे बोलते हैं तो उनका चंचल कंठ सदा फड़कताही रहता है, इसी प्रकार यह चंचल जीवन श्वास प्रश्वास के रूप में हर समय भागता ही द्रष्टिगोचर होता है, जैसे शिवजीके मस्तक पर चन्द्रमा की अतिसूक्ष्म जैसी रेखा है ऐसे ही यह अकिंचन जैसा शरीर है, हे मुनिवर! जिसको इसमें आस्था है उसको मूर्ख नहीं तो क्या कहें, यह शरीर कालका ग्रास है, जैसे—बिल्ली चूहे को क्षणभर में अचानक पकड़ लेती है सँभलने का समय नहीं देती, इसी प्रकार काल मनुष्य को जिस किसी भी दशामें अकस्मात् आकर पकड़ लेता है, उसके आगमन का लक्षण कुछ मालूम नहीं पड़ता।

हे मुनीश्वर! जब अज्ञानरूप बादल गरजता है, तब लोभरूप मोर प्रसन्न होकर नाचता है, और जब वही बरसता है तो दुःख रूपी मंजरी बढ़ने लगती है, सुखाशारूप बिजली चमक कर छिप जाती है, तृष्णारूप जालमें फँसे हुए जीवरूपी पक्षी पड़े दुःख पाते हैं, शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

हे मुनिवर! यह जगत्भ्रम भी एक महान् रोग है, आप कोई ऐसा उत्तम उपाय कहें जो इस रोग को निर्मूल करने में अचूक औषधिरूप हो, जिसके यथावत् सेवन करने से मनुष्य का यह रोग निवृत हो सके इसके ही कारण से यह जगत् मूर्खको रमणीय मालूम पड़ता है, ज्ञानवान् को पृथ्वी, आकाश देवलोक और पाताल में भी कोई पदार्थ रमणीय नहीं भासता, वह तो सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को मिथ्या और भ्रमरूप देखता है, इसलिये आपसे मैं सविनय प्रार्थना करता हूँ कि इस भयंकर व्याधिसे सर्वसाधारण को भी जिससे मुक्ति मिल सके ऐसा कोई दिव्य औषध

प्रदान करने का महान् उपकार करने की कृपा कीजिये, मुझे पूर्ण आशा है कि आप मेरी इस प्रार्थना को सफल करके मुझे अवश्य ही अनुगृहीत करेंगे। हे मुनिवर! किसी भी वस्तु की यथार्थ शोभा उसके वास्तविक (शुद्ध) स्वरूप से ही होती है, जैसे घनाच्छन्न सूर्य, निष्प्रभ मालूम पड़ता है परन्तु वास्तव में सूर्य निष्प्रभ नहीं है, इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य को जो अपना आप बन्धन में पड़ा प्रतीत होता है, वही उसका नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप आत्मा है।

हे मुनिवर! चित्त अतिचंचल है, कभी स्थिर नहीं होता, सदा विषयोंकी ओर दौड़ता है, जैसे आगमें डाला हुआ पारा उड़जाता है इसी प्रकार विषयों के योगसे चित्तमें चंचलता आती है, अतः मुझे इसको स्थिर कर सकने का कोई उपाय कहिये। इस संसार रूप गहन वनमें रहनेवाले भोगरूप सर्पों से जीव डँसे जा रहे हैं इनसे बचनेका उपाय कहिये, संसार का सब व्यवहार रागद्वेष भरे अन्तःकरण से हो रहा है, जो कि परिणाम में परम दुःख रूप है, अतः राग द्वेषँ से रहित इन्द्रियों द्वारा कर्म हुआ करें ऐसा उपाय वर्णन भी परमावश्यक है, हे मुनिवर! यह मनकी सत्ता जिस युक्ति से नाश हो जाय वह युक्ति कहिये, इससे पहिले यदि किसीका मनोनाश हुआ तो किस युक्ति अथवा यत्नसे हुआ, यह सब कुछ मेरे लिये कृपा करके कहिये तथा साथ ही इस बात के वर्णन करनेका भी मुझपर अवश्य अनुग्रह कीजिये कि आपको यह परमशान्ति किस प्रकार प्राप्त हुई, क्योंकि आपकी उपस्थितिमें यदि अतिउत्तम मुक्तिप्रदा युक्ति की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर कब होगी। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मुझे जबतक उक्त 'युक्ति' प्राप्त न होगी तब तक मैं सब कुछ त्यागकर निरहंकार रहूंगा, तबतक भोजन भी न करूँगा, सम्पत्ति अथवा विपत्ति लानेवाले कोई भी कार्य न करूँगा, यह न मेरा देह है न मैं देह हूँ, सब कुछ त्याग करके बैठा रहूँगा, जैसे कागजपर मूर्ति चित्रित होती है ऐसा निश्चेष्ट हो जाऊँगा, श्वास आते-जाते स्वयं क्षीण हो जायँगे। जैसे तेल के बिना दीपक शान्त होजाता है, ऐसे ही बिना आधार के शरीर शान्त होजायगा, तब मैं महाशान्ति प्राप्त करूँगा। श्री

बाल्मीकिजी बोले– हे भरद्वाज! इतना कहकर श्रीरामजी चुप हो गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे अनन्यत्यागदर्शनं नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥३१॥

द्वात्रिन्शत्तमः सर्गः ३२

अथ देवसमाजवर्णनम् ।

बाल्मीकि मुनि बोले–हे पुत्र! रघुवंशी आकाशके पूर्णचन्द्र श्रीरामचन्द्रजी के इस प्रकार के अनन्यत्याग भरे अमृत वचन सुनकर महाराजा दशरथकी उस विशाल सभामें जहाँ कि बसिष्ठ, बिश्वामित्र, वामदेव आदि महर्षि, अनेक मंडलेश्वर, मंत्रीवर्ग, तथा अन्य अनेक विद्वान् लोग, कौशल्यादि माताएँ सेवकसमुदाय, और नगर के सुप्रतिष्ठित सज्जन विराजमान थे, एकदम सन्नाटा छागया, सारी की सारी सभा चित्रलिखित सी होगयी। श्रीरामचन्द्र महाराज के अद्भुत रहस्य भरे, व्यापक सिद्धान्त वचनोंके अमोघ प्रभावसे और तो और, पञ्जरवर्ती पक्षिसमुदाय भी समाधिस्थ होगया, यथास्थान बंधे हुए पशुवर्ग से तृण चारा आदि छूट गया, और आकाश की ओर लक्ष किये हुए सबकी टकटकी बँध गयी, आकाश से देव, सिद्ध, गंधर्व, विद्याधर, किन्नर आदि पुष्पवृष्टि करने लगे, वहाँ के परम सात्विकता भरे वातावरण में चारों ओर जय जय और नमोनमः की मंगल ध्वनि सुनने में आने लगी। देवगण बोले–हे कमलनयन श्रीरामजी! आप धन्य हैं, आपकी महिमा अपार है, आपके अनुभवी वचनोंने तो हमारे देवत्वके अभिमान को दूर कर दिया है, आपके अमृतमय वचन सुनकर हमारी बुद्धि संशय समूहको पार करके परमानन्द–प्रद रस का अनुभव कर रही है, हे श्रीरामजी आपके इन वचनोंके समान वचन तो बृहस्पति भी नहीं कह सकते, अतः आप धन्य हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे देवसमाजवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमः सर्गः॥३२॥

त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ३३

अथ मुनिसमाजवर्णनम् ।

श्री वाल्मीकि मुनि बोले– हे भरद्वाज! देवगण यह वचन कहकर विचार करने लगे कि महाराजा रघुका वंश, पूजनीय है, जिसमें श्रीरामजी ने इतने मुनीश्वरों के विराजमान होते हुए, ऐसे उदार वचन कहे हैं जिनके श्रवण करने से देवता, गन्धर्व, किन्नर तथा ऋषि मुनि और मनुष्य तो प्रसन्न हुए, पक्षियों ने भी परमानन्द का अनुभव किया। जब श्रीरामजीके वचनोंके उत्तर में मुनीश्वर क्या कहते हैं वह भी सुनना चाहिये। इसके अनन्तर देखते-देखते सुन्दर सुगन्धितर मकरन्दलोलुप पुष्पों पर जैसे भ्रमर आकर विराजते हैं, ऐसे ही उस विशाल सभामें व्यास, नारद, पुलह, पुलस्त्य, आदि मुनिवर आकर विराजमान होगये, जब वसिष्ठ विश्वामित्रादि मुनीश्वरोंने उनका अभ्युत्थान आदि से स्वागत औरविधिपूर्वक अर्चन करके उन्हें यथोचित आसनोंपर आसीन किया। उनकी तेजस्वी विलक्षण मूर्तियोंका देवतालोग वर्णन करने लगे, श्रीनारदजीकी मूर्ति बहुत सुन्दर है, हाथों में ली हुई वीणा से तो बहुत ही शोभायमान हो रहे हैं।

मुनिवर श्रीव्यासदेव भी वहां आकर विराजमान हुए, इनका शरीर लम्बा और श्याममूर्ति है, ज्ञानके निधान हैं, इसी प्रकार ज्ञानके पुञ्ज, ऋषिदुर्वासा, वामदेव, वृहस्पतिके पिता अंगिरा, भृगु, बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि, और देवता, मुनीश्वर, उस सभाकी शोभा बढ़ा रहे थे, मैं भी उस समय वहीं था, उन महात्माओं की वेशभूषा भिन्न-भिन्न थी, किसीके सिरपर लम्बी लम्बी जटाएं थीं, कोई मुकुट पहिने हुए था, किसी के कंठ में रूद्राक्षकी माला थी, दूसरा मोतियों तथा रत्नों की माला पहिरे था, कोई महात्मा हाथमें कमंडल और बगलमें मृगछाला दबाये था। स्वभाव से भी कोई सात्विक तथा कोई राजस्वभाव के जान पड़ते थे, परन्तु वे सब महात्मा वेद-विद्याओंके भंडार, तपश्चर्या के

मूर्तिमान्, स्वरूप थे, उन सब ऋषि-महर्षियों ने श्री रामचन्द्रजी की बहुत प्रशंसा की, और वे श्रीरामजीकी इस जिज्ञासा तथा वैराग्य भावना को देखकर बहुत प्रसन्न हुए, विशेष कर नारदजीने सभामें श्रीरामजीको सम्बोधित करते हुए कहा–हे रामजी आप धन्य हैं, आपके वचन विवेक और वैराग्य से पूर्ण अतिप्रशंसनीय है, संसार का कल्याण करनेवाले हैं, आपके हृदय की विशाल उदारतासे मालूम पड़ता है कि आप समस्त विश्वको उस समब्रह्मके रूपमें आनन्दमय देखना चाहते हैं, आपके वचनोंसे महावाक्य का अर्थ प्रकट होता है, संसार में मनुष्य वही है जिसको त्रिविध दुःखरूप संसार से मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है, ऐसे आत्मजिज्ञासु मनुष्य संसार में विरले होते हैं, मनुष्यतो संसार में अनेक हैं परन्तु वे यदि आत्मजिज्ञासा से शून्य हैं तो निरे पशु हैं, जैसे संसार में वृक्ष तो बहुत हैं परन्तु चन्दनका वृक्ष कोई कोई होता है, ऐसे ही शरीरधारी तो बहुत हैं परन्तु अज्ञानान्धकार से निकलनेकी इच्छा वाला पुरुषार्थी पुरुष कोई विरला होता है, जैसे हाथी तो अनेक हैं परन्तु जिसके माथे से मोती मिलता है वह कोई विरला ही होता है, आत्मज्ञान का पात्र मनुष्य ही भाग्यवान् है जिसने संसार में जन्म ही इस लिये लिया है कि मेरा पुनर्जन्म न हो, ऐसा बुद्धिमान मनुष्य तो गुरुमुख से प्राप्त हुए संक्षिप्त तत्त्वोपदेशको भी अपने बुद्धि विवेक बलसे विशदरूपसे ग्रहण करता है, हे रामजी! आपकी विशेष बुद्धि आत्मज्ञानकी पूर्णअधिकारिणी है, केवल संकेतमात्र से आप को आत्म साक्षात्कार होगा, और अभी हम लोगों के विद्यमान होते ही होगा और अति शीघ्र होगा, ऐसा आप निश्चितरूप जानिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणे मुनिसमाज वर्णन नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः।।३३।।

इति श्रीयोगवासिष्ठे वैराग्यप्रकरणं समाप्तम् ।

ॐ

परमात्मने नमः ।

अथ श्रीयोगवासिष्ठे

मुमुक्षुप्रकरणप्रारंभः ॥२॥

प्रथमः सर्गः १

अथ शुकनिर्वाणवर्णनम्।

वाल्मीकि बोले–हे महापुरुषो! यह वचन परमानन्द रूप हैं, कल्याणकारी हैं, जन्मजन्मान्तर के पुण्यों का उदय होने से इन वचनों के सुनने का समय मिलता है और फिर इनके सुनने की प्रेमसहित तीव्र इच्छा का होना तो अत्यन्त ही ऊँचे भाग्य का फल है, जैसे कल्प–वृक्ष का फल बड़े पुण्यों से किसी विरले ही भाग्यवान् को मिलता है, ऐसेही इन वचनोंके विषयमें जानिये, यह वचन आत्मज्ञान के कारण हैं, हे भरद्वाज! इस प्रकार जब नारदजी ने कहा तब विश्वामित्र बोले हे रामजी! आप ज्ञानवानों में श्रेष्ठ हैं जो कुछ जानने योग्य तत्व है वह सब तुमने जान लिया है, अब आपके लिये कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहा, केवल उस जाने हुए तत्वमें ही कुछ परिष्करण की आवश्यकता है विश्राम पाने के लिये उसी को परमार्जित करना है? जैसे मलिन (अशुद्ध) आदर्श की मलिनता दूर करदी जाए, तब उसमें मुख आदि का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतिभासित होता है, इसलिये उस स्पष्टता के अर्थ ही आपको यत्किंचित् उपदेश की आवश्यकता है, हे रामचन्द्रजी! आपके समान ही व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी थे, वह भी परम मेधावी थे, उन्होंने भी ज्ञेय वस्तु को तो जान लिया था परन्तु उन्हें भी उसमें विश्राम पाने के लिये कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्रीव्यास महाराज द्वारा हुई और शुकदेवजी स्वरूपस्थित हुए।

श्रीरामजी बोले—भगवन्! शुकदेवजी की बुद्धिमत्ता और ज्ञानवत्ता के विषय में जानना चाहता हूँ, उनको अपनी आत्मज्ञानसम्बन्धी ऊनता को पूर्ण करने के लिये किस सामग्री की आवश्यकता थी और उनको किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हुई कृपा करके कहिये। श्रीविश्वामित्र बोले-हे रामजी! अंजन के पर्वत समान शरीरवाले श्रीव्यासभगवान् महाराजा दशरथ के पास स्वर्णसिंहासन पर विराज रहे थे उनके पुत्र श्री शुकदेवजी भी सब शास्त्रों के ज्ञाता सत्यासत्यके स्वरूप को यथावत् जानने वाले वहीं विराजमान थे। यद्यपि शुकदेवजी ज्ञातज्ञेय थे तथापि उनको स्वरूप स्थितिमें पूर्णरूप से विश्राम प्राप्त नहीं था, उनके मनमें विकल्प उठा कि मैंने जो कुछ जाना है वह यथार्थ नहीं जाना है क्योंकि तभी तो मुझे परमानन्द का अनुभव नहीं हो रहा, ऐसे संशय में पड़कर उन्होंने एक समय सुमेरु पर्वत की कन्दरा में बैठे हुए श्रीव्यास भगवान् के पास जाकर कहा—भगवन्! यह भ्रमात्मक संसार कहाँ से उत्पन्न हुआ, इसकी निवृत्ति कैसे होगी, और इससे पूर्व किसीको निवृत्ति का अनुभव हुआ है?

हे रामजी! जब शुकदेबजीने इस प्रकार कहा तब भगवान् व्यास उन्हें उपदेश देने लगे, परन्तु शुकदेवजी ने उनकी बातें सुनकर कहा—हे भगवन्! आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब कुछ मैं जानता हूँ, इससे मुझे शान्ति प्राप्ति न होगी।

हे रामजी! जब इस प्रकार शुकदेवजी ने कहा तब व्यासदेवजी विचार करने लगे कि मेरे वचनों से इसे शान्ति लाभ नहीं होगा। क्योंकि बीच में पिता और पुत्र का सम्बन्ध बाधक हो रहा है, यह विचार कर उन्होंने कहा—हे पुत्र! मैं सर्वतत्वज्ञ नहीं हूँ, तुम महाराजा जनक के पास जाओ, वे सर्व तत्वज्ञ हैं, शान्तात्मा हैं, उनसे तुम्हारा मोह निवृत्त होगा।

हे रामजी! व्यासजीके यह वचन सुनकर शुकदेवजी महराजा जनक की नगरी मिथिला की ओर चल पड़े, मिथिला में पहुँचकर महाराजा

जनक के द्वार पर जा खड़े हो गये, द्वार सेवक ने उनके आने की सूचना महाराजा जनक को दी कि महाराज! व्यासदेवजी के पुत्र शुकदेवजी द्वार पर खड़े हैं, महाराजा जनक के उनकी जिज्ञासा देखने केलिये सेवक द्वारा उन्हें खड़े रहने के लिये कह भेजा, श्रीशुकदेवजी राजाज्ञा के अनुसार सात दिन तक द्वार पर खड़े रहे, राजाने द्वार सेवक को आज्ञा दी कि देखो तो शुकदेवजी खड़े हैं कि चले गये हैं, उत्तर मिला वे खड़े हैं, राजा ने कहा आगे ले आओ, आगे के दरवाजे पर भी सात दिन तक खड़े रहने के बाद राजा की आज्ञा हुई कि उन्हें अन्तःपुर में ले जाकर सुख-साधनों द्वारा प्रसन्नतापूर्वक रक्खा जाये, ऐसी राजाज्ञा होने पर शुकदेवजी को राजसेवक अन्तःपुर में ले गये, वहाँ अन्तःपुर की स्त्रियोंमें, राजसी भोग सामग्री की विद्यमानता में भी जब शुकदेव जी एक सप्ताह रहे, तो राजाने सेवकों से फिर पूछा कि शुकदेवजी की इस समय कैसी दशा है और इससे पहिले कैसी थी, तब सेवकों ने कहा—महाराज! ऐसा प्रतीत होता है कि,उन्होंने सात दिन तक बाहिर खड़े रहने से कोई निरादर नहीं माना, और अब अन्तःपुरके साप्ताहिक निवास से कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं की वह दोनों दशाओं में समान रहे हैं, जैसे मन्द पवन से मेरु पर्वत विचलित नहीं हो सकता, ऐसेही यह महात्मा इन राजभोगों से विचलित नहीं हुए, जैसे चातक को मेघ के स्वातिबिन्दु बिना, कूप, तालाब, नदी आदि किसी के भी पाने की इच्छा नहीं होती, ऐसेही शुकदेवजी को किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है, राजा नें सुनकर उन्हें अब अपने पास ले आने की आज्ञा दी, तदनुसार सेवक लोग शुकदेवजी को महाराजा जनकके दरबार में ले गये, जब शुकदेवजी आये तब राजा जनकने खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया और सादर बैठाया, और स्वयं भी बैठ गये, तब राजा ने पूछा हे मुनिवर! आप किस निमित्त से आये हैं, आप की क्या इच्छा है? आज्ञा कीजिये! क्या सेवा करूँ, श्रीशुकदेवजी बोले—हे गुरुवर! यह संसार का आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ और किस प्रकार शान्त हो, यह आपसे सुनना चाहता हूँ।

विश्वामित्र बोले–हे रामजी! शुकदेवजी का यह प्रश्न सुनकर राजा जनक ने शास्त्र के अनुसार उन्हें यथार्थ उत्तर दिया परन्तु वही कहा, जो कि उन्हें इससे पहिले व्यासजी ने कहा था, श्रीशुकदेवजी बोले–हे भगवन्, जो कुछ आप कहते हैं वही मेरे पिताजी कहते थे और शास्त्र भी यही कहता है, तथा विचार से भी ऐसा ही जानता हूँ, कि यह संसार चित्त से उत्पन्न होता है और चित्त में निर्वेद होने से भ्रम की निवृत्ति हो जाती है तो भी मुझे विश्राम प्राप्त नहीं होता।

राजा जनक बोले–हे मुनिवर! जो कुछ मैंने कहा है और जो तुम जानते हो इससे अन्य कोई उपाय नहीं, यह संसार चित्तके स्फुरण से हुआ है जब चित्त,स्फुरण से रहित होता है, तब भ्रम निवृत्त हो जाता हैं। आत्मतत्व नित्य शुद्ध है, और परमानन्दस्वरूप केवल चैतन्य है, उसी आत्मरूपका अभ्यास करने से आपको विश्राम की प्राप्ति होगी, आप मुक्तिस्वरूप हैं, क्योंकि अर्न्तमुख हैं आपका यत्न आत्माकी ओर अधिक है, दृश्य की ओर नहीं, अतएव आप परम उदारात्मा हैं, हे मुनिवर! आप मुझको व्यासजी से अधिक जानकर मेरे पास आये हैं और मैं कहता हूँ आप मुझसे भी अधिक हैं, क्योंकि आपमें अन्तर्मुखता अधिक है और हमारे अन्दर बहिर्मुखता।

विश्वामित्रजी बोले–हे रामजी! जब राजा जनक ने इस प्रकार कहा, तब शुकदेवजी निःसङ्ग निष्प्रयत्न और निर्भय होकर चले, सुमेरु पर्वत की कन्दरा में दस हजार वर्ष पर्यन्त समाधिस्थ रहकर निर्वाण पद को प्राप्त हुए, जैसे तेल के बिना दीपक निर्वाण हो जाता है जैसे बूँद समुद्र में लीन हो जाती है, जैसे सूर्यका प्रकाश संध्याकालमें सूर्य में लीन हो जाता है, ऐसे ही कलनारूप कलंक को त्यागकर ब्रह्मपद को प्राप्त हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे शुकनिर्वाणवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ।।१।।

द्वितीयः सर्गः २

अथ विश्वामित्रोपदेशवर्णनम् ।

श्री विश्वामित्रजी बोले–हे राजा दशरथ! जैसे शुकदेवजी शुद्धान्तःकरण थे ऐसे ही रामजी भी हैं, जैसे शान्ति के लिये शुकदेवजी को कुछ मार्जन की आवश्यकता थी, ऐसे ही रामजी को भी किंचित् मार्जन की आवश्यकता है, क्योंकि आवरण करनेवाले भोग हैं, रामचन्द्रजी की भोगेच्छा तो पूर्ण रूप से निवृत्त हो चुकी है, और जानने योग्य वस्तु को भी उन्होंने यथावत् जान लिया है, अब हम किसी युक्ति द्वारा उनको कृतकत्य करना चाहते हैं!

हे राजन्! अब रामजीको भोग की इच्छा स्पर्श नहीं करती, जैसे ज्ञानवान् को आध्यात्मिकादि दुःख स्पर्श नहीं करते, ऐसे ही रामजी को भोग की इच्छा स्पर्श नहीं करती, भोगोंकी इच्छा ही सबको दीन करती है, इसी का नाम बन्धन है, भोग वासना के क्षय करने का नाम ही मोक्ष है, यह मनुष्य ज्यों ज्यों लघु होता जाता है, और जैसे जैसे भोग वासना का नाश होता है, वैसे ही यह महान् होता जाता है, लघु अथवा महान् बनने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अनात्मसेवी होकर अपना पतन करता है और आत्मनिष्ठ होकर स्वरूपसाक्षात्कार से परमानन्दरूप हो जाता है, आत्मप्रकाश के बिना विषय वासना का निर्मूल नाश नहीं होता, आत्मानंद की प्राप्ति हो जाने पर विषय वासना निर्जीव हो जाती है, जैसे मरुस्थल में लता की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे ही ज्ञानवान् में विषय वासना की उत्पत्ति नहीं होती।

हे साधो! ज्ञानवान्, जो विषयभोग का त्याग करता है, किसी फलकी इच्छा को लेकर नहीं करता, ज्ञानवान् की विषय वासना स्वभाव से ही निवृत्त हो जाती है, जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का अभाव हो जाता है, ऐसे ही रामजी को अब किसी भोग पदार्थ की इच्छा नहीं रही, अब वे विदितवेद्य हुए हैं और आत्मरूप में विश्राम (परमशान्ति) चाहते हैं।

हे राजन्! यह काम भगवान् वसिष्ठजी द्वारा होने के योग्य है, रामजी उनकी युक्ति द्वारा पूर्णविश्राम प्राप्त करेंगे, यही रघुवंश के कुलगुरु हैं,इनके उपदेश द्वारा अनेक रघुवंशी ज्ञानवान् हुए हैं, ये सर्वज्ञ हैं, साक्षीरूप हैं, त्रिकालज्ञ हैं, ज्ञानके सूर्य हैं, इनके उपदेशों से रामजी अवश्य ही आत्मपद में अटल अचल स्थिति प्राप्त करेंगे।

हे वसिष्ठजी! आप ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, आपको स्मरण होगा, जब हमारा और आपका विरोध था,तब महर्षि सेवित घने वृक्षों से भरे हुए मन्दराचल पर्वत पर संसार वासना के नाशार्थ, और हम दोनोंका विरोध मिटाने के लिये तथा जीवके विशेष कल्याणार्थ भगवान् ब्रह्मा ने आकर जो उपदेश किया था, रामचन्द्रजी को आप वही उपदेश करें, ये परम शुद्धान्तःकरण अधिकारी हैं और शुद्ध पात्रमें अर्पण किया हुआ ही उपदेश सफल होता है, पात्रके बिना उपदेश नहीं सुहाता जिसमें शिष्य भाव ही न हो और न वैराग्य हो, ऐसे अपात्र मूर्ख को उपदेश करना व्यर्थ है, और जो विरक्त हो परन्तु उसमें शिष्यभावना न हो वह भी उपद्देश का अधिकारी नहीं, जैसे गौका दूध परम पवित्र वस्तु है,परन्तु श्वानकी त्वचामें डालिये तब अपवित्र हो जाता है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान जैसे सर्वोत्तम अमृतको अपात्र के मलिन अन्तःकरण में डालना व्यर्थ है, हे मुनीश्वर! आप जैसे उदारात्मा वीतराग क्रोध भयरहित परमशान्त महात्माओंके उपदेशका पात्र कोई वैराग्यवान् निर्मल अन्तःकरणवाला ही व्यक्ति हो सकता है तो ऐसे ही पात्ररत्न रामजी हैं।

वाल्मीकि मुनि बोले–इस प्रकार जब विश्वामित्र ने कहा तब नारद व्यासादि तथा महाराजा दशरथ की सभामें बैठे हुए अन्य सन्त महात्माओं ने उनके बचनोंका साधुवाद से स्वागत किया।

वसिष्ठ मुनि बोले–हे मुनीश्वर आपकी आज्ञा हमें शिरोधार्य है, आप जैसे महापुरुषोंकी आज्ञा को टाल देने की किसमें सामर्थ्य है, हे मुनिवर! महाराजा दशरथ के सब राजकुमारों के हृदयों में जो अज्ञानान्धकार हैं, उसको मैं ज्ञानसूर्य के प्रखर प्रताप से अतिशीघ्र निर्मूल कर दूंगा, हे मुनीन्द्र! भगवान् ब्रह्मा का किया हुआ उपदेश अखंडरूप से

मेरे स्मरण में है, मैं वही उपदेश करूँगा जिससे रामजी निस्संशयपद को प्राप्त होंगे।

वाल्मीकि बोले– इस प्रकार विश्वामित्रजी से कहकर वसिष्ठजी ने रामजी को मोक्षोपाय कहना प्रारम्भ किया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे विश्वामित्रोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः।।२।।

तृतीयः सर्गः ३

अथ असंख्य सृष्टि प्रतिपादन वर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठ बोले– हेरामजी! भगवान् ब्रह्मा ने जो मुझे जीवके परमकल्याणार्थ उपदेश किया है वह पूर्णरूप से मेरे स्मरण में है, मैं तुम्हें यथावत् कहता हूँ।

श्रीरामजी बोले–भगवन्! अब कुछ प्रश्न करने का अवसर आया है, मेरे मनमें एक संशय है उसे दूर कीजिये, मोक्षका उपाय तो आप कहेंगे, परन्तु पहिले इस बात का उत्तर दीजिये, जो आपने कहा शुकदेवजी विदेह मुक्त हो गये, भगवान् व्यासदेव जो कि सर्वज्ञ थे वे विदेह क्यों न हुए।

वसिष्ठजी बोले– हे राजन्! जैसे सूर्यकी किरणों से त्रसरेणु उड़ते दीखते हैं, उन की कुछ संख्या नहीं होती, ऐसे ही सूर्यके भी भासक उस परम सूर्यके संवेदनरूप किरणों से त्रिलोकी रूप असंख्य त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं और भविष्य में भी उस ब्रह्म समुद्र में अनन्त त्रिलोकीरूप त्रसरेणु उत्पन्न होंगे, उनकी कोई संख्या नहीं।

श्रीरामजी बोले– हे भगवन्! जो बीत चुके हैं और जो आगे होनेवाले हैं उनकी संख्या कितनी है, वर्तमान की तो हम जानते हैं।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! अनन्त कोटि त्रिलोकी के कण उत्पन्न होते हैं, और मिट जाते हैं, होते रहेंगे, असंख्य हैं अर्थात् संख्यातीत हैं, असंख्य जीवों में भी जीव जीवके प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है। नाना प्रकार की वासनाओं के अनुसार अपनी-अपनी सृष्टि भासती है, जीवन

और मृत्यु का क्रम यथावत् चलता रहता है, तदनुसार सृ में भी परिवर्तन होता ही रहता है। इस प्रकार जब एक जीव की सृष्टि होती और मिटती रहती है उसकी संख्या कोई नहीं, तब ब्रह्मा की सृष्टि की संख्या कैसे हो सकती है।

हे रामजी! जैसे मनुष्य जब आँखको घुमाकर देखने लगता है तब उसे सब पदार्थ घूमते दृष्टि आते हैं, जैसे नाव में बैठे हुए को नदी तटके वृक्ष चलते दृष्टि आते हैं, जैसे दृष्टि के दोष से आकाश में मोतियोंकी माला नजर आती है, जैसे स्वप्न में सृष्टि भासती है, इसी प्रकार जीवको भ्रम से लोक परलोक भासता है, वास्तवमें जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ, एक अद्वैत परमात्मतत्व अपने आपमें स्थित है, उसमें अविद्या से द्वैतभ्रम भासता है, जैसे बालक को अपनी प्रतिछायामें बैताल भासता है, उससे डरता है, ऐसेही अज्ञानी को अपनी कल्पना ही जगतरूप हो भासती है।

हे रामजी! यह व्यासदेव बत्तीस बार मेरे देखने में आये हैं, उनमें इनके दसरूपों में समानता है, एक जैसी ही क्रिया और एक जैसे ही विचार हैं। और दसरूप भी समान हुए हैं, कुछ विलक्षण आकार और भिन्न क्रिया चेष्टावाले भी हुए हैं जैसे समुद्रमें तरंग उत्पन्न होते हैं, उनमें कई सम और कई विलक्षण होते हैं, ऐसे ही व्यासजी हुए हैं, और सम जो दश हुए हैं यह व्यास उन्हीं में से हैं, इससे आगे भी आठ बार यही होंगे, और फिर महाभारत कहेंगे, तथा नवम बार ब्रह्मा होकर विदेह मुक्त होंगे। हम भी होंगे और बाल्मीकि भी होंगे, और भृगु भी, बृहस्पतिके पिता अंगिरा भी होंगे।

हे रामजी! एक सम होते हैं एक विलक्षण होते हैं, और मनुष्य, देवता, तिर्यगादिक जीव कई वेर समान होते हैं, कई वेर विलक्षण होते हैं, कई जीव समान आकार पहिले से कुछ क्रिया सहित होते हैं, और संकल्प से उठते फिरते हैं। यह आना जाना जीना, मरना स्वप्न के समान है, वास्तवमें न कोई आता है न जाता है, न जन्मता है न मरता है, यह भ्रम अज्ञान से भासता है, विचार करने से निश्शेष हो जाता है, जैसे

कदली का स्तंभ देखने में बड़ा पुष्ट होता है, परन्तु ज्यों ज्यों उसे छीलते जाओ छाल ही निकलेगा, ऐसेही जगत् भ्रम अविचारसे सिद्ध है, विचार करने पर इसका नितान्त अभाव हो जाता है।

हे रामजी! जो पुरुष आत्मसत्ता में जागा है जो स्वरूपस्थित है, उसके अन्तःकरण में संसार का अत्यन्ताभाव है वह ज्ञातज्ञेय महात्मा ब्रह्मरूप हुआ है, उसके लिये अन्दर बाहिर, इधर उधर पीछे एक आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।

हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मसाक्षात्कार हुआ है उसको द्वैत भ्रम नहीं भासता, वह आत्मदर्शी सदा शान्तात्मा परमानन्द स्वरूप है, ऐसे जीवन्मुक्त को कोई विचलित नहीं कर सकता। इस कोटिके ज्ञानवान् श्रीभगवान् व्यास देवजी की सदेह मुक्ति और विदेहमुक्ति के विषयमें स्थिति सदा अद्वैतरूप है, हे रामजी! जीवन्मुक्त को सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच अपना स्वरूप (अपनाही आप) भासता है, वह सर्वात्मभाव में परिपूर्ण है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे असंख्यसृष्टिप्रतिपादनो नाम तृतीयः सर्गः।।३।।

चतुर्थः सर्गः४

अथ पुरुषार्थोपक्रमवर्णनम्।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें भेद कुछ नहीं, जैसे जल स्थिर है तो भी जल है, और तरंगरूप है तो भी जल है, ऐसे ही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें भेद कुछ नहीं। हे रामजी! जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्तिका अनुभव तुम्हें प्रत्यक्ष नहीं भासता, क्योंकि स्वसंवेद्य में जो भेद भासता है तो असम्यग्दर्शी को भासता है ज्ञानवान् को कुछ भेद नहीं भासता, जैसे वायु स्पंदरूप है तो भी वायु है निष्पंद रूप है तो भी वायु है। इसलिये इस बात में किंचिन्मात्र संशय नहीं कि ज्ञानवान् को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में भेद कुछ नहीं, वह सदा अद्वैत कलना से रहित है।

हे रामजी! अब आप प्रकृतप्रसंग को सुनिये! जो कि श्रवण का भूषण है, जो कुछ भी कार्यसिद्धि होती है, अपने पुरुषार्थसे होती है, पुरुषार्थके बिना किसी काममें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती, जो लोग कहते हैं कि दैव करेगा वही होगा,यह उनकी मूर्खता है, हे रामजी! मनुष्य जिस वस्तुकी प्राप्ति के लिये यत्नपूर्वक ईश्वर से प्रार्थना करे औरं पुरुषार्थ को त्याग न दे तो वह अवश्य ही सफलता पाता है। अब सुनिये कि पुरुषार्थ किसका नाम है। शास्त्रवेत्ता महापुरुषों के दिखाये हुए मार्ग पर अपने संयत मन को लगा देने का नाम पुरुषार्थ है। ऐसे वीर पुरुष के वीर चित्त द्वारा की गई सफल चेष्टायें ही सफल यत्न हैं, इससे इतर सब उन्मत्त चेष्टायें हैं, पूर्वोक्त पुरुषार्थ से मनुष्य जिस कार्य को चाहता है, सफल कर लेता है, पुरुषार्थ करने पर जीव इन्द्र की पदवी पाकर त्रिलोकी पर शासन कर सकता है।

हे रामजी! आत्मतत्व से वह चैतन्यसत्ता स्पन्दरूप होकर अपने पुरुषार्थ से ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुई है, कहने का तात्पर्य यह है कि जिसको कुछ सिद्धता प्राप्त हुई है पुरुषार्थ से हुई है, चैतन्यरूप आत्मतत्व में चैतन्यसंवेदन अपने पुरुषार्थ द्वारा गरुड पर आरूढ़ होकर विष्णुरूप होता है, यह चैतन्यसंवेदन अपने पुरुषार्थ द्वारा रुद्ररूप होता है और अर्धांग में पार्वती और मस्तक में चन्द्रमा को धारण किये नील कंठ परमशान्तरूप है, अतः जो कुछ होता है पुरुषार्थ से सिद्ध होता है।

हे रामजी! पुरुषार्थ से सुमेरु को चूर्ण किया जा सकता है जैसे मनुष्य अपने कुकर्म से इतना गिर जाता और निर्बल हो जाता है कि जो अपने हाथों से चरणामृतभी न ले सके परन्तु पुरुषार्थ करने से वही पृथ्वी को खंड-खंड करने में समर्थ हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे पुरुषार्थोक्रमो नाम चतुर्थः सर्गः ।।४।।

पंचमः सर्गः ५

अथ पुरुषार्थवर्णनम्।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जो चित्त इच्छा तो करता है परन्तु शास्त्रके अनुसार पुरुषार्थ नहीं करता, वह सुख नहीं पा सकता, वह मनमाना व्यवहार तो उसकी उन्मत्त चेष्टायें हैं। पुरुषार्थ दो प्रकार का है एक शास्त्र के अनुसार, दूसरा शास्त्र विरुद्ध, शास्त्रीय मार्गको छोड़कर अपनी इच्छानुसार की हुई क्रियाओं का परिणाम केवल दुःख होता है, शास्त्र के आदेशानुसार किये हुए पुरुषार्थ में ही सफलता और सुख की प्राप्ति होती है।

हे रामजी! दैव कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं, जीव अपने किये कर्मको ही भले बुरे फल के रूप में पाता है, यदि पूर्व के संस्कार बलवान् होते हैं तो उनकी विजय होती है और यदि विद्यमान पुरुषार्थ बली होता है तो वह सबको बाधित करके विजयी होता है।

हे रामजी! यदि सत्संग और सत्शास्त्र का विचार करने पर भी मनपक्षी संसार वृक्ष की ओर ही उड़ता है तो जानना चाहिये कि पूर्व का संस्कार बली है, उसी कारण से मन स्थिर नहीं हो सकता, ऐसा जानकर आपको पुरुषयत्नका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, जोकि पूर्वसंस्कार के बलवान् होने पर भी अन्यथा नहीं जा सकता, अर्थात् सत्संग और सत्शास्त्रके आश्रय से किया हुआ पुरुषप्रयत्न पूर्वके संस्कार को जीत लेता है, अब इस बात को भलीभाँति विचारना चाहिये कि पुरुष प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ किस वस्तु का नाम है, उसको यथावत् सुनिये। ज्ञानवान् सन्तों-महात्माओं के सत्संग और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) के अनुसार प्रयत्न करने का नाम पुरुषार्थ है, और उस पुरुषार्थ से पाने योग्य वस्तु है–आत्मा, जिसकी प्राप्तिसे जीव संसार समुद्र से पार हो जाता है।

हे रामजी! जिस कार्य की सिद्धि होती है अपने पुरुषार्थ से होती है दैव कोई वस्तु नहीं, जो पुरुष शास्त्र के अनुसार पुरुषार्थ को त्याग कर कहता है कि जो कुछ करता है दैव करता है, वह मनुष्य नहीं गधा है, ऐसे मनुष्य का कभी संग न करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार आचरण ग्रहण करके निज-निज कर्तव्य का पालन करे, सत्संग तथा ब्रह्मविद्या के विचारबल से अशुभ का त्याग और शुभ का ग्रहण करे, तथा विचार बल से अपने गुण-दोषका विवेचन करता हुआ इस बात का निर्णय करे कि मैंने दिन और रात में क्या शुभ और अशुभ किया है, गुणों और दोषों का साक्षीरूप होकर धैर्य को बढ़ाता जाये, ऐसा करने पर जब गुणबल बढ़ जायगा, तब विपरीत दोषों का त्याग सहज हो जायेगा। ऐसे पुरुषार्थ को क्रियात्मक रूप देने से अतिशीघ्र ही परमानन्दरूप आत्मतत्व की प्राप्ति होगी।

इसलिये हे रामजी! मनुष्य को वनके घायल हुए मृग के समान नहीं होना चाहिये, जो यह जानता हुआ भी कि मुझे मारनेवाला मेरी तलाश में है, आनन्द से हरी-हरी-घास पत्ती खाने में ही मस्त है; पुरुष भी स्त्री, पुत्र, धन, बन्धु, बांधवादि बन्धनों के धन्धों में अन्धा हुआ संसार में ही मग्न हो जाता है, पुरुष को चाहिये कि एडी, चोटी का बल लगाकर इस बन्धन से निकलने का यत्न करें, जो सिंहपुरुष, इस संसार पञ्जर को तोड़कर इसमें से निकल जाता है, वही वीर है।

हे रामजी! जिसको भी तत्वकी प्राप्ति हुई है अपने पुरुषार्थ से हुई है जैसे प्रकाश के बिना वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार पुरुषार्थ के बिना तत्व प्राप्ति नहीं होती, जिस पुरुष ने पुरुषार्थ का त्याग करके दैवका आश्रय लिया है वह भाग्य हीन है, जैसे कोई पत्थर से तेल निकालना चाहे, ऐसे ही वे लोग हैं जिन्होंने पुरुषार्थ को त्याग कर दैवका आश्रय लिया है। हे रामजी! तुम तो दैव का आश्रय छोड़कर पुरुषार्थ को अपनाओ।

जिसने पुरुषार्थ का त्याग किया है उसको लक्ष्मी, कान्ति, वीरता आदि सब शक्तियाँ त्याग देती हैं उन पुरुषार्थहीन पुरुषों में लघुता आ जाती है, पुरुषार्थ का त्याग करना ऐसा है जैसे कोई अपनी भुजा को सांप समझ कर उसका त्याग करना चाहे।

सत् पुरुषों के संग से और सत् शास्त्रों के विचारसे निर्णीत हुए मार्ग पर चलने का नाम ही पुरुषार्थ है और यही सुख प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार विचरनेवाले लोग कभी सुखी नहीं होंगे और न ही उन्हें किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त होगी, शास्त्रकी आज्ञा के अनुसार चलनेवालों को इस लोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होगी। और वही सिद्धि प्राप्त करेंगे, तथा कभी संसार के जाल में नहीं गिरेंगे। जो पुरुष सत्पुरुषों के संग और सत् शास्त्र (ब्रह्मविद्या) के विचार बल से बोधरूप लेखनी और विचाररूपी स्याही से हृदयरूपी पत्र पर निर्णीत तत्व का अर्थ लिखेगा, वह फिर इस संसार की भूलभुलैया के भ्रम में नहीं पड़ सकता।

हे रामजी–जो मनुष्य सत्संग करता है, परन्तु सत्पुरुषों के उपदेशानुसार ब्रह्मविद्या के विचार का आधार लेकर तदनुरूप पुरुषार्थ नहीं करता, उसे सफलता नहीं मिलती, जैसे कोई अमृत के पास केवल बैठा ही रहे तो अमर नहीं हो सकता, ऐसे ही अभ्यास किये बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

हे रामजी! अज्ञानी जीव अपना जन्म व्यर्थ गँवा देते हैं, जब बाल अवस्था होती है तब किसी प्रकार की समझ नहीं होती और युवावस्था में मनुष्य कामादि विकारों से अन्धा हो जाता है, और जरा तो जर्जर कर देती है, इसी प्रकार जीवन समाप्त हो जाता है, और इस समय केवल पश्चात्ताप ही शेष रह जाता है, इसलिये जिज्ञासु को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सत्पुरुषों के संग और ब्रह्मविद्या के आदेशानुसार किये पुरुषार्थ को ही विशेष सहायक जानकर, दैव का आश्रय छौड़कर अपने भरसक परिश्रम से किये पुरुषार्थ द्वारा जीवन सफल करले।

जो पुरुष पुरुषार्थको छोड़कर दैव का आश्रय लेते हैं वे आत्महन्ता हैं, उन्हें कभी सुखप्राप्ति नहीं होती। हे रामजी! पुरुष को व्यवहार में और परमार्थमें कभी आलसी नहीं होना चाहिये, व्यवहार में आलस्य करने से मनुष्य की जीवनयात्रा दुःखमय होजाती है और परमार्थमें आलस्य करने से मनुष्य अज्ञानी रह जाता है। इस अतिदुर्लभ मानवशरीर को पाकर भी जो कि जन्म मरणके जाल से मुक्त करा देने वाले साधनोंका भंडार है मनुष्य इससे लाभ नहीं उठता सकता, तो यह अत्यन्त हानिकारक बात है। सारांश यह है कि पुरुषार्थको त्यागकर दैवका आश्रय लेकर जीवन व्यर्थ बिताना पशुता है मनुष्यता नहीं। अतः पुरुष को चाहिये कि पुरुषार्थका अवलम्बन लेकर सत्संग और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) के आदेशानुसार विचार करके अपने गुण दोषोंका विश्लेषण कर संग्रह त्याग करता हुआ, अपने आपको कृतकृत्य बनाले। इस शास्त्रनिर्दिष्टमार्गसे पुरुषार्थ करता हुआ मनुष्य अतिशीघ्र ही परमानन्दभागी बन जाता है।

वाल्मीकिजी बोले– जब इस प्रकार वसिष्ठजी ने कहा तब सांयकाल का समय हुआ, सब स्नान के निमित्त उठकर खड़े हो गये और परस्पर नमस्कार करके अपने-अपने घर को चले गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे पुरुषार्थवर्णनं नाम पंचमः सर्गः।।५।।

षष्ठः सर्गः ६

अथ परमपुरुषार्थ वर्णनम्।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! मनुष्यके पूर्वजन्मकृत पुरुषार्थ का ही नाम दैव है, दैव और कोई वस्तु नहीं, जब मनुष्य सत्सङ्ग और सत्शास्त्र विचार द्वारा पुरुषार्थ करे तब पूर्वके संस्कारों को जीत सकता है, जिस किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये शास्त्र द्वारा प्रयत्न करेगा, उसे अवश्य ही प्राप्त करेगा। पुरुषार्थ किये बिना पूर्वकृत दुष्कृत का नाश

बिना भोग के कभी न होगा, पुरुषार्थहीन मनुष्य जब पूर्वकृत पापका दुःखरूप फल पाता है तो हाहाकार मचाता है।

हे रामजी! इसका जो पूर्वकृत पुरुषार्थ है उसका नाम दैव है, और दैव कोई वस्तु नहीं, जो लोग इससे अन्य किसी और दैवकी कल्पना करते हैं वे मूर्ख हैं, हाँ इतनी बात अवश्य है कि पूर्वकृत दुष्कृत ही दुर्दैव और पूर्वकृत सुकृत ही दैव कहाता है। मनुष्य अपने किये को अपने ही किये से जीत सकता है, प्रबल पुरुषार्थ निर्बल पुरुषार्थ को जीत सकता है, कहने का अर्थ यही है कि मनुष्य पुरुषार्थ द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकता है, जिसने पुरुषार्थ का त्याग किया है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

इसलिये हे रामजी! मिथ्यादैवके आश्रय को त्यागकर तुम अपने पुरुषार्थको अंगीकार करो, सत्संग और सत्शास्त्र की आज्ञानुसार युक्तिपूर्वक किये हुए अभ्यास से आत्मपदको प्राप्त कर लेनेका नाम ही पुरुषार्थ है। जैसे प्रकाश से पदार्थ का ज्ञान होता है,ऐसे ही पुरुषार्थ से आत्मपदकी प्राप्ति होती है। जो पूर्वजन्मकृत पापोंसे मलिन अन्तःकरण है वह भी यदि चाहे तो दृढ़पुरुषार्थ द्वारा अपने उन पूर्वमलिन संस्कारोंको जीत सकता है, जैसे बड़ाभारी मेघभी प्रतिकूल पवनसे क्षणभर में नाश हो जाता है, जैसे वर्षभर में खेत पकता है, परन्तु बर्फ या ओले उसका पलभर में नाशकर देते हैं, ऐसे ही पूर्वके संस्कार कितने ही प्रबल विरोधी क्यों न हों, पुरुषप्रयत्न उनको निर्मूल कर सकता है।

हे रामजी! श्रेष्ठपुरुष वही है, जिसने सत्संग और सत्शास्त्र द्वारा अपनी बुद्धि शुद्धि करके संसार समुद्र को पार करने की योग्यता प्राप्त करली है, और जिन लोगोंने ऐसा नहीं किया किन्तु पुरुषार्थ को त्यागकर अपनी इच्छानुसार असंयत होकर वृथा के कामों में समय नष्ट किया है, उनको नीचातिनीच दशाका प्राप्त होना तो स्वाभाविक है, उत्तम पुरुषकी पहचान ही यही है कि वह हंस के समान नीरक्षीर का विवेक करता हुआ संग्रह अथवा त्याग करता है, इस नियम से वह अपनी

अभीष्ट वस्तुको पाकर कृतकृत्य हो जाता है, उसे पुनः इस संसार के दल दल में कभी फँसना नहीं पड़ता, नित्य की खटखट मिट जाती है, वह परमानन्द से परिपूर्ण होकर निर्द्वन्द्व अर्थात् सर्दी, गर्मी भूख, प्यास, हानि, लाभ, जय, पराजय, मान, अपमान, आंदि द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है, जैसे समुद्र रत्नों से पूर्ण है ऐसे ही वह परमानन्द से पूर्ण होता है, इसलिये विचारवान् पुरुष अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार बन्धन से निकल जाते हैं, जैसे सिंह बल से पिंजरेमें से निकल जाय जो उसकी बहादुरी है इसी प्रकार संसाररूप पिंजरे में से निकल जाना किसी सिंहरूप वीर पुरुषका ही काम है।

हे रामजी! पुरुष को चाहिये कि और कुछ न करे तो इतना तो करे कि अपने वर्णाश्रम के अनुसार अपना जीवनयात्रा क्रम बनावे। सत्संग और ब्रह्मविद्या के निरन्तर सेवन से सत्पुरुषोंके अनुभव और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) में वर्णित तत्ववस्तु के ज्ञान द्वारा संशय विपर्ययादि दोष निर्मल हो जाते हैं और शुद्धान्तःकरण ही आत्मसाक्षात्कृतिका का विशेष स्थान है, इस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा ही मनुष्य कृत्यकृत्य होता है, जो लोग पुरुषार्थ का त्याग करके किसी अन्य कल्पित दैव आदि का आश्रय लेते हैं, वे जन्ममरण के दलदल को पार नहीं कर सकते। हे रामजी! जीव को संसाररूपी विषूचिका का रोग है, उसको दूर करने का उपाय मैं कहता हूँ, सत् (सन्त) पुरुषों के कहे वचनों और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) के आदेश पर दृढ़ भावना करना तथा जो कुछ उनसे सुना है उसका निरन्तर अभ्यास करना, तथा सब प्रकार की वृथा कल्पनाओं को त्याग कर एकान्तमें उसी उपदिष्ट तत्व वस्तुका चिन्तन करना। ऐसा करनेसे इस (जीव) को परमपद की प्राप्ति होगी, और इसका द्वैतभ्रभ निवृत्त हो जायेगा, अद्वैतरूप मुक्ति (पराविद्या) भासेगी इसका ही नाम पुरुषार्थ है।

इति श्रीयोगवासिष्ठेमुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थ वर्णनं नाम षष्ठः सर्गः॥६॥

सप्तमः सर्गः ७

अथ पुरुषार्थोपमावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! मनुष्य को अशास्त्रीय पुरुषार्थ करने से लाभ के स्थान हानि पहुँचाने वाले आध्यात्मिक दुःख प्राप्त होते हैं, इस कारण से यह शान्तिवंचित रहता है, हे रामजी! तुम्हें विचार द्वारा अपना मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिये, जिससे अपने पुरुषार्थ द्वारा जन्ममरण के बन्धनसे मुक्ति पा सको, दैवके भरोसे न रहना, दैव कोई वस्तु नहीं है, जिस पुरुष ने दैवके भरोसे पर रहकर पुरुषार्थका त्याग कर दिया है उसका धर्म, अर्थ, काम सब नष्ट हो जावेगा, और वह अत्यन्त नीच अवस्था को प्राप्त होगा।

हे रामजी! इस (जीव) का शुद्ध चैतन्य जो अपना आप है, वास्तवरूप है, उसके आश्रय जो आदि चित्त–संवेदन–स्फूर्ति है जो अहं मन के रूप में फुरने लगती है, और इन्द्रियों में जो अहं स्फूर्ति है यह स्फूर्ति (फुरना) यदि सत्पुरुषों ज्ञानवान् महात्माओं तथा शास्त्र की आज्ञानुसार अर्थात् कर्तत्व–बुद्धि से रहित होकर किया जाय तो अन्तःकरण की शुद्धि का साधक होकर परमपुरुषार्थ की प्राप्ति का कारण बनेगा, यदि वही फुरना कर्तृत्वबुद्धि (मैं करता हूँ इसमति) से किया गया है तो वासना के अनुसार भाव अभावरूप भ्रम जाल में घटीयंत्र की नाई भटकायेगा, शान्तिमान् कभी न होने देगा।

हे रामजी! संसार में जिस किसीको भी सफलता मिली है पुरुषार्थ से ही मिली है,बिना पुरुषार्थके स्वप्नमें भी सफलता के दर्शन नहीं होते, मनुष्य जब किसी चीज को ग्रहण करना (पकड़ना) चाहता है तो बिना हाथ पसारे ग्रहण नहीं कर सकता, अथवा यदि कोई किसी दूसरे देश को जाना चाहता हो, तो चलकर (या किसी सवारीद्वारा) ही वहाँ पहुँच सकता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही इस संसारभ्रमकी निवृत्ति पुरुषार्थ से ही संभव है अन्यथा नहीं, जिस मनुष्यका यह मन्तव्य है कि जो कुछ दैव

करेगा, वही होगा, वह मूर्ख है, क्योंकि पुरुषार्थ से भिन्न दैव कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, इस पुरुषार्थ का ही नाम दैव है, अथवा दैव शब्द मूर्खोंका मनोविनोदमात्र है, किसी विचारहीन मनुष्य को अपने ही दोषवश से कहीं अतिकष्ट पहुँचा तब उसने दैव की कल्पना करली कि यह दुःख दैव का दिया हुआ है, इससे अन्य कोई सत्ताविशेष दैव नहीं।

हे रामजी! हम आपको बार बार आदेश करते हैंकि दैव के आश्रय रहनेवाला पुरुषार्थहीन मनुष्य संसार में कभी कृतकार्य न होगा, क्योंकि पुरुषार्थ किये बिना आज तक किसीको कार्यसिद्धि होती देखी नहीं गयी। सुनिये, बृहस्पति ने पुरुषार्थ किया वह सब देवताओंके राजा इन्द्रका गुरु हुआ, श्रीशुक्राचार्य अपने पुरुषार्थ द्वारा दैत्यों के गुरु हुए, और भी ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जिनसे पुरुषार्थकी उपादेयता और दैव की हेयता सिद्ध होती है, और ऐसा भी हुआ कि अपने हठपूर्ण सिद्धान्त (दैवही करता है) के अनुसार जिन लोगों ने अपने पथदर्शकों की अमोघ सम्मति को ठुकराकर मनमाने विचार से दैवको ही हर बात में अपनाया है, वे लोग बड़ी २ राष्ट्रसम्पत्तियों के स्वामी होते हुए भी अपार विपत्सागर में लुप्त होते देखे गये हैं।

हे रामजी! इस पुरुष का कर्तव्य यही है कि ब्रह्मविद्या और ज्ञानवान् महात्माओं के संगसे अपनी निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्ति (बुद्धि) को निर्मल बनाये और धैर्य, सन्तोष, वैराग्य, तथा अभ्यास आदि गुणों को पुष्ट करें,क्योंकि पुष्ट हुए यह गुण बुद्धि के पोषक होते हैं और पुष्ट हुई बुद्धि इनका पोषण करती है, अन्तःकरण की शुद्धि, अभ्यास की दृढ़ता, वैराग्य और विवेक यही सफलता के परमोत्तम साधन हैं।

हे रामजी! इस बाल्यकाल से लेकर पूर्वोक्तगुणों के पाने का अभ्यास किया जाय तो अन्तःकरण शुद्धि की शीघ्र ही संभावना हो सकती है, शुद्धान्तःकरण में ही ब्रह्म ज्ञानवान् गुरु का उपदेश सफल हो सकता है, अतः इस महान् कार्य की सिद्धि का मूलकारण पुरुषार्थ ही है, पुरुषार्थ किये बिना तो सांसारिक सामान्य कार्य सिद्ध नहीं होते। यदि किसी को

तीर्थयात्रा अथवा विदेश में जाना पड़े तो मार्ग में जब निरालस्य होकर चलेगा तबही पहुँचेगा अन्यथा नहीं, भोजन करने से क्षुधानिवृत्ति होती है, जिह्वा हिलाने से पाठ हो सकता है अन्यथा नहीं। कहने का तात्पर्य यही है कि पुरुषार्थ किये बिना कुछ भी नहीं हो सकता। यहाँ और भी महात्मा गुरु लोग बैठे हैं इनसे पूछ देखो, उसके अनन्तर जो इच्छा हो सो करो, यदि मुझे पूछो तो मैं सब शास्त्रों का सिद्धान्त कहता हूँ, जिसे सुनकर कृतार्थ हो जाओगे।

हे रामजी! ज्ञानवान पुरुषों और (सच्छास्त्र) ब्रह्मविद्याकी आज्ञाके अनुसार ब्रह्माकारवृत्ति रखते हुए इन्द्रियों तथा मनके द्वारा परमार्थ विषयक चेष्टा अनासक्तिभाव से होनी चाहिये, इस भावको छोड़ अन्यत्र जाते मन आदिको संयत् रखना। ऐसा करने से तुम्हें सांसारिक रागद्वेष स्पर्श नहीं करेंगे, जलमें कमल के समान संसार में रहते हुए भी निर्लेप रहोगे।

हे रामजी! जिस पुरुष से शान्ति प्राप्त हो उसकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वह उसका महान् उपकार है, हे रामजी सन्तजन भी वही हैं जो संसार समुद्र से निकाल लें। सत्शास्त्र भी वही हैं जिनके विचार और मनन से मन जगत् जालसे उपरत (विरक्त)हो, इसलिये अन्य सब कल्पनाओं को त्यागकर अपना पुरुषार्थ करो जिससे जन्म मरण का महान् भय निवृत्त हो जाय।

हे रामजी! यदि यह आत्मकल्याण की दृढ़ इच्छा करके उसके पूरा करनेके वास्ते पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब इसको अवश्य सफलता मिलती है, क्योंकि संसार में जितने बड़े बड़े ज्ञानवान् महापुरुषों को देखते व सुनते हो, यह सब अपने पुरुषार्थ से सफल हुए हैं। जिन लोगोंने दुर्लभ मानव शरीर पाकर भी पुरुषार्थ नहीं किया, वे ही अति निकृष्ट सर्पकीटादि योनियों को प्राप्त हुए हैं।

हे रामजी! अपने पुरुषार्थ का आश्रय लो नहीं तो निकृष्ट योनियों के कष्ट देखने पड़ेंगे । पुरुषार्थ से विमुख होकर दैव की ही आशा पर

सफलता चाहनेवाले मनुष्यों की शास्त्रों में बहुत निन्दा की है। क्योंकि पुरुषार्थ का सहारा लिये बिना छोटे से छोटे कोई सांसारिक कार्य भी सिद्ध नहीं होते तो परमार्थ की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसलिये पुनः पुनः पुरुषार्थ की महिमा का वर्णन और दैव की निन्दा इसलिये की जा रही है कि किसी न किसी परमपद प्राप्ति के साधक इस पुरुषार्थ का वास्तवरूप जिज्ञासु की समझ में आ जाय।

हे रामजी! विष्णुभगवान् अवतार धारणकर दैत्योंका नाश करते हैं, और भी कई प्रकार के जगत्कल्याण कार्य करते हैं परन्तु पाप का उनको स्पर्श नहीं होता, क्योंकि अपने पुरुषार्थ से उन्होंने अक्षय पद को प्राप्त किया है, तुम भी पुरुषार्थका आश्रय लेकर संसार समुद्र से पार हो जाओ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे पुरुषार्थोपमावर्णनं नाम सप्तमः सर्गः।।७।।

अष्टमः सर्गः ८

अथ परमपुरुषार्थवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह दैव शब्द मूर्खों की कल्पना है, कि दैव हमारी रक्षा करेगा, हमें दैव का कोई आकार दृष्टि में नहीं आता, केवल मूर्खलोग दैव दैव कहते हैं, दैव और कोई वस्तु नहीं, इसका पूर्वका कर्म ही दैव है।

हे रामजी! जिन पुरुषोंने दैव के भरोसे पर पुरुषार्थका त्याग किया है, वे अपने आपके परमशत्रु हैं, अगर कोई आग में गिरजाय और उससे निकलने का पुरुषार्थ न करता हुआ–यह कहे कि दैव स्वयं बचा लेगा, तो क्या उसकी रक्षा होगी? कदापि नहीं, इसलिये दैव दैवका प्रलाप छोड़कर वीर पुरुष को अपने किये पुरुषार्थ द्वारा सफल होने की दृढ़ भावना रखनी चाहिये, क्योंकि पुरुषार्थ ही कल्याण कर्ता है।

हे रामजी! यदि दैव ही सब कुछ करनेवाला होता तो शास्त्र और

गुरुके उपदेशकी भी क्या आवश्यकता थी, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, सत्शास्त्र के उपदेश द्वारा अपने पुरुषार्थसे ही इसको वांछित पदवी प्राप्त होती है, अतः दैव शब्द व्यर्थ है, दैवके भ्रम को त्यागकर, शास्त्रानुसार पुरुषार्थशील बने, ऐसा किये बिना दुःखसे मुक्ति न होगी।

हे रामजी! अब तो आपको विश्वास हो गया होगा कि—दैव कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थका नामान्तर है, यदि यह कोई स्वतंत्र वस्तु होती तो शरीर के नाश होनेपर जब उससे कोई चेष्टा नहीं होती, दैव शरीरसे अवश्य चेष्टा कराता, अतः दैव शब्द व्यर्थ है।

हे रामजी! पुरुषार्थके महत्व को तो अज्ञानी साधारण मनुष्य भी पहचानते हैं। इस बात को गोपाल भी जानता है, कि —पुरुषार्थ किये बिना कुछ नहीं होता, ग्वाला भी जानता है कि यदि मैं गौओं को न चराऊँ तो भूखा मरूँगा, इसलिये दैवके भरोसे पर न रहकर अपना गोचारणरूप पुरुषार्थ करता है।

हे रामजी! भ्रम में पड़े लोग दैव की कल्पना कर लेते हैं, पर दैव कहीं दृष्टि नहीं आता, द्वैव के हाथ पाँव आदि शरीरांग नहीं दीखते और आकारसे रहित दैवकी कल्पना करें तो भी नहीं बनता, क्योंकि निराकार और साकार का संयोग कैसे हो। अतः दैव अन्य कोई वस्तु नहीं। अपना पुरुषार्थ ही दैवरूप है। एक राजा बड़ा ऋद्धि सिद्धि सम्पन्न दीखता है यह सब पुरुषार्थ का प्रताप है।

हे रामजी! यह जो विश्वामित्रजी हैं, इन्होंने दैव शब्द का दूर ही से त्याग किया है, और यह पुरुषार्थ के प्रताप से ही क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए हैं, और भी जो बड़े— २ विभूतिमान् हुए हैं, पुरुषार्थ से हुए हैं, हे रामजी! यदि दैव बिना पढ़े ही किसी को पंडित बनादे तो जानें कि दैव भी कोई वस्तु है, परन्तु पढ़े बिना पंडित कोई नहीं होता, अतः दैव कोई वस्तु नहीं। अज्ञानी लोग ज्ञानवान् हो जाते हैं, यह पुरुषार्थ का फल है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि इस दैव सम्बन्धी मिथ्याभ्रम को त्यागकर ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् महापुरुषोंके निर्दिष्ट शास्त्रीय सिद्धान्त पर

चलकर संसार समुद्र से पार होने का प्रयत्न करे, यह बात निश्चितरूप से जान ले कि मेरे पुरुषार्थ के बिना अन्य कोई दैव आदि साधन नहीं है। जो कुछ भी सुख दुःख की प्राप्ति होती है, अपने किये हुए सुकृत और दुष्कृत से होती है, यदि मनुष्य का अपना किया कुछ भी अर्थ न रखता होता तो पाप करने वाले नरकों में पड़ते और पुण्यात्मा स्वर्ग के भागी न होते, परन्तु पापी नरक में और धर्मी स्वर्ग में जाते हैं, इसलिये यही निश्चित बात है कि सब कुछ अपने पुरुषार्थ से होता है।

हे रामजी! जो लोग ऐसा मानते हैं कि सब कुछ दैव करता है, उनका सिर काट लेने पर भी यदि वह जीवित रहे तब दैवकी प्रधानता मानी जा सकती है, परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है, इसलिये आज्ञानुसार किये हुए अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्मपद में स्थिति प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः॥८॥

नवमः सर्गः ९

अथ परमपुरुषार्थवर्णनम् ।

रामजी बोले— हे भगवन्! आप धर्मवेत्ता हैं, आपने कहा कि दैव कोई नहीं, परन्तु संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि सब कुछ दैव का किया होता है और सुख-दुःख का देनेवाला दैव है।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! मैं तुम्हें इस प्रकार से कह रहा हूँ जिससे तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जाय! मनुष्य के अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्म का ही नाम दैव है, इस शुभ-अशुभ कर्मका फल तो अवश्य भोगना ही पड़ता है, कर्म कर चुकने के बाद जब तक कर्ता उसका फल नहीं भोगता तब तक वही कर्म दैव कहलाता है, उसको दैव कहो पुरुषार्थ कहो, कोई आपत्ति नहीं, दैव अन्य कोई वस्तु नहीं। दैवका कोई स्थान नहीं, रूप नहीं, तो फिर दैव किसको कहा जाय।

हे रामजी! मूर्खों की पहिचान के लिये दैव शब्द कहा है, जैसे–आकाश शून्य है ऐसे ही दैव भी शून्य है, रामजी बोले–हे भगवन्! आप धर्मतत्त्व के वेत्ता हैं, आपने कहा है कि दैव अन्य कोई वस्तु नहीं आकाशके समान शून्य है परन्तु दैव तो आपके कहने से भी सिद्ध होता है, कि दैव इसके पुरुषार्थ का ही नाम है, संसार में दैव शब्द प्रसिद्ध है।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! मैं तो हृदय से दैव शब्द निकालने के लिये कहता हूँ, दैव नाम पुरुषार्थका है, पुरुषार्थ नाम कर्मका है, कर्म नाम वासना का है, वासना मन से होती है और पुरुष मनरूप है, जिस वस्तु की वासना करता है उसीको प्राप्त होता है, यदि गाँव के प्राप्त होने की वासना करता है तो गाँव को प्राप्त होता है, जो पतन के प्राप्त होने की वासना करता है जो पतन को प्राप्त होता है, अतः दैव और कोई वस्तु नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मका सुखदुःख रूप परिणाम अवश्य पाना होता है, उसीका नाम दैव है।

हे रामजी! आप विचार करें कि कर्म से भिन्न अपना पुरुषार्थ नहीं, तो फिर सुखदुःख के देने-लेने वाला और दैव तो सिद्ध ही नहीं होता, क्योंकि यह जीव जब पापमय वासना से शास्त्र विरुद्ध कर्म करता है तो कैसे करता है? पूर्वकृत पाप द्वारा पापमयी वासना ही उदय होती है उसके द्वारा फिर पाप करता है, यदि पूर्व सुकृत के बल से सात्विक पवित्र वासना हो तो उसके द्वारा शुभमार्ग पर चलता हुआ शुभ कर्म करता है।

रामजी बोले– हे भगवन्! जो मनुष्य पूर्वकृतकर्मजन्य दृढ़ वासना के अनुसार विचरता है और पूर्वकृत कर्म उसके अच्छे नहीं, तदनुसार उसकी वासना भी पापमयी है, वह कहता है कि मैं क्या करूँ मुझे पूर्व वासना ने दीन किया है, अब मुझे क्या करना चाहिये।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह बात यथार्थ है कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही मनुष्य की सात्विक या राजस तामस मनोवृत्ति होती है, परन्तु उत्तम मनुष्यका तो कर्तव्य है कि वह अपने प्रबल पुरुषार्थ से

पूर्व के मलिन संस्कारों भी शुद्ध करे। ऐसा करने से उसकी विचार मनोवृत्ति परम सात्विक हो सकती है, सत् शास्त्रों के विचार और सत्संग के प्रभाव से पूर्व मलिन वासना दूर हो जायेगी।

हे रामजी! यह कैसे जानना चाहिये कि पूर्वके कर्म शुभ हैं या अशुभ हैं। सुनिये यदि चित्त शास्त्रीय मार्गपर न चलकर विषयोंकी ओर (शास्त्र विरुद्ध मार्ग पर) चलना चाहे तो जानिये कि पूर्वकृत किसी मलिन कर्म का संस्कार है, और यदि चित्त स्वभावसे ही सत्संग और सत्शास्त्र श्रवण की रुचि रखता हो और संसार मार्ग से विरक्त हो तो जानिये कि पूर्व कर्म शुभ हैं, इसलिये हे रामजी! आप दोनों प्रकारों से सफलता प्राप्त कर सकते हो, यदि आपके पूर्वसुकृत द्वारा संस्कार शुभ हैं तो आपका चित्त अनायास ही सत्शास्त्र के वचनामृत का पान करेगा और सत्संग को अति सुखदायक जानकर परमप्रिय मानेगा इससे आपको अतिशीघ्र ही परमानन्द की प्राप्ति होगी और यदि आपका चित्त इस शुभमार्गमें स्थिर न हो सकेगा तो अपने पुरुषार्थ द्वारा संसारसागर से पार होजाओगे।

हे रामजी! तुम चेतन हो जड़ तो हो नहीं, अतः अपने पुरुषार्थका आश्रय लो, हमारा भी यही आशीर्वाद है कि तुम्हारा चित्त अतिशीघ्र एकाकार होकर ब्रह्मविद्या की समस्त आत्मपद स्थिति को प्राप्त करे। हे रामजी, श्रेष्ठ पुरुष शास्त्रों में उसी को माना गया है जिसने पूर्व संस्कारों के विरोधी होते हुये भी अपने अनवरत पुरुषार्थ द्वारा उन पर विजय पाकर ब्रह्मविद्या में विजय प्राप्त की है। इसी प्रकार शास्त्रों ने मूर्खभी उसीको माना है जिसने पाप वासनाओं के वशीभूत होकर पुरुषार्थका त्याग करके अपने इस अति दुर्लभ मनुष्य जन्म को विषयों में वृथा खो दिया है।

हे रामजी! चतुर मनुष्यका कर्तव्य है कि सबसे पहिले इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे, अर्थात् अपनी प्रत्येक शारीरिक मानसिक चेष्टा शास्त्र संगत बनावे, अपने अन्तःकरण में शुभ वासनाओं की वृद्धि करे और दुर्वासनाओं का त्याग करे, यद्यपि दोनों प्रकार की वासनाओं का त्याग

कर्तव्य है तथापि पहिले शुभ वासनाओं का संग्रह करना उचित है। जब शुद्ध वासनाओं से कषाय परिपक्व होंगे अर्थात् जब अन्तःकरण शुद्ध होगा, तब उस निर्मल अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का विचार उत्पन्न होगा, जिससे तुम्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी, आत्मसाक्षात्कार होने पर किया ज्ञानका भी त्याग होगा। केवल शुद्ध अद्वैतरूप अपने आप शेष भासेगा, इसलिये हे रामजी! और सब कल्पनाओं को छोड़कर सच्छास्त्रों और महापुरुषों की आज्ञानुसार पुरुषार्थ करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे परमपुरुषार्थवर्णनं नाम नवमः सर्गः।।९।।

दशमः सर्गः १०

अथ वसिष्ठोत्पत्ति (तथा) वसिष्ठोपदेशागम वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! मेरे वचनों को सावधान होकर ग्रहण करो और इन्हें अपने परम प्रिय बान्धवों के समान जानो, जैसे बन्धुबान्धव दुःख से बचाते हैं, इसी प्रकार यह वचन तुम्हारी रक्षा करेंगे। मेरे कहे हुए इस मोक्षके उपाय के अनुसार पुरुषार्थ करो, तब तुम्हारा परम प्रयोजन सिद्ध हो जायगा, अर्थात् तुम्हें निस्सन्देह परमपदकी प्राप्ति होगी, इस चित्त का यह स्वभाव ही है कि अहोरात्र सांसारिक भोगोंका अनुसरण करना, परन्तु ब्रह्मजिज्ञासुका भी तो यही कर्तव्य है कि चित्तको परम पुरुषार्थ करके भोगगर्तमें गिरने से बचा लेना, अतः भोगों को निस्सार जानकर त्यागो, वह त्याग तुम्हारा परम मित्र होगा, परन्तु त्याग ऐसा हो जिसमें चित्त पुनः भोगों को ग्रहण न करे।

हे रामजी! यह मोक्षोपाय संहिता है, चित्त को एकाग्र करके इसको सुनो, इससे परमानन्द की प्राप्ति होगी, सबसे प्रथम शम दमको धारण करो, सांसारिक समस्त वासनाओं का परित्याग करके परमौदार्य भाव से तृप्त रहने का नाम शम है। श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयों से बाह्यइन्द्रियों के निग्रह का नाम दम है, शम दम द्वारा परमतत्वका

विचार उत्पन्न होगा और विचारसे विवेक द्वारा परमपद की प्राप्ति होगी। जिसे प्राप्त कर लेने पर दुःख अत्यन्ताभाव हो जायगा। और उस अविनाशी सुखका साक्षात्कार होगा। इसलिये इस मोक्ष संहिता के अनुसार पुरुषार्थ करो, कि शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति हो। भगवान् ब्रह्माने मुझे जो उपदेश किया है, मैं तुमसे कहता हूँ।

रामजी बोले– हे मुनीश्वर! आपको ब्रह्माजीने किसलिये उपदेश किया, और आपने उसे किस प्रकार धारण किया, कृपया कहिये।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! शुद्ध चिदाकाश एक है, अनन्त है, अविनाशी है, परमानन्दरूप है, चिदानन्दस्वरूप है, उसमें संवदेनरूप ब्रह्म, विष्णुरूप होकर स्थित है, वह विष्णु स्पन्द और निस्पन्द भावमें एकरस है, कभी अन्यथा भावको प्राप्त नहीं होता। जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होते हैं ऐसे ही शुद्ध चिदाकाश से स्पन्द द्वारा विष्णु उत्पन्न हुए, उस विष्णुभगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए, ब्रह्माजीने ऋषि मुनीश्वरों सहित स्थावर जंगमरूप प्रजा उत्पन्न की, अर्थात् मनोराज्य से जगत् को उत्पन्न किया, इस जगत् के कोने में जो जम्बूद्वीप—भरतखण्ड है उसमें मनुष्य को दुःखाकुल देख ब्रह्माजी के चित्त में दया उत्पन्न हुई, जैसे पुत्र को देख पिता को दया उत्पन्न होती है, तब उसके लिये ब्रह्माजी ने तप किया कि सुख प्राप्त हो, और कहा—तप करो, तब वे जीव तप करने लगे, और तपके प्रभावसे उन्हें स्वर्गप्राप्ति होने लगी, वहाँ सुख भोगकर फिर गिरने लगे, तब दुःखी हुए, ऐसा देखकर भगवान् ब्रह्माने सत्यवाक् धर्मका प्रतिपादन किया, और उनके सुखार्थ उन्हें उस धर्म के आचरण की आज्ञा दी, ऐसा करने पर उन्हें तदनुसार लोक की प्राप्ति हुई, वहाँसे भी सुख भोग समाप्त होनेपर गिरने और दुःखी होने लगे। तब भगवान् ब्रह्माने दान तीर्थादिक पुण्य क्रियाओं का निर्माण किया और उन्हें आज्ञा दी कि इनका सेवन करो तुम्हें सुख की प्राप्ति होगी, तब वे जीव उनका सेवन करने लगे, इससे उन्हें महान् पुण्य लोक की प्राप्ति हुई और वहाँ वे फिर सुखभोगने लगे, कर्मानुसार दीर्घकाल तक उस लोक के भोग

भोगकर वहाँ से भी गिरकर दुःखी हुए। उन्हें तृष्णा के कारण सुख दुःख का बहुत अनुभव हुआ, और वे दुःख की अधिकता से व्याकुल हो गये, तब भगवान् ब्रह्मा ने देखा कि यह लोग जन्ममरण के दुःख से महादीन हो रहे हैं, इसलिये वही उपाय किया जाय जिससे इनके दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो।

हे रामजी! ब्रह्माजीने विचार किया कि इनका दुःख आत्मज्ञान के बिना निवृत्त नहीं हो सकेगा, इसलिये इन्हें आत्मज्ञान होना चाहिये, जिससे यह लोग परमसुखी हों, इस प्रकार विचार कर ब्रह्मा आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन होगये, तब भगवान् ब्रह्मा के संकल्पद्वारा मेरी उत्पति हुई अर्थात् मेरे रूप में शुद्ध तत्त्वज्ञान मूर्तिमान होकर प्रकट हुआ, मैं सर्वथा ब्रह्माजी के समान हूँ, जैसे उनके हाथमें कमंडलु है ऐसे मेरे हाथ में भी कमण्डलु, जैसे उनके कंठमें रुद्राक्षकी माला है ऐसे मेरे कंठमें भी रुद्राक्ष की माला है, जैसे उनके ऊपर मृगचर्म है वैसे ही मेरे ऊपर मृगचर्म है, इस प्रकार ब्रह्माजीका और मेरा समान आकार हैं, शुद्धज्ञान मेरा स्वरूप है, मुझे जगत् कुछ नहीं भासता, सुषुप्ति के समान मुझे जगत् भासता है, तब ब्रह्माजीने विचार किया कि इसको मैंने जगत्कल्याण के लिये उत्पन्न किया है और यह तो शुद्धज्ञान स्वरूप है, अज्ञानी संसार को तो उपदेश तब हो सकता है, जब कुछ प्रश्नोत्तर का क्रम चल सकें, क्योंकि मिथ्यावस्तु का विचार तब ही हो सकता है।

हे रामजी! जीवों के कल्याणार्थ ब्रह्माजीने मुझको गोद में बिठाया और मेरे सिर पर हाथ रखा, उससे मैं शीतल हो गया, जैसे चन्द्रमा की किरणों से शीतलता होती है,ऐसेही मैं शीतल हो गया, तब ब्रह्माजी ने हँसकर मुझसे कहा—हे पुत्र! जीवोंके कल्याण के लिये एक मुहूर्त पर्यन्त तुम अज्ञान को अंगीकार करो, श्रेष्ठ पुरुष परोपकारार्थ ऐसा करते आए हैं, जैसे चन्द्रमा बहुत निर्मल है, परन्तु फिर भी उसने श्यामता को अंगीकार किया है, ऐसे ही तुम भी मुहूर्तमात्र के लिये अज्ञानको अंगीकार करो।

हे रामजी! इस प्रकार कहकर ब्रह्माजी ने मुझे शाप दिया कि 'तू अज्ञानी होगा' तब मैंने ब्रह्माजीकी आज्ञानुसार शापको स्वीकार किया ऐसा करने से मेरा ज़ो शुद्ध आत्मतत्व अपना आप था, उससे मैं कुछ और ही प्रकार का हो गया, मेरी स्वभावसत्ता मुझे विस्मृत हो गई और मेरा मन जगा, भाव अभावरूप जगत् मुझको भासने लगा। तब अपने आपको मैं वसिष्ठ नामका ब्रह्माजीका पुत्र जानने लगा, नाना प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ संसार मेरी जानकारी में आने लगा, और सांसारिक पदार्थो की अनेकता की ओर चंचलभी होने लगा। संसार को दुःखरूप जानकर मैंने भगवान् ब्रह्मा से प्रश्न किया , हे भगवन्! यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ? और कैसे लीन होता है, हे रामजी, मेरे प्रश्न करने पर भगवान् ने मुझे भली भांति उपदेश किया जिससे मेरा समस्त अज्ञान निर्मूल हो गया, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार निवृत्त होजाता है, ऐसे ही अज्ञान की आत्यन्तिक और एकान्तिक निवृत्ति हुई, मैंने अपने आपमें परमशुद्धता और निर्मलता का अनुभव किया, जैसे परिमार्जित किया हुआ आदर्श निर्मल होता है, ऐसा मेरा चित्त होगया।

हे रामजी! मैं ब्रह्माजी से भी अधिक हुआ, तब मुझे भगवान् परमेष्ठी ने आज्ञा दी—हे पुत्र! जम्बूद्वीपवर्ती भरतखण्डमें जाकर जीवों को उपदेश करो, जिसको संसार के सुख की इच्छा हो उसे कर्ममार्ग का उपदेश करना, जिससे वह स्वर्गादि सुख भोगकर संसार से विरक्त हो। जिनको आत्मपद की इच्छा हो उन्हें ज्ञानोपदेश करना। अब भूलोक में जाओ।

हे रामजी! इस प्रकार मेरी उत्पत्ति हुई और इस भांति मुझे ज्ञानोपदेश हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षप्रकरणे वसिष्ठोपदेशोगमनवर्णनं नाम दशमः सर्गः ।।१०।।

एकादशः सर्गः ११

अथ वसिष्ठोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! इस प्रकार पृथ्वीपर मेरा आना हुआ, मेरा परिचय यही है कि जिन जीवों को आत्मज्ञान की इच्छा हो, उसको पूर्ण करने के लिये श्रीब्रह्माजी ने मुझे उत्पन्न किया है, रामजी ने कहा—हे मुनीश्वर! उस ज्ञान की उत्पत्ति के बाद जीवोंकी शुद्धि कैसे हुई यह कहिये।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! शुद्ध आत्मतत्व की संवेदन स्फूर्ति स्वभावरूप है, जो ब्रह्मा के रूप में स्थित हुई है, जैसे समुद्र अपनी द्रवता से तरंगरूप होता है, ऐसे ही ब्रह्माजी हुए हैं, और सम्पूर्ण जगत् की रचना उन्होंने की है, तीनों काल उत्पन्न किये, अबतक कितना समय बीत गया, कलियुग आगया, उससे जीवों की बुद्धि मलिन हो गई, और वे पापों में विचरने लगे, उन्होंने वेदशास्त्र की आज्ञा से मुँह मोड़ लिया, ऐसा हो जाने पर धर्मकी मर्यादा लुप्त हो गई, और पापका उदय हुआ, राजधर्म में भी ग्लानि आ गई, सब जीव अपनी इच्छानुसार विचरने लगे और दुःख पाने लगे, उनकी यह दीनदशा देखकर भगवान् ब्रह्माजी के चित्त में दया उत्पन्न हुई, इसी कारण से उन्होंने मुझे भूलोक में यह कहकर भेजा, हे पुत्र! तुम पृथ्वीपर जाकर धर्म की रक्षा करो, और जीवोंको उनके अधिकार के अनुसार यथोचित उपदेश करो। जिसको भोगकी इच्छा हो उसको कर्मकांड अर्थात् जप, तप, स्नान, सन्ध्या और यज्ञादिक का उपदेश करना और जो संसार से विरक्त हुए हैं तथा मुमुक्ष हैं, उनको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना।

हे रामजी! जिस प्रकार ब्रह्माजी ने मुझको आज्ञा देकर भूलोक में भेजा, ऐसे ही सनत्कुमार और नारदजी को भी भेजा गया। तब हम सब ऋषि लोगों ने इकट्ठे होकर विचार करना प्रारम्भ किया, कि जगत् की मर्यादा किस प्रकार सुरक्षित रखी जाये और जीवों की शुभकर्म में प्रवृत्ति

कैसे हो? तब विचार में ही निर्णीत हुआ कि सबसे पहले राज्यकी दृढ़ता से स्थापना होनी चाहिये, अपराध और अनीतिका दण्ड देनेवाले राजा के नियत हो जाने पर जनता उसके भय से निषिद्धाचरण न करेगी। परन्तु राजा बड़ा वीर्यवान्, तेजस्वी और उदारात्मा तथा ज्ञानसम्पन्न होना चाहिये। विचारानुसार इस कार्यक्रम के निश्चित हो जाने पर तदनुसार ही इसे क्रियात्मक रूप दिया गया, अर्थात् राजसत्ता यथोचित रूप से स्थापित हुई और उसके निर्णीत नियम सूत्र द्वारा ही जनता का प्रत्येक कार्य सम्पन्न होने लगा। हम लोगों (ऋषियों) द्वारा राजा लोग अध्यात्मविद्यासम्पन्न किये गये, अनेक राजा लोग परमपद को प्राप्त हुए,परमानन्दरूप अविनाशपद को देनेवाली ब्रह्मविद्याका उपदेश पाकर अनेक राजर्षि कृतकत्य हुए। इसी कारण से ब्रह्मविद्या का नाम राजविद्या है, यद्यपि 'विद्यानां राजा' अर्थात् विद्याओं का राजा होने से ब्रह्मविद्या का नाम राजविद्या है तथापि प्रसङ्गानुसार महत्व बोधक वाचक लिखकर शिष्टाचार दिखाया है। ज्ञानवान् राजाओं की प्रशंसा की गई है। तब हम लोगों ने वेदशास्त्र तथा पुराणनिर्दिष्ट धर्मकी मर्यादा को स्थापित किया, और जप, तप, यज्ञ, दान, स्नान आदि क्रियाको प्रकट करके मानव जाति को इनके आचरण करने का आदेश किया, कि अरे मनुष्यो! इनका सेवन करो सुख पाओगे। तब सब लोग फलकी इच्छा से उन कर्मों का सेवन करने लगे, उनमें ऐसा कोई विरला ही था जो केवल अन्तःकरण की शुद्धिके लिये उन कर्मो को करता हो।

हे रामजी! मूर्ख लोग फलकी आशा पर फूले हुए सकाम कर्म प्रसन्नतासे करते हैं, उन लोगोंको अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार घटीयंत्र के समान कभी ऊपर,कभी नीचे भटकना पड़ता है। जो लोग फलकी आकांक्षा न रखकर केवल चित्त शुद्धि के लिये कर्म करते हैं,उन्हें ब्रह्म विद्या का अधिकार प्राप्त हो जाता है, अर्थात् उन्हें अनायास ही गुरु महाराज के कृपायुक्त उपदेशसे आत्मपद का साक्षात्कार हो जाता है, ज्ञानवान् होकर वे लोग संसार में रहते और सांसारिक व्यवहार करते हुए

जीवन्मुक्त कहलाते हैं, बहुत से राजा हम ऋषि लोगोंका ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो चुके हैं। महाराजा दशरथ भी ज्ञानवान् हैं अब तुमभी परम विरक्त अवस्था में हो, इस स्वाभाविक विरक्ति के कारण तुम अतिश्रेष्ठ हो, क्योंकि वैराग्य ब्रह्मज्ञान का निमंत्रण है, किसीप्रकार के दुःख के कारणसे उत्पन्न वैराग्य उस दुःख कारणके मिट जाने पर मिट भी सकता है परन्तु सब सुखसाधनोंके होते हुए भी विचार द्वारा संसार की नाशवत्ता को देखकर उत्पन्न हुआ स्वाभाविक वैराग्य परमभाग्यवान् को प्राप्त होता है। हे रामजी! यह जो श्मशान आदि कष्टके स्थान कहे जाते हैं इन स्थानों पर सबको वैराग्य उत्पन्न होता है, इनको देखकर मनुष्य कहने लग जाता है संसार क्या है कुछ नहीं, सब नाशवान् है, एक दिन अवश्य मरना है, इत्यादि। इन बातोंसे शुद्धान्तःकरण सात्विकप्रकृति तथा थोड़ा बहुत संयम रखनेवाले मनुष्य का वैराग्य तो दृढ़ हो जाता है, और उसे वह सफल भी कर देता है, परन्तु मूर्खमनुष्य का वैराग्य तो तब तक रहता है, जब तक उसका कारण सामने है।

हे रामजी वैराग्य का कारण न रहने पर मूर्ख मनुष्य फिर विषयों में आसक्त हो जाता है, इसलिये जिनके मनमें अकारण वैराग्य उत्पन्न होता है वही श्रेष्ठ हैं, हे रामजी! उनमें श्रेष्ठता इसी बात की है कि वे अभ्यास और वैराग्य के बल से संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, जैसे हस्ती अपने बल से बन्धन तोड़कर जब निकल जाता है तब सुखी हो जाता है, इसी प्रकार वैराग्य और अभ्यासके बल से ज्ञानी मुक्त हो जाता है।

हे रामजी! यह संसार बड़ा अनर्थरूप है, जिस पुरुष ने अपने पुरुषार्थ से बंधन को नहीं तोड़ा उसको रागद्वेष की आग में निरन्तर जलते रहना पड़ता है, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आदिभौतिक, यह तीन ताप तो उसका एक क्षणभर के लिये पीछा नहीं छोड़ते । जिन पुरुषों ने अपने पुरुषार्थ से शास्त्र और गुरु को प्रणाम करके ज्ञानोपार्जन किया है, वे लोग उस द्वन्दातीत पदको प्राप्त हुए हैं, जहाँ आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिवैदिक इन तापों की पहुँच नहीं, जैसे वर्षा के निरन्तर होते

रहने वाले दावानल वन को जला नहीं सकता, ऐसेही ज्ञानी को आध्यात्मिकादि ताप कष्ट नहीं दे सकते।

हे रामजी! जिन श्रेष्ठ पुरुषों ने संसार को विरस जानकर त्याग दिया है, उनको संसार का कोई पदार्थ गिरा नहीं सकता। सांसारिक पदार्थों का प्रभाव उन अज्ञानी मनुष्यों पर भी पड़ता है जो संसार में आसक्त हैं, जिस प्रकार प्रबल आंधीके चलने से अन्य सामान्य वृक्ष गिरजाते हैं परन्तु कल्पवृक्ष नहीं गिरता, ऐसेही हेरामजी! वे उत्तम पुरुष हैं जिन्हें संसार की नश्वरता और आत्मतत्व की सच्चिदानन्दतापर दृढ़ विश्वास है, जो जगत् की अनित्यता के अनुभूत होनेसे परमविरक्त हुए हैं, वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और ब्रह्मविद्या का भी उनको ही अधिकार है, हे रामजी! तुमभी उन्हीं उत्तम पुरुषों के समान ज्ञानोपदेश के योग्य उज्ज्वल पात्र हो। पृथ्वी को बीजारोपण से पहिले उसके योग्य बनाया जाता है, जब वह मृदु अर्थात् बीज ग्रहण योग्य हो जाय तो उसमें बोया हुआ बीज सफल होता है, इसी प्रकार तुम्हारे हृदय की कोमलता को देखकर हमें प्रसन्नता हुई है कि तुम उपदेश के योग्य हो, अतः मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ! जिसके मनमें सांसारिक भोगोंकी वासना सूक्ष्मरूप से छिपी बैठी है वह पुरुष बाहर से तो परमार्थ सम्बन्धी प्रश्न करता है, परन्तु उसका मन समय पड़नेपर अपने मलिन संकल्पानुसार संसारकी ओर खिंचा हुआ प्रतीत होता है। अतः ऐसा मनुष्य ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं है, श्रेष्ठ पुरुष वही है जो–संसारसागर से पार होने के लिये कृतप्रतिज्ञ है (कि, "कार्यं वा साधयिष्यामि शरीरं वा पातयिष्यामि")।

हे रामजी! प्रश्न भी उनसे करना चाहिये, जिनके प्रति हमें पूर्ण विश्वास और श्रद्धा हो कि वे मेरे प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हैं, यदि ऐसे ब्रह्मवेत्ता पुरुषों का योग न बने तो सामान्य पठित अर्द्धज्ञानी स्वयंसंशयी पुरुष से परमार्थ विषयक प्रश्न कभी नहीं करना चाहिये। और भी एक बात विचारणीय है, कि यदि कोई विद्वान हमारे प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ तो है, परन्तु हमारी उनके प्रति सद्भावना श्रद्धा नहीं

है तो उनसे भी प्रश्न करना ठीक नहीं, क्योंकि दंभसे प्रश्न करने में पाप होता है। गुरु भी ऐसे ही जिज्ञासुको उपदेश करना चाहते हैं, जो सदाचार, संयमी, भक्त, विरक्त और गुरुवाक्यविश्वासी हो, हे रामजी! यदि गुरु और शिष्य दोनों उत्तम हों, तबही उपदेश की शोभा होती है, तुम उपदेश के यथोचित पात्र हो, शास्त्रों में जो गुण, लक्षण, शिष्य के वर्णित हैं सब तुम्हारे अन्दर दिखाई दे रहे हैं, और उपदेश करने में मैं भी समर्थ हूँ, इसलिये कार्यसिद्धि शीघ्र होगी।

हे रामजी! उत्तम और शुभगुणों से तुम्हारी बुद्धि प्रकाशित हो रही है, मेरे सिद्धान्त सारवचन तेरे हृदयङ्गत होंगे। जैसे– उज्ज्वल वस्त्र पर केशर का रंग शीघ्र चढ़ जाता है, ऐसे ही तुम्हारे शुद्धान्तःकरण में मेरा उपदेश सफ़ल होगा, जैसे सूर्यके उदय से कमल विकसित होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा अन्तःकरण अधिकाधिक विकसित हो रहा है, हे रामजी! जो कुछ शास्त्र का सिद्धान्त आत्मतत्व में तुम्हें कहता हूँ, उसको तुम्हारी निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्ति यथावत् ग्रहण करेगी, जैसे निर्मल जल में सूर्य की कान्ति प्रवेश करती है, ऐसे ही आत्मतत्व सिद्धान्त में तुम्हारी मति गतिमती होगी।

हे रामजी! मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे कथन किये वचनों पर तुम्हें आस्तिक भावना रखनी होगी कि इन वचनों से मेरा कल्याण होगा, यदि ऐसी धारणा न हो प्रश्न मत करना, जिस शिष्य को गुरुवचनों में श्रद्धा, विश्वास, और सद्भावना होती है, उसका अतिशीघ्र कल्याण होता है, अतः तुम्हारे लिये परमोचित है कि मेरे वचनों में शुद्ध भावना रक्खो।

हे रामजी! जिस प्रकार से तुम्हें आत्मपदकी प्राप्ति होगी वह प्रकार मैं कहता हूँ—सबसे पहिली बात तो यह है कि जिन अज्ञानी जीवों के विचार आस्तिक नहीं है, उनका कभी संग न करना, और मोक्ष के जो चार द्वारपाल हैं उनसे मैत्रीभाव पैदा करना, क्योंकि उनसे मैत्रीभाव का सम्बन्ध घनिष्ठ हो जाने पर वे मुक्तिमार्ग में परम सहायक बनकर सुख

से मोक्ष द्वार तक पहुँचा देते हैं, ऐसा होने पर तुम्हें आत्मसाक्षात्कार होगा और आत्मदर्शन से तुम कृतकत्य हो जाओगे। अब तुम उन द्वारपालों के नाम श्रवण करो—शम, सन्तोष, विचार, सत्संग, ये चारों द्वारपाल हैं, जो पुरुष इन चारों को वश में कर लेते हैं, उन्हें ये केवल मोक्षद्वार तक ही नहीं किन्तु भीतर तक पहुँचा देते हैं। हे रामजी! यदि चारों नहीं वश हो सकें तो तीनों को वश करो, यदि तीनों भी नहीं तो दो अथवा दो भी नहीं तो एक ही पर विजय प्राप्त करो, एक के वश में आ जाने पर भी यह चारों वशीभूत हो जाते हैं क्योंकि इन चारों का परस्पर परम स्नेह है, जहाँ एक आता है वहाँ चारों आकर रहने लग जाते हैं, इनसे स्नेह करनेवाला पुरुष परम सुखी हो जाता है, और इनसे विमुख रहनेवाले मनुष्य को दुःख उठाना पड़ता है। हे रामजी! प्राणान्त कष्ट पाकर भी एक साधन तो वश में कर लेना ही चाहिये, एक के वश में आजाने पर शेष तीनों भी वश में आजायँगे, तुम्हारी बुद्धि परम सात्विकी है, सत्पुरुषों और शास्त्रों ने जो निर्मल गुण कहे हैं वे सब तुम्हारे अन्दर इस प्रकार सन्निविष्ट हैं जैसे सूर्य में सब प्रकाश निहित हैं। हे रामजी! अब तुम हमारे वचनों के अधिकारी हुए हो, जैसे चंद्रमा को देखकर नीलकमल खिलते हैं, वैसे ही शुभ गुणों द्वारा तुम्हारी बुद्धि विकसित हुई है, हे रामजी! सत्संग और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) द्वारा बुद्धिविकास हो जाने पर आत्मतत्व में प्रवेश हो जाता है, अतः श्रेष्ठ पुरुष वही है जिसने संसार को सारहीन जानकर इसका त्याग किया है और सत्पुरुषों (ज्ञानवान् महात्माओं) और ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मपद पाने के लिये यत्नशील हुआ है, वही वीरपुरुष उस सर्वोच्च अविनाशी पद को प्राप्त होता है, जो लोग संसार का त्याग करके भी फिर संसार की ओर लगे हैं वे महामूर्ख हैं, जड़ हैं, जैसे जल शीतलता की अधिकता से बर्फ (जड़) हो जाता है ऐसे ही अज्ञानी भी अज्ञान की अधिकता से आत्ममार्ग से अतिदूर हो जाने से जड़ हो जाता है, हे रामजी! अज्ञानी का हृदय बिल है, उसमें दुराशारूप सर्प रहता है, उसे कभी शान्ति नहीं

मिलती, उसका मन आनन्द से कभी प्रफुल्लित नहीं होता, कई प्रकार की आशाओं से सदा संकुचित रहताहै, हे रामजी! आत्मपद के साक्षात्कार में विशेष आवरण आशा ही है, जैसे सूर्य के आगे मेघ का आवरण होता है, ऐसे आत्मतत्त्व के आगे दुराशा का आवरण होता है, इस आशारूप आवरण के दूर हुए बिना कभी आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता और यह आशातृष्णारूप विघ्न बिना सत्संग और शास्त्र विचार के निर्मूल नहीं हो सकता।

हे रामजी! संसार एक वृक्ष है, यह ज्ञान खड्ग से काटा जा सकता है, जब सत्संग और सत्शास्त्र द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण हो तब संसाररूप भ्रम का वृक्ष नष्ट हो जाता है, जब शुभगुण अधिकता से चमकने लगते हैं, तब ज्ञानसूर्योदय का समय समीप सा आया प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ कमल होते हैं वहां भौंरे आ जाते हैं, शुभ गुणों में आत्मज्ञान का मानो निवास है, हे रामजी! शुभगुण ऐसा तीव्र पवन है कि इससे इच्छारूपी मेघ निवृत्त हो जाता है, तब आत्मज्ञानरूप चन्द्रमा का साक्षात्कार हो जाता है, जैसे चन्द्रमा के उदय से आकाश सुशोभित होता है, ऐसे ही आत्मसाक्षात्कार से तुम्हारी बुद्धि परम सुशोभित तथा विकसित होगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षप्रकरणे वसिष्ठोपदेशवर्णनं नाम एकादशः सर्गः ॥११॥

द्वादशः सर्गः १२

अथ तत्वज्ञमाहात्म्य वर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! अब तुम हमारे उपदेश के पूर्णतया अधिकारी हो, क्योंकि तप, वैराग्य, विचार, सन्तोष आदि जो शुभ गुण सन्तों और शास्त्रों ने कहे हैं वे सब तुम्हें प्राप्त है, इसलिये तुम हमारी बात सुनो—परन्तु रज और तम गुणको त्यागकर शुद्ध सत्वगुणवान् होकर ही हमारी बातें सुननी होंगी, शास्त्रों में जिज्ञासु के जो लक्षण तथा गुण

कहे हैं वे सब तुम्हारे अन्दर सुचारुरूप से विद्यमान हैं, और गुरु के लक्षण गुण जो शास्त्रों में गाये गये हैं वे मेरे अन्दर पूर्ण रूप से विराजमान हैं। जैसे समुद्र रत्न सम्पन्न है ऐसे ही मैं ज्ञान रत्न सम्पन्न हूँ, इसलिये तुम मेरे वचनों के अधिकारी हो। मूर्खमनुष्य को हमारे वचनश्रवण का अधिकार नहीं है। हे रामजी! जैसे चन्द्रमा के उदय से चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होने लगती है, तब उसमें से अमृत झरता है, परन्तु पत्थर की शिला द्रवित नहीं होती, यही कारण है कि जिज्ञासु को ही हमारे परमार्थ के वचन स्पर्श करते हैं, अज्ञानी को नहीं, हे रामजी! यदि शिष्य तो शुद्ध पात्र हो और उपदेश करने वाला ज्ञानवान् न हो तो शिष्य को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं, यदि तुम मोक्ष के पात्र हो तो मैं भी परमगुरु हूँ, इसलिये मेरे उपदेश से तुम्हारा अज्ञान निर्मूल नाश हो जायेगा।

मैं मोक्ष का उपाय कहता हूँ, उसको तुम भली भाँति विचारोगे तो तुम्हारी मनोवृत्ति में जितनी भी मलिनता है निवृत्त हो जायेगी, जैसे महाप्रलय के सूर्य से मंदराचल पर्वत जल जाता है। इसलिये हे रामजी! वैराग्य और अभ्यास के बल से इस मन को अपने आपमें ही लीन करके शान्तात्मा हो जाओ, तुम्हारा अभ्यास बाल्यकाल से चला आ रहा है, अतः मन उपशम पाकर आत्मपद को प्राप्त होगा। हे रामजी! सत्संग और सत्शास्त्र द्वारा जिन लोगों ने आत्मपद को प्राप्त किया है वे सुखी हुए हैं, उनको दुःख स्पर्श नहीं कर सकता। क्योंकि दुःख तो देहाभिमान से होता है, तो देहाभिमान को तो उसने त्याग किया है, जिसने देह का अभिमान त्याग दिया है और देह को आत्मरूप से ग्रहण नहीं करता तभी तो सुखी है, हे रामजी! जिसने आत्मबल से विचार द्वारा आत्मपद को पाया है वह सदा अकृत्रिम आनन्द से परिपूर्ण है, उसको सब जगत् आनन्दरूप भासता है, जो लोग असम्यग्दर्शी हैं उनको जगत् अनर्थरूप भासता है, हे रामजी! संसाररूप जो यह संसार सर्प है अज्ञानी के हृदय में दृढ़ हो गया है, यह योगरूप गारुड़ मन्त्र से नष्ट हो सकता है, अन्यथा नहीं। सर्प के विष से एकबार ही मृत्यु होती है परन्तु संसाररूप सर्प के

विष से तो अनेक बार मरना और उत्पन्न होना पड़ता है, कभी शान्ति नहीं मिलती।

हे रामजी! जिन पुरुषों ने सत्संग और सत्शास्त्रों की कृपा से आत्मपद प्राप्त कर लिया है वे तो परमानन्दित हुए हैं, उनको अन्दर बाहर सब जगत् आनन्दरूप भासता है, वे सब कार्य करने में आनन्द मानते हैं, और जिन लोगों ने सत्संग और सत्शास्त्रसे विमुख रहकर इनका त्याग किया है, वे दुःखके भागी है, संसारमें आसक्त हैं, अनेक प्रकार के दुःख भोग रहे हैं, संसार में ममता रखनेवाले अज्ञानी मनुष्यों को जो असह्य कष्ट होता है वह सर्पके दंश और शस्त्र के प्रहार से भी बढ़कर दुःख है, क्योंकि सर्पदष्ट या शस्त्रहत एक ही बार मरता है, परन्तु संसार की आसक्ति का दुःख बार बार मारता और उत्पन्न करता रहता है। हे रामजी! जिन पुरुषों ने सत्संग और ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मपद को प्राप्त नहीं किया, उन्हें अत्यन्त कष्ट भोगने पड़ते हैं, शास्त्रों में उनके अनेक प्रकार के नरक दुःखों का वर्णन मिलता है, जैसे उन्हें विषपान करना पड़ता है, उनपर पाषाणों की वर्षा होती है, कोल्हू में निपीड़ित किये जाते हैं, शस्त्रों से कटते हैं। हे रामजी! ऐसा कोई दुःख नहीं जो इन अज्ञानी संसारियों को नहीं होता, प्रमाद द्वारा मनुष्य स्वयं दुःख को निमत्रंण देता है, ये लोग जिन वस्तुओं को रमणीय जानकर उनमें आसक्त होते हैं, वे सब चक्र के समान चंचल है, कभी स्थिर नहीं रहतीं, परमकल्याणकारी सन्मार्ग को छोड़कर जो इन आपातरमणीय सुख भोगों की इच्छा करते हैं वे महादुःख पाते हैं, और जिस पुरुष ने संसार को विरस जाना है और उधर कुछ पुरुषार्थ भी किया है, उसे अवश्य ही आत्मपद की प्राप्ति होती है।

हे रामजी! जिन पुरुषों को आत्मपद की प्राप्ति हुई है, उनको फिर दुःख नहीं होता, यदि ऐसे यत्नशील श्रद्धालु लोगों के भी कार्य सिद्ध न होते तो ज्ञानके निमित्त पुरुषार्थ कोई न करता। इसलिये जो अज्ञानी हैं, उनके लिये संसार दुःखरूप है, और ज्ञानी को सब जगत् आनन्दरूप है,

अपना ही आप है, उसे कोई भ्रम शेष नहीं रहा। हे रामजी! ज्ञानवान् अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ भी, सदा शान्तरूप है, आनन्दरूप है, उसको संसार का कोई दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, क्योंकि उसने ज्ञानरूपी कवच धारण किया है।

हे रामजी! ज्ञानवान् को भी दुःख होता है, बड़े-बड़े, ब्रह्मर्षि और राजर्षि जो कि ज्ञानवान् थे, दुःखको प्राप्त हुए मालूम होते हैं, परन्तु वे ज्ञानवान् उस दुःख से आतुर नहीं होते, क्योंकि उन्होंने ज्ञानका कवच धारण कर रक्खा है, इसलिये उन्हें कोई दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, वे सदा आनन्दरूप हैं, जैसे–ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, नाना प्रकार की चेष्टा करते जीवके देखने में आते हैं, वे अन्दर से सदा शान्तरूप हैं, उनके अन्दर कर्तापन का अभिमान नहीं फुरता, जैसे अभिनेता दुःख और सुखरूप वाले कई अभिनय करता हुआ कभी रोता, कभी हँसता, देखने में आता है, परन्तु अन्दर से वह हर्ष शोक के भाव से रहित स्वरूप में स्थित है इसी प्रकार ज्ञानवानों के सुखदुःखात्मक विकार भी प्रदर्शन मात्र होते हैं।

हे रामजी! यह मोहरूप विशाल विषवृक्ष ज्ञानरूप शरत्कालमें नष्ट हो जाता है, इसी कारण से ज्ञानवान् सदा आनन्दपरिपूर्ण स्वसत्ता में स्थित है, ज्ञानवानोंका प्रत्येक कार्य उनका विलासमात्र है, ज्ञानवान् महात्मा ऐसे विचित्र, शरीररूप रथमें बैठा हुआ है जिसमें इन्द्रियरूप संयत घोड़े जुते हुए हैं और जिसको बुद्धिरूप निपुण सारथी मनके निग्रह द्वारा घोड़ों को अपने वश रखता हुआ सन्मार्ग पर चला रहा है, अतः ज्ञानवान् महात्मा सदा सर्वथा द्वन्द्वातीत, निर्विकार निर्भय, निरामय आत्मपदमें स्थित परमानन्द परितृप्त है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे तत्वज्ञमाहात्म्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः॥ १२॥

त्रयोदशः सर्गः १३

अथ समवर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! इसी ज्ञानवान् महात्माओं की सी स्थिति से रहना चाहिये, ऐसा करने से ज्ञानपुष्ट हृदय पुरुषको फिर कभी संसार के इष्ट अनिष्ट कर्म विचलित नहीं कर सकते। जिन पुरुषों को इस प्रकार आत्मपद की प्राप्ति हुई है वे परमानन्दित हुए हैं कभी शोक नहीं करते, किसी प्रकार की याचना नहीं करते, उपाधिरहित परमशान्तरूप अमृत से पूर्ण हैं। वे पुरुष नाना प्रकार की चेष्टा करते देखने में आते हैं, परन्तु कुछ नहीं करते, उनकी मनोवृत्ति जहाँ-जहाँ होती हैं वहाँ वहाँ ही उन्हें आत्मसत्ता भासती है अर्थात् वे सचेष्ट होने पर भी समाधिस्थ होते हैं– (यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः) वे आत्मानन्द से परिपूर्ण हैं, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्ण रहता है, ऐसे ही ज्ञानवान् आनन्द से पूर्ण रहता है, हे रामजी! यह जो मैंने आपको अमृतरूप वृत्ति कही है इसको जब जान लोगे तब तुम्हें साक्षात्कार होगा। जब जिसको आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, तब उसके सब दुःख निर्मूल हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा के मण्डल में अन्धकार नहीं होता ऐसे ही ज्ञानी को अशान्ति कभी नहीं होती। अज्ञानी लोग जो भी काम करते हैं, उसीमें दुःख पाते हैं।

हे रामजी! इस जीवको मूर्खता के कारण अनेक दुःख पाने पड़ते हैं, सबसे बड़ा दुःख तो है ही मूर्खता, ऐसा विचित्र दुःख और कोई नहीं, संसार में तो मूर्ख की निन्दा होती ही है, शास्त्रों ने इसकी बड़ी निन्दा की है, महापुरुषों का अनुभव यह कहता है कि संसार में ऐसी कोई विपत्ति नहीं जिसमें मूर्खता के दुःख के समान दुःख हो, यह मूर्खता अति दुःख देनेवाली बीमारी है।

हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मतत्व की जिज्ञासा हो,और वह हाथमें खप्पर लेकर चण्डाल के घर में भिक्षा लेने जाय जो उसको भी

परम ऐश्वर्यवान् मानना चाहिये मूर्खता से राजा बनकर भी जीना व्यर्थ है। उस परम मूर्खता को दूर करने के लिये मैं तुम्हें मोक्ष का उपाय कहता हूँ।

हे रामजी! यह मोक्ष का उपाय परम बोध का कारण है, कुछ बुद्धि संस्कारी होनी चाहिये, अर्थात्–जिसको बुद्धि पद पदार्थ ज्ञान रखती है, वह पुरुष मोक्षप्राप्ति के लिये ब्रह्मविद्या का विचार करे तो उसकी मूर्खता नष्ट हो जायेगी तथा उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी, जैसा आत्मबोध का कारण यह (वेदान्त) शास्त्र है ऐसा त्रिलोक में कोई नहीं, इसमें नाना प्रकार दृष्टान्तों सहित इतिहास हैं। इस शास्त्र में प्रविष्ट होकर जब विचारपूर्वक इसका अध्ययन करोगे तब तुम्हें परमानन्द की प्राप्ति होगी। अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करने के लिये यह ज्ञानरूप शलाका है, जैसे सूर्य अन्धकार को नाश करता है, ऐसे ही इस शास्त्र का विचार अज्ञान को नाश करता है। हे रामजी! जिस प्रकार जिज्ञासु का कल्याण होता है, सुनो– ज्ञानवान् गुरु शास्त्र का उपदेश करे, और जिज्ञासु को अपने अनुभव से भी काम लेना चाहिये, जब गुरु और शास्त्र तथा अपना अनुभव यह तीनों इकट्ठे मिलें, तब इसका कल्याण होता है, जब तक अकृत्रिम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई, तब तक दृढ़ अभ्यास करना आवश्यक है। उस अकृत्रिम आनन्द को प्राप्त कराने वाला गुरु मैं हूँ। जीवमात्र का मैं मित्र हूँ, हमारी संगति से जीव को परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिये जो कुछ हम कहें, उसे तुम्हें करना चाहिये।

हे रामजी! यह सांसारिक भोग क्षणभंगुर हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिये क्योंकि विषयों का परिणाम दुःखदायक है। इनको दुःखरूप जानकर छोड़ दो और हमारे जैसे ज्ञानवानों का संग करो, हम जो कुछ कहें उस पर विचार करोगे तो तुम्हारे सब दुःख निर्मूल नाश हो जायँगे, हे रामजी! जिस पुरुष ने हमारी बातों पर श्रद्धासहित प्रेम के साथ विश्वास किया है, उसको आनन्द पद की प्राप्ति हुई है, अर्थात् जिस आनन्द से ब्रह्मादि आनन्दित हैं, और ज्ञानवान् जिससे आनन्दित हुए हैं,

उसी परमानन्द से वे भी आनन्दसरोवर हो जाते हैं, इसलिये उत्तम पुरुष वही है जिसने मानव शरीर को वृथा विषयों में न गवांकर संयम के साथ कामादि शत्रुओं को परास्त करके हमारे जैसे ज्ञातज्ञेय महात्माओं की शरण में आकर अपना आत्मपद प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध कर लिया है, जिसने सत्पुरुषों के सद्वचनों और शास्त्रके विचार द्वारा दृश्यको अदृश्य जाना है वह निर्भय हुआ है, आत्मविषय में प्रमाद करने से जीव दीन हो जाता है, अज्ञानी का हृदय कमल तब तक संकुचित रहता है, जब तक तृष्णारूप रात्रि होती है, ज्ञान सूर्यका उदय होतेही तृष्णारात्रि का अत्यन्ताभाव हो जाने पर हृदयरूप कमल आनन्द से खिल जाते हैं।

हे रामजी! जिस पुरुषने परमार्थ के मार्गको गौण और संसार को प्रधान माना है, वह सांसारिक भोगों में मग्न रहकर जानबूझकर महती हानि करता है, वह इस बातको भलीभाँति जानता है कि यह सांसारिक सुखभोग आपात रमणीय और परिणाम में नितान्त दुःखदायक हैं परन्तु फिर भी प्रमादवश ऐसा कर ही बैठता है, ऐसा मनुष्य उस अज्ञानी मनुष्य से भी अधिक मूर्ख है जो प्रमाद नहीं, अपितु अज्ञान के वश से ही संसार की ओर खिंचा हुआ है, उसको आत्ममहिमा का किंचित् भी परिचय नहीं, परन्तु प्रमादी मनुष्य आत्मशक्ति के विषय में अल्पाधिक परिचय रखते हुए भी जो आत्मविमुख हुआ है यह उसका अक्षम्य अपराध है। हे रामजी! यह संसार आपत्तियों का समुद्र है, इसमें पड़े हुए लोगोंमें जो कोई श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे सत्संग और सत्शास्त्र (ब्रह्मविद्या) के विचार के आधार से इसके पार पहुँच जाने का प्रयत्न करते हैं, और सफल हो जाते हैं, यद्यपि उनको इस अगाध दुःख जलनिधि से पार होने के लिये अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु उस परिश्रम का प्रतिफल भी उन्हें उस प्रयास के अनुकूल अथवा उससे भी कहीं बहुत अधिक प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति से वे कृतार्थ हो जाते हैं, उनकी प्रतिदिन की खटखट ही मिट जाती है; आत्मज्ञान के

विना दुःख नाश का उपायान्तर कोई है ही नहीं, संसार सुखों में आसक्त मनुष्य संसार के ही सुख साधनों से अजर अमर होना चाहता है परन्तु कागज की नाव से नाव का काम कैसे लिया जा सकता है, इस प्रकार की विपरीत भावना वाला मनुष्य दुःख से महादुःख कष्ट से अति कष्ट तथा नरक से घोर नरकरूप दुरावस्था को ही प्राप्त होता है। जो मानव विष को विष जानकर भी पान करना चाहे उसको कौन बचा सकता है, इस लिये संसार को असत्य जानकर, फिर संसार की ही ओर झुकना महामूर्खता है।

हे रामजी! जो पुरुष आत्मपद को कल्याणरूप जानता हुआ भी आत्मपद प्राप्ति के अभ्यास छोड़कर संसार की ओर दौड़ता है, वह इस प्रकार का काम कर रहा है, जैसे किसी को घर में लगी हुई आग का ज्ञानं तो हो, परन्तु फिर भी वह तृण की शय्या बिछाकर सो जाय तो उसका परिणाम जैसे बिना नाशके और कुछ नहीं हो सकता, इसी प्रकार आत्मप्रमादी लोग भी अपना नाश जानबूझकर करते हैं, जिन संसार के पदार्थों को देखकर मनुष्य इतना रागवान् होता है तज्जन्य सुख तो बिजली की चमक मात्र है, क्षणस्थायी भी नहीं, क्षणभंगुर है, जो वस्तु होकर नहीं रहती अर्थात् स्थिर नहीं है, उसका भानमात्र भी नहीं के समान है, इसलिये यह संसार के सुख दुःख आगमोपयी हैं।

हे रामजी! यह संसार अविचार से भासता है, और विचार करने से लुप्त हो जाता है, यदि विचार करने पर भी संसार का अभाव सिद्ध न होता तो तुमको उपदेश करने की आवश्यकता न थी, परन्तु ऐसीं बात नहीं, उपदेश का वैयर्थ्य नहीं है, इसलिये सर्वथा पुरुषार्थ चाहिये। जैसे हाथ में दीपक होते हुए भी कोई कुएँ में गिर जाये तो यह उसकी मूर्खता है, ऐसे ही, संसारभ्रम के निवारण करनेवाले गुरु और शास्त्र के विद्यमान रहते हुए भी कोई उनकी शरण में न जाय तो वह मूर्ख है।

हे रामजी! जिन पुरुषों ने सत्संग और सत्शास्त्र के विचार द्वारा

आत्मपद प्राप्त कर लिया है, वह पुरुष कैवल्यभाव को प्राप्त हुए हैं, उनका संसार भ्रम निवृत्त हो चुका है।

हे रामजी! यह संसार मनसे उत्पन्न हुआ है, जीव का कल्याण बान्धवों से नहीं हो सकता, धन से या प्रजा (पुत्रपौत्रादिकों) से भी नहीं हो सकता, तीर्थों और देवद्वारों के सेवन मात्र से भी नहीं हो सकता, किन्तु केवल मात्र मन के जीतने से हो सकेगा।

हे रामजी! जिसको ज्ञानवान् परमपद कहते हैं तथा जिसको रसायन कहा जाता है, जिसको पा लेने से जीव अजर अमर और सर्वसुखपूर्ण हो जाता है, यही ज्ञान वस्तु है, इसको प्राप्त करने के साधन समता और सन्तोष हैं, इनसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है, आत्मज्ञानरूप एक वृक्ष है इसका पुष्प है शान्ति, स्थिति इसका फल है, जिस पुरुष को यह ज्ञान प्राप्त हुआ है वह शान्तिमान् हुआ है, वह संसार में निर्लेप रहता है, उसको संसार के भावाभावका स्पर्श नहीं होता, जैसे आकाश में सूर्य उदय होता है,तब जगत् की क्रिया का प्रारम्भ होता है, जब वह अदृश्य हो जाता है तब क्रिया भी लुप्त हो जाती है, उस क्रिया के होने में जैसे आकाश ज्यों का त्यों है, ऐसे ही ज्ञानवान् सदा निर्लेप है। इस आत्मज्ञान की उत्पत्ति का उपाय यह मेरा श्रेष्ठ शास्त्र है।

हे रामजी! जो पुरुष इस मोक्षोपाय शास्त्र को श्रद्धासंयुक्त होकर पढ़े अथवा सुने, वह उसी दिन से मोक्ष का भागी हो जाता है। मोक्ष के चार द्वारपाल हैं, उनका वर्णन करके मैं तुम्हें सुनाता हूँ, इनमें से एक भी जब वश में हो जाता है तो जिज्ञासु की मोक्षमार्ग प्रवृत्ति हो जाती है, अब चारोंके नाम सुनो—

हे रामजी! शम इसके परम विश्राम का कारण है और यह दृश्य प्रपंच मरुस्थल की नदी के समान है, इसको देखकर अज्ञानी मनुष्य उन मृगों के समान भटक रहे हैं, जो मरुमरीचिका में जलबुद्धि करके भ्रान्त हुए दौड़ते हैं परन्तु शान्ति से वंचित ही रहते हैं, जैसे मरुस्थल के भ्रान्त, प्यासे, और परम दुःखी मृगों को बादल बरसने पर ही प्यास की शान्ति

और तृप्ति मिल सकती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार अज्ञानी पुरुषों को भी उस शमरूप वर्षा के बिना शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

हे रामजी! शम ही परमआनन्द है, शम ही परमपद है तथा कल्याणप्रद है, जिस पुरुष ने शमसाधन को पा लिया है उसने संसार समुद्र को पार कर लिया है। वह परम प्रसन्न है, उसके शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। हे रामजी! जैसे—जब चन्द्रमा का उदय होता है, तब अमृत कण झरते हैं, शीतलता होती है, इसी प्रकार जिसके हृदय में शमरूप चन्द्रमा का उदय होता है, उसके सब ताप मिट जाते हैं, वह परम शान्तिमान् हो जाता है, हे रामजी! यह शम (ब्रह्म) अमृत के समान है, शमके साक्षात्कार से मानव की परमशोभा होती है, ऐसा आनंद अमृतपान से नहीं मिल सकता। ब्रह्माण्ड की लक्ष्मी के प्राप्त होने पर भी इस अनिर्वचनीय सुख के शतांश की तुलना नहीं हो सकती।

हे रामजी! प्राणों से भी अधिक प्रिय, स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, आदि कोई सम्बन्धी हमसे वियुक्त होकर वर्षों से अज्ञात हो गया हो, अकस्मात् उसका हमारे साथ मेल हो जाने पर जो महान् आनन्द प्राप्त हो सकता है वह भी शम के सम नहीं। हे रामजी! श्रवण, मनन और निदिध्यासन से अतिरिक्त अन्य सब विषयों से मन के नितान्त निवृत्त हो जाने का नाम शम है, इसी शमसाधन के पूर्णरूप से प्राप्त हो जाने पर समस्त विघ्नबाधाओं का निर्मूल नाश हो जाता है, शम के प्रताप से निर्मल हुए मनोमन्दिर में अनेक दिव्य गुणरूप परमार्थ शक्तियों का आभास होने लगता है। इन्द्रियों के स्रोत परम सात्विक हो जाते हैं, मनुष्य परमानन्द का अनुभव करने लगता है। वास्तव में यह शमसाधन समस्त साधनों का परिणामरूप है, आत्मसाक्षात्कार के लिये जिस ढंग के हृदय की आवश्यकता होती है उसका निर्माणकर्ता शम है, सच पूछो तो इसी को ब्रह्मसाक्षात्कार कहने में कोई विशेष अतिशयोक्ति नहीं, परन्तु इस परमोच्चसाधन को प्राप्त करना महान् कठिन और प्रयत्नसाध्य है। इसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य के अन्दर विचार करने की शक्ति आ

जाती है और इसके अनन्तर बारी भी विचार की ही आती है, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह दोनों अन्योअन्याश्रित है। यदि शम साधन की सिद्धि हो जाने पर विचार की उत्पत्ति कही जाती है तो शम की उत्पत्ति भी बिना विचार के नहीं हो सकती। अतः शम की प्राप्ति के लिये भी विचार की आवश्यकता है, विचारहीन मनुष्य संसार की अनेक प्रकार की भूलभुलैयाँ में पड़ा हुआ जो अनेक विचित्र दुःख भोग रहा है यह उन बेलगाम, स्वच्छन्द, विचारशून्य, मन की बहकाई हुई, विषयपरवश, अजित इन्द्रियों की ही कृपा का कुफल है। विचारवान् की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टा भी शमसम्पन्न मन की सावधानता में संपन्न हो रही है। अतः शमसाधन की प्राप्ति के लिये बहुत फूँक-फूँक कर चलने की आवश्यकता है, जो अतिकठिन कार्य है जैसे—नदियों के प्रवाह उलटे नहीं बहाये जा सकते, उनको ऐसा रूप देने में असीम कठिनता है, इसीप्रकार शम साधन की प्राप्ति के लिये भी इन्द्रियों पर विजय पाकर विचारसे भी काम लेना पड़ता है, अतः शमसाधन जितना आनन्दप्रद है उतना ही दुर्लभ है, पूर्ण संयत पुरुषही यथार्थ शमवान् हो सकता है, जिस पुरुष के समस्त इन्द्रियवेग शम के शीतल प्रताप से शुद्ध, प्रबुद्ध तथा परमशान्त हो चुके हैं, उसके समान स्वर्गस्थ सुरेश तथा मर्त्यलोकस्थित विश्वसम्राट भी सुखी नहीं है, शमवान् पुरुष की तेजोग्नि से ही उसके त्रिविधताप जलकर निश्शेष हो जाते हैं, शमवान् पुरुषही ब्रह्मसाक्षात्कार का अधिकारी है अथवा रूपान्तर से यह शमवत्ता ही ब्रह्मसाक्षात्कृति है, जैसे—ब्रजशिला को बाण नहीं बेधन कर सकता, इसी प्रकार जिस पुरुष ने शमरूप कवच धारण किया है उसका आध्यात्मिकादि दुःख स्पर्श नहीं कर सकते, वह सर्वदा शान्तरूप रहता है।

हे रामजी! संसार में बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान्, कर्मकाण्डी, याज्ञिक तथा सकल शास्त्रनिष्णात् विलक्षण पुरुष देखे जाते हैं जिनकी जगत् में बड़ी महिमा तथा महान् मानसम्मान होता है, परन्तु जो पदवी शमवान् की है उसको दूसरा कोई प्राप्त नहीं कर सकता, शमवान् पुरुष तो इन बड़े-बड़े विद्वानों और कर्मकांडियों के भी पूजने योग्य है, उसकी

मनोवृत्ति आत्मतत्वाकार होने से अतीव सुशोभित होती है, जिसके अन्तःकरण में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पाँचों विषय, रागद्वेष द्वारा किसी प्रकार की इष्टानिष्टअवस्था उत्पन्न नहीं कर सकते, उसको शमवान् कहा जाता है, वह महापुरुष अब संसार के रमणीय पदार्थों की चकाचौंध के प्रलोभन से बाहर निकल चुका है, उसपर अब इस जगन्मोहिनी माया के जादू का प्रभाव नहीं पड़ सकता, वह संसारस्वप्न से जाग्रत अवस्था में आ चुका है, वह शुद्ध, निर्लेप परब्रह्मरूप है, उसके दर्शन मात्रसे संसार मनुष्य भी वैराग्य की ओर झुकने लगता है, उसके वचन तो वेद वाक्यों सा असर रखते हैं, शमवान् पुरुष जल में कमल के समान निर्लेप रहता है, हे रामजी! संसार समुद्र से पार होने की इच्छावाले पुरुष को शमवान् होना चाहिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे शमनिरूपणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

चतुर्दशः सर्गः १४

अथ विचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! अब विचार का निरूपण सुनिये! जब अन्तःकरण पवित्र होता है तब विचार की उत्पत्ति होती है, शास्त्रों के विचार करने से बुद्धि तीक्ष्ण होती है, हे रामजी! अज्ञानरूप गहनवन में आपत्तिरूप बेल की उत्पत्ति हुई है, जिसके विकट कष्ट से अखिल जगत् परमव्याकुल हो रहा है, उसको जब विचाररूप खड्ग से काटकर निर्मूल कर दोगे तब आत्मशांति होगी। मोहरूप हाथी जीव के हृदय कमलको खण्ड खण्ड कर देगा, जबतक विचाररूप सिंह प्रकट होकर इसका नाश न करेगा, तब तक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

हे रामजी! जिसको भी कुछ सफलता मिली है, विचार और पुरुषार्थ से मिली है। राजपदवी भी विचार द्वारा पुरुषार्थ करने से ही मिलती है, बल, बुद्धि, तेज, और चतुर्थ है वस्तु की निष्पत्ति, और पंचम उसकी प्राप्ति, यह पांचों बातें पूर्ण पुरुषार्थ से होती हैं, यह जो इन्द्रियों का

विजय और बुद्धि, शुद्धि आदि कठिन कार्य हैं, बिना विचार और पुरुषार्थ के इनकी सिद्धि असम्भव है, हे रामजी! जिसने विचार का आश्रय लिया है और उसमें दृढ़ता से पुरुषार्थ किया है वह पुरुष जो कुछ चाहता है उसे प्राप्त कर लेता है, इसलिये विचार इसका परममित्र है, विचारवान् पुरुष आपत्ति में मग्न नहीं रहता, जैसे तुम्बी पानी में डूबती नहीं ऐसे ही विचारवान् आपत्ति में डूबता नहीं, उसका विचारपूर्वक किया हुआ प्रत्येक कार्य देना, लेना, आदि सब सफल होते हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चारों दुर्लभ पुरुषार्थ भी विचार द्वारा सुलभ हो जाते हैं विचार कल्पवृक्ष है इसके द्वारा यदर्थभी प्रयास किया जाय तदर्थ की ही तत्काल प्राप्ति होती है।

हे रामजी! शुद्ध ब्रह्म की सविचार उपासना करने से आत्मपद को प्राप्त करो। जैसे अन्धकार में दीपक से पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसे ही पुरुष, विचार से सत्य, असत्य की पहिचान कर सकता है, जिसने असत्य को त्यागकर सत्यप्राप्ति के लिये यत्न किया है, उसको विचारवान् कहते हैं, हे रामजी! संसार समुद्र में आपत्तिरूप अनेको तरंग उठते रहते हैं, विचारवान् पुरुष संसार के भाव अभाव में कष्टवान् नहीं होता, क्योंकि जो क्रिया विचारयुक्त होती है उसका परिणाम सुख होता है, जो विचारहीन चेष्टा होती है उससे दुःख मिलता है। हे रामजी! अविचार एक कंटीला वृक्ष है, इससे दुःखरूप अनेक कांटे उत्पन्न होते हैं, अथवा अविचार एक ऐसी रात्रि है जिसमें तृष्णारूप पिशाचिनी नाच रही हो, परन्तु विचाररूप सूर्यके होते ही अविचाररूप रात और तृष्णारूप पिशाचिनी लुप्त हो जाती है।

हे रामजी! हमारा यही आशीर्वाद है कि तुम्हारे हृदय में विचार सदैव उदित रहे, जिससे कभी अविचाररूप रात्रिका प्रवेश न हो सके और कदाचित् भी अविचार आपका स्पर्श न कर सके।

हे रामजी! अविचारित कार्य दुःखप्रद है, जैसे—चूहा बिल खोदकर मिट्टी निकालता है जहां वह मिट्टी इकट्ठी होती है वहां अवश्य ही कोई न कोई लता उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही विचार का त्याग करके मनुष्य जो

क्रिया करता है, उससे आपत्ति रूप बेल उत्पन्न होती है, जिसके विचित्र फल मधुर प्रतीत होते हुए भी परिणाम में विषरूप हैं, अतः जिससे शास्त्रानुसार शुभ क्रिया न हो सके, उसी का नाम अविचार है।

हे रामजी! विवेकरूप राजाकी प्रजा का नाम विचार है। जहाँ विवेकरूप राजा आता है वहां विचाररूप प्रजा उसके साथ रहती है, और जहां विचाररूप प्रजा जाती है विवेकराजा भी वहीं जा विराजते हैं, जो पुरुष विचारसम्पन्न है वह जगत्पूज्य है, उसको सब नमस्कार करते हैं, जैसे द्वितीयाके चन्द्रमा को सब नमस्कार करते हैं, ऐसे ही विचारवान् को सब नमस्कार करते हैं। हे रामजी! हमारे देखते-देखते अल्पबुद्धि मनुष्य भी विचारकी दृढ़ता से मोक्ष पद को प्राप्त हुए हैं, इसलिये विचार सबका परममित्र है, विचारवान् पुरुष हिमाचल के समान अन्दर बाहर से शीतल रहता है। विचार से पुरुष ऐसे सर्वोच्च पद को प्राप्त होता है जो नित्य है, निर्मल है, अनन्त है, परमानन्दरूप है, उसको प्राप्तकर लेने पर किसी अन्य वस्तु के पाने की इच्छा शेष नहीं रहती, जैसे– तरंग के उठने और बैठजाने में समुद्र समान रहता है, ऐसे ही विवेकी पुरुष को इष्ट तथा अनिष्ट में समता रहती है, उसका संसारभ्रम मिट जाता है, आधाराधेय से रहित के बल अद्वैत तत्त्व उसको भासता है।

हे रामजी! यह जगत् अपने मन के मोह से उत्पन्न होता है और अविचार से दुःखदायी दीखता है, जैसे विचारहीन बालक को बैताल भासता है, ऐसे ही इसको जगत् भासता है, ब्रह्मविचार की प्राप्ति होने पर जगत्भ्रम नष्ट हो जाता है, हे रामजी! जिसके हृदय में विचार होता है वहां समता की उत्पत्ति होती है, जैसे बीज से अंकुर निकलता है ऐसेही विचार से समता की उत्पत्ति होती है, विचारवान् पुरुष जिसकी ओर देखता है उसको भी कुछ शान्ति का भान होता है। जैसे सूर्यको अन्धकार नहीं दीखता ऐसेही विचारवान् की दृष्टि में कोई दुःख नहीं आता। जहां अविचार है वहां दुःख है, जहां विचार है वहां सुख है, जैसे

अन्धकार न रहने पर बेताल का भय भी नहीं रहता, ऐसेही विचार के उदय से दुःख का नाश हो जाता है।

हे रामजी! संसार का दीर्घ रोग है इसका नाश करने के लिये विचार महान् औषध है, जिसको विचार की प्राप्ति हुई है उसके मुख की कान्ति उज्जवल हो जाती है, जैसे—पूर्णिमा के चन्द्रमा की विशेष शोभा होती है ऐसे ही विचारवान् भी विशेष तेजस्वी दीखने लगता है, हे रामजी! और लाभ तो सामान्य लाभ नहीं हैं, विचार से ही परमपद की प्राप्ति होती है, जिससे बढ़कर मनुष्यके लिये और कोई लाभ नहीं है, तथा अन्य कोई अर्थसिद्धि नहीं है, अतः मनुष्य को कठिन परिश्रम करके भी अपने अंतःकरण में इस पवित्र विचार शक्ति को विराजमान करना चाहिये और अविचार के अति अपवित्र वस्तु जानकर दूर फैंकना चाहिये, क्योंकि यह अविचार मदिरा है इसके पान करने से मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसके मन में कोई शुभ विचार उत्पन्न नहीं होता, उसके सब कार्य शास्त्र विरुद्ध होते हैं, अतः अविचार महान् अनर्थों का कारण है।

हे रामजी! इच्छारूप रोग बड़ा दुःखदायी है, इसके दूर करने की उत्तम औषधि विचार है, विचाररूप औषधि से यह रोग अवश्य निवृत्त हो जायगा। जिस पुरुष ने विचार द्वारा परमार्थ सत्ता का आश्रय लिया है वह परमशान्त हुआ है उसकी हेय उपादेय बुद्धि नहीं रहती, वह समस्त दृश्य को साक्षीभूत होकर देखता है और संसार के भाव अभाव में ज्योंका त्यों रहता है, उदय अस्त से रहित निःसंगरूप है, जैसे समुद्र जल से पूर्ण है ऐसे विचारवान् आत्मतत्त्व से पूर्ण है। संसार कूप में पड़ा हुआ मनुष्य विचार के आश्रय से निकल सकता है।

हे रामजी! राजा लोग किसी प्रकार का कष्ट आ पड़ने पर विचार के बल से कष्ट निवृत्ति करते हैं, इसीलिये तुम भी विचारकर देखो कि संसार में किसी को भी कष्ट आ पड़े तो हर कोई विचार का आश्रय लेता है, इसलिये तुमभी विचार करो, विचार सम्पूर्ण दुःखों का नाशक है, अब विचार करना चाहिये कि विचार का स्वरूप क्या है, उसको प्राप्ति कैसे

होती है। जब वेद और वेदान्तशास्त्र के सिद्धान्त को श्रवण करके मनन करोगे और तदनन्तर निदिध्यासन द्वारा जब उस सिद्धान्त में स्थिति प्राप्त कर सकोगे, तब जान लेना कि अब विचार की प्राप्ति हुई है, उस समय कहने की तो आवश्यकता ही नहीं रहती, स्वयं अपने आप में ही विचार का स्वरूप अनुभूत होता है इसी विचार की दृढ़ता से आत्मपद की प्राप्ति होगी। जैसे प्रकाश से ही पदार्थका ज्ञान होता है ऐसे ही गुरु और शास्त्रके वचनों से तत्वज्ञान होता है, जैसे–प्रकाश में भी अन्धे को पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, ऐसेही विचार शून्य पुरुष को गुरु और शास्त्र द्वारा भी आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती, हे रामजी! देखने की शक्ति उनमें ही है जिनके विचारनेत्र विद्यमान हैं, जो विचार नेत्र से हीन हैं, वे अन्धे हैं।

हे रामजी! ऐसा विचारकर कि मैं कौन हूँ? और यह जगत् क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? यह लीन कैसे होता है? इस प्रकार सत्पुरुषों और शास्त्र वचनोंके अनुसार विचारकर, सत्यको सत्य और असत्य को असत्य जान, जिसको असत्य जाना है उसका त्यागकर और सत्य में स्थित हो! इसीका नाम विचार है, इसी से आत्मपद की प्राप्ति होती है, हे रामजी! विचाररूप दिव्यदृष्टि जिसको प्राप्त हुई है उसको प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान होता है, विचारवान् पुरुष परिपूर्ण हो जाता है, वह शुभाशुभसंसार में विचलित नहीं होता, ज्यों का त्यों रहता है, जब तक प्रारब्धवेग होता है तब तक शरीर चेष्टा होती है, वह अपनी इच्छा से जब तक चाहे शरीर चेष्टा करे, जब चाहे तब शरीर को छोड़कर केवल शुद्धरूप हो जाये। इसीलिये हे रामजी! ब्रह्मविचार का आश्रय लेकर संसार सागर से उत्तीर्ण हो जाओ। जो मनुष्य रोगी होता है वह इतना रोदन नहीं करता, जितना रोदन विचारहीन पुरुष करता है, महान् कष्टमें पड़ा हुआ पुरुष भी इतने असह्य दुःखका अनुभव नहीं करता, जितना दुःख विचारशून्य मनुष्य पाता है, हे रामजी! विचार न करनेवाला समस्त आपत्तियों को निमंत्रण देता है, जैसे सब नदियां स्वभाव से समुद्र में आकर प्रविष्ट होती हैं, उसी प्रकार स्वभाव से ही

सब आपदाएं विचारहीन मनुष्यों में आकर प्रवेश करती हैं। हे रामजी! कीचका कीड़ा होना भला है, और गड्ढे का कण्टक होना भी भला है तथा अन्धेरे बिल में सर्प होना भी भला है, परन्तु विचारशून्य होना भला नहीं, जो पुरुष विचार से खाली है और भोगों में आसक्त है वह श्वान के समान है

हे रामजी! विचार रहित पुरुष को जो दुःख भोगने पड़ते हैं उनका स्मरण करने से भी बड़े बड़े धैर्यवानों का हृदय काँपने लगता है, इसीलिये एक क्षणमात्र भी विचारशून्य नहीं रहना चाहिये। विचार से ही अपने आपको दृढ़ करके निर्भय रहना चाहिये, और विचारना चाहिये कि मैं कौन हूँ? यह दृश्य क्या है? ऐसे विचार द्वारा सत्यरूप आत्मा को जानकर दृश्य का त्याग करना। हे रामजी! जो मनुष्य विचारवान् है वह संसार भोग में नहीं गिरता अपितु सत्यमें स्थित होता है, विचार की स्थिरता से तत्वज्ञान, तत्वज्ञान से विश्राम और विश्राम से चित्तका उपशम होता है, और चित्त के उपशम से सब दुःख नाश होते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे विचारवर्णनं नाम चतुर्दशः सर्गः।।१४।।

पञ्चदशः सर्गः १५

अथ सन्तोषवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा– हे अविचाररूपी शत्रु के नाश करनेवाले श्री रामजी! जिस पुरुष को सन्तोष प्राप्त हुआ है, वह परमप्रसन्न है, त्रिलोकी का ऐश्वर्य भी उसको तृणके समान तुच्छ भासता है, जो आनन्द अमृतपान करने से प्राप्त नहीं हो सकता,त्रिलोकी का राज्य मिल जाने पर भी जिसकी उपलब्धि नहीं होगी, उस अद्भुत आनन्दका अनुभव सन्तोषवान् करता है। हे रामजी! इच्छारूप रात्रि कमलरूप हृदय को संकुचित कर देती है, परन्तु जब सन्तोषरूप सूर्य का उदय होता है तब

इच्छारूपी रात्रि भागती नहीं नजर आती कि कहाँ लुप्त हो गई, सर्वतः परिपूर्ण क्षीरसागर की उज्ज्वलता के समान सन्तोषवान् की निराली ही शोभा है।

हे रामजी! यदि त्रिलोकी के राजा की भी इच्छा—निवृत्ति नहीं हुई तो वह परम दरिद्र है, महा निर्धन है, जो पुरुष सन्तोषवान् है वह धन के न होने पर भी कुबेर के समान है, राजाधिराज है, सम्राट् है, अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं और इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में जिसे राग द्वेष न हो वही सन्तोषवान् है, सन्तोष परम तप है तथा परमपद है सन्तोषवान् पुरुष सदाआनन्द रूप है, वह स्वरूपस्थिति के विलक्षण सुख से तृप्त है,उसके अंतःकरण में किसी प्रकार की अभावपूर्ति का संकल्प फुरता ही नहीं, क्योंकि संतोष के प्रताप से उसका हृदय सदा प्रफुल्लित अथवा विकसित रहता है, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण होता है ऐसे ही संतुष्ट हृदय संतोषामृत से पूर्ण रहता है, सन्तोष रहित पुरुष का हृदय अन्धेरे वन प्रदेश के समान है जिसमें व्यर्थ के कंटीले वृक्ष और विषैली बूटियाँ फल फूल ही हो, क्योंकि असन्तोषी के चित्त को नाना प्रकार के दुःख दायक तथा भ्रामक संकल्प और विविध प्रकार की चिन्ताएँ तो क्षणमात्रके लिये नहीं छोड़ती, उसके चित्त में नाना प्रकार की इच्छाएँ समुद्र के उत्तुङ्ग तरंगों के समान उठती ही रहती हैं। संतुष्टात्मा परम आनन्दित है, उसको जगत् के पदार्थो में हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती, हे रामजी! जैसा आनन्द सन्तोषवान् को होता है, वैसा आनन्द अष्टसिद्धि ऐश्वर्य के प्राप्त हो जाने पर भी नहीं होता, पुनः पुनः अमृत के पान से भी नहीं होता। सन्तोषी सदा शान्तरूप और निर्मलान्तःकरण रहता है, जितनी भी इच्छारूप धूल उड़ा करती थी संतोषरूप वर्षा से नितान्त शान्त हो गई।

हे रामजी! सन्तोषवान् पुरुष सबको प्यारा लगता है, उसके सर्वप्रिय होने में वह सन्तोष की विचित्र शक्ति ही कारण है, क्योंकि केवल सन्तोष के बल से हृदय पर के सब आवरण दूर हो जाने पर उसका वह निर्मल आत्मरूप जो कि सबके आत्मरूप से अभिन्न है, स्वभाव से ही

सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है, वह सर्वप्रिय क्यों न हो। हे रामजी! जहाँ सन्तोष है वहाँ इच्छा नहीं रहती, सन्तोषी परमपूज्य है, सदास्तुत्य है, परमादरणीय है। हे रामजी! जिस पुरुष को सन्तोष प्राप्त हुआ है, उसको परमलाभ हुआ है। सन्तोषवान् पुरुष कभी दीन होकर नहीं रहता, वह परम उदारात्मा है, आनन्दमय है। पवन के आने से आकाश के बादल उड़ जाते हैं, वैसे ही सन्तोष पवन के आने से हृदयाकाश के मनोरथरूप बादल उड़ जाते हैं। सन्तोषवान् पुरुष की बड़ी महिमा है, महान् प्रताप हैं, उसको देवता भी नमस्कार करते हैं, महर्षि लोग भी उसको धन्य कहते हैं, हे रामजी! जब इस प्रकार सन्तोष को धारण करोगे, तब तुम्हारा परमकल्याण होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे सन्तोषवर्णनं नाम पंचदशः सर्गः।।१५।।

षोडशः सर्गः १६

अथ साधुसंगवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! संसार में जितने भी दान, तीर्थ, व्रत आदि अन्य साधन हैं उनसे आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु साधुसंग से आत्मपद की प्राप्ति होती है। साधुसंग एक प्रकार का वृक्ष है उसका फूल है आत्मज्ञान, जो पुरुष फूल की प्राप्ति के लिये दृढ़ इच्छा करता है, उसको साक्षात्काररूप फल की प्राप्ति अवश्य होगी। हे रामजी! जो पुरुष आत्मानन्द से रहित है वह सत्संग द्वारा आत्मानंद से पूर्ण हो जाता है। मनुष्य को इस ज्ञान प्राप्ति के योग्य मानव शरीर से अवश्य ही सत्संग द्वारा मुक्ति लाभार्थ प्रयत्नशील होना चाहिये। इसी प्रकार आपत्काल में पड़े हुये लोगों को सुख सम्पन्न बनने के लिये अवश्य ही साधुसंगति का आश्रय लेना चाहिये, सत्संग से आत्म बुद्धि प्राप्त होती है, आत्मबुद्धि के उदय से मनुष्य को मृत्यु पर विजय पाने की शक्ति प्राप्ति होती हैं, मृत्युमुख से मुक्त होकर अर्थात् आवागमन के चक्र से छूटकर आनन्दरूप हो जाता है।

हे रामजी! सत्संग, मनुष्य के अज्ञानान्धकारपूर्ण हृदय में एक उज्ज्वल दीपक का काम करता है, जिसके प्रकाश से अज्ञान तमका नाश होकर अन्तःकरण आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो जाता है, और मनुष्य अपने आपको इतना ऐश्वर्यवान् अनुभव करने लगता है कि उसके मन में किसी भोग पदार्थ की इच्छा नहीं रहती, ऐसे शुद्धान्तःकरण अधिकारी जिज्ञासु को परमकृपालु संतजन अपनी अमोघ दयादृष्टि द्वारा उत्साहित करते हुए आत्मज्ञान के परमपावन उपदेश से कृतकृत्य कर देते हैं। जैसे कल्पवृक्ष के पास जाने से वांछित फल की प्राप्ति होती है ऐसे ही संसारसागर से पार उतारने वाले कर्णधार संतजन अपनी दी हुई युक्ति से सेवक को संसार समुद्र से पार कर देते हैं। अतः आत्मकल्याण की इच्छा वाले लोगों को सत्संग का आश्रय लेना चाहिये। सत्संग एक ऐसा दिव्य औषधालय है जिसमें असाध्य रोगों से व्याकुलीभूत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष, दम्भ, दर्प आदि महाभयंकर व्याधियों के बीमारों का सन्तरूप वैद्य आत्मज्ञान रूप अतिसूक्ष्म अमृत–बिन्दु के सेवन करने मात्र से निर्मूल करते हुए हृदय को जगर–मगर कर देते हैं

हे रामजी! सन्तजन प्रकाशपुन्ज हैं, उनके संग से ही तत्ववस्तु की प्राप्ति होती है, परन्तु इसमें अपना पुरुषार्थ भी महान् कारण है, जो पुरुष पुरुषार्थ नेत्र से हीन है वह कृतार्थ नहीं हो सकता, अतः पुरुष को चाहिये कि पुरुषार्थ के साथ सत्संग सेवन करे, क्योंकि पुरुषार्थ हो और सत्संग न हो तो भी कुछ नहीं मिल सकता सन्तों की कृपा का बल ही संसार सागर से पार करनेवाला जहाज है उसके बिना अन्य सब साधन व्यर्थ हैं, जिस मनुष्य के मन में सत्सङ्ग की इच्छा नहीं होती उसका मन रोगी है, गंदा है, उसका विचाररूपी औषधि से इलाज होना चाहिये, उसके अन्तःकरण में पापों का अजीर्ण हुआ है, उसको चाहिये कि पश्चात्तापरूप उपवासों द्वारा उस अजीर्ण को मिटावे, अन्दर हलका हो जाने पर उसे अवश्य ही सत्संग अमृत के पान करने की भूख लगेगी, उससे कृतकृत्य हो जायेगा हे रामजी! सत्संग तो पतितपावनी गंगा है, जिसने

सत्सङ्गगङ्गा में स्नान किया है उसको फिर तप, दान आदि साधनों की विशेष आवश्कता नहीं होती, अर्थात् सत्सङ्ग के प्रबल प्रताप से उसके सब मनोमल निर्मूल धुल जाते हैं, पापवासनाओं की अवशिष्ट दुर्गंध मात्र का भी वहां चिह्न नहीं रहता, उसका परमसात्विक अन्तःकरण तो भगवान् के निवास योग्य अतिसुन्दर मनोमन्दिर बन जाता है, इसीलिये मुमुक्षपुरुष को सब बातें छोड़कर सत्संग के लिये अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये, सत्संग वस्तु है भी इतनी मधुर, कि एक वार इस अमृत का जिसने बिन्दु मात्र भी पान किया हो, वह फिर इसके बिना रह नहीं सकता, जिस प्रकार धन का लोभी मनुष्य हर समय धन के ही अन्वेषण उपार्जन में व्यस्त रहता है, इसी प्रकार सत्संग का व्यसनी सत्संग की तलाश में दत्तचित्त रहता है, क्योंकि वह सत्संग की महिमा बताने वाले अपने गुरुमहाराज की कृपा से भलीभांति जानता है, कि सत्संग ही आत्मज्ञान का आकर है, परमआनन्द का सागर है, सर्वत्र विश्रान्ति है, नितान्तानन्त शान्ति है, इसलिये तो सब कुछ सत्संग छोड़कर सत्संग के उपार्जन में मग्न है।

हे रामजी! सत्संग ऐसा तीव्र पवन है जिसके एक झोंके मात्र से मोह के मेघ उड़ जाते हैं और हृदयाकाश शुद्ध निर्मल हो जाता है। यह एक ऐसा तीखा कुल्हाड़ा है जिसके द्वारा काटे हुये, रागद्वेषरूप वृक्ष पुनः अकुंरित नहीं हो सकते। हे रामजी! उस अविनाशी पद की प्राप्ति इस सत्संग से ही होती है जिसको प्राप्त कर लेने पर किसी अन्य वस्तुके पाने की इच्छा नहीं रहती। इसलिये जिज्ञासुपुरुष को सत्संग के लिये प्रयत्नशील होकर कृतकृत्य हो जाना चाहिये।

हे रामजी! यह मोक्ष के चारों द्वारपाल तुमसे कहे गये हैं इनसे प्रीति करनेवाला पुरुष अतिशीघ्र ही आत्मपदको प्राप्त होता है, जो मनुष्य इनकी उपेक्षा करता है वह अपना भारी नुकसान करता है, हे रामजी! इन चारों में से जहां एक भी आजाय वहां अन्य तीनों खिंचे चले जाते हैं, इन सबमें पहला शम है, शमको प्रयत्न करके अपना बनाना चाहिये

बाकी के तीनों स्वयं दौड़ते आ जायँगे, जैसे जहां समुद्र होता है, वहां नदियां दौड़ी चली जाती हैं, ऐसे ही जहां शम है वहां सन्तोष, विचार और सत्संग भी तत्काल आजाता है।

हे रामजी! इन चारों का परस्पर ऐसा आकर्षक सम्बन्ध है कि कोई सा भी एक जहां हो वहां तीनों चले जाते हैं, जैसे शम हो वहां शेष तीन, जहां विचार हो वहां शेषतीन, जहां सन्तोष हो वहां भी यही क्रम और जहां सत्संग हो, वहां भी यही क्रम होता है।

हे रामजी! जहां पूर्णरूप से यह चारों इकट्ठे हो गये हैं, वहां की क्या महिमा कही जाय। इसीलिये कहा गया है—

संतोष परमोलाभः सत्संग परमं धनम् ।
विचारः परमं ज्ञानं शमश्च परमं सुखम् ॥

हे रामजी! संसार में सब प्रकार के लाभों में से यही एक सन्तोषरूप परमलाभ है, अनेक प्रकार के धनों में से बहुत बड़ा धन यह सत्संग है, इसी प्रकार ज्ञान सत्ताओं में सबसे बड़ी ज्ञानसत्ता यह विचार है, सुखों में परमसुख यही एक शम है।

हे रामजी! मनरूप हस्ती विचार के अंकुश से वश में हो सकता है, मनरूप वन में वासनारूप नदी है जो दोनों तरफ बहनेवाली है, शुभमार्ग की ओर भी बहती और अशुभमार्ग की ओर भी बहती है, वह अधिकतर स्वभाव से ही अशुभमार्ग से बहती है अभ्यास और प्रयत्न से हमें उसके प्रवाह को बदल देना चाहिये, अर्थात् उसके प्रवाह को अशुभ मार्ग से रोककर शुभ मार्ग से बहा देना है, अन्तर्मुख होकर मनोवृत्ति को आत्माकार रूप में अविचल करना ही (मनोनदीका शुभमार्गपर बहना है) और बहिर्मुख होकर मनोवृत्तिका दृश्यप्रपंचाकार रहना ही अशुभमार्ग से बहना है।

हे रामजी! इस मनोनदी के प्रवाह को यत्न द्वारा यदि अन्तर्मुख कर लोगे, तो सर्वदुःख निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति होगी। जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे साधुसंगवर्णनं नाम षोडशःसर्गः॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

षट्प्रकरण वर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा- हे रामजी! यह मेरे वचन परमपावन हैं, शुद्धान्तःकरण वाले विचारवान् अधिकारी के लिये ये वचन परमबोधके कारण हैं, जो पुरुष अधिकारी है, इनको सुनकर वह शोभावान् होता है, और उस अधिकारी को पाकर ही वचनों की भी शोभा होती है। जैसे शरदऋतु में बादल के न रहने से आकाश और चन्द्रमा दोनों की शोभा होती है, ऐसे ही शुद्धपात्र में यह वचन शोभा पाते हैं और निर्मल वचनों से जिज्ञासु की शोभा होती है।

हे रामजी! तुम परमपात्र हो, और मेरे वचन भी परमोत्तम हैं, 'यह **महारामायण मोक्षोत्पादक**" शास्त्र है, परमपावन है सिद्ध वाक्य है तथा युक्ति युक्तार्थ है, इसमें नाना प्रकार के विलक्षण ओर विषयानुरूप दृष्टान्त हैं। अनेक जन्मों के पुण्यसंचय से इस कल्पवृक्ष की प्राप्ति का अद्भुत और अमोघ सुयोग प्राप्त होता है, इसके अमोघ वचन जिन जिज्ञासुओं के कर्णकुहर तक पहुँच जायें, उन्हें अपने आपको विशेष भाग्यशाली मानना चाहिये, क्योंकि ऐसी दिव्य वस्तुओं की प्राप्ति किसी उच्च कर्मफल से ही हो सकती है। नीच अन्तःकरण वाले तामस प्रकृति मनुष्य यत्न करने पर भी यह लाभ नहीं उठा सकते, यदि संयोगवश उन अधम मनुष्योंके कानोंतक यह शुभ वचन कभी पहुँच भी जायँ तो उनको उनके प्रति आदर ही न होगा, क्योंकि उन्हें मलिन संस्कारों के अजीर्ण के कारण उस अमृत के पान करने की भूख-प्यास ही नहीं है, जैसे रोगी को रोग दूर करनेवाली औषधि के सेवन में घृणा होती है परन्तु वह रोग को बढ़ाने वाले (खटाई लाल मिर्ची आदि) कुपथ्य सेवन के लिये दिन रात तरसता रहता है, और अन्त में उस कुपथ्य सेवन के परिणाम में मिले हुए दुःख भोग को न सह सकता हुआ शरीर से हाथ धो बैठता है, ठीक इसी प्रकार मानसिक शरीरका पूर्वोक्त रोगी भी कल्याणकारी अमृत रूप शास्त्र वचनों की अवहेलना करता हुआ कुसंगद्वारा जुटाये हुवे विषयरूप कुपथ्य के सेवन से इस मोक्ष के द्वार रूप अतिर्दुलभ अनमोल मानव देह रत्नको कौड़ियों के भावमें बेचकर जन्ममरणके चक्र पर चढ़ जाता ह।

हे रामजी! मानवशरीर ही एकमात्र मुक्तिद्वार है, एक कम चौरासी लाख प्रकार के अन्य सब शरीरोंमें तो केवल कर्मफल ही भोगते रहना है, उन अनेक जन्मों में कोई एक भी जन्म ऐसा नहीं, जिसमें जीवको अपने कल्याणचिन्तन के लिये मानव देह जैसी स्मृति क्षणमात्र के लिये भी मिल जाय, इसीलिये मानवदेह एक ऐसा स्टेशन है कि जहाँ पहुँचकर यह जीवात्मा अपना आगे का मनमाना प्रबन्ध करवाने की सामर्थ्य रखता है, जहाँ (स्वर्ग में, मर्त्य में या नरक में) जाना चाहे जा सकते है, जो कुछ भी (सन्त, असन्त, ज्ञानी,अज्ञानी, पंडित, मूर्ख, मनुष्य, पशु आदि) बनना चाहे बन सकता है, परन्तु इस शरीर के नाश हो जाने पर जीव को पता नहीं कितने असंख्य जन्मोंके बाद यह (मनुष्य शरीररूप) संयोग मिले, इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि पुरुषार्थ करके अपने जन्म मरण का रोज का झगड़ा खत्म ही कर दे। वह कैसे हो सकता है, यही मार्ग और युक्ति दिखाने के लिये इस अध्यात्मशास्त्र का निर्माण हुआ है, श्रद्धा और विश्वास के साथ इस अमोघ शास्त्र का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने से मनुष्य अतिशीघ्र दुःखमुक्त होकर कैवल्य पद का भागी बन सकता है। यद्यपि जन्म मृत्यु के बन्धन से छूटना सुगम कार्य नहीं, अपितु अतिकष्टसाध्य है—'अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिं श्रीम० गीता० के अनुसार अनेक जन्मों का काम है, परन्तु महात्मा लोगों के मुख से ऐसा भी सुना जाता है कि फूल के मसल देने में जितनी देर लगती है, आत्मसाक्षात्कार में उतनी भी देर नहीं लगती। यह दोनों पक्ष जिज्ञासु की बुद्धि को बड़े असमंजस में डालते हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं, इसका समाधान इस प्रकार है कि जिज्ञासु यदि अभी तक कुछ भी नहीं जानता है, और उसकी स्थूल दृष्टि तथा असार बातों से यह साफ व्यक्त हो रहा है कि इसके अन्तःकरण में पूर्वजन्म के सात्विक संस्कार तो नहीं के बराबर हैं, तो ऐसे जिज्ञासु को अपने कल्याण के लिये सबसे पहिले थोड़ी बहुत विद्या ग्रहण करनी चाहिये। संस्कृतज्ञ बनना तो बड़े भाग्य की बात है, यदि संस्कृत शिक्षा न ली जा सके तो हिन्दी ही सही। क्योंकि आजकल सब प्रकार की संस्कृत पुस्तकें हिन्दी भाषा में मिल

सकती हैं, यदि जिज्ञासु को हिन्दी पढ़ने का अभ्यास परिपक्व हो जाय तो वह श्रीयोगवासिष्ठ श्रीम० गीताआदि ज्ञानसागररूप ग्रन्थों को अल्पाधिकमात्रा में समझ सकता है। उसको सबसे पहिले भक्तिग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये, भक्तों, सन्तों, विरक्तों के जीवन चरित बाँचने चाहिये, उनके नियम उनकी दिनचर्या, आचार विचार तथा भगवत्प्रेम की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। मुमुक्षु को अपनी कार्य सिद्धि के लिये भक्त बनना चाहिये। भक्त बनने के लिये कोई खास किस्म की वेशभूषा की आवश्यकता नहीं है, केवल भगवत्प्रेम चाहिये, भगवत्प्रेम की प्राप्ति के लिये भगवान् की श्रीभागवतोक्त नवधाभक्ति की शरण में जाना चाहिये।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

इस नवधाभक्ति के प्रताप से अन्तःकरण की शुद्धि होगी कि कोटि जन्मों के संचित पाप संस्कार सब निर्मूल हो जायेंगे और उस जिज्ञासु का परम पवित्र हृदय भगवान् का दिव्य मन्दिर बन जायेगा, उसके निर्मल हृदय में गुरुवचनों का वह प्रभाव पड़ेगा कि जैसा श्रीवसिष्ठजीके वचनोंका श्रीरामचन्द्र महाराज के मन पर पड़ता था। कहने का सारांश यही है कि अनधिकारी पुरुष को इस ज्ञानगंगा के किनारे पर आकर प्यासे ही जाना पड़ता है। उसको इस अमृतपान से कोई रोकता नहीं किन्तु अपने कुसंस्कारवश से उसे यह अमृत अमृतरूप से भासता नहीं, प्रत्युत विषरूप प्रतीत होता है। इसलिये ही बार-बार कहने की आवश्यकता पड़ती है कि पुरुष को अवश्य ही अपने उद्धारार्थ जिज्ञासु अधिकारी बनने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, मार्ग मिल जाने पर फिर पहुँचने में देर नहीं लगती। इसलिये श्रीवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहते हैं कि हे रामजी! इस मुक्तिदायक शास्त्र के श्रवण की इच्छा बहुत

बड़े भाग्यवानों को ही होती है और वही अधिकारी पुरुष इसके निर्दिष्ट मार्गपर चलकर कृतकृत्य होते हैं। हे रामजी! जो कोई इस महारामायण का अध्ययन करेगा, अथवा निष्काम भाव से किसी ज्ञानवान् महात्मा से सुनेगा तथा आदि से अन्त पर्यन्त श्रद्धायुक्त होकर विचार करेगा उसका संसार भ्रम निवृत्त हो जायगा। जैसे रस्सी के जान लेने से सर्पका भ्रम निवृत्त हो जाता है, ऐसे ही अद्वैतात्मतत्व के जानने से उसका संसार भ्रम नाश हो जाता है।

हे रामजी! इस मोक्षोपाय शास्त्र के बत्तीस सहस्र श्लोक हैं और षट् (छै) प्रकरण हैं, पहिले का नाम वैराग्यप्रकरण है, जो कि वैराग्य उत्पन्न करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है, हे रामजी! मरुस्थल में वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु बहुत वर्षा होने पर वहाँ भी वृक्ष उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी हृदय मरुस्थल के समान हैं, उसमें वैराग्यरूप वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु यह शास्त्ररूप दृष्टि यदि अधिकता से हो, तब उसमें भी वैराग्यरूप वृक्ष उत्पन्न हो सकता है। उस वैराग्यप्रकरण के एक हजार पांचसौ श्लोक हैं, उसके अनन्तर मुमुक्षुप्रकरण है, उसमें परम निर्मल वचन हैं, जिनसे मुमुक्षु के हृदय में यदि कुछ मलिनता शेष हो तो वह दूर हो जाती है और मुमुक्षु आत्मपद पाने में समर्थ हो जाता है, उस मुमुक्षुप्रकरण के एक हजार श्लोक हैं, उसके बाद उत्पत्ति प्रकरण है, उसके भी एक हजार श्लोक हैं, उसमें बड़ी-बड़ी सुन्दर कथाएँ आती हैं, जिनमें बड़े-बड़े विलक्षण दृष्टान्त दिये गये हैं। उनके अध्ययन और विचार से हमारे मन में से जगत् की सत्यता निकल जाती है। अर्थात् संसार कभी नाश होने वाली वस्तु नहीं, यह ऐसा ही सदा बना रहेगा। यह बात झूठ प्रतीत हो जाती है, हे रामजी! इस जगत् में जो मनुष्य, देवता –दैत्य, पर्वत, नदी, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश आदि स्थावर जंगम भासता है, यह सब अज्ञान से है, इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सुनिये–जैसे रस्सी में सर्प दीखता है, सीप में चांदी और सूर्य किरण में जैसे जल भासता है। जैसे आकाश में तरुवर भासता है, जैसे–दूसरा चन्द्रमा दीखता है, जैसे गन्धर्व नगर भासते हैं, मनोराजकी सृष्टि

भासती है, जैसे संकल्पपुर होता है, सुवर्ण में भूषण होता है, समुद्र में तरंग होता है, आकाश में नीलता दीखती है, जैसे नाव में बैठे हुए को किनारे के वृक्ष चलते दृष्टिगोचर होते हैं और बादल के चलने पर चन्द्रमा दौड़ता हुआ दीखताहै, स्तंभ में पुतली भासती है, भविष्य नगर से लेकर असत्य पदार्थ जैसे सत्य भासते हैं, ऐसे ही यह सब जगत् आकाशरूप है, अज्ञान से अर्थाकार भासता है, इसकी उत्पत्ति अज्ञान से ही दीखती है, और ज्ञान से लीन हो जाता है, जैसे इन्द्रियों में स्वप्नसृष्टि की उत्पत्ति होती है और जगने पर निवृत्ति हो जाती है, ऐसे ही अविद्या से जगत् की उत्पत्ति होती है और सम्यक् ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। वह अविद्या कोई वस्तु नहीं, सर्व ब्रह्मचिदाकाशरूप है, वह शुद्ध है, अनन्त है, परमानन्दरूप है,उसमें न जगत् उत्पन्न होता है न लीन होता है, ज्यों की त्यों आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, उसमें जगत् ऐसा है जैसा दीवार पर चित्र होता है, जैसे स्तम्भ में पुतलियां होती हैं, और हुए बिना भासती हैं, ऐसे ही यह सृष्टि मन की है, वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई सब आकाशरूप है, जब चित्तसंवेदन स्पन्दरूप होता है तब नाना प्रकार का जगत् होकर भासता है, जैसे जेवरी सर्प भासता है, वह सम्यग् दृष्टि करके निवृत्त हो जाता है, ऐसेही अज्ञान से जगत् की प्रतीति होती है, मनोराज करके जगत् रचा जाता है, वह उत्पन्न नहीं हुआ।

हे रामजी! इस प्रकार स्थिति प्रकरण कहा है,उसके तीन हजार श्लोक हैं, उनके विचारने से जगत् की सत्यता पर विश्वास नहीं रहता, अर्थात् निश्चयरूप से जगत् अनित्य, संकल्पमात्र अथवा नाशवान् समझने में आ जाता है। उसके अनन्तर उपशम प्रकरण है, उसके पांच हजार श्लोक हैं, उसके विचार करने से अहंतत्त्वादिक वासना लीन हो जाती हैं, जैसे स्वप्न से जगने पर वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं ऐसे ही विचार करने पर भी अहंतादिक वासना लुप्त हो जाती है। क्योंकि उसके निश्चयसे जगत् का अत्यन्ताभाव हो जाता है, जैसे एक पुरुष सोया है उसको जगत् भासता है, और उसके निकट जो जाग्रत पुरुष है, उसके लिये स्वप्न का

जगत् आकाशरूप है जब आकाशरूप हुआ तब वासना कैसे रहे, जब वासना नष्ट हो जाय, तब मन का उपशम हो जाता है, उसकी सब चेष्टायें देखने मात्र को होती हैं, और इसके मनमें अर्थरूप इच्छा नहीं होती, जैसे अग्नि की मूर्ति देखने मात्र को होती है अर्थाकार नहीं होती, ऐसे ही उसकी चेष्टायें होती है, हे रामजी! जब मन से इच्छा नष्ट हो जाती है तब मन भी निर्वाण हो जाता है, जैसे—तेल से रहित दीपक निर्वाण होता है ऐसे ही इच्छा से रहित मन निर्वाण हो जाता है। इस प्रकार का उपशम प्रकरण है। उसके अनन्तर निर्वाण प्रकरण है, उसमें परमनिर्वाण वचन कहे हैं। चित्त का जगत् से सम्बन्ध अज्ञान से है वह विचार करने पर नाश हो जाता है, जैसे शरत्काल में आकाश मेघके अभाव से शुद्ध होता है, ऐसे ही पुरुष विचार करने से निर्मल होता है।

हे रामजी! अहंकाररूप पिशाच का नाश विचार से ही होता है, विचारसे, जितनी भी इच्छा स्फूर्ति है सब निर्वाण हो जाती है, जैसे पत्थर की शिला फुरने से रहित होती है, ऐसे ज्ञानवान् इच्छा से रहित होता है, तब—अर्थात् उस ज्ञानावस्था के समय इसकी समस्त संसार यात्रा समाप्त हो जाती है इसका जो कर्तव्य था उसको पूर्णरूपेण कर चुकता है। हे रामजी! शरीर के होते ही वह पुरुष अशरीरी हो जाता हैं, नाना प्रकार का जगत् उसको नहीं भासता, जैसे सूर्य का अन्धकार दृष्टि नहीं आता, ऐसे ही उसको जगत् दृष्टि नहीं आता। उस ज्ञानवान की महिमा अचिन्त्य है, वह चिन्मात्र है, जिस पद पर वह जा पहुँचता है—उसका प्रभाव प्रताप कहने के लिये ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र भी समर्थ नहीं, अनुपम, अद्वितीय, पद है, ऐसे ज्ञानवान् की अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे षट्प्रकरणवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ।।१७।।

अष्टादशः सर्गः १८

अथ दृष्टान्तवर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! यह वेदान्त शास्त्र परम उत्तम है, इसका एक एक वाक्य अतिगम्भीर है तत्त्वपूर्ण है, इसके विचार द्वारा उत्तमपद की प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है, जैसे उत्तम खेत में उत्तम बीज के बीजने से उत्तम फल की प्राप्ति स्वाभाविक है, इसी प्रकार यही नियम यहाँ पर भी पूर्णरूपेण लागू है, इसके युक्तियुक्त वाक्य तो परमादरणीय हैं और अपने कल्याणार्थ शिरोधार्य है, ग्राह्य है।

हे रामजी! यदि ब्रह्मा के वचन भी युक्ति रहित हों तो वे भी शुष्कतृण के समान त्याज्य हैं, और बालवचन भी यदि युक्तियुक्त हों तो अङ्गीकार योग्य हैं। पिता के कुएँ का जानकर खारा जल नहीं पीना चाहिये। अन्य सब बातों को छोड़कर युक्तियुक्त वचन को वक्ता के परिचय के बिना भी स्वीकार करना चाहिये। हे रामजी! मेरे वचन सब युक्तिपूर्वक हैं और परमबोधके कारण हैं, जो पुरुष एकाग्र होकर इस शास्त्र को आदि से अन्त पर्यन्त सावधानता से पढ़े, अथवा किसी योग्य विद्वान् से श्रवण करे और विचारे तब उसकी बुद्धि संस्कृत हो।

सबसे प्रथम वैराग्यप्रकरण को विचारेगा तो वैराग्य उत्पन्न होगा, संसार के समस्त रमणीय (मनोहर) पदार्थों को निश्चितरूप से विरस जान लेगा, इसलिये उसके मन में किसी भी बड़े से बड़े पदार्थ के पाने की इच्छा शेष नहीं रहेगी । जब भोग में वैराग्य होता है तब शान्तिरूप आत्मतत्व में प्रतीति होती है, जब विचार से बुद्धि सुसंस्कृत होगी तब शास्त्र का सिद्धान्त हृदयगंत होगा। तुम्हारी मनोवृत्ति भी निर्विकार तथा परम निर्मल होगी, जैसे शरत्काल में बादल के अभाव से आकाश सर्वतः स्वच्छ होता है, ऐसी निर्मल बुद्धि होगी, आधिव्याधियों की पीड़ायें स्पर्श न करेंगी। हे रामजी! ज्यों-ज्यों विचार दृढ़ होगा, त्यों-त्यों

आत्मशान्ति बढ़ेगी। अतः अब तुम सांसारिक सब यत्नों का परित्याग करो। इस शास्त्र के बारम्बार विचार करने से जब पूर्ण रूप से चैतन्य सत्ता उदित होगी तब लोभ मोहादिक विचार की सत्ता नष्ट हो जायेगी, ज्यों ज्यों सूर्य उदय होता है त्यों त्यों अन्धकार का नाश होता है, ऐसे ही आत्मसाक्षात्कृति द्वारा स्वरूपस्थिति में दृढ़ता आ जाने पर विकार निर्मूल हो जाते हैं, संसार के क्षोभ मिट जाते हैं।

हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुष को संसार के रागद्वेष इस प्रकार विद्ध नहीं कर सकते, जैसे–कवचधारी पुरुष को बाणविद्ध नहीं कर सकते। उस पुरुषको भोगों की इच्छा नहीं रहती, विषयों की प्राप्ति में भी उनको विषरूप जानकर बुद्धि ग्रहण नहीं करती। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने अन्तःपुरसे बाहिर नहीं निकलती, ऐसे ही उसकी बुद्धि भी अपने आत्मरूप अन्तःपुर से बाहर नहीं निकलती, हे रामजी! इस स्थिति के पुरुष बाहर तो संसारी पुरुषों के समान ही चेष्टा करते दीखते हैं, परन्तु अन्दर से उनकी मनोवृत्ति में रागद्वेष का नितान्त अभाव होता है, जो कुछ अनिच्छित प्राप्त होता है, उसके अनुसार अकर्तृत्वभाव से उनकी चेष्टायें होती हैं।

हे रामजी! जगत की उत्पत्ति का तथा प्रलय का जितना भी क्षोभ है, ज्ञानवान् को नष्ट नहीं कर सकता। जैसे चित्र की बेल को आंधी नहीं उड़ा सकती, ऐसे ही ज्ञानवान को जगत् का दुःख विचलित नहीं कर सकता, वह संसार की ओर से जड़ हो जाता है, यह वृक्ष की नाईं गम्भीर, पर्वत के समान स्थिर, और चन्द्रमा के समान शीतल हो जाता है, हे रामजी! आत्मज्ञान से ऐसे पदको प्राप्त होता है जिसके पाने से अन्य कुछ पाने योग्य नहीं रहता, ऐसे अद्भुत आत्मज्ञान का कारण यह मोक्षोपाय शास्त्र है, इसमें नानाप्रकार के दृष्टान्त कहे गये हैं। जो वस्तु अपरिच्छिन्न हो और देखनेमें आयी हो उसको विधिपूर्वक समझाने का नाम दृष्टान्त है। हे रामजी! यह जगत् कार्यकारण रूप है, आत्मा और जगत् की एकता कैसे हो, इसलिये जो दृष्टान्त मैं कहूँगा उसका एक अंश

अङ्गीकार करना सम्पूर्ण को नहीं। हे रामजी! कार्यकारण की कल्पना मूर्खता की है, उसका निषेध करने के लिये मैं स्वप्न का दृष्टान्त कहता हूं, उसको भली भांति समझ लेने से तुम्हारे मन का संशय नष्ट हो जायेगा। दृष्टि और दृश्य का भेद मूर्ख को भासता है, उसको दूर करने के लिए स्वप्न का दृष्टान्त कहूंगा। उसके विचार करने से मिथ्या विभाग कल्पना का अभाव होता है, हे रामजी! ऐसी कल्पना का नाशकर्ता यह मेरा मोक्षापाय शास्त्र है, जो पुरुष आदि से अन्त पर्यन्त इसका विचार करेगा वह कृतार्थ होगा। जो पुरुष पद पदार्थ के जानने वाला हो और इस शास्त्र का पौनःपुन्येन विचार करे तो उसका दृश्य भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो सकता है, इस शास्त्र के विचार का आश्रय ले लेने पर और किसी तप, तीर्थ, दान आदि की अपेक्षा नहीं रहती, जहां कहीं स्थान मिले वहीं बैठे, घरमें जैसा कैसा भोजन मिले उसके आधार पर रहकर इस शास्त्र का विचार द्वारा अभ्यास करे, तब कहीं अज्ञान के नाशद्वारा आत्मपद की प्राप्ति हो, हे रामजी! यह शास्त्र प्रकाशरूप है, जैसे अन्धकार में कोई पदार्थ नहीं दीखता और दीपक तथा नेत्र के प्रकाश से देखा जाय तो सब कुछ दीखता है, इसी प्रकार शास्त्ररूप दीपक और विचाररूप नेत्र हो तो आत्मपद की प्राप्ति होती है।

हे रामजी! आत्मज्ञान की प्राप्ति विचार के बिना केवल वर या शाप से नहीं हो सकती, यह तो महान् परिश्रम और बड़ी बुद्धिमता का काम है, बड़े अभ्यास की आवश्यकता है। जो पुरुष श्रद्धा और विश्वास के साथ पवित्र अन्तःकरण से इस शास्त्र का निरन्तर अर्थावगतिपूर्वक अध्ययन करते हुए तत्व विचार करेंगे, उनका उस विचार से तथा नित्य के अभ्यास से अवश्य ही जगद्भ्रम नष्ट हो जायेगा। जगत् को देखते ही देखते उसमें से जगद्भाव दूर हो जायेगा। जैसे—सर्प की मूर्ति लिखी होती है, अविचार के कारण उससे भय पाता है, विचारकर देखने से सर्पभ्रम मिट जाता है, ऐसे ही जगत् भ्रम विचार से निर्मूल हो जाता है, फिर जन्ममरण का भय नहीं रहता।

हे रामजी! जन्म मरण का भय भी बड़ा दुख है, परन्तु इस शास्त्र के विचार से नष्ट हो जाता है, जो लोग शास्त्र से विमुख हैं, वे जन्म-मरण

के चक्र में तो पड़ेंगे ही, उन्हें बहुत दुःखी होना पड़ेगा। विचारवान् पुरुष इस अध्यात्मशास्त्र की शरण में आकर परमानन्दप्रद निर्विकार, निर्भय, निरामय, नित्य, निरञ्जन, आत्मपद को प्राप्त करेगा। ज्ञानवान् श्रेष्ठ पुरुष आत्मसत्ता की अनन्तता को खूब जानता है, वह स्वरूप स्थित हुआ किसी भी पदार्थ को आत्मा से भिन्न नहीं मानता। जैसे–जिसको जल का ज्ञान हुआ है, उसको लहर (तरंग) आवर्त, सबकुछ जलरूप ही भासता है, ऐसे ही ज्ञानवान् को सब आत्मरूप भासता है। ऐसा ज्ञानवान् पुरुष इन्द्रियों के इष्टानिष्ट, विषय की प्राप्ति में रागद्वेष नहीं करता, अपितु सदा एकरस तथा संकल्प–विकल्प से शून्य, शुद्धबुद्धि वृत्ति में अथवा उससे भी परे अपने स्वरूप में स्थित रहता है, जैसे मंदराचल पर्वत के निकलने से क्षीरसागर शांत हुआ, तदनुसार यह भी संकल्प विकल्प रहित होकर शान्तरूप होता है।

हे रामजी! और जो कोई अग्नि विद्युत आदि का तेज होता है वह दाहक होता है, परन्तु ज्ञानरूप तेज जिस घट में उदय होता है वह शीतल शान्तरूप होता है, उस तेजस्वी में सांसारिक कोई विकार शेष नहीं रहता।

हे रामजी! संसारभ्रम आत्मा के प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जानेपर बिना यत्न के दूर हो जाता है, फूल और पत्र काढ़ने में भी कुछ यत्न होता है परन्तु आत्मा की प्राप्ति में कुछ यत्न नहीं होता। क्योंकि बोध (ज्ञान) रूप आत्मा की प्राप्ति बोध (ज्ञान) से ही होती हैं, किसी दूसरी वस्तु की उपेक्षा वहाँ कैसे हो सकती है। हे रामजी! ज्ञानस्वरूप में स्थित होने का यत्न है, आत्मा शुद्ध अद्वैतरूप है और भ्रममात्र है। पूर्व अपर का विचार करनेपर जिसकी सत्यता सिद्ध न हो उसको भ्रममात्र जानना चाहिये। और पूर्व अपर के विचार से जिसकी सत्यता सिद्ध हो, उसको सत्यरूप जानना चाहिये, इस जगत् की सत्यता आदि अन्त में सिद्ध नहीं होती, इसलिये स्वप्नवत् है, जैसे–स्वप्न आदि अन्त में कुछ नहीं है, ऐसे जाग्रत भी आदि अन्त में कुछ नहीं है, इसलिये जाग्रत स्वप्न दोनों तुल्य हैं।

हे रामजी! इस बात को बालक भी जानता है कि आदि अन्त में जिसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती वह स्वप्नवत् है। जो आदि न हो और अन्त में भी न हो, उसको मध्य में भी असत्य जानना चाहिये। इस विषय में यह दृष्टान्त कहे हैं– संकल्प पुरीवत्, ध्याननगर की नाईं, स्वप्नपुरी के समान।

यह जगत् अकारण है, और कार्यकारण भाव सम्बंध में भासता है, तो कार्य कारणरूप हुआ। आत्मसत्ता अकारण है, जगत् साकार है, आत्मा निराकार है।

यह जगत् दृष्टांत आत्मा के विषय में जो हम देंगे, उसका तुम एक अंश ग्रहण करना, जैसे स्वप्न की सृष्टि होती है उसका पूर्व अपर भाव आत्मतत्व के विषय में मिलता है, क्योंकि अकारण है, मध्यभाव का दृष्टान्त नहीं मिलता, क्योंकि उपमेय अकारण है, तो उसका इसके समान दृष्टान्त कैसे हो, इसलिये अपने बोध के वास्ते दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करना, हे रामजी! जो विचारवान् पुरुष हैं, वह गुरु और शास्त्र के श्रवण से सुखबोधार्थ दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करते हैं, हे रामजी! उन्हीं को आत्मतत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि वे सारग्राहक होते हैं, और जो लोग अपने बोध के लिये दृष्टान्त का एकांश ग्रहण नहीं करते, अपितु बाद करते हैं, उनको आत्मतत्व की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये दृष्टान्त का एक अंश ग्रहण करना चाहिये, न कि सर्वभाव से दृष्टान्त को मिलाना। जैसे– कोई वस्तु अन्धकार में पड़ी हो, उसको दीपक के प्रकाश से देख लेने से ही हमें प्रयोजन है, दीपक के विषय की कथा चला देना कि यह दीपक किसका है, इसमें बत्ती कैसी है, तेल कहाँ से आया इत्यादि सब बातें व्यर्थ हैं, इसी प्रकार आत्म विषय में भी जान लेना।

हे रामजी! जिससे वाक्यार्थ की सिद्धि न हो सके, उसका त्याग करना, जो वचन अनुभव को प्रकट करे उसको स्वीकार करना चाहिये। जो पुरुष अपने बोध के निमित्तरूप वचन ग्रहण करता है वही श्रेष्ठ है, जो बाद के लिये विशेष वचन ग्रहण करता है वह मूर्ख है, वह यर्थाथता से

वंचित रहता है अर्थात् उसने अपनी अर्थसिद्धि नहीं की। जो पुरुष अपने चातुर्य के अभिमान को लेकर ऐसा करता है वह हाथी के समान अपने ही सिर पर माटी फेंकता है। जो पुरुष बोधके लिये उपयुक्त वचनों को ग्रहण करता है और विचारपूर्वक उसका बारंबार अभ्यास करता है, वह आत्मशान्ति प्राप्त करता है। हे रामजी! आत्मपद प्राप्ति के लिये अभ्यास की परम आवश्यकता है, अभ्यासके साथ साथ शम, विचार, सन्तोष और सन्त समागम से तत्व बोध की प्राप्ति होती है। वही परमपद है।

हे रामजी! वाक्य वही है जो आत्मविषयक अनुभव प्राप्त करे, अनुभव शून्य वाक्य का त्याग करो, आत्मतत्व का निरूपक यदि स्त्री का वाक्य हो वह भी ग्राह्य है, अनुभवशून्य वेदवाक्य भी त्याज्य है, जबतक विश्रान्ति प्राप्त नहीं हुई, तबतक विचार कर्तव्य है। तुर्यपद का नाम ही विश्रांति है, विश्राम की प्राप्ति हो जाने पर तो अक्षय शान्ति होती ही है, हे रामजी! जो पुरुष तुर्यामें प्राप्त हो चुका है उसका श्रुति स्मृति उक्त कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता और न करने से कोई पाप नहीं होता, वह पुरुष चाहे सदेह हो चाहे विदेह हो, गृहस्थ हो या विरक्त हो उसके लिये कुछ कर्तव्य नहीं, क्योंकि वह संसार समुद्र से पार हो चुका है।

इति श्री योगवाशिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे दृष्टान्तवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

एकोनविंशतितमः सर्गः १९

अथ प्रमाणनिरूपणम् ।

हे रामजी! बोधरहित मनुष्य मुक्ति का अधिकारी नहीं। वह जो कुछ भी परमार्थ विषय की बातें करता है सब वृथा करता है, हे रामजी! शुद्धस्वरूप आत्मसत्ता जिसके घट में विराजमान है, उसको त्यागकर जो और विकल्प उठाता है, वह मूर्ख है।

हे रामजी! जो अर्थ प्रत्यक्ष है वह प्रमाण मानने योग्य है और जो अनुमान अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से प्रत्यक्ष सत्तावान् है, जैसे—सब नदियों का अधिष्ठान समुद्र है, ऐसेही सब प्रमाणों का अधिष्ठान प्रत्यक्ष प्रमाण है, अब सुनिये कि वह प्रत्यक्ष क्या है?

हे रामजी! जो आँखों के आगे विद्यमान हो वह प्रत्यक्ष है उसे प्रमाण को विषय करने हारा जीव है, अपने वास्तविकरूप से अज्ञान से अनात्मरूप इस दृश्य में अहंकृति करके अभिमानी हुआ है, हेयोपादेय बुद्धि रखने के कारण रागद्वेष से पड़ा जलता है, और अपने आपको कर्ता मानकर बहिर्मुख हुआ भटकता है।

हे रामजी! जब विचार द्वारा संवेदन अर्न्तमुख हो, तब आत्मपद प्रत्यक्ष होता है, और स्वरूप की प्राप्ति होती है और उसमें परिछिन्न भाव नहीं रहता, अपितु शुद्ध शान्ति को प्राप्त होता है, जैसे—स्वप्न से जगने पर स्वप्न का शरीर और दृश्यभ्रम सब मिट जाता है और शुद्ध आत्मपद भासता है, ऐसे ही आत्मा के प्रत्यक्ष होने से सब भ्रम मिट जाता है, और शुद्ध आत्मसत्ता भासती है। हे रामजी! यह जो दृश्य और दृष्टा है, वह मिथ्या है, जो दृष्टा है वह दृश्य होता है यह भ्रम मिथ्या आकाशरूप है, जैसे पवन में स्पंदशक्ति रहती है ऐसे ही आत्मा में संवेदन शक्ति रहती है, जब संवेदन स्पंदरूप होती है तब दृश्यरूप होकर स्थित होती है, जैसे स्वप्न में अनुभव सत्ता दृश्यरूप होकर स्थित होती है, ऐसे ही यह दृश्य है, इसलिये सब आत्मसत्ता है, ऐसा विचार करके आत्मपद को प्राप्त करो।

हे रामजी! दैव शब्दका त्याग करके अपना पुरुषार्थ करो, और शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त करो। पुरुषार्थी वीर पुरुष ही आत्मपद को प्राप्त होता है, पुरुषार्थहीन नीच पुरुष तो संसार सागर में डूबने के लिये ही जन्मग्रहण करता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे प्रमाणनिरुपणं नामैकोनविशंः सर्गः ॥१९॥

विंशतितमः सर्गः २०

अथ आत्मप्राप्तिवर्णनम्।

श्री वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब यह सत्संग करके अपने अन्तःकरण चतुष्टय का संशोधन कर लेता है तब आत्मपद प्राप्ति की योग्यता इसमें आती है, परन्तु सत्संग उन लोगों से करना चाहिये जिन सत्पुरुषों की प्रत्येक चेष्टा शास्त्र के अनुसार हो, ऐसे गुणी लोगों के गुणों का अनुकरण करे। अपने मन में पदपदार्थ को समझलेने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाने पर महापुरुषों के शम सन्तोषादि दिव्यगुणों का आश्रय लिया करे, शम सन्तोषादि महान् गुणों से ही ज्ञान प्राप्ति होगी। जैसे—मेघ से अन्न उपजता है, और अन्न से जगत् होता है, और जगत् से मेघ होता है, ऐसे ही शम सन्तोष भी हैं, शमदमादिगुणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, और आत्मज्ञान से शमदमादि गुण आते हैं, ऐसा विचारकर शम सन्तोषादि गुणों का अभ्यास करो, तब शीघ्र ही आत्मतत्व की प्राप्ति होगी। हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुष के पास तो शम संतोष आदि गुण स्वभाव से ही आ जाते हैं, वही जिज्ञासु को अभ्यास से प्राप्त होते हैं। जैसे धान्य का पालन स्त्री करती है, ऊँचा शब्द करती है, उससे पक्षियों को उड़ाती है, जब नियमानुसार इतना परिश्रम करती है तब कहीं फल पाती है, इसी प्रकार परमार्थ जगत् में बड़ा भारी परिश्रम करने के अनन्तर कहीं अन्तःकरणशुद्धि करके सत्संग का आश्रय लेना पड़ता है, केवल बातें सुनना और सुनाना सत्संग नहीं होता अपितु सत्संग तो सत् वस्तु (आत्मा) से मेल हो जाने का नाम है अर्थात् सत्पुरुषों की अन्तर तथा बाह्य अनुकृति करते हुए अपने आपको भी उन्हीं जैसा बनाने का अटूट अभ्यास करना तथा असीम प्रयत्न और परमवैराग्य आदि साधन सम्पन्न होकर परिश्रम करना।

हे रामजी! इस मोक्ष उपाय शास्त्र को आदि से लेकर अन्तपर्यन्त विचारे तब भ्रान्ति निवृत्त होती है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब पुरुषार्थ से

सिद्ध होते हैं, परन्तु यह मोक्ष उपाय शास्त्र आत्मसाक्षात्कार का परम कारण है, जो शुद्ध बुद्धिमान पुरुष इसको विचारेगा, उसकी भ्रान्ति निवृत्त होगी, इसलिये इस मोक्षप्रकरण का भली प्रकार अभ्यास करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे आत्मप्राप्तिवर्णनं
नाम विंशतितमः सर्गः ॥२०॥

इति श्रीयोगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणं समाप्तम् ।

परमात्मने नमः ।

अथ श्रीयोगवासिष्ठे

उत्पत्तिप्रकरणप्रारंभः।।३।।

प्रथमः सर्गः १

अथ बन्धहेतु वर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठजी बोले– हे रामजी! अब मैं तुम्हारे बोध के लिये उत्पत्तिप्रकरण कहता हूँ सावधान होकर सुनो। इस दृश्य प्रपंच की सत्ता को मान लेने से ही बन्ध है, दृश्य के अभाव में बन्ध का अस्तित्व नहीं रहता, और यह दृश्य क्या वस्तु है, इस विषय में मैं क्रमपूर्वक कहता हूँ, सुनिये। संसार में जो उत्पन्न होता है, वही बढ़ता है, वही स्वर्ग अथवा नरक में जाने का अधिकारी होता तथा मोक्ष (मुक्ति) भी उसीकी होती है, अतः मैं तुम्हारी स्वरूप सम्बन्धी जानकारी के लिये कहता हूँ। उत्पत्ति ही संसार में आने का कारण है, आत्मा तो दृश्योत्पत्ति के पूर्व जैसा था वैसा ही अब है, आत्मा तो अणुमात्र भी विकारी नहीं होता। जैसा कि श्रुति कहती है–'न निरोधोनचोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः,न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता'।। न बन्ध है न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न जिज्ञासु है, न मुमुक्षु है न मुक्ति है, यही वास्तव में परमार्थ है। इस प्रकरण का विषय यही है जो कि विस्तार से आगे कहा जायगा, यहाँ उसी वक्ष्यमाण विस्तार के उपोद्धातस्वरूप से मैं तुम्हें संक्षेप में इस सर्ग में कहता हूँ। हे रामजी! यह जो स्थावर जंगम रूप दृश्य देख रहे हो, कल्प के अन्त में इसका इस प्रकार नाश हो जायेगा, जैसे सुषुप्ति में स्वप्न का

नाश होता है। तब वही एकमात्र आत्मसत्ता जो कि निराकार होने से–निष्क्रिय, अपरिच्छेद्य होने से स्तिमित (गम्भीर) (अरूप होने से) न तेज (प्रकाशमय होने से) न तम। (निर्धर्म होने से) अनाम तथा सम्यक् प्रकार से जो अभिव्यक्त न थी। अवशिष्ट रहती है, उस महती आत्मसत्ता की ऋत, आत्मा, परब्रह्म, सत्य, इत्यादि संज्ञाय (उपदेश्य उपदेशरूप) व्यवहार सिद्धि के लिये विद्वान् पुरुषों ने कल्पना करली है, (सर्ग के आदि में वही आत्मसत्ता समष्टि जीवभाव को प्राप्त होती है) चित्स्वभाव स्थित ही आत्मा मोह (अज्ञान) से आकाशादि क्रम से उत्पन्न हुए समष्टि लिंग शरीर का आत्मा होकर उसमें प्रविष्ट होने के कारण तदभिमानी हुआ। उसी के रूप में भासमान तदन्तर्गत प्राणधारणोपाधि से देह निष्पत्ति तथा देह निष्पत्तिजन्यवाणी की अभिव्यक्ति के अधीन होने से (भ्रान्ति से) कुत्सित जीवता को प्राप्त होता है, उसके बाद वही भूतात्मा जीवता को प्राप्त होकर संकल्प विकल्पों के मनन से मन्द हुआ मन बन जाता है, अर्थात्–संकल्प विकल्पादि मनोधर्मों को आत्मा को मानता है। तब इस प्रकार (अर्थात् भ्रम से, वास्तव से नहीं) समष्टि मनोभाव को प्राप्त हुआ वह हिरण्यगर्भ ब्रह्म स्वयमेव (अन्य के बिना स्मरण कराये भी) पूर्व वासनाओं के अनुरोध से विराड् भाव को भुवनादिभाव को और वहाँ चार प्रकार के भूतग्राम भाव को नित्य ही स्वच्छन्दता पूर्वक उसी सत्य संकल्प से कल्पना करता है। हजार अध्यारोप से भी अधिनिष्ठान की स्थिति में अणुमात्र भी भंग नहीं पड़ता, इस बात की पुष्टि के लिये कहा जाता है कि, कटक शब्द का अर्थ जैसे काञ्चन से भिन्न नहीं है, इसी प्रकार उस परब्रह्म में भासमान यह जगत् भी उससे भिन्न कुछ नहीं है, जैसे मरुस्थल में पड़ती हुई मरीचिकाओं में न होती हुई भी नदी भासती है इसीप्रकार यह जगत् सम्बन्धिनी इन्द्रजाल श्री (माया) मिथ्या होने पर भी भासती है, इसीलिये तत्ववेत्ता पुरुषों ने इसके यह नाम रक्खे हैं, विद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा इसका नाश हो सकता है, इसलिये इसका नाम अविद्या है, उर्ध्व

(ऊपर स्वर्गादि) अधः नीचे (नरकादि) तथा–तिर्यक्–पक्षिआदि योनियों में संचरण होने का हेतु यही है–इसलिये इसका नाम संसृति है, अस्वतन्त्र करनेवाली यही है– इस कारण से इसको बन्ध कहते हैं, मिथ्या होने से यह माया है, भ्रमका हेतु यही है अतः इसका नाम मोह है, दुस्तर होने से 'महत्' है, स्वरूपावर होने से यही तम है। इत्यादि नाम

हे रामजी! अब मैं बन्ध का रूप तुम्हें सुनाता हूँ, इसके बाद मोक्ष के रूप को सुनोगे। दृष्टा दृश्य सम्बद्ध होने का ही नाम बन्ध है, दृश्य के ही बल सें दृष्टा बद्ध है, दृश्य के अभाव में वह सर्वथा मुक्त है, जगत् का यह त्वं, अहं आदि मिथ्यारूप दृश्य कहा जाता है, यद्यपि है तो वह मिथ्या परन्तु जबतक इसका यह मिथ्या भाव भी बना हुआ है तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। यहाँ शका है कि यदि दृश्य के अभाव में ही मोक्ष है तो जब-जब भी दृश्य की उपस्थिति हो तब तबही 'यह नहीं हैं, नहीं है', इत्यादि वाक्य से उसके बारम्बार किये गये निरास से उसका इस प्रकार अभाव सिद्ध हो जायेगा, जैसे रोग के बार-बार निरास करने से आरोग्यसिद्धि हो जाती है, तो फिर तत्वज्ञान के लिये इतना बड़ा आयास करने की क्या आवश्यकता है, तो कहते हैं नहीं, इस प्रकार से किये गये तर्कातिशय से दृश्य व्याधि शान्ति नहीं होगी, अपितु बढ़ेगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बन्धहेतुवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २

बन्धहेतु वर्णनम् ।

श्रीवसिष्ठमहर्षि बोले–हे रामजी! यह आकाशज नाम ब्राह्मण का अति विचित्र चरित्र जो कि श्रवणभूषण है, सुनो–इसके सुनने से तुम उत्पत्ति प्रकरण को भली प्रकार जान सकोगे। एक आकाशज नामका परमधर्मात्मा, ध्याननिष्ठ, प्रजा का हितकारी ब्राह्मण है, जब वह बहुत

देर तक जीवित रहा तब मृत्यु ने विचार किया कि मैं तो समयानुसार सब जीवों का भक्षण करता हूँ, तो इस आकाशज नाम के ब्राह्मण को क्यों न खाऊँ। मालूम होता है, इसको मारने में मेरी शक्ति कुंठित हो गयी है, जैसे पत्थर पर तलवार की धार कुंठित हो जाती है, ऐसा विचार कर उसको मारने के लिये उसके नगर में गया, उद्योगी पुरुष अपने उद्योग में लगे रहते हैं, कर्मों का त्याग करके बैठ नहीं जाते। ऐसा सोचकर मृत्यु ने जब उसके घर में प्रवेश किया, तब इसको कल्पान्त अग्नि के समान प्रचंड पावक जलाने लगा, परन्तु मृत्यु अग्नि की उन विशाल लपटों को पार करता हुआ अन्दर पहुँचा और ब्राह्मण को देखकर उसने यत्न से पकड़ना चाहा, परन्तु अनेक हाथों से भी उसको इस प्रकार पकड़ न सका, जैसे कि संकल्प पुरुष नहीं पकड़ा जा सकता, आश्चर्य से मृत्यु वापिस हुआ और संशयों को दूर करने वाले श्रीयमराज से जाकर पूछा कि मैं इस आकाशज ब्राह्मण को भक्षण करना चाहता हूँ, परन्तु क्यों भक्षण नहीं कर सकता? यमराज बोले– हे मृत्यो! तुम उसको अकेले, बलसे मारने में जरा भी समर्थ नहीं हो, इसको मारसकने वाले इसके कर्म हैं, दूसरा कोई कारण नहीं, अतः यदि तुम इस आकाशज ब्राह्मण को अवश्य ही खाना चाहते हो तो उसके कर्मों का अन्वेषण करो, उनकी सहायता से तुम उसे खा सकोगे, इसके अनन्तर वह मृत्यु उसके कर्मों का अन्वेषण करने के लिये सब दिशाओं दिशान्तों, नदियों, सरोवरों और प्रान्तों में घूमने लगा। मृत्यु ने बड़े पुरुषार्थ के साथ वनों, पर्वतों, समुद्रों के तटों तथा द्वीपों-द्वीपान्तरों, अरण्यों, नगरों और पुरों में उसके कर्मों का अन्वेषण किया। सारांश यह है कि सारे भूमण्डल में घूमने पर भी मृत्यु को कहीं उसके कर्मों का पता न मिला। अतीव खिन्न होकर मृत्यु फिर यमराज के पास आकर बोला–प्रभो! आकाशज ब्राह्मण के कर्म कहाँ है, कृपा करके कहिये। संदिग्ध बातों में सेवकों को अपने स्वामी का आश्रय होता है, यमराज ने बहुत देर तक विचार करने पर यह कहा–हे मृत्यो! आकाशज के कोई कर्म हैं ही नहीं, यह केवल आकाश से उत्पन्न हुआ है, जो केवल आकाश के उत्पन्न हुआ है, वह स्वयं भी निर्मल आकाशरूप है,

इसके कर्मों का अत्यन्ताभाव है। प्राचीन कर्म के साथ भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं कारणों के अभाव से यह आकाशमात्र ही है, यह आकाशकोशात्मा विशदाकाशरूप निज कारण में स्थित है, इसके कोई कारणान्तर नहीं हैं, प्राचीन कर्म तो इसके हैं नहीं और नये कर्म यह करता नहीं। इसका प्राणस्पन्दनरूप कर्म जिसको हम लोग देखते हैं, वह हमारी दृष्टि में भले ही इसका कर्म हो, उसमें उसकी अपनी कर्म बुद्धि नहीं है, परमार्थ दृष्टि से वह ब्राह्मण स्वात्मरूप से स्थित है, जैसे जल में द्रवता है, और आकाश में शून्यता है, तथा वायु में स्पन्दता है, ऐसे ही यह परमपद में स्थित है, इसके न तो क्रियामाण कर्म हैं न संचित, और न ही इसके प्रारब्धकर्म हैं, इसीलिये यह संसार बन्धन में नहीं पड़ा। सहकारी कारणों के न होने पर भी जो उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से भिन्न नहीं है अर्थात् कारणों के सर्वथा अभाव से वह स्वयंभव है, इसका कर्ता न पहिले था न अब है, हे मृत्यो! कहो, तुम इसको कैसे पकड़ते हो, यह ब्राह्मण रूपवान् नहीं है, रस्सी से आकाश नहीं बांधा जा सकता, मृत्यु ने कहा–हे भगवन्! शून्य से उत्पत्ति कैसे होती है, पृथ्वी आदि किस प्रकार हैं और कैसे नहीं होते, यमराज बोले–वह कभी उत्पन्न नहीं होता, वह ब्राह्मण केवल ज्ञानप्रकाशरूप है। महाप्रलय के समय में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ अवशिष्ट नहीं रहता, वही केवल अजर, अमर, अनन्त आत्मसत्ता ही प्रकाशमान रहती है, जो शून्य है नित्योदित है, सूक्ष्म है, निरुपाधि, परब्रह्म है, वह यह ब्राह्मण सर्ग के आदि में आकाश में शुद्ध चिदाकाशरूप स्थित रहता है। न इसका शरीर है, न इसके कर्म हैं, न इसमें कर्तापन है, न वासना है, यह शुद्ध चिदाकाश विज्ञान आनन्दघन परमात्मरूप में स्थित है, इस केवल आकाशरूप का कोई प्राक्तन वासनाजाल नहीं है, यहाँ पृथ्वी आदिकों का सम्भव कैसे हो सकता है, इसलिये हे मृत्यो! इसके आक्रमण के लिये यत्न मत करो, आकाश किसी समय में किसी ढंग से भी पकड़ा नहीं जा सकता, यह सुनकर मृत्यु परम विस्मित होकर अपने स्थान को चला गया।

श्रीरामजी बोले—हे भगवन्! आपने यह जो आकाशज नाम ब्राह्मण का आख्यान कहा है, यह मेरे प्रपितामह श्रीब्रह्माजी की ही कथा कही है, जो स्वयंभू हैं, अज हैं, एकात्मा तथा विज्ञानात्मा है, श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! ठीक है, आप खूब जान गये, यह कथा मैंने ब्रह्माजी की ही सुनायी है, मृत्यु ने इसके विषय में यमराज के साथ विवाद किया था, महाप्रलय के समय पर जब सर्व भक्षक मृत्यु प्रजानाश करने के काम में लगा हुआ था तो उसने अपने सर्वभक्षकता के घमण्ड में आकर श्रीब्रह्माजी को भी भक्षण करना चाहा, उसकी यह चेष्टा देखकर उसको यमराज ने भलीप्रकार समझाया कि यह क्या देख रहे हो, सच है, मनुष्य जिस काम को बार बार करता हो उसको उसी काम की आदत पड़ जाती है, भला कहीं आकाश शरीर ब्रह्मा भी आक्रमणीय हो सकते हैं जो चिद्व्योम चमत्कार है, वह चिद्व्योम ही है, उसमें कारणता कार्यता असंभव है। उस केवल परमात्मा में न दृश्य है,न दृष्टा है,स्वयं चित्ता स्वयं भू रूप में भासित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बन्धनहेतुवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ।।२।।

तृतीयः सर्गः ३

अथ बन्धहेतु वर्णनम् ।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन्! आपने कहा है कि पृथ्वी आदि तत्वों से रहित ब्रह्माजी का वपु है, और संकल्पमात्र है तो स्मृति का संस्कार इसका कारण क्यों न हो? जैसे हमको स्मृति हो और जीवों को स्मृति है, ऐसे ही ब्रह्माजी को भी हो सकती है। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! संस्कार स्मृति उसीका कारण होती है जो पहिले भी पूर्वकर्मसमन्वित देहवान् होता है, जो पदार्थ पहिले देखा होता है,उसकी

स्मृति संस्कार से भी होती है, और जो नहीं देखा होता उसकी स्मृति संस्कार से भी नहीं होती, ब्रह्माजी अद्वैत हैं, अज हैं, आदि मध्य तथा अन्त से रहित हैं, जबकि ब्रह्मा का प्राक्तन कर्म कुछ है ही नहीं तब उनको प्राक्तनस्मृति कैसे उत्पन्न हो सकती है, वह तो शुद्ध बोधरूप हैं, आत्मतत्व ब्रह्मरूप होकर स्थित हुआ है, इसका होना अपने आपसे हुआ है इसीलिये इसका नाम स्वयंभू है। हे रामजी! इस स्वयंभू (ब्रह्मा) का एक आतिवादिक ही शरीर है, अजन्मा आधिभौतिक शरीर नहीं हो सकता। रामजी बोले—भगवन्! सब जीवों का एक आतिवाहिक शरीर होता है और दूसरा आधिभौतिक, केवल ब्रह्मा का ही एक क्यों होता है, वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जितने भी जीव हैं सकारण हैं उनके दो-दो शरीर होते हैं,परन्तु ब्रह्माजी अकारण हैं उनका अन्तवाहक ही शरीर है। हे रामजी! सुनो जीवों का कारण ब्रह्मा है, इस कारण से यह जीव दोनों देहों को धारण करते हैं, और ब्रह्माजी का कारण कोई नहीं, अपने आप उत्पन्न हुए हैं, तभी तो इनका नाम स्वयंभू है, आप जिस शरीर में प्रकट हुए हैं उसका नाम अन्तवाहक शरीर है, अपने स्वरूप का विस्मरण नहीं हुआ, अपने वास्तवस्वरूपमें स्थित है, इसलिये अन्तवाहक हैं और दृश्य को अपना संकल्परूप जानते हैं, और जिनको दृश्य में दृढ़ प्रतीति हुई है, उनको अधिभूत कहते हैं, जैसे जड़ता से जल का बरफ बन जाता है, ऐसेही दृश्य की दृढ़ता से आधिभौतिक होते हैं।

हे रामजी! जितना कुछ जगत् यह तुम्हें दृष्टि आता है, सब आकाशरूप है, किसी पृथ्वी आदिभूत से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई, भ्रम से ही आधिभौतिक भासता है, जैसे— स्वप्ननगर आकाशरूप होता है, किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ, न किसी पृथ्वी आदि तत्त्वसे उपजा है, सब आकाशरूप है, और निद्रा दोषसे आधिभौतिक होकर भासता है, तैसे यह जाग्रत् जगत् भी अज्ञान करके आधिभौतिक आकाश भासता है, जैसे स्वप्न अज्ञान से अर्थाकार भासता है, हे रामजी! यह सम्पूर्ण जगत् कल्पमात्र है और कुछ बना नहीं। जैसे मनोराज्यके पर्वत आकाशरूप होते

है, ऐसे ही यह जगत् आकाशरूप है, वास्तव में कुछ नहीं बना, सब संकल्प के पुरुष हैं, सब जगत् मन से उत्पन्न हुआ है, जैसे—बीज से देशकाल के अनुसार अंकुर निकलता है, ऐसे सब दृश्य मन से उत्पन्न होता है, मनरूप ब्रह्मा है, और ब्रह्मादि मनरूप है उसके संकल्प में सम्पूर्ण जगत् स्थित है, वह सब आकाशरूप है, आधिभौतिक कोई नहीं, हे रामजी! आधिभौतिक जो आत्मा में भासता है, वह भ्रान्तिमात्र है, जैसे— बालक को प्रतिछाया में बेताल भासता है,ऐसेही अज्ञानी को आधिभौतिक भासता है, वह भ्रान्तिमान है वास्तव में। कुछ नहीं, हे रामजी! जितने जीव हैं सब अन्तवाहक हैं, परन्तु अज्ञानी की अन्तवाहकता निवृत्त हो गई है और आधिभौतिकता दृढ़ हो गयी है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे अन्तवाहकरूप हैं, हे रामजी! जिन पुरुषों का प्रमाद नहीं हुआ वे सदा आत्मा में स्थित हैं, अन्तवाहकरूप हैं, सब जगत् आकाशरूप है, जैसे संकल्प पुरुष होता है, जैसे गन्धर्व नगर होता है, जैसे स्वप्नपुर होता है ऐसे यह जगत् है, जैसे शिल्पी स्तंभ में पुतलियों की कल्पना करता है, कि स्तंभ में इस प्रकार की पुतलियाँ हैं, वे पुतलियाँ उत्पन्न तो हुई नहीं, परन्तु स्तम्भ में ज्यों की त्यों स्थित हैं, पुतली का सद्भाव शिल्पी के मन में होता है, ऐसे ही सब विश्व मन में स्थित है, स्वरूप से कुछ बना नहीं, दृश्य ही मनरूप है और मन दृश्यरूप है,जैसे तरंग ही जलरूप है और जल ही तरंगरूप है।

हे रामजी! जब तक मनका सद्भाव है तब तक दृश्य का बीज मन है, जैसे कमलडोडे का सद्भाव उसके बीज में होता है, उससे कमलडोडे की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही जगत् का बीज मन है, सब जगत् मनसे उत्पन्न होता है। हे रामजी! जब तुमको स्वप्न आताहै तब तुम्हारा चित्त दृश्यको चेतता जाता है और तो कारण कोई हुआ नहीं, ऐसे ही यह जगत् भी जानना, यह तुम्हारे अनुभव की बात कही है,क्योंकि तुम्हें नित्य अनुभव होता है।

हे रामजी! मनही जगत् का कारण है और कोई नहीं, जब मन उपशम होगा तब दृश्यभ्रम मिट जायेगा, जब तक मन उपशम नहीं होता तबतक दृश्य भ्रम भी निवृत्त नहीं होता और जबतक दृश्यभ्रम निवृत्त न हो, तब तक शुद्ध बोध नहीं होता, जब तक शुद्धबोध नहीं होता, तब तक आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बन्धहेतुवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

चतुर्थः सर्गः ४

अथ उत्पत्तिप्रकरणार्थ वर्णनम् ।

बाल्मीकिजी बोले— इस प्रकार मुनिपुंगव श्रीवसिष्ठजी कहकर चुप हो गये, सब श्रोता लोगों ने वसिष्ठजी के वचनामृत का अतिश्रद्धा से पान किया, और अब उनके वचनोंके अर्थ (तत्व) को हृदयंगत करने के लिये वे लोग विचार मग्न हो गये, इन्द्रियों ने चंचलता का निर्मूल त्याग कर दिया, उत्तुङ्ग तरंगोंवाला मनःसमुद्र परमशान्त हो गया, वहाँ के पंजरस्थ शुकों की मनोवृत्तियाँ शान्त हो गयीं और वे एकदम मौन समाधिस्थ हो गये, उस समय के उस परमसात्विक प्रभावपूर्ण वातावरण में स्वभावतः चंचल मनवाले स्त्रियों तथा बालकमें निर्मनस्कता आ गयी। उस समय कर्मचारियों ने आकर राजा को समयोचित सूचना देकर अपने कर्तव्यका पालन किया कि स्वामिन् मध्याह्न का समय हुआ, यह स्नान सन्ध्या का समय है, इस प्रकार भृत्यों के कथन को सुनकर वसिष्ठजी बोले— हे राजन्, आज जो कुछ कहना था कह दिया है, कल फिर कहेंगे। जैसे आपकी आज्ञा, यह कहकर राजाने अर्घ्य पाद्य नैवेद्यादि से श्रीवसिष्ठजी का पूजन किया। और जो अन्य ब्रह्मर्षि वहाँ विराजमान थे, उन सबकी

भी विधिपूर्वक पूजा की। तब वसिष्ठजी उठकर खड़े हुए और उन उपस्थित ऋषि-महर्षियों से नमस्कृति पूर्वक प्रेमालाप करके उन्होंने सबको प्रेमादर से विदा किया। तब सब लोग यथास्थान चले अर्थात् आकाशचारी आकाश को, पृथ्वीके निवासी अपने स्थानको, पातालवासी पाताल को चले गये। तब सूर्यभगवान् दिन रात की कल्पना को त्यागकर स्थिर हो रहे, मन्द—मन्द पवन चलने लगा, मानों पवनभी कृतार्थ होने के लिये आया है, तब सूर्यभगवान् किसी दूसरे स्थान को प्रकाशित करने के लिये अस्त हो गये, क्योंकि सन्तजन अपने प्रकाश का लाभ सबको पहुँचाते हैं, रात्रि हुई, तारागण प्रकट हुए अमृतकिरणधारी चन्द्रदेव उदित हुए, अन्धकार का अभाव हुआ राजद्वार चन्द्रमा की किरणों से परमशीतल और स्वच्छरूप से भासने लगा, मानो वसिष्ठजी के वचन श्रवण से ही इसको भी शान्ति मिली है। पूर्ण सात्विक संस्कारों में सब श्रोताओं की रात्रि व्यतीत हुई, सूर्योदय हुआ, जैसे सन्तोंके बचनों से अज्ञानी के हृदय का तमस नष्ट हो जाता है ऐसे ही भगवान् भास्कर ने रात्रि के अन्धकार को भगा दिया। भगवान् भास्कर के दिव्यालोक में संसार सक्रिय हुआ, सूर्य की किरणों के साथ सब श्रोता लोग स्नान-सन्ध्या से निवृत्त होकर सभा में आकर विराजमान हुए, खेचर, भूचर, पातालवासी, सब अपने-अपने नियत स्थानपर आ बैठे, परस्पर नमस्कारों के अनन्तर पूर्व प्रसंग के विषय पर बातचीत होने लगी, तब श्रीरामचन्द्रजी महाराज ने कहा— हे भगवन्! संसाररूप दुःख मञ्जरी जिस मन में बढ़ती है, उस मन का क्या रूप है कृपा करके मुझे कहिये। वह क्या वस्तु है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस मन का रूप देखने में नहीं आता, यह मन नाम मात्र है, वास्तवरूप इसका कुछ नहीं, आकाश के समान शून्य है। हे रामजी! मन आत्मा से उत्पन्न नहीं हुआ, जैसे सूर्य में तेज होता है, ऐसे आत्मा में मन है, जैसे— मरीचिका का जल है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा है, वह वास्तव में कुछ नहीं, ऐसे ही मन वास्तव में आत्मा में नहीं है, हे रामजी! आश्चर्य की बात है कि जो वास्तव में उत्पन्न नहीं हुआ, परन्तु आकाश के समान घट-घट में

वर्त रहा है, और सम्पूर्ण जगत् उसी मन करके भासता है, असत् रूप यह दृश्य जिस करके भासता है उसी का नाम मन है, हे रामजी! आत्मा शुद्ध अद्वैत है उसमें द्वैतरूप जगत् जिस करके भासता है, उसका नाम मन है और जो संकल्प विकल्प फुरता है वह उस मन का रूप है, जहाँ जहाँ संकल्प फुरता है, वहाँ वहाँ मन है, जैसे जहाँ जहाँ तरंग उठते हैं वहाँ वहाँ जल है, ऐसे ही जहाँ जहाँ संकल्प फुरता है वहाँ वहाँ मन है, मन के और भी नाम हैं–स्मृति, अविद्या, मलिनता, तम, आदि यह सब उसीके नाम हैं, ज्ञानवान् पुरुष जानते हैं। हे रामजी! जितना कुछ जगत् जाल भासता है, सब मन से उत्पन्न हुआ है और सब दृश्य मनरूप है, क्योंकि मन का रचा हुआ है वास्तव में कुछ रूप नहीं है, हे रामजी! मनरूप जो देह है उसका नाम अन्तवाहक शरीर है वह संकल्प रूप है, और सब जीवों का आदि वपु है, इस संकल्प में जो दृढ़ आभास हुआ है उस से आधिभौतिक भासने लगा है, और आदिस्वरूप के विषय में प्रमाद हुआ है, हे रामजी! यह जगत् सब संकल्परूप है, स्वरूप के प्रसाद से पिंडाकार भासता है, जैसे स्वप्नदेह का आकार आकाशरूप है, पृथ्वी आदि तत्वों का अभाव होता है, परन्तु अज्ञान करके आधिभौतिकता भासती है, यह सब मन का ही संसरण है, मन के ही फुरने से भासता है, हे रामजी, जहाँ मन है, वहाँ दृश्य है, जहाँ दृश्य है वहाँ मन है, जब मन का नाश हो तब दृश्य का भी अभाव हो जाता है, शुद्ध बोधमात्र में जो दृश्य भासता है, वही मन है, जब तक दृश्य भासता है तब तक मुक्त नहीं हुआ होता, जब दृश्य नष्ट होगा, तब बोधवान् होगा। हे रामजी! द्रष्टा दर्शन दृश्य, यह जो त्रिपुटी भासती है, मन से भासती है, जैसे स्वप्न में त्रिपुटी भासती है, जगने पर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, और अपना आप भासता है, ऐसे ही आत्मसत्ता में जगने पर अपना आप अद्वैतही भासता है। जब तक शुद्धबोध की प्राप्ति नहीं हुई तब तक दृश्य भ्रम की निवृत्ति नहीं होती, जब बाह्य दृष्टि करता है तब सृष्टि ही दृष्टि आती है, ऐसी अज्ञानदशा में अन्दर देखे तो भी सृष्टि ही दृष्टि आयेगी, तथा उसको सत्य जानकर

रागद्वेष की कल्पना उठती है, जब मन आत्मपद को प्राप्त होता है, तब दृश्य भ्रम निवृत्त हो जाता है, जैसे वायु का स्पन्दन बन्द होने पर वृक्षों के पत्रों का हिलना भी बन्द हो जाता है, इसलिये यह मनरूप दृश्य ही बन्धन का कारण है, रामचन्द्रजी बोले– हे भगवन्, यह दृश्यरूप विषूचिका रोग महाभयंकार है, कृपा करके इसकी निवृत्ति का उपाय कहिये। वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी, इस संसाररूप बेतालसे कहीं अकस्मात् ही छुटकारा मिलेगा, सबसे प्रथम जब तुम विचार द्वारा संसार के स्वरूप को जानने का यत्न करोगे, तब तुम्हें आत्मपद में विश्रान्ति प्राप्त होगी, और सर्वात्मभाव को प्राप्त हो जाओगे। हे रामजी! यह जो दृश्यभ्रम तुम्हें भास रहा है, इसको मैं उत्तर ग्रन्थ (निर्वाण प्रकरण) से निवारण करूँगा। इसके विषय में सन्देह मत करो, श्रवण करते चलो। यह दृश्य मनसे उत्पन्न हुआ है, इसका सद्भाव मन में हुआ है, जैसे कमल के डोडे की उत्पत्ति कमल के डोडे के बीज में है, ऐसे संसार की उत्पत्ति स्मृति से होती है, वह स्मृति अनुभव आकाश में होती है। हे रामजी! स्मृति उस पदार्थ की होती है जिसका अनुभव सद्भावरूप ग्रहण होता है, और जितना कुछ जगत् तुझको भासता है वह संकल्परूप है, कोई पदार्थ सद्रूप नहीं, जो वस्तु असद् रूप है, उसकी स्थिरता नहीं होती और जो सद्वस्तु है उसका अभाव कदाचित् नहीं होता, यह जितना कुछ प्रंपच भासता है, सब असत् रूप है मनके चिन्तन से उत्पन्न हुआ है, जब मन फुरने से रहित होता है तब जगद् भ्रम निवृत्त हो जाता है, हे रामजी! पृथ्वी, पर्वत आदिक जगत् असद्रूप न होता तो मुक्त भी कोई न होता है वह दृश्य भ्रम से होता है, यदि दृश्य भ्रम न होता तो कोई मुक्त न होता, मुक्त तो ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवता इत्यादि अनेक हुए हैं, इस कारण से कहते हैं कि दृश्य असत्य रूप है, मनके संकल्प में स्थित है। हे रामजी! मनको स्थिर करके देखो, यह अहं त्वं आदिक जगत् तुम्हें कुछ नहीं भासेगा। यह चित्त आदर्श (दर्पण) रूप है, इसमें संकल्परूप दृश्य मलिनता है, जब मलिनता दूर होगी तब आत्मसाक्षात्कार होगा। हे रामजी! यह दृश्यभ्रभ मिथ्या उदय हुआ है, जैसे गन्धर्व नगर होता है,

जैसे स्वप्नपुर होता है, ऐसे यह जगत् भी है, जैसे शुद्ध आदर्श में पर्वत का प्रतिबिंब होता है, ऐसे चित्तरूप के आदर्श में यह दृश्य प्रतिबिंबित है, मुकुर में जो पर्वत का प्रतिबिंब होता है वह आकाश रूप है कोई पर्वत का सद्भाव नहीं है, ऐसे ही आत्मा में जगत् का सद्भाव नहीं। जैसे बालक को भ्रम से प्रतिच्छाया में पिशाच बुद्धि होती है, ऐसे ही अज्ञानी को जगत् भासता है वास्तव में जगत् कुछ नहीं। हे रामजी! न मन उत्पन्न हुआ है न जगत् उत्पन्न हुआ है, दोनों असद्रूप हैं जैसे—आकाश में चन्द्रमा भासता है, ऐसे ही आत्मा में जगत् भासता है। जैसे आकाश अपनी शून्यता से पूर्ण है, जैसे—समुद्र जल से पूर्ण है, ऐसे ही ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित पूर्ण है, उसमें जगत् का अत्यन्ता भाव है। श्रीरामचन्द्र बोले—भगवन् ! आपके यह वचन ऐसे हैं, जैसे कोई कहे कि बन्ध्या के पुत्र ने पर्वत को चूर्ण किया है, और शशके श्रृंग अति सुन्दर हैं, बालुका से तेल निकल रहा है, पत्थर की शिला नाच रही है, चित्र (मूर्ति) का मेघ गरज रहा है, पत्थर की बनी पुतलियाँ गा रही हैं ऐसे ही आपके शब्द मुझे भास रहे है, आप कहते हैं जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ, और है ही नहीं, परन्तु मुझे तो यह जरा, मृत्यु आदि विकारों अथवा त्रिविध दुःखों सहित अति भयंकर रूपमें प्रत्यक्ष भास रहा है, इसलिये मेरे मनमें आपके वचनों का सद्भाव स्थिर नहीं होता। यदि आपके विचार में यह सिद्धान्त निर्णीत रूपसे सत्य प्रतीत होता है तो मुझे इस प्रकार समझाओ कि जिससे आपका निश्चय मेरे हृदयंगत हो जाय। वसिष्ठ जी बोले—हे रामजी! हमारे वचन यथार्थ हैं, हमने कभी असत्य नहीं कहा, आप विचार करें, यह जो जगत् का आडम्बर है अकारण है, जब महाप्रलय होता है, उसके अनन्तर शुद्ध चैतन्य संवित् ही रहता है, उसमें कार्य कारण कल्पना कोई नहीं रहती, उसमें फिर जगत् का स्फुरण होता है, वह बिना कारण के होता है, जैसे सुषुप्ति से स्वप्न सृष्टि फुरती है और स्वप्न सृष्टि अकारण है, ऐसे ही यह सृष्टि भी अकारण है, हे रामजी। जिसका समवायि कारण और निमित्त कारण न हो, और प्रत्यक्ष भासे तब जानिये कि भ्रांतिरूप है, जैसे नित्य स्वप्नका अनुभव आपको होता है,

उसमें नाना प्रकार के पदार्थ कार्य कारण सहित भासते हैं और कारण बिना है, ऐसे यह जगत् भी बिना कारण के है, अतः आदिकारण के बिना जगत् उत्पन्न हुआ है, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, जैसे संकल्पपुर भासता है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे ही यह जगत् भासता है, कोई पदार्थ सत् नहीं, जैसे स्वप्न में राज्यपति भासते हैं, और साथ ही अनेक प्रकार के पदार्थ भी। यह सब किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुए, सब आकाशरूप हैं, मन के संसरण से भासते है। जैसे स्वप्न से और स्वप्न भासता है, फिर और स्वप्न भासता है, ऐसे यह जगत् भासता है, इसी प्रकार जाग्रत् जगत् जाल मनकी कल्पना से भासता है, हे रामजी! चलना, दौड़ना, देना, लेना, बोलना, सुनना, सूँघना इत्यादि विषय तथा रागद्वेषादिक जो विकार हैं, वे सब मनके फुरन से होते हैं, आत्मा में कोई विकार नहीं, जब मन उपशम होता है सब, निवृत्त हो जाती हैं। इसलिये संसार का कारण मन है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे उत्पत्ति प्रकरणार्थ वर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः॥४॥

पंचमः सर्गः ५

मूलकारण देव स्वरूप वर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! मन का क्या रूप है, यह तो मायामय है। इसका होना जिससे है वह कौन पद है? वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब प्रलय होता है तब सब जगत् का अभाव होता है, अन्त जो शेष रहता है, वह सद्रूप है और आदि सर्ग का भी सत्यरूप होता है, उसका कदाचित् नाश नहीं होता, सदा प्रकाशरूप है, और परमदेव है, शुद्ध परमात्म तत्व अज अविनाशी है, अद्वैत है, जिसको वाणी कह नहीं सकती, उस पद को जीवन्मुक्त पाता है, हे रामजी! आत्मा आदि जो शब्द हैं वे भी उद्देश्य में कल्पित हैं स्वाभाविक कोई शब्द नहीं प्रवृत्त होता, शिष्य परम्परा को समझाने के लिये शास्त्रकारों ने इतने नाम देवके कल्पना किये हैं। मुख्यरूप से उस देव को पुरुष कहा जाता है, वेदान्ती लोग उसको ब्रह्म कहते हैं, विज्ञानवादी उसे विज्ञान कहते हैं, एक कहते हैं, वह निर्मलरूप है, शून्यवादी कहते हैं कि शून्य ही शेष रहता है, एक कहते हैं प्रकाशरूप हैं, जिसके प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं। एक उसको वक्ता कहते हैं कि आदि वेद का वक्ता वही है और स्मृतिकर्ता कर्ता कहते हैं कि सब कुछ स्मृतियों से वही करनेवाला है, सब कुछ उसकी इच्छा से हुआ है, इसलिये सबका कर्ता वही है, सर्वात्मा है। हे रामजी! इत्यादिक संज्ञायें उसकी शास्त्रकारों ने की हैं, सबका जो अधिष्ठान है, परमदेव है और अस्ति आदि षट्विकारों से रहित है, शुद्ध चैतन्य है, सूर्यवत् प्रकाशरूप है, वह देव समस्त जगत् में पूर्ण हो रहा है। हे रामजी! आत्मरूपी सूर्य है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक उसकी किरणें हैं। ब्रह्मरूप समुद्र है उसमें जगत्रूप तरंग बुद्बुदे उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं, सब पदार्थ आत्माके प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, जैसे दीपक अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है और औरों को भी प्रकाश देता है, ऐसे ही आत्मा अपने प्रकाश से प्रकाशित है और सबको सत्ता दे रहा है। हे रामजी! वृक्ष जो उत्पन्न होता है वह आत्मसत्ता से उत्पन्न होता है, आकाश में शून्यता उसीकी की हुई है, अग्नि में उष्णता, जल में द्रवता,

उसी की की हुई है, पवन में स्पर्श उसी का किया हुआ है, सब पदार्थों की सत्ता वही है, मोर के पंख में जो रंग हैं वे आत्मसत्ता के किये हुए हैं, पत्थर में मुंगे उसी से हुए हैं, पत्थरों में जड़ता उसी की की हुई है, स्थावर जंगम्म जगत् का अधिष्ठानरूप ब्रह्म है। हे रामजी! आत्मा चन्द्रमा है, उसकी किरणों से ब्रह्माण्डरूप त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं, वह चन्द्रमा कैसा है, जो शीतलता और अमृत से पूर्ण है, ब्रह्मरूप मेघ है, उससे जीव रूप बिन्दु स्रवते हैं, जैसे बिजली का प्रकाश होता है और छिप जाता है, ऐसे ही जगत् प्रकट होता है और लय होता है, सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता है, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, परमानन्दरूप है, सत्य, असत्यरूप पदार्थ सब आत्मसत्ता से होते हैं। हे रामजी! उस देव की सत्ता से जड़ पुर्यष्टक चेतन होकर चेष्टा करती है, जैसे चुम्बक पत्थर की सत्ता से लोहा चेष्टा करता है, ऐसे ही चेतनरूप चुम्बकमणि से देह चेष्टा करता है, अतः आत्मा चेतन है नित्य है सबका कर्ता आत्मा ही हैं, उसका कर्ता और कोई नहीं, वही सर्वत्र परिपूर्ण है, उदय अस्त से रहित एक रस अखण्ड सत्ता अन्तःबहिः सर्वत्र सब में सब कुछ वही है। हे रामजी! जब पुरुष अपने उपास्य देव का साक्षात्कार करता है, तब उसके सब कर्म क्षीण हो जाते हैं, चिज्जड़ ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय कट जाते हैं, केवल बोधरूप होता है, तब मन स्वभाव सत्ता में स्थित होता है, मृत्यु को भी सम्मुख देखकर नहीं व्याकुल होता। वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह देव किसी विशेष स्थान में नहीं रहता और यह कहीं दूर नहीं है, अपने आप में स्थित है। हे रामजी! घट में देव है, अज्ञानी को दूर भासता है, इसकी प्राप्ति स्नान, दान, तथा तप आदि साधनों से नहीं होती, यह केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। केवल कर्तव्यपालन से नहीं मिल सकता, जैसे मृगतृष्णा की नदी जो भ्रम से भासती है उसकी निवृत्ति कर्तव्यपालन से नहीं अपितु ज्ञान से ही होती है इसी प्रकार जगत् की निवृत्ति भी आत्मज्ञान से होती है अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकती। हे रामजी! मनुष्य का वास्तव में यही कर्तव्य है कि आत्मज्ञान से आवागमन के बन्धन को छिन्न भिन्न कर देना अर्थात् आत्मसाक्षात्कार से

स्वरूप स्थिति प्राप्त होने से जन्म मृत्यु पर विजय पाकर अहं ब्रह्मास्मि इस महावाक्यर्थानुरूप अपने आपका बोध होना। जिसका सर्वदुःख निवृत्ति, परमपद प्राप्ति, अथवा आत्मविश्रान्ति प्राप्तिरूप फल है, रामजी ने कहा—हे भगवन्! जिस देव के जानने से पुरुष फिर जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता, वह कहाँ रहता है और किस अति कठिन तप से उसकी प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मूलकारण
देवस्वरूप वर्णनं नाम पंचमः सर्गः ।।५।।

षष्ठः सर्गः ६

अथ प्रयत्नोपदेश वर्णनम् ।

श्री वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! उस देव की प्राप्ति किसी तप से नहीं होती। अपने शुद्ध शास्त्रोक्त पुरुषार्थ से उसकी प्राप्ति होती है जिस संसारी मनुष्य में जितना भी राग द्वेष, तमोगुण, क्रोध, मत्सर और अभिमान आदि दोषों का समूह है वह उतना ही आत्मदेव के दुर्लभ दर्शन से अति दूर रहता है, उस पुरुष का किया हुआ सब तप भी इन दोषों की कृपा से निष्फल और निरादंभ होता है, उससे आत्मपद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। हे रामजी! आत्मपद की प्राप्ति का परम उत्तम साधन सत्संग और सत् शास्त्रों का विचार है, बिना इस सत्संग तथा सच्छास्त्र—विचाररूप परम औषध के इस द्रश्य प्रपंचरूप भयंकर विषूचिका रोग की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। और साथ ही साधक को इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि उसका आचार व्यवहार शास्त्र और लोक के विरुद्ध न हो, अर्थात् साधक पूर्ण संयमी तथा लोक मर्यादा का रक्षक होना चाहिये, सारांश यह कि वह यथालाभ संतुष्ट, तथा शम, दम, सम्पन्न हो, ऐसें उदार आत्मा महात्मा को शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी! आत्मपद पाने का कारण सत्संग और सत् शास्त्र है। सत् कौन है जिसको सब लोग भला, साधु आदि शब्दों से पुकारते हैं और सच्छास्त्र वे हैं जिनमें ब्रह्म निरूपण हो,

ऐसे संतों का संग और सच्छास्त्रों का विचार हो तब शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है, जब यह पुरुष श्रुति विचार द्वारा अपने परम स्वभाव में स्थित होता है तब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी इसकी दया चाहते हैं, कहते हैं कि यह पुरुष परब्रह्म हुआ है। हे रामजी! सन्तों का संग और सच्छास्त्रों का विचार इसको निर्मल कर देता है। दृश्य रूप मैल को धो डालता है, जैसे निर्मल बालुका से जलका मैल दूर होता है और जल परम निर्मल होता है। ऐसे ही यह पुरुष भी निर्मल होता है और शुद्ध चैतन्य रूप को प्राप्त होता है अतः सत्संग और सत् शास्त्र रूप परमोत्तम साधन को मनुष्य अवश्य ही यत्न द्वारा प्राप्त करे। यह महान् लाभप्रद अमोघ तथा दिव्य औषध है, इसको प्राप्त करने वाला स्वयं अमर होकर संसार को अमर कर देने की सामर्थ्य रखता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे प्रयत्नोपदेशवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ।।६।।

सप्तमः सर्गः ७

दृश्यासत्ता प्रतिपादनम् ।

रामजी बोले – हे भगवन् ! यह देव जो आपने कहा जिसके जानने से संसार बंधन से मुक्त होता है, वह कहाँ स्थित है, और किस प्रकार प्राप्त हो सकता है? वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह देव दूर नहीं है, शरीर में स्थित है, नित्य है, चिन्मात्र सर्वत्र परिपूर्ण है, सर्व विश्व से रहित है, चन्द्रमा को मस्तकपर धारण करनेवाले सदाशिव चिन्मात्ररूप हैं, और कमलज ब्रह्मा भी चिन्मात्ररूप हैं, और कमलनाभ विष्णुभी चिन्मात्र हैं, इन्द्रादिक सब चिन्मात्ररूप हैं और सब जगत् चिन्मात्र रूप है, रामचन्द्रजी ने कहा भगवन् ! यह तो अज्ञानी बालक भी कहते हैं कि आत्मा चिन्मात्र है आपके उपदेश में क्या विशेष प्रतिपादन हो रहा है। वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! विश्व को चिन्मात्र जानने मात्र से तुम संसार सागर से पार नहीं हो सकते। इस चेतन का संसार है यह चैतन्यजीव पशु है संसार नामरूप है इसी से जरा मरण रूप भीति उत्पन्न होती है, हे रामजी! चैतन्य होकर जो चैत्यता है वह अनर्थ का कारण है

और चैत्य से रहित जो चैतन्य है वह परमात्मा हैं, उस परमात्माको जान लेने से मुक्ति होती है, तब चैत्यता मिट जाती है, हे रामजी! परमात्मा के जानने से हृदय की चिज्जड़ ग्रन्थि टूट जाती है, यह अहंता और ममता नाश हो जाती है, सब संशय कट जाते हैं, सब कर्म क्षीण हो जाते हैं, रामजी बोले– हे भगवन्! जब चित्त चैतन्योन्मुख होता है तब आगे दृश्य भासता है, इसके होते चित्त को रोकने में कैसे समर्थ हो सकता है और दृश्य कैसे निवृत्त हो सकता है, वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! जो दृश्य संयोगी चैतन्य है वह जीव है, जन्म रूप जंगल में भटकता भटकता थक जाता है, इस चेतन को जो चैंत्य कहते हैं, अर्थात् चिदाभास जीव प्रकाशी पंडित भी मूर्ख है यह तो संसारी जीव है, इसको जानने से मुक्ति कैसे हो, मुक्ति परमात्मा के जानने से होती है, ओर सब दुःखों का नाश होता है, जैसे विषूचिका उत्तम औषध से दूर होता है, ऐसे ही मुक्ति परमात्मा के जानने से होती है, रामजी ने कहा–भगवन्! परमात्मा का क्या रूप है, जिसके जानने से मनुष्य मोहसमुद्र से पार होता है, वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! जब एक निमेष के अन्दर मनुष्य का संवित् (संकल्प) एक देश से दूसरे देश को जाता है उसके मध्य जो ज्ञान संवित् है, वह परमात्मा का रूप है और जहाँ संसारका अत्यन्ताभाव होता है, उसके पीछे बोधमात्र शेष रहता है वह रूप परमात्मा का है, हे रामजी! जहाँ द्रष्टा, दर्शन, दृश्यका, अभाव होता है, ऐसा जो आकाश है वह परमात्मा का रूप है, और जो अशून्य है और शून्य की नाईं स्थित है, जिसमें सृष्टि का समूह शून्य है, ऐसी जो अद्वैत सत्ता है वह परमात्मा का रूप है। हे रामजी! जो महाचेतनरूप बड़े पर्वत के समान स्थित है और अजड़ होकर भी जड़ सा स्थित है वह परमात्मा का रूप है, हे रामजी! जैसे सूर्य का प्रकाश रूप है, जैसे आकाश शून्य रूप है, ऐसे यह जगत् आत्मारूप है। श्रीरामजीने कहा भगवन्! यदि सबकुछ परमात्मा है तो वह क्यों नहीं भासता और सब जगत् भासता है। इस जगत का निर्वाण कैसे हो, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह जगत् भ्रम करके उत्पन्न हुआ है, वास्तव में कुछ नहीं, जैसे आकाश में नीलता भासती है ऐसे ही आत्मा

में जगत् भासता है जब जगत् के अत्यन्ताभाव को जान लेगा, तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा, दूसरे किसी उपाय से नहीं होगा, जब अपने मनन में दृश्य का अत्यन्ताभाव करेगे, तब दृश्य उसी प्रकार स्थिर रहेगा, और तुझको पदार्थ सत्ता ही भासेगी। हे रामजी! चित्तरूप आदर्श दृश्य के प्रतिबिंब बिना कदाचित् नहीं रहता, जब तक दृश्य का अत्यन्ताभाव नहीं होता, तब तक परात्परबोध का साक्षात्कार नहीं होता। रामजी ने कहा—हे भगवन्! यह जाल आडम्बर मन में कैसे स्थित हुआ है, जैसे सरसों के दानें में सुमेरु का आना आश्चर्य है, ऐसे जगत् का मन में आना आश्चर्य है। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! एक दिन तुम इन वैदिक सकाम यज्ञ यागादि त्रैगुण्य से रहित होकर एकाग्रता के साथ सत्संग और सच्छास्त्र परायण होकर स्थित होनेका यत्नारम्भ करो तब देखो कि तुम्हारे अन्तःकरण में से अति शीघ्रता से दूर भागता है। जैसे मरुमरीचिका का परिचय प्राप्त हो जाने पर जल सम्बन्धी संशय दूर हो जाता है, अर्थात् जल का अभाव हो जाता है, ऐसे ही तुम्हारा दृश्य भ्रम दूर हो जायेगा। जब दृश्य का अभाव हुआ तो द्रष्टा भी शान्त होगा, जब दोनों का अभाव हुआ तो अंत में शुद्ध आत्मसत्ता हो भासेगी। हे रामजी! जब तक द्रष्टा है तब तक दृश्य है और जब तक दृश्य है तब तक द्रष्टा है, जैसे एक अपेक्षा से दो होते हैं, दो हैं तो एक हैं, एक है तब दो भी हैं। एक न हो तो दो कहाँ से हों, ऐसे ही एक के अभाव से दोनोंका अभाव होता है, द्रष्टा की अपेक्षा से दृश्य है, दृश्य की अपेक्षा से द्रष्टा है। एक के अभाव से दोनों का अभाव हो जाता है, हे रामजी! अहन्ता आदि लेकर जो दृश्य है, वह तेरी सफलता के लिये दूर कर दूँगा, मार्जन कर दूँगा, आत्मसत्ता से इतर जो दृश्य सत्ता भासती है, हे रामजी, अनात्मा से लेकर जितना दृश्य है वही मैल है, उससे रहित होकर चित्तदर्पण निर्मल हो जायेगा, जो पदार्थ असत् है वह कभी सत् न होगा, और जो सत् है वह असत् न होगा, जो वस्तु सत् न हो उसका मार्जन करना, किसको कहते हैं। हे रामजी! यह जगत् आदि उत्पन्न नहीं हुआ, जो कुछ दृश्य भासता है भ्रान्तिमात्र है, सर्वत्र निर्मल ब्रह्म चैतन्य है, जैसे

सुवर्ण से भूषण होता है, वह सुवर्ण भूषण से भिन्न नहीं, ऐसे ही जगत् और ब्रह्म में भेद कुछ नहीं। हे रामजी! दृश्यरूप मलमार्जन के लिये मैं तुम्हें विविध प्रकार की युक्तियों से विस्तार के साथ कहूँगा। उससे तुम्हें अद्वैत सत्ता का भान होगा यह जगत् जो तुम्हें दृष्टिगोचर हो रहा है किसी कारण द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे मरुस्थल की नदी भासती है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है ऐसे ही यह जगत् कारण के बिना भासता है, जैसे मरुस्थल में जल नहीं, जैसे– वन्ध्या का पुत्र नहीं, जैसे –आकाश में पुष्प नहीं, ऐसे ही यह जगत् नहीं, जो कुछ देखते हो निरामय ब्रह्म है। इस विषय में जो कुछ तुम्हें कहा गया है केवल वाणीमात्र नहीं कहा गया, युक्ति पूर्वक कहा गया है। हे रामजी! गुरुदेव की कही हुई युक्ति को जो लोग मूर्खता से त्याग देते हैं, उनको सिद्धान्त की प्राप्ति नहीं होती।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे दृश्यासत्ताप्रतिपादनं नाम सप्तमः सर्गः ।।।७।।

अष्टमः सर्गः ८

सच्छास्त्रनिरूपणम् ।

रामजी बोले– हे मुनीश्वर! वह कौनसी युक्ति है जिसके अपनाने से पुरुष आत्मपद को प्राप्त कर सकता है, वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी, जगत् के सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान विषूचिका जो कि भयंकर बीमारी है चिरकाल से दृढ़ हो रही है, वह विचार रूप मंत्रसे शान्त होती है। हे रामजी! बोधसिद्धि के लिये तुम्हें एक आख्यान कहते हैं उसको करके तुम मुक्तात्मा हो जाओगे। यदि अर्ध प्रबुद्ध होकर श्रवण करना त्याग दोगे तो तुम्हें तिर्यगादि धर्म की प्राप्ति होगी। हे रामजी! मनुष्य जिस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसके अनुसार ही यदि परिश्रम भी करे तो उसको सफलता मिल जाती है, यदि श्रान्त होकर विमुख न हो जाय, इसलिये सत्संग और सत्शास्त्र परायण होना चाहिये। जब तू इनकी प्राप्ति के लिये दृढ़ अभ्यास करेगा तब कुछ ही दिनों मे परमपद प्राप्त होगा। श्रीरामजी बोले– हे भगवन्! आत्म बोधका कारण

कौनसा शास्त्र है तथा शास्त्रों में कौनसा श्रेष्ठ है? जिसके जानने से शोक नहीं रहता! वसिष्ठ बोले— हे महामते रामजी! आत्मबोध का जो कारण है वह शास्त्रों में परम शास्त्र महारामायण है, जिसमें बड़े इतिहास हैं, जिससे परमपद की प्राप्ति होती है। हे रामजी! सब इतिहासोंका सार मैं तुमसे कहता हूँ, जिसको समझनेवाला पुरुष जीवन्मुक्त होता है, उसको इस मिथ्याजगत् का भान न होगा, जैसे स्वप्न से जगे हुए को स्वप्न के पदार्थ भासते हैं, इसी प्रकार उसको दृश्यविषयक भान होता है। सब शास्त्रों का तत्त्वरूप सिद्धान्त इसका सिद्धान्त है, जो तत्त्वविषय की बात इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है, इसको सर्वशक्ति विज्ञान भंडार बुद्धिमान जानते हैं। हे रामजी! जो पुरुष श्रद्धासंयुक्त होकर इसको श्रवण करे, और नित्य ही सुनकर विचार करे तो उसकी बुद्धि उदार हो और परम बोधको प्राप्त हो, इसमें अल्पमात्र भी संशय नहीं है, जिस पुरुष को इस शास्त्र के श्रवण करने की रुचि नहीं वह पापात्मा है, उसको चाहिये कि प्रथम और शास्त्र को विचारे, उसके अनन्तर इसको विचारे, इसके विचारने से अवश्य जीवन्मुक्ति प्राप्त होगी, जैसे —उत्तम औषध से रोग शीघ्र दूर होता है, ऐसे ही इस शास्त्र के श्रवण और विचार से शीघ्र ही अज्ञान नष्ट होगा, और आत्मपद की प्राप्ति से परमानन्द होगा। हे रामजी! आत्मज्ञान की प्राप्ति वर से या शाप से नहीं होती, आत्मज्ञान तो विचार और अभ्यास का परिणाम है, हे रामजी! दान देने से, तपसे, स्वाध्याय से आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती, इसकी प्राप्ति का कारण केवल आत्मविचार है, अन्यथा संसार भ्रम नष्ट नहीं होता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सच्छास्त्रनिरूपणं नाम अष्टमः सर्गः ॥८॥

नवमः सर्गः ९

परमकारणवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! जिन पुरुषों का चित आत्मगत हो और जो आत्मगत प्राण है अर्थात् निज को प्राण चेष्टा भी आत्मरूप है

जो आपस में बातचीत भी आत्मा के विषय की ही करते हैं वे लोग सदा आत्मा में ही सन्तुष्ट हैं, आत्म में ही रमण करनेवाले हैं, ऐसे जो ज्ञाननिष्ठ हैं वही फिर विदेहमुक्त होते हैं। रामजी ने कहा–हे मुनीश्वर! जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त का क्या लक्षण है, ताकि उसके अनुसार चेष्टा करके हम भी वैसे बन सकें, वसिष्ठजी बोले –हे रामजी! जो पुरुष सब जगत् का व्यवहार करता है परन्तु उसके हृदय में द्वैत भ्रम शान्त हुआ है वह जीवन्मुक्त है, जो सब कार्य करता है परन्तु अन्तःकरण से आकाश के तुल्य निर्लेप रहता है वह जीवन्मुक्त है, जो पुरुष संसार की ओर से तो सुषुप्त है और स्वरूप में जाग्रत् है, तथा जगत् भ्रम जिसका निवृत्त हो चुका है, वह जीवन्मुक्त है, हे रामजी! इष्ट की प्राप्ति में जिस पुरुष के मुख की कान्ति बढ़ती नहीं, और अनिष्ट की प्राप्ति में न्यून होती वह जीवन्मुक्त है और जो पुरुष समस्त व्यवहार करता हुआ भी अन्दर राग द्वेष से रहित शीतल रहता है, वह जीवन्मुक्त है, हे रामजी! जो पुरुष रागद्वेषयुक्त दृष्टि आता है इष्ट में रागवान् और अनिष्ट में द्वेषवान् दृष्टि में आता है, और अन्तःकरण से सदा शान्तिरूप है वह जीवन्मुक्त है, जिस पुरुष में अहंता ममता का अभाव है और जिसकी बुद्धि किसी विषय में लिप्त नहीं होती वह कर्म करे य न करे, जीवन्मुक्ति है, जो पुरुष भोक्ता होकर भी अन्दर से अभोक्ता है सचित्त दृष्टि आते हैं और अचित्त हैं वे जीवन्मुक्त हैं, जिस पुरुष से लोग उद्वेगवान् नहीं होते और जो लोगों से उद्वेगवान् नहीं होता और राग द्वेष क्रोध भय से रहित हैं वह जीवन्मुक्त है। हे रामजी! जो पुरुष चित्त के फुरने से जगत् की उत्पत्ति जानता है, और चित्त के निस्फुरण हुए जगत् का प्रलय जानता है और सब में समबुद्धि है वह जीवन्मुक्त है, जो पुरुष भोगों से जीवित दृष्टि आता है और मृतक समान स्थित है, चेष्टा करता दृष्टि आता है, पर्वत की नाईं अचल है वह जीवन्मुक्त है, हे रामजी! पुरुष व्यवहार करता दृष्टि आता है और चित्त में इष्ट अनिष्ट का कुछ विचार नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त है, जिस पुरुष को सब जगत् आकाशरूप हुआ है और अन्तःकरण निर्वासन है वह जीवन्मुक्त है,

क्योंकि वह सदा स्वरूप स्थित है, समस्त जगत् को ब्रह्मरूप जानता है। राम बोले– हे भगवन्! जीवन्मुक्त की आपने बड़ी कठिन स्थिति वर्णन की है, इष्ट अनिष्ट में समशीलत बुद्धि कैसे होती है, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इष्ट अनिष्टरूप जगत् अज्ञानी को भासता है, ज्ञानी को सब आकाशरूप भासता है, उसकी किसी बात में रागद्वेष नहीं होता, औरों की दृष्टि में चेष्टा करता दृष्टि आता है, परन्तु जगत् की ओर से वह सुषुप्त हुआ है, हे रामजी! जीवन्मुक्त कुछ समय रहकर जब शरीर का त्याग करता है तब ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, जैसे पवन स्पन्द को त्यागकर निस्पन्द होता है, ऐसे ही जीवन्मुक्त पद को त्यागकर विदेह मुक्त होता है, तब इसकी ऐसी स्थिति होती है कि सूर्य होकर वही तपता है, ब्रह्मा होकर उत्पन्न करता है, विष्णु होकर पालन करता है, रुद्र होकर संहार करता है, पृथ्वी होकर सब जीवों को धारण करता है, औषधि तथा अन्नादि उत्पादन करता है, पर्वत होकर पृथ्वी की रक्षा करता है, जल होकर द्रवतारस देता है, अग्नि होकर उष्णता धारण करता है, पवन होकर पदार्थों को सुखाता है, चन्द्रमा होकर औषधियों को पुष्ट करता है, आकाश होकर सब पदार्थों को अवकाश (ठौर) देता है, मेघ होकर वर्षा करता है, स्थावर जंगम जितना कुछ भी जगत् है, सब में आत्मरूप से स्थित होता है। रामजी बोले–हे भगवन्! विदेहमुक्त शरीर धारण से क्षोभवान् होता है फिर जगत् में आता है, त्रिलोकी का भ्रम क्यों नहीं मिटता? वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! जगत् आडम्बर अज्ञानी के चित्त में स्थित है, ज्ञानवान् के लिये सब चिदाकाशरूप है, विदेहमुक्त का वही रूप होता है जहाँ उदय अस्त की कल्पना कोई नहीं, केवल शुद्ध बोधमात्र है, हे रामजी! यह जगत् आदि से उत्पन्न नहीं हुआ, अज्ञान से भासता है। मैं तू और जगत् सब आकाशरूप है, जैसे आकाशमें नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासता है, जैसे मरस्थल में जल भासता है, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, हे रामजी! जैसे स्वर्ण में भूषण उत्पन्न नहीं हुआ, जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, जितना कुछ जगत् जाल है, वह मन के फुरने से भासता है, स्वरूप से बना कुछ नहीं। ज्ञानीको सदा यही निश्चय रहता है, फिर उसको जगत्

क्षोभ कैसे भास सके? हे रामजी! यह भी तुम्हारे समझाने मात्र के लिये कहा है, नहीं तो जगत् कहाँ है? जगत् का अत्यन्त अभाव है, रामजी बोले- हे भगवन्! जगत् के अत्यन्त अभाव हुए बिना आत्मबोध की प्राप्ति नहीं होती। वसिष्ठजी ने कहा- हे रामजी! दृश्य, द्रष्टा, यह मिथ्याभ्रम उदय हुआ है, जब दोनों में से एक का अभाव हो तब दोनों का अभाव होगा, जब ऐसा हो तब शुद्ध बोधमात्र शेष रहे, जिस प्रकार जगत् का अत्यन्ताभाव हो वह युक्ति मैं तुमसे कहता हूँ। हे रामजी! चिरकाल से जगत् दृढ़ हो रहा है, यह मिथ्याज्ञान विषूचिका है, यह रोग विचाररूप मंत्र से निवृत्त होता है, जिसप्रकार पर्वत का चढ़ना उतरना शनैः शनैः होता है, ऐसे ही चिरकाल से दृढ़ हो रहे इस भ्रम की निवृत्ति विचार के साथ अनुक्रम से हो सकती है, जगत् का अत्यन्ताभाव हुए बिना आत्मबोध नहीं होता,अत्यन्ताभाव के लिये मैं युक्ति कहता हूँ, उसके समझने से जगत् भ्रम नष्ट हो जायगा, और तू जीवन्मुक्त होकर विचरेगा। हे रामजीव बन्धन से वही बद्ध होता है जो उत्पन्न होता है, मुक्त भी वही होता है जो उत्पन्न होता है, यह जगत् तुझको भासता है, यह उत्पन्न नहीं हुआ, जैसे मरुस्थल में नदी भासती है वह उत्पन्न नहीं हुई भ्रम से भासती है, ऐसे ही आत्मा में जगत् भासता है, उत्पन्न नहीं हुआ, भ्रम से भासता है, वास्तव में नहीं है, जैसे-अर्धमिलितनेत्र पुरुष को आकाश में तिरवरे भासते हैं, ऐसे भ्रम करके जगत् भासता है। हे रामजी! जब महाप्रलय होता है, तब स्थावर, जंगम, देवता,किन्नर, दैत्य, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक जगत् का अभाव होता है, उसके अनन्तर जो रहता है वह इन्द्रिय ग्राह्यसत्ता नहीं, असत्य भी नहीं, न शून्य है न प्रकाश है, न अन्धकार है, न द्रष्टा है, न दृश्य है, न केवल है, न अकेवल है, न चेतन है, न जड़ है, न ज्ञान है न अज्ञान है, न साकार है, न निराकार है न किंचन है, न अकिंचन है, सर्वशब्दों से रहित है, उसमें वाणी की गति नहीं और जो है तो चैत्य से रहित चेतन आत्मतत्वमात्र ही, जिसमें अहं त्वं की कल्पना कोई नहीं, ऐसे शेष रहता है, पूर्ण अपूर्ण आदि मध्य अन्त से रहित है, वही सत्ता जगत्रूप होकर भासती है और कुछ जगत् बना नहीं जैसे-मरीचिका में जल भासता है ऐसे ही आत्मामें

जगत् भासता है, हे रामजी, जब चित्तशक्ति स्पन्दरूप हो भासती है, तब जगत् आकार भासता है और जब निस्पन्द होती है तब जगत् का अभाव होता है और आत्मसत्ता सदा एकरस होती है, जैसे वायु स्पन्दरूप होता है तब भासता है, निस्पन्द होता हैं तब नहीं भासता, परन्तु वायु एक ही है, ऐसे ही चित्तसंवेदन के स्पन्दरूप होने पर जगतरूप होकर भासता है, निस्पन्दरूप होने पर मिट जाता है, हे रामजी! चेतन का जानना भी तब होता है, जब संवेदन स्पन्दरूप होता है, जैसे– सुगन्धि का ग्रहण आधारभूत द्रव्य से होता है, आधारभूत द्रव्य बिना सुगन्धि का ग्रहण नहीं होता, वस्त्र श्वेत होता है तब रंग को ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं चढ़ता, ऐसे आत्मा का जानना स्पन्द से होता है, स्पन्द के बिना जानने की क़ल्पना भी नहीं होती, जैसे आकाश में शून्यता भासती है, अथवा जैसे अग्नि में उष्णता भासती है, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, अनन्यरूप है, जैसे जल द्रवता से तरंगरूप होकर भासता है, ऐसे आत्मसत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है, आकाशवत् शुद्ध है, और श्रवण, चक्षु, नासिका, त्वचा, देह से रहित है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध से रहित है, और सब ओर से सुनता, बोलता, सूँघता, स्पर्श करता और रस लेता है, आत्मसूर्य की किरणों में जलरूप त्रिलोकी की फुरती भासती है, जैसे, जल में चक्र, आवर्त तथा तरंग फुरते भासते हैं, वे जल से इतर कुछ नहीं है, जलरूप ही हैं, ऐसे ही जगत् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, आत्मरूप है, आत्मा ही जगत्‌रूप होकर भासता है, रसना नहीं, परन्तु, रस लेता है, वाणी नहीं परन्तु बोलता है अभोक्ता होने पर भी भोक्ता दीखता है, स्फुरन रहित है, परन्तु फुरतासा दीखता है, अद्वैत है पर द्वैतरूप भासता है, निराकार है परन्तु साकार होकर भासता है, हे रामजी! आत्मसत्ता सब शब्दों से अतीत है परन्तु सब शब्दों से संगत सी दीखती है, अन्य द्रष्टा होकर भासती है, परन्तु इतर कुछ हुआ नहीं। कई सृष्टि समान होती हैं, कई विलक्षण होती है, परन्तु स्वरूप से इतर कुछ हुई नहीं। सदा आत्मरूप है, जैसे–सुवर्ण में भूषण समान आकार भी होते हैं और विलक्षण आकार भी होते हैं, कंकण से लेकर जो भूषण हैं, वे स्वर्ण से इतर कुछ नहीं होते स्वर्ण रूप ही हैं, ऐसे ही जगत् आत्मस्वरूप है, शुद्ध

आकाश से भी निर्मल है बोधमात्र है, हे रामजी! जब इसमें तू स्थिर होगा, तब जगत् भ्रम मिट जावेगा, जगत् वास्तव में कुछ नहीं, सदा ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है, मन के फुरने से जगत् भासता है, मनके फुरनेसे रहित होने पर सब कल्पना मिट जाती है, आत्मसत्ता ज्योंकी त्यों भासती है, वह सत्ता ज्यों की त्यों ही है सबका अधिष्ठानरूप है, यह जगत् सब उसी से हुआ है, और वही रूप है, सबका कारण आत्मसत्ता है उसका कारण कोई नहीं, अकारण है क्योंकि अद्वैत है, अजर है, अमर है, सब कल्पना से रहित है, शुद्ध चिन्मात्ररूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे परमकारणवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

दशमः सर्गः १०

अथ परमात्मस्वरूपवर्णनम् ।

रामचन्द्रजी ने कहा– हे भगवन्! जब महाप्रलय होता है और सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, और उसके पीछे जो रहता है, उसको शून्य कहें या प्रकाश कहें, तम है नहीं, चेतन है, अथवा जीव है मन है नहीं,बुद्धि है, सत्, असत्, किंचन अकिंचन इनमें से कोई तो होगा? आप कैसे कहते हैं कि वहाँ वाणी की गति नहीं? वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! यह तुमने महान् प्रश्न किया है इसको मैं बिना यत्न नाश कर दूंगा, जैसे–सूर्य भगवान् के उदय हुए अंधकार का नाश होता है , ऐसे ही तुम्हारे संशय का नाश होगा। हे रामजी! जब महाप्रलय होता है, तब सम्पूर्ण दृश्य का अभाव हो जाता है पीछे जो शेष रहता है, वह शून्य नहीं, दृश्याभास सदा उसमें रहता है और वस्तु से कुछ हुआ नहीं, जैसे स्तंभ में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, कि इतनी पुतलियाँ इस स्तंभ से निकलेंगी, इस प्रकार जहाँ शिल्पी कल्पना करता है वहाँ तो स्तंभ ही है, यदि स्तंभ न होवे तो शिल्पी पुतलियाँ किसमें कल्पे? जैसे स्तंभ में पुतलियाँ स्तंभरूप हैं,ऐसे ही जगत् ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से इतर जगत् का होना नहीं होता, जैसे पुतलियों का सद्भाव और असद्भाव स्तंभ से है,

क्योंकि अधिष्ठानरूप स्तंभ है, स्तंभ के बिना पुतलियाँ नहीं होतीं, ऐसे ही जगत् आत्मा बिना नहीं होता, हे रामजी! सद्भाव जो होता है सत से होता है असत् से नहीं होता, और असद्भाव भी सिद्ध होता है, वह सत् ही में होता है, असत् में नहीं होता, इसलिये सत् शून्य नहीं। यदि शून्य हो तो भासना किसमें हो, जैसे सौम्य जल में तरंग का सद्भाव भी होता है और असद्भाव ही होता है, असद्भाव इस कारण से होता है कि तरंग भिन्न कुछ नहीं, और सद्भाव इस कारण से होता है कि जल ही में तरंग होते है, सत् असत्भाव इसी कारण से जल में होता है ऐसे ही जगत् का सद्भाव असद्भाव आत्मा में होता है, शून्य में नहीं होता, जैसे—सौम्य जल में कहने मात्र को भी तरंग नहीं, जल ही है, ऐसे जगत् कहने मात्र के लिये है, कुछ नहीं, एकसत्ता ही है, शून्य अशून्य भी नहीं, क्योंकि शून्य अशून्य दोनों शब्द कल्पित हैं, क्योंकि शून्य उसको कहते हैं, जो अभावरूप हो और अशून्य उसको कहते हैं जो विद्यमान् कहा जाय, वह इन दोनों से रहित है, अशून्य भी शून्य का प्रतियोगी है, जो शून्य नहीं तो अशून्य कहाँ से हो? यह दोनों अभाव मात्र हैं। हे रामजी! यह जो सूर्य तारा, दीपक आदिक भौतिक प्रकाश हैं वे भी वहाँ नहीं, क्योंकि यह प्रकाश अन्धकार का विरोधी है, यदि यह प्रकाश होता तो अन्धकार सिद्ध न होता, वह तो अन्धकार भी सिद्ध होता है, इसी प्रकार से कहता है कि प्रकाश भी वहाँ नहीं और यदि कहें कि तम ही रहता होगा, तो तम भी नहीं, क्योंकि सूर्यादिक भी जिससे प्रकाश पाते हैं वह तम कैसे हो सकता है, आत्मप्रकाश के बिना सूर्यादिक भी तमरूप है, इसलिये न शून्य है न अशून्य है, न प्रकाश है न तम है, केवल आत्मतत्व मात्र है, जैसे स्तंभ में पुतलियाँ कभी हुई नहीं; ऐसे ही आत्मा में जगत् कभी हुआ ही नहीं, जैसे बिल्ली और बिल्ली की मज्जा में कुछ भेद नहीं, ऐसे ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, नाममात्र भेद है, जैसे जल और तरंग में मृत्तिका और घट में कुछ भेद नहीं, ऐसे ही ब्रह्म और जगत् में भी अभेद है, हे रामजी! जल और मृत्तिका का जो दृष्टान्त दिया है आत्मा में ऐसे भी नहीं जैसे

जल में तरंग होता है, मृत्तिका में घट होता है, वह भी परिणाम रूप होता है, और आत्मा में जगत् भान नहीं है और जो मानसिक है तो आकाशरूप है, अतः जगत् कुछ भिन्न नहीं, रूप अवलोकन मनसा कार्यता जो कुछ भासते हैं सब आकाशरूप हैं, आत्मसत्ता ही चित्त के फुरने से जगत्रूप हो भासती है, जगत् कुछ दूसरी वस्तु नहीं, जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है, ऐसे ही आत्मा में जगत् भासता है, हे रामजी! स्तंभ में जो पुतलियां कल्पता है वे भी नहीं होतीं और यहाँ कल्पना करनेवाला भी बीच की पुतली है वह भी हुए बिना भासती है। हे रामजी! जिसमें यह जगत् भासता है उसको शून्य कैसे कहें? और यदि कहें चैतन्य है तो भी नहीं, क्योंकि चैतन्य को जानना भी तब होता है जब चित्तकला फुरती है, जहाँ स्फुरन न हो वहाँ चैतन्यता कहाँ रहे! जैसे जब कोई मिरच खाता है तब उसकी तिक्तता भासती है खाये बिना नहीं भासती, ऐसे चैतन्य जानना भी स्पंद कला में होता है, आत्मा के विषय में जानना भी नहीं, चेतनता से रहित चिन्मात्र है अक्षय सुषुप्तिरूप है, उसको तुरीय कहते हैं, वह ज्ञेय तत्व (ज्ञानवान् पुरुष द्वारा ज्ञातव्य है) ज्ञानगम्य है, हे रामजी! जो पुरुष उसमें स्थित हुए हैं उनको संसाररूप सर्प नहीं काट सकता, वह अचेत्य चिन्मात्र होता है, जिसकी आत्मा में स्थिति नहीं, उसको दृश्यरूपी सर्प डँसता है आत्मसत्ता में तो कभी द्वैत कुछ हुआ नहीं, आत्मसत्ता आकाश से भी स्वच्छ है। द्रष्टा दर्शन दृश्य इनकी स्वतः—जो अनुभव सत्ता है, वह आत्मा का रूप है, जब अभ्यास करे तब उसको प्राप्त कर सकता है। हे रामजी! उसमें द्वैत कल्पना कुछ नहीं, अद्वैतमात्र है न दृष्टा है न जीव है, न कोई विकार है, न स्थूल है न सूक्ष्म है, एक शुद्ध अद्वैतरूप है, अपने आप में स्थित है। यदि यह चेत्य का फुरना ही आदि नहीं हुआ चेतनकला का तो जीव कैसे हो यदि जीव ही नहीं तो बुद्धि कैसे हो, यदि बुद्धि ही नहीं तो मन इन्द्रियाँ कैसे हों? यदि इन्द्रियाँ नहीं तो देह कैसे हो, और देह न हो तो जगत् कैसे हो, हे रामजी! आत्मसत्ता में सब कल्पानाएँ मिट जाती हैं, उसमें कुछ कहना

नहीं बनता, पूर्ण अपूर्ण सत् असत् से न्यारा है, भाव अभाव का विचार कोई नहीं, आदि मध्य अन्त की कल्पना कोई नहीं, अजर, अमर, आनंद, अनंत, चित्स्वरूप है, अचेत चिन्मात्र अवाच्यपद है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, और स्थूल से भी स्थूल है, एक अद्वैतरूप है, अनन्त चिद्रूप है। रामजी बोले—हे भगवन्! यह जो अचिंत्य चिन्मात्र परमार्थ सत्ता तुमने कही, उसके रूप बोध के लिये मुझे फिर कहिये। आपकी महती कृपा होगी, वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब महाप्रलय होता है तब सब जगत् नष्ट हो जाता है, पर ब्रह्मसत्ता शेष रहती है, इसका रूप कहता हूँ, मनरूप ब्रह्म है, जब मनकी वृत्ति क्षीण हो जाती है, वह वृत्ति कौन है, एक प्रमाण वृत्ति है, दूसरी विपर्यय वृत्ति है, तीसरी विकल्पवृत्ति है, चौथी अभाववृत्ति है, पांचवीं स्मरणवृत्ति है, प्रमाणवृत्ति आगे तीन प्रकार की है। एक— प्रत्यक्ष; द्वितीय—अनुमान; धुवाँ अग्नि जानने की वृत्ति, शब्दरूप आप्तकामिका यह तीन प्रमाण वृत्तियाँ हैं, द्वितीय विपर्यवृत्ति है, हो और भासे, और तृतीय विकल्पवृत्ति (शब्द ज्ञान हो और अर्थज्ञान न हो), जैसे कहा जाय 'चैतन्य पुरुष कहा! जो एक पुरुष हो और उसका द्वितीय चैतन्य स्वरूप हो, तब चैतन्यपुरुष कहा जाय, चेतन ईश्वर रूप है और साक्षी पुरुष रूप होवे वह जैसे सीप पड़ी हो, उसमें संशय वृत्ति हो, साक्षीरूप भासे साक्षी सीपी भासे, इसका नाम विकल्प है, चतुर्थ स्मरणवृत्ति है, पंचम निद्रा अभाववृत्ति है, यह पंचमवृत्ति और इनके अभिमानी मन तथा शरीर के अभिमानी अहंकार का जब नाश हो और पीछे जो शेष रहे वह निश्चल सत्ता अनन्त आत्मा है, असत् नहीं कह सकता है। हे रामजी! जब जाग्रत का अभाव होता है और सुषुप्ति हुई नहीं होती, वह जो रूप है, परमात्मा का है, अंगुष्ठ को जो शीत उष्ण का स्पर्श होता है, उसके अनुभव करने वाली परमात्मसत्ता है, जिसमें दृष्टा दर्शन दृश्य उत्पन्न होते हैं और लीन हो जाते हैं, वह परमात्मा का रूप है, कैसी सत्ता है, जिसमें चेतनता भी नहीं! हे रामजी! चैतन्यजीव और जड़ देहादिक जिसमें दोनों नहीं ऐसा

जो अचेत चिन्मात्र है वह परमात्मा का रूप है, सब व्यवहार होने पर भी जिसके आकाश रूप अन्तस्तल में कोई क्षोभ नहीं ऐसी जो सत्ता है वह परमात्मा का रूप है, शून्य है—परन्तु शून्यता से रहित है, हे रामजी! दृष्टता, दर्शन, दृश्य जिसमें तीनों प्रतिबिंबित हैं, ऐसी सत्ता परमात्मा का रूप है, स्थावर में जो स्थावररूप से व्याप्त है और चैतन्य में जो चैतन्यभाव से व्याप्त है, मन बुद्धि इन्द्रियाँ जिसको पा नहीं सकतीं ऐसी जो सत्ता है वह परमात्मा का रूप है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इनका जहाँ अभाव हो जाता है, इनके पीछे जो शेष रहता है, जिसमें विकल्प कोई नहीं, अचेत चिन्मात्र जो सत्ता है वह परमात्मा का रूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परात्मास्वरूपवर्णनंनाम दशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः ११

परमार्थरूप वर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! यह दृश्य जो स्पष्ट भासता है महाप्रलय में कहाँ जाता है? वसिष्ठजी बोले—हे राम! वन्ध्या स्त्री का पुत्र कहाँ से आता है, और कहाँ जाता है, आकाश का वन कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, जैसे आकाश वन है ऐसे ही यह जगत् है, रामजी ने कहा—हे मुनीश्वर! वन्ध्या का पुत्र और आकाश का वन तीनों कालों में नहीं है, शब्दमात्र हैं, उत्पन्न नहीं हुए, और यह जगत् स्पष्ट भासता है, यह वन्ध्या के पुत्र के समान कैसे हो सकता है, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे वन्ध्या का पुत्र और आकाश का वन उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे ही यह जगत् भी उत्पन्न नहीं होता, जैसे संकल्पपुर होता है, जैसे स्वप्ननगर प्रत्यक्ष भासता है, और आकाश रूप है, कोई पदार्थ सत् नहीं, ऐसे यह जगत् आकाशरूप है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ जैसे जल और तरंग में कुछ भेद नहीं जैसे काजर और श्यामता में भेद नहीं, जैसे अग्नि और उष्णता

में भेद नहीं, जैसे चन्द्रमा और शीतलता में कुछ भेद नहीं, ऐसे ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं, हे रामजी! जगत् कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है उसमें अज्ञान से जगत् भासता है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, जैसे मरुस्थल में जल भासता है, जैसे आकाश में तरवरे भासते हैं, ऐसे आत्मा में अज्ञान से जगत् भासता है, रामजी बोले– हे भगवन्! दृश्य के अत्यन्त अभाव बिना बोध की प्राप्ति नहीं होती और जगत् स्पष्ट रूप भासता है, द्रष्टा और दृश्य जो मन से उदय हैं वह भ्रम से हुए हैं, जो एक भी है तो दोनों बन्धे हुए हैं, जब दोनों में एक का अभाव हो तो दोनों मुक्त हों क्योंकि जहाँ द्रष्टा है वहाँ दृश्य भी है और जहाँ दृश्य है वहाँ द्रष्टा भी है, जैसे शुद्ध आदर्श प्रतिबिम्ब बिना नहीं होता, वैसे ही द्रष्टा दृश्य के बिना नहीं रहता और दृश्य द्रष्टा बिना। हे मुनीश्वर! दोनों में एक नष्ट हो तब दोनों निर्वाण हों इसलिये वही युक्ति कहो जिससे दृश्य का अत्यन्ताभाव हो और आत्मबोध की प्राप्ति हो। वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! जगत् के अत्यन्ताभाव के विषय में मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ। जिसके अर्थ को निश्चय करके समझने में दृश्य भ्रम शान्त हो जायेगा। फिर कभी संसार उत्पन्न न होगा, जैसे समुद्र में धूरि नहीं उड़ती, ऐसे ही तुम्हारे हृदय में संसार न रहेगा, हे रामजी! यह जगत् जो तुम्हें भासता है अकारणरूप है, इसका कारण कोई नहीं, हे रामजी! जिसका कारण कोई न हो और भासे उसको जानिये कि भ्रममात्र है, उत्पन्न कुछ नहीं हुआ, जैसे स्वप्न में सृष्टि भासती है वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुई, संवित्‌रूप है, ऐसे स्वर्गादि कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ आभासरूप है, परमात्मा का कुछ नहीं, हे रामजी! जो पदार्थ कारण बिना भासे वह जिस वस्तु में भासता है वही अधिष्ठान रूप है, जैसे तुमको स्वप्न में स्वप्न का नगर हो भासता है। ऐसे विश्व अकारण आत्मसत्ता से आभासित भासता है, और जगत् कोई वस्तु नहीं। हे रामजी! जैसे– और तत्वों के अणु हैं वे और ठौर भी पाये जाते हैं, और आकाश का अणु और ठौर नहीं पाया जाता, क्योंकि

आभासरूप है, किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ, यदि तुम कहो कि पृथ्वी आदि तत्वों से जगत् उत्पन्न हुआ है तो ऐसा कहना भी असंगत है, जैसे–छाया से धूप नहीं उत्पन्न होती, ऐसे ही तत्वों से जगत् उत्पन्न नहीं होता क्योंकि जो आदि में स्वयं उत्पन्न न हुआ हो वह कारण किसका बनें, अतः सर्वदा ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, हे रामजी! आत्मसत्ता जगत् का कारण नहीं, क्योंकि वह अभूतरूप है, और अजड़रूप है, वह भूतका और जड़ का कारण कैसे हो? जैसे धूप प्रति छाया का कारण नहीं, ऐसे आत्मसत्ता जगत् का कारण नहीं, अतः जगत् कुछ हुआ नहीं तो है क्या? वही सत्ता जगत्रूप होकर भासती है, जैसे स्वर्ण भूषणरूप होता है तब भूषण कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे ही ब्रह्मसत्ता जगत्रूप होकर भासती है, जैसे अनुभव स्वप्न नगर रूप होकर भासता है वैसे ही यह सृष्टि किंचनरूप है दूसरी वस्तु कुछ नहीं, सदा ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, जितना कुछ स्थावर जंगमरूप जगत् भासता है आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परमार्थरूप वर्णनं नामैकादशः सर्गः ।।११।।

द्वादशः सर्गः १२

जगदुत्पत्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! आत्मसत्ता नित्य शुद्ध है, अजर अमर है, सदा अपने आपमें स्थित है, उसमें जिस प्रकार सृष्टि उदय हुई है, वह प्रकार मुझसे सुनो—जिसके जानने से जगत् कल्पना मिट जायेगी, हे रामजी! भाव अभाव, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, जन्म-मरण आदिक से जीव पड़ा दुःखित हो रहा है, तुम उस दुःख से मुक्त हो जाओगे, जैसे चूहे सुमेरु पर्वत को चूर्ण नहीं कर सकते, ऐसे ही तुझको संसार के भाव

अभाव चूर्ण नहीं कर सकेंगे, हे रामजी! आदि शुद्ध देव, अचेत्य चिन्मात्र है, उसमें चैत्यभाव सदा रहता है, क्योंकि चैतन्यरूप है जैसे वायु में स्पन्द शक्ति सदा रहती है ऐसे चिन्मात्र में चेत्य का फुरणा रहता है, अहं अस्मि इस भाव को प्राप्त हुआ है, इस कारण से उसका नाम चैतन्य है, हे रामजी! जबतक चैतन्य संवित् अपने स्वरूप की ओर नहीं आता तब तक इसका नाम जीव है और संकल्प का नाम बीच चित्त संवित् है, इससे सर्व भूत जात उत्पन्न हुआ है, अतः सबका जीव चित्त संवित् है, जीव संवित् ने जब चेत्य को चेता, तब पहिले शून्य हुआ, उसमें शब्द गुण हुआ, उस आदिशब्द तन्मात्र से पदवाक्य प्रमाण सहित वेद उत्पन्न हुए, जितना कुछ जगत् में शब्द है उसका बीज वही तन्मात्रा है, तदन्तर स्पर्श तन्मात्रा हुई, उसमें वायु और फिर रस तन्मात्रा हुई, उससे सूर्य अग्नि आदिका प्रकाश हुआ है, तदनन्तर रस तन्मात्रा हुई, जिससे सब जल, होता है सब जलों का बीज वही है, इसके बाद गन्ध तन्मात्रा हुई जिससे पूर्ण पृथ्वी होती है, समस्त पृथ्वी का बीज वही है, हे रामजी! इस प्रकार पांचों भूत हुए हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से जगत् उत्पन्न हुआ, वह भूतपंचीकृत भी हैं और अपंचीकृत भी। यह भूत शुद्ध चिदाकाशरूप नहीं, क्योंकि मलिन संकल्प न हुए हैं; इस प्रकार चिदणु में अनन्त सृष्टियाँ भासती हैं, जैसे बटबीज में से बटका विस्तार होता है ऐसे चिदणु में सृष्टि है, कहीं क्षणभर में युग भासता है, कहीं युग में क्षण भासता है। चिदणु में अनन्त सृष्टियों का स्फुरण हो रहा है। जब चित्तसंवित् चैतन्योन्मुख होता है। तब अनेक सृष्टियाँ होकर भासती हैं और जब चित्तसंवित् आत्माकार होता है तब आत्मा के साक्षात्कार होने से वह सृष्टि पिंडाकार हो जाती है, अर्थात् सब सृष्टि आत्मरूप हो जाती है, अतः इस जगत् का बीज सूक्ष्मभूत है और इन (सृष्टियों) का बीज चिद्अणु है। हे रामजी! जैसा बीज होता है, वैसा ही वृक्ष भी होता है, इसलिये सब जगत् चिदाकाशरूप है, संकल्प से यह जगत् आडम्बर होता है, संकल्प के मिट जाने से सब चिदाकाश होता है, जैसे संकल्प

आकाशरूप है, ऐसे ही जगत् भी आकाशरूप है, सर्वात्मानुभव आकाशरूप है, इस कारण से क्षण में एकरूप होता है, जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर होता है, ऐसे ही यह जगत् है, हे रामजी! इस जगत् का मूल पंचभूत हैं और उनका बीज संवित् है, उसका स्वरूप चिदाकाश है, द्वैत और कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगदुत्पत्तिवर्णननाम् द्वादशः सर्गः ॥१२॥

त्रयोदशः सर्गः १३

स्वयंभूत्पत्ति वर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! परब्रह्म सम है, शान्त है, स्वच्छ है, अनन्त है, चिन्मात्र है, सर्वदा अपने आप में स्थित रहता है, उसमें सम असम (विषम) रूप जगत् उत्पन्न हुआ है, समरूप अर्थात् सजातीयरूप असम अर्थात् भेदरूप है, वह कैसे हुए यह सुनो– पहिले तो उसमें चैत्य का फुरणा हुआ है, उसका नाम जीव हुआ, जिसने दृश्य को चेता है, उससे तन्मात्रा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उत्पन्न हुए हैं, उनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंचभूतात्मक वृक्ष हुआ, उस वृक्ष में ब्रह्माण्डरूपी फल लगा है, इसलिये जगत् का कारण पंचतन्मात्रा ही है, और तन्मात्रा का बीज आदि संवित् आकाश है, अतः सर्व जगत् ब्रह्मरूप हुआ है। हे रामजी! जैसा बीज होता है वैसा ही फल होता है, यदि इसका बीज परब्रह्म है तो यह भी परब्रह्म हुआ, आदि जो अचेत चिन्मात्र स्वरूप है, वह परमाकाश है और जिस चैतन्य संवित् में जगत् का भास हुआ है, वह जीवाकाश है, यह भी शुद्ध निर्मल है, क्योंकि पृथ्वी आदि भूतों से रहित है। हे रामजी! यह जगत् जो तुझको भासता है, सब चिदाकाश रूप है और द्वैत वास्तव में कुछ नहीं बना, यह मैंने तुझको ब्रह्माकाश और जीवाकाश कहे हैं,अब जिससे इसको शरीर ग्रहण करना पड़ा, वह सुनो–हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र से जो चैत्योन्मुखत्व हुआ है,

अहं अस्मि, इस अहं भाव से जीव ने अपने आप को अणु जान लिया। अपना जो वास्तव स्वरूप था उससे अन्यभाव को प्राप्त हुआ, उस अणुजीव में अहंभाव दृढ़ हुआ, उसका नाम हुआ अहंकार, उस अहंकार की दृढ़ता से निश्चयात्मक बुद्धि हुई, इससे आगे संकल्प विकल्परूपी मन हुआ, जब मन संसरने लगा, तब इसको सुनने की इच्छा हुई, इसमें श्रवणेन्द्रिय प्रकट हुआ, जब रूप देखने की इच्छा हुई तब चक्षु इन्द्रिय प्रकट हुआ, जब स्पर्श की इच्छा हुई, तब त्वक् इन्द्रिय प्रकट हुआ, रस लेने की इच्छा होने पर जिह्वा इन्द्रिय का आर्विभाव हुआ, इसी प्रकार देह इन्द्रिय चेतनता से भासने लगा, उनमें अहं प्रतीति करने लगा। हे रामजी! जैसे दर्पण में पर्वत का प्रतिबिम्ब होता है, वह पर्वत से बाह्य होता है, ऐसे ही देह इन्द्रिय बाह्य दृश्य हैं और अपने में भासते हैं इससे उनमें अहं प्रतीति होती है, जैसे—कूप में मनुष्य अपने को देखे ऐसे देह में अपने आप को देखता है, वही चिदाणु देह के साथ मिलकर दृश्य को रचता है, उस अहंकारी रूप में यह क्रिया भासने लगी, जैसे स्वप्न में दौड़ता जावे, जैसे स्थिति में स्पंद होता है ऐसे आत्मा में स्पन्द क्रिया हुई है वह चित्तसंवित् से हुई है, उसका नाम स्वयंभू ब्रह्मा हुआ, जैसे संकल्प से दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे मनोमय जगत् भासता है, जैसे शशक के श्रृंग होते हैं ऐसा यह जगत् है, कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, चित्त के स्पन्द में जगत् फुरता है, जैसे जैसे चित्त फुरा है वैसे वैसे देश, काल, द्रव्य, स्थावर, जङ्गम जगत् की मर्यादा हुई है, अतः सब जगत् संकल्प रूप है। संकल्प से इतर जगत का आकार कुछ नहीं, जब संकल्प फुरता है तब आगे जगत् का द्रश्य भासता है, जब संकल्प निस्पंद होता है, तब द्रश्य का अभाव होता है। हे रामजी! इस प्रकार से यह ब्रह्मा निर्वाण हुआ है, फिर और उत्पन्न हुए हैं, अतः सब संकल्प मात्र हैं, जैसे नटवा नाना प्रकार की स्वांग रचना करके पटके बाहिर निकल आता है, ऐसे ही देखो सब मायामात्र है, हे रामजी! जब चित्त की ओर संसरण करता है तब द्रश्य का अन्त नहीं आता और जब अर्न्तमुख होता है तब सब जगत् आत्मरूप

भासने लगता है, चित्त के स्पन्द होने से एक क्षण में निवृत्त होता है। क्योंकि संकल्परूप है इसलिये जो कुछ जगत् भासता है आकाशरूप है, उत्पन्न नहीं हुआ, आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है, जैसे स्वप्न में पर्वत नदियाँ भ्रम से दीखती हैं, ऐसे ही भ्रम से यह जगत् भासता है। जैसे स्वप्न में अपने आपको मरा देखता है वह भ्रममात्र है, ऐसे ही यह जगत् भ्रममात्र है, हे रामजी! स्थावर जङ्गम जगत् जो कुछ भासता है सब चिदाकाशरूप है, हमको तो सदा चिदाकाश ही भासता है, आदि विराट्रूप ब्रह्मा भी वास्तव में उत्पन्न नहीं हुआ, तब जगत् कैसे उत्पन्न हुआ माना जाये। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के देश, काल, व्यवहार दृष्टि आते हैं, वह अकारणरूप हैं, उत्पन्न नहीं हुए हैं, आभासमात्र हैं। ऐसे ही यह जगत् आभासमात्र है, कार्य कारण भासते हैं तो भी अकारण हैं, हे रामजी! हमको तो जगत् ऐसा भासता है, जैसे स्वप्न से जगे मनुष्य को भासता है, जो वस्तु अकारण भासती है, वह भ्रममात्र है, यदि जगत् किसी कारण द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ तो स्वप्नवत् है। जैसे संकल्पपुर भासता है, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, ऐसे ही इस जगत् को जानो, आदि विराट् आत्मा है, वह अन्तवाहकरूप है, पृथ्वी आदितत्वों से रहित है, आकाशरूप है, अतः यह जगत् अधिभूत से कैसे हो, सब आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे स्वयंभूत्पत्तिवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।१३।।

चतुर्दशः सर्गः १४

सर्वब्रह्मप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह दृश्य मिथ्या असद्रूप है, जो है सब निरामय ब्रह्म है, वह ब्रह्म आकाश जीव की नाईं हुआ है, जैसे समुद्र द्रवता से तरंगरूप होता है, ऐसे ब्रह्म जीवरूप होता है, आदि जो संवित् स्पन्दरूप हुआ है, वह ब्रह्मा हुआ है, उस ब्रह्मा के आगे जीव हुए हैं। जैसे—एक दीपक से बहुत से दीपक होते हैं, जैसे एक संकल्प से बहुत से संकल्प होते हैं, ऐसे ही एक आदि जीव से बहुत जीव हुए हैं, जैसे स्तंभ में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करते हैं कि इस स्तम्भ में इतनी पुतलियाँ हैं, वे पुतलियाँ शिल्पी के मन में होती हैं, स्तंभ ज्यों का त्यों स्थित है, ऐसे सब पदार्थ आत्मा में मन ने कल्पना किये हैं, वास्तव में ज्यों का त्यों आत्मा ब्रह्म है, उन पुतलियों मे बड़ी पुतली ब्रह्मा है और जीव छोटी पुतलियाँ हैं, जैसे—वास्तव में स्तंभ है, पुतली कोई उत्पन्न नहीं हुई। ऐसे ही वास्तव में आत्मसत्ता है, जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ। संकल्प से जगत् भासता है, संकल्प के मिटने पर जगत् की कल्पना मिट जाती है। रामजी बोले—हे भगवन्! एक जीव से जो बहुत जीव हुए हैं वे पर्वत में पत्थर समान उत्पन्न हुए हैं। जो कि पर्वत में अनन्त पिंड आकार होते हैं। क्या कोई जीवों की खान है? जो इस प्रकार इतने जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा मेघों में बूँदों की नाईं हैं? अथवा आग से विस्फुलिंगों की नाईं उत्पन्न होते हैं? यह कहिये। और यह भी बताइये कि वह एक जीव कौन है? जिससे सब जीव पैदा होते हैं, वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! न एक जीव है न अनेक जीव हैं, तुम्हारे वचन ऐसे हैं जैसे कोई कहे कि मैंने शश के सींग उड़ते देखे हैं, ऐसे ही जब एक जीव भी उत्पन्न नहीं हुआ, तब मैं अनेक कैसे कहूँ? शुद्ध अद्वैत आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, अनंत आत्मा है उसमें भेद की कल्पना कोई नहीं, हे रामजी! जो कुछ जगत् तुझको भासता है, जीवशब्द और जीवशब्द का अर्थ आत्मा में कोई तुझको भासता है, सब आकाशरूप है, कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, संकल्प के फुरने से जगत् भासता है। जीवशब्द और जीवशब्द का अर्थ आत्मा में कोई उत्पन्न नहीं हुआ, यह कल्पना भ्रम से भासती है, आत्मसत्ता ही जगत् की

नाईं भासती है उसमें न एक जीव है न अनेक जीव हैं, हे रामजी! आदि जो विराट् आत्मा है वह आकाशरूप है, उससे और जगत् उत्पन्न हुआ, वह तुझसे क्या कहूँ? जगत् विराट्रूप है और विराट् जीवरूप है, जीव आकाशरूप है, फिर और जगत् क्या रहा? और जीव क्या हुआ? सब चिदाकाशरूप है, यह जितने जीव भासते हैं सब ब्रह्मस्वरूप हैं, और द्वैत कुछ नहीं, न इनमें कुछ भेद है।

रामजी बोले–हे मुनीश्वर! आप कहते हैं आदि जीव कोई नहीं, तो इन जीवों को पालने वाला कौन है, जिसकी आज्ञा में ये पड़े विचरते हैं। वह नियामक कौन है? यदि कोई हुआ ही नहीं तो यह सर्वज्ञता अल्पज्ञता कैसी? एक में यह कैसे हो सकता है, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जिसको तू आदि जीव कहता है, वह ब्रह्मरूप है, नित्य है, शुद्ध है, अनन्तशक्ति है, अपने आप में स्थित है, उसमें जगत् कल्पना कोई नहीं, हे रामजी! जो शुद्ध चिदाकाश अनन्त शक्ति है, उसमें जो आदि चित्त किंचन हुआ है, वह शुद्ध चिदाकाश ब्रह्म सत्ता ही जीव की नाईं भासने लगी है, स्पंद द्वारा हुए की नाईं भासती है, स्वरूप से इतर कुछ हुआ नहीं, चैतन्य संवित् आदि स्पंद से विराट् आत्मा ब्रह्मरूप होकर स्थित हुआ है। उसमें आगे संकल्प से जगत् रचा है, उसमें शुभ अशुभ कर्म रचे हैं, उनसे नीति रची है, कि यह शुभ है यह अशुभ है, जैसे आदि नीति रची है वैसे ही महाप्रलय पर्यन्त ज्यों की त्यों चली जाती है, हे रामजी! वह देव अनन्तशक्ति है, उसमें जैसे आदि फुरण हुआ है, वैसे ही स्थित है, जो आदि सर्वशक्ति फुरी है वह वैसे ही है, जो अल्पज्ञ फुरी है वह अल्पज्ञ है। हे रामजी! इस संसार के जो पदार्थ हैं उनमें नीतिशक्ति प्रधान है, उसका कोई उलंघन नहीं कर सकता, जैसे रची है वैसे ही महाप्रलय पर्यन्त रहती है। हे रामजी! आदि नित्य जो विराट् पुरुष हैं वह अन्तवाहकरूप है, पृथ्वी आदि तत्वों से रहित है, और यह जगत् भी अन्तवाहकरूप है, पृथ्वी आदि तत्वों से उत्पन्न नहीं हुआ। सब संकल्परूप है, जैसे मनोराज्य का नगर का शून्य होता है, ऐसे ही यह जगत् शून्य है, हे रामजी! इस सबका निमित्त कारण कोई नहीं, और समवायि कारण

भी कोई नहीं, जो पदार्थ निमित्तकारण और समवायिकारण के विना भास रहा है उसे भ्रममात्र जानिये, वह उत्पन्न नहीं हुआ, जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह दोनों कारणों से होता है, जगत् का कारण कोई नहीं, ब्रह्मसत्ता नित्य शुद्ध अद्वैत सत्ता है, उसमें कार्य कारण की कल्पना कैसे हो? हे रामजी! यह जगत् अकारण है, भ्रांन्ति से भासता है, जब तुम्हें आत्मविचार उत्पन्न होगा तब दृश्य भ्रम मिट जायेगा, जैसे दीपक हाथ में लेकर अन्धकार को देखें तो दृष्टि नहीं आता, ऐसे ही विचारपूर्वक देखेने से जगत् भ्रम भाग जाता है, जगत् भ्रम मन के फुरने से उदय हुआ है, इसलिये संकल्प मात्र है, इसका अधिष्ठान ब्रह्म है, सब नाम रूप ब्रह्म सत्ता में कल्पित हैं, षट् विकार भी ब्रह्म सत्ता में स्फुरित हुए हैं। और सबसे रहित भी हैं, शुद्ध चिदाकाशरूप हैं और जगत् भी वही हैं, जैसे समुद्र में द्रवता से तरंग, बुदबुद, फेन आदि भासते हैं, ऐसे आत्मसत्ता में चित्त के फुरने से जगत् भासता है, जैसे आदि चित्त में पदार्थ सत्ता दृढ़ हुई है, ऐसे ही स्थित है, और आत्मा से अभिन्न है, इतर कुछ नहीं, सब चिदाकाश है, इच्छा भी आकाशरूप है, देवता भी आकाशरूप है, समुद्र पर्वत भी आकाशरूप हैं, हे रामजी! हमको सदा चिदाकाशरूप ही भासता है, पर्वत कन्दरा सब जगत् होकर भासता है, सब चेत्योन्मुख होता है तब जगत् भासता है, जैसे वायु स्पन्दरूप होता है, तब भासता है, निस्पन्दरूप होता है तब नहीं भासता, ऐसे ही जब चित्त संवेदन स्पन्दरूप होता है तब जगत् भासता है, जब चित्तसंवेदन अस्फुरन रूप होता है तब जगत् कल्पना मिट जाती है, हे रामजी! चिन्मात्र में जो चैत्यभाव हुआ है, इसीका नाम जगत् है, तब चैत्यसे रहित होता है तो जगत् मिट जाता है, जब जगत् हीन रहा तब भेद कल्पना आत्मा में कैसे हो। अतः न कोई कार्य है न कारण है न जगत् सब भ्रममात्र कल्पना है, शुद्ध चिन्मात्र अपने आप में स्थित है, हे रामजी शुद्ध चिन्मात्र में चित्त किंचन सदा रहता है, जैसे मिरचों के बीज में तीक्ष्णता सदा रहती है, परन्तु जब खाता है तब तीक्ष्णता भासती है अन्यथा नहीं भासती, ऐसे ही

जब चित्त संवेदन चेत्योन्मुखत्व होता है तब जीव जगत् चैतन्य भासता है, और संवेदन से रहित जीवजगत् कल्पना नहीं भासती, हे रामजी! जब संवेदन के साथ परिच्छिन्न संकल्प मिलता है, तब जीव होता है और जब इससे रहित होता है तब शुद्ध चिदात्मा ब्रह्म होता है, जिस पुरुष की कल्पना निश्शेष रूप से मिट गई है और जिसको शुद्ध निर्विकार ब्रह्म सत्ताका साक्षात्कार हुआ है वह पुरुष संसार भ्रम से मुक्त हुआ है, हे रामजी! यह सब जगत् आत्मा का आभास रूप है, वह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य है, नित्य शुद्ध है, सर्वगत स्थाणु की नाईं अचल है, सोहंऽरूप है, सब जगत् चिदाकाश रूप है, हमको तो सदा ऐसे ही भासता है, अज्ञानी वाद विबाद में पड़े करते हैं, हमारे अन्दर वाद विवाद कोई नहीं, क्योंकि हमारा सब भ्रम नष्ट हो गया है, हे रामजी! यह सब जगत् ब्रह्मरूप है और द्वैत कुछ नहीं, जिनको निश्चय हुआ है उनके लिये अपना स्वरूप ही है, यह सब दृश्य प्रपंच चिदाकाशरूप है ज्ञानवान् के लिये सब आत्मरूप है, अज्ञानी को भिन्न भिन्न भासता है, और जन्ममरण आदि विकार भासता है, ज्ञानवान् को सब कुछ आत्मरूप भासता है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाण सब आत्मा के आश्रय से अपने काम में समर्थ हैं। जैसे वसन्त ऋतु आती है, उसमें रस शक्ति से वृक्ष, लता आदि सब प्रफुल्लित होकर भासते हैं। ऐसे ही चित्त शक्ति स्पंदता से जगत् रूप होकर भासती है, हे रामजी! जैसे वायु स्पंदता करके भासता है। ऐसे जगत् स्फुरण से भासता है, ऐसे ही चित्त संविद् जगद् रूप होकर भासते है। जैसे –समुद्र तरंगरूप हो भासता है और संवित् से कुछ हुआ नहीं। परन्तु वायु जड़ है आत्मा चैतन्य है और जल भी परिणाम से तरंगरूप होता है, आत्मा अच्युत है, निराकार है, हे रामजी! चैतन्यरूप रत्न है उसका चमत्कार है, चैतन्य रूप अग्नि है, उसमें जगत्रूप उष्णता है, हे रामजी! चैतन्य प्रकाश भौतिक प्रकाश होकर भासता है इससे जगत् है वास्तव से कुछ नहीं, चैतन्य सत्ता यह शून्य आकाश रूप होकर भासती है, इस भाव से जगत् है वास्तव में हुआ ही नहीं, अतः जगत् कुछ नहीं,

चैतन्य सत्ता ही पृथ्वीरूप होकर भासती है। चैतन्यरूप सूर्य है उसमें जगत्‌रूप दिन है, आत्मरूप समुद्र है उसमें जगत्‌रूप तरंग है, आत्मरूप कुसुम है उसमें जगत्‌रूप सुगन्ध है, आत्मरूप बर्फ है उसमे स्वेतता शीतता रूप जगत् है, आत्मरूपी लता है उसमें जगत्‌रूप फूल है, आत्मरूप स्वर्ण है उसमें जगत्‌रूप भूषण है, आत्मरूप पर्वत है उसमें जगत्‌रूप सधनता है, आत्मरूप अग्नि है उसमें जगत्‌रूप प्रकाश है, आत्मरूप आकाश है उसमें जगत्‌रूप शून्यता है, आत्मरूप ईख है, उसमें जगत् रूप मधुरता है, आत्मरूप है, उसमें जगत्‌रूप जलाभास है। है भी और नहीं भी है, हे रामजी! इस प्रकार देख जो सत्य ब्रह्म है, नित्य है, शुद्ध है परमानन्दरूप है, सर्वदा अपने आप में स्थित है, भेद कल्पना कोई तरंगरूप हो भासता है ऐसे ब्रह्मसत्ता जगद्‌रूप होकर भासती है, न कोई उत्पन्न हुआ है न कोई नष्ट होता है, हे रामजी! आदि जो चित्तशक्ति स्पन्द होता है वह विराटरूप ब्रह्म है, वह भी चिदाकाशरूप है, आत्मसत्ता से इतर भाव को प्राप्त नहीं हुआ जैसे पत्र के ऊपर रेखायें होती हैं वह पत्र से भिन्न नहीं होती, वस्तुतः वही हैं, पत्ररूप हैं, ऐसे ब्रह्म में जगत् है, इतर कुछ नहीं, पत्र के ऊपर रेखायें तो साकार हैं, परन्तु ब्रह्म में जगत् का कोई आकार नहीं, सब आकाशरूप मनमें स्फुरित होता है, जगत् कुछ हुआ नहीं। जैसे–शिला में शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, ऐसे आत्मा में मन ने जगत्कल्पना की है, वास्तव में कुछ नहीं हुआ, शिला ही वज्र के समान भारी अत्यन्त दृढ़ है जो समस्त जग को धारण कर रही है, आकाश के समान विस्तृत और शान्तरूप है, हुआ कुछ नहीं जो है वह परब्रह्मरूप है, यदि ब्रह्म ही है तो कल्पना कैसे होवे। वाल्मीकि मुनि बोले– इस प्रकार जब मुनिशार्दूल वसिष्ठजी ने कहा– तब सायंकाल का समय हुआ, सब सभा परस्पर नमस्कार करके अपने अपने आश्रमों को गई। पुनः सूर्य भगवान् की किरणों के साथ अपने अपने स्थानों पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पञ्चदशः सर्गः १५

मण्डपोपाख्यान में राजवर्णन।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! आत्मा में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, भ्रम से पड़ा भासता है, जैसे आकाश में तरवरे मुक्तमाला से भासते हैं, ऐसे अज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है, जैसे स्तंभ में उकरे बिना पुतलियाँ शिल्पी के मन में भासती हैं कि इतनी पुतलियाँ स्तंभ में हैं, वे पुतलियाँ कोई नहीं क्योंकि किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुईं, ऐसे चैतन्यरूप स्तंभ में मनरूप शिल्पी त्रिलोकीरूप पुतलियों की कल्पना करता है परन्तु किसी कारण से भी उत्पन्न नहीं हुईं ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है, जैसे सौम्य जल में त्रिकाल तरंगों का सद्भाव होता है, वास्तव में जगत् का होना कुछ नहीं, चित्त के फुरने से जगत् भासता है, जैसे सूर्य की किरणें झरोखे में आती हैं उसमें सूक्ष्म त्रसरेणु होते हैं, उससे भी चिदणु सूक्ष्म हैं, जैसे त्रसरेणु से सुमेरु पर्वत स्थूल है, ऐसे चिदणु से यह जगत् स्फुरित हो रहा है, वह क्या रूप है आकाशरूप ही है, उत्पन्न नहीं हुआ, फुरणे से जगत् भासता है। हे रामजी! आकाश, समुद्र, पर्वत, पृथ्वी आदि जितना कुछ जगत् भासता है, वह उपजा नहीं, तो और पदार्थ कहाँ उपज सकें। सब आकाशरूप है, वस्तुतः कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, जो कुछ अनुभव में आता है वह भी असत् है, जैसे स्वप्न सृष्टि अनुभूत होती है तो भी उत्पन्न कुछ नहीं हुआ असद्रूप है, ऐसे यह असद्रूप है, शुद्ध निर्विकार सत्ता अपने आप में स्थित है, उस सत्ता का त्याग करके जो अवयव और अवयवी के विकल्प उठाते हैं, उनको धिक्कार है, यह सब जगत् आकाशरूप है, हे रामजी! पर्वतों सहित जो यह जगत् भासता है वह कुछ भी नहीं। जैसे स्वप्न के पर्वत जाग्रत में रत्ती भर भी नहीं होते, क्योंकि वह हुए ही नहीं, ऐसे यह जगत् आत्मरूप है, भ्रान्ति से भासता है, जैसे संकल्प का मेघ सूक्ष्म होता है ऐसे ही यह जगत् आत्मा में तुच्छ है, जैसे शश के श्रृंग असत् होते हैं, ऐसे ही जगत् असत् है, जैसे मृगतृष्णा की नदी असत् होती है, इसी प्रकार जगत् असत् है, असम्यक् ज्ञान से

जगत् भासता है, विचार करने पर शान्ति हो जाती है, शुद्ध चैतन्य सत्ता में जब चित्त संवेदन होता है, तब वही संवेदन जगत्‌रूप होकर भासता है परन्तु जगत् हुआ कुछ नहीं, जैसे समुद्र अपने द्रवता स्वभाव से तरंगरूप हो भासता है परन्तु तरंग कोई अन्य वस्तु नहीं जलरूप है, ऐसे ब्रह्मसत्ता जगत्‌रूप होकर फुरती है, वह और को जगत् मिला पदार्थ कोई नहीं, ब्रह्मसत्ता किंचन द्वारा ऐसे भासती है, जैसा बीज होता है, ऐसा ही अंकुर निकलता है, जैसी आत्मसत्ता है, ऐसे ही जगत् है, दूसरी वस्तु कोई नहीं। आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है, चित्त संवेदन के स्पंद से जगत्‌रूप होती है। हे रामजी! इस पर तुम्हें एक आख्यान सुनाता हूँ जो कि श्रवण का भूषण है, उसे सुनिये। उसके समझने से तुम्हारे सब संशय मिट जायँगे और चित्त विश्रान्ति मिलेगी।

रामजी बोले—हे भगवन्! बोधवृद्धि के लिये दृष्टान्तरूप आख्यानों से जिज्ञासु को बहुत लाभ होता है अतः कृपापूर्वक वह पवित्र आख्यान सुनाइये। वसिष्ठजी कहने लगे—हे रामजी! इस पृथ्वी पर एक पद्म नाम राजा था, अपने कुल को अलंकृत करनेवाले उस राजा के पास संसार की समस्त राज्यसम्पत्ति विद्यमान थी, वह लक्ष्मीपति और सन्तानवान् था, समुद्र के समान मर्यादा को धारण करने वाला, दुर्जनरूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य और गुणिजनरूप हंसों का मानसरोवर था। शुभगुण भंडार वह राजा शत्रुओं का नाश करने के लिये विष्णु भगवान् के समान था और सज्जनरूप कुमुदों को प्रसन्न करने के लिये चन्द्रमा के तुल्य, प्रेममूर्ति तथा न्यायशील था, उसके पास सात्विक राजस तामस यह तीनों प्रकार का बल था, उस ऐसे विचित्र राजा की सहधर्मिणी भी लक्ष्मी का अवतार अति गुणवती तथा रूप सौन्दर्य निधाना थी, वह राजा की प्रसन्नता में प्रसन्न और राजा के दुःख में दुःखी तथा अन्य सब प्रकार के कार्यों में भी छाया के समान राजा का अनुसरण करती थी।

इति श्रीयोगावासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मण्डपोपाख्याने
राजवर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

षोडशः सर्गः १६

मण्डपोपाख्याने राज्ञीपरिदेवन वर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वह राजा उस रानी के साथ सुखपूर्वक समय बिता रहा था, उसके राजकीय ठाठबाठ में किसी प्रकार की ऊनता नहीं थी, वह कभी तो सुन्दर उद्यानों बगीचों में घूमा करता, कभी बरफ के मन्दिर बनवाकर उनमें रहता, कभी रत्नमणि जड़ित स्वर्ण भवनों में सुन्दर कोमल शय्याओं पर विश्राम करता, कभी दूर देश के तीर्थस्थानों की यात्रा करता तथा कभी विविध प्रकार के पुण्य स्थानों के दर्शनों से अपने आपको कृतार्थ करता था साहित्य चर्चा में भाग लिया करता था, कविता ऐसी विलक्षण करता कि—जो पढ़ने में अन्य ग्राम्य भाषा प्रतीत हो परन्तु अर्थ के चमत्कार से वह संस्कृत भाषा बन जाय। सारांश यह कि वह प्रत्येक विषय का परम रसिक था, राजा होने के नाते हस्तियों तथा घोड़ों की विद्याओं का भी पूर्ण अभिज्ञ था। इस प्रकार वे परमगुणज्ञ राजा रानी परस्पर प्रेमसम्पन्न दम्पती थे, यदि राजा का चित्त अमुक काम करने को सहमत नहीं है तो रानी का उससे पहिले ही असहमत है। रानी परम पतिव्रता और राजा परम धर्मात्मा था, एक समय रानी ने विचार किया कि राजा मुझे बहुत प्यारा है प्राणों से भी अधिक प्रिय है और अत्यन्त सुन्दर है, किसी प्रकार इसकी युवावस्था सदा बनी रहे तथा यह अजर अमर हो जाये, इसका और मेरा कभी वियोग न हो, ऐसा उपाय करूँ, यज्ञ करूँ! दान करूँ! तप करूँ! ऐसा विचार कर विद्वान ब्राह्मणों, ऋषियों, महर्षियों ज्ञानियों तथा महात्माओं से पूछने लगी, हे विप्र देवताओ! मनुष्य अजर अमर किस प्रकार हो सकता है, यदि ऐसा कोई प्रकार आप जानते हैं तो हमें बतलाने की कृपा करें, एक ब्राह्मण देवता बोले देवि! जप तप करने से सिद्धता प्राप्त होती है, परन्तु उससे मनुष्य अमर नहीं होता, सब जगत् नाशरूप है, इस शरीर से कोई स्थिर नहीं रह सकता, हे रामजी! इस प्रकार ब्राह्मणों से सुनकर रानी भर्ता वियोग से भीत हुई विचार करने लगी, कि यदि मैं भर्ता से पहिले मर जाऊँ तो मेरे भाग्य बहुत अच्छे हैं, मैं

सदा सुखवती रहूँगी और यदि राजा मुझसे पहिले मरे तो ऐसा उपाय करूँ जिससे राजा का जीव मेरे अन्तःपुर में ही रहे, बाहिर जाने न पाये। जिससे मैं अपने पतिदेव के दर्शन करती रहूँ, इसलिये मैं सरस्वती की सेवा करना चाहती हूँ। हे रामजी! ऐसा विचार कर वह रानी तब सरस्वती की पूजा करने लगी, उसका उपासना क्रम यह था कि वह तीन दिन और तीन रात निराहार रहकर चौथे दिन पारण करती थी, जैसा शास्त्र विधान है, उसने वैसा सब ही किया। देवताओं, ब्राह्मणों, पंडितों, ज्ञानियों, महात्माओं का पूजन सत्कार अतिश्रद्धा से करती थी, स्नान ध्यान दान तप यम नियम आदि में वह कभी कमी नहीं रखती थी, घर में पहिले की तरह कीर्तन नित्य करती थी। इस प्रकार नियम सहित कठिन तप करते उसको तीनसौ दिन बीत गये, तब उसने अतीव प्रेम के साथ सरस्वती की पूजा की, तब वागीश्वरी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिये और कहा—हे पुत्रि, तुमने भर्ता के निमित्त निरन्तर तप किया है, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, जो भी अभीष्ट वर चाहती हो माँगो, लीला बोली हे देवि! तेरी जय हो मैं अनाथ आपकी शरण में हूँ, मेरी रक्षा करो, यह जन्म जरारूप अग्नि कई प्रकार से जला रही है, उसको शान्त करने के लिये आप चन्द्रमा हो और हमारे हृदय में जो अज्ञानान्धकार है उसका नाश करने को आप सूर्य हो, हे माता! मुझको दो वर दो। एक वर यह दो कि जब मेरा भर्ता मृत हो तब इसका वपु पुर्यष्टक से बाहिर न जाय, अन्तःपुर ही में रहे और दूसरा यह वर दो कि जब मुझे आपके दर्शन की इच्छा हो तब मुझे दर्शन हो जाया करे। सरस्वती ने कहा ऐसा ही होगा। हे रामजी! इस प्रकार वर देकर सरस्वती अन्तर्ध्यान हो गई। यह सुनकर लीला बहुत प्रसन्न हुई, कालरूपचक्र फिरता हैं, जिसको क्षणरूपी आरा लगा हुआ है जिसके तीनसौ साठ कील है, वर्ष पर्यन्त उसी ठौर फिर आता है, इसी कालचक्र के अनुसार राजा पद्म रणभूमि से क्षत-विक्षत हुआ घर में आया और मर गया। तब ऐसा हुआ जैसे सूखे पत्र से रस निकल जाता है, ऐसे ही पुर्यष्टक के निकलने से राजा का शरीर

कुम्हला गया, रानी उसके मरने से बहुत शोकवती हुई, रानी के मुख की कान्ति क्षीण हो गयी, जैसे कमलिनी जल बिना कुम्हलाती है, इस प्रकार दीन हो विलाप करने लगी, कभी ऊँची आवाज से रोती थी कभी एकदम चुप हो जाती थी, जैसे चकवे के वियोग से चकवी शोकाकुला होती है, उसी प्रकार राजा के वियोग में रानी भी अतीव शोकाकुल हुई। जैसे साँप के फुंकार से कोई मूर्छित हो जाय उसी प्रकार रानी शोक से मूर्च्छित हो गई और प्राण त्यागने लगी, तब सरस्वतीजी ने दया करके आकाशवाणी की।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राज्ञीपरिदेवनवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

अथ संदेहराष्ट्रवर्णनम् ।

सरस्वती बोली, हे सुन्दरि! तुम्हारा भर्ता मर गया है, इसको तू सब ओर से फूलों से ढाँप दे, फिर तुम्हें भर्ता की प्राप्ति होगी और यह फूल नहीं कुम्हलायेंगे, तेरे भर्त्ता की ऐसी अवस्था है, जैसे आकाश की निर्मल कान्ति है और वह तेरे ही मंदिर में है कहीं गया नहीं। हे रामजी! इस प्रकार कृपा करके जब देवी ने वचन कहा, तब लीला को कुछ शान्ति मिली, जैसे जलके बिना तड़फड़ाती मछली को वर्षा से कुछ शान्ति मिलती है, देवी की आज्ञानुसार लीला ने भर्ता के मृत शरीर को सब ओर से फूलों द्वारा ढाँप दिया और उसके पास भी शोकाकुला बैठी रही, और रोने लगी, तदन्तर भगवती की आराधना में लग गई, तब आधी रात के समय भगवती प्रकट हुई और बोली हे सुन्दरि! तुमने मेरा स्मरण किस लिये किया है और तू रोती क्यों है! शोक क्यों करती हो, यह जगत् तो सब भ्रान्तिमात्र है जैसे मृगतृष्णा की नदी होती है ऐसे ही यह जगत् है। अहं, त्वं, इदं, ते, मे, आदि जो जगत् भासता है सब कल्पनामात्र है, भ्रम से भासता है, आत्मा में हुआ कुछ नहीं तब किसका शोक करती है। लीला बोली– हे परमेश्वरि! मेरा भर्ता कहाँ स्थित है,

उसने क्या रूप धारण किया है? उससे मुझे मिलाओ, मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकती, देवीजी बोली हे लीले! आकाश तीन हैं, एक भूताकाश है, चित्ताकाश है, चिदाकाश है, यह जो आकाश है भूताकाश है, चित्ताकाश के आश्रय है, तेरा भर्ता अब भूताकाश को त्यागकर चित्ताकाश को गया है, वह चित्ताकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है, जब तू चिदाकाश में स्थित होगी तब सब ब्रह्माण्ड तुझे भासेगा जिसमें प्रतिबिंबित होते हैं वहाँ तुझको भर्ता का और जगत् का दर्शन होगा, हे लीले! देश से देशान्तर को क्षण में संवित् जाता है, उसके मध्य में जो अनुभव आकाश है यह चिदाकाश है, हे लीले यहाँ जो जीव विचरते है वे पृथ्वी के आश्रय से हैं, इसलिये यह जो सब जीव विचरते है, वे पृथ्वीके आश्रय हैं और पृथ्वी आकाश के आश्रय है, अतः यह सब जीव जो विचरते हैं वे भूताकाश के आश्रय विचरते है और चित्त जिसके आश्रयसे एक क्षणमें देश देशान्तर भटकता है वह चित्तकाश है, हे लीले! जब दृश्यका अत्यन्ताभाव होता है तब परमपद की प्राप्ति होती है, वह चिरकाल के अभ्यास से प्राप्त होती हैं और मेरा तुझको यह वर है जो तुझको शीघ्र ही प्राप्त होगा। हे रामजी! जब इस प्रकार कहकर देवी अन्तर्धान हो गयी तब लीला रानी समाधिस्थित हुई और चित्त सहित देह का अहंकार त्यागकर उड़ी, जैसे पक्षी अपने गृह से उड़कर आकाश में गमन करता है, ऐसे ही रानी चिदाकाश को उड़ी तब एक क्षणमें आकाश को प्राप्त हुई जो नित्य शुद्ध अनन्त आत्मा है, परम शान्तिरूप है, सर्वका अधिष्ठान है, उसमें जाकर उसने भर्ता को देखा और बहुत से मंडलेश्वर सिंहासनों पर आकाश में देखे और बड़े सिंहासन पर बैठे हुए भर्ता को देखा। चारों ओर से जय ध्वनि हो रही थी, कि राजन्! आपकी जय हो, आपकी जय हो, जय हो। चिंरजीवी हो, इस मंगल ध्वनि को सुनकर रानी ने उस अतिसुन्दर मन्दिर का अवलोकन किया, जहाँ कि राजा शोभायमान थे। राजाके पूर्व की ओर देखा वहाँ ब्राह्मण, ऋषीवर मुनीश्वर अनेक की संख्या में विराजमान हैं, बहुत ऊँची ध्वनि से वेद-पाठ कर रहे हैं, दक्षिण दिशा की ओर देखा वहाँ सुन्दरी स्त्रियाँ बैठी हैं,

और नाना प्रकार के भूषणों से शोभायमान हैं, उत्तर दिशा की ओर देखा वहाँ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, तथा चारों प्रकार की अनन्त सेनायें हैं, पश्चिम की ओर मंडलेश्वर हैं, ऐसा देखकर रानी अति आश्चर्यवती हुई, नगर देखे, प्रजा देखी, सब अपने अपने व्यवहार में स्थित हैं, फिर राजा की सभा में जा बैठी, रानी सबको देखती थी परन्तु रानी को किसी ने देख न पाया, जैसे एक पुरुष दूसरे के संकल्पपुर को नहीं देख सकता ऐसे ही रानी को कोई न देख सका, तब रानी ने उसका अन्तःपुर देखा जहाँ ठाकुरद्वार बने हुए हैं, देवताओं की पूजा होती है और गन्ध धूपादि से त्रिलोकी को सुगन्धित करती है, राजा का यश चन्द्रमा की चन्द्रिका के समान फैल रहा है तब पूर्व दिशा से एक हलकारे ने आकर कहा हे राजन्! पूर्व दिशा में किसी अन्य राजा द्वारा कुछ क्षोभ पहुँचा है, तब उत्तर दिशा से कोई सन्देशवाहक आकर कहने लगा, राजन्! उत्तर दिशा में एक और राजा ने कुछ गड़बड़ की है आपके मंडलेश्वर युद्ध करना चाहते हैं, यही समाचार दक्षिण दिशा की ओर से भी आया उसने भी कहा कि राजा लोग अशान्ति फैला रहे हैं, पश्चिम दिशा से भी ऐसा समाचार मिला, फिर एक और पुरुष आया उसने कहा सुमेरु और अस्ताचल पर्वत में भी क्षोभ का उदय हुआ है, तब राजा की आज्ञा के अनुसार अनन्त सेना एकत्रित होने लगी, जैसे मेघों की घोरघटायें आकाशपर छा जाती हैं ऐसे ही असंख्य सेना पृथ्वीपर छागई, रानी ने देखा कि वहाँ राजा के मंत्री तथा अन्य अनेक कर्मचारी एकत्रित हो गये, हे रामजी! इस प्रकार राजा के इतने विशाल प्रताप को देखकर रानी अति विस्मित हुई और उसके मन में शंका पैदा हुई कि मेरा भर्ता ही मरा है या सारा नगर ही मर चुका है, जो कि इतने लोक परलोक में आये हैं, तब देखा कि मध्याह्न का सूर्य सिर पर आ पहुँचा है, उस समय वह राजा को देखकर तो अतीव विस्मित हुई कि राजा अति सुन्दर षोडशवर्ष का है पहिले की जरा अवस्था को त्यागकर नूतन शरीर धारण किये बैठा है, ऐसा आश्चर्य देखकर रानी फिर अपने घर को आ

गई, तब देखा कि आधी रात है उसकी सहेलियाँ सोयी हुई हैं, उन्हें जगाकर रानी ने कहा जिस सिंहासन पर मेरा भर्ता बैठता था उसको साफ करो, मैं उसके ऊपर बैठती हूँ, जिस प्रकार उसके पास मंत्री भृत्य आदि आकर बैठते थे ऐसा ही किया जाय, उन मंत्रियों ने सबको जगाया, सिंहासन झाड़कर मेघ की नाईं जल की वर्षा की, सिंहासन के ऊपर वस्त्र बिछाये, आसपास भी वस्त्र बिछाये, मसालें जलाईं बड़ा प्रकाश हुआ अंधकार नष्ट होगया, जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र का पान किया था ऐसे ही प्रकाश ने अन्धकार का पान कर लिया, तब मंत्री, सेवक, पंडित, ऋषीश्वर ज्ञानवान् सब आकर स्थित हुए, जितने भी राजा के पास आदमी थे सब आकर बैठ गये, सिंहासन के निकट बैठे, और लोग भी आये, मानो प्रलय काल में समुद्र क्षोभ हुआ है, मानो प्रलय हुई सृष्टि अनन्तरूप होकर उत्पन्न हुई है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलापाख्याने संदेहराष्ट्रवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः।।१७।।

अष्टादशः सर्गः १८

अथ सकल जगद्भ्रान्तिप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! वह लीला रानी इस प्रकार मंत्री, सेवक, पंडित, बालक आदि लोगों के देखकर बहुत विस्मित हुई, जो कि उसने दोनों ओर अति विचित्रता देखी, धन्य है। ईश्वर की माया जानी नहीं जाती, यह क्या है इस प्रकार आश्चर्यवती होकर उसने सरस्वती की आराधना की, तब भगवती सरस्वती कुमारी कन्या का स्वरूप धारण कर प्रत्यक्ष हुई, तब लीला ने कहा– हे भगवती! मेरे बारबार पूछने पर आप उद्विग्न न होना, बड़ों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे बार बार पूछने पर भी खेदवान् नहीं होते, अब मैं पूछती हूँ कि यह जगत् क्या है? देवीने कहा–हे लीले! तुमने पूछा कि कृत्रिम कौन है और अकृत्रिम कौन है,

वह मैं तुम्हें पीछे कहूँगी। लीला बोली हे देवि! जहां हम बैठे हैं वह अकृत्रिम है, और वह जो मेरे भर्ता का स्वर्ग है, वह कृत्रिम है, क्योंकि – जो शून्यस्थान में वह सृष्टि हुई है। देवी बोली– हे लीले! जैसा कारण होता है ऐसा ही कार्य होता है जो कारण सत् होता है तब कार्य भी सत् होता है, और सत् से असत् नहीं होता, और असत् से सत् नहीं होता, कारण से अन्यकार्य नहीं होता, अतःजैसा यह जगत् है वैसा वह जगत् है, लीला बोली– हे देवि! कारण से अन्य कार्य सत्ता होती है, क्योंकि मृत्तिका जलको उठाने में समर्थ नहीं होती, और जब मृत्तिका का घट बनता है तब जल को उठाता है, तो कारण से अन्य भी कार्य सत्ता हुई क्यों? देवी ने कहा– हे लीले! कारण से –अन्य कार्य सत्ता तब होती है जब सहायकारी भिन्न भिन्न होते हैं। जहाँ सहायकारी नहीं होता वहाँ कारण से अन्य कार्यकी सत्ता नहीं, तेरे भर्ता की सृष्टि जोभासी है वह बिना कारण भासी है, उस जीवकी जो पुर्यष्टक थी, आकाशरूप थी वहां न कोई समवायि कारण था न निमित्त कारण था, उसको कृत्रिम कैसे कहा जाय यदि किसी का किया हुआ हो तो कृत्रिम हो, वह तो आकाश रूप पृथिवी आदि तत्त्वों से रहित है, यदि समवायि कारण न हो वे तो उसका निमित्त कारण कैसे हो? इसलिये वह जो तेरे भूतोंका सर्ग सृष्टि है वह अकारण है, लीला बोली– हे देवी! उस सर्ग की स्मृति जो संस्कार है वह कारण क्यों न हो? देवी ने कहा– हे लीले! स्मृति तो कोई वस्तु ही नहीं, स्मृति आकाशरूप है, स्मृति नाम संकल्प का है, वह संकल्प आकाश रूप है, और वस्तु कुछ नहीं मनोराज्य रूप है, अतः उसकी सत्ता कुछ नहीं, आभास रूप है, लीला बोली– महेश्वर! यदि वह संकल्प मात्र आकाशरूप है तो भी आकाशरूप है, जहाँ तुम हम बैठे है जैसे वह है ऐसे यह है,दोनों तुल्य हैं, देवीने कहा– हे लीले! जैसे तू कहती है ऐसे ही है, अहम्, त्वम्, इदम् यह वह सम्पूर्ण जगत् आकाशरूप है, भ्रांति भासते हैं, उत्पन्न नहीं हुए, सब आकाशमात्र हैं, स्वरूप से इनका कुछ सद्भाव नहीं,

जो पदार्थ सत्य न हो तो उसकी स्मृति कैसे सत् होवे। लीला बोली– हे देवि! मेरा भर्ता अमूर्तिमान था वह मूर्तिमान हुआ और उसको जगत् भासने लगा, वह कैसे भासा? उसका स्मृति कारण क्या है? या कोई और प्रकार है। यह मेरे दृश्य भ्रम निवृत्ति के निमित्त मुझको वही रूपक हो। देवी ने कहा– हे लीले! वह सर्ग भी भ्रमरूप है, यह भी भ्रमरूप है, यदि यह सत् हो तो इसकी स्मृति सत् हो, यह जगत् असत्रूप है जैसे यह भ्रम तुझको भासा है वह सुन एक महाचिदाकाश है उसका किंचन चित्त अणु है उसके किसी अंश में जगत् है, वह जगत्रूपी वृक्ष है, सुमेरु उसका स्तम्भ है, स्वप्नलोक उसकी शाखाएँ हैं, आकाश उसकी शिखा है और सात समुद्र उसमें रस है, तीनों लोक फल हैं, उसमें सिद्ध, गन्धर्व, देवता, मनुष्य दैत्यरूप मच्छर हैं, तारागण उसके फूल हैं, उस वृक्ष के किसी छिद्र में एक देश है उसमें एक पर्वत है, उसके नीचे एक नगर बसता है, वहाँ एक नदी का प्रवाह चलता है, वहाँ एक वसिष्ठ नाम ब्राह्मण था वह बड़ा धर्मात्मा था, सदा अग्निहोत्र किया करता था और था विद्वता में अद्वितीय और धनवान् भी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सकलजगभ्रान्तिप्रतिपादन नामाष्टादशः सर्ग १८

एकोनविंशः सर्गः १९

अथ ब्राह्मणमरणवर्णनम् ।

देवी बोली– हे लीले! ऋषिवर वसिष्ठजी विद्या कमल पराक्रम तप आदि महान् वस्तुओं के एक भंडार थे,परन्तु ज्ञान में भेद था, जो खेचर वसिष्ठ का ज्ञान है, वैसा भूचर वसिष्ठका न था, उनकी स्त्री का नाम था अरुन्धती, वह पतिब्रता थी, चन्द्रमा के समान उसका मुख था, इस अरुन्धती के समान विद्या, कर्म, कान्ति, धन, चेष्टा, पराक्रम, चेतनता और ज्ञान दोनों का समान था, लगभग और भी सब लक्षण समान थे,

वह आकाश की अरुन्धती है, यह भूमिकी अरुन्धती, एक समय महर्षि वसिष्ठ पर्वत के शिखरपर विराजमान थे, वह स्थान हरित तृणाच्छादित होने से अतीव मनोहर मालूम होता था, उसी पर्वत के निकट शिकार खेलने के लिये राजा सपरिवार राजसी ठाटबाट में आ रहा था कर्मचारी गण आज्ञानुसार इशारे पर चल रहे थे, राजा देखने में अति सुन्दर विविध भूषणालंकृत चन्द्रमा के समान प्रकाश प्रसार करते चले जा रहे थे, चलते राजा के सिर पर भी चमर डुलाये जा रहे थे, अनेक प्रकार के छत्रों से छाया की जा रही थी, रत्न मणि जड़ित भूषण भूषित मण्डलेश्वर भी साथ थे हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, चारों प्रकार की सेना आगे चली जा रही थी, उसके चलने से उठी हुई धूल आकाश में छायी हुई बादलों सी प्रतीत हो रही थी, नौबत नक्कारे बजते जा रहे थे, उस राजा को देखकर ऋषि वसिष्ठ मन में विचार करने लगे कि राजा को बहुत सुख मिलता है, क्योंकि उसके पास सौभाग्य की सब सामग्री होती है, इस प्रकार का राज्य मुझे भी मिले, यह इच्छा उत्पन्न हुई, मैं कब सब दिशाओं को जीतूंगा? मेरे यश के साथ कब दशों दिशाएँ भर जायँगी? ऐसे छत्र मेरे सिर पर कब ढरेंगे? चारों प्रकार की सेना मेरे आगे कब चलेगी? मनोहर प्रासादों में सुन्दर स्त्रियों के साथ मैं कब विलास करूँगा? मन्द मन्द सुगन्ध पवन का सुखदस्पर्श कब होगा? हे लीले! इस प्रकार ब्राह्मण के मन में यह दृढ़ संकल्प उदित हुआ, राज्य प्राप्ति की कामना उसके मन में बस गई, परन्तु वह अपने ब्राह्मणोचित कर्म तो साथ साथ करता ही रहा, इस प्रकार समय जाते ब्राह्मणको वृद्धावस्था आ प्राप्त हुई। शरीर जर्जरित हुआ, जैसे बर्फ पड़ने से कमल कुम्हला जाता है, ऐसा उस ब्राह्मण का शरीर कुम्हला गया, मृत्यु का समय निकट आ गया, तब उसकी स्त्री भर्ता की मृत्यु निकट आई जानकर दुःखिता हुई, तब उसने भी तुम्हारे समान मेरी आराधना की, भर्ता की अजर अमरता को दुर्लभ जानकर मुझसे वर मांगा, कि हे देवि! मुझको यह वर दो कि जब मेरा भर्ता मरे तब इसका जीव बाहिर न

जावे, तब मैंने कहा— ऐसा ही होगा, हे लीले! जब बहुत काल व्यतीत हुआ, तब ब्राह्मण की मृत्यु हुई और उसका जीव मन्दिर में रहा, जैसे—मन्दिर में आकाश रहता है। हे लीले! —जब वह आकाशरूप हो गया तब उसको वह संकल्प फुरा जो उसकी पुर्यष्टका में दृढ़ था, जैसे बीज से अंकुर निकल आता है ऐसे ही स्फुरन हुआ, उसने अपने राज्य को देखा जो कि अति विस्तृत है, त्रिलोकी का राज्य है, दशों दिशायें यश से पूर्ण हो रही हैं, मानो यशरूपी चन्द्रमा की पूर्णिमा है, अन्धकार का नाश तो प्रकाश ने किया हो, राजा के यशरूप प्रकाश से शत्रुरूप अन्धकार का भी नाश हो गया और ब्राह्मणों के चरण कमलों की अति श्रद्धा से पूजा करने लगा, दान करने में तो वह याचकों के लिये कल्पवृक्ष हो गया। विलास सामग्री से उसके मनोहर प्रासाद सदा परम सुशोभित रहने लगे, राजा इतना सुन्दर था कि स्त्री समाज को वह साक्षात् कामदेव के रूप में भासने लगा। सब प्रकार के सात्विक राजस गुणों से परिपूर्ण हुआ। उसकी रानी उसे मृतक देख बहुत शोकवती हुई, जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ की मञ्जरी सूख जाती है, ऐसे ही वह भी शोकाकुला हो गई, तब वह भी शरीर को छोड़कर अतिवाहिक शरीर से भर्ता को जा मिली, जैसे नदी समुद्र को जा मिलती है, और ब्राह्मण के जो पुत्र थे, वे धन सम्पन्न अपने घर में रहे। उस ब्राह्मण को मृतक हुए अब साठ दिन हो गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
ब्राह्मणमरणं नामैकोनविंशः सर्गः ।।१९।।

विंशः सर्गः २०

अथ परमार्थप्रतिपादनम् ।

देवी बोली— हे लीले! वह वसिष्ठ ब्राह्मण तेरा भर्ता पद्म हुआ, अरुन्धती उसकी स्त्री तू लीला हुई है और जितना कुछ आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, त्रिलोकी है, वह वसिष्ठ ब्राह्मण के अन्तःपुर के एक कोने में स्थित है, वहाँ तुझको आठ दिन व्यतीत हुए हैं सूतक भी नहीं गया और

यहां तुमने साठ हजार वर्ष राज्य किया है, नाना प्रकार के सुन्दर भोग भोगे हैं, हे लीले! इस प्रकार तुमने जन्म लिया है, वह मैंने सब कहा है, वह क्या है? सब भ्रममात्र है, जितना कुछ जगत् तुझको भासता है वह आभासमात्र है, संकल्प के कारण फुरता है वस्तुतः कुछ नहीं, हे लीले! जब यह जगत् वयं सत् नहीं है, तब उसकी स्मृति कैसे सत्य हो? तुम हम सब उस ब्राह्मण के मन्दिर में स्थित हैं। लीला बोली– हे देवी! तुम्हारे वचन को मैं असत् कैसे कहूँ जो कि तुम कहती हो उस ब्राह्मण का जीव अपने घर में रहा, वहाँ हम तुम बैठे हैं और देश देशान्तर पर्वत, समुद्र, लोक और लोकपालक सब जगत् उसी घर में है, वे वहाँ समाते कैसे हैं? यह वचन तुम्हारे ऐसे हैं, जैसे सर्ष पके दाने में उन्मत्त हाथी बाँधे हुए हैं और सिंह के साथ मच्छर युद्ध कर रहे हैं, कमल के डोडे में सुमेरु पर्वत आ गया है उस पर कमल पर भ्रमर आ बैठा और उसका पान कर गया, स्वप्न में मेघ गरजते हैं, चित्र लिखित मोर नाचते हैं। ऐसी बातें कहती हो जो कि सबकी सब असंभवसी प्रतीत होती हैं, देवीजी ने कहा– हे लीले! यह मैंने तुमसे झूठ नहीं कहा, हमारा कहना कदाचित् असत् नहीं, क्योंकि आदि परमात्मा की नीति है, कि महापुरुष असत् नहीं कहते। इसी कारण से हम असत् नहीं कहतीं हम तो धर्म का प्रतिपादन करनेवाली हैं, जहाँ धर्म की हानी होती है, वहाँ धर्म का प्रतिपादन नहीं करती, यदि हम ऐसा करें तो और लोग धर्म को कैसे मानें? हे लीले! जैसे सोये हुए को स्वप्न में त्रिलोकी भास आती है, वह अन्तःकरण में ही होती है और स्वप्न से जाग्रत होती है, ऐसे ही मृत्यु को भी जान लो। जब जहाँ मृत होता है वहाँ जीव जो पुर्यष्टक है वह आकाशरूप हो जाता है, फिर वासना के अनुसार उसको जगत् भास आता है, जैसे स्वप्न में जगत् भास आता है, वह क्या रूप है, आकाशरूप है, ऐसे इसको भी जानो, हे लीले! यह सब जगत् तेरे उस अन्तःपुर में है, क्योंकि जगत् चित्ताकाश में स्थित है, जैसे आदर्श में प्रतिबिंब होता है ऐसे ही चित्त में जगत् है और चित्त आकाशरूप है, हे लीले–यह जगत् जो मुझको भासता है आकाशरूप है, जैसे स्वप्न नगर भासता है, संकल्प नगर भासता है, जैसे

कथा के अर्थ भासते हैं, ऐसे ही यह जगत् भी है, जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है, ऐसा ही इस जगत् को जानलो। हे लीले! वास्तव में कोई पदार्थ उपजा नहीं किन्तु भ्रम से सब कुछ भासता है, जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर भासता है, पुनः और स्वप्न देखता है, इसी प्रकार तुम्हें यह सृष्टि भ्रम हो रहा है, हे लीले! यह जगत् आत्मरूप है, जहाँ चिद् अणु है, वहाँ जगत् भी है, परन्तु क्या रूप है, आभासरूप है, जैसे यह आकाशरूप है वैसे यह जगत् भी आकाशरूप है, जिस प्रकार यह चेत्यता है, उसी प्रकार वही भासता है, अतः संकल्पमात्र है, जैसे स्वप्नपुर भासता है जैसे संकल्प नगर होता है ऐसे जगत् है जैसे मरुस्थल की नदी के तरंग भासते हैं, ऐसे यह जगत् भासता है, इसलिये इसकी कल्पना त्यागकर रहो। लीला बोली हे देवि! उस वसिष्ठ ब्राह्मण का देहान्त हुए आज आठ दिन हुए हैं और हमको यहाँ साठ हजार वर्ष बीते हैं, यह बात सत्य कैसे मानी जाय, यह थोड़े काल में बड़ा काल कैसे हुआ? देवी बोली, हे लीले! जैसे थोड़े देश में बहुत देश आते हैं ऐसे ही थोड़े काल में बहुत काल भी आता है, अहंता, ममता आदिक जितना कुछ जगत् है, वह आभासमात्र है उसको क्रम से सुनो– यह जीव जब मरता है तब मूर्छा होती है, फिर मूर्छा से जब चेतनता आती है, उसमें यह भासता है, यह आधार है यह आधेय है, यह मेरा हाथ है यह मेरा शरीर है, यह मेरा पिता है, इसका मैं पुत्र हूँ, अब मैं इतने वर्ष का हुआ हूँ। यह मेरे बान्धव हैं इनके साथ मैं स्नेह करता हूँ, यह मेरा घर है यह मेरा कुल चिरकाल से चला आता है, मरने के अनन्तर ऐसे क्रम को देखता है, हे लीले! जिस प्रकार यह देखता है, ऐसे यह भी जान ले, एक क्षण में और का और भासने लगता है, यह जगत् चेतन का किंचन है, जैसे चेतन संवित् में चेत्यता होती है, ऐसे जगत् भासता है, जैसे स्वप्न में दृष्टा दृश्य दर्शन तीनों भासते हैं, ऐसे आत्मसत्ता में यह जगत् किंचन होता है, भ्रम से भासता है, वास्तव में नानात्व कुछ हुआ नही, जैसे स्वप्न बिना नाना

प्रकार का जगत् भासता है, वैसे परलोक में नाना प्रकार का जगत् कारण बिना भासता है, वह क्या रूप है आकाशरूप है, मन के भ्रम से भासता है ऐसे यह जगत् मन के भ्रम से भासता है, स्वप्न जगत्, परलोक जगत् और जाग्रत जगत् में भेद कुछ नहीं, जैसे वह भ्रममात्र है वैसे यह भ्रममात्र है, वास्तव में कुछ नहीं हुआ, जैसे समुद्र में तरंग कुछ वास्तव नहीं ऐसे आत्मा जगत् में कुछ वास्तव नहीं, असत् ही सत् की नाईं है, जब कि उपजा नहीं, अतः अविनाशी है, हे लीले! जैसे चेत्योन्मुखत्व हुए चेतन आकाश भासता है ऐसे चेत्यता में भी चेतन आकाश है, क्योंकि जो कुछ हुआ नहीं, जैसे समुद्र से तरंग होता है वह तरंग जल से इतर कोई वस्तु तो हुई नहीं, जल ही है, वैसे ही आत्मा में जगत् नहीं। जैसे शशक के श्रृंग असत् है, ऐसे ही जगत् असत् है, उत्पन्न होने से जगत् कोई आत्मेतर वस्तु नहीं हो गई, जल में तरंग की नाईं भी आत्मा में जगत् नहीं, हे लीले! जब यह पुरुष मरता है, उस समय उसको जो जैसा देशकाल क्रिया, उत्पत्ति, नाश, कुटुम्ब, शरीर, आदि नानारूप भासता है, वह क्या रूप है? आभासरूप है, जिस प्रकार क्षण-क्षण में इतने भाव आते हैं, ऐसे कारण बिना यह जगत् भासता है, तो दृश्य द्रष्टा भी कोई न हुआ, यह जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, देह इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि सब भ्रम से भासते हैं, आत्मा उपाधि से रहित आकाशरूप है, उसके प्रमाद से जगत् भ्रम उदय हुआ है, हे लीले! भ्रम में क्या नहीं होता, जैसे एक रात में हरिश्चन्द्र को द्वादश वर्ष भासे थे वैसे यहाँ भी थोड़े काल में बहुत काल भासता है, दोनों अवस्थाओं में इसको और का और भासता है, स्वप्न में भी और भासता है और उन्मत्तता करके भी और का और भासता है, अभोक्ता होकर अपने आपको भोक्ता मानता है और भ्रम से हर्ष और शोक को एकत्रित देखता है, संयोग-वियोग, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि को भ्रम से उलट-पलट हुआ देखता है, यह सब भ्रमरूप है। जैसे भ्रम से अन्य वस्तुओं में उलट पलट रूप भ्रम हो जाता है, ऐसे ही यह जगत् भी भ्रम से भासता है, परन्तु ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, अतः न बन्धन है न

मोक्ष है, जैसे मिरचों में तीक्ष्णता है वैसे ही आत्मा में जगत् है, जैसे स्तंभ में पुतलियाँ कहीं हुई ही नहीं—स्तंभ ज्यों का त्यों है, शिल्पी के मन में पुतलियाँ हैं, ऐसे ही ब्रह्म में जगत् नहीं, मनरूप शिल्पी ने जगत् रूप पुतलियाँ कल्पित की हैं, ऐसे ही ब्रह्म आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है, नित्य है, शुद्ध है, अज है, अमर है, स्वभाव में स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलापाख्याने
परमार्थप्रतिपादनं नाम विंशः सर्गः।।२०।।

एकविंशः सर्गः २१

अथ विश्रान्तिवर्णनम् ।

देवीजी बोली— हे लीले! जब पुरुष को मृत्यु के कारण से मूर्छा होती है, तब शीघ्र ही उसको अपना कुलजन्म आदि भास आता है, देश, काल, क्रिया, द्रव्य और अपना परिवार भास आता है, नाना प्रकार का जगत् भासता है, और वास्तव कुछ नहीं, स्मृति भी असत् है, एक स्मृति अनुभव से होती है, एक स्मृति अनुभव बिना भी होती है, दोनों प्रकार की स्मृति मिथ्या हैं, जैसे स्वप्न में अपने शरीर को देखता है,वह अनुभव असत् है, किसी अपने मरने की स्मृति से वह अनुभव नहीं हुआ, और उस मरने की स्मृति भी असत् है, स्वप्न में कोई पदार्थ देखो, उसको जाग्रत में स्मरण करना भी असत्य है, वास्तव से कुछ हुआ नहीं अतः यह जगत् अकारण रूप है, जो वस्तुतः है वह चिदाकाशरूप ब्रह्म है और न कुछ विदूरथ की सृष्टि ही सत् है, सब संकल्पमात्र है, लीला बोली,हे देवि! यदि यह सृष्टि भ्रममात्र है तो वह जो विदूरथ की सृष्टि है इस सृष्टि के संस्कार से हुई है और यह सृष्टि उस ब्राह्मण और ब्राह्मणी की स्मृति संस्कार से हुई है, तो ब्राह्मण और ब्राह्मणी की सृष्टि किसकी स्मृति में हुई? देवी बोली—हे लीले! वह जो वसिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि है वह ब्राह्मण की सृष्टि है,वह ब्राह्मण के संकल्प से हुई है और ब्रह्म ब्राह्मण में फुरा है, परन्तु वस्तुतः

ब्रह्मा भी नहीं हुआ, तो उसकी सृष्टि को क्या कहें, ऐसी जितनी भी सृष्टि है, वह उसी ब्राह्मण के मन्दिर में है, वस्तुतः हुई नहीं। सब संकल्परूप है, मन के फुरने से भासता है, जैसा-जैसा संकल्प फुरता है ऐसा होकर भासता है, यह सृष्टि जो तेरे भर्ता को भासी है, वह दृढ़ संकल्प के भाव से भासी है, थोड़े काल में बहुत, भ्रम होने से भासता है। लीला बोली– हे देवि! जहाँ ब्राह्मण को मरे हुए आठ दिन बीते हैं उस सृष्टि को हम कैसे देखें? देवी बोली– हे लीले! जब तू योगाभ्यास करे तब देखे, अभ्यास बिना देखने को समर्थ न होगी, क्योंकि वह सृष्टि चिदाकाश में फुरती है जब तू चिदाकाश में अभ्यास करके प्राप्त होगी, तब मुझको सब सृष्टि भास आयेगी, वह सृष्टि और के संकल्प में है जो उसके संकल्प में प्रवेश करे तब उसकी सृष्टि भासे, अन्यथा नहीं भासती, जैसे एक के स्वप्न को दूसरा नहीं जान सकता, ऐसे ही और की सृष्टि नहीं भासती, जब तू अन्तवाहकरूप होवे तब उस सृष्टि को देखे, जब तक आधिभौतिक (स्थूल शरीर) में अभ्यास है तब तक उसको न देख सकेगी, क्योंकि निराकार को निराकार ग्रहण करता है, निराकार को साकार नहीं ग्रहण कर सकता, इसलिये यह आधिभौतिक देह भ्रमरूप है, इसको त्यागकर चिदाकाश सत्ता में स्थित हो, जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाश में उड़ता है, तब इच्छानुसार जहाँ चाहे जा सकता है, ऐसे चित्त को एकाग्र करके स्थूल शरीर को त्याग दो और योगाभ्यास द्वारा आत्मसत्ता में स्थिति प्राप्त करो, जब आधिभौतिकता को त्यागकर चिदाकाश में अभ्यास बल से स्थित हो जावेगी, तब तुम्हारा आवरण दूर हो जायेगा। फिर तो इच्छानुसार विचर सकोगी, जो देखना चाहोगी देखोगी। हे लीले! हम सदा उस चिदाकाश में स्थित हैं, हमारा वपु चिदाकाश है, इस कारण से हमको कोई आवरण रोक नहीं सकता, हम सरीखे जो उदार हैं, उनकी सदा स्वरूप में स्थिति है, और वे सदा निरावरण है, कोई कार्य हमको आवृत्त नहीं कर सकता। हम स्वच्छन्दगति है, सदा अन्तवाहकरूप हैं और तू अब तक आधिभौतिक

रूप है, इस कारण से वह सृष्टि तुझको नहीं भासती और तू वहाँ जा भी नहीं सकती, हे लीले! अपना ही जो संकल्प मनोराज्य होता है उसमें चित्त की वृत्ति लगी है, उसमें यह अपना शरीर नहीं भासता तो और का कैसे भासे, जब तुझको अन्तवाहक का दृढ़ अभ्यास हो और आधिभौतिक स्थूल शरीर की ओर से वैराग्य होवे तब आधिभौतिकता मिट जायेगी, क्योंकि जो आगे ही सब सृष्टि अंतवाहकरूप है संकल्प ही दृढ़ता से आधिभौतिक भासता है, जैसे जल अति शीतता के कारण बर्फरूप हो जाता है, ऐसे अन्तवाहक से आधिभौतिक हो जाते हैं, प्रमाद रूप संकल्प से वास्तव में कुछ हुआ नहीं, जब वही संकल्प उलटकर सूक्ष्म अंतवाहक की ओर आता है, तब आधिभौतिकता मिट जाती है, अन्तवाहकता का उदय हो जाता है, जब इस प्रकार तेरा निवारण रूप उदय होगा, तब देखने मात्र और जानने में कुछ यत्न न होगा, साकार के साथ निराकार को ग्रहण नहीं कर सकता, निराकार की एकता निराकार के साथ होती है अन्यथा नहीं होती जब तू अन्तवाहकरूप होगी, तब उसकी संकल्प सृष्टि में तेरा प्रवेश होगा, हे लीले! यह जगत् संकल्प भ्रममात्र है, वास्तव में कुछ हुआ नहीं, एक अद्वैत आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, द्वैत कुछ है नहीं, लीला ने कहा– हे देवि! यदि एक अद्वैत आत्मसत्ता है तब कलना यही दूसरी वस्तु क्या हुई यह कहो। देवीजी बोलीं– हे लीले! जैसे स्वर्ण में भूषण कुछ वस्तु नहीं, जैसे सीपी में रूपा दूसरी वस्तु कुछ नहीं, जेवरी में सर्प नहीं, होने से कलना भी कुछ वस्तु नहीं, एक अद्वैत आत्मसत्ता सहज ज्यों की त्यों ही स्थित है, उसमें नानात्व भासता है वह भ्रममात्र है वास्तव अपना आप एक अनुभव सत्ता है। लीला ने कहा—हे देवि! यदि अनुभवसत्ता है, और मेरा अपना आप है तो मैं इतने समय तक क्यों भ्रमती रही, भगवती बोली —हे लीले! अविचार भ्रम से भ्रमती रही है विचार करने से भ्रम शान्त हो जाता है, वह भ्रम भी और विचार भी दोनों तेरा स्वरूप है तुम ही से उपजा है और जब तुझको अपना विचार हो, तब भ्रम निवृत हो जायगा, जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार नष्ट

हो जाता है, ऐसे ही विचार से द्वैत नष्ट हो जावेगा, जैसे जेवरी जानने से सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है, और सीपी के जानने से रौप्यभ्रम नष्ट हो जाता है, ऐसे ही आत्मा के जानने से आधिभौतिक भ्रम शान्त हो जावेगा, जब दृश्य का अत्यन्ताभाव जानकर दृढ़ वैराग्य हो, और आत्म स्वरूप का दृढ़ अभ्यास, हो, तब आत्मा का साक्षात्कार होकर भ्रम शान्त हो जाये। इससे परम कल्याण हो, हे लीले! जब दृश्य जगत में वैराग्य होता है तब वासना क्षय हो जाती है, वासना क्षय होने से शान्ति प्राप्ति होती है। हे लीले! तू आत्म सत्ता का अभ्यास कर तब जगत् भ्रम शान्त हो जावेगा, भ्रम भी कुछ वस्तु नहीं देहादिक भ्रम भी कुछ हुआ ही नहीं जैसे जेवरी के जानने से सर्प का अभाव हो जाता है, ऐसे ही आत्मा के जानने से देहादिकों कर अत्यन्ताभाव होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विश्रान्तिवर्णनं नामैकविंशः सर्गः॥२१॥

द्वाविंशः सर्गः २२

विज्ञानाभ्यासवर्णनम् ।

भगवती जी बोलीं– हे लीले! जितने शरीर तुझको भासते हैं, वे श्वप्नपुर के समान हैं, जैसे स्वप्नमें शरीर भासता है, जब स्वरूप में स्मृति होती है, तब स्वप्न का शरीर वास्तव रूप से नहीं भासता, जैसे संकल्प के त्यागने से संकल्प शरीर नहीं भासता ऐसे बोधकाल में यह शरीर नहीं भासता,जैसे मनोराज्य के त्याग से मनोराज्य का शरीर नही भासता, वैसे यह शरीर भी नहीं भासता,स्वरूप का ज्ञान होने पर वह भी वास्तव न भासेगा, जैसे स्वरूप के स्मरण से हुए शरीर शान्त हो जाय, वैसे वासनाओं के शान्त हुए जाग्रत् शरीर भी शान्त हो जाता है, जैसे स्वप्न का देह अभाव ज्ञानसे असत् होता है, वैसे जाग्रत् शरीर की भावना त्यागने से यह भी असत् भासता है, इसके नष्ट होने पर अन्त वाहक देह का उदय होगा, जैसे निद्रा से स्वप्न में राग द्वेष की प्राप्ति होती है, जब

पदार्थों की वासना बोध से निवृत होती है तब उनसे मुक्त होता है जिस पुरुष की वासना जाग्रत पदार्थों में नष्ट हो गयी है, वह पुरुष जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होता है, यदि फिर भी वासना दीखे तो वह वासना भी निर्वासना ही है, सर्व कल्पना से रहित है, उसका नाम सत्ता सामान्य है, हे लीले! जिस पुरुष ने वासना रोकी है, और अज्ञान निद्रा से आवृत हुआ है, उसको सुषुप्तिरूप जानो, उसकी वासना सुषुप्त है, और जिसकी वासना प्रकट है, जाग्रत् रूप से विचरती है उसको अधिक मोह से आवृत जानना चाहिये, जो पुरुष चेष्टा करता देखा जाता है और उसकी अन्तर्वासना नष्ट हुई है, उसको तुरीया जानो। हे लीले–जो पुरुष चेष्टा करता है, और अन्तर्वासना से रहित है वह जीवन्मुक्त है। जिस पुरुष का चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है उसकी जगत्वासना नष्ट हो जाती है, यदि वासना फुरती भासती है, तो भी सत्य जानकर नहीं फुरती, जब शरीर की वासना नष्ट होती है तब आधिभौतिकता नष्ट हो जाती है, अन्त वाहकता आ जाती है, जैसे बर्फ की पुतली सूर्य के तेज द्वारा जलरूप हो जाती है, ऐसे आधिभौतिकता क्षीण हो जाती है, अन्तवाहकता प्राप्त होती है, जब अन्तवाहकता प्राप्त हो तो इसका शरीर अमांसमय चित्तरूप होता है, और यह सर्वत्र हो जाता है, अपने जन्मान्तरों की स्मृति, व्यतीत सृष्टि संबन्धी ज्ञान भी इसे हो जाता है, जहाँ जाने की इच्छा करे वहाँ जा सकता है, यदि इसे सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा हो तो तत्काल पूरी हो सकती है, परन्तु अन्तवाहकताके बिना शक्ति नहीं उदित होती। जब इस देह से तेरा अहंभाव उठेगा, तब सब जगत् तुझको प्रत्यक्ष भासेगा, हे लीले! जब आधिभौतिक शरीर की वासना नष्ट होती है तब अन्तवाहकता आती है, जब अन्तवाहक में स्थिति होती है तब और के संकल्पकी सृष्टि भासती है, इसलिये वासनाओं के घटाने का यत्न करना चाहिये। जब वासना नष्ट होगी तब तू जीवन्मुक्त पद को प्राप्त करेगी, हे लीले! जब तक तुझको पूर्णबोध प्राप्त नहीं होता तब तक देह को यहाँ स्थापन कर वह सृष्टि चलकर देख! अन्तवाहक शरीर के

साथ मांसमय स्थूल देह का व्यवहार सिद्ध नहीं होता, जैसे स्थूल देह के साथ सूक्ष्म कार्य नहीं होता, अतः अंतवाहक शरीर का अभ्यास करो, जब अभ्यास करोगी तब उस सृष्टि को देखने के लिये समर्थ होगी। हे लीले! अनुभव के अनुसार स्थिति मैंने तुम्हें कही है, इस बात को तो बालक भी जानते हैं कि अपने अभ्यास से ही बोध की प्राप्ति होती है, यह काम वर और शाप के नहीं होते। हे लीले! अन्तवाहक रूप है, अर्थात् अज्ञानमय संकल्प के अभ्यास से आधिभौतिक की उत्पत्ति हुई, संसार की वासना उसी से बढ़ती गयी, मरणादि विकार चित्त में पड़े भास रहे हैं, जीव न मरता है, न जन्मता है, जैसे स्वप्न में जन्म मरण भासते हैं जैसे संकल्प से भ्रम भासता है, ऐसे जन्म मरण भ्रम से भासते हैं, जब आत्म पद का अभ्यास करोगी तब विकार मिट जायेगा। और आत्मपद की प्राप्ति होगी। लीला बोली– हे देवि! तुमने परम निर्मूल उपदेश किया है, जिसके जान लेने पर हृदय से यह दृश्य विषूचिका निर्मूल हो ज़ाती है, परन्तु यह बतलाने की कृपा कीजिये कि वह अभ्यास क्या वस्तु है? बोध का साधन कैसे होता है और अभ्यास पुष्टि कैसे होती है और अभ्यास की पूर्ति से फल क्या होता है? देवीजी ने कहा– हे लीले! चित्त, निरन्तर आत्मचिन्तन करे, वाणी द्वारा भीं आत्मचर्चा ही हो, परस्पर आत्मा के विषय में ही प्रश्नोत्तर हुआ करें, प्राणचेष्टा भी आत्मार्थ ही हो, अर्थात् आत्माकार वृत्तिलाभ के लिये प्राणायामादि योग क्रियाएँ की जायँ। मनन भी आत्मपद का ही हुआ करे, इसी को ब्रह्माभ्यास कहते हैं, बुद्धिमान पुरुष चिन्तन उसको कहते हैं जो शास्त्र वाक्य शास्त्र द्वारा अथवा गुरुमुख से पढ़े सुने हैं, उनको अर्थावगति के लिये युक्तिपूर्वक विचार करना और कथन कहते हैं, गुरुमुखारविन्द से सुने हुए वाक्यों का आपस में पूछकर निश्चितार्थ निकालना, यही तीनों श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहलाता हैं, जिन पुरुषों के पापपंक अंत को प्राप्त हुए हैं और पुण्य बढ़े हैं, वे पुरुष राग द्वेष से मुक्त हुए हैं, उनको तू ब्रह्म सेवक जान। हे लीले! जिन पुरुषों के दिन अध्यात्म शास्त्र के चिन्तन में बीतते

हैं और जिनके अन्दर दुर्वासनाएँ नहीं हैं, उनको ब्रह्माभ्यासी जानना चाहिये, वे लोग ब्रह्माभ्यास में प्रयत्नशील हैं। हे लीले! जिनकी भोग वासना क्षीण हुई है और जो संसार के अभाव की भावना करते हैं, ऐसे जो भव्यमूर्ति विरक्तचित्त महात्मा पुरुष हैं, वे शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होते हैं, जिनकी बुद्धि वैराग्यरूप अपूर्व रंग के साथ रंगी है और आत्मानन्द की ओर वृत्ति दौड़ती है, ऐसे जो उदार आत्मा हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहाते हैं, हे लीले! जिन पुरुषों ने जगत् का अत्यन्त अभाव जाना है, जो यह जगत् आदि से उत्पन्न हुआ नहीं, ऐसा जानकर दृश्य को असत् जानकर त्यागते हैं और परम तत्व को सत्य जाना है, इस युक्ति में अभ्यास करते हैं, हे लीले! जिन पुरुषों को दृश्य असंभवता को बोध हुआ है, राग द्वेष से रहित हैं इस जगत् में हम हैं इस बुद्धि का भी अभाव करके परमात्मपद में प्राप्त होते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहाते हैं, दृश्य के अभाव जाने बिना रागद्वेष निवृत्त नहीं होता रागद्वेष बुद्धि संसार में सुख पैदा करती है और जिसको दृश्य की असंभव बुद्धि प्राप्त हुई है उसको ज्ञेय परमात्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है, जब दृढ़ अभ्यास उस पद में होता है तब परमानन्द निर्वाण पद को प्राप्त होता है, जो इसके लिये यत्न करता है वह प्राकृत है। हे लीले! बोध का साधन अभ्यास है और अभ्यास शास्त्र से होता है और प्रत्यत्न से पुष्ट होता है, पुष्ट होने पर आत्मतत्व की प्राप्ति होती है, हे लीले! ब्रह्माभ्यासी इनको ब्रह्म का सेवक कहते हैं, वे तीन प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और प्राकृत—यह तीनों प्रकार है, उत्तम अभ्यासी वह है जिसके हृदय में बोध कला का उदय हुआ हैं और दृश्य का असंभव बोध हुआ है। जिसको दृश्य की असंभवता का बोध तो हुआ है, परन्तु बोधकला उत्पन्न नहीं हुई परन्तु उसके अभ्यास में है वह मध्यम है। जिसको दृश्य की असंभवता का बोध नहीं हुआ, परन्तु उसके लिये प्रयत्नशील रहता है वह प्राकृत है। हे लीले! इसलिये मैंने जिस प्रकार अभ्यास करने के लिये तुझे कहा है, उसके अनुसार चलकर तू परमपद को प्राप्त होगी, वसिष्ठ महर्षि बोले—

हे रामजी! यह जीव अज्ञान रूप निद्रा में पड़ा सो रहा है, इसलिये जगत् को नाना प्रकार से देखता है, ऐसा कहकर वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब देवी ने अपने विवेकी वचनों से अमृत की वर्षा करके उस लीला को अविद्या की निद्रा से जगाया, तब उसकी वह अज्ञान निद्रा सब दूर हो गई, जैसे शरत्काल में मेघ की कुहड़ नष्ट हो जाती है, ऐसे ही लीला का अज्ञान नष्ट हुआ, श्रीवाल्मीकिजी बोले– इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा, तब सायंकाल का समय हुआ, तब सर्व सभा परस्पर नमस्कार करके स्नान को गई, सूर्यकी किरण जब उदय हुई, तब सब लोग फिर आकर अपने-अपने स्थान पर स्थित हुए।

इतिश्रीयोगवा० उत्प०विज्ञानाभ्यासवर्णनंनाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥

त्रयोविंशः सर्गः २३
(लीलाप्रज्ञादेव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमनवर्णनम्)

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार अर्धरात्रि के समय देवी और लीला का संवाद हुआ, सब सहेलियाँ तथा अन्य लोग बाहिर सोये पड़े थे, लीला का भर्ता फूलों में दबा हुआ था जिसके पास दिव्य वस्त्र पहिरे हुए चन्द्रमुखी देवियाँ सर्व कलना को त्यागकर, अङ्गों को संकुचित करके समाधिस्थ हुईं, मानों जवाहरात के स्तंभ में पुतलियाँ उत्कीर्ण की हुई स्थित हैं, अन्तःपुर भी उनके प्रकाश से प्रकाशमान हो रहा है, ऐसी ध्याननिष्ठ हैं कि जैसे सचमुच ही चित्ररूप हों, इस प्रकार सब दृश्य कलना को त्याग कर निर्विकल्प समाधि में स्थित हुई, जैसे कल्पवृक्ष की लता दूसरी ऋतु के आने से पूर्व रस को त्यागकर दूसरी ऋतु के रस का अंगीकार करती है। ऐसे दृश्य भ्रम को त्याग आत्मतत्व में स्थित हुई, तब अहंता से आदि लेकर जो दृश्य भ्रम है वहसब उनका शान्त हो गया, दृश्यरूप

पिशाच के शान्त होने से निर्मल भाव को प्राप्त हुई, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, ऐसे निर्मल भाव को प्राप्त हुई। हे रामजी! यह जगत् शश के श्रृंग की नाईं असत् है, जो आदि न हो और अन्त में भी न रहे, उसको वर्तमान दृष्टि आने पर भी असत् जानिये। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्य है, ऐसे यह जगत् असत् है, ऐसे जो स्वभावसत्ता हृदय में चिदाकाश में स्थित भई तब अन्य सृष्टि के देखने का जो संकल्प था उसका फुरण हुआ, उस फुरने से आकाशरूप देह के साथ चिदाकाश में उड़ी। सूर्य चन्द्रमा के मण्डल को उल्लङ्घित कर गई, दूर से दूर गई। अनन्त योजन पर्यन्त स्थान को उल्लघंन किया, तब फिर भूतों की सृष्टि देखी, उसमें प्रवेश किया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलाप्रज्ञोदव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमन वर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।२३।।

चतुर्विंशः सर्गः २४

आकाशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार परस्पर हाथ पकड़कर दूर चली जा रहीं थीं, मानों एक ही आसन पर दोनों चली जाती हैं, मेघों के स्थान पार किये, अग्नि के तथा पवन के वेग नदियों की नाईं चलते थे वहाँ से भी आगे निकल गईं जहाँ निर्मल आकाश ही भासे, वहाँ से आगे गई कहीं चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश नहीं, और कहीं है। देवता विमानों पर आरूढ़ हुए फिरते हैं, सिद्ध उड़ते फिरते हैं, विद्याधर किन्नर गन्धर्व गायन करते हैं, कहीं सृष्टि उत्पन्न हो रही है, कहीं प्रलय होती है, उपद्रव करने वाले शिखाधारी तारे उदय हुए हैं, कहीं प्राणी अपने व्यवहार में लगे हैं, कहीं अनेक महापुरुष ध्यानस्थित हैं, कहीं हस्ती विचरते हैं, कहीं

पक्षी गगन में भ्रमण कर रहे हैं, कहीं दैत्य तथा डाकिनियाँ भयानकता प्रसार कर रहीं हैं, कहीं योगिनें लीला करती हैं, कहीं अंधे गूँगे रहते हैं, कहीं गीध पक्षियों के सिंह घोड़े के मुखवाले गण घूम रहे हैं, कहीं वरुण, कुबेर, इन्द्र, यमादिक लोकपाल बैठे हैं, और बड़े पर्वत सुमेरु, मंदराचल आदिक देखे, कहीं अनेक योजनों पर्यन्त, वृक्ष ही चले जाते हैं, कहीं अनेक योजन पर्यन्त अविनाशी प्रकाश है, कहीं अनेक योजनों पर्यन्त अविनाशी अन्धकार है, कहीं जल पूर्ण स्थान है, कहीं सुन्दर पर्वतों पर गंगा के प्रवाह चले जाते हैं, कहीं सुन्दर बगीचे बावड़ियाँ ताल हैं, उनमें कमल लगे हुए हैं, कहीं भूत भविष्यत् वर्तमान दृष्टि् आता है, कल्पवृक्ष के वन हैं, चिन्तामणि अनन्त हैं, कहीं शून्य स्थान हैं, भूत, प्राणी कोई नहीं, कहीं देवता और दैत्यों के बड़े युद्ध होते हैं, नक्षत्र चक्र पड़े फिरते हैं, कहीं प्रलय होता है, देवता विमानों सहित भ्रमण करते हैं, कहीं स्वामी कार्तिक के रक्खे हुए मोरों के समूह विचरते हैं, कहीं कुक्कुटमोर आदि पक्षी विद्याधरों के वाहन बने फिरते हैं। कहीं यम के वाहन महिषों के समूह विचरते हैं, कहीं पाषाण संयुक्त पर्वत पड़े हैं, कहीं भैरव के गण नृत्य करते हैं, कहीं विद्युत चमकती है, कहीं कल्पतरु हैं, मंद मंद शीतल पवन सुगंध समेत चलता है, कहीं पर्वत रत्न और मणियों से शोभा पाते हैं, हे रामजी! इत्यादि जगतों का जाल उन देवियों ने देखा, जीवरूप मच्छर त्रिलोक रूप गूलरों के अनन्त वृक्ष देखे, उसके अनन्तर आकाश मण्डल को देखकर महीतल में प्रवेश किया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आकाशवर्णनम्
नाम चतुर्विंशः सर्गः ।।२४।।

पञ्चविंशः सर्गः २५

भूलोकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! तब देवियाँ भूतल ग्राम में आईं, ब्रह्माण्ड खप्पर में प्रवेश किया। ब्रह्माण्ड का स्वरूप ऐसा है— त्रिलोकीरूप कमल है, उसकी आठ पुतलियाँ हैं, उसमें पर्वत रूप डोडा है, चेतनता सुगन्ध है, नदियाँ समुद्र उसके अम्बूकण हैं, जब रात्रिरूप भ्रमरे आन विराजते हैं, तब वह कमल सकुचा जाते हैं, पातालरूप कीचड़ में लगे हैं, पत्ररूप मनुष्य देवता हैं, दैत्याराक्षस उसके कण्टक है, और डोडी उसकी शेषनाग है; जब वह हिलता है तब भूकम्प होता है, दिन से प्रकाशित होता है, ऐसा जो कमल है, उसका इस प्रकार विस्तार है, एक लाख योजन जम्बूद्वीप है, उससे आगे दुगुना खारा समुद्र है, उस जल से द्वीप आवरण किया है, जैसे—हाथ का कंगन होता है, उससे आगे दुगुना शाकद्वीप है, उससे दुगुना क्षीर समुद्र है, उससे वेष्टित है, फिर दुगुनी पृथ्वी हैं, उसका नाम कुशद्वीप है, उससे दुगुने घृत के समुद्र में वेष्टित है, फिर दुगुनी पृथ्वी है, उसका नाम क्रौंच द्वीप है, वहाँ दुगुना दधि का समुद्र है, उससे वेष्टित है, फिर शाल्मलीद्वीप है, इससे आगे दुगना मधुका समुद्र है, फिर प्लक्षद्वीप है, इससे दुगना इक्षुरस का समुद्र है, फिर दुगुना पुष्करद्वीप है, उससे दुगुना मीठे जल का समुद्र है, इस प्रकार सात समुद्र हैं, इनसे आगे दशकोटि योजन कांचन की पृथ्वी प्रकाशवान् हैं; उससे आगे लोकालोक पर्वत है, उसपर बड़ा शून्य वन है, उससे आगे एक बड़ा समुद्र है, उससे आगे दश गुणा अग्नि है, अग्नि से परे दश गुणा वायु है, वायु से परे दशगुणा आकाश है, आकाश से परे लक्ष योजन पर्यन्त घनरूप ब्रह्माण्ड का कन्ध है, उसको देखकर दोनों वापस आईं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
भूलोकवर्णनं नाम पंचविंशः सर्गः ।।२५।।

षड्विंशः सर्गः २६

सिद्धदर्शनहेतुवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! वहाँ से फिर कर उन्होंने वसिष्ठ ब्राह्मण और अरुन्धती का मंडल देखा, इसके अनन्तर ग्रामों और नगरों की शोभा देखी परन्तु वह शोभा जाती रही, जैसे कमलों पर हिम की वर्षा होने से उनकी शोभा जाती रहती है, जैसे वन में अग्नि लगे और वन की लक्ष्मी जाती रहे, जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र को पान कर लिया और समुद्र की शोभा जाती रही, जैसे –तेल और वाती के समाप्त हो जाने से दीपक के प्रकाश का अभाव हो जाता है, जैसे वायु के चलने से मेघ का अभाव हो जाता है, ऐसे ही ग्राम शोभा का अभाव देखा, जो कुछ पहिले शोभा थी. सब नष्ट हो गयी थी, दासियाँ रोती थीं, तब चिरकाल तक तप और ज्ञान का अभ्यास करने वाली लीला रानी की यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मुझको और देवीजी को मेरे बान्धव देखें। तब लीला के संकल्प से बान्धव लोगों ने उन्हें देखा और कहा कि जो यहाँ वनदेवी गौरी और लक्ष्मी आई हैं, इनको नमस्कार कीजिये। हे रामजी! तब उन दोनों को देखकर वसिष्ठ के बड़े पुत्र ज्येष्ठ शर्मा ने पुष्पों द्वारा दोनों का पूजन किया, और कहा– हे देवि! तुम्हारी जय हो, हे देवियों! यहाँ ब्राह्मण और ब्राह्मणी रहते थे, उनका परस्पर परम स्नेह था, मेरे माता पिता थे, अब दोनों का स्वर्गवास हो गया है, इस कारण से हम अति शोकवान् हुए हैं, हमको त्रैलोक्य शून्य भासता है, हम सब शोक में पड़े रो रहे हैं, वृक्षों पर निवास करनेवाले पक्षी भी उनकी मृत्यु के शोक में वन को छोड़कर चले गये हैं, पर्वतों की कन्दराओं से भी रोने की आवाज आती है, तरंगित नदी वेग से उछलती जा रही है, मानो वह भी रोदन कर रही है, कमलों के ऊपर जो जलकण हैं उनमें मालूम होता है कि वे भी रो रहे हैं, दिशाओं से जो उष्ण पवन आता है उससे मालूम होता है वे भी शोक से गर्म श्वास छोड़ रहे हैं हे देवियों! हम सब शोक से व्याकुल हैं, तुम

कृपा करके हमारा शोक निवृत्त करो, क्योंकि महापुरुषों का समागम निष्फल नहीं होता, और महापुरुषों के शरीर परोपकार के लिये होते हैं, हे रामजी! जब इस प्रकार ज्येष्ठ शर्मा ने कहा—तब लीला ने कृपा करके उसके सिर पर हाथ रक्खा, लीला के हाथ रखने से उसका सब ताप नष्ट हो गया, अन्तःकरण परमशान्त हुआ, और जो वहाँ के निर्धन थे वे उनके दर्शन करने से लक्ष्मीवान् हुए, उनका सब शोक दूर हो गया और चित्त में परमशान्ति प्राप्त हुई। उस समय सूखे हुए वृक्ष हरे और फलवान् हो गये, रामजी बोले—हे भगवन्! लीला का पुत्र जो ज्येष्ठ शर्मा था, उसको लीला ने मातृरूप से दर्शन क्यों नहीं दिया? इसका कारण मुझसे कहो, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में जो स्पन्द संवेदन हुआ है,वह भूतों के पिंडाकार से भासता है, वास्तव में आकाशरूप है, यह पृथ्वी आदि भूत भ्रान्ति से भासते हैं, जैसे बालक को प्रतिछाया में भ्रम से बेताल भासता है, ऐसे संवेदन के फुरने से पृथ्व्यादि भूत भासते हैं, जैसे स्वप्न में भ्रम करके पिंडकार भासते हैं और जगने पर आकाशरूप भासते हैं, ऐसे भ्रमनाश होने पर पृथ्वी आदिभूत आकाशरूप भासते हैं। जैसे स्वप्न के नगर स्वप्न में अर्थाकार भासते हैं, अग्नि जलाती है, जगने पर सब शून्य हो जाती है, ऐसे अज्ञान के निवृत्त होने पर यह जगत् आकाशरूप हो जाता है, जैसे मूर्छा में नाना प्रकार के नगर भासते हैं, जैसे परलोक जगत् भासता है, जैसे आकाश में तरवरे भासते हैं, और मुक्तमाला भासती है, जैसे नौका पर बैठे को तट के वृक्ष भासते हैं, वैसे यह जगत् भ्रम से अज्ञानी को भासता है, ज्ञानवान्को सब चिदाकाश भासता, जगत् की कोई कल्पना नहीं फुरती, अतः लीला उसको पुत्रभाव से और उनको मातृभाव से कैसे देखे उसका अहं और ममभाव नष्ट हो गया था, जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट होता है, ऐसे लीला को अज्ञान भ्रम नष्ट हो गया था, सब जगत् उसको चिदाकाश भासता था, इस कारण से आपको मातृभाव से नहीं जाना, यदि उसमें कुछ ममता होती, तब

उसको मातृभाव से देखती, परन्तु उसको यह अहं, मम, भाव न था इस कारण से मातृभाव न हुआ। न देवीभाव हुआ, न सिर पर हाथ रक्खा, और कल्पना कुछ न थी, केवल आत्मरूप जगत् उसको भासता था।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिद्धदर्शनहेतु वर्णनम् नाम षड्विंशःसर्गः ॥२६॥

सप्तविंशः सर्गः २७

जन्मान्तरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! उस पर्वत के ऊपर जो ग्राम था, उसमें वसिष्ठ ब्राह्मण का घर था, उसके अन्तःपुर से देवी और लीला दोनों अर्न्तध्यान हो गईं, तब वहाँ के लोग कहने लगे कि वनदेवियों ने हमारे ऊपर बड़ी कृपा करके दुःखनाश किया और अन्तर्ध्यान हो गईं, हे रामजी! तब दोनों आकाश में आकाशरूप हुईं परस्पर संवाद करने लगीं, जैसे स्वप्न में संवाद होता है, ऐसे उनका परस्पर संवाद हुआ, देवी ने कहा–हे लीले! जो कुछ जानना था तुमने जान लिया है क्या? और जो कुछ देखना था देख लिया है क्या? यह ब्रह्म की शक्ति है, और कुछ पूछना हो तो पूछो। लीला बोली–हे देवि! मेरा जो भर्ता है विदूरथ, उसके पास में गई, तब उसने मुझको क्यों नहीं देखा, और ज्येष्ठ शर्मा आदि ने देखा इसका कारण कहो। देवी ने कहा–हे लीले! तब तेरा द्वैत भ्रम नष्ट न हुआ था, और अभ्यास से अद्वैत को प्राप्त न हुई थी, जैसे धूप में छाया का सुख नहीं अनुभव होता, ऐसे तुझको अद्वैत का अनुभव न था, हे लीले! तब तुझे अद्वैत प्राप्त न था इसीलिये आत्मशक्ति का तुम्हें साक्षात्कार नहीं हुआ था, अतः तुम्हारा सत्संकल्प न था, अब तुम सत्संकल्प हुई हो, अब तुमने सत्संकल्प किया है, जो तुझको ज्येष्ठ शर्मा ने देखा, तभी तो देखा, अब तुम विदूरथ के पास जाओ, तब तुम्हारे साथ पूर्ववत् व्यवहार हो, लीला बोली–हे देवि! इस मण्डप आकाश में

मेरा भर्ता वसिष्ठ ब्राह्मण हुआ है, जब उसका देहान्त हुआ तब इसी लोक मण्डप आकाश में उसको पृथ्वीलोक फुर आया, वह पद्मनाम राजा हुआ, उसने चिरकाल तक चार द्वीप का राज्य किया और फिर मर गया, तब इसी मंडपाकाश में उसको जगत् भासा और पृथ्वीपति हुआ, उसका नाम विदूरथ हुआ, हे देवि! इसी मण्डपाकाश में उसका देहान्त हुआ, और अनन्त ब्रह्माण्ड इसमें स्थित हैं, जैसे–सम्पुट में सरसों के दाने अनेक हों ऐसे इस में ब्रह्माण्ड मुझको समीप ही भासते हैं, भर्ता की सृष्टि भी मुझको अब अन्तर भासती है, अब जो कुछ तुम आज्ञा करो वह मैं करूँ। देवी बोली–हे भूतल अरुन्धति! तेरे अनेक जन्म हुए हैं और अनेक ही तेरे भर्ता हुए हैं, उनमें यह जो तुम्हारे भर्ता हैं वे सब इस मण्डप में हैं, एक वसिष्ठ ब्राह्मण था, वह मर गया उसका शरीर भस्म हुआ, वह पद्मनाम का राजा बना, वह तेरे मंडप में शवरूप पड़ा है, और तीसरा भर्ता संसार मण्डप में वसुधापति हुआ है, वह संसार समुद्र में भोगरूप क़ल्लोल से उसकी चित्तवृत्ति ठिकाने पर नहीं है, वह राज्यकार्य में चतुर हुआ है, आत्मपद से विमुख है, अज्ञान से जानता है कि मैं ईश्वर हूं, मेरी आज्ञा सबके ऊपर चलती है और मैं बड़े भोगों को भोगने वाला हूं। मैं सिद्ध हूं, बलवान् हूँ, हे लीले! ऐसी संकल्प विकल्परूप जवरी के साथ बाँधा हुआ है, अब तू किस भर्ता के पास जाना चाहती है? जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ तुझको ले जाऊँ। जैसे सुगंध को वायु ले जाता है, वैसे ही मैं तुझको ले जाऊँगी। हे लीले! जिस संसार मंडल को तू समीप करती है, वह चिदाकाश की अपेक्षा समीप भासता है, और सृष्टि की अपेक्षा अनन्त कोटि योजनों का भेद है, जिनका आकाशरूप शरीर है, ऐसी अनन्त सृष्टियाँ पड़ी फुरती हैं, समुद्र और मंदराचल पर्वत आदिक अनन्त हैं, उन परमाणुओं में अनन्त सृष्टि चिदाकाश के आश्रय पड़ी फुरती है, चिदणु के आश्रित सृष्टि रुचि के अनुसार बड़े आरम्भ से द्रष्टि आती है, और बड़ी स्थूल गिरि पृथ्वी दृष्टि आती है, और विचार कर देखें तो एक चावल के समान भी नहीं होती, हे लीले! नानाप्रकार के रत्नों से युक्त पर्वत भी दृष्टि आते हैं, और आकाशरूप हैं, जैसे स्वप्न में चेतन का

किंचन नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आता है, ऐसे यह जगत् चेतन का किंचन है, पृथ्वी आदि तत्वों से उत्पन्न नहीं हुआ, हे लीले! आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है, अपने आप में स्थित है और जगत् आभास उपजता भी है, मिट भी जाता है। जैसे नदी में नाना प्रकार के तरंग उपजते भी हैं और लीन भी हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा में जगत् जाल उपजता है और नष्ट भी हो जाता है, और आत्मसत्ता इनके उपजने में और लीन होने में एकरस है। आभासरूप है, वास्तव में कुछ नहीं, लीला ने कहा–हे मातः! अब पूर्व की मुझको स्मृति हुई, मैंने पहिले राजस जन्म ब्रह्म से प्राप्त किया उससे लेकर मैंने अनेक प्रकार के आठ सौ जन्म पाये हैं, वे मुझको प्रत्यक्ष भासते हैं, सबसे प्रथम जो मेरा चिदाकाश से जन्म हुआ उससे मैं विद्याधर की स्त्री हुई हूं, उस जन्म में मेरा जो कर्म हुआ उससे मैं भूतल में आकर स्थित हुई हूं, उससे मैं दुःखी हुई और उसके बाद मुझे पक्षिणी बनना पड़ा, वहाँ जाल में फँस गयी। उसके अनन्तर भिल्लनी हुई और कदंब वन में विचरने लगी। उस जन्म के पश्चात् वन लता हुई हूँ। वहाँ वे गुच्छ ही स्तन थे, पत्र मेरे हाथ थे, वहाँ एक ऋषिवर मुझको हाथ से स्पर्श किया करता था, उसकी पर्णकुटी में लता थी, तब मर गयी और उसके घर में पुत्री हुई, वहाँ मुझसे जो काम होता था, पुरुष का ही होता था, इस कारण से मैं एक महान् लक्ष्मी सम्पन्न राजा हुई, परन्तु मुझसे वहाँ दुष्ट कर्म हुए अतः मैं वानरी हुई, मेरे अंगो में कुष्ठ हुआ और आठ वर्ष तक वहाँ रही, उसके बाद मैं बैल बनी मुझे दुष्ट मालिक ने खेती के हल में जोड़ा, उससे अति दुःख भोगकर मैं भ्रमरी बनी, कमलों पर जाकर सुगन्ध लेती थी, फिर मैं मृगी हुई, देर तक वन में विचरी, फिर मैं एक देश का राजा हुई, सौ वर्ष तक वहाँ सुख भोगा, तब कछुवे का जन्म मिला, राजहंस का जन्म पाया, इस प्रकार मेरे अनेक जन्म हुए, और कष्ट भी बहुत प्राप्त हुए। हे देवि! इत्यादि आठ सौ जन्म पाती फिरी हूँ, संसार समुद्र में वासनाओं के अरहट पर घूम रही हूँ, अब मुझे निश्चय

हुआ है कि आत्मज्ञान के बिना जन्मों का अन्त कदाचित् नहीं होता। तुम्हारी कृपा से निःसंकल्प पद को प्राप्त हुई हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जन्मान्तरवर्णनंनाम्
सप्तविंशः सर्गः ।।२७।।

अष्टविंशः सर्गः २८

गिरिग्रामवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! वज्रसार की नाईं ब्रह्माण्ड खप्पर था, अनन्त कोटि योजनों पर्यन्त उसका विस्तार था, ऐसे ब्रह्माण्ड को दोनों ने कैसे पार किया? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! वज्रसार ब्रह्माण्ड खप्पर कहाँ है और कौन गया है, न कोई वज्रसार ब्रह्माण्ड है, न कोई गया है, सब आकाशरूप है, उसी पर्वत के ग्राम में जो वसिष्ठ ब्राह्मण का घर था, उसी मंडप आकाश में मैंने सृष्टि का अनुभव किया, हे रामजी! जब वसिष्ठ ब्राह्मण मर गया, तब उसी मण्डपाकाश के कोने में मैंने अपने आपको चतुः—समुद्रवेष्टिता पृथ्वी का राजा अनुभव किया, कि मैं राजा पद्म हूँ और अंरुधती को लीला के रूप में देखा, जो कि मेरी स्त्री है, उसके बाद मैं मर गया, तब उसी आकाशमंडप में उसको और जगत् का अनुभव हुआ, उसने अपने आपको राजा विदूरथ जाना। उसको तू देख कि कहाँ गया और क्या रूप है, उसी मंडपाकाश में उसको सृष्टि का अनुभव हुआ, अतः जो सृष्टि है वह उसी वसिष्ठ के चित्त में स्थित है, तब ज्ञप्तिरूपिणी देवी की कृपा से अपने ही देहाकाश में लीला उड़ी है, वह आकाशरूप आतिवाहिक देह से उड़ी है, ब्रह्माण्ड को पार करके उसी घर में आई, जैसे कोई स्वप्न से स्वप्नान्तर को प्राप्त हो, ऐसे देख आई,

गई कहाँ और आई कहाँ? एकही स्थान में होकर एक सृष्टि से अन्य सृष्टि को देखा है, हे रामजी! इनको ब्रह्माण्ड के पार करने में कोई यत्न नहीं, क्योंकि उनका शरीर अन्तवाहक रूप है, हे रामजी! मन से पार करना होता है तब पार किया जा सकता है चाहे कितना भी दुस्तर कार्य सागर क्यों न हो, हे रामजी! जैसे स्वप्न की सृष्टि नाना प्रकार के व्यवहारों सहित बड़ी गम्भीर भासती है, और आभासमात्र है, ऐसे ही यह जगत् दीखता है, न कोई ब्रह्माण्ड है न कोई जगत् है, न कोई कुण्ड है, केवल चेतनमात्र का किञ्चन है और बना कुछ नहीं, जैसे चित्त संवेदन फुरता है, ऐसे ही आभास से भासता है, केवल वासनामात्र ही जगत् है, पृथ्वी आदि भूत कोई उत्पन्न नहीं हुआ, निरावरण ज्ञान आकाश अनन्तरूप स्थित है, जैसे स्पन्द और निस्पन्द दोनों रूप पवन ही है तैसे स्फुर अस्फुररूप आत्मा ही है, किञ्चन में भी ज्यों का त्यों है, शत्रूप, सर्वरूप है, चिदाकाश है, जब चित्त किंचन होता है तब आपही जगत्रूप भासता है, दूसरा कुछ नहीं, जिन पुरुषों ने आत्मा को जाना है उनके लिये जगत् आकाश से भी शून्य भासता है, और जिन्होंने नहीं जाना उनको जगत् वज्रसार की नाईं दृढ़ भासता है, जैसे स्वप्न में नगर भासते हैं, ऐसे यह जगत् है, जैसे मरुस्थल में जल भासता है, जैसे सुवर्ण में भूषण भासते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, हे रामजी! इस प्रकार देवी और लीला ने संकल्प से नाना प्रकार के स्थानों को देखा, झरनों से जल चल रहा है, वापियां सुन्दर तालाब तथा बगीचे देखे। मेघों का गर्जन अति मनोहर था, मानों स्वर्ग नीचे उतर आया है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गिरिग्रामवर्णनं
नाम अष्टाविंशः सर्गः ॥२८॥

एकोनत्रिंशः सर्गः २९

परमाकाश वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार देखकर दोनों ने ग्राम में निवास किया, भोग और मोक्ष दोनों का चित्त शीतल है, अर्थात् परमसन्तुष्ट चित्त है, चिरकाल के आत्माभ्यास के कारण शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये उनमें पूर्व स्मृति विद्यमान है, जो कुछ अरुन्धतीरूप में किया था, वह सब श्रीदेवीजी से कहा। हे देवि! तुम्हारी कृपा से पूर्व की स्मृति मुझमें प्रकट हुई है, जो कुछ मैंने यहाँ किया था। वह सब मेरे सामने है, यहाँ एक ब्राह्मिणी थी, उसका शरीर इतना वृद्ध हुआ था कि सब नाड़ियाँ दीखती थीं, वह अपने भर्ता को बहुत प्यारी थी, पुत्रों की माता थी, वह मैं ही हूँ। हे देवि! मैंने देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा की थी इस स्थान पर मैं दूध रखती थी, यहाँ अन्नादि के पात्र रखती थी, मेरे बेटे-बेटियाँ, जामाता, दौहित्र मेरे पास बैठा करते थे और मैं यहाँ बैठती थी और सेवकों से कहती थी कि कार्य में शीघ्रता करो, हे देवि! इस स्थान पर मैं रसोई करती थी, मेरे भर्ता घर के योग्य सब सामग्री मँगवा दिया करते थे और गृह मर्यादा की शिक्षा देते थे, ये वृक्ष मेरे लगाये हुए हैं, कुछ फल मैंने इनसे लिये थे कुछ इन पर रहे थे, वे यह हैं यहाँ मैं जलपान करती थी, हे देवि! मेरा भर्ता सब कामों में शुद्ध था, परन्तु आत्मस्वरूप से शून्य था, सब कर्मों का मुझे स्मरण आता है, यहाँ मेरा पुत्र ज्येष्ठ शर्मा गृह में रोया करता था, यहाँ मेरे हाथों की लगाई हुई लता फैली हुई है, उस पर सुन्दर फूल लगे हैं, उनके गुच्छक छत्रों के समान हैं। झरोखों पर भी बेलें छाई हैं, यह मेरा मंडपाकाश है, देवी बोली—हे लीले! यह जो शरीर है इसके नाभिकमल से दश अंगुली ऊपर अंगुष्ठ मात्र हृदयाकाश है, उसमें उसका संवित् आकाश है, उसमें जो राजसी वासना थी, उससे उसको चतुःसमुद्र

वेष्टिता पृथ्वी के राज्य का स्फुरण हुआ, कि मैं राजा हूँ, यहाँ आठ दिन मरे हुए बीते हैं और यहाँ देर से राज्य का अनुभव कर रहा है, हे देवि! इस प्रकार थोड़े ही समय में उसने इस राज्याभाव का बहुत अनुभव प्राप्त किया और हमारे ही मंडप में (शवरूपमें) पड़े हुए उसके पुर्यष्टक में जगत् फुर आया। उसमें उसने अपने आपको राजा विदूरथ माना है, इस राज्य के संकल्प से उसकी संवित् इसी मंडपाकाश में स्थित है, जैसे आकाश में गंध को लेकर पवन स्थित हो वैसे ही उसकी चेतन संवित् संकल्प को लेकर इसे मंडपाकाश में स्थित है, उस राजा की सृष्टि मुझको कोटि योजनों पर्यन्त भासती है, अनेक योजनों पर्यन्त यदि पर्वतों और मेघों को पार करती जाओ तो भर्ता के समीप पहुँच सकती हैं, चिदाकाश रूप से तो पास ही भासती है, अब व्यवहार दृष्टि से कोटि योजनों पर्यन्त है। अतः चलो जहाँ मेरा भर्ता राजा विदूरथ है, दूर है तो भी निश्चयवानों के निकट है। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार कहकर दोनों मंडपाकाश में उड़ीं। जैसे पक्षी उड़ता है ऐसे ही उड़ीं, जैसे खड्ग की धारा श्याम होती है, विष्णु जी का अंग जैसे श्याम होता है, जैसे काजर श्याम होता है, जैसे भँवरे की पीठ श्याम होती है, वैसे आकाश श्याम है, उस आकाश में अंतवाहक शरीर से उड़ीं। मेघों के स्थान पार कर गईं, महावायु का स्थान भी पार कर गईं, सूर्य चन्द्रमा को भी लाँघ गयी, ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक है उनको भी पार कर गईं, इस प्रकार दूर से दूर गयीं, वे शून्य आकाश में ऊपर जाकर नीचे की ओर देखने लगीं कि वहाँ सूर्य और चन्द्रमा आदि कोई नहीं भासता, तब लीला ने कहा—हे देवि! इतना सूर्य आदि ज्योतियों का प्रकाश कहाँ गया, यहाँ तो महाअंधकार है, ऐसा अन्धकार है मानो सृष्टि में ग्रहण हुआ है, देवी बोली—हे लीले! हम महाकाश में आईं हैं, यहाँ अन्धकार का स्थान है, सूर्य आदि कैसे भासें, जैसे अंधकूप में त्रसरेणु नहीं भासती, ऐसे यहाँ चन्द्र सूर्य नहीं भासते, हम बहुत ही ऊपर को आ गयी हैं, लीला बोली—हे देवि! बड़ा आश्चर्य है, जो हम दूर से दूरआईं हैं जहाँ सूर्यादिक

का प्रकाश नहीं भासता, इससे आगे अब कहाँ जाना है? देवी बोली—हे लीले! इसके आगे ब्रह्माण्ड का कपाट आयेगा, वह बड़ा बज्रसार है, और अनन्त कोटि योजनों पर्यन्त उसका विस्तर है, जिसकी धूल की कणिका भी इन्द्र के वज्र के समान है, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार देवी कहती थी कि आगे ब्रह्माण्ड का कपाट आया महावज्रसार और अनन्त कोटिजनों पर्यन्त उसका विस्तार देखा उसको भी पार कर गई और क्लेश कुछ न हुआ। क्योंकि जैसा जिसको निश्चय होता है, उसको ऐसा ही अनुभव होता है, निरावरण आकाशरूप जो देवियाँ हैं वे ब्रह्माण्ड कपाट को लाँघ गईं, उससे आगे दशगुणा जल का आवरण है, उससे परे दशगुण अग्नितत्व है, उससे परे दशगुण वायु है, उससे आगे दशगुण आकाश है, उससे आगे परम आकाश है, उसका आदि, मध्य, अन्त कोई नहीं, जैसे वंध्या पुत्र की कथा चेष्टा का अन्त आदि कोई नहीं, ऐसे परम आकाश है, आकाश का आदि कोई नहीं, नित्य शुद्ध अनन्तरूप है, अपने आप में स्थित है, उसका अन्त लेने को सदाशिव मनरूप वेग से कल्प पर्यन्त धावे तो भी उसका अन्त न पावे और पवन का अन्त लेने को चाहे तो न पावे आदि मध्य अन्त कलना से रहित बोधमात्र है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे परमाकाशवर्णनं
नाम एकोनत्रिंशतमः सर्गः ।।२९।।

त्रिंशत्तमः सर्गः ३०

विचित्रब्रह्माण्डकोटिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब पृथ्वी जल अनल आदि के आवरणों को लाँघ गई, तब उनको परमाणु से रहित आकाश भासा, उसमें ब्रह्माण्ड धूल के कण समान भासित हुआ, जैसे सूर्य की किरणों मे त्रसरेणु भासते हैं, वह महाशून्य को धारण करने वाला परम आकाश है और अपकण चिद्‌अणु सृष्टि जिसमें फुरती है ऐसा महासमुद्र है, कोई अधः को

जाता है, कोई उसमें उर्ध्व को जाता है, कोई तिर्यक् गति को जाती है, हे रामजी! चित् संवित में जैसा स्पंद फुरता है, ऐसा आकार हो भासता है, वास्तव में न कोई अधः है, न कोई ऊर्ध्व है, न कोई आता है, न कोई जाता है, केवल ज्यों की त्यों आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, फुरणे से जगत् भासता है, उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है, जैसे बालक का संकल्प जो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, ऐसे चेतन संवित् में जगत् फुरकर नष्ट हो जाता है। रामजी बोले–हे भगवन्! अधः क्या होता है और उर्ध्व क्या होता है? और तिर्यक् क्या भासता है? और यहाँ क्या स्थित है? यह मुझसे कहो, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! परमाकाश सत्ता आवरण से रहित है, शुद्ध बोधरूप है, उसमें जगत् ऐसे भासता है जैसे आकाश में भ्रान्ति से तरवरे भासते हैं, इसमें अधः और ऊर्ध्व कल्पना मात्र है। हे रामजी! यह जगत् आत्मा का आभास रूप है, जैसे मन्दराचल के ऊपर हस्तियों के समूह विचरते हैं, ऐसे आत्मा में अनेक जगत् फुरते हैं, जैसे मंदराचल के आगे हस्ती हो, ऐसे ब्रह्म के आगे जगत् है और वास्तव से सब ब्रह्मरूप है, कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह जगत् ब्रह्म समुद्र के तरंग हैं। उन जगत् ब्रह्माण्डों को देवियों ने देखा कि कई सृष्टियाँ उत्पन्न हो रहीं हैं और कई प्रलय हो रही हैं, कई अभी उत्पन्न होना आरंभ हुई हैं, जैसे नूतन अंकुर निकलता है, ऐसे उत्पन्न होने लगी हैं, कहीं जल ही जल है, कहीं कुछ भी नहीं, कहीं अन्धकार ही है प्रकाश कुछ नहीं, कहीं सर्व व्यवहार संयुक्त है, कहीं अपूर्व वेदशास्त्र के कर्म हो रहे हैं, कहीं सबके आदि ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रची जा रही है, कहीं विष्णु कहीं शिव द्वारा पालन संहारादि कार्य हो रहे हैं। कहीं प्रजापति द्वारा जीव उत्पन्न होते हैं, कहीं ऐसे लोग भी हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते, अनीश्वरवादी हैं कहीं तिर्यक् जीव ही रहते हैं, कहीं देवता रहते हैं, कहीं मनुष्य ही रहते हैं, कहीं बड़े आरम्भ से सम्पन्न हैं, कहीं शून्य रूप हैं, हे रामजी! इस प्रकार अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती हुई चिदाकाश में देखी उन

सृष्टियों की संख्या करने में कोई समर्थ नहीं। वे सृष्टियाँ चिदात्मा के आभासरूप फुरती हैं। स्फुरण (फुरणा) के अनुसार फुरती हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विचित्रब्रह्माण्ड
कोटिवर्णननाम त्रिंशत्तमः सर्गः ।।३०।।

एकत्रिंशत्तमः सर्गः ३१

युद्धप्रेक्षकस्थिताम्बरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार दोनों देवियाँ उड़कर राजा के जगत् में आईं, जैसे सोया हुआ जगकर देखता है ऐसे उन्होंने अपने मंडप स्थानों को देखा और मंडप में प्रवेश किया, वहाँ जाकर देखा कि फूलों से ढँका हुआ राजा का शव पड़ा है, आधीरात का समय है, सब लोग घर में सोये पड़े हैं और राजा पद्म के शव के पास लीला का शरीर पड़ा है, अन्तःपुर में धूप चन्दन कपूर अगर की सुगन्ध भर रही है, तब विचार करने लगी कि वहाँ चलें जहाँ राजा राज्य करता हैं, तब उस भर्ता की जो पुर्यष्टक थी, जिसमें विदूरथ का अनुभव हुआ था, उस संकल्प के अनुसार विदूरथ की सृष्टि देखने को देवी के साथ चली, अन्तवाहक शरीर के साथ आकाश मार्ग को उड़ी, जाते जाते ब्रह्माण्ड की बाट को लाँघ गयी, तब विदूरथ के संकल्प में जगत् देखने लगीं, जैसे तालाब में शैवाल होता है, इस प्रकार जगत् को देखा, सप्तद्वीप देखे, नवखण्ड देखे, सुमेरु आदि पर्वत देखे, समुद्र द्वीपादिक सब रचना देखी, उसमें जम्बूद्वीप का भरतखण्ड देखा, उसमें विदूरथ राजा का मंडपास्थान देखा। वहाँ राजा सिद्ध को देखा। विदूरथ राजा की पृथ्वी की हद्द उसके भाइयों ने दबाई थी, उसके निमित्त सेना को भेजा, राजा विदूरथ ने भी सुनकर सेना भेजी। दोनों सेनाएँ मिलकर युद्ध करने लगीं, और त्रिलोकी युद्ध का कौतुक देखने को आई है, देवता विमानों पर आरूढ़ होकर देखने

लगे हैं। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, स्थान को छोड़कर देखने को स्थित हुए, और विद्याधरियाँ अप्सरायें आन स्थित हुई हैं, जो शूरवीर युद्ध में प्राण त्यागेंगे, उनको हम स्वर्ग में ले जायेंगी, इस विचार से विद्याधरियाँ आई हैं। रक्त मांस भोजन करने को भूत राक्षस पिशाच योगिनियाँ आकर स्थित हुई हैं। हे रामजी! जो वीर पुरुष हैं वे तो स्वर्ग के भूषण हैं, वे लोग अक्षय स्वर्ग भोगते हैं जिनका मरण धर्म का पक्ष लेकर युद्ध करते हुए संग्राम भूमि में होगा, वही स्वर्ग के अधिकारी हैं, रामजी ने कहा– हे भगवन्! शूर किसको कहते हैं, और जिनको युद्ध करते हुए भी स्वर्ग नहीं मिलता वे कौन हैं, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जो शास्त्रोक्त युद्ध नहीं करते, अनर्थ रूपी अर्थ के निमित्त युद्ध करते हैं वे नरकगामी होते हैं, और जो पुरुष धर्म के निमित्त युद्ध करते हैं वही शूर हैं, स्वर्ग के अधिकारी भी वही हैं। जो लोग गोरक्षा के लिये युद्ध करते है, ब्राह्मण के लिये, मित्र के लिये, शरणागत के लिय युद्ध करते हैं उनको मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और वे स्वर्ग के भूषण हैं। जो लोग राज्यपालन के लिये युद्ध करते हैं वे भी मर कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं, उनका यश स्वर्ग में बहुत होता है, धर्म के लिये युद्ध करनेवाले तो सबसे उत्तम स्वर्ग के अधिकारी हैं। अधर्म का पक्ष लेकर लड़नेवाले नरकगामी होते हैं, हे रामजी! जो पुरुष कहते हैं संग्राम में मरे सब स्वर्ग को जाते हैं वे मूर्ख हैं, स्वर्ग को वही जाते हैं, जिनका मरना धर्म के अर्थ हुआ है, और जो किसी भोग के लिये युद्ध करते हैं, वे नरकगामी हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने युद्धप्रेक्षकस्थिताम्बमवर्णनं
नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमः सर्गः ३२

आहवारम्भवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! तब दोनों देवियों ने उस संग्राम को इस रूप में देखा कि महाशून्य वन है उसमें दोनों सेनाएं जुटी हैं, जैसे दो बड़े समुद्र उछलकर परस्पर मिलने लगें, ऐसे ही सेनाएं मिलीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने आहवारम्भवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमः सर्गः ।।३२।।

त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ३३

सेनयोः प्रथमपातवर्णनम् ।

संकल्प द्वारा विमानों की विमान रचना करके उस पर सवार होकर दोनों विमानों को आकाश में स्थित कर देखने लगीं कि योद्धा लोग आकर स्थित हो रहे हैं, मत्स्यव्यूह, गरुडव्यूह, चक्रव्यूह आदि से सेना को भिन्न-भिन्न स्थानों पर खड़ा करके सेनापति युद्धारंभ करने लगे। दोनों ओर की सेनाओं के वीर योद्धा अपनी-अपनी धनुर्विद्या की मानो आज परीक्षा देने को यहां आये हैं। युद्धारम्भ का बाजा बजाया गया और युद्ध होने लगा, प्रत्येक योधा अपने प्रतिपक्षी को कहता है कि प्रथम तुम शस्त्रसंपात करो, दूसरा कहता है तुम करो। इस प्रकार घोर शस्त्रवर्षा होने लगी, कहीं तलवार का युद्ध था तो कहीं कुल्हाड़े ही रुण्डों से मुंड उतार रहे थे। त्रिशूल, भाले, बरछियाँ, कटारी, छुरी, गदा आदि अतिशित शस्त्र वेग से चलने लगे, जैसे—वर्षा काल में मेघ वर्षा करते हैं, ऐसे शस्त्रों की वर्षा होने लगी, योधा लोग बड़े भयंकर शब्द करते थे। हे रामजी! प्रलय काल के सब उपद्रव इकट्ठे हो गये, योद्धालोग तो जानबूझकर युद्ध की ओर आते थे, परन्तु भीरु भागते थे, ऐसा घोर संग्राम हुआ कि जिन योद्धाओं के सिर काटे गये, उनके हाथी घोड़े भी

मारे गये, कमल फूलों के समान हाथी घोड़ों के सिर काटे जाते थे, दोनों सेनाओं के राजाओं को इस घोर संहार का दयनीय दृश्य देखकर दुःख हुआ। हे रामजी! ऐसा युद्ध हुआ कि रुधिर की नदी बह चली, उसमें बड़े शब्द करते हुए प्राणी बहते चले जाते थे, जिनको देखकर निष्ठुर हृदय मनुष्य का मन भी दया से द्रवित हो जाता था।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने सेनयोः प्रथमपातवर्णनं
नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमः सर्गः ३४

रणप्रेक्षवर्णनम् ।

हे रामजी! दोनों देवियाँ संकल्प के विमान कल्पितकर आकाश में स्थित हुईं। उन्होंने देखा कि जैसे महाप्रलय में समुद्र एकरूप हो जाते हैं इस प्रकार का सेना समूह एकत्र हुआ है, शस्त्रों की चमचमाहट से मालूम होता है, कि सांवर्तक मेघों में बिजली चमक रही है, घोर संग्राम हो रहा है, वीरों की रक्तबूँदें जो पृथ्वी पर पड़ती हैं उनमें जितने मिट्टी के कण लगते हैं उतने वर्षों तक उस वीर को स्वर्ग में वास मिलता है, जो वीर पुरुष युद्ध में प्राण त्यागें, उनको विद्याधारियाँ स्वर्ग को ले जाती हैं और देवगण स्तुति करते हैं, कि इस वीर ने बड़ी विशेष विजय पाई है, इसको अक्षय स्वर्ग मिलेगा। हे रामजी! वीर पुरुष स्वर्गलोक के भोगों का मन में विचार कर अति आनन्दित होते हैं, और नाना प्रकार के शस्त्र चलाकर अपनी रण चातुरी तथा बहादुरी दिखलाते हैं। और बारम्बार संग्राम भूमि में सम्मुख खड़े होकर धैर्य के साथ पुनः लड़ते हैं, उनका समस्त शरीर चूर्णित हो जाने पर भी वे पीठ दिखाना नहीं सीखे, प्रत्येक वीर इतना ओजस्वी है कि अपने से कई गुणा अधिक बड़े शरीर वाले प्रतिपक्षी के साथ भी जूझने से नहीं झिझकता, और फिर यह भी देखा

गया है कि विजय भी उसी धैर्यशाली की होती है; क्योंकि चारित्र बल शरीर बल से कहीं अधिक है, किसी कवि ने सच कहा है—"तेजो यस्य विराजते से बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः" घमासान युद्ध हुआ। वीरों से वीर तो लड़ ही रहे थे, हाथियों का परस्पर बड़ा भयकंर युद्ध हुआ, बड़े ऊँचे शब्द करके हाथी एक दूसरे पर प्रहार करते थे, इस प्रकार दशों दिशायें युद्ध से पूर्ण हो गयीं

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने रणप्रेक्षणवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशतमः सर्गः ।।३५।।

पञ्चत्रिंशत्तमः सर्गः ३५

(जनपद) द्वन्द्वयुद्ध वर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जब इस प्रकार महान् युद्ध हुआ कि वीरों के रुधिर का प्रवाह चला, जैसे गङ्गा का प्रवाह तीक्ष्ण चलता है, ऐसा प्रवाह चला उस प्रवाह में हाथी घोड़े मनुष्य रथ सब बहे जाते थे, क्योंकि इतनी भारी असंख्य सेनाओं के नाश का पता उस रुधिर प्रवाह से ही चलता था, हे रामजी! इस महानाश को देखकर सबके मन में बड़ा क्षोभ उपजा कि यह युद्ध हो रहा है अथवा सृष्टि समाप्ति के लिये महा प्रलय होने लगा है, तामसी जीवों भूतों प्रेतों पिशाचों राक्षसों को तो आनन्द हो गया, मांस और रुधिर का मनोभिलषित और तृप्तिपूर्वक भोजन होने लगा, जैसे मंदराचल से क्षीरसागर को क्षोभ हुआ था, ऐसे ही संग्राम में योद्धाओं को क्षोभ हुआ, रुधिर का समुद्र तरंगें ले रहा है, हे रामजी! प्रलय काल की अग्नि में जीव पड़े जलते हैं, इसी प्रकार उस घोर रणानल में योद्धा लोग आहुति रूप हो रहे थे, जैसे दीपक में पतंग प्रवेश करता है, जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं, ऐसे ही रणभूमि में दशों दिशाओं के योद्धा कूद रहे थे। युद्ध करते हुए योद्धाओं का दृश्य भी अति विचित्र भयंकर था। किसी की एक भुजा कट गयी तो क्या! एक ही से ऐसा भीषण युद्ध कर रहा है कि दो भुजाओंवाले उसके एक हाथ से

मारे जा रहे हैं, किसी का सिर कट गया है परन्तु उसका धड़ ही युद्ध कर रहा है, मरे हुए योद्धाओं तथा घोड़ों हाथियों से पृथ्वी भरी पड़ी है। टूटे हुए रथों और मरे हुए रथियों–सारथियों के शव युद्ध की भयंकरता का परिचय दे रहे हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने जनपदयुद्धवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमः सर्गः ।।३५।।

षट्त्रिंशत्तमः सर्गः ३६

सहायकागमनवर्णनम् ।

हे रामजी! दोनों राज्यों की सहायता के निमित्त अनेक राजा आये था, काशी मदरास देश के, मीला देश के, मालव देश के, सकला देश के, कवटा देश के, किरात देश के, म्लेच्छ देश के आये थे, जिनके अनुसार मर्यादा नहीं, वे मलेच्छ हैं, पारसवाले काश्मीर देश के आये, तुरकदेश के पञ्जाब हिमालय पर्वत सुमेरू पर्वत इत्यादि अनेक देशपाल आये, जिनके बड़े भुजदंड हैं लम्बे केश हैं, भयानकरूप हैं, सब युद्ध करने के लिये आये हैं, ऐसी मूर्तियों वाले आये कि जिनकी बड़ी ग्रीवा थी, घोड़े के मुखवाले और श्वान के मुखवाले थे। एकटंगे पर्वत से आये और एकाचल से एकाक्ष आये स्त्री राज्य से आये सुमेरु कैलास के राजा आये जितने भी पृथ्वी के राजा थे, वे सब ही आये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलापाख्याने सहायकागमनवर्णनं
नाम षट् त्रिंशत्तमः सर्गः ।।३६।।

सप्तत्रिंशत्तमः सर्गः ३७

जनपदयुद्धवर्णनम् ।

हे रामजी! जैसे महाप्रलय के समुद्र उछलते हैं, और दिशास्थान जल से पूर्ण हो, ऐसे सेना से सब स्थान पूर्ण हो गये, दोनों ओर से युद्ध होने

लगा, चक्रपाणि के साथ चक्रपाणि और खड्गधारी से खड्गधारी और कुल्हाड़े, त्रिशूल, छुरी, कटारी, बरछी, गदा, बाण आदि शस्त्रों में परस्पर युद्ध होने लगा, सभी योद्धा अहमहमिका से आगे दौड़ रहे थे। हे रामजी! उस समय का वह अत्यन्त भीषण युद्ध वर्णनातीत था, दौड़-दौड़कर योद्धा मृत्यु के मुख में धँस रहे थे। मानों धधकती हुई उस प्रचंड मृत्यु यज्ञाग्नि में घृत की आहुतियाँ पड़ रही थीं। युद्ध क्या था भयंकर प्रलयकाल था, रुधिर का समुद्र तरंगें ले रहा था,उसमें हाथी, घोड़े, रथ, मनुष्य, सामान्य तिनके की तरह बहते चले आ रहे थे, समस्त पृथ्वी रक्तमय हो रही थी। हे रामजी! उस वर्णनातीत भीषण युद्ध का सहस्रमुख शेषनाग भी वर्णन करना चाहें तो न कर सकेंगे, और किसी की क्या सामर्थ्य है? मैंने आपको संक्षेप से सुनाया है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने जनपदयुद्धवर्णनं नामसप्तत्रिंशत्तमः सर्गः ।।३७।।

अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः ३८

युद्धनिवृत्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—जब इस प्रकार युद्ध हुआ, तब सूर्य अस्त हुआ, मानो उसकी किरणें भी शस्त्रों के प्रहार से अस्त हो रही हैं, तब विदूरथ सेनापति ने मंत्रियों को बुलाकर कहा—कि अब युद्ध शान्त करो, सूर्यास्त हो गया, और योद्धालोग युद्ध से थक भी गये हैं। अतः रात्रिभर विश्राम करके प्रातः पुनः युद्ध करेंगे। अतः युद्ध बन्द करने की सूचना दे दो। तब मंत्री ने दोनों सेनाओं के मध्य में ऊँचे स्थान पर चढ़कर एक वस्त्र (झंडी) घुमाया, तदनुसार दोनों सेनाओं ने युद्ध का त्याग किया और अपनी—२ सेना में नौबत नक्कारे बजवाने लगे। राजा विदूरथ भी अपने घर में आया संग्राम का काम कुछ समय के लिये शांत हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने युद्धनिवृत्तिवर्णनं नामाष्टत्रिंशत्तमः सर्गः ।।३८।।

एकोनचत्वारिंशत्तमः सर्गः ३९

निशाचराकुलरात्रिरणांगणवर्णनम् ।

जैसे शरत्काल में मेघों से रहित आकाश निर्मल होता है, ऐसे ही रण शान्त हुआ। तब रात देखकर राक्षस, पिशाच, गीदड़, घबाड़ और डाकिनी आदि मांस भोजन तथा रुधिर पान करने आये, उन्हें देखकर संग्राम भूमि में पड़े हुए अर्धजीवित लोग जिनमें किसी का पाँव कटा है, किसी का हाथ, किसी की टाँग, किसी की भुजा, डरने लगे। पिशाच राक्षसादि सब लोग मांस भोजन और रुधिर पान करने लगे। और कई लोगों ने वहाँ अपने भाई मित्रों को देखा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने निशाचरकुलरात्रिरणांगणवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥३९॥

चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४०

स्मृत्यनुभववर्णनम् ।

हे रामजी! तब विदूरथ राजा स्वर्ण मन्दिर में सुन्दर शय्या के ऊपर विश्राम करने लगा। उसकी वह पुष्पशय्या चन्द्रमासम शीतल और अतिः सुन्दर थी, उस पर राजा सब द्वार बंद करके सो गये थे, सोने से पहिले राजा ने मंत्रियों से यह बात कह दी थी कि प्रातःकाल उठते ही दरबार होगा। ऐसा कहकर राजा ने शयन किया, एक मुहूर्त पर्यन्त सो कर जगे उस समय दोनों देवियों ने आकाश से उतर कर घर में सूक्ष्मरूप से प्रवेश किया, जैसे सन्ध्याकाल में कमलों के मुख मुँद जाते हैं, उनमें वायु प्रवेश करता है, ऐसे ही मंदिरों में सूक्ष्म परमाणुओं के मार्ग से प्रवेश किया। रामजी ने कहा—हे भगवन्! देवियों ने परमाणुओं के रंध्रों में शरीरों सहित कैसे प्रवेश किया, वह तो कमल के तन्तु से भी सूक्ष्म होते

हैं, बाल के अग्र भाग से भी सूक्ष्म होते हैं, उस मार्ग में से प्रवेश कैसे किया? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! आधिभौतिक शरीर से तो प्रवेश नहीं हो सकता, परन्तु मानस शरीर से प्रवेश करने को कोई रोक भी नहीं सकता। हे रामजी! देवी और लीला का अन्तवाहक शरीर था, अतः सूक्ष्म परमाणु के मार्ग से प्रवेश करने में उनको कोई रोक न थी, यदि उनका आधिभौतिक शरीर होता तब तो रुकावट होनी ही थी। हे रामजी! और भी सब शरीर चित्तरूपी हैं, और जैसा निश्चय अनुभव संवित् में होता है ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं होती, जिसके निश्चय में यह शरीरादिक आकाशरूप है, उसको आधिभौतिकता का अनुभव नहीं होता, और जिसके निश्चय में आदिभौतिकता दृढ़ हो रही है, उसको अन्तवाहक का अनुभव नहीं होता, जिस पुरुष को पूर्वार्ध का अनुभव नहीं उसका उत्तरार्ध में गमन नहीं होता, जैसे वायु का चलना ऊर्ध्व को नहीं होता, तिरछा स्पर्श होता है, और अग्नि का चलना अधः को नहीं होता, जल का ऊर्ध्व नहीं होता। जैसे आदि चेतना संवित् में प्रवृत्ति हुई है, ऐसे अब तक स्थित है, इसलिये जिसमें अन्तवाहक शक्ति उदय हुई है, उसमें आधिभौतिकता नहीं रहती, और जिसको आधिभौतिकता दृढ़ है, उसमें अन्तवाहक शक्ति उदय नहीं होती। हे रामजी! जो पुरुष छाया में बैठा हो, उसको धूप का अनुभव नहीं होता, और जो धूप में बैठा हो उसको छाया का अनुभव नहीं होता, अनुभव उसको होता है जिसके चित्त में दृढ़ता होती है, अन्यथा नहीं होता। हे रामजी! जैसा प्रमाण चित्संवित् में होता है, जब तक और प्रतीत नहीं होती तब तक उसी के अनुसार सिद्धता होती है। जैसे जेवरी में सर्प भासता है, तो भय से काँप उठता है, वह काँपता भी तब तक है जब तक सर्प का अनुभव अन्यथा नहीं होता, जब जेवरी का अनुभव उदय हुआ तब सर्प का भ्रम नष्ट होता है, ऐसे ही जैसा अनुभव चित्तसंवित् में दृढ़ प्रमाण होता है, उसका अनुभव होता है, इस बात को बालक भी जानता है, जैसी जैसी चित्त की भावना होती है, ऐसा ही रूप

भासता है, निश्चय और हो और अनुभव और प्रकार काहो, ऐसा कदाचित् नहीं होता। हे रामजी! जिनको यह आकार स्वप्न संकल्पपुर की नाईं हुए हैं वे आकाशरूप हैं, जिनको ऐसा निश्चय हो, उनको कोई रोक नहीं सकता, औरों का भी चित्तमात्र शरीर है, और जैसा जैसा संवेदन दृढ़ हुआ है, ऐसा ऐसा आपको जानता है। हे रामजी! आदि सर्ग आत्मा से स्वाभाविक उपजा है, वह आकाशरूप है, पीछे से प्रमाद के कारण द्वैतकार्य अकारणरूप होकर स्थित हुआ है, हे रामजी! आकाश तीन हैं, एक चिदाकाश है, एक चित्ताकाश है, एक भूताकाश है, उनमें वास्तव एक चिदाकाश है, और भावना द्वारा भिन्न भिन्न कलना हुई है, आदि शुद्ध चिदाकाश अचेतन चिन्मात्र में जो संवेदन फुरा है, उसका नाम चित्ताकाश है, उसमें यह सम्पूर्ण जगत् हुआ है। हे रामजी! चित्तरूपी जो शरीर है, वह सर्वगत होकर स्थिर स्थित हुआ है, जैसा जैसा उसमें स्पंद होता है, वैसा-वैसा होकर भासता है, जितने भी सब पदार्थ हैं उन सबमें व्याप रहा है, त्रसरेणु के अन्दर भी सूक्ष्मभाव से स्थित है। आकाश के भीतर भी व्याप रहा है, जल में तरङ्ग होकर स्थित हुआ है, और शैलों (पर्वतों) के अन्तर भी वही फुरता है, मेघ होकर वही बरसता है, और जल से बर्फ भी चित्त ही होता है, अनन्त आकाश भी वही है, परमाणुरूप वही है, अन्दर बाहिर सर्व जगत् में यह है, जितना कुछ जगत् है वह चित्तरूप ही है, और वास्तव में आत्मा के साथ अनन्यरूप है, जैसे समुद्र और तरंग में कुछ भेद नहीं, वैसे आत्मा और चित्त में कुछ भेद नहीं, जिस पुरुष को ऐसे अखण्ड सत्तारूप आत्मा का अनुभव हुआ है, और सर्ग के आदि में चित्त ही जिसका शरीर है, आधिभौतिकता को प्राप्त नहीं हुआ वह महाकाशरूप है, जिनको पूर्व का स्वभाव स्मरण में रहा है, इस कारण से उनका अन्तवाहक शरीर है, हे रामजी! जिस पुरुष को अन्तवाहक में अहं प्रत्यय है, उसको सब जगत् संकल्प मात्र हो भासता है, जहाँ जाने की इच्छा वह करता है, वहाँ जाता है, कोई आवरण उसको रोक नहीं सकता, ओर जिसको आधिभौतिकता में निश्चय है, उसमें

अन्तवाहक शक्ति नहीं होती, हे रामजी! सब ही अन्तवाहक रूप हैं, भ्रम से आधिभौतिकता भासती है, जैसे मरुस्थल में जल भासता है, जैसे स्वप्न में वंध्या के पुत्र सद्भाव होता है, ऐसे ही आधिभौतिक जगत् भासता है, जैसे जल शीतलता के कारण बर्फरूप हो जाता है, इसी प्रकार जीव प्रमाद द्वारा अन्तवाहकता से आधिभौतिक शरीरी हो जाता है, रामजी बोले—हे भगवन्! चित्त में क्या है कैसे होता है, और कैसे नहीं होता, और यह जगत् चित्तरूप कैसे है, और क्षण में अन्यथा कैसे हो जाता है? वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! प्रत्येक जीव में चित्त होता है, जैसा—२ चित्त है, ऐसी ऐसी शक्ति है, और चित्त में जगत् भ्रम होता है, किसी को निमेष कल्प में हो आता है और किसी को भ्रम से भासता है क्षण में कल्प और सम्पूर्ण जगत् उदय हो आता है और क्षण में संपूर्ण लय होता है, उसके विषय में तुम श्रवण करो—हे रामजी! जब मरने की मूर्छा होती है, उस महाप्रलयरूप मृत्यु मूर्छा के अनन्तर नाना प्रकार का जगत् इसको फुर आता है, जैसे स्वप्न में सृष्टि फुरती है, जैसे संकल्प का पुर भासता है, ऐसे ही मृत्यु मूर्छा के अनंतर सृष्टि भासती है, जैसे महाप्रलय के अनन्तर आदि विराटरूप ब्रह्मा होता है, ऐसे मृत्यु के अनन्तर इसको अनुभव होता है, यह भी विराट्रूप होता है, क्योंकि इसका मनरूप शरीर होता है, रामजी बोले—हे भगवन्! मृत्यु के अनन्तर जो सृष्टि होती है वह स्मृति से होती है, स्मृति के बिना नहीं होती, जब मृत्यु के अनन्तर जो सृष्टि हुई सकारणरूप हुई, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब महाप्रलय होता है, तब हरि हरादिक सब विदेह मुक्त होते हैं, फिर स्मृति का संभव कैसे हो? अस्मदादि जो बोध आत्मा हैं जब विदेह मुक्त हुए तब स्मृति संभव कैसे हो, और अब के जो जीव हैं, उनका जन्ममरण स्मृति कारण से ही होता है, क्योंकि मोक्ष नहीं होता, मोक्ष का उसको अभाव है, हे रामजी! जब यह जीव मरते हैं, तब मृत्यु मूर्छा होती है, और कैवल्य भाव में स्थित नहीं होते, मूर्छा इसका संवित् आकाशरूप होता है, उससे बहुत चित्त संवेदन फुर आता है, तप क्रम से जगत् फुर आता है, जब बोध है तब

तन्मात्रा और काल, क्रिया, भाव, अभाव स्थावर जंगम जगत् सब आकाशरूप हो जाता है, जिसका संवेदन दृश्य की ओर दौड़ता है उसको अज्ञानजन्य मृत्यु मूर्छा के अनन्तर संवेदन फुरता है, उससे शरीर इन्द्रिय भास आते हैं, शरीर अन्तवाहक है परंतु चिरन्तन प्राप्ति से आधिभौतिक हो भासता है, तब इसकी देश काल क्रिया, आधार आधेय उदय होकर स्थित होता है, जैसे वायुस्पन्द निस्पन्द रूप है जब स्पंद होता है तब भासता है निस्पन्द होने पर नहीं भासता, ऐसे संवेदन से जगत् भासता है, तब जानता है कि मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ, जैसे स्वप्न–अंगना का स्वप्न में स्पर्श का अनुभव होता है तो भी मिथ्या है, इसी प्रकार भ्रम से अपने आपको उत्पन्न हुआ मानता है तो भी मिथ्या है, हे रामजी! जहाँ यह जीव मरता है, वहाँ ही जगद् भ्रम देखता है और वास्तव में जीव भी आकाशरूप है और जगत् भी आकाशरूप है और अज्ञान से अपने आपको उत्पन्न हुआ मानता है और आगे जगद् भ्रम देखता है, यह नगर है, यह पर्वत है, ये सूर्य चन्द्रमा हैं, ये तारागण हैं और जरा, मरण, आधि व्याधि संकटों से व्याकुल होता है, भाव, अभाव, भय, अभय, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर, पृथ्वी, नदियाँ, पर्वत, भूत, भविष्य, वर्तमान, क्षय, अक्षय भूमिको देखता है, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मैं अमुक का पुत्र हूँ, यह मेरा कुल है, यह मेरी माता है, यह मेरे बाँधव हैं, इतना धन मुझे मिला है, इत्यादि वासना जालों में दुःखी होता है और कहता है यह सुकृत है, यह देहाकृति है, मैं पहिले बालक था, अब मेरी यह अवस्था हुई है, यह मेरा वर्ण है, इत्यादि जगत्कल्पना प्रत्येक जीवको उदय होती है, हे रामजी, संसाररूप एक वृक्ष उदय हुआ है, चित्तरूप बीज है तारागण इसके फूल हैं और मेघ चंचल पत्र हैं और जंगम जीव, मनुष्य देवता दैत्य आदिक पक्षी बैठने वाले हैं और रात्रि उस पर धूल है और समुद्र उसका तालाब है और पर्वत उसमें सिलवटें हैं, अनुभवरूप अंकुर है, जहाँ यह जीव मरता है, वहाँ क्षण में देखते हैं, इस प्रकार एक एक को अनेक जगत् भासते हैं। हे रामजी! कई कोटि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, पवन, सूर्य आदि हुए हैं, जहाँ सृष्टि है, वहाँ ये होते हैं, अतः चित् अणु द्वीप लोग भी बहुत हुए

हैं। जैसे पर्वत की कंदरा में शिल्पी पुतलियाँ कल्पे तो कुछ है नहीं, ऐसे ही जगत् चिदाकाश में नहीं, मनन मात्र ही है, हे रामजी! मनन और स्मरण भी चिदाकाशरूप है और चिदाकाश में मनन और स्मरण है, जैसे तरंग भी जलरूप है और जल ही में तरंग होते हैं, जल से इतर तरंग कुछ वस्तु नहीं, ऐसे मनन स्मरण भी चिदाकाशरूप जानिये, हे रामजी! दृश्य कुछ भिन्न वस्तु नहीं, द्रष्टा ही दृश्यकी नाईं होकर भासता है, जैसे यह मन आकाश नाना प्रकार हो भासता है, वैसे चिदाकाश का प्रकाश नाना प्रकार जगत् होकर भासता है, यह विश्व सब चिदाकाशरूप है, हमको तो ऐसे भासता है, तुमको यह जगत् अर्थाकार भासता है, इसी कारण से कहा है कि लीला और सरस्वती आकाशरूप थी और सर्वज्ञ थी। स्वच्छरूप निराकार थी जहाँ चाहे वहाँ जा पहुँचती थी, जैसी इच्छा करे वैसी सिद्धि होती है, क्योंकि जिसको चिदाकाश का अनुभव हुआ है, उसको कोई रोक नहीं सकता, सर्वरूप होकर जो स्थित हुआ उसे गृह में प्रवेश का क्या आश्चर्य! वह अन्तवाहक रूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
स्मृत्यनुभव वर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमः सर्गः।।४०।।

एक चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४१

भ्रान्तिविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी, जब चन्द्रमा के समान प्रकाशमान दोनों देवियाँ जिनसे पवन द्वारा फैलाई हुई कल्पवृक्षों की सुगन्ध आ रही है, राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करके संकल्प के सिंहासन पर चढ़कर स्थित हुईं तब अन्तःपुर में अत्यन्त प्रकाश हुआ और उनकी सात्त्विक शीतल सत्ता से त्रिविध ताप शान्त हो गया, अन्तःपुर की नन्दन वन के समान शोभा हुई, जैसे प्रातःकाल में सूर्य का प्रकाश होता है, ऐसे देवियों के प्रकाश से अन्तःपुर पूर्ण हुआ, मानों देवियों के प्रकाश से राजा के ऊपर

अमृत सिंचन किया गया है, तब राजा ने देखा कि मानों सुमेरु के श्रृंग से दो चन्द्रमा उदय हुए हैं, इस प्रकार का अत्यद्भुत प्रकाशमय दृश्य देखकर राजा परम विस्मित हुआ और विचार करने लगा कि यह देवियाँ हैं, शय्या से उठ खड़ा हुआ, जैसे शेषनाग की शय्या से विष्णु भगवान् उठते हैं ऐसे उठकर वस्त्र को एक ओर कर हाथों में पुष्प लिये, और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए देवियों के चरणों पर चढ़ाये और मस्तक झुकाया, पद्मासन बाँधकर जमीन पर बैठ गया और कहने लगा—हे देवियो! आपकी जय हो, त्रिविध ताप संतप्त को शान्तिप्रदान करने वाली आप साक्षात् चन्द्रमा हो, तुम्हारे दिव्य दर्शन से मनुष्य के अन्दर का अन्धकार भी नष्ट होता है, अतः अपूर्व सूर्य हो, राजा ने जब इस प्रकार उनकी पूजा प्रार्थना स्तुति आदि की, तब राजा के पास सोये हुए मंत्रियों को भी उनके भाग्य ने जगा दिया, अतः उन्होंने भी विधिपूर्वक देवियों की गन्ध पुष्पादि से पूजा तथा प्रार्थना स्तुति की और राजा के पास ही बैठ गये, तब सरस्वती बोली हे राजन्! तुम कौन हो! किसके पुत्र हो? और तुम्हारा जन्म कब हुआ, हे रामजी! जब इस प्रकार देवी ने पूछा तब जो मंत्री पास बैठे हुए थे, बोले हे देवि! तुम्हारी कृपा से राजा का जन्म और कुल मैं कहता हूँ, इक्ष्वाकु कुल में एक कुंदरथ नामका राजा था जो परम प्रतापी गुणग्राहक, नीति निपुण और परम तपस्वी था, उस राजा का पुत्र था बुधरथ, उसका सिंधुरथ, सिन्धुका महारथ और उसका विष्णुरथ, उसका कलारथ, उसका नभरथ और नभरथ के घर महाप्रतापी विदूरथ हुआ, जैसे—क्षीरसमुद्र से चन्द्रमा निकलता है, ऐसे सुमित्रा माता से यह उत्पन्न हुआ, जैसे गौरी भगवती से स्वामि-कार्तिक की उत्पत्ति हुई, ऐसे ही सुमित्रा से इसकी उत्पत्ति हुई, हे देवि! इस प्रकार हमारे राजा का जन्म हुआ है, जब यह राजा दस वर्ष का हुआ, तब पिता इसको राज्य देकर स्वयं वन में चले गये, उस दिन से लेकर इसने पृथ्वी के पालन रक्षण का काम अपने हाथों में लिया और उसको पवित्र मर्यादा के साथ निभाया, बड़े-बड़े पुण्य किये, उनके फल स्वरूप

इसको आज आपके दर्शन हुए, हे देवि! तुम्हारा दर्शन अनेक वर्षों तक तप करने वालों को भी कठिनता से मिलता है, इसके बड़े ऊँचे भाग्य हैं जो तुम्हारा दर्शन हुआ। हे रामजी! इस प्रकार कहकर मंत्री चुप हो गया, तब देवीजी ने कृपा करके राजा विदूरथ के सिर पर हाथ रक्खा और कहा–कि हे राजन्! तू अपने पूर्व जन्म को विवेक दृष्टि से देख कि तू कौन है? जब इस प्रकार देवी ने कहा तब राजा के हृदय में जो अज्ञान था, वह देवी के कर स्पर्श से दूर हो गया और हृदय प्रफुल्लित हुआ, ऐसे देवी के प्रसाद से राजा को पूर्व की स्मृति का स्फुरण हुआ, लीला और पद्म का वृत्तान्त सम्पूर्ण स्मरण करके कहने लगा, हे देवि! बड़ा आश्चर्य मैंने जाना है कि यह जगत् मन से रचा गया है तुम्हारे प्रसाद से मैंने जाना है कि मैं राजा पद्म था और लीला मेरी स्त्री थी, एक दिन मरने पर मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं सत्तर वर्ष का भया हूँ, तब भ्रम से मैंने नहीं जाना, अब प्रत्यक्ष जानता, ७० वर्षों में अनेक कार्य मैंने किये हैं, वे सब मेरे स्मरणमें हैं और मेरे प्रपितामह भी मेरी स्मृति में आते हैं, अपनी बाल और यौवन अवस्था भी स्मरण में आती है, मित्र बाँधव प्रत्यक्ष से दीखते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है, सरस्वतीजी ने कहा– हे राजन्! जब जीव मरते हैं तब इनको बड़ी मूर्छा होती है, उस मुर्छा के बाद अन्य लोकों का भान होता है, एक मुहूर्त में वर्षों का अनुभव होता है, ऐसे ही मुझको मृत्यु मूर्छाके अनन्तर यह लोक भ्रम भासा है, हे राजन्! पद्मराजाके रूप में उस घर में मरे हुए तुझको एक मुहूर्त बीता है और यहां तुझको बहुत वर्षों का अनुभव हुआ है और उससे भी पूर्व वृत्तान्त है उसको सुनो! हे राजन्! एक पहाड़ पर ग्राम था, उसमें एक वसिष्ठ ब्राह्मण था, अरुन्धती उसकी स्त्री थी, दोनों मंदिर में रहते थे, उस अरुन्धतीने मुझसे वर लिया कि जब मेरा भर्ता मृत हो तब उसका जीव इसी मण्डपाकाश में रहे रहे, हे राजन्! जब वह मरा तब उसका पुर्यष्टक उसी मंदिर में रहा, उसके संवित् में राजा की दृढ़ वासना थी, मण्डपाकाश में उसको पद्मराजा की सृष्टि फुरी और अरुन्धती जो कि उसकी स्त्री थी उसको

लीला होकर प्राप्त हुई और पद्म का मंड उस ब्राह्मण के मंडपाकाश में स्थित फुर आया, हे राजा पद्म! उस मंडप में तू फिर मृत हुआ, तब तेरे संवित् में नाना प्रकार के आरंभ युक्त यह जगत् तुझको फुर आया। हे राजन्! यह तो तेरा जगत् है जो पद्म राजा के हृदय में फुर आया है, और पद्म राजा के मंडपाकाश में स्थित है, और वही वसिष्ठ ब्राह्मण तू विदूरथ राजा हुआ है। वह कैसे स्थित हुआ है? हे राजन! यह सब जगत् प्रतिमामात्र है, मन की कलना से भासता है, उपजा कुछ नहीं, विदूरथ बोला–बड़ा आश्चर्य है, जैसे मेरा यह जन्म भ्रमरूप हुआ, ऐसे इक्ष्वाकु का कुल भ्रमरूप है तैसे मेरे पिता माता सब भ्रमरूप हुए, उस कुल में मेरा जन्म हुआ, बालक हुआ जब दस वर्ष का हुआ, तब पिता ने मुझको राज्य देकर वनवास लिया, मैंने दिग्विजय करके प्रजा का पालन किया, सौ वर्ष का मुझे अनुभव हो रहा है, अब मुझे युद्ध की दारुण अवस्था प्राप्त हुई है, युद्ध करके मैं रात को घर में आया हूँ। तुम दोनों देवियाँ मेरे घर में आई हो, मैंने तुम्हारी पूजा की है, तदनन्तर तुम दोनों में से एक देवी ने कृपा करके मेरे सिर पर हाथ रक्खा है उससे मेरे अन्तःकरण में ज्ञान प्रकाश हुआ है, जैसे सूर्य के प्रकाश से कमल प्रफुल्लित होता है, ऐसे मेरा हृदय देवी के प्रकाश से प्रफुल्लित हुआ है, इनकी कृपा से कृतार्थ हुआ हूँ, अब मेरा सब सन्ताप नष्ट हुआ है, और परम निर्माण समता सुख निर्मल पद को प्राप्त हुआ हूँ। सरस्वती बोली– हे राजन्! जो कुछ तुझको भासा है, वह सब भ्रममात्र है, नाना प्रकार के व्यवहार और लोकान्तर भी भ्रममात्र हैं, क्योंकि जो तुझको वहाँ मृतक हुए एक मुहूर्त व्यतीत हुआ है, उसके अनन्तर उसी मंडप आकाश में तुझको यह जगत् भासा है, और वह पद्म राजा की सृष्टि ब्राह्मण के मंडप में स्थित है, वहाँ तुझको नदियाँ, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि भूत सम्पूर्ण जगत् भास आये हैं, जैसे समुद्र में तरंग आवर्त्त फुर आते हैं, ऐसे जगत् भास आया है, हे राजन! मृत्यु मूर्छा के अनन्तर कभी वही जगत् भासता है, कभी और प्रकार का भासता है, कभी पूर्व और अपूर्व भी भासता है, वह मन की

कल्पना से भासता है, वास्तव से असद्रूप है, अज्ञान से सत् के तुल्य भासता है, जैसे एक मुहूर्तमात्र सोकर स्वप्न में अनेक वर्षो का क्रम देखता है, ऐसे ही जगत् का अनुभव होता है, जैसे संकल्प पुर में अपना जीना और मरना देखता है, जैसे गन्धर्व नगर भ्रममात्र होता है, जैसे नाव में बैठे हुए को तटके वृक्ष चलते भासते हैं, जैसे अपने शरीर को एक ही स्थान पर खड़े होकर गोल चक्राकार घुमाने से पृथ्वी पर्वत मंदिर सब घूमते नजर आते हैं, जैसे भ्रम से स्वप्न अपना सिर कटा हुआ भासता है, वैसे यह जगत् भ्रम करके भासता है, हे राजन्! अज्ञान से मिथ्या कल्पना तुझको उत्पन्न हुई है, वास्तव में न तू मरा है, न तुमने जन्म लिया है, शुद्ध विज्ञान शान्तिरूप है, तू अपना आप जो आत्मपद है उसमें स्थित हो नाना प्रकार का जगत् अज्ञान से भासता है, सम्यग् ज्ञान से आत्मसत्ता भासती है, आत्मसत्ता ही जगत् की नाईं भासती है, जैसे बड़ी मणि की किरणें नाना प्रकार होकर भासती हैं, वह मणि से इतर कुछ नहीं, ऐसे ही आत्मसत्ता का किंचन आकाशरूप जगत् भासता है, गिरि ग्राम, तुम किंचनरूप हो, जितना भी जगद् विस्तार तुझको भासता है वह लीला और पद्म राजा के मंडपाकाश में स्थित है, और वह लीला पद्म की राजधानी उस वसिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश में स्थित है, हे राजन! यह जगत् वसिष्ठ ब्राह्मण के हृदय मंडपाकाश में पड़ा फुरता है, वह मंडपाकाश में स्थित है, न पृथ्वी, न कोई शैल (पर्वत) है, न कोई मेघ है, न कोई समुद्र है, न कोई मुमुक्ष है, केवल शून्य ही शून्य स्थित है और न कोई जगत् है न देखनेवाला है, यह सब भ्रान्तिमात्र है। हे राजन्! यह सब तेरे उस मंडपाकाश में पड़े फुरते हैं, विदूरथ ने कहा– हे देवि! यदि ऐसा है तो यह मेरे सेवक भी अपने आत्मरूप में सत् हैं, अथवा असत् हैं? यह कहिये। देवी ने कहा–हे राजन्! जो पुरुष विदित वेद्य है, वह शुद्ध बोधरूप है, उसको जगत् सत्यरूप नहीं भासता, सब चिदाकाश रूप ही भासता है, जैसे भ्रम निवृत्त हो जाने पर जेवरी में सर्प नहीं भासता, ऐसे जिन पुरुषों को आत्मबोध हुआ है और जगत् भ्रम निवृत्त हुआ है, उनको

जगत् सत् नहीं भासता, जैसे सूर्य की किरणों में जल को असत् जाने तब फिर जल सत्ता नहीं भासती; ऐसे ही जिनको आत्मबोध हुआ है और जिन्होंने जगत् को असत् जाना है उनको सत् नहीं भासता, हे राजन्! जैसे स्वप्न में कोई भ्रम करके अपना शीश कटा देखे और जगने पर स्वप्न का मरना नहीं देखता, ऐसे अज्ञानी को जगत् सत् भासता है, परन्तु वास्तवमें कुछ नहीं शुद्ध बोध में जगद् भ्रम भासता है, जैसे शरत्काल में मेघ से रहित शुद्ध आकाश होता है, ऐसे ही शुद्ध बोधवाले को अहंत्वं आदिक व्यर्थ शब्द का अभाव होता है, और हे राजन्! तू और तेरे भृत्य इत्यादिक जो यह सृष्टि है वे सब आत्मा से फुरे हैं,जैसे तू फुरा है,वैसे यह सब फुरे हैं,वस्तुतः कुछ हुआ नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। भ्रम से और कुछ भासता है शुद्ध विज्ञान घनरूप उसका शेष रहता है, वाल्मीकिजी ने कहा—इस प्रकार जब देवी और विदूरथ का संवाद वसिष्ठजी ने रामजी को कहा,तब सूर्य भगवान् अस्ताचल को चले गये, सायंकाल हुआ; सब सभासद आपस में नमस्कार करके स्नान के लिये चले गये। रात बीती तब भगवान् भास्कर की किरणों के साथ साथ आकर सब अपने-अपने स्थान पर बैठ गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे लीलोपाख्याने भ्रान्तिविचारवर्णनं
नाम एकचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४२

स्वप्नपुरुषसत्यतावर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! जो पुरुष अबोध हैं अर्थात् जो परम पद में स्थित नहीं हुए उनके लिये जगत् वज्रसार की नाईं दृढ़ हुआ है, जैसे मूर्ख बालक को अपनी छाया में बेताल भासता है, ऐसे अज्ञानी को असत् रूप जगत् सत् होकर भासता है। जैसे मरुस्थल में मृग को असत् रूप जलाभास सत्य हो भासता है जैसे स्वप्न में क्रिया अर्थ भ्रम से भासती

है, जैसे—जिसको सुवर्ण बुद्धि नहीं होती उसको भूषण बुद्धि सत् भासती है, जैसे नेत्र दूषण से आकाश में मुक्त माला भासती है, ऐसे असम्यग्दर्शीको असत् रूप जगत् सत् हो भासता है, हे रामजी! यह जगत् दीर्घकाल का स्वप्न है, यह अहंता से दृढ़ जाग्रत हो भासता है, वास्तव में कुछ नहीं उपजा, वस्तुतः परम चिदाकाश है, सर्वदा शान्तिरूप है, अचिन्त्य चिन्मात्र स्वरूप है, सर्वशक्ति सर्वात्मा है, जहाँ जैसा स्पन्द फुरता है, ऐसा जगत् होकर भासता है, जैसे स्वप्न सृष्टि भासती है, वह स्वप्नभ्रम चिदाकाश में स्थित है, उस चिदाकाश में एक स्वप्नपुर फुरता है, वह द्रष्टा ही दृश्य को देखता है, वह द्रष्टा और दृश्य दोनों चेतन संवित् में आभासरूप हैं, हे रामजी! स्वर्ग की आदि जो शुद्ध आत्मसत्ता थी, उसमें आदि संवेदन स्पंद हुआ है, वह भगवान् ब्रह्मा है उसके संकल्प में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है, यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न की नाईं है, उस स्वप्न रूप में तुम्हारा सद्भाव हुआ है, जैसे तुम हो ऐसे और भी हैं, जैसे स्वप्न में स्वप्ननगर का और स्वप्न हो, जैसे स्वप्ननगर वास्तव में सत् नहीं होता,ऐसे यह जगत् भी जो दृष्टि आता है भ्रममात्र है, जैसे स्वप्न में असत् ही सत् होकर भासता है,ऐसे यह भी अहंत्वं आदिक भासते हैं, जैसे स्वप्न में सब कर्म होते हैं, ऐसे यह भी जानना चाहिये। रामजी बोले— हे भगवन्! स्वप्न से जब जागता है तब स्वप्न के पदार्थ असत् रूप हो भासते हैं, और यह जो ज्यों के त्यों रहते हैं, जब देखिये तब ऐसे ही हैं, फिर जाग्रत और स्वप्न को तुल्य कैसे कहें? वसिष्ठजी जी बोले—हे रामजी! जैसा स्वप्न है वैसा जाग्रत है, स्वप्न और जाग्रत में कुछ भेद नहीं, स्वप्न में नहीं जगा तब तक इसको जगत् असत् नहीं भासता। जब आत्मपद में जगे अर्थात् स्वरूपस्थित हो, तब यह जगत् भी असत् रूप भासे, हे रामजी! यह जगत् असत् रूप है और भ्रम से सत् की नाईं भासता है, जैसे स्वप्न की स्त्री असत् होती है, उसको सत् रूप जानता है, ऐसे यह असत् जगत् भी सत् रूप हो दिखाई देता है, आभासरूप जगत् है और आत्मसत्ता सर्वत्र सर्वदा अद्वैत रूप है, जहाँ जैसा चिन्तन करता है, वहाँ

वैसा होकर भासता है, जैसे डब्बे में अनेक रत्न होते हैं, उनमें से जिसको चाहता है उसको लेता है, ऐसे सर्वगत चिदाकाश है जहाँ जैसा चिन्तता है वहाँ वैसा ही भासता है। हे रामजी! अब पूर्व का प्रसंग सुनो। जब देवी ने विदूरथ पर अमृतरूप ज्ञान वचनों की वर्षा की तब उसके हृदय में विवेक अंकुर उत्पन्न हुआ, सरस्वती ने कहा हे राजन् जो कुछ कहना था वह मैंने तुमसे कहा है, और अब संग्राम में मृत्यु होगी यह मैं जानती हूँ, लीलादि को दिखाने के निमित्त मैं यहाँ आई थी, वह दिखा दिया है अब जाती हूँ। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी, जब इस प्रकार मधुरवाणी से सरस्वती ने कहा तब परम बुद्धिमान् राजा विदूरथ बोले हे देवि! तुम्हारा अमोघ दर्शन हुआ, बड़ों का दर्शन व्यर्थ नहीं जाता, महाफलदाता होता है, हे भगवति! मैं भी ऐसा हूँ कि मेरे पास जो कोई अर्थी आवे उसको मैं निराश नहीं करता सबका अर्थ पूर्ण कर देता था तुम तो साक्षात् ईश्वरी हो, अतः यह वर मुझको दो कि देह को त्यागकर लोकान्तर में पद्म के शव देह में प्राप्त हो जाऊँ। जैसे –स्वप्न से स्वप्नान्तर को प्राप्त होता है ऐसे प्राप्त हो जाऊँ। हे देवि! बड़े लोग शरणागत का त्याग कभी नहीं करते, उसका प्रयोजन सिद्ध करते हैं, इसलिये मुझे यही वर दो कि वही देह मुझे प्राप्त हो, और मेरे मंत्री, भार्या और लीला भी मेरे साथ हों, सरस्वती ने कहा–हे राजन्! ऐसा ही होगा। पद्म राजाका शरीर पाओगे और बोध सहित निश्शंक होकर राज्य करोगे। हमारा सेवन किसी को व्यर्थ नहीं जाता, जैसी कामना से कोई हमारी सेवा करे, ऐसा फल पाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने स्वप्नपुरुष सत्यतावर्णनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४३

अग्निदाहवर्णनम् ।

सरस्वती ने कहा– हे राजा! अब रण में तुम्हारा देहान्त होगा, तुम मर कर पूर्व के पद्म राजा के शरीर को प्राप्त करोगे, और यह तुम्हारी भार्या और मंत्री भी वहीं आ मिलेंगे, हे राजन्! तुम इस प्रकार चले जाओगे जैसे वायु चला जाता है, और हम जाते हैं। तुम्हारा हमारा साथ कैसे हो, जैसे अश्व, और खर, मृग और ऊँट आदिका साथ नहीं होता,वैसे हमारा तुम्हारा क्या साथ है? इसलिये हम जातीं है, वसिष्ठ बोले– हे रामजी! जब इस प्रकार देवी ने कहा तो एक पुरुष आ निकला और कहने लगा, हे राजन्! शस्त्रों की वर्षा करते हुए शत्रु आ गये हैं, जैसे प्रलयकाल में मंदराचल अस्ताचल आदि पर्वत वायु से उड़ते हैं, ऐसे शत्रु चले आ रहे है, सब दिशायें सेनाओं से भर गई हैं, जैसे–महाप्रलय में सब स्थान जल से पूर्ण हो जाते हैं इसी प्रकार सेनाओं से सब स्थान भर गये हैं, और उन लोगों ने आग भी लगा दी है, बहुत से स्थान जल रहे हैं, बड़े वेग के साथ बाणों की वर्षा हो रही है, और महा प्रलय के समान ही अग्नि भी प्रचण्डरूप से जल रही है, नगर धाँय धाँय जल रहे हैं, तब दोनों देवियाँ राजा और मन्त्री ऊँचे होकर झरोखे में बैठकर देखने लगे कि प्रलय काल के मेघों की नाईं बड़ी भारी सेना चली आ रही है, जैसे प्रलयकाल की अग्नि दशों दिशाओं में फैल जाती है, इस प्रकार सब दिशाएँ आग से भरी हुई हैं, चारों ओर से आग की चिनगारियाँ उड़ रही हैं मानों तारागण गिर रहे हैं या अङ्गारों की वर्षा हो रही है, उनसे अनेक जीव जल रहे हैं, अग्नि का इतना प्रचण्डरूप बढ़ रहा है कि लोगों का सामान तो जल ही रहा है,मनुष्य भी जलकर मर रहे हैं, जो स्त्रियां नाना प्रकार के भूषण धारण करके अत्यन्त शोभायमान दीखती और घरों की शोभा को भी बढ़ा रही थीं, आज भूषणों और वस्त्रों सहित आग में पड़ी जल

रही हैं, इसी प्रकार पुरुष भी वस्त्रों सहित जल रहै हैं और हाहाकार मचा हुआ है, लोग हाय हाय करते हुये अपने बन्धुओं बान्धवों और बच्चों को व्याकुल होकर ढूंढ़ रहे हैं, हे रामजी! यह आश्चर्य की बात है कि जीव ऐसे मोहपाश से बँधे हुये हैं कि मरने के समय भी स्नेह को नहीं त्याग सकते, इस प्रकार बड़ा क्षोभ हुआ, इधर तो लोग इस क्षोभ के मारे बन्धु वियोग का दुःख भोग रहे हैं, उधर सेना के लोग पुरुषों को मारकर स्त्रियों को ले जा रहे हैं, कई अग्नि में जलकर भस्म हो रहे हैं। हे रामजी! तब वहां एक ऐसा शब्द हुआ कि सारी संग्राम भूमि में छा गया, उसमें यह शब्द सुन पड़ता था, हाय भाई! हाय पिता! हाय माता! हाय पुत्र! हाय प्यारी! इत्यादि भयंकर शब्दों से सारी रणभूमि गूँज उठी, और घोड़े, गयें, बैल, ऊँट आदि पशु इकट्ठे हो गए, अग्नि की ज्वालायें बढ़ने लगी, बहुत क्षोभ उत्पन्न हुआ, जैसे महाप्रलय की अग्नि होती है, ऐसे सब स्थान अग्नि से भर गये, उनमें अनेक स्थान और कपड़े दग्ध होते हैं, और शब्द करते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाहवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४४

अग्निदाहवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार राजा नगर को देख रहा था, तब वहाँ अपनी सहेलियों सहित लीला दूसरे स्थान से वहाँ आई, जहाँ राजा विदूरथ था, मानों कमलों में लक्ष्मी आई है, सुन्दर भूषणों से सुशोभित थी, परन्तु उसके भूषण कुछ टूटे हुए और कुछ शिथिल थे, सहेलियों में से एक बोली– हे राजन्! तुम्हारे ऊपर बहुत से शत्रुओं ने आक्रमण किया है, वे तो अन्तःपुर में से स्त्रियों को भी उठाकर ले गये हैं, उनके स्थानमें से हम लीलाको चुरा ले आई हैं, जैसे इन्द्र के घर में दैत्य

आन पड़े इस प्रकार आकर वे लीला को ले गये, परन्तु हम बड़े यत्न के साथ उनके हाथों से इसे जीवित दशा में ही छुड़ाकर ले आई हैं और लोगों को उन दुष्टों ने बहुत ही दुःख दिया है, तुम्हारे द्वार पर बैठनेवाली सेना को तो उन्होंने चूरकर दिया है, और नगर में आंग लगा दी है, सारे नगर को लूटा और मारा है, हे रामजी! राजा को सहेलियों ने कहा– तब राजा ने सरस्वतीजी से कहा– हे देवीजी! यह लीला तुम्हारी शरण में आई है, और तुम्हारे चरण कमलों की भ्रमरी है,इसकी रक्षा आपको ही करनी पड़ेगी, मैं अब युद्ध करने को जाता हूँ। हे रामजी! इस प्रकार कह राजा क्रोध संयुक्त हो युद्ध करने के लिये संग्राम भूमि की ओर चला, जैसे मदमत्त गजराज जा रहा है अथवा जैसे –सिंह कंदरा से निकल कर दौड़ा है, ऐसे ही अर्धरात्रि के समय राजा चला, जब लीला वहाँ सहेलियों सहित आई, तब देवीके साथ जो प्रथम लीला थी उसने देखा कि अपनी मूर्ति जैसा ही सुन्दर आकार है, जैसे –आरसी में प्रतिबिंब होता है वैसे ही देखकर कहने लगी, प्रबुद्ध लीला बोली– हे देवि! मैं यहाँ कैसे आ पहुँची हूँ, जब मैं पहिले आई थी, तब मुझको मंत्री टहलुए पुरवासी अनेक दृष्टि आये थे, वह संशय मैंने आपसे निवृत्त किया था, अब फिर मैं उसी प्रकार कैसे आकर स्थित हुई हूँ। यह दृश्यरूप कैसा आदर्श है, जिसके अंतर बाहर प्रतिबिंब होता है, जैसे मंत्री टहलुए हैं और मेरा स्वरूप यह है, यह क्यों है ? दृश्य भाव दो होकर क्यों भासता है, मेरा यह संशय दूर करो। देवी बोली–हे लीले! जैसे चित्तसंवित् में स्पंद होता है, ऐसे तत्काल ही सिद्ध होता है, जिस अर्थ के चिन्तन में चित्तसंवित् शरीर को त्यागता है, उसी अर्थ को प्राप्त होता है, उसी क्षण में देश, काल पदार्थ की दीर्घता होती है, जैसे स्वप्न सृष्टि फुर आती है, ऐसे परलोक सृष्टि भास आती है, हे लीले! जब तुम्हारा भर्ता मरने लगा, तब उसका स्नेह तुझमें और मन्त्रियों में अधिक था, उससे वही रूप सत् होकर अपनी वासना के अनुसार भासा, जैसे संकल्पपुर भासता है, जैसे स्वप्नसेना भासती है, वैसे ही यह देश, काल, पदार्थ भासे हैं। हे

लीले! जो कोई पदार्थ सत् रूप होकर भासते हैं, वे अज्ञान काल में भासते हैं, ज्ञान काल में सब तुल्य हो जाते हैं, अधिक न्यून कोई नहीं रहता, जाग्रत् में स्वप्न झूठ भासता है, स्वप्न में जाग्रत का अभाव हो जाता है, जाग्रत शरीर मरने पर नाश हो जाता है, मृतक जन्म में असत् हो जाता है, हे लीले! जब इस प्रकार इनको विचार देखिये तो सब अवस्थाएँ भ्रान्तिमात्र हैं, वास्तव में कोई नहीं, हे लीले! स्वर्ग से लेकर महाप्रलय पर्यन्त कुछ हुआ नहीं, सदा ज्यों की त्यों ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, जगत् कल्पना आभासमात्र है, अज्ञान से भासती है, जैसे आकाश में तरवरे भासते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् भ्रम से भासता है, और वास्तव से किंचित् भी कुछ नहीं, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर लीन होते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् उत्पन्न होकर लीन होते हैं, अतः अहं त्वं आदि शब्द भ्रान्ति मात्र हैं, हे लीले! यह जगत् मृगतृष्णा के जलवत् है, इसमें आस्था करनी अज्ञान है और भ्रान्ति भी कुछ नहीं। जैसे घनान्धकार में यक्ष भासता है वह यक्ष वस्तु नहीं ब्रह्म सत्ता ज्यों की त्यों है और भ्रान्ति भी कुछ वस्तु नहीं, जन्म, मृत्यु, मोह, सब असत् रूप है, जितने यह अहं त्वं आदि शब्द हैं महाप्रलय में अभाव रूप हो जाते हैं, उसके पीछे शुद्ध शान्त रूप है, अब भी वही स्थिति जाननी चाहिये कि ब्रह्म सत्ता ज्यों की त्यों है, हे लीले! यह जो पृथ्वी आदि भूत भासते हैं, वे भी संवित् रूप हैं, क्योंकि चित्त संवित् जब स्पंदरूप होता है तब वह जगत् होकर भासता है, इस कारण से संवित् रूप है, हे लीले! जीवरूप समुद्र में जगत् रूप तरंग उत्पन्न होते हैं और लीन भी होते हैं और स्वरूप से जलरूप हैं, इतर कुछ नहीं, जैसे अग्नि में ऊष्णता होती है, वैसे जीव में सर्ग है जो ज्ञानवान् है, उसको सर्वात्मभाव भासता है और अज्ञानी को भिन्न—भिन्न कल्पना होती है, हे लीले! जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं अथवा जैसे पवन में स्पंद होता है, उसमें सुगंध होती है, वह निराकार है, ऐसे जगत् आत्मा में निर्वपु है, भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग, सूक्ष्म, स्थूल, चर, अचर, सर्व ब्रह्म के अवयव हैं, हे लीले! यह जगत् जो साकार रूप भासता है, वह आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे वृक्ष के अंग, पत्र,

पल, टासरूप वही भासते हैं, वैसे ब्रह्म सत्ता ही जगतरूप होकर भासती है, इतर कुछ नहीं, जैसे चेतन संवित् में स्पंद फुरता है ऐसे होकर भासता है वह आकाशरूप संवित् ज्यों का त्यों है, उसमें और कल्पना भ्रममात्र है। हे लीले! यह जगत् भासता है, न सत् है न असत् है, जैसे जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, जिसको असम्यक् ज्ञान होता है उसको जेवरी सर्प भासता है,तो वह असत् न हुआ और जिसको सम्यक् बोध हुआ है उसको सर्प सत् नहीं, ऐसे अज्ञान से जगत् असत् नही भासता, आत्मज्ञान होने पर सत् नहीं भासता, क्योंकि वास्तव में कुछ नहीं, हे लीले, जैसे जिसके अन्दर स्पन्द होता है, उसका अनुभव करता है, जब यह जीव मरता है तब इसको क्षण में जगत् का स्फुरण होता है, किसी को पूर्व रूप का स्फुरण होता है, किसी को पूर्व अपूर्व मिश्रित जगत् स्फुरण होता है, इस कारण से तेरे भर्ता को वही मंत्री, स्त्री, सभा वासना के अनुसार स्फुरित हुए हैं, क्योंकि आत्मा सर्वरूप है, जैसा जैसा इसमें तीव्र स्पंद फुरता है वैसा—२ होकर भासता है, हे लीले, जैसे अपने मनोराज्य में प्रतिमा उदय हो आती है वह सत्‌रूप हो भासती है, ऐसे यह जो लीला तेरे सन्मुख बैठी है यही हुई है और तेरे भर्ता की जो तुझमें तीव्र वासना थी उससे राजा को तेरा प्रति बिंबरूप होकर यह लीला प्राप्त हुई है, तुझ जैसा शील और आचार कुल वपु इसको प्रतिबिंब हुआ है, हे लीले! सर्वगत संवित् आकाश है जैसा जैसा उसमें फुरना होता है, ऐसा ऐसा आदर्श में प्रतिबिंब भासता है, जितना कुछ जगत् है, चेतन दर्पण में प्रतिबिंब होता है, वस्तुतः मैं तू और जगत् आकाश, भुवन, पृथ्वी, राजा, आदिक सब आत्मरूप हैं, आत्मा ही जगत्‌रूप हो भासता है, जैसे बिल्ली में मज्जा होती है, वह बिल्ली से इतर कुछ नहीं, बिल्ली ही सब रूप है, ऐसे यह जगत् ब्रह्मरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
अग्निदाहवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमः सर्गः।।४४।।

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

सत्यकामसंकल्पवर्णनम् ।

देवीजी ने कहा— हे लीले! तेरा भर्ता राजा विदूरथ संग्राम भूमि में प्राण त्याग करेगा और मरकर उसी अंतःपुर में पहुँच जावेगा और फिर राज्य करेगा। वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! जब इस प्रकार देवी ने कहा तब विदूरथ के पुर की जो लीला है, उसने हाथ जोड़कर देवीको प्रणाम किया और कहा—दूसरी लीला बोली— हे देवि! भगवति! मैं ज्ञप्तिरूप की नित्य पूजा करती रही हूँ, उसने मुझे स्वप्न में दर्शन दिया है, जैसे वह ईश्वरी थी ऐसी ही आप भी मुझे दृष्टि आती हो, अतः मुझपर कृपा करके मनोवांछित कामना पूर्ण करो, वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! जब इस प्रकार विदूरथ की लीला ने कहा तब अपने भक्त के ऊपर प्रसन्न होकर देवी ने कहा— हे लीले! तुमने मेरी अनन्य भक्ति की है, उससे तुम्हारा शरीर भी जीर्ण हुआ है, अब मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, अपनी इच्छानुसार वर माँगो। दूसरी लीला ने कहा हे भगवति! जब मेरा भर्ता रण में देह को त्याग दे तब मैं इसी शरीर से उसकी भार्या बनूं। देवी ने कहा— हे लीले! तुमने भली प्रकार भावनासहित पुष्पादिक सामग्री से मेरी निर्विघ्न सेवा की है, अतः ऐसा ही होगा। वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! इस प्रकार जब देवी ने कहा तब पूर्व लीला कहने लगी, हे देवि! तुम तो सत्यसंकल्प सत्यकाम ब्रह्मस्वरूप हो, मुझको उसी शरीर के साथ विदूरथ के घर से वसिष्ठ ब्राह्मण की सृष्टि में क्यों न ले गईं, देवी ने कहा— हे लीले, मैं किसी का कुछ नहीं करती। प्रत्येक जीवका संकल्परूप देह है और मैं ज्ञप्तिरूप हूँ, प्रत्येक जीव के अन्दर चेतनमात्र देवता होकर स्थित हूँ, जो जीव जैसी भावना को धारता है, ऐसी सफलता उसको होती है, हे लीले! जब तुमने मेरी आराधना की थी, तब यह प्रार्थना की थी कि मेरे भर्ता का जीव इसी आकाशमण्डप में रहे, और मुझे ज्ञान की भी प्राप्ति हो, तब मैंने तुम्हें ज्ञान का उपदेश दिया

और तुझे ज्ञान प्राप्त हुआ और इसी निमित्त से तुमने पूजन किया, अतः तुझको यही प्राप्त हुआ है कि, देह सहित भर्ता के साथ जायेगी, जैसा जैसा चित्तसंवित् में स्पंद दृढ़ होता है, ऐसी ही सिद्धि होती है, हे लीले! यहां जो कोई तप करता है, उसकी दृढ़ता से चिदात्मा ही देवतारूप होकर फल देता है, जैसे जैसे संकल्प की तीव्रता किसी को होती है चेतन संवित् से उसको ऐसा ही फल होता है, चित्तसंवित् से इतर किसी से किसी को कदाचित् कुछ फल नहीं प्राप्त होता, आत्मासर्वगत सर्व के अन्तर स्थित है, जैसे जिसमें चैत्यता का यत्न होता है, उसको ऐसा ही शुभ अशुभ भाव प्राप्त होता है।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सत्यकामसंकल्पवर्णनं नाम पञ्चतत्वारिंशः सर्गः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

विदूरथनिर्याणवर्णनम् ।

रामजी ने कहा—हे भगवन्! राजा विदूरथ जो देवी को कह कर संग्राम में गया था, उसने वहाँ जाकर क्या किया? श्री वसिष्ठ बोले—हे रामजी, जब राजा घर से निकला और समस्त सेना सहित सुसज्जित हुआ तब इस प्रकार शोभा पाने लगा जैसे तारागण में चन्द्रमा शोभावान् होता है, अपने मंत्रियों समेत रथारूढ़ हो संग्राम भूमि में आया, राजा के मणिमुक्ता जड़ित सुन्दर रथ की अपार शोभा है, आठ घोड़े जुते हुए हैं, वायु से भी तीक्ष्ण चलते हैं, पाँच ध्वजाएँ फहरा रहीं हैं, ऐसे रथ पर आरूढ़ हुआ नरपति रणभूमि में जा पहुँचा, तब दोनों पक्षों की सेनाएँ परस्पर गुत्थमगुत्था हो गईं, घोर युद्ध होने लगा मेघों के समान योधाओं के गर्जने का शब्द सुनाई पड़ने लगा, शस्त्र चमकने लगे, बाणों की वर्षा होने लगी, शस्त्रों से इस प्रकार अग्नि कण बरसते है जैसे आकाश से मेघ बूँदाबांदी करते हैं, जैसे प्रलयकाल की बड़वानल अग्नि होती है, ऐसे ही

शस्त्रों से अग्नि निकल रही है, जब अतीव भयंकर युद्ध हुआ तब विदूरथ की सेना कुछ निर्बल पड़ गयी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्यानेविदूरथनिर्याणवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः।।४६।।

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ४७

विदूरथ सिंधुसमागमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार जब भयंकर संग्राम चल रहा था, तब ऊर्ध्व में दोनों लीला देवी की दिव्य दृष्टि के साथ देखतीं थी, उन्होंने कहा– हे देवि! तुम पूर्णशक्ति हो और हमारे ऊपर तुम्हारी दया भी है, हमारे भर्ता की जय क्यों नहीं होती? इसका कारण कहों। देवी बोली–हे लीले! विदूरथ का जो शत्रु सिंधुराजा है, उसने चिरकाल पर्यन्त जय के निमित्त मेरी पूजा की है, और तुम्हारे भर्ता ने जय के निमित्त पूजा नहीं की, मोक्ष के निमित्त पूजा की है, अतः विजय सिन्धुराज की होगी और तुम्हारे भर्ता को मोक्ष मिलेगा, हे लीले! जिस जिस निमित्त से हमारी कोई उपासना करे हम उसको वैसा ही फल देती हैं। इसलिये राजासिंधु विदूरथ को जीत कर राज्य करेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्यानेविदूरथसिंधुसमागमवर्णनं नाम सप्तचत्वारिंश सर्गः।।४७।।

अष्टचत्वारिंशः सर्गः४८

आयुधवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार देवी ने कहा और सेना को देखने लगी, दोनों राजाओं का परस्पर तीव्र युद्ध होने लगा, ऐसे बाण चलते थे मानों दोनों विष्णु ही खड़े हैं, एक बाण विदूरथ ने चलाया

उसके सहस्त्रों हो गये, आगे गये तब वे भी लाखों हो गये, बाण ही परस्पर युद्ध करते करते टुकड़े होकर गिर पड़े। ऐसे दूर से दूर बाण चले जाते जैसे दीपक निर्वाण किये नहीं भासता, ऐसे ही बाण नहीं भासते थे, तब राजा सिंधु ने मोहरूपी अस्त्र चलाया, उसके आने से एक विदूरथ के बिना सब सेना मोहित हो गयी, जैसे उन्मत्त को कुछ सुधि नहीं रहती, ऐसे ही उनको भी कुछ सुध न रही, नेत्रों से परस्पर देखते ही रहे, मानों मूर्तियाँ लिखी हुई हैं, तब राजा विदूरथ को भी मोह का आवेश होने लगा, तब राजा विदूरथ ने प्रबोध रूपी अस्त्र चलाया, उससे सबका मोह जाता रहा, सबके शरीर प्रफुल्लित हो गये, जैसे सूर्योदय से कमल प्रफुल्लित होते हैं, तब सिंधुराजा ने नागास्त्र बाण चलाया, उससे अनेक सर्प निकले, ऐसे नाग आये मानों पर्वत उड़े आते हैं, सब दिशायें नागों से भर गईं, और उनके मुख से विष और आग की लपटें निकलने लगीं, जिससे कि विदूरथ की सेना को बहुत कष्ट पाना पड़ा। तब राजा विदूरथ ने गरुड़ास्त्र चलाया, उससे अनेक गरुड़ प्रकट हुए, उनके द्वारा सब सर्पो का नाश हुआ, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार का नाश हो जाता है, उसी प्रकार सब सर्पों की समाप्ति करके गरुड़ भी अंतर्धान हो गये, जैसे संकल्प के त्याग से संकल्प सृष्टि का अभाव हो जाता है, ऐसे ही गरुड़ाभाव हो गया। अथवा जैसे स्वप्न से जगने पर स्वप्न नगर का अभाव होता है, जैसे ही गरुड़भाव हुआ जो बाण सिंधु चलाता था विदूरथ उसीको ऐसे नष्ट कर देता था, जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करता है। विदूरथ ने बड़ी बाणवर्षा की जिससे सिंधु भी क्षोभ को प्राप्त हुआ, तब पिछली लीला ने झरोखे में देखकर देवीजी से कहा—हे देवि! मेरे भर्ता की अब जय होगी। देवी सुनकर मुस्कराई और मुख से कुछ न कहा, परन्तु हृदय में कहने लगी कि जीव का चित्त बहुत चञ्चल है। ऐसे देख रहे थे कि सूर्योदय हुआ, मानो सूर्य भी युद्ध का कौतुक देखने को आया है, सिंधु ने जो तम रूप अस्त्र चलाया, उससे सब दिशा श्याम हो गई, कुछ नहीं भासा, मानो समष्टि रूप से काजल आ गया है, तब विदूरथ ने

प्रकाश रूप अस्त्र चलाया, उससे सब तम नष्ट हो गया, जैसे शरत्काल से श्याम घटायें सब नाश हो जाती हैं, शुद्ध आकाश ही रहता है, जैसे आत्मज्ञान से ज्ञानवान् के लोभादिदोषों का अभाव हो जाता है, जैसे लोभ रूप कज्जल के निवृत्त हुए ज्ञानवान् की बुद्धि निर्मल हो जाती है, इसी प्रकार प्रकाश से अन्धकार का नाश हुआ, सब दिशाएँ निर्मल हो गईं, और जैसे अगस्त्य मुनि समुद्र को पान कर गये थे, ऐसे ही प्रकाश ने तम का पान कर लिया, तब सिन्धु ने बैतालरूप अस्त्र चलाया उससे विदूरथ की सेना मोहित हो गई। क्योंकि उससे सर्वत्र पिशाच ही पिशाच हो गये। इन पिशाचों का महान् भयंकर स्वरूप होता है, यह नग्न रहते हैं, इनके रहने के स्थान प्रायः ऐसे होते हैं जहाँ सात्विक भाव न हों, मूर्तियाँ विकराल होती हैं, श्मशान, शून्यमन्दिर, पर्वत, तामसस्थान गन्देस्थान, यह इनके रहने के ठिकाने होते हैं। यह वे जीव होते हैं जिनकी मृत्युसमय पर सँभाल नहीं होती और मनोवृत्ति परम मोहान्ध होकर तमोमय हो जाती है, वेदनाधिक्य से अज्ञानान्धकार की और भी वृद्धि हो जाती है, ऐसी ऐसी दुरावस्थाओं में शरीर त्याग होने पर ही पिशाचादि योनियों की प्राप्ति होती है। ऐसे भूत प्रेतों से विदूरथ की सेना दुःख पाने लगी, और उनमें जो कोई बड़ा था वह विदूरथ के निकट आने लगा, तब विदूरथ ने रूपक नामक अस्त्र चलाया, तब एक महाभयानक रूप बड़े-बड़े नखों, केशों होठों और जिह्वावाला कड़कड़ करता हुआ भैरव रूप प्रकट हुआ, वह सबको मारने लगा, तब सिंधु ने कुपित होकर राक्षसरूप अस्त्र चलाया जिससे अतिभयानक रूपवाले कोटि राक्षस निकलने लगे। इन्होंने ऐसा चमत्कार दिखाया जैसे काले बादल में बिजली चमकती है, ऐसे अनेक राक्षस पाताल से और दिशाओं से निकलकर जो कोई आते दिखा, उसी को मुँह में डालकर ले जाने लगे। उनको देख विदूरथ की सेना बहुत डरी, जिसको वे हँसकर देखते थे वह डर से मर जाता था। तब राजा विदूरथ ने अपनी सेना को दुःखी जानकर विष्णु नामक अस्त्र चलाया, उससे सब राक्षस नष्ट हो गये, तब राजा सिंधु ने अग्नि नाम का

अस्त्र चलाया, सब दिशाओं में आग फैल गई, उससे लोक जलने लगे, तब राजा विदूरथ ने वरुण नामक अस्त्र चलाया, उससे सब अग्नि का दाह ऐसे मिट गया, जैसे सन्तों के संग से अज्ञानी के तीनों ताप मिट जाते हैं, जब जल से सब स्थान पूर्ण हो गये और सिंधु की सेना जल में बहने लगी, तब सिंधु ने शोषणमय अस्त्र चलाया उससे सब जल सूख गया, और विदूरथ की सेना गरमी से व्याकुल हुई तपने लगी, जैसे मूर्ख का हृदय क्रोध से जलता है, तब विदूरथ ने मेघ नामक अस्त्र चलाया तब मेघ बरसने लगा, और शीतल मंद मंद वायु चला, उससे सेना की तपन मिट गई, जैसे आत्मा की ओर आते जीव का तामस भाव नष्ट हो जाता है, ऐसे ही विदूरथ की सेना शीतल हुई। तब सिंधु ने वायुरूप अस्त्र चलाया, उससे सूखे पत्र की नाईं विदूरथ फिरने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे आयुधवर्णनंनामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ।।४८।।

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

तृतीयास्त्रयुद्धवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! तब विदूरथ ने पहाड़रूपी अस्त्र चलाया, जिससे पहाड़ो की वर्षा होती है, और वायु का मार्ग रोका गया, वायु का क्षोभ मिट गया, सब पदार्थ स्थिर हो गये, जैसे संवेदन से रहित चित्त शान्त होता है, ऐसे शान्त हो गये और पहाड़ उड़कर सिंधु की सेना पर पड़े, तब सिंधु ने वज्ररूप अस्त्र चलाया, पर्वत नष्ट हुए वज्र बरसने लगे, तब विदूरथ ने ब्रह्मरूपी अस्त्र चलाया, तब वज्रों का नाश हुआ, और ब्रह्मास्त्र अन्तर्ध्यान हो गया। हे रामजी! इस प्रकार इनका युद्ध होता रहा, सिंधु जो अस्त्र चलाता, विदूरथ उसका तुरंत ही विदारण कर देता था

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने तृतीयस्त्रयुद्धवर्णनं नामकोन पञ्चाशः सर्गः ।।४९।।

पञ्चाशत्तमः सर्गः ५०

विदूरथमरणवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! विदूरथ राजा ने एक ऐसा अस्त्र चलाया, जिसने राजा सिन्धु का रथ तोड़ दिया और घोड़े भी निकम्मे कर दिये, तब सिंधु राजा रथ से निकलकर खड़ा हो गया, और उसने ऐसा अस्त्र चलाया कि जिसने विदूरथ का रथ और घोड़े नष्ट कर दिये, तब अपनी अपनी ढाल तलवारें लेकर दोनों उतर पड़े और युद्ध करने लगे, उनको इस प्रकार पैदल लड़ते देखकर दोनों के रथवाहक और रथ ले आये, उनपर आरुढ़ होकर युद्ध होने लगा, विदूरथ ने सिंधु पर बरछी फैंकी जो उसकी छाती में जा लगी, और रुधिर बहने लगा, उसको देखकर लीला ने देवी से कहा–हे देवि! मेरा भर्ता विजयी हुआ है, हे रामजी! इस प्रकार लीलादेवी कहती थी, तब सिन्धु ने बरछी चलाई, वह विदूरथ के हृदय में लगी, उसको देखकर विदूरथ की लीला शोकाकुला हुई और कहने लगी, हे देवि! मेरा भर्ता मर्ता है, सिंधु दुष्ट ने बड़ा कष्ट दिया है। हे रामजी! ऐसा कहती थी कि उधर सिंधु ने खड्ग चलाया, उससे विदूरथ के पाँव कट गये, उसके बाद घोड़े भी काटे गये, परन्तु विदूरथ फिर भी युद्ध करता रहा, तब उसके सिर पर खड्ग का प्रहार किया, विदूरथ राजा मूर्छित होकर गिर पड़ा। ऐसा देखकर उसके सारथी रथ को घर ले जाने लगे, तब सिंधु उनके पीछे दौड़ा कि इसका शरीर मैं ले आऊँ, जैसे बंदर कूद पड़ता है ऐसे पकड़ने लगा, परन्तु पकड़ न सका, जैसे आग में मच्छर प्रवेश नहीं कर सकता, ऐसे ही देवी के प्रभाव से विदूरथ को न पकड़ सका, और रथवाही राजा को घर ले आया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विदूरथमरणं नाम पंच्चाशत्तमः सर्गः ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमः सर्गः ५१

सिंधुराष्ट्रवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! तब स्त्रियाँ, मंत्री, बाँधव, कुटुम्बी रुदन करने लगे, बड़े शब्द होने लगे, और सिंधु की सेना लूटने लगी, हाथी, घोड़े, स्वामी बिना फिरते हैं। ढिंढोरा फिराकर जनता को यह बात जतला दी गई कि अब सिंधुराजा का शासन है, राजा सिंधु की जय हो, यह जयकारे सर्वत्र लगाये गये, सिंधुराजा के ऊपर छत्र और चमर डुलाये जाने लगे, तब कहीं सब ओर शान्ति हुई। सिंधु सम्पूर्ण पृथ्वी का राजा हुआ। उसका हुकुम चलने लगा, जैसे क्षीरसमुद्र, मंदराचल के निकलने से शान्त हुआ था, इस प्रकार सर्वत्र शान्ति हुई।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सिंधुराष्ट्रवर्णनं नाम एकपञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५१।।

द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ५२

मृत्युमूर्छानन्तर प्रतिभावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब विदूरथ राजा घर में जा पहुँचा तब उसको और दूसरी लीला को देखकर प्रबुद्धलीला ने कहा, हे देवि! यह लीला इस शरीर के साथ वहाँ कैसे जा प्राप्त होगी, यह तो भर्ता को ऐसे देखकर मृतक हो गई है, और राजा भी मृत्यु के निकट पड़ा है, कुछ श्वास आ जा रहे हैं, देवी ने कहा—हे लीले! यह जितने आरंभ तू देखती है तथा जो यह युद्ध हुआ है, अथवा नानाप्रकार का जगत् है, वह सब भ्रान्ति मात्र है और तेरा भर्ता पद्म था, उसका हृदय जो मंडपाकाश में था, वहां यह संपूर्ण जगत् स्थित है और वह पद्म का मंडपाकाश वसिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश में स्थित है, और वह वसिष्ठ ब्राह्मण का

मण्डपाकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है, हे लीले! यह संपूर्ण जगत् वसिष्ठ ब्राह्मण के मण्डपाकाश की पुर्यष्टका में ही स्थित है, वह कैसे स्थित है? आकाश में ही आकाश स्थित है, किंचन है, उससे संपूर्ण जगत् पड़ा फुरता है, और वास्तव में किंचन भी कुछ वस्तु नहीं, आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है, उस आत्मसत्ता में अहं त्वं जगत् भ्रम करके भासता है, उपजा कुछ नहीं, हे लीले! उस वसिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश में नाना प्रकार के स्थान हैं और तीनों में प्राणी आते जाते, व्यवहार होते भासते हैं, जैसे स्वप्न दृष्टि में नाना प्रकार के आरम्भ भासते हैं, वह असत्‌रूप है, ऐसे यह जगत् भी असत्‌रूप है, हे लीले! न यह द्रष्टा है न आगे दृश्य है, सब भ्रमरूप है, और द्रष्टा दर्शन दृश्य त्रिपुटी पदार्थों में है। दृश्य न हो तो द्रष्टा किस का? सब असत् रूप है, और जो इनसे रहित परमपद है, वह उदय अस्त रहित, नित्य, अज, शुद्ध, अविनाशी अद्वैतरूप अपने आप में स्थित है, जब उसको जानता है, तब दृश्य भ्रमः निवृत्त हो जाता है, हे लीले! दृश्य भ्रम से भासता है, वास्तव में कुछ नहीं, और न उपजेगा, जैसे कुछ सुमेरु आदिक पर्वत् जल भासते हैं और पृथ्वी आदिक तत्व भासते हैं वे सब आकाशरूप हैं, वास्तव में कुछ उपजा नहीं, इसी प्रकार यह जगत् भी जानना चाहिये। हे लीले! जीव जीव के प्रति अपनी सृष्टि रहती है, परन्तु उसमें सार कुछ नहीं, जैसे केले के स्तंभ से सार कुछ नहीं निकलता, ऐसे ही सृष्टि के विषय पर विचार किये से सार कुछ नहीं निकलता, परन्तु चित्तसंवेदन के फुरने से विविध दृश्य भासते हैं। हे लीले! तेरे भर्ता पद्म की सृष्टि वसिष्ठ ब्राह्मण के मंडपाकाश में स्थित है, अर्थात् यह जो विदूरथ का जगत् पद्म के हृदय में स्थित है, वहाँ तेरा शरीर पड़ा है और राजा पद्म का शव पड़ा है, हे लीले! तेरे भर्ता पद्म की सृष्टि हमको प्रादेशमात्र है, उस प्रादेश मात्र में अंगुष्ठ प्रमाण हृदय कमल है, उसमें तेरे भर्ता का जीवाकाश है, उसमें यह जगत् फुरता है, वह प्रादेशमात्र भी है, और दूर से दूर कोटि योजनों पर्यन्त है। मार्ग में वज्रसार की नाईं तत्वों का आवरण है, उसको लाँघकर तेरे भर्ता की सृष्टि है, जहाँ वह शव पड़ा है, वहाँ लीला जा

पहुँची है। लीला बोली—हे देवि! ऐसे मार्ग को लाँघकर वह क्षण में कैसे जा पहुँची और जिस शरीर के साथ जाना था वह तो यहाँ पड़ा है, वह किस रूप से पहुँची और वहाँ के लोगों ने उसको देखकर कैसे जाना, संक्षेप से कहिये। हे लीले! इस लीला के वृत्तान्त की महिमा ऐसी है जिसके धारण से यह जगत् भ्रम निवृत्त हो जाता है, संक्षेप में कहती हूँ। हे लीले! जितना कुछ जगत् भासता है सब भ्रम मात्र है, यह भ्रमरूप जगत् पद्म के हृदय में फुरता है, उसमें विदूरथ का जन्म भी भ्रम मात्र है, और लीला का प्राप्त होना भी भ्रम है, संग्राम भी भ्रमरूप है, विदूरथ का मरण भी भ्रमरूप है, उसके भ्रमरूप जगत् में तुम हम बैठे हैं, फिर लीला तू भी और राजाभी भ्रमरूप हैं और मैंसर्वात्मा हूँ, मुझको सदा यही निश्चय रहता है, हम जो उदय हुई हैं, उदय की नाईं नहीं हुई, हे लीले! जब तेरा भर्ता मरने लगा था, तब तुम्हारे साथ उसको स्नेह था, अतः मरणानन्तर भी कमलनयन युवावस्था महासुन्दर भूषणों को धारण किये हुए उसको वासना के अनुसार तू प्राप्त हुई। हे लीले! जब वह मरा, तब प्रथम उसका अन्तवाहक शरीर था। उससे आधिभौतिक हुआ, तब उसे जन्म मिला और मृत्यु भी हुई। जब तेरा भर्ता मरा तब इसको अपना जन्म और कुल भास आया, जन्म का अर्थ यह कि जनों का समूह भास आया, लीला का जन्म भास आया, माता—पिता भास आये, लीला के साथ विहार भास आया, जैसे तू पद्म को भास आई थी, ऐसे वे विदूरथ को भास आये, इत्यादि भ्रम से अपनी वासना के अनुसार उसको भास आया है। हे लीले! ब्रह्म सर्वात्मा है, जैसा जैसा तीव्र स्पंद होता है, ऐसे ही सिद्ध होता है, और मैं क्षतिरूप चेतन शक्ति हूँ, मुझे जिस इच्छा से पूजते हैं उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। हे लीले! जैसी इच्छा मन में रखकर कोई मेरी पूजा करता है उसको उस इच्छा की पूर्तिरूप ही फल मिलता है, अतः लीला ने जो वर मुझसे माँगा था कि में विधवा न हो जाऊँ, बल्कि इसी शरीर के साथ भर्ता के निकट जाऊँ, तब मैंने तथास्तु कह दिया, तब उसी कारण से उसको मृत्यु मूर्छा के अनन्तर अपना शरीर भांस आया, अपने शरीर सहित जहाँ तेरे भर्ता पद्म का शव पड़ा

है, वहाँ मंडप में ऐसे ही शरीर के साथ उसके पास जा पहुँची। हे लीले! उसको यह निश्चय रहा है कि मैं उसी शरीर के साथ आई हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलापाख्याने मृत्युमूर्छानन्तर प्रतिभावर्णनंनाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५२।।

त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ५३

मंडपाकाशगमनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! जिस प्रकार वह लीला पद्म राजा के मंडप में जा पहुँची थी, वह सुनो। जब लीला को मृत्युमूर्छा हुई तब उसको पूर्व के शरीर की नाईं वासना के अनुसार अपना शरीर भास आया, उसने जाना कि मैं उसी शरीर के साथ आई हूँ। परन्तु देवी के वरदान से ही ऐसा हुआ है। अहा! वह शरीर कैसा है? अन्तवाहक शरीर से आकाश में पक्षी की नाईं उड़ती जाती है, तब उसको अपने आगे कुमारी दृष्टि आई, तब लीला ने कहा—हे देवि! तू कौन है, तब देवी ने कहा, मैं ज्ञप्ति देवी की पुत्री हूँ, मैं तुम्हें पहुँचाने के लिये आई हूँ, तब लीला ने कहा—हे देवीजी! मुझे मेरे भर्ता के पास ले चलो। हे रामजी! तब वह कुमारी आगे और लीला उसके पीछे चली, दोनों आकाश में उड़ीं और चिरकाल पर्यन्त उड़ती रहीं, मेघों के स्थान आये, वायु के स्थान आये उनको भी लांघ गई, इसके अनन्तर सूर्य का मण्डल आया, तारामण्डल आये, और लोकपालों के स्थान आये, उनको भी लाँघ गई। आगे ब्रह्मा का लोक आया, विष्णु का लोक आया, और रूद्र का लोक आया, उनको भी लाँघ गई। आगे ब्रह्माण्ड कपाट महावज्रसार की नाईं आया, उनको भी लाँघ गई, इस प्रकार वे ब्रह्माण्ड से बाहर निकल गई, उस ब्रह्माण्ड से दशगुण जलतत्व आया, उसको भी लाँघ गई, इस प्रकार अग्नि, वायु, अकाशतत्व आवरण को भी पार कर गयीं, उसके

आगे महाचेतन आकाश आया, जो कि आदि मध्यअन्त से रहित है। हे रामजी! जो कोटि कल्पपर्यन्त गरुडजी उड़ते जावें, तो भी उसका अंत नहीं पा सकते। ऐसे परमाकाश में पहुँच गयीं, वहाँ इनको कोटि ब्रह्माण्ड दृष्टि आये, जैसे मन में अनेक वृक्षों के फल होते हैं, परस्पर एक दूसरे को नहीं जानते, ऐसे वह सृष्टि आपको न जाने तब एक ब्रह्माण्ड रूप फल में दोनों ने प्रवेश किया, जैसे फल के मुख मार्ग में चींटी प्रवेश कर जाती है ऐसे इन्होंने ब्रह्माण्ड फल में प्रवेश किया, वहाँ फिर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सहित त्रिलोकी देखी, अनेक सब लोक पार किये। उनके नीचे अन्य लोकपालों के स्थान लाँघे और चन्द्रमा का मण्डल, तारामण्डल भी लाँघ गयीं, वायु और मेघमण्डल को लाँघकर राजा के नगर में उतरीं, उसमें जो मंडपाकाश था जहाँ पद्म राजा का शव फूलों से ढाँपा पड़ा था, वहाँ आकर प्रवेश किया, उसको देखा, तब वह कुमारी अन्तर्ध्यान हो गईं, जैसे मायावी पदार्थ होवें और अन्तर्ध्यान हो जावें, ऐसे अन्तर्ध्यान हो गयीं, और लीला पद्म के पास बैठी रही और मन में विचार करने लगी, यह मेरा भर्ता है, वहाँ इसने संग्राम किया था, वही अब वीरगति को प्राप्त हुआ है, परलोक में आकर शयन कर रहा है, उसके पास मैं भी अपने शरीर के साथ देवीजी के वर के कारण आ पहुँची हूँ, मेरे जैसा अब कोई नहीं, मैं परम आनन्द को प्राप्त हुई हूँ। हे रामजी! ऐसा विचार कर अपने भर्ता को (पास पड़ा चमर उठा फिर) चमर करने लगी। वहाँ देवी से लीला ने पूछा, प्रबुद्धलीला बोली—हे देवि! यह राजा तो अब मरणासन्न है, इसके थोड़े से श्वास शेष हैं, जब यहाँ से मरकर पद्म के शरीर में जायेगा, तब राजा के जगे हुए मंत्री और सेवक कैसे जानेंगे? देवी बोली—हे लीले! तब मंत्री सेवक आदि जो होंगे उनको द्वैतकला कुछ भासेगी, जो आश्चर्य हुआ है, इसको तू जानेगी, दूसरी मैं जानूँगी, एक वह लीला जानेगी, और कोई न जानेगा, क्योंकि इसके संकल्प को और कोई कैसे जानें? लीला बोली—हे देवि! लीला वहाँ जा पहुँची वह शरीर तो यहाँ पड़ा है और तुम्हारा उसको वर भी था, इसलिये इस देह के साथ क्यों न जा पहुँची, देवी बोली—हे लीले! अप्रबुद्धबुद्धि अर्थात्

ज्ञानशून्य लोग पुण्यवश से प्राप्य बड़ों के लोकों को इसी शरीर से प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। जैसे छाया धूप को नहीं प्राप्त कर सकती, आदि सृष्टि से ही यह महापुरुषों का स्थापित नियम चला आ रहा है कि सत्य और असत्य मिलाये नहीं जा सकते, जब तक बालक का बेताल संकल्प मौजूद है तब तक बालक का हृदय बेताल भय से रहित नहीं हो सकता, जब तक अविवेक के बुखार की गर्मी शरीर में मौजूद है तब तक विवेक चन्द्रमा के शीतांशुओं का अनुभव कहाँ? अर्थात् कभी नहीं। जब उसको मृत्यु मूर्छा प्राप्त हुई तब उसको इसी जैसा अपना शरीर भास आया और उसका जो शरीर था, वह संकल्प में स्थित था। अपना संकल्प वह साथ ले गई है, इसलिये अपने उसी शरीर के साथ वह गई, वह अपने आप को ऐसा जानती है कि मैं लीला हूँ, हे लीले! आत्मसत्ता सर्वात्मरूप है, जैसी जैसी भावना उसमें दृढ़ होती है ऐसा ही रूप उसका हो जाता है, जिसको यह हुआ कि मैं पांचभौतिक रूप हूं, उसको ऐसा ही दृढ़ होता है कि मैं उड़ नहीं सकता, हे लीले! यह लीला तो अविदित वेद्य थी, अर्थात् ज्ञानशून्य थी, आधिभौतिक भय निवृत्त नहीं हुआ था, परन्तु मेरा वर था, इस कारण से उसको मृत्युमूर्छा के अनन्तर भासित हुआ कि मैं देवी के वर से चली जाऊँगी। इस वासना की दृढ़ता से जा पहुँची है, हे लीले! यह जगत् भ्रान्ति मात्र है, जैसे रस्सी में सर्प भासता है, ऐसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से भासता है। सब जगत् आत्मा में आभासरूप है, सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता अपने आपही अज्ञान से दूर भासती है, हे लीले! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे सदा शान्तरूप, आत्मानन्द से तृप्त रहते हैं। अज्ञानी मनुष्य कैसे शान्ति प्राप्त करें, जैसे–जिसको बुखार चढ़ा हो उस का अन्दर तो पड़ा जलता ही है, साथ ही प्यास बड़ी लगती है। ऐसे ही जिनको अज्ञान का बुखार चढ़ा हुआ है, रागद्वेष की आग से अन्दर जलता है, विषयों की तृष्णा रूप तृषा भी बहुत ही लगी होती है। जिसका अज्ञानतम नष्ट हुआ हो उसका अन्तःकरण रागद्वेष से नहीं जलता, और विषयतृष्णा रूप तृषा तो उत्पन्न ही नहीं होती।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मंडपाकाशः
गमनवर्णनंनाम त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५३।।

चतुष्पञ्चाशत्तमः सर्गः ५४

मृत्युविचारवर्णनम् ।

देवीजी बोलीं– हे लीले! जो पुरुष अविदितवेद्य हैं, अर्थात् जानने योग्य पद को जिन्होंने नहीं जाना, वे बड़े पुण्यवान् हों तो भी उनको अंतवाहकता नहीं मिलती और अन्तवाहक शरीर भी झूठ है, क्योंकि संकल्परूप है वह झूठ है, अतः जितना कुछ जगत् तुझको भासता है वह उत्पन्न नहीं हुआ। शुद्ध चिदाकाश सत्ता अपने आप में स्थित है। लीला बोली– हे देवि! यदि यह सर्व जगत् संकल्पमात्र है तो भावरूप पदार्थ कैसे होते हैं, और अभावरूप कैसे होते हैं। अग्नि उष्णरूप है पृथ्वी स्थिररूप, बर्फ शीतलरूप है, आकाश की सत्ता है, काल की सत्ता है, कोई स्थल पदार्थ है कोई सूक्ष्म पदार्थ है, ग्रहण करना, त्याग करना, जन्म और मरण होता है, मरा हुआ फिर जन्म पाता है, इत्यादि सत्ताएं कैसे भासती हैं, देवी बोली हे लीले! जब महाप्रलय होता है, तब सब पदार्थों का अभाव हो जाता है और काल की सत्ता नष्ट हो जाती है, उसके पीछे अनंत चिदाकाश सब कलनासे रहित बोधमात्र ब्रह्मसत्ता ही रहती है, उस चेतनामात्र से जब चित्त संवित् चैत्यता होती है, तब चेतन संवित् में उसने (लीलाने) देखे ऐसे अपनेको तेज अणु जाना, जैसे स्वप्नमें कोई अपने को पक्षीरूपसे उडता देखता है उससे स्थूलता होती है, वह स्थूलता ब्रह्माण्डरूप होती है उसमें तेज अणु आपको ब्रह्मारूप जानती है कि मैं ब्रह्मा हूँ तब ब्रह्मा होकर जगत् को रचता है, जैसे जैसे ब्रह्मा चैतता जावे ऐसे ऐसे स्थिरतारूप होता जावे, आदि चेतना से जैसे निश्चय किया कि यह ऐसे हो, और इतने समय तक रहे, इसका नाम नीति है, जैसे आदि रचना नीति पूर्वक है, वह ज्यों की त्यों होती है उसके निवारण में कोई समर्थ नहीं, और वस्तुतः आदि ब्रह्मा ही अकारणरूप है, अर्थात् यदि यह कुछ उत्पन्न नहीं हुआ तो जगत् का उपजना मैं कैसे कहूँ? हे लीले! स्वरूप से कुछ उपजा नहीं, परन्तु चेतन, संवेदन के फुरने में जगदाकार होकर

भासता है, उसमें जैसे निश्चय है वैसे ही स्थित है, अग्नि उष्ण ही है, बर्फ शीतल ही है, पृथ्वी स्थिररूप ही है जैसे उत्पत्ति है, वैसे ही स्थिर है। हे लीले! जो चेतन है उसके ऊपर भी नीति है, जो उपदेश का अधिकारी है और जो जड़ है, उनमें वह स्वभाव है, जो आदि चित्संवित् में आकाश का स्फुरण हुआ तब आकाशरूप होकर स्थित हुआ, जब काल का स्पंद फुरता है, तब वही चेतन संवित् कालरूप स्थिर होता है, जब वायु की चेतनता हुई तब वही संवित् वायुरूप होकर स्थित होता है, इसी प्रकार अग्नि, जल, पृथ्वीरूप होकर स्थित हुआ है, स्थल सूक्ष्मरूप होकर चेतनसंवित् में स्थित हो रहा है, जैसे स्वप्न में चेतन संवित् ही पर्वत वृक्षरूप होकर स्थित होता है, ऐसे ही चेतनसंवित् जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है, हे लीले! जैसे आदिनीति में पदार्थों ने संकल्परूप धारण किये हैं, ऐसे ही स्थित हैं, उसके निवारणार्थ कोई समर्थ नहीं, क्योंकि तीव्र अभ्यास चेतन का किया है, जब वही संवित् उलटकर प्रकारान्तर से स्पंद हो, तब और प्रकार हो, अन्यथा नहीं होता, हे लीले! यह जगत् सत् नहीं, जैसे संकल्पनगर भ्रमसिद्ध है, जैसे स्वप्नपुरुष असत्‌रूप होता है, जैसे ध्याननगर असत्‌रूप होता है, ऐसे ही यह जगत् असत्‌रूप है। अज्ञान से सत् की नाईं भासता है, जैसे स्वप्नसृष्टि के आदि सन्मात्र सत्ता होती है, उस सन्मात्र से आभास किंचन, स्वप्न सृष्टि का अकारण होता है, ऐसे यह जाग्रत जगत् के आदि सन्मात्र सत्ता होती है, उससे किंचन अकारणरूप यह जगत् होता है, हे लीले! यह जगत् वास्तव से कोई उत्पन्न नहीं हुआ, असत् ही सत् होकर भासता है, जैसे स्वप्न की अग्नि स्वप्न में असत् ही सत्‌रूप हो भासती है, ऐसे ही यह असत्‌रूप जगत् अज्ञान से सत्‌रूप हो भासता है। अब जैसे जन्म, मृत्यु और कर्मों का फल होता है उसको श्रवण करो– हे लीले! बड़ा और छोटा जो होता है वह देश, काल, और द्रव्य से होता है। एक बालक अवस्था में मरते हैं, और एक यौवन अवस्था में मरते हैं, जिसकी क्रिया चेष्टा देश काल द्रव्य की यथाशास्त्र होती है, उसकी क्रिया (काम) भी शास्त्र के अनुसार होती है, और जो चेष्टा शास्त्र के विरुद्ध होती है तो आयुर्बल भी वैसा होता है, एक क्रिया ऐसी है

जिससे आयु की वृद्धि होती है, एक क्रिया से आयु घट जाती है, इसी प्रकार देश, काल, क्रिया, द्रव्य, आयु के घटाने बढ़ाने वाले हैं, युगों की मर्यादा इस प्रकार है, कलियुग का समय एक सौ दिव्य वर्ष है, द्वापर– दो सौ दिव्य वर्ष, त्रेता– तीन सौ दिव्य वर्ष, और सत्ययुग– चार सौ दिव्य वर्ष। और लौकिक वर्ष इस प्रकार हैं, चार लाख बत्तीस हजार वर्ष कलियुग है, आठ लाख चौसठ हजार द्वापरयुग है, बारह लाख छयानवे हजार त्रेता है, सत्तरा लाख अट्ठाईस हजार वर्ष सत्ययुग है, इस प्रकार युगों की मर्यादा है, उसमें जीव अपने कर्मों के फल से आयु भोगते हैं, हे लीले! जो पाप करने वाले हैं वे मरते हैं तो उनको मृत्यु काल में बड़ा कष्ट होता है, लीला बोली हे देवि! मरने पर सुख और दुःख कैसे होता है और कैसे भोगता है? देवी ने कहा– हे लीले! जीव की तीन प्रकार की मृत्यु होती है, एक मूर्ख की मृत्यु, दूसरी धारणाभ्यासी का, तीसरी ज्ञानवान् की होती है, इनका भिन्न भिन्न वृत्तान्त सुनो। हे लीले! जो धारणाभ्यासी हैं, वे मूर्ख भी नहीं है और ज्ञानवान् भी नहीं, वे जिस इष्ट देवता की धारणा करते हैं वे मरकर उसी देवता के लोक को प्राप्त होते हैं, यह धारणाभ्यासी की मृत्यु है, पूर्णता प्राप्त नहीं हुई, उनका शरीर सुख से छूटता है, जैसे–सुषुप्ति हो जाती है, ऐसे धारणाभ्यासी शरीर त्यागता है, त्यागकर, सुख को भोगकर आत्मतत्व को प्राप्त होता है, और ज्ञानवान् का शरीर भी सुख से छूटता है, उसको भी यत्न कुछ नहीं होता, और ज्ञानी के प्राण भी वहीं लीन होते हैं, वह विदेहमुक्त होता है, जब मूर्ख की मृत्यु होने लगती है तब वह बड़े कष्ट को प्राप्त होता है, वे मूर्ख कौन हैं? जिनको अज्ञानियों का संग है, जिनके विचार शास्त्रानुसार नहीं और जो सदा विषयों में ही आसक्त रहते हैं, पापाचार हैं, ऐसे पुरुषों को शरीर त्यागने में बड़ा कष्ट होता है। हे लीले! जब वह मरने लगता है तब कई वस्तुओं की स्मृति महाआवरण बनकर इसके मन पर छा जाती है, और भी धन आदि प्रिय वस्तुओं तथा इष्ट सम्बन्धियों के वियोग दुःख से व्याकुल होता है, कंठ रुक जाता है, नेत्र फट जाते हैं, शरीर की कान्ति विरूप हो जाती है, जैसे कमलफूल कटा हुआ कुम्हला

जाता है वही दशा इसके शरीर की होती है, अंग टूटते हैं प्राण नाड़ियों से निकलते हैं, शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध के कारण तथा इष्ट वस्तुओं के वियोग से बड़ा कष्ट होता है, जैसे किसी को अग्निकुंड में डालने से दुःख हो ऐसा दुःख अनुभव करता है, सब कुछ भ्रमता भासता है, पृथ्वी आकाशरूप और आकाश पृथ्वीरूप भासता है, महाविपरीत दशा को प्राप्त होता है, जिसकी चेतनता घटती रहती है ज्यों ज्यों चेतनता घटती जाती है, त्यों ज्यों वस्तु ज्ञान के विषय में अन्ध होता जाता है, जैसे सूर्यास्त के समय नेत्र भ्रान्तिमान् को दिशा का ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही इसका पदार्थ ज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे आकाश से गिरने पर कष्ट हो जैसे चक्की में पिस जाने का कष्ट हो, जैसे पवन में तिनके की नाईं घूमने से कष्ट हो, जैसे अन्ध कूप में गिरने से कष्ट हो, जैसे कोल्हू में पिरने का कष्ट हो, जैसे गले में फाँसी डालकर खींचने का कष्ट हो, जैसे बड़वाग्नि में पड़ने का कष्ट हो, जैसे रथ पर से गिरने अथवा रथ के नीचे पिस जाने का कष्ट हो, ऐसा कष्ट मूर्ख को मृत्यु काल में प्राप्त होता है। जब पुर्यष्टक से वियोग हुआ तब मूर्छा से जड़ हो जाता है, शरीर तो अखण्डित पड़ा रहता है, लीला बोली—हे देवि! जब यह मरने लगता है तब इसको मूर्छा कैसे आती है, शरीर तो अखण्डित पड़ा रहता है, कष्ट कैसे पाता है। देवी बोली—हे लीले! जो कुछ इस जीव ने अहंकार भाव को लेकर कर्म किये हैं, वे सब इकट्ठे होते जाते हैं, समयानुसार आकर प्रकट होते हैं, जैसे बीज बोया हुआ समय के आने पर ही फल देने योग्य बनता है, ऐसे ही इसको कर्मों का फल आ मिलता है, जब इस प्रकार शरीर छूटने लगता है, तब शरीर के तादाम्य और प्रिय पदार्थों के वियोग से इसको कष्ट होता है, जो प्राण अपान की कला है, जिसके आश्रय शरीर होता है, वह टूटने लगता है, जिन स्थानों में प्राण फुरते थे, उन स्थानों और नाड़ियों से निकलते हैं, जिस स्थान से निकलते हैं, वहाँ फिर प्रवेश नहीं करते। वहाँ नाड़ियाँ जर्जरी भूत हो जाती हैं, सब स्थानों को प्राण जब त्याग देते हैं, तब वह पुर्यष्टक शरीर को त्याग निर्वाण हो

जाता है, जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है, जैसे पत्थर की शिला जड़ीभूत हो जाती है, ऐसे पुर्यष्टक शरीर को त्याग जड़ीभूत हो जाती है, प्राण अपान की कला टूट पड़ती है। हे लीले! यह मरण और जन्म भी भ्रान्ति से भासता है, आत्मा में कोई नहीं, संवित् मात्र में जो संवेदन फुरता है, वह अन्य स्वभाव में सत्ता की नांईं होकर स्थित होता है, मरण और जन्म उसमें भासते हैं। जैसी जैसी वासना होती है उसके अनुसार सुख दुःख का अनुभव करता है, जैसे कोई पुरुष नदी में प्रवेश करता है, उसमें कहीं अधिक (बड़ा) जल होता है, कहीं छोटा (थोड़ा) जल होता है, कहीं बड़े तरंग होते हैं, कहीं सौम्यजल होता है, वह सब सौम्यजल में होते हैं, ऐसे ही जैसी वासना होती है, उसी के अनुसार सुख दुःख का अनुभव होता है, अध, ऊर्ध्व, मध्य वासनारूप गर्त में पड़े गिरते हैं, जैसे बेल में गंठी होती है, ऐसे संवेदन में जन्म मरण की कल्पना होती है, और शुद्ध चेतन मात्र में कोई कल्पना नहीं, अनेक शरीर नष्ट हो जाते हैं और चेतनता ज्यों की त्यों रहती है, जो चेतन सत्ता भी मर जाय तब एक के नष्ट हुए सब नष्ट हो जायँ, ऐसा तो नहीं, चेतन सत्ता से सब कुछ सिद्ध होता है, यदि वह न हो तो कोई किसी को न जानें। हे लीले! चेतनसत्ता न जन्मती है न मरती है, सर्व कल्पना से रहित केवल चिन्मात्र है, उसका किसी काल में भी कैसे नाश हो? जन्म मरण की कल्पना संवेदन में होती है, अचेत चिन्मात्र में कुछ हुआ नहीं, हे लीले! मरता वही है जिसके निश्चय में मृत्यु का सद्भाव होता है, जिसके निश्चय में मृत्यु का सद्भाव नहीं वह कैसे मरे, जब इसको दृश्य का अत्यन्त अभाव हो तब बन्धनों से मुक्त हो, वासना ही इसके बन्धन का कारण है, जब वासना से मुक्त होता है तब बन्धन कोई नहीं रहता। हे लीले! आत्म विचार से ज्ञान होता है, और ज्ञान से दृश्य का अत्यन्त अभाव होता है, जब दृश्य का अत्यन्त अभाव हुआ तब वासना नष्ट हो जाती है, यह जगत् उदय हुआ नहीं, परन्तु उदय हुए की नांईं वासना करके भासता है, अतः वासना का त्याग करो, जब वासना निवृत्त हो, तब बन्धन कोई न रहे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मृत्युविचारवर्णनं नाम चतुष्पंचाशत्तमः सर्गः ।।५४।।

पंचपंचाशत्तमः सर्गः ५५

संसारभ्रमवर्णनम् ।

लीला बोली! हे देवि! यह जीव मरता कैसे है और जन्म कैसे लेता है? मेरे बोध की वृद्धि के लिये फिर कहो। देवी ने कहा—हे लीले! इसके अन्दर प्राण अपान की एक कला है, उसके आश्रय यह शरीर रहता है, जब तक प्रारब्ध कर्म होता है, और जब मरने लगता है, तब प्राणवायु अपने स्थान को त्यागता है, जब जिस स्थान से जिस नाड़ी से निकलता है, वह स्थान शिथिल हो जाता है, जब पुर्यष्टक शरीर से निकलता है तब प्राण कला टूट पड़ती है, और चेतनता जड़ीभूत हो जाती है, तब परिवारवाले लोग इसको प्रेत कहते हैं, जो मरकर प्रेत हुआ है। हे लीले! इसके चित्त की चेतनता जड़ीभूत हो जाती है, केवल चैतन्य जो ब्रह्मसत्ता है, वह ज्यों की त्यों रहती है, जो स्थावर जंगम सर्व जगत् में व्याप रही है, आकाश, पहाड़, वृक्ष, अग्नि, वायु आदिक सब पदार्थों में व्याप रही है, उदय अस्त से रहित है। हे लीले! जब इनको मृत्युमूर्छा होती है, तब प्राण पवन आकाश में लीन होते हैं, उस प्राण में चेतनता होती है और चेतनता में वासना होती है, ऐसी प्राण और चैतन्यसत्ता है वह वासना को लेकर आकाश में आकाशरूप स्थित होती है, जैसे गंध को लेकर आकाश में वायु स्थित होता है, ऐसे वासना को लेकर चेतनता स्थित होती है। हे लीले! उस अपनी-अपनी वासना के अनुसार देश स्थान और जगत् फुर आता है, उसमें देशकाल क्रिया द्रव्य करके देखता है, सो मृत्यु भी जीव को दो प्रकार की है, एक पापात्मा की मृत्यु है, एक पुण्यात्मा की मृत्यु है, और फिर पापी भी तीन प्रकार के हैं, एक महापापी है, एक मध्यपापी है, तीसरे अल्पपापी हैं, ऐसे ही पुण्यवान् भी तीन प्रकार के हैं—एक महापुण्यवान हैं, दूसरे मध्यपुण्यवान् हैं, तीसरे अल्पपुण्यवान् हैं। प्रथम पापियों की मृत्यु सुनो—जब बड़ा पापी मरता है, तब मरकर

जर्जरीभूत हो जाता है, घन पाषाण की नांईं सहस्त्रों वर्ष मूर्छा में पड़ा रहता है, कई ऐसे जीव हैं उस मूर्छा में भी उनको दुःख होता है, जैसे बाहिर इन्द्रियों को दुःख होता है उसके राग द्वेष को लेकर चित्त की वृत्ति अन्तर हृदय में जाकर स्थित होती है। ऐसे पापवासना का दुःख अन्तःकरण में होता है उससे जलता है, इस प्रकार जड़ीभूत मूर्छा में रहता है, इसके अनन्तर उसको फिर चेतना फुर आती है, अपने साथ शरीर देखता है फिर नरक भोगता है, दीर्घकाल के नरकभोगान्तर अनेक पशुजन्म पाता है, अन्त में मनुष्य बनता है, महानीचों निर्धनों के यहाँ जन्म लेता है, वहाँ भी दुःख सन्तप्त रहता है, हे लीले! यह महापापियों की मृत्यु तुमको कही, अब मध्यम पापी की मृत्यु सुनो। जब मध्यम पापी की मृत्यु होती है, तब वह भी वृक्ष की नांईं मूर्छा से अचेत हो जाता है, और दुःख से जलता है, थोड़े समय के अनन्तर उसे चेतना आती है, तब नरकान्तर दुःख भोगता है, नरकों से निकलकर तिर्यग्योनि में जाता है, उनमें से निकलकर वासना के अनुसार मनुष्य शरीर धारण करता है। अब अल्प पापी की मृत्यु का श्रवण करो, हे लीले! जब अल्प पापी मरता है, तब मूर्छित होता है, कुछ समय के बाद सचेत हो जाता है, वह भी नरक भोगकर पशु आदि योनियों के चक्र में घूमता हुआ मनुष्य शरीर पाता है। हे लीले! यह पापात्माओं की मृत्यु कही। अब धर्मात्माओं की मृत्यु की सुनो। जो महान् धर्मात्मा हैं, वे जब मरते हैं तो उनके लिये विमान आता है, उन्हें उस पर बिठाकर स्वर्ग ले जाते हैं, जिस इष्ट देवता की वासना इनके हृदय में होती है, उसी देवता के लोक में इन्हें ले जाते हैं, वहाँ जाकर वे स्वर्ग सुख भोगते हैं जैसे कर्म किये होते हैं, वैसे सुख को प्राप्त होते हैं, जो गंधर्व विद्याधर अप्सरा आदि के भोग हैं, उनको भोगकर फिर मृत्यु लोक में मनुष्य जन्म पाते हैं, उनका जन्म किसी श्रीमान् धर्मात्मा के घर में होता है, और जो भोगों से निष्काम होते हैं, उनका जन्म सन्त महात्माओं के गृहस्थ में होता है। ऐसा जन्म संसार में अत्यन्त दुर्लभ है, अब मध्यम धर्मात्मा की मृत्यु सुनो। हे लीले! जब मध्यम धर्मात्मा की मृत्यु होती है, तो उनको शीघ्र ही चेतनता फुर आती

है, और स्वर्गादि लोकों में चला जाता है। अपने पुण्य के अनुसार स्वर्ग को भोगकर मृत्युलोकमें आता है, किसी फलमें आकर स्थित होता है, उस फल को पुरुष भोजन करता है, तब पिता के वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है, वासना के अनुसार जन्म लेता है, और जो अल्पधर्मात्मा मरता है, तब उसको यह फुर आता है कि मैं मरा हूँ, मेरे बन्धुओं और बेटों ने मेरी पिंड क्रिया की है। मैं पितृलोक को जाता हूँ, (पितृलोक का अनुभव करता है) पितृलोक के सुख भोगकर गिरता है, तब धान्य में आकर स्थित होता है, जब धान्य को पुरुष भोजन करता है तब वीर्यरूप होकर स्थित होता है, उस वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है, समय आने पर वासना के अनुसार जन्म लेता है। हे लीले! जब पापी मरता है तब उसको महाक्रूर मार्ग भासता है। उस मार्ग पर चलता है, पावों में काँटे चुभते हैं, सीस पर सूर्य तपता है, सूर्य के आतप से शरीर को कष्ट पहुँचता है और जो पुण्यवान् होता है उसको सुंदर छाया का अनुभव होता है, जिस मार्ग में सुंदर बावड़ियाँ और ठंडी छाया है उस मार्ग से उसको यमदूत ले जाते हैं, जहाँ धर्मराज बैठा है उसके पास ले जाते हैं, धर्मराज चित्रगुप्त से पूछता है, तब चित्रगुप्त पुण्यवानों के पुण्य प्रकट करता है, पापियों के पाप प्रकट करता है, उन कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक को भोगता है उसके बाद फिर धान्य अथवा फल में आकर स्थित होता है। तब उस अन्न को पुरुष खाता है तब वह स्वप्न वासना को लेकर वीर्य में स्थित होता है, जब पुरुष का इसके साथ संयोग होता है तब वीर्य द्वारा माता के गर्भ में आता है। माता के गर्भ में इसको अनेक जन्मों का स्मरण होता है। इसके अनन्तर बाहिर निकलकर बाल अवस्था को धारण करता है, तब पूर्व की स्थिति विस्मरण हो जाती है, महामूढ़ अवस्था में प्राप्त होता है, परमार्थ की बुद्धि उसमें नहीं होती, खेल में मन बहुत लगता है, उसके अनन्तर जब यौवन अवस्था आती है, तब कामादि विकारों में अंधा हो जाता है; विचार शक्ति नहीं रहती। इसके बाद वृद्ध अवस्था आती है, तब शरीर महाकृश जैसा हो जाता है और रोग आन

उपजते हैं, शरीर कुरूप हो जाता है, जैसे कमलों पर बर्फ पड़ती है, और कुम्हला जाते हैं, ऐसे ही वृद्ध अवस्था में शरीर कुम्हला जाता है, सब प्रकार की शक्ति घटती जाती है, ओर तृष्णा बढ़ती जाती है, तब फिर मरने लगता है तो कष्टवान् होता है, कष्ट पाकर मरता है, तब वासनाके अनुसार स्वर्ग नरक को पाता है, इस प्रकार संसार चक्र में वासना के अनुसार घटीयंत्र की नाईं घूमता है, स्थिर कदाचित् नहीं होता, हे लीले! इस प्रकार जीव आत्मपद की प्राप्ति में तो प्रमाद करता है, परन्तु संसार के सुख की इच्छा में ही अपनी सारी शक्ति लगा देता है और जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है, फिर माता के गर्भ में आता है, बाल अवस्था, यौवन अवस्था और वृद्ध अवस्था के बाद मृत्यु की ही अवस्था आती है, तदनन्तर वासना के अनुसार परलोक को देखते हैं। जाग्रत स्वप्न की नाईं भ्रम से अन्यतर भ्रम को देखते हैं, जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर देखता है, ऐसे अपनी कल्पना से जगत् भ्रम फुरता है। स्वरूप से किसी को कुछ भ्रम नहीं, आकाशरूप आकाश में स्थित है, भ्रम से विकार भासते हैं, लीला बोली–हे देवि! परब्रह्म में यह जगत् भ्रम से कैसे हुआ, यह मेरे बोध की वृद्धि के लिये अथवा दृढ़तार्थ मुझे कहो। देवीजी ने कहा–हे लीले! स्वरूप से सब आत्मरूप है पहाड़ भी परमार्थ घन है, वृक्ष भी परमार्थ घन है, पृथ्वी आकाश आदिक स्थावर जंगम जितना कुछ जगत् है, वह सब परमार्थ घन है। परमार्थ सत्ता सब आत्मा है। हे लीले! उस सत्ता संवित् आकाश में जब संवेदन आभास फुरता है, उससे जगत्रूप भासता है, आदि संवेदन जो संवित् मात्र में हुआ है, वह ब्रह्मरूप होकर स्थित हुआ है, फिर वह जैसे चेतता गया है, उस प्रकार स्थावर जंगम जगत् होकर स्थित हुआ है। हे लीले! शरीर जो हुआ है इसके अभ्यन्तर नाडियाँ हैं, नाडियों में छिद्र हैं उन छिद्रों में प्राण स्पंदरूप होकर विचरता है, उसको जीव कहते हैं, जब वह जीव निकल जाता है तब शरीर शव होता है। हे लीले! जैसे जैसे आदि संवित् मात्र में संवेदन फुरा है, वैसे वैसे ही अब तक स्थित है, जब चेता, कि मैं जड़ होऊँ

तब जड़रूप पृथ्वी, आप तेज वायु आकाश पर्वत वृक्षादिक स्थित हुए, जड़ की भावना से जड़ हुए, चेतन की भावना से चेतनरूप होकर स्थित हुए हैं। हे लीले! जिसमें प्राणक्रिया होती है वे जंगमरूप बोलते चलते हैं, और जिनमें प्राण स्पंदक्रिया नहीं होती वे स्थावररूप हैं और आत्मसत्ता में दोनों तुल्य हैं, जैसे जंगम हैं वैसे स्थावर हैं और दोनों चैतन्य हैं। जैसे जंगम में चेतनता है, ऐसे ही स्थावर में चेतनता है, और यदि तू कहे स्थावर में चेतनता भासती क्यों नहीं? उसका उत्तर यह है, हे लीले! जैसे उत्तर दिशा के समुद्रवाले मनुष्य की बोली दक्षिण दिशा के समुद्रवाले नहीं जानते और दक्षिण दिशा के समुद्रवाले की बोली को उत्तर दिशा के समुद्र वाले नहीं समझ सकते, ऐसे ही स्थावरों की बोली को जंगम नहीं समझ सकते और जंगमों की बोली को स्थावर नहीं समझ सकता, परस्पर अपनी अपनी जाति में सब चेतन हैं, उसका ज्ञान उसको होता है, जैसे कूप में दर्दुर होता है, वह दूसरे कूप के दर्दूर (मेंढ़क) को नहीं जानता, और दूसरे कूप का दर्दुर उस कूप के दर्दूर को नहीं जानता। ऐसे ही जंगमों की बोली स्थावर नहीं जान सकते, और स्थावरों की बोली को जंगम नहीं जान सकते। हे लीले! जो आदि संवित् में संवेदन फुरा है वैसा रूप होकर महाप्रलय पर्यन्त स्थित है, अन्यथा नहीं होता। जब उस संवित् में आकाश का संवेदन फुरा तब आकाशरूप होकर स्थित हुआ है, जब इसने स्पंदता को चेता, तब अग्निरूप होकर स्थित हुआ है, जब द्रवता को चेता तब जलरूप होकर स्थित हुआ, जब गन्ध का चिन्तन किया, तब पृथ्वीरूप होकर स्थित हुआ, इस प्रकार जिस जिसको चेतता गया, वही वही पदार्थ प्रकट हुआ, आत्मसत्ता में प्रतिबिंबित हुआ। वास्तव से न कोई स्थावर है न जङ्गम है, केवल ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों है, अपने आप में स्थिर है, इसमें जगत् भ्रम से पड़ा भासता है, और दूसरी वस्तु कुछ नहीं। हे लीले! अब राजा विदूरथ को देख, जो मरता है, लीला बोली—हे देवि! यह राजा पद्म का शव शरीरवाले मण्डप में किस मार्ग से जायेगा, और इससे पीछे हम किस मार्ग से जायँगे? देवी ने

कहा–हे लीले! यह अपनी वासना के अनुसार मनुष्य मार्ग से जायेगा, है चिदाकाशरूप, परन्तु अज्ञान के वश इसको दूरस्थान भासेगा और हम भी इसी मार्ग से इसके संकल्प के साथ अपना संकल्प मिलाकर जायेंगी, जब तक संकल्प के साथ संकल्प मिलता नहीं, तब तक एकत्वभाव नहीं होता, इसी कारण से इसके संकल्प के साथ अपना संकल्प मिलाकर इस ही मार्ग से जावेंगी, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार देवीजी ने लीला को उपदेश किया, उपदेश क्या है मानों–ज्ञान का सूर्य उदय हुआ है, ऐसा संवाद चल रहा था कि वहाँ राजा शिथिल होने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलापाख्याने संसारभ्रम वर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५५।।

षट्पञ्चाशत्तमः सर्गः ५६

मरणानन्तरावस्थावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार देवी और लीला देखती थी कि वहाँ राजा के नेत्र फट गये,शरीर निस्सार हो गया, और गिर पड़ा, श्वास नासिका मार्ग से निकल गया तब जैसे रस से रहित पत्र होता है, अथवा जैसे कटा हुआ कमल विरस हो जाता है, ऐसे ही राजा का शरीर निःश्रीक हो गया, मूर्छा के अन्धकूप में राजा जा पड़े और प्राण चेतना वासना संयुक्त आकाश में जा स्थिर हुए। प्राणों में चेतना थी, और चेतना में वासना थी। वह चेतना और वासना सहित प्राणाकाश में जा स्थित भये, जैसे वायु गंध को लेकर स्थित होता है, हे रामजी! वह राजा का पुर्यष्टक शरीर जो जर्जर हो गया, परन्तु दोनों देवियाँ उसको दिव्य दृष्टि से देखती थीं जैसे भ्रमरी गंध को देखती है, तब राजा एक मुहूर्त पर्यन्त मूर्छा में रहा पुनः उसको चेतना फुर आयी। अपने साथ शरीर भास आया और जानने लगा कि मेरे बाँधवों ने मेरी पिंडक्रिया की है,

उससे मेरा शरीर हुआ है, और दूत मुझे धर्मराज के स्थान पर ले चले हैं। हे रामजी! इस प्रकार अनुभव करता धर्मराज के स्थान चला जाता था, उसके पीछे देवी और लीला भी चली जावें, जैसे वायु के पीछे गन्ध चला जाता है, ऐसे जाती थीं जैसे गन्ध के पीछे दोनों भ्रमरी जावें, तब राजा विदूरथ धर्मराज के पास जा पहुँचा। धर्मराज ने चित्रगुप्त को कहा कि इसके कर्म विस्तार से कहो, तब चित्रगुप्त ने कहा हे भगवन्! इसने कोई अपकर्म नहीं किया, और बड़े बड़े पुण्य किये हैं, पाप नहीं किये हैं, और भगवती सरस्वती का इसको वर है, इसका शव फूलों से ढ़ाँपा हुआ है, उस शरीर में भगवती के वर से जो प्रवेश करेगा। अतः अब इसको और कुछ कहना पूछना नहीं। देवीजी के वर के साथ बाँधा है। हे रामजी! ऐसे उसने कहा तब राजा को अपने स्थान से आगे पहुँचाया गया, जैसे खंभानी से फेंका पत्थर वेग से चला जाता है, वैसे ही आगे चला दिया, तब आगे राजा चला जाता था, उसके पीछे दोनों देवियाँ चली जाती थीं। राजा को यह देवियाँ देखती थीं और राजा इनकों नहीं देख सकते थे, तब तीनों एक ब्रह्माण्ड को लाँघ गये, जिसका राज्य विदूरथ ने किया था उसको लाँघकर दूसरे ब्रह्मांड में आये, उसको भी पार करके पद्मराजा के देश में आये उसको लाँघकर पद्म मे मन्दिर में आये, जहाँ फूलों से शव ढाँपा हुआ था, एक क्षण में देवी आकर मिलीं, जैसे मेघ को वायु मिलता है, जैसे सूर्यमुखी कमल को धूप आ मिलती है, ऐसे आ मिली, रामजी बोले—हे भगवन्! वह राजा तो मर गया था मरकर उसने मार्ग को कैसे पहिचाना जो कि आ पहुँचा। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! वह विदूरथ जो मर गया था उसकी वासना नष्ट नहीं हुई थी, उस अपनी वासना से अपने स्थान को आ पहुँचा। हे रामजी! भ्रान्ति मात्र जो जगत है वह चिद्अणु जीव के उदर में है, जैसे वट के बीज में अनन्त वटवृक्ष होते हैं ऐसे चिदणु में अनन्त जगत् हैं, जो अपने अन्तर स्थित है उसको क्यों न देखे, जैसे जीव अपने जीवत्व का अंकुर देखता है, ऐसे स्वभाव चिद्अणु त्रिलोकी को देखता है, जैसे कोई पुरुष किसी स्थान

में धन को दम्ब रखे और दूर देश को जावे तो धन को वासना से पड़ा देखता है ऐसे वासना की दृढ़ता से विदूरथ ने देखा और जैसे कोई जीव स्वप्नभ्रम से किसी बड़े धनवान् के घर में जाकर उत्पन्न होता है, भ्रम के शांत होने पर उसका अभाव देखता है, ऐसे अनुभव किया, रामजीं बोले–हे भगवन्! जिसकी वासना पीछे पिंडदान की नहीं रहती और मरता है तब वह कैसे अपने साथ शरीर देह को देखता है क्योंकि उसकी पिंड क्रिया हुई नहीं, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह पुरुष पिता माता के पिंड जो करता है, उनकी वासना इसके हृदय में होती है वही वासना फलरूप होकर इसको भासती है, कि मेरा शरीर है मेरे पीछे मेरे बाँधव ने पिंडदान किया है, उससे मेरा शरीर हुआ है, अपनी वासना से उसको ऐसा ही अनुभव होता है।हे रामजी! सदेह हो अथवा विदेह, अपनी वासना के अनुसार इसको अनुभव होता है भावना से इतर अनुभव नहीं होता, चित्तमय पुरुष है जो चित्त में पिंड की वासना दृढ़ होती है, तब आपको पिंडवान् ही जानता है, जैसी भावना होती है वैसे ही होता है, भावना के वश से असत् भी सत् हो जाता है, अतः पदार्थों का कारण भावना ही है, कारण बिना कार्य का उदय नहीं होता, महाप्रलय पर्यन्त कारण बिना कार्य होता देखा नहीं और सुना भी नहीं, इसलिये कहा है जिसकी जैसी वासना होती है ऐसा अनुभव होती है, रामजी ने कहा–हे भगवन्! जिस पुरुष को अपने पिंडदान आदिक धर्म की वासना नहीं वह जब मरता है तब प्रेत वासना संयुक्त होता है, कि मैं प्रेत हुआ हूँ, मैं पापी हूँ और पीछे उसके बांधव उसके निमित्त धर्म क्रिया करते है, वह धर्म बाँधवों ने पिंड क्रिया की है, उससे मेरा शरीर हुआ है, वह क्रिया उसको प्राप्त होती है अथवा नहीं होती। बाँधवों के मन में दृढ़ भावना हुई कि इसको प्राप्त होगी और इसके मन में भावना नहीं होती, क्योंकि उसके पास धन न था जिसे छोड़ चला हो और उसके लोभ से बांधव पिंडक्रिया करें, दूसरा कारण पुत्रादिकों का अभाव पिंडक्रिया किसने करनी है पीछे कोई है ही नहीं, अतः वह पूरा निराश है और किसी के प्रभाव से किसी ने पिंडादिक क्रिया की, वह कैसी होती है, उसको प्राप्त होती है अथवा

नहीं होती। आप कहते हैं कि भावना के वश से असत् भी सत् हो जाता है, यह क्या है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! भावना देशकाल क्रिया द्रव्यसंपत् इन पांचों से होती है, जैसी भावना होती है, वैसी सफलता स्वाभाविक है, बलवान् कर्तव्यवाले की जय होती है, यह पुत्र दारादिक जो बाँधव हैं वे सब इसके वासनारूप हैं, जब धर्म की वासना होती है, तब इसकी बुद्धि में प्रसन्नता उत्पन्न होती है, उनके पुण्यकर्मों से पूर्वभावना नष्ट हो जाती है और शुभगति को प्राप्त होता है, अति बलवती वासना की ही विजय होती है, अतः अपने कल्याण के लिये शुभ का अभ्यास करना चाहिये। रामजी बोले–हे भगवन्! यदि क्रिया, देश, काल, द्रव्य, संपद् पांचों से वासना होती है तो महाप्रलय सर्ग के आदि में देश काल क्रिया द्रव्य संपत् कोई नहीं रहती और निमित्त कारण का समवायिकारण का अभाव होता है और चिदात्मा में जगत् कुछ उपजा नहीं और है भी नहीं। वस्तुतः दृश्य का अत्यन्त अभाव है और जो कुछ भासता है वह ब्रह्म का किंचन है, वह ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है, ऐसी अनेक युक्तियों से मैं तुम्हें समझाऊँगा, अब तू पूर्वकथा सुन, हे रामजी! जब वह दोनों देवियाँ उस मन्दिर में जा पहुँची तब उन्होंने देखा कि यहाँ फूलों से सुदंर शीतल स्थान बने हुए हैं, जैसे वसन्त ऋतु में वन भूमिका होती है, ऐसे स्थान हैं और प्रातःकाल का समय है, मङ्गलरूप सुवर्ण के कुम्भ जल के साथ भरे पड़े हैं, दीपकों की प्रभा मिट गई है किवाड़ चढ़े हुए हैं और मन्दिरों में लोग सोये हुए हैं। उनके श्वास आते जाते हैं अति सुन्दर झरोखे हैं, ऐसे स्थान बने हुए हैं जैसे सकल कला से चन्द्रमा शोभा पाता है। उसीके समान भासते हैं, इन्द्र के स्थान जैसे सुन्दर हैं ऐसे सुन्दर मन्दिर हैं, जिस कमल से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, ऐसे ही वह कमल सुदंर है। ऐसे ही सुन्दर स्थान वाले मन्दिर देखने लगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मरणान्तरावस्थावर्णनं
नाम षट्पंचाशत्तमः सर्गः ॥५६॥

सप्तपंचाशत्तमः सर्गः ५७

स्वप्नपदार्थनिवृत्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! तब दोनों देवियाँ उस शव के पास विदूरथ की लीला को देखने लगीं जो उसकी मृत्यु के पहिले वहाँ आ पहुँची हैं, पहिले जैसे ही वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं। पूर्व जैसा सुंदर आचार है, पूर्व जैसी सुदंरता है, पूर्व जैसा शरीर है, लीला की भी अपूर्व सुन्दर मूर्ति है, जिसका चन्द्रमा के समान प्रकाश हो रहा है, अतिसुन्दर पुष्पाच्छादित भूमि पर बैठी है, लक्ष्मी के समान लीला और विष्णु के समान राजा हैं, उस लीला को उन्होंने कुछ चिन्तित देखा, जैसे दिन के समय चन्द्रमा की प्रभा मध्य हो जाती है, इस प्रकार चिन्तासहित राजा की दाहिनी ओर बैठी है, हाथ के आधार पर चिबुक रखे हुए हैं और दूसरे हाथ से राजा को चमर कर रही है, उस लीला को इन दोनों ने देखा परन्तु लीला इनको न देख सकी, क्योंकि यह दोनों प्रबुद्ध आत्माएँ हैं, सत्य संकल्प हैं। लीला इनके समान प्रबुद्ध नहीं थी। इस कारण से वह देख न सकीं। रामजी ने कहा–हे मुनिवर! उस मंडप में जो पहली लीला देह को वहाँ रखकर ध्यान में विदूरथ की सृष्टि देखने को सरस्वती के साथ गई थी, उस देह का आपने कुछ वर्णन नहीं किया, कि उस देह की क्या दशा हुई और वह कहाँ है? उसका वृतान्त कहो। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! लीला कहाँ थी? और लीला का शरीर कहाँ था और उसकी सत्ता कहाँ थी? वह तो अरुन्धती के मन में लीला के शरीर की भ्रान्ति प्रतिभा हुई थी, जैसे मरुस्थल में जल की प्रतिभा होती है, ऐसे लीला के शरीर की प्रतिभा हुई थी, हे रामजी! यह आधिभौतिक अज्ञान से भासता है, बोध से आधिभौतिकता निवृत्त हो जाती हैं, जब उस लीला को बोध में परिणाम हुआ तब उसका आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो गया, जैसे सूर्य के आतप से बर्फ का टुकड़ा गल जाता है ऐसे ही तत्वज्ञान के प्रभाव से आधिभौतिकता नहीं रह पाती, अन्तवाहकता प्रकट होती है

जैसी कि वहाँ भी हो गई थी। हे रामजी! जितना कुछ यह संसार है, सब आकाशरूप है, जैसे जेवरी में सर्प भ्रम से भासता है, ऐसे अन्तवाहकता में आधिभौतिकता भासती है, आदि शरीर अन्तवाहक है, अर्थात् यह जो संकल्पमात्र उसमें दृढ़ भावना हो गई उससे पृथ्वी आदि तत्वों का शरीर भासने लगा है, वास्तव से न कोई भूत आदि तत्व है, न कोई तत्वों का शरीर है, इनके शव शशे के श्रृंगों की नाईं असत् है, हे रामजी! आत्मा में अज्ञान से आधिभौतिक भासते हैं, जब आत्मा का बोध होता है, तब आधिभौतिकता का भान नहीं होता, जैसे किसी आदमी ने स्वप्न में अपने आपको हरिण देखा, जब जगा तब हरिण का शरीर दृष्टि नहीं आया। ऐसे अज्ञान से ही आधिभौतिकत्व भासता है, जब सत्य का ज्ञान उदित होता है तब असत्य का ज्ञान लीन हो जाता है, जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्प भासे तब जेवरी के ज्ञान से सर्प भ्रम लीन हो जाता है, ऐसे संपूर्ण जगत् मन से उदय हुआ है, अज्ञान से आधिभौतिकता को प्राप्त होता है, जैसे स्वप्न में जगत् आधिभौतिक हो भासता है और जगने पर स्वप्न शरीर नहीं भासता, ऐसे ही आत्मज्ञान से आधिभौतिकता निवृत्त हो जाती है, और अन्तवाहक शरीर भासता है, रामजी ने कहा—हे भगवन्! योगीश्वरलोक अन्तवाहक शरीर से ब्रह्मलोकपर्यन्त आते जाते हैं उनके शरीर कैसे हो भासते हैं? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! अन्तवाहक शरीर ऐसे हैं जैसे कोई पुरुष स्वप्न में हो, उसको पूर्व का शरीर जाग्रत का स्मरण हो, तब स्वप्न शरीर इसको दृष्टि भी आता है और उसको आकाशरूप जानता है, ऐसे आधिभौतिकता बोध करके नष्ट हो जाती है, जैसे शरत्काल का मेघ देखने मात्र होता है, ऐसे ही योगीश्वर ज्ञानवान् का शरीर देखने मात्र होता है और अदृश्यरूप है और को शरीर भासता है उसको आकाशरूप भासता है। हे रामजी! यह देहादिक आत्मा में भ्रान्ति करके दृष्टि आते हैं, आत्मज्ञान से निवृत्त हो जाते हैं, जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्प भासता है, जब जेवरी का सम्यक् ज्ञान हुआ, तब उसका सर्प भाव नहीं रहता, ऐसे ही तत्वबोध के होने पर देह का भान कहाँ

रहे। देह की सत्ता कैसे मिट सके दोनों का अभाव ही हो जाता है, केवल ब्रह्मसत्ता अद्वैत भासती है, रामजी बोले! हे भगवन्! अन्तवाहक से आधिभौतिकरूप होता है अथवा आधिभौतिक से अन्तवाहकरूप होता है, यह मुझसे कहिये। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! मैंने तुम्हें बहुत बार कहा है परन्तु तुम मेरे कहे वचनों को अङ्गीकार क्यों नहीं करते, मैंने पहिले ही कहा कि जितने भी जीव हैं वे सब अन्तवाहक हैं, आधिभौतिक कोई नहीं, आदि जो शुद्ध संवित् मात्र से संवेदन आभास उठा, उससे इस जीव का आदि शरीर अन्तवाहक संकल्परूप हुआ, जब उसमें दृढ़ अभ्यास हुआ तब वह संकल्परूप शरीर आधिभौतिक होकर भासने लगा, जैसे जल दृढ़ जड़ता से बर्फरूप हो जाता है, ऐसे प्रमाद से संकल्प के अभ्यास से आधिभौतिकरूप हो जाता है। इस आधिभौतिक के तीन लक्षण होते हैं, भारी शरीर होता है और कठोर भाव होता है, शिथिल होता है, उसमें अहं प्रतीति होती है, इस कारण से अधिभूत कहा जाता है और जब तत्व का बोध होता है तब आधिभौतिकता आकाशरूप हो जाती है, जैसे स्वप्न में देह से आदि लेकर जगत् बड़ा स्पष्टरूप भासता है और जब स्वप्न में स्वप्न का ज्ञान होता है कि यह स्वप्न है तब वह स्वप्न का शरीर लघु हो जाता है, अर्थात् संकल्परूप हो जाता है, ऐसे ही परमात्मा के बोध से आधिभौतिक शरीर निवृत्त हो जाता है, संकल्परूप भासता है। हे रामजी! इसको जो आधिभौतिकता प्राप्त हुई है वो अबोध के अभ्यास से प्राप्त हुई है, जब उलटकर वही ज्ञानाभ्यास हो तो फिर वही अन्तवाहकता उदित हो जाय। हे रामजी! अन्य शरीरों को जो यह प्राप्त होता है वह एक शरीर को त्यागकर दूसरे को अंगीकार करता है, इसलिये और यदि तत्वज्ञान के लिये यत्न करे और इसको तत्वज्ञान (बोध) हो जाये तब शरीर तो कोई वस्तु नहीं रहती, वह आधिभौतिकता शान्त हो जाती है, जैसे स्वप्न से जगा हुआ स्वप्न शरीर शांत हो जाता है, ऐसे ही आत्मसाक्षात्कार से यह आधिभौतिकता आदि संस्कार निर्मूल हो जाते हैं, हे रामजी! जितना कितना भी यह जगत्

तुझको भासता है सब भ्रममात्र है, अज्ञान के कारण सत् की नाईं भासता है। जब आत्मबोध होगा, तब सब आकाशरूप होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५७॥

अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः ५८

जीवजीवनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! वे दोनों देवियाँ जब अन्तःपुर में गईं, तब प्रबुद्ध लीला ने कहा—हे देवीजी! मुझे समाधि में लगे हुए कितना काल व्यतीत भया है और मैं जो ध्यान करके भूपाल की सृष्टि में गई थी, मेरा शरीर यहाँ पड़ा था वह कैसे कहाँ गया? देवी ने कहा—हे लीले! अब तुझको समाधि में लगे एकतीस दिन व्यतीत हुए हैं और जब तू ध्यान में लगी तब तेरा पुर्यष्टक विदूरथ की सृष्टि में विचरता फिरता रहा, इस शरीर की वासना तेरी निवृत्त हो गई, तब यह शरीर तेरा निर्जीव होकर गिर पड़ा जैसे रस से रहित पत्र सूख जाता है, ऐसे तेरा शरीर रस से रहित हुआ था, जैसे काष्ठ पाषाण होता है तैसे हो गया था और बर्फ की नाईं शीतल हो गया था। तब देखकर सबने यही जाना कि यह शरीर निर्जीव हो गया है, इसका अग्निसंस्कार करना चाहिये, तब चन्दन आदि सुगंधित सामग्री तथा घृत आदि से जलाने की व्यवस्था की गई अर्थात् उसका अग्निसंस्कार किया गया। बाँधवजन रुदन करने लगे, पुत्रों ने पिंडक्रिया की। हे लीले! आगे जब तू ध्यान से उतरती थी तब लोग तुझको देखकर आश्चर्यवान् होते थे। और अब भी देखकर आश्चर्यवान् होंगे कि रानी परलोक से फिर आई है। हे लीले! तुझको बोध उदय हुआ हैं, इसलिये उस शरीर की वासना नष्ट हुई है और अन्तवाहक में दृढ़ता हुई है। इस कारण से वह शरीर जीवित हुआ, अब जो उसके समान तेरा शरीर है, वह इस कारण से है कि तुझको बोध

हुआ है और वह लीला वासना में हुआ कि मैं लीला हूँ, ऐसे जो तेरी वासना हुई, इस कारण से तेरा शरीर वैसा रहा, इस लीला शरीर की तेरी वासना नष्ट नहीं हुई थी। इस कारण से तू निर्वाण न हुई, नहीं तो विदेहमुक्त हो जाती, अब तू सत् संकल्प हुई है जैसे तेरी इच्छा हो तैसे अनुभव होगा। हे लीले! जैसी वासना जिसको होती है उसके अनुसार उसको प्राप्त होता है, जैसे बालक की अन्धकार में जैसी भावना होती है वैसा ही भान होता है, यदि वैताल की भावना होती है तो वेताल ही भासता है, परन्तु वास्तव में वैताल कोई नहीं, इस प्रकार जितनी भी आधिभौतिकता भासती है वह भ्रम मात्र है, सब जीवों का आदि शरीर अन्तवाहक है, आधिभौतिकता प्रमाद से भासती है, हे लीले! एकलिंग शरीर है, एक अन्तवाहक शरीर है, दोनों संकल्पमात्र हैं और इतना भेद है, लिंग शरीर संकल्परूप मन है, उसमें जिसको आधिभौतिकता का अभिमान हुआ है, उसको गौरत्वरूप और कठोररूप तथा वर्णाश्रम का अभिमान हुआ है, जिस पुरुष को ऐसे अनात्मा में आत्माभिमान हुआ है, वह आधिभौतिक लिंग देह है, अर्थात् उसका चिन्तन सत्य नहीं होता, और जिसको आधिभौतिक अभिमान नहीं, वह अन्तवाहक शरीर है, यह जैसा चिन्तन करता है ऐसी सिद्धि हो जाती है। हे लीले! तू अब अन्तवाहक में दृढ़ हुई है, इस कारण से तेरी आधिभौतिक बुद्धि नष्ट हो गई है, वह शरीर शव होकर गिर पड़ा, जैसे–जल से रहित मेघ होता है, जैसे सुगन्ध से रहित फूल हो ऐसे तेरा शरीर हो गया है और अब तू सत्संकल्प हुई है, जैसा चिन्तन करे वैसा होता है। हे लीले! यह जो कमलनयनी लीला तेरे भर्ता के पास बैठी है, इसको इस अन्तःपुर के लोग, सहेलियाँ जान नहीं सकतीं। क्योंकि मैंने इनको निद्रा से मोहित किया था, जब तक मेरा दर्शन इसको न हो तब तक इसे और कोई न जान सके, अब यह हमको देखेगी। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! ऐसा विचारकर देवी ने अपने संकल्प के साथ उसका ध्यान किया, तब उस लीला ने देखा कि अन्तःपुर में बड़ा प्रकाश हुआ है, जैसे बहुत सूर्यों का प्रकाश इकट्ठा हुआ हो और वह प्रकाश भी चन्द्रमा के समान शीतल। इस

प्रकार प्रकाशमान् देवियों को देखकर नमस्कार किया, मस्तक नवाया और दोनों को स्वर्ण के सिंहासन पर बिठाकर कहने लगीं, हे जीव की दाता! तेरी जय हो, तुमने मुझ पर बड़ी कृपा की है, तुम्हारे प्रसाद से मैं यहाँ आ पहुँची हूँ। देवीजी ने कहा—हे पुत्री! तुम यहाँ क्यों? और कैसे आ पहुँची हो और क्या कुछ वृतान्त तुमने देखा है? कहो। विदूरथ लीला बोली—हे देवि! जब मेरा भर्ता संग्राम में घायल हुआ था उसको देखकर मैं मूर्छित हुई और गिर पड़ी, मूर्छित तो हुई परन्तु मरी नहीं, उसके बाद मुझको फिर चेतना हुई, तब मैंने अपने साथ उसी शरीर को देखा, जिस शरीर से मैं आकाश मार्ग को उड़ी थी, एक कुमारी उड़ाती मुझको यहाँ ले आई, जैसे वायु गंध को ले आता है, ऐसे उड़ती हुई परलोक में मुझको भर्ता के पास बैठा गई है, और आप अन्तर्धान हो गयी, और मेरा भर्ता जो संग्राम से थका है, वह आकर सो रहा है, और मैं देखती सँभालती मार्ग में आई हूँ, परन्तु मुझको तुम दृष्टि कभी नहीं आई, यहाँ कृपा करके तुमने दर्शन दिये हैं। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार सुनकर देवी ने प्रबुद्ध लीला को कहा कि अब राजा की जीवकला को छोड़ती हूँ, ऐसा कहकर जीवकला को छोड़ दिया, तब नासिका मार्ग से जीवकला ने प्रवेश कियां, जैसे कमल के अन्दर वायु प्रवेश करे, अथवा शरीर में वायु प्रवेश करे, वैसे शरीर में जीवकला ने प्रवेश किया, जीवकला कैसी है कि जो वासना से पूर्ण है, जैसे समुद्र जल से पूर्ण होता है, वैसे पुर्यष्टक वासना से पूर्ण है, जीवकला के शरीर में प्रवेश करने पर मुख की कान्ति उज्ज्वल हो गयी, अङ्गों में प्राणवायु का संचार हुआ, जैसे वसन्त ऋतु में पुष्पों में रस संचार होता है। तब सब इन्द्रिय विकसित हुए जैसे वसन्त ऋतु में फूल खिल जाते हैं, ऐसे ही इंद्रियों का विकास (खिलना) प्रारम्भ हुआ, तब राजा पुष्पों की शय्या से उठ खड़ा हुआ, जैसे रोका हुआ विन्ध्याचल उठ खड़ा हुआ हो इस प्रकार उठा। तब दोनों लीला राजा के सम्मुख आकर खड़ी हुईं, तब राजा ने कहा—मेरे आगे तुम कौन खड़ी हो, तब प्रबुद्ध लीला बोली—हे स्वामिन्! मैं तुम्हारी पूर्व पट्टरानी लीला हूँ, सदा आपके संग रही हूँ,

जैसे शब्द के साथ अर्थ रहता है, ऐसे ही मैं सदा आपके संग रही हूँ। हे राजन्! जब तुम यहाँ शरीर को त्यागकर परलोक में गये थे तब मुझमें आपका बहुत स्नेह था, इस कारण मेरा प्रतिबिंब यह लीला तुमको भासी थी। अब यह जो और खता है इसका वृतान्त मैं तुझसे कहूँगी, हे राजन्! हमारे ऊपर इस देवी ने कृपा की है जो तुम्हारे शीश पर स्वर्ण के सिंहासन पर बैठी हैं और परलोक से तुम्हें ले आई है। हे रामजी! ऐसा सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और सरस्वती के चरणों पर मस्तक नवाया और बोला हे भगवति! मेरा नमस्कार स्वीकार हो, तुम सबकी हितकारिणी माता हो परन्तु तुमने मुझ पर तो निहायत ही बड़ा अनुग्रह किया है, अब कृपा करके मुझे यह वर दो कि, मेरी आयु बढ़े, मेरे बल की वृद्धि हो, मैं निष्कंटक राज्य करूँ, मैं परम लक्ष्मीवान् बनूँ, मेरे पास असंख्य, अनन्त और अपार धन वैभव हो, मुझे कभी कोई रोग न हो, मैं आत्मज्ञान सम्पन्न होऊँ, अर्थात् मुझे भोग और मोक्ष दोनों पदार्थ दो। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब इस प्रकार राजा ने कहा–तब देवी ने उसके सिर पर हाथ धरा और आशीर्वाद दी कि हे राजन्! ऐसा ही होगा, तू परम आयुष्मान्, विशिष्ट बलवान् तथा ऐसा तेजोनिधान होगा कि संसार में किसी भी मनुष्य को तुम्हारे साथ शत्रुता छू न सकेगी, तेरी प्रजा परम सुखी रहा करेगी, और तुझे देख देख प्रसन्न हुआ करेगी, तथा तू आत्मानन्द से परिपूर्ण होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवजीवनवर्णनं नाम अष्टपंचाशत्तमः सर्गः ।।५८।।

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

निर्वाणवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार कहकर देवी अन्तर्धान हो गई। तब प्रातः काल का समय हुआ, सब लोग जगे, सूर्य का भी उदय हुआ,

सूर्यमुखी कमल खिले, तब राजा ने दोनों लीलाओं को कंठ से लगाया, प्रसन्न हुआ, हैरान (विस्मित) हुआ, तब उस मन्दिर में विविध बाजे बजने लगे, मंगल ध्वनियां होने लगीं, मंदिर में बहुत आनन्द हुलास हुआ, अप्सरायें नृत्य करने लगीं, विद्याधर सिद्ध, देवता, पुष्प वृष्टि करने लगे, इस बात से लोग बड़े आश्चर्य में पड़े कि लीला परलोक से आ गयी है, और भर्ता को तथा आप जैसी लीला को भी साथ ले आई है, हे रामजी! यह कथा-देश देशान्तरों को चली गई, लोग सुनकर विस्मित होते थे, जब इस प्रकार यह कथा बहुत प्रसिद्ध हुई तब राजा ने भी सुना कि मैं मर कर फिर उत्पन्न हुआ हूँ, इस कारण से राजा ने विचार किया कि मुझे पुनः राज्याभिषिक्त होना चाहिये, तब मन्त्रियों तथा मण्डलेश्वरों ने उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम इन चारों समुद्रों का जल मँगवाया, सब तीर्थों से भी जल लाया गया तदनन्तर विद्वान् कर्मकांडियों द्वारा राजा का विधिपूर्वक राज्याभिषेक समारोह किया गया, तब चारों समुद्रों पर्यन्त राजा निष्कण्टक राज्य करने लगा, राजा और लीला अपनी पूर्व कथा पर आश्चर्यवान् होने लगे, सरस्वती के उपदेश और प्रसाद से तथा अपने पुरुषार्थ से राजा और दोनों लीलाओं ने हजारों वर्ष पर्यन्त जीवनमुक्त होकर राज्य किया, वह भी अतिविचित्र कि मन सहित छहों इंद्रियों का वश में किया, और यथालाभ में संतोष रक्खा, उनका दृश्य भ्रम नष्ट हो गया, जीवन्मुक्त होकर राज्य करने लगे, परम तेजस्वी राजा ने अपनी प्रजा को भली प्रकार संतुष्ट किया, प्रजा भी राजा को देखकर बहुत प्रसन्न होकर कहती थी कि कैसा सुन्दर राजा है, मानों चन्द्रमा इनके ही सौन्दर्य की कणिका मात्र है, मानों सूर्य इसी राजा के तेज का एक कण मात्र है, राजा की बुद्धिमत्ता पर ब्राह्मण लोग बहुत प्रसन्न हुए, दोनों लीला और राजा विदेहमुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने निर्वाणवर्णनं नाम एकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

षष्टितमः सर्गः ६०

प्रयोजनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! यह दोनों कथा मैंने तुझको विस्तार से सुनाया हैं, एक आकाशज ब्राह्मण की, दूसरी लीलाकी, वह दृश्य दोषकी निवृत्ति के लिये कही है, हे रामजी! दृश्य की दृढ़ता को त्यागकर अब तुम दोनों इतिहासों को संक्षेप से श्रवण करो। यह जगत् जो तुझको भासता है वह आत्मरूप है, आदि से उत्पन्न नहीं हुआ, जो वस्तु सत् होती है उसके निवारण के लिये प्रयत्न होता है, और जो वस्तु असत् ही हो उसके निवृत्त होने में तो यत्न ही कुछ नहीं इस कारण से ज्ञानवान् को सब आकाशरूप हो जाता है, और आकाश की नाईं स्थित होता है, हे रामजी, आदि में जो ब्रह्मसत्ता में आभास संवेदन फुरा है, वह ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है, वह ब्रह्मा पृथ्वी आदि भूतों से रहित है, जो आप ही आभासरूप होवे उसके उपजाये जगत् कैसे सत् हो? हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुष आकाशरूप है, जिसको आत्मपद का साक्षात्कार हुआ है, उसको दृश्यका भ्रम अभाव हो जाता है और अज्ञानीको जगत् भ्रम स्पष्ट भासता है, शुद्ध चिदाकाश का एक अणु जीव अणु में यह जगत् भासता है, उस जगत् की सृष्टि तुझको मैं क्या कहूँ, नीति क्या कहूँ, वासना क्या कहूँ, पदार्थ क्या कहूँ? हे रामजी! और जगत् कुछ उपजा नहीं, संवेदन फुरने से जगत् भासता है, शुद्धसंवित् में संवेदनरूपी नदी चली है, उसमें यह जगत् फुरता है, जब संवेदन को यत्न से रोकेगा तब दृश्य भ्रम नष्ट होगा। वह यत्न करना यही है कि संवेदन को आत्मसाक्षात्कार होने तक अन्तर्मुख करना, तब तक श्रवण मनन निदिध्यासन से दृढ़ अभ्यास करना चाहिये, साक्षात्कार होने पर दृश्य का अत्यन्ताभाव हो जाता है, हे रामजी! यह सब जगत् जो तुझको भासता है हमको अखण्ड ब्रह्मसत्ता ही

ही भासती है, जगत् मायामय है परन्तु माया भी कुछ और वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, रामजी ने कहा–महान् आश्चर्य है महान् आश्चर्य है, हे मुनीश्वर! आपने मुझे उस परमोत्तम अवस्था का उपदेश किया है, यह आपका उपदेश दृश्य रूप तृण को नाश करने के लिये दावानल के समान है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक,आधिदैविक तापों को शान्त करने वाला चन्द्रमा है। हे मुनीश्वर! तुम्हारे उपदेश से मैं ज्ञातज्ञेय हुआ हूँ और पांच विकल्प मैंने विचारे हैं, कि यह जगत् मिथ्या है, स्वरूप से अनिर्वचनीय है। (१) आत्मा में आभास है (२) इसका स्वभाव परिणामी है (३) अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, (४) और अनादि अज्ञान पर्यन्त है (५) ऐसा जानकर मैं शान्तात्मा ज्ञानवानों की नाईं हुआ हूँ, हे मुनीश्वर! और शास्त्रों से तुम्हारा यह उपदेश आश्चर्य है, मेरे श्रवणपात्र आपके वचनामृत से तृप्त नहीं होते। अतः मेरा यह संशय दूर करो कि लीला के भर्ता को तीन सृष्टियों का अनुभव कैसे हुआ? प्रथम वसिष्ठ की तदन्तर पद्म की पुनः विदूरथ की। इनमें काल का व्यक्तिक्रम देखा है कि कहीं दिन हुआ, कहीं मास हुआ, कहीं वर्षों का अनुभव हुआ, यह काल का व्यतिक्रम कैसे हुआ? हे मुनीश्वर! ऐसा स्पष्ट रूप से कहो कि मेरी समझ में आ जाय, एकबार कहने से हृदय में स्थित नहीं होता, अतः बार बार कहें। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! शुद्ध संवित् सबका अपना आप है, उसमें जैसा जैसा संवेदन फुरता है ऐसा ऐसा रूप हो भासता है, कहीं कल्पों के समूह क्षण में बीते भासते हैं कहीं क्षण में क्षण का अनुभव होता है, हे रामजी! जिसको विष में अमृत भावना होती है, उसको वह विष होकर ही भासता है, कोई शत्रु में मित्र की भावना करे तो वह मित्ररूप हो भासता है, जिसको मित्र में शत्रुभावना होती है उसको शत्रु होकर भासता है, हे रामजी! जैसा संवेदन फुरता है वैसा स्वरूप हो भासता है, जिसका संवेदन तीव्रभाव से अभ्यास करके निर्मल भाव को प्राप्त होता है, उसका संकल्प सत् होता है, जैसा चेतता है वैसा ही सिद्ध होता है, अतः संवेदन की तीव्रता चाहिये। हे रामजी जो कोई

पुरुष रोगी होता है उसको एक रात्रि कल्प के समान व्यतीत होती है और जो अरोगी है उसकी रात्रि एक क्षण की नाईं व्यतीत होती है और एक मुहूर्त के स्वप्न में अनेक वर्षों का अनुभव करता है, जानता है कि मैं उपजा हूँ यह मेरे माता-पिता हैं, अब मैं बड़ा हूँ, यह मेरे बांधव हैं। हे रामजी! एक मुहूर्त में इतने भ्रम देखता है और जगे हुए एक मुहूर्त भी नहीं बीता, हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्षों का अनुभव हुआ था, राजा लवण को एक क्षण में सौ वर्ष का अनुभव हुआ था, अतः जैसे जैसे रूप होकर संवेदन फुरता है ऐसे ऐसे होकर भासता है, हे रामजी! ब्रह्मा की मुहूर्त में मनुष्य की आयु व्यतीत हो जाती है वह ब्रह्मा एक मुहूर्त का अनुभव करता है और मनुष्य पूर्ण का आयु का अनुभव करता है। और जो ब्रह्मा अपनी सम्पूर्ण आयु अनुभव करता है, वह विष्णु भगवान् का एक दिन होता है, ब्रह्मा का आयुर्बल व्यतीत होता है और विष्णु का एक दिन का अनुभव होता है, इसलिये जैसे जैसे संवेदन में दृढ़ता होती है वैसे वैसे ही भान होता है, हे रामजी! जितना कुछ जगत् तुम देखते हो वह संवेदन के फुरने में स्थित है, जब संवेदन स्थित होता है तब न दिन भासता है और न रात भासती है, न कोई पदार्थ भासते हैं न अपना शरीर भासता है, वह केवल आत्मतत्त्व मात्र सत्ता रहती है,अतः तू देख कि सब जगत् मन के फुरने में होता है, जैसे फुरता है तैसा तैसा रूप हो भासता है, कटुक में जिसको मधुर की भावना होती है, उसको कटुक मधुर हो जाता है और मधुर में जिसको कटुक भावना होती है तब उसको मधुर भी कटुक रूप हो जाता है और स्वप्न में शून्य स्थान में नाना प्रकार के व्यवहार होते भासते हैं, अतः यह सिद्धान्त बात है कि जैसा स्फुरण मन में होता है वैसा ही भासता है, हे रामजी! जो पुरुष नौका में बैठा होता है उसको नदी के तट वृक्षों सहित दौड़ते भासते हैं, और स्थिर पदार्थ चलते भासते हैं, जो विचारवान् हैं वे चलते भासने में स्थिर जानते हैं और जो पुरुष भ्रमता है उसको स्थिर मंदिर भ्रमते भासते हैं और जो विचार में दृढ़ हैं उन को भ्रम से भासने में भी अचल बुद्धि होती

है, अतः जैसा निश्चय होता है वैसा वैसा हो भासता है, हे रामजी! श्वेत पदार्थ होता है, वह उस आदमी को पीतवर्ण भासता है जिसको नेत्रों में दोष हो और जिसके शरीर में वात, पित्त कफ का क्षोभ होता है, उसको सब पदार्थ विपरीत भासते हैं, पृथ्वी आकाशरूप भासती और आकाश पृथ्वीरूप हो भासता है और चल पदार्थ अचल भासता और अचल चलता भासता है, हे रामजी! स्वप्न में अंगना असत्‌रूप होती है परन्तु भ्रान्ति करके उसको स्पर्श करता है और प्रसन्न होता है, उस समय प्रत्यक्ष भासती है और जैसे बालक को छाया में वैताल भासता है, वह असत् ही सत्‌रूप हो भासता है, हे रामजी! यदि शत्रु में भी पूर्णरूपेण मित्रभावना हो तो वह शत्रु भी मित्र भासता है और इसके विपरीत यदि मित्र में शत्रुभावना हो तो मित्र ही शत्रुरूप हो भासता है, जैसे–जेवरी में सर्प नहीं परन्तु भ्रम से सर्प भासता है और भय देता है, अगर बाँधव में अबान्धव की भावना करे तो बाँधव भी अबाँधव हो भासता है और भावना के बदल जाने से अबाँधव भी बाँधव हो भासता है, हे रामजी! शून्य स्थान में स्वप्न के समय बड़े क्षोभ भासते हैं और जगते हुए निकटवर्ती को कुछ नहीं भासता। स्वप्नवाले को स्वप्न का अनुभव होता है और जाग्रतवाले को जाग्रत् का अनुभव होता है, इत्यादि पदार्थ विपर्यय से भासते हैं। वह भ्रम से भासते हैं। जब मन फुरता है तब ही भासता है, ऐसे ही लीला के भर्ता को भी ऐसी सृष्टि का अनुभव हुआ, जैसे जगत् की मूर्ति का स्वप्न में बहुत काल का अनुभव होता है, ऐसे लीला के भर्ता को भी हुआ था, जैसा जैसा मन का फुरना होता है,वैसा वैसा रूप चेतन संवित् में भासता है। और हमको तो सदा ब्रह्म का निश्चय है अतः सब जगत् हमें ब्रह्म स्वरूप हो भासता है,जिसको जगद्‌भ्रम दृढ़ है उसको जगत् ही भासता है, हे रामजी! जितना भी यह जगद्‌भान होता है आदि से कुछ नहीं उपजा, सब आकाशरूप है, रोकने वाली दीवार कोई नहीं, बड़े विस्तारवाला जगत्, परन्तु स्वप्नवत् है। जैसे स्तंभ में कुरेदे बिना पुतली शिल्पी के मन में भासती है, स्तंभ में किंचित् भी बनी नहीं, ऐसे आत्मारूप स्तंभ है उसमें संवेदन जगत्‌रूप पुतलियों को रचता है, परन्तु

पदार्थ कुछ हुआ नहीं आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है, हे रामजी! जैसे एक स्थान में दो पुरुष सोये हों, उनमें एक जाग्रत् हो और दूसरा स्वप्न में हो, स्वप्न वाले को तो बड़े युद्ध होते भासते हैं और जाग्रत् को आकाशरूप है, ऐसे ही जो प्रबुद्ध आत्मज्ञानवान् हैं, उनको जगत् का सुषुप्ति की नाईं अभाव है और जो अज्ञानी हैं, उनको नाना प्रकार के व्यवहारों सहित जगत् स्पष्ट भासता है, जैसे वसन्त ऋतु में पत्र फूल स्तवक (गुच्छे) रस सहित भासते हैं ऐसे आत्मसत्ता चैत्यता से जगद्रूप भासती है, जैसे स्वर्ण में द्रवता सदा नहीं रहती, परन्तु जब अग्नि का संयोग होता है तब उसमें द्रवता भासती है, हे रामजी! आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं जैसे अवयवी और अवयवों में कुछ भेद नहीं जैसे पृथ्वी और गंध में कुछ भेद नहीं, ऐसे आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। ब्रह्मसत्ता ही संवेदन से जगत्रूप हो भासती है और कुछ दूसरी वस्तु नहीं, जब महाप्रलय होता है और सर्ग नहीं होता तब कार्य कारण की कल्पना कोई नहीं होती केवल चिन्मात्र सत्ता होती है, उससे वह चिदाकाश पुनः जगत् भासता है तो वही रूप हुआ और यदि तुम कहो इस जगत् का कारण स्मृति होती है तो सुनो! हे रामजी! जब महाप्रलय होता है तब ब्रह्माजी जो विदेह मुक्त होते हैं फिर वह जगत् का कारण कैसे हो? और जो तुम स्मृति को कारण मानों तो स्मृति भी अनुभव में होती है, यदि स्मृति से जगत् हुआ तो भी अनुभवरूप हुआ, रामजी बोले– हे भगवन्! पद्म राजा के मंत्री सेवक सब लोक विदूरथ को जा प्राप्त हुए, तो कैसे हुए? यह बात पुनः कहो, वसिष्ठजी बोले हे रामजी! केवल चेतन संवित् सबका अपना आप है, जैसा जैसा उस संवित् के आश्रय से संवेदन फुरता है, ऐसा ऐसा रूप हो भासता है, हे रामजी! जब राजा विदूरथ मरने लगा तब राजा की वासना उनमें रहती थी, और मंत्री सेवक आदि राजा के अंग हैं इस कारण से ऐसे ही मंत्री सेवक राजा को प्राप्त हुए, जैसे मणि की किरणें मणि के अङ्ग हैं, ऐसे ही मन्त्री सेवक आदि सामग्री राजा के अङ्ग हैं। जैसे स्वप्न में कोई अपने आपको देखे, कि मैं इस कुल में उपजा हूँ यह मेरा कुल आचार है, मैं राजा हूँ यह मेरे मंत्री

हैं, सेवक हैं अनेक पदार्थ हैं, ऐसे ही मरे हुए राजा विदूरथ ने देखा है। हे रामजी! जैसी जैसी भावना संवेदन में दृढ़ होती है, ऐसा ऐसा रूप हो भासता है, एक चल पदार्थ होते हैं, एक अचल पदार्थ होते हैं, जो अचल पदार्थ होता है उसका प्रतिबिंब आदर्श में भासता है, और चल पदार्थ का नहीं भासता, ऐसे जिस पदार्थ की तीव्र संवेग भावना होती है उसका प्रतिबिंब चेतन दर्पण में भासता है अन्यथा नहीं भासता । जैसे तीव्रवेगवान् बड़ा नद होता है, वह समुद्र को शीघ्र ही जा मिलता है, और नहीं जा पाते, ऐसे जिसकी दृढ़ वासना होती है, उसके अनुसार शीघ्र प्राप्त होता है, हे रामजी! अनेक वासनाएँ जिसके हृदय में होती हैं और जिसकी तीव्रता होती है वही सफल होती है, जैसे समुद्र में कई तरंगे होती हैं,कई उपजते हैं कई नष्ट होते जाते हैं कई सदृश होते हैं कई भिन्न होते हैं, ऐसे उसके तत्सदृश मन्त्री सेवक हुए। हे रामजी! ऐसे अनेक प्रकार की सृष्टि एक एक चित् अणु में स्थित होती है, वास्तव में कुछ नहीं, चिदाकाश ही चिदाकाश में स्थित है, और यह जो जगत् भासता है, वह आकाशरूप ही है, जो जाग्रतरूप होकर असत् ही सत्‌रूप की नाईं भासता है, जैसे पत्र फूल सब वृक्षरूप हैं वृक्ष ही इन रूपों में स्थित है, ऐसे अनन्त शक्ति परमात्मा अनेकरूप होकर भासता है, हे रामजी! द्रष्टा, दर्शन, दृश्यरूप जो त्रिपुटी भासती है, वह ज्ञानी को परमपदरूप भासती हैं और अज्ञानी को द्वैतरूप जगत् होकर भासती है, कहीं शून्य भासता है, कहीं तम भासता है, कहीं प्रकाश भासता है, और देश, काल, क्रिया, द्रव्य, आदिक सब जगत् हैं वह सब आदि, मध्य, अन्तसे रहित स्वच्छ आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, जैसे सौम्यजल से तरङ्ग भी होते हैं वह जलरूप ही हैं ऐसे अहं त्वं आदि जगत् भी बोधरूप है, सदा अपने आप में स्थित है,उसमें द्वैत कल्पना का अभाव है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने प्रयोजनवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ।।६०।।

एकषष्टितमः सर्गः ६१

जगत्किंचनवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे भगवन्! अहं, त्वं आदि जो दृश्य भ्रांति हैं वह कारण बिना परमात्मा से कैसे उदय हुई? जिस प्रकार मैं समझ सकूँ उसी प्रकार मुझे फिर समझाओ। वसिष्ठजी ने कहा– हे रामजी! जितना यह कार्य कारण जगत् भासता हैं, इसका उदय आदि परमात्मा से ही हुआ है, संवेदन के फुरने से इकट्ठे ही पदार्थ भास आये हैं, यह सर्वदा सर्वप्रकार से सर्वात्मा अजरूप अपने आप में स्थित है, हे रामजी! यह सब जो शब्द और अर्थरूप कलना भासी है, वह ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, और ब्रह्मसत्ता सब शब्द अर्थ की कलना से रहित अपने आप में स्थित है, जैसे सुवर्ण से इतर भूषण नहीं और जल से इतर तरंग नहीं, ऐसे ब्रह्म से इतर जगत् नहीं, ब्रह्मस्वरूप है, हे रामजी! ईश्वर जो आत्मा है वह जगतरूप है, जग़त् ईश्वररूप है जैसे स्वर्ण भूषणरूप है और भूषण स्वर्णरूप है, अर्थात् यह जो स्वर्ण में जो भूषण शब्द और अर्थ कल्पित है वास्तव से नहीं, ऐसे जगत् आत्मा का आभासरूप है वास्तव से कुछ नहीं, हे रामजी! जितना कुछ जगत् है वह ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं जैसे अवयवी से भिन्न अवयव नहीं होता, ऐसे आत्मा से जगत् भिन्न नहीं चिद्धनरूप ही है, आत्मा में संवेदन के फुरने से तन्मात्रा फुरी है आत्मा में इनका उपजना सम हुआ है, पश्चात् विभाग कल्पना हुई है जो उनसे भूत हुए हैं, इत्यादि जगत्रूप कैसा है, वह आत्मा से अन्य नहीं, जैसे शिला में चितेरा भिन्न भिन्न पुतली को कल्पता है, वह शिलारूप ही है इतर कुछ नहीं, ऐसे अहं, त्वं, आदि जगत् चिद्घन आत्मा में मनरूप चितेरे ने कल्पित किया है, वह चिद्घनरूप ही है, इतर कुछ नहीं, जैसे जल में तरंग स्थित होते हैं, वे जलरूप ही हैं, तरंगों का शब्द और अर्थ जल में कोई नहीं, ऐसे आत्मा में जगत् स्थित है और आत्मा जगत् के शब्द और अर्थ से रहित है, हे रामजी! जगत् परम पद से भिन्न नहीं,

और जगत् परम पद से भिन्न नहीं, और परमपद जगत् के बिना नहीं, केवल चिद्रूप अपने आप में स्थित है, और जैसे वायु और स्पंद में कुछ भेद नहीं है स्पंद और निस्पंद दोनों रूप वायु के हैं, जब स्पंदरूप होता है तब स्पर्शरूप होकर भासता है, और निस्पंद हुए स्पर्श नहीं भासता, ऐसे जगत् और ब्रह्मा भेद कुछ नहीं, और जब संवेदन किंचित्रूप होता है, तब जगतरूप हो भासता है, और संवेदन के निस्पंद होने पर जगत् नहीं भासता, और आत्मसत्ता सदा एकरूप है, हे रामजी! जब संवेदन फुरणे से रहित होकर आत्मपद में स्थित हो तब संकल्परूप जगत् फिर भासे वह भी आत्मरूप भासे, जैसे वायु को स्पंद निस्पंद दोनों रूप अपने आप भासता है, ऐसे इसको भासता है, जैसे वायु में स्पंदता वायुरूप से स्थित है, ऐसे आत्मा में जगत् आत्मरूप से स्थित है। जैसे तेज अणु का प्रकाश मंदिर में होता है तब बाहिर भी प्रकाश प्रकट होता है, ऐसे जब केवल संवित् मात्र में संवेदन स्थित होता है तब फुरने में भी संवित् मात्र ही भासता है, हे रामजी! जैसे रस तन्मात्रा में जल स्थित होता है ऐसे आत्मा में जगत् स्थित है, जैसे— गंधतन्मात्रा में सम्पूर्ण पृथ्वी स्थित है ऐसे किंचनरूप जगत् आत्मा में स्थित है, वह आत्मसत्ता निराकार चिन्मात्ररूप हैं, उदय और अस्त से रहित अपने आप में स्थित है, प्रपंच भ्रम उसमें कोई नहीं, हे रामजी! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको दृढ़ीभूत जगत् भी आकाशरूप भासता है, और जो अज्ञानी हैं उनको असत्रूप जगत् भी सत्रूप हो भासता है, हे रामजो! जैसा जैसा संवेदन चित्तसंवित् में फुरता है, ऐसा ऐसा रूप जगत् हो भासता है। यह जितने तत्व हैं और तन्मात्रा हैं वे सब चित्तसंवेदन के फुरने से स्थित हुए हैं, जैसा जैसा उसमें फुरना होता है वही होकर भासता है, क्योंकि आत्मा सर्वशक्तिमान् है, जिस जिस पदार्थ का फुरना होता है, वही अनुभव में सत्रूप होकर भासता है और जो कुछ पंचज्ञानेन्द्रिय छठा मन का विषय होता है वह सब असत्रूप है, और आत्मसत्ता इनसे अतीत है, और विश्व

भी क्या रूप है, जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् स्थित है, जैसे तेज और प्रकाश अनन्य रूप हैं, ऐसे आत्मा और जगत् अनन्य रूप हैं, जैसे स्तंभ में शिल्पी पुतलियाँ देखता है, जैसे मृत्तिका के पिंड में कुलाल बर्तन देखता है, जैसे भीत पर चितेरा मूर्ति रंग से लिखता है, वह अनन्यरूप है, ऐसे परमात्मा में सृष्टि अनन्य रूप है, हे रामजी! जैसे मरुस्थल में मृग तृष्णा का जल और तरंग असत् ही सत्‌रूप हो भासता है, ऐसे आत्मा में असत्‌रूप जगत् त्रिलोकी भासती है, जब चित्तसंवित् में संवेदन फुरता है तब जगत् भासता है और जब संवेदन नहीं फुरता तब जगत् भी नहीं भासता और जगत् कुछ ब्रह्म से भिन्न नहीं, जैसे बीज और वृक्ष में कुछ भेद नहीं, जैसे क्षीर और मधुरता में भेद नहीं, जैसे मिरच और तीक्ष्णता में कुछ भेद नहीं, जैसे समुद्र और तरंग में कुछ भेद नहीं, जैसे वायु और स्पंद में कुछ भेद नहीं, ऐसे आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं, जैसे अग्नि में उष्णता स्वाभाविक स्थित है, ऐसे निराकार आत्मा में सृष्टि स्वाभाविक ही स्थित है, हे रामजी! यह जगत् ब्रह्मरूप रत्न का किंचन है, जैसा किंचन होता है, ऐसा होकर भासता है, जो किंचनरूप है, अकारण हुए जो पदार्थ अकारण होता है और जिस अधिष्ठान में भासता है, उससे अनन्यरूप होता है, अधिष्ठान से भिन्न उसकी सत्ता नहीं होती, ऐसे यह जगत् आत्मा में अनन्यरूप होता है कुछ उपजा नहीं, परन्तु संवेदन के फुरने से भासता है, जितना जगत् है और वासना है उनका बीज संवेदन है, इससे जगद्‌भ्रम है, इसलिये संवेदन के अभावार्थ पुरुषार्थ करो, जब संवेदन का अभाव होगा तब जगत्‌भ्रम नष्ट हो जायेगा। और वास्तव से कुछ उपजा है न कुछ नष्ट होता है, सर्व शान्तरूप चिद्‌घन ब्रह्मशिलाघन की नांईं अपने आप में स्थित है, हे रामजी! चित्तपरमाणु में चैत्यता से अनेक सृष्टियाँ भासती हैं, उन सृष्टियों में जो परमाणु हैं उन परमाणुओं में अन्दर और सृष्टि स्थित है, उनकी संख्या कुछ नहीं, जैसे जल में तरंग अनेक होते हैं, कई गुप्तरूप होते हैं कई प्रकट होते हैं वह जल की शक्तिरूप हैं, ऐसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थायें जीवों के अन्दर

स्थित हैं कई गुप्त हैं कई प्रकटरूप हैं। हे रामजी! जब तक इसका संवेदन द्वैत के साथ मिला हुआ है तब तक सृष्टि का अन्त नहीं। जब चित्त उपशम होगा, तब जगत्भ्रम मिट जायेगा, जब कुछ भी भोगों में वृत्ति उत्पन्न न हो तब जानिये कि आत्मपद प्राप्त होगा, यह श्रुति का निश्चय है, हे रामजी! ज्यों ज्यों ममत्व दूर होता है त्यों त्यों बन्धनों से मुक्त होता है, जब अहंभाव (जो जीवत्वभाव है) इसका निर्वाण होता है तब जन्मों की जो परम्परा सम्पदा है, वह भी नष्ट हो जाती है, केवल शुद्धरूप होता है, तब उन पुरुषों को स्थावर जंगमरूप जगत् सब आत्मरूप होता है, जैसे समुद्र को तरंग बुद्बुद् सब अपना आप भासता है, ऐसे ज्ञानवान् को सब जगत् आत्मरूप भासता है, हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में जो संवेदन फुरा है वह उसने अपने आपको ब्रह्मा जाना, उस ब्रह्मा ने आगे भावना से संकल्परूप नाना प्रकार का जगत् रचा है, उसको उसने असत्‌रूप अनुभव किया, उसमें कहीं निमेष में अनेक युगों का अन्त भासता है, कहीं अनेक युगों में निमेष का अनुभव होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगत्किंचनवर्णनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥६१॥

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

दैवशब्दार्थविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! फिर परमाणु में जो निमेष होता है, उसके लाखवें भाग में जगत् समूह के अनेक कल्प फुरते हैं, उन सृष्टियों में जो परमाणु हैं, उनमें सृष्टि फुरती है, जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं, वह जलरूप हैं तरंग शब्द और उसका अर्थ भ्रमरूप है, ऐसे ही आत्मा भ्रमरूप अनेक सृष्टियाँ फुरती हैं, जैसे मरुस्थल में मृमें तृष्णा की नदियाँ चलती दृष्टि आती हैं, ऐसे आत्मा में यह जगत् भासता है, जैसे स्वप्न सृष्टि भासती है, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, जैसे कथा का अर्थ चित्त में आकर फुरता है, जैसे संकल्पपुर भासता है, ऐसे असत्‌रूप जगत् हो भासता है, रामजी बोले—हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ! जिस पुरुष को विचार

द्वारा सम्यक् ज्ञान तथा आत्मपद की प्राप्ति हुई है, उसको देह अपने साथ कैसे भासता है? और देह उसका कैसे रहता है, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! आदि जो ब्रह्मशक्ति में संवेदन फुरा है इसका नाम नीति है, इसमें यह संभावना की गयी है कि अमुक पदार्थ ऐसा होगा और इसके द्वारा होगा इतने काल तक रहेगा, अनेक कल्पों पर्यन्त ऐसा ही है, जितना काल उसने नियत किया है, उतने काल का नाम नीति है, महासत् भी इसको कहते हैं, महाचेतना भी इसको कहते हैं, महाशक्ति भी इसको कहते हैं, महाअदृष्ट, महाकृपा भी इसको कहते हैं, महाउद्भव भी इसको कहते हैं, अर्थात् यह जो अनन्त ब्रह्मांडों की उपजाने हारी है, जैसा फुरणा दृढ़ हुआ है ऐसा रूप होकर स्थित है, जो यह स्थावररूप है, यह जंगमरूप है, यह देवता है, यह दैत्य है, यह नाग है, यह नागिन है, ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त जैसे इसमें अध्यास है, ऐसे ही उसी प्रकार स्थित है, स्वरूप से ब्रह्मसत्ता का व्यभिचार कदाचित् नहीं हुआ, सदा अपने आप में स्थित है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको सब ब्रह्मस्वरूप भासता है, और जो अज्ञानी हैं उनको जगत् और नीति भी भिन्न भासती है, ज्ञानवान् को सब अचल ब्रह्मसत्ता ही भासती है, अज्ञानी को चलरूप जगत् भासता है, जगत् ऐसा है जैसे आकाश में वृक्ष भासता है, जैसे शिला के उदर में मूर्ति होती है, वह शिलारूप ही होती है, ऐसे यह जगत् ब्रह्म में है, जो ज्ञानवान् हैं उनको सर्ग और निमित्त सब ज्ञानरूप भासता है, जैसे अवयवी के अवयव अपना रूप होता है, ऐसे ब्रह्मसत्ता के अवयव ब्रह्म, नित्यसर्गादिक अपना रूप हैं, हे रामजी! इस नीति को दैव कहते हैं, जो कुछ किसी को प्राप्त होता है वह इस दैव की आज्ञा से प्राप्त होता है, क्योंकि आदि में यही नियत हुआ है कि, अमुक जीव को अमुक साधन से अमुक फल प्राप्त होगा, इसलिये जैसा जिसका साधन हो उसके अनुसार उसको अवश्य फल प्राप्त होता है, इस कारण से इसका नाम नीति है, इसी का नाम पुरुषार्थ है, तुमने मुझे जो दैव और पुरुषार्थ का निर्णय पूछा वह मैंने कह दिया है। अब इसका तुम पालन करो, इसका

नाम पुरुषार्थ है, इसका जो फल तुम्हें मिलेगा, उसको दैव कहते हैं, हे रामजी! जो पुरुष ऐसा दैवपरायण हो कि पुरुषार्थ को त्यागकर बैठ जाय उसको कुछ फल न मिलेगा, हे रामजी! जो आदि संवित् संवेदन फुरकर भवितव्यता नियत हुई वह उसी प्रकार स्थित है, उसका भी नाम नीति है, इसी नीति का ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, भी उल्लङ्घन करने में समर्थ नहीं। हे रामजी! जो पुरुष पुरुषार्थ को त्याग बैठे हैं, उनको सफलता नहीं मिलती, यह भी नीति है, जो पुरुष फल के निमित्त पुरुषार्थ करता है उसको फल मिलता है, और जो प्रयत्न को त्यागकर निष्क्रिय हो बैठा है और मन से विषयों का चिन्तन और उनके प्राप्त होने की कामना करता है वह निष्फल ही रहता है, और जो पुरुष कर्तव्य को त्यागकर चित्त वृत्ति में शून्य दैवपरायण हो रहे हैं जिनके मन में विषयों की वासना नहीं है, वे अवश्य सफल होते हैं, क्योंकि फुरणे से रहित होना भी पुरुषार्थ है। यह नीति है जो अर्थ चिंतन करने वालों को भी प्राप्त नहीं होता, वह अयाचक को प्राप्त होता है। हे रामजी! वही पुरुषार्थ सफल है, जो आत्मबोध के निमित्त हो, जब ब्रह्मसत्ता की ओर तीव्र अभ्यास होता है, तब परमपद की अवश्य प्राप्ति होती है, जब परम पद पा लिया,तब सब जगत् चिदाकाशरूप हो भासता है, नीति आदिक जो विस्तार कहा है वह सब भ्रमरूप है, ब्रह्मसत्ता ही ऐसी हो भासती है, जैसे पृथ्वी में रस सत्ता हो। तृण, लता, गुच्छ और फूलरूप होकर स्थित है,ऐसे नीति आदिक सब जगत् होकर ब्रह्म ही स्थित है और वस्तु कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे दैवशब्दार्थ विचार—वर्णनं
नाम द्विषष्टितमः सर्गः॥६२॥

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

चित्ताविकारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जो कुछ तुझे यह दृश्य दीखता है यह सब प्रकार से सब काल सब ओर से ब्रह्मतत्व सर्वात्मा होकर स्थित हुआ है, वह अनन्त आत्मा है, जब उसमें चित्‌शक्ति प्रकट होती है अर्थात् यह जो शुद्ध चिन्मात्र में अहं फुरणा होती है, तब आगे जगत् भासता है, कहीं उपजता भासता हैं, कहीं नाश के रूप में, कहीं हुल्लास के रूप में प्रसन्न भासता है, कहीं अकिंचन भासता है, कहीं प्रकट कहीं अप्रकट भासता है, नाना प्रकार का जगत् है, जहाँ जैसा तीव्र अभ्यास होता है, वहां वैसा होकर भासता है क्योंकि सर्वशक्तिमान् सर्वरूप है, जैसा जैसा फुरणा उसमें दृढ़ होता है, वही रूप होकर भासता है, हे रामजी! यह जो नाना प्रकार की शक्तियां कही हैं, वे वास्तव में आत्मा से इतर कुछ नहीं बुद्धिमानों ने समझाने के लिये नाना प्रकार के विकल्प जाल कहे हैं, आत्मा में विकल्प जाल कोई नहीं जैसे जलतरंग में कुछ भेद नहीं, जैसे सुवर्ण भूषण में कुछ भेद नहीं, जैसे अवयव और अवयवी में कुछ भेद नहीं, ऐसे ही आत्मा और शक्ति में कुछ भेद नहीं, हे रामजी! एक संवित् है एक संवेदन है, संवित् वास्तव है संवेदन कल्पना है, जब संवित् में चिन्मात्र संवेदन फुरता है, तब जैसे वह चेतता जाता है, ऐसा ही आगे होकर स्थित होता है। शुद्ध चिन्मात्र संवित् में अन्तर बाहिर कल्पना कोई नहीं, जब स्वभाव से किंचनरूप संवेदन होता है, तब आगे कुछ देखता है, उस देखने से नाना प्रकार के आकार भासते हैं, वह और तो कुछ नहीं सब ब्रह्म ही है। हे रामजी! शक्ति और शक्तिमान् में भेद अज्ञानी देखते हैं और अवयव अवयवी के भेद की कल्पना भी करते हैं, परमार्थ से कुछ भेद नहीं केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, उसके आश्रय से संकल्प जाल भासते हैं, तीव्र सँकल्प का ही भान होता है, वह सत् हो या असत् हो, परन्तु भान उसीका होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्ताविकारो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः॥६३॥

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

बीजांकुरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! यह जो सर्वगत देव परमात्मा महेश्वर है, वह स्वच्छ अनुभव परमानन्दरूप है आदि अंत से रहित है, उस शुद्ध चिन्मात्र परमानन्द से प्रथम जीव उत्पन्न नहीं हुआ, उससे चित्त उपजा, चित्त से जगत् उपजा है, रामजी बोले हे भगवन्! अनुभव परिणाम से जो शुद्ध ब्रह्मतत्व सर्वव्यापी द्वैत से रहित स्थित है, उसमें तुच्छरूप जीव सत्यता को कैसे प्राप्त हुआ? वसिष्ठजी ने कहा— हे रामजी! ब्रह्म सदा भास है, अर्थात् जिससे यह असत्‌रूप जगत् भासता है, और स्वच्छ है, अर्थात् इस आभासरूप जगत् से रहित है, और बृहत् (बड़ा) है, अर्थात्— बड़ापन भी दो प्रकार का है, अविद्याकृत और विद्याकृत, अर्थात् जगत्‌रूप से जो बड़ापन है वह अविद्या की बड़ाई है, मिथ्या है, ब्रह्म का बड़ापन है सर्वात्मरूप से, वह सर्वदेश सर्वकाल सर्ववस्तु में पूर्ण है, अविद्याकृत देशकाल वस्तु परिच्छेद से रहित निराकार है, वह ज्ञानी का विषय है, अतः बृहत् है, और परम चेतन है, और भैरव है, अर्थात् जिसके भय से चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु और जल अपनी मर्यादा के अनुसार चलते हैं। परमानंद अविनाशी है। सब ओर से पूर्ण है, सम है, शुद्ध है, अचिंत्य है, क्षोभ से रहित चिन्मात्र है, परम शान्तपद है, ऐसी आत्मसत्ता ब्रह्म है, उसकी स्वभाव संपत् का नाम जीव है, अर्थात् शुद्ध चिन्मात्र में जो (अहं) ऐसा फुरणा है, उसका नाम जीव है, उस अनुभवरूप दर्पण में अहं रूप प्रतिबिंब के फुरने को जीव कहते हैं, वह जीव अपने शान्तपद को भूल सा गया है, उस चिदात्माने ही फुरणे से अपने आपको जीव जाना है, जैसे समुद्र ही द्रवता से तरंगरूप होता है, समुद्र तरंग में भेद कुछ नहीं, ऐसे ब्रह्म ही जीवरूप है, ब्रह्म और जीव में भेद कुछ नहीं, जैसे वायु और स्पन्द में भेद कुछ नहीं, जैसे बर्फ और शीतला में भेद कुछ नहीं, ऐसे ही ब्रह्म और जीव में कुछ भेद नही है। हे रामजी! चित्तरूपी जो

आत्मतत्व है अपने स्वभाव वश से माया द्वारा संवेदन सहित जीवरूप कहा जाता है, वह जीव आगे फुरने से बड़े विस्तार को धारण करता है, जैसे ईंधन से अग्नि के बहुत अणु होते हैं और बहुत प्रकाश पाते हैं, ऐसे फुरने से जीव जगत् रूप को प्राप्त होता है, जैसे आकाश में नीलता भासती है वह नीलता कोई भिन्न वस्तु नहीं, ऐसे अहंभाव से ब्रह्म में जीवरूप भासता है, और अहंकृति को अङ्गीकार करके कल्पित रूप की नाईं स्थित होता है, जैसे घन की शून्यता से आकाश में नीलता भासती है, वैसे स्वरूप के प्रमाद से देश, काल, वस्तु के परिच्छेद सहित अंहकाररूपी जीव भासते हैं। वास्तव में चिदाकाश ही चिदाकाश में स्थित है, जैसे वायु से समुद्र तरंगरूप होता है, ऐसे संवेदन के फुरने से आत्मसत्ता जीवरूप होती है, वह जीव चैत्योन्मुखत्व से इतनी संज्ञाओं को पाता है, चित्त कहिये जीव कहिये, मन, बुद्धि, अहंकार, माया, प्रकृति सहित सब उस ही के नाम हैं, उस जीव ने संकल्प से पञ्चभूत तन्मात्रा को चेता, तब उन पञ्चतन्मात्रा के आकार से अणुरूप होकर स्थित हुआ, उससे बिना उत्पन्न हुए की नाईं स्थित हुए और भासने लगे। फिर उसी चित्त संवेदन से अणु अंगीकार करके जगत् को रचा, जैसे बीज से सत् अंकुर वृक्ष होता है, ऐसे संवेदन विस्तार को प्राप्त हुआ, पहिले एक अंडरूप होकर स्थित हुआ उस अण्ड को फोड़ा तब उसमें जगत् भासने लगा, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, जैसे स्वप्नसृष्टि भासती है, तैसे जगत् भासने लगा, उसमें भिन्न भिन्न देह और भिन्न भिन्न नाम कल्पित हुए,जैसे बालक मृत्तिका की सेना की कल्पना करता है, उसके भिन्न भिन्न नाम रखता है, ऐसी स्थावर जङ्गम आदि नाम कल्पना से यह पृथ्वी, यह जल, अग्नि, वायु, आकाश हैं, इन पांचों भूतों की सृष्टि संकल्प से उत्पन्न हुई, हे रामजी! आदि ब्रह्म से जो जो फुरे उसका नाम ब्रह्मा है, वह ब्रह्मा आत्मा में आत्मरूप होकर स्थित है, उससे आगे क्रम पूर्व जगत् हुआ है, जैसे वह चेतता है ऐसा होकर स्थित होता है, जैसे समुद्र में द्रवता करके तरंग होते हैं, ऐसा ब्रह्म में चित्त स्वभाव करके जीव होता है, वह जीव जब

प्रमाण करके अनात्मभाव को धारने लगा तब कर्मों से बध्यमान होने लगा। जैसे जल जब दृढ़ जड़ता को अंगीकार करता है तब बर्फरूप होकर पत्थर के समान हो जाता है, हे रामजी, ऐसे ही जीव जब आत्मा में अभिमान करता है तब कर्मों के बन्धन में आता है, हे रामजी! कर्मों का बीज सकंल्प है, और संकल्प जीव से फुरता है, और जीवत्वभाव इसको तब होता है जब शुद्ध चेतनमात्र स्वरूप से इसका उत्थान होता है, उत्थान का अर्थ यह है कि जब यह अनात्म वस्तु के संसर्ग से अपने उस निर्मल शुद्ध चैतन्यस्वरूप को भूलकर प्रमादी हो जाता है तब जीवत्वभाव का अनुभव करता है, इससे आगे इसकी अनेक संकल्प कल्पना फुरती रहती हैं, उन संकल्प कल्पनाओं से कर्म होते हैं, कर्मों से जन्ममरण आदिक नाना प्रकार के विकार होते हैं, जैसे बीज से अंकुर पत्र होते हैं, आगे से फूल फल टास होते जाते हैं, ऐसे संकल्प कर्मों से नाना प्रकार के विकार होते हैं, जैसे जैसे कर्म जीव करता है उन उनके अनुसार जन्ममरण अधः ऊर्ध्व को प्राप्त होता है, हे रामजी! कर्म नाम मन के फुरने का है, फुरणे का नाम चित्त है, और फुरणे का नाम कर्म है। फुरणे का नाम दैव है, उससे ही उसको शुभ अशुभ जगत् प्राप्त होता है। सबका आदि कारण ब्रह्म है, उससे पहिले मन उत्पन्न हुआ उसही मनने सम्पूर्ण जगत् की रचना की है, जैसे बीज से अंकुर होता है बाद में पत्र फूल टास होते हैं, ऐसे ब्रह्म से मन और जगत् उपजता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे बीजांकुरवर्णनं नाम चतुःषष्टित्तमः सर्गः।।६४।।

पञ्चषष्टितमः सर्गः ६५

जीवविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! आदि कारण ब्रह्म से मन उत्पन्न हुआ है, वह मन संकल्परूप है, और मन से सम्पूर्ण जगत् हुआ है और मन आत्मा में मनस्त्वभाव करके स्थित है, उस मन ने भाव अभावरूप जगत् की कल्पना की है, जैसे गन्धर्व की इच्छा से गन्धर्व नगर होता है, ऐसे मन से जग़त् होता है। हे रामजी! आत्मा में द्वैत भेद की कल्पना कुछ नहीं इस मन से ऐसी संज्ञा हुई है, ब्रह्म और जीव, मन और माया, कर्म, जगत् द्रष्टा सब भेद मन से हुए हैं, आत्मा में भेद कोई नहीं, जैसे समुद्र में तरंग उछलते हैं, और बड़ा विस्तार धारण करते हैं ऐसे चित्तरूप समुद्र में संवेदन से नाना प्रकार का जगत् विस्तार पाता है, वह असत् रूप जगत् है क्योंकि स्थिर नहीं रहता, सदा चलरूप है, और यदि अधिष्ठान स्वरूप भाव से देखिये तो सत्रूप है, अतः द्वैत कुछ नहीं, जैसे स्वप्न का जगत् सत् असत् रूप चित्त से भासता है ऐसे सत् असत्रूप यह जगत् भासता है, वह वास्तव कुछ नहीं उपजा, चित्त के भ्रम से भासता है जैसे इन्द्रजाल की बाजी में नाना प्रकार के वृक्ष औषधि भासते हैं, वह भ्रममात्र हैं, ऐसे यह जगत् भ्रममात्र है। हे रामजी! यह जगत् दीर्घकाल का स्वप्न है, मन के भ्रम से सत् हो भासता है, जैसे स्थान में पुरुष असम्यग् ज्ञान से भासता है और चोर जानकर भयभीत होता है, ऐसे जीव अनित्यभाव को प्राप्त होकर शोक करता है। जैसे बालक भ्रम से परछाईं में भूत की कल्पना करता है, और भय पाता है, जैसे विचार करने से बैताल का भय नष्ट होता है, ऐसे आत्मज्ञान से भय आदि विकार नष्ट हो जाते हैं, हे रामजी! आत्मा अनादि दिव्यरूप है, और अंशांशिभाव से रहित है शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जब यह चेतनसंवित् चेत्योन्मुख होता है, तब चित्त होता है, अर्थात् यह जो चेतनता का लक्षण है इससे आगे जीव कल्पना होती है,

उस जीव में अहंभाव होता है, जो मैं हूँ। जब अहंभाव हुआ तब उसका चित्त फुरता है, चित्त से इन्द्रिय होते हैं, इन इन्द्रियों से देहभाव होता है, उस देह भ्रम से मलिन हुए अन्तःकरण में स्वर्ग नरक बन्ध मोक्ष की कल्पना होती है, जैसे बीज से अंकुर पत्र फूल फल टास होते हैं, ऐसे अहंभाव से जगत् विस्तार होता है, हे रामजी! देह और कर्मों में कुछ भेद नहीं, जैसे ब्रह्म और चित्त में कुछ भेद नहीं, जैसे चित्त और जीव में कोई भेद नहीं, जैसे चित्त और देह में कोई भेद नहीं, हे रामजी! सर्व ब्रह्मस्वरूप है, द्वैत कुछ नहीं है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवविचारवर्णेनंनाम पञ्चषष्टितमः सर्गः।।६५।।

षट्षष्टितमः सर्गः ६६

संसृत्युपशमयोगवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह जो नानात्व भासता है, वास्तव में एक ब्रह्मस्वरूप है,चैत्यता से एक से अनेक रूप हो भासता है, जैसे एक दीप से अनेक दीप होते हैं, ऐसे एक परब्रह्म अनेक रूप हो भासता है, हे रामजी! यह असत् रूप जगत् जिसमें आभास है, उस आत्मतत्व का पदार्थ ज्ञान होता है तब चित्त में जो अहंभाव है वह नष्ट हो जाता है, उस अहंभाव के नाश हो जाने से सब शोक दूर हो जाते हैं, हे रामजी! यह पुरुष चित्तरूपी है, और चित्त में जगत् हुआ है, जब चित्त नष्ट होगा जगत् भ्रम भी नष्ट हो जायगा, जैसे अपने पांवों में यदि चमड़े के पादत्राण (जूते) पहिने हों तो सब पृथ्वी चमड़े से ढँकी हुई सी प्रतीत होती है। नीचे से तापका या कंटक आदि का भय नहीं रहता, ऐसे जब चित्त को शांति प्राप्त होती है तब सब जगत् शान्त भासता है। जैसे केले का स्तंभ होता है,उसमें पत्रों से अन्य सार कुछ नहीं निकलता, ऐसे सब जगत् भ्रममात्र है और सार इसमें कुछ नहीं। हे रामजी! चित्त से इतना भ्रम होता है कि

बाल अवस्था में क्रीडा करता फिरता है, फिर युवा होता है तब विषयों का सेवन करता है, वृद्ध अवस्था में चिन्ता से जर्जर होता है, तदनन्तर मृत्यु के मुख में चला जाता है, और कर्मों के अनुसार स्वर्ग नरक को भोगता है। हे रामजी! यह सब मन का नृत्य है, मन ही पड़ा भ्रमता है, जैसे नेत्रदोष से आकाश में चन्द्रमा दो रूप भासते हैं, ऐसे अज्ञान से जगद् भ्रम भासता है, जैसे मद्यपान से वृक्ष भ्रमते भासते हैं, ऐसे चित्त के संयोग भ्रम से जगद् द्वैत भासता है, जैसे बालक लीला से भ्रमता है, तब जगत् चक्र की तरह भ्रमता देखता है, ऐसे चित्त के भ्रम से यह जीव जगद् भ्रम को देखता है, हे रामजी! जब चित्त द्वैत को नहीं चेतता तब यह द्वैत भ्रम मिट जाता है जब तक चित्त सत्ता फुरती है, तब तक नाना प्रकार का जगत् भासता है, शांति नहीं मिलती, और जब घन चेतनता को प्राप्त होता है तब शान्ति भी मिलती है और जगत् भ्रम भी मिट जाता है। जैसे चातक (पपीहा) बोलता है परन्तु शांतिमान् नहीं होता। और जब घन वर्षा को (स्वाति-बिन्दु को) पाता है तब बोलना बन्द करके शान्त हो जाता है, ऐसें ही जब यह महा चेतन घनता को प्राप्त होता है तब ही शान्तिमान् होता है, हे रामजी! जब चित्त की चेतनता फुरती है तब जगत्भ्रम नाना प्रकार के विकार देखता है और भ्रम से ऐसा देखता है कि मैं पैदा हुआ हूँ, अब बड़ा हुआ हूँ, मरूँगा, इत्यादि विकार असत्रूप अपने में जानता है, और स्वरूप से चेतन ब्रह्म से अनन्य है, जैसे वायु और स्पंद में कुछ भेद नहीं ऐसे ब्रह्म और चेतनता में कुछ भेद नहीं, जब वायु स्पंदरूप होता है तब स्पर्श करके भासता है, ऐसे चेतनता मिटती नहीं और ब्रह्म की चेतनता हो, तब जगत् भ्रम मिट जाता है, केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती है, जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्पभ्रम होता है और जेवरी के यथार्थ ज्ञान से सर्पभ्रम मिट जाता है, तब जेवरी पड़ी भासती है ऐसे ही ब्रह्म के अज्ञान से जगत् भ्रम से भासता है जब चित्त से दृढ़ चैत्यता भासती है तब भ्रम का पदार्थ ज्ञान होता है, तब जगत् भ्रम मिट जाता है केवल ब्रह्मसत्ता भासती है, हे रामजी! इसको दृश्यरूपी व्याधि

(रोग) लगा है, उस रोग का नाशक संवित् मात्र है, जब तक बहिर्मुख होकर दृश्य को चेतता है, तब तक शांत नहीं होता, और जब चित्त सर्व वासना को त्यागकर अन्तर्मुख अपने स्वभाव में स्थित होगा तब उसी काल में मुक्त होकर परमशान्त होगा, इस विषय में संशय कुछ नहीं, जैसे जेवरी के दूर से देखने पर सर्प भासता है, और जब निकट होकर देखें तो सर्प भ्रम मिट जाता है, आत्मा ही भासती है, हे रामजी! जिस-जिसमें अभिलाषा हो उसे त्याग दे। ऐसा करने से मुक्ति होती है। त्यागने में कोई यत्न नहीं करना पड़ता, महात्मा लोग प्राणों को तृण की नांई त्याग देते हैं, और महान दुःख को भी सह लेते हैं। तुम्हें अभिलाषा त्यागने में क्या कठिनता है, हे रामजी! आत्मा के आगे अभिलाषा (कामना) ही आवरण है, अभिलाषा के होते आत्मा नहीं भासता है, जैसे बादलों के आवरण से सूर्य नहीं भासता, जब बादलों का आवरण दूर होता है तब सूर्य भासता है, ऐसे अभिलाषाओं के निवृत्त होने से आत्मा नहीं भासता है, इसलिये जो कोई भी अभिलाषा उठे उसे त्यागकर निरभिलाष होकर आत्मपद में स्थिति प्राप्त करो, और प्रकृत आचार अर्थात् देह और इन्द्रियों से जिस जिस वस्तु का ग्रहण त्याग करना स्वाभाविक हो उसको करो, परन्तु ग्रहण त्याग की बुद्धि किये बिना ही यह काम प्राकृतिकरूप से हो। हे रामजी! जब तुम सम्पूर्ण दृश्य की इच्छा त्याग दोगे तब तुमको आत्मपद प्रत्यक्ष भासेगा। जैसे हाथ में विल्वफल प्रत्यक्ष भासता है, जैसे नेत्रों के आगे प्रतिबिंब प्रत्यक्ष भासता है, ऐसे अभिलाषा त्याग से आत्मपद तुझको प्रत्यक्ष भासेगा, 'और सब जगत् भी आत्मरूप भासेगा, जैसे महाप्रलय में सब जगत् जलमय भासता है और कुछ दृष्टि नहीं आता, ऐसे ही आत्मपद से इतर तुझको कुछ न भासेगा, आत्मतत्त्व को न जानना, इसी का नाम बन्धन हैं और आत्मपद का जानना, इसी का नाम मोक्ष है और कोई नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे संसृत्युपशमयोगवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः।।६६।

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

सत्योपदेशवर्णनम् ।

श्रीरामचन्द्रजी बोले–हे भगवन्! मन कैसे उत्पन्न हुआ? वसिष्ठ महाराज ने कहा– हे रामजी! ब्रह्म अनन्त शक्ति है, उसमें अनेक प्रकार का किंचन होता है, जहाँ जहाँ जैसी जैसी शक्ति फुरती है ऐसा ऐसा रूप होकर भासता है, जब शुद्ध चिन्मात्रसत्ता चेतन में फुरती है, जैसे कि 'अहं अस्मि, तब इस फुरने से वह जीव कहाता है, वह चित्त शक्ति संकल्प का कारण भासती है, जब दृश्य की ओर फुरती है तब जगत् दृश्य होकर भासता है, और फिर नाना प्रकार के कार्य कारण हो भासता है, रामजी ने कहा– हे मुनीश्वर! यदि इस प्रकार है तो दैव किसका नाम है? और कर्म क्या है? वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! फुरणा अफुरणा दोनों चिन्मात्रसत्ता का स्वभाव है, जैसे–फुरणा अफुरणा दोनों का वायु का स्वभाव है परन्तु जब फुरता है तब आकाश में स्पर्श होकर भासता है, जब चलने से रहित होता है तब शान्त हो जाता है, ऐसे–शुद्ध चिन्मात्र में चैत्यता का लक्षण जो है–'अहम् अस्मि' अर्थात् यह जो मैं हूँ तब उसका नाम स्पंदबुद्धीश्वर कहते हैं, उससे जगत् दृश्यरूप हो भासता है, उस जगत् दृष्टि से रहित होना इसको निस्पंद कहते हैं, चित्त के फुरने से नाना प्रकार जगत् हो भासता है और चित्त के अफुर हुए जगत् भ्रम मिट जाता है, नित्य शांतब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, हे रामजी! जीव कर्म और कारण यह सब चित्तस्पंद के नाम हैं और चित्त स्पंद से अनुभव भिन्न नहीं और अनुभव ही चित्तस्पंद हुए की नांईं भासता है, जीव कर्म कारण का बीजरूप चित्तस्पंद है, चित्तस्पंद करके आगे दृश्य होकर भासता है, चिदाभास द्वारा देह में अहं प्रतीति होती है उस देह में स्थित होकर चित्त संवेदन दृश्य की ओर संसरण करता है, वह संसरण दो प्रकार का है, एक बड़ा एक अल्प है, किन्हींको संसरण में अनेक जन्म व्यतीत होते हैं, और किन्हींको एक जन्म होता है, आदि स्फुरण में ही

स्वरूप स्थित हुए हों उनको प्रथम जन्म होता है प्रमादी होने से पुनः दृश्य की ओर चले जाते हैं, उनके बहुत जन्म होते हैं, पुण्य कर्म करने वाले स्वर्गादि लोकों में सुख भोगते हैं पाप कर्म करनेवाले नरकों में जाते हैं, इस प्रकार दृश्य भ्रम देखते हैं, अज्ञान के कारण बन्धन में रहते हैं, जब ज्ञान की प्राप्ति होती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है, अनेक जन्मों के अनन्तर जिनको मोक्ष मिलता है यह बड़ा संसरण है और जो एक ही जन्म पाकर आत्मा की ओर आते हैं वह अल्प संसरण है, हे रामजी! जैसे स्वर्ण ही भूषणरूप को धारण करता है, ऐसे संवेदन ही काष्ठ लोष्ठ आदिक रूप होकर भासता है, इस चित्त के संयोग से अज अविनाशी पुरुष को नाना प्रकार के देह प्राप्त होते हैं, और जानता है कि मैं उत्पन्न हुआ हूँ अब जीता हूँ फिर मर जाऊँगा, इत्यादि भ्रम को देखता है, जैसे नौके में बैठे हुए को भ्रम से तट के वृक्ष घूमते दृष्टि आते हैं, ऐसे भ्रम से अपने में जन्मादि अवस्था भासती है, आत्मा के अज्ञान से जीव को आदि कल्पना फुरती है, जैसे मथुरा के राजा लवन को स्वप्न में चण्डाल का भ्रम हुआ था, ऐसे ही चित्त के फुरने से यह जीव जगद्भ्रम देखते हैं, हे रामजी! यह सब जगत् मन के भ्रम से पड़ा भासता है, शिव जो परम तत्त्व है, वह चिन्मात्र है, उसमें जब चेत्योन्मुखत्व होता है, कि मैं हूँ, इसका नाम ही जीव है, जैसे सौम्य जल में कुछ द्रवता होती है, उसमें चक्र फुरते हैं, फिर तरंग होते हैं, ऐसे ब्रह्मरूप सौम्यजल है, उसमें जीवरूप चक्र फिरते हैं, चित्तरूप तरंग उदय होते हैं, और सृष्टिरूप बुदबुदे होते हैं,—उत्पन्न होकर लीन होते हैं, हे रामजी! चेतन से जीव की नाईं भासता है, जैसे समुद्र ही द्रवता से तरंग रूप हो भासता है, चित्त चैत्य के संयोग से जीव कहाता है, उस जीव से जब संकल्प का फुरणा होता है, तब मन कहता है, और संकल्प निश्चयरूप होता है तब बुद्धि होकर स्थित होता है, और जब अहंभाव होता है तब अहं प्रतिकार कहाता है, उस अहंभाव को पाकर तन्मात्र की कल्पना होती है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश यह सूक्ष्मभूत होते हैं, इनके आगे जगत् होता है, हे रामजी! जैसे नेत्र दूषण से आकाश में मुक्तामाला भासती है, जैसे

चित्त के संसरण से जगत्भ्रम भासता है, हे रामजी! शुद्ध आत्मा नित्य तृप्त शान्तरूप है, और शम अपने आप में स्थित है, उसमें चित्तसंवेदन ने जगत् को रचा है, उस जगत् को भ्रम से सत्य की नांईं देखता है, जैसे स्वप्नसृष्टि को भ्रम से देखता है, ऐसे यह जगत् फुरने से सत्य भासता है, हे रामजी! मन के संसरण का नाम जाग्रत है, और अहंकार का नाम स्वप्न है, और चित्त जो सजातीयरूप चेतने वाला है, उसका नाम सुषुप्ति है, और चिन्मात्र का नाम तुरीयपद है, तब शुद्ध चिन्मात्र में अत्यन्त परिणाम हो, उसका नाम तुर्यातीत पद है, उसमें स्थित हुआ फिर कभी शोकवान् कदाचित नहीं होता, उस ब्रह्मसत्ता से सब उदय होते हैं, उसमें ही सब लीन हो हैं, ओर वास्तव से न कोई उपजा है, न कोई लीन होता है, चित्त के फुरने से सब भ्रम भासता है, जैसे नेत्र दूषण से आकाश में मुक्तामाला भासती है, ऐसे ही चित्त के फुरने से यह जगत् भासता है, हे रामजी! जैसे वृक्ष के बढ़ने को आकाश ठौर देता है, जितनी बीज की सत्ता होवे, उतना आकाश में बढ़ता जाय, इसी प्रकार आत्मा सबको ठौर देता है, अकर्ता रूप भी संवेदन से कर्ता भासता है, हे रामजी! जैसे लोहा निर्मल किया हुआ आरसी की नांईं प्रतिबिंब को ग्रहण करता है, इसी प्रकार आत्मा में संवेदन से जगत् का प्रतिबिंब होता है और वास्तव से जगत् भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं, जैसे एक बीज ही पत्र, फूल, फल और टास होकर भासता है, इसी प्रकार आत्मा संवेदन से नानारूप जगत् हो भासता है, जैसे पत्र, फूल, वृक्ष से भिन्न नहीं, ऐसे अबोधरूप जगत् भी बोधरूप आत्मा से भिन्न नहीं, जो ज्ञानवान् हैं, उनको अखण्डसत्ता भासती है, और अज्ञानी को भिन्न भिन्न नामरूप सत्ता भासती है, जैसे समुद्र ही तरंग बुदबुद होकर भासता है, जैसे बीज ही पत्र, फूल, फल, टास होकर भासता है, मूर्ख देखता है तो उनके नामरूप सत् मानता है, और ज्ञानवान् देखकर एकही रूप जानता है, ऐसे जो मूर्ख अज्ञानी हैं, वे भिन्न भिन्न हैं, वे भिन्न भिन्न नामरूप जगत् को जानते हैं और ज्ञानवान् को एक ब्रह्मसत्ता अनन्त भासती है, जगत् भ्रम उनको कोई नहीं

भासता, रामजी बोले–महान् आश्चर्य है अत्यन्त आश्चर्य है, जो कि असत्‌रूप जगत् सत्‌रूप हो भासता है और बड़े विस्तार से स्पष्ट भासता है और यह जगत् ब्रह्म का आभास है, अनेक तन्मात्रा इसके जल और बूंदों की नाईं हैं और अविद्या से फुरती हैं, ऐसे भी मैंने श्रवण किया है, हे मुनीश्वर! यह स्फुरण अन्तर्मुख कैसे होता है और बहिर्मुख कैसे होता है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार दृश्य का अत्यन्त अभाव है अनहोते दृश्य के फुरने से अनुभव होता है, शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्मसत्ता में फुरने से जीवत्व हुआ है वह जीवत्व असत् है और सत् की नाईं होता है, और जीव ब्रह्म के साथ अभिन्न है, फुरणे से भिन्न की नाईं दीखता है, जीव में संकल्प कलना होती है, तब मनरूप होकर स्थित होता है और स्मरण से चित्त होता है, निश्चय से बुद्धि होती है, अहंभाव से अहंकार होता है, फिर काकतालीय न्याय से चिद्‌अणु में तन्मात्रा फुर आती है, जब शब्द श्रवण की इच्छा हुई तब श्रवण इन्द्रिय प्रकट हुई जब देखने की इच्छा हुई तब नेत्र इन्द्रिय प्रकट हुई, गन्ध लेने की इच्छा से नासिका स्पर्श की इच्छा से त्वचा और रस लेने की इच्छा से रसना प्रकट हुयी। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ प्रकट हुईं । भावना से असत् भी सत् की नाईं भासने लगा। हे रामजी! इस प्रकार आदि जीव हुए हैं उसकी भावना से अन्तवाहक शरीर हो आये हैं, चलते भासते हैं तो भी अचलरूप हैं, इसलिये जितना यह जगत् भासता है सब ब्रह्मरूप है, इतर कुछ नहीं, प्रमाता भी ब्रह्म है, प्रमाण भी ब्रह्म है और प्रमेय भी ब्रह्म है और संवेदन ब्रह्म से अनेकरूप नाना प्रकार भासते हैं, जैसा जैसा संवेदन फुरता है, वैसा वैसा रूप हो कर भासता है, जब दृश्य की चेतता है तब नाना प्रकार का द्रश्य भासता है, और जब अन्तर्मुख ब्रह्म को चेतता है तब ब्रह्मरूप होकर भासता है। हे रामजी! दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ, आत्मा सदा अपने आप में स्थित है, तो दृश्य का अभाव हुआ, तब बन्धन किसे कहा जाये? विचार किसका किया जाये? सर्वप्रकार की कल्पना का अभाव है, यह जो तुम्हारा प्रश्न है इसका उत्तर सिद्धान्त काल में

होगा। यहाँ नहीं बनेगा, जैसे कमल के पुष्पों की माला अपने समय पर बनती है, समय के बिना शोभा नहीं देती, ऐसे ही तुम्हारे प्रश्न सिद्धान्त काल में शोभा पावेंगें, समय बिना सार्थक शब्द भी निरर्थक होता है। हे रामजी! जितने पदार्थ हैं, उनका फल भी समय पाकर होता है, समय बिना नहीं होता। अब पूर्व प्रसंग सुनो–हे रामजी! ब्रह्म में चेत्योन्मुखत्व करके वह आदिजीव अपने आपको पिता माता जानने लगा। (जैसे कोई अपने आपको स्वप्न में देखे) उसने अपने आपको ब्रह्मा जाना, और उस ब्रह्मा ने पहिले ओं....का उच्चारण किया। उस शब्द तन्मात्रा से चारों वेदों को देखा, उसके बाद मनोराज्य उसने सृष्टि की रचना की। तब असत्रूप सृष्टि भावना से सत्य हो भासने लगी, जैसे स्वप्न में सर्प भासते हैं, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, ऐसे ही असत्यरूप सृष्टि सत्य भासने लगी। हे रामजी! ब्रह्मसत्ता से जैसे ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति हुई, ऐसे ही और जीवों कीट आदियों की उत्पत्ति भी हुई, जगत् का कारण संवेदन है, संवेदन भ्रम से जीवों को जगत् भासता है, उनको भौतिक शरीर में जो अहं प्रतीति हुई, उससे अपने निश्चय के अनुसार शक्ति हुई है, ब्रह्मा में ब्रह्मा की शक्ति का निश्चय हुआ है, हे रामजी! जैसी जैसी वासना संवित् में होती है, उसके अनुसार ही अनुभव होता है, शुद्ध चिन्मात्रा में जो चेत्योन्मुखत्व हुआ है, उसका नाम जीव हुआ है, उसमें जो ज्ञानरूप सत्ता है वह पुरुष है, उसमें जो फुरणा है वह कर्म है, जैसे जैसे फुरता है वैसे वैसे भासता है, हे रामजी! आत्मसत्ता में जो अहं हुआ है उसका नाम चित्त है, उससे आगे जगत् रचा है वह भी अविचार सिद्ध है, विचार किये से नष्ट हो जाता है, जैसे अविचार से अपनी प्रतिछाया में भूत पिशाच कल्पता है, उससे भय उत्पन्न होता है, जैसे अविचार किये से पिशाच और भय दोनों नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी! ऐसे ही आत्म विचार से चित्त और जगत् दोनों नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी! ब्रह्म सत्ता सदा अपने आप में स्थित है, उसमें चित्त कल्पना कोई नहीं और प्रमाता प्रमाण प्रमेय भी ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, तो द्वैत की कल्पना कैसे हो!

शशे के श्रृंग असत्य हैं ऐसे आत्मा से द्वैत कल्पना असत्य है, हे रामजी! यह ब्रह्माण्ड भावनामात्र है, जिसको सत्य भासता है उसको बंधन का कारण है, जैसे घुराण अपना गृह बनाती है, वह उसके बन्धन का कारण होता है, उसमें आप फँसकर मरती है, ऐसे ही जो पुरुष जगत् को सत्य मानता है, उसका वह मानना ही बन्धन है, उससे जन्म मरण को देखता है और जिसको जगत् की असत्यता का निश्चय है उसके लिये वह बंधन नहीं, उसको प्रसन्नता है। हे रामजी! अनुभव सत्ता सबकी अपना आप है, उसमें जैसा जैसा निश्चय किया उसको अपने अनुभव के अनुसार पदार्थ भासते हैं, कोई निमेष में कल्प का अनुभव करते हैं और वास्तव से जगत् उपजा ही नहीं। जगत् का उपजना भी मिथ्या है, बढ़ना भी मिथ्या है, रस भी मिथ्या है रस लेनेवाला भी मिथ्या है, शुद्ध, ब्रह्म, सर्वगत, नित्य, अद्वैत सदा अपने आप में स्थित है, परन्तु अज्ञान से शुद्ध भी अशुद्ध भासता है, सर्वजगत भी परिच्छिन्न भासता है। ब्रह्म भी अब्रह्म भासता है, नित्य भी अनित्य भासता है, अद्वैत भी द्वैत सहित भासता है, हे रामजी! अज्ञान से ऐसा भासता है, जैसे जल और तंरग में भेद मूर्ख मानते हैं, परन्तु भेद नहीं, ऐसे ब्रह्म और जगत् में भेद अज्ञानी देखते हैं, जैसे सुवर्ण और भूषणों में भेद अज्ञानी देखते हैं, जैसे जैवरी में सर्प मूर्ख देखते हैं, ऐसे ही ब्रह्म में नानात्व मूर्ख ही देखते हैं, ज्ञानी को सब चिदाकाश है। हे रामजी! जब आत्मसत्ता में अनात्मरूप दृश्य की चेत्यता होती है, तब कल्पना उत्पन्न होती है, वह कल्पना मनरूप होकर स्थित होती है, उसके अनन्तर अहंभाव होता है फिर तन्मात्रा की कल्पना होती है, फिर शब्दार्थ की कल्पना होती है, इसी प्रकार चित्त सत्ता में जैसी जैसी चेत्यता फुरती है वैसा वैसा रूप भासने लगता है, सत् असत् पदार्थ वासना के वश से फुर आते हैं, जैसे स्वप्नसृष्टि फुर आती है, वह अनुभवरूप ही होती है, ऐसे यह जगत् फुर आया है, वह अनुभवरूप है। अतः सृष्टि में भी चिन्मात्र है और चिन्मात्र ही में सृष्टि है, सबकी सत्तारूपी अन्तर्बाह्य, ऊर्ध्व, अधः, चिन्मात्र ही है, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, सर्वपद चिन्मात्र में ही धारे हैं, नित्य उपशांतरूप

है समस्त जगत् की सत्ता उसीही से होती है, वह एक ही सम है और तुर्यातीत पद है नित्य ही स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सत्योपदेशवर्णनंनाम सप्तषष्टितमः सर्गः ।।६७।।

अष्टषष्टितमः सर्गः ६८

राक्षसीवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रसंग पर एक पुरातन इतिहास है, उसमें बहुत प्रश्न हैं, उन्हें सुनो–एक महाश्याम काजल के पर्वत की नाईं कर्कटी नाम की राक्षसी हिमालय पर्वत के शिखर के ऊपर रहती थी, उसका दूसरा नाम विषूचिका भी था। उसके बिजली के समान चंचलनेत्र, अग्नि शिखा के समान बड़ी जिह्वा, लम्बे नख और शरीर बहुत ऊँचा था। उसको भोजन से कभी तृप्ति नहीं होती थी, जैसे कि बड़वानल की तृप्ति नहीं होती। तब उसने विचार किया कि जम्बूद्वीप के सब जीवों को खा जाऊँ तब कहीं शायद मेरी तृप्ति हो, अन्यथा कोई उपाय नहीं, यह नियम है कि आपत्ति उद्यम करने से दूर होती है, इसलिये कुछ मैं भी उद्यम करूँ। वह इस प्रकार कि–एकाग्रचित्त से अखंड तप करूँ। हे रामजी! ऐसा विचार कर एकान्त हिमालय पर्वत की कंदरा में एक टाँग के बल पर जा स्थित हुई, दोनों हाथ ऊपर किये, नेत्र आकाश की ओर किये (मानो मेघ को पकड़ती है) अपने शरीर और प्राणों को स्थिर करके स्थित हो गई। शीत उष्ण के क्षोभ को उसने त्याग दिया, वायु से शरीर जर्जरित होने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे, राक्षसीवर्णनं नाम अष्टषष्टितमः सर्गः ।।६८।।

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

विषूचिकामन्त्रकथनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब इस प्रकार सहस्र वर्ष व्यतीत हुए, और उसने बड़ा दारुण तप किया, तब ब्रह्माजी आये, तब राक्षसी ने देखकर मन से नमस्कार किया, और मन में विचार किया मुझे वर देने के लिये आये हैं। तब ब्रह्माजी ने आकर कहा–हे पुत्रि! तुमने बड़ा तप किया है, उठ खड़ी हो, जो कुछ चाहती है वह वर माँग। कर्कटी बोली–हे भगवन्! मैं लोहे की नाईं वज्रसूचिका हो जाऊँ जिससे जीवों के हृदय में प्रवेश कर जाऊँ। हे रामजी! जब इस प्रकार मूर्ख राक्षसी ने कहा तब ब्रह्माजी बोले–ऐसा ही हो, तेरा नाम भी प्रसिद्ध विषूचिका होगा, हे राक्षसि! दुराचार जीवों के हृदय में प्राणवायु के मार्ग से प्रवेश करने की तुम्हें सामर्थ्य प्राप्त होगी और जो गुणवान् तुझे निवृत्त करने के निमित्त इन मन्त्रों को पढ़ेंगे, उनका तुम्हें त्याग करना होगा। मन्त्र यह हैं–"ॐ ह्लीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तयेनमः ।। ॐ नमो भगवति विष्णुशक्तिमेनां ॐ हरहर नयनय पचपच मथमथ उत्सादय दूरे करु स्वाहा। हिमवंत गच्छ जीव सः सः चन्द्रमण्डलं गतोऽसि स्वाहा," मन्त्र को पढ़ेंगे, जो हिमालय के उत्तर शिखर पर कर्कटी नाम राक्षसी विषूचिका है, वह दूर हो, और दुःखी चन्द्रमा के मण्डल में चितवे कि अमृत के कुण्ड में बैठा हूँ, और राक्षसी हिमालय के शिखर पर गयी, ऐसा चिन्तन करे, इस मन्त्र को लिखकर मन्त्रवेत्ता अपने बाएँ हाथ में बांध ले और बायाँ हाथ दाहिने हाथ में लगाये हुए दाहिने हाथ से मन्त्र पढ़ता हुआ शुचि पवित्र होकर रोगी का मार्जन करे तब तुम उसको त्याग जाना, यह मंत्र जिनके पास है उनमें तू प्रवेश न कर सकेगी। हे रामजी! जब इस प्रकार ब्रह्माजी कहकर आकाश को उड़े तब इन्द्र के और सिद्धों के गण साथ गये, और वह मंत्र जो ब्रह्माजी ने कर्कटी को कहा था वह सिद्धों ने श्रवण किया था उन्होंने उस मंत्र को प्रसिद्ध किया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विषूचिकामंत्रकथनं
नाम एकोनसप्ततितमः सर्गः ।।६९।।

सप्ततितमः सर्गः ७०

विषूचिकाव्यवहारवर्णनम्।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! तब कर्कटी का शरीर सूक्ष्म होने लगा, जैसे संकल्प का पहाड़ संकल्प के क्षीण होने से क्षीण हो जाता है, ऐसे क्रम से प्रथम जो मेघवत् आकार था, वह घटकर वृक्षवत् हो गया, उसके बाद फिर पुरुषरूप, फिर हस्तमात्र, फिर प्रादेशमात्र, फिर सूची के समान सूक्ष्म हो गयी, जैसे संकल्प का तंतु होता है, वैसे हो गई। हे रामजी! ऐसा रूप कर्कटी ने बनाया उसको देखकर मूर्ख अविचारी पुरुष तृण की नाईं शरीर को त्यागते हैं, और जो पुरुष परस्पर विचारते हैं वे पीछे से कष्ट नहीं पाते, जो पूर्वापर विचारसे रहित हैं वे पीछे से कष्ट पाते हैं। अनर्थरूप होकर औरों को भी कष्ट देते हैं, एक पदार्थ को भला जानकर उसके निमित्त यत्न करते हैं, न धर्म की ओर देखते हैं, न सुख की ओर देखते हैं। इस प्रकार मूर्ख राक्षसी ने भोजन के निमित्त बड़े गंभीर शरीर को त्यागकर तुच्छ शरीर को अंगीकार किया, उसका एक शरीर सूक्ष्म हुआ, दूसरा पुर्यष्टक हुआ, सूक्ष्म शरीर जिसको इन्द्रिय ग्रहण न कर सकें। वह विषूचि कहीं ऐसे शरीर से प्रवेश करे कहीं पुर्यष्टक के साथ जाकर प्रवेश करे। प्राणवायु के साथ प्रवेश करके दुःख दिया करती। प्राणों के विपर्यय से प्राणी को कष्ट देती। प्राणी के रक्त रस आदि का पान करती। एक बूँद से उदर पूर्ण हो जावे, परन्तु तृष्णा निवृत्त नहीं होती, शरीर से बाहिर निकले तब भी कष्ट ही पावे। वायु चले तब उससे भी गर्त में गिरे। कीचड़ में पड़े पाओं के नीचे आने का भी डर रहे। दूर देशों में रहे, घास तृणों में रहे, नीचों पापी जीवों को कष्ट देती, और जो गुणवान हों, उनको कष्ट देने में समर्थ नहीं, और भी जो कोई मंत्र पढ़े उससे दूर हो जावे जब आप किसी छिद्र में गिरे तब जाने कि बड़े कूप में गिरी हूँ। हे रामजी! मूर्खता से उसने इतने कष्ट पाये। वाल्मीकिजी

बोले, जब इस प्रकार वसिष्ठजी ने कहा, तब सूर्य अस्त हुआ, सायंकाल का समय आ गया, तब सभा परस्पर नमस्कार करके स्नानार्थ चली गई। विचार सहित रात बिताकर सूर्य भगवान् की किरणों के साथ ही उदय हुई अर्थात् प्रातः सब लोग आकर फिर बैठ गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे विषूचिकाव्यहार वर्णनं नाम सप्ततितमः सर्गः ।।७०।।

एकसप्ततितमः सर्गः ७१

सूचीपरिदेवनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार प्राणियों के मारने में उसको कुछ वर्ष बीते, तब उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि बड़ा कष्ट है, बड़ा कष्ट है, यह विषूचिका शरीर मुझको कैसे प्राप्त हुआ है, मैंने मूर्खता से यह वर ब्रह्माजी से माँगा था, मूर्खता से बहुत दुःख होता है, मेरा शरीर कैसा मेघ की नाईं महान् था। मैं सूर्यादिक को भी आच्छादित कर देती थी, मंदराचल पर्वत के समान मेरा उदर कहाँ गया, बडवाग्नि की नाईं मेरी जीभ कहाँ गयी, जैसे कोई अभागा पुरुष चिंतामणि त्याग दे और काँच को अंगीकार करे ऐसे मैंने बड़े शरीर को त्याग कर तुच्छ शरीर को अंगीकार किया, जो ऐसा तुच्छ है कि एक बूँद से भी तृप्त हो जाता है परन्तु तृष्णा पूरी नहीं होती, उस शरीर के साथ मैं निर्भय विचरती थी, यह शरीर पृथ्वी के कण के साथ भी दब जाता है, अब मैं बहुत कष्ट में हूँ, यदि मर जाऊँ तो इससे छूटूँ परन्तु मांगी हुई मृत्यु भी नहीं मिलती।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूचीपरिदेवनं नामैकसप्ततितमः ।।७१।।

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२
सूचीतपः प्रभाववर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार पश्चात्ताप करके उसने निश्चय किया कि मैं क्यों न उस शरीर के लिये फिर से तप करूँ। वह कौन सा पदार्थ है जो उद्यम करने से प्राप्त न हो, हे रामजी! इस प्रकार पूर्व का शरीर के निमित्त तब करने को समर्थ हुई। ऊर्ध्वमुख होकर तप करने लगी। हे रामजी! जब पवन आकर इसके मुख में फल, मांस, और पानी के बिंदु रखता तो यह उनको मुख में ग्रहण नहीं करती, मुख को मूँद लेती थी। पवन को यह देखकर बहुत आश्चर्य होता कि मैंने सुमेरु आदि को भी चलायमान किया है परन्तु इसका निश्चय चलायमान नहीं होता। वर्षा के कारण कीचड़ में दब जाने पर भी ज्यों की त्यों रही, मेघ के घोर शब्द से भी चलायमान नहीं हुई। हे रामजी! इस प्रकार उसको सहस्त्र वर्ष व्यतीत हुए, तब दृढ़ वैराग्य से उसका नाम चित्त निर्मल हुआ, तब सर्वसंकल्प के त्याग से उसको परमपद की प्राप्ति हुई,और बड़े ज्ञान का प्रकाश उदय हुआ, परब्रह्म का उसको साक्षात्कार हुआ, उससे परमपावनरूप हुई, शुद्ध चित्त हुई। अर्थात् चेतनसत्ता में जो उसका एकत्वभाव हुआ, उसके इस तप से सप्तलोक सन्तप्त हुए, तब इन्द्र ने नारदजी से प्रश्न किया कि ऐसा तप किसने किया है, जिसके तप से लोक जलने लगे हैं, तब नारद ने कहा–हे इन्द्र! सात हजार वर्ष कर्कटी नाम राक्षसी ने बड़ा दारुण तप किया है, उससे सूचिका हुई थी, उससे बहुत कष्ट पाया ओर लोगों को कष्ट दिया।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूचीतपः प्रभाववर्णनं नाम द्विसप्तातित्तमः सर्गः ।।७२।।

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

सूचीतपोवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! ऐसा सूची का कटुवृत्तान्त सुनकर इन्द्र ने फिर पूछा। तब नारद ने कहा—जैसे विराट् आत्मा ने सबमें प्रवेश किया है, जैसे चित्शक्ति ने सब में प्रवेश किया है, ऐसे ही देहमात्र में सूची ने प्रवेश किया, परन्तु जहाँ मंत्र जप होता वहाँ से निवृत्त हो जाती, और जहाँ मंत्रजप न हो वहाँ उनके अन्दर प्रवेश करके रक्त मांस भोजन करने लगी परन्तु तृप्त न होती, मन में तृष्णा रहती। सूक्ष्मशरीर से धूड में दब जाने से कष्ट पाकर विचार किया कि उद्यम से सब कुछ मिलता है, इसलिये पूर्व शरीर के निमित्त एकान्तस्थान में जाकर फिर तप करूँ। तब एक गीध पक्षी वहाँ आ बैठा और कुछ भोजन करने लगा, उसकी चोंच के मार्ग से विषूचिका उसके अन्दर चली गयी, तब वह पक्षी कष्ट पाकर उड़ा, वह विषूचिका उसकी पूर्यष्टक के साथ मिलकर उसको प्रेरित कर हिमालय पर्वत की ओर ले चली, जैसे वायु मेघ को ले जाता है वैसे हिमालय पर्वत के वन को ले गई, वहाँ उस गीध ने उलटी कर दी, जैसे योगीश्वर संवेदन को त्यागकर निर्विकल्प पद में आ जाता है उसी प्रकार उल्टी करके पक्षी उड़ गया, जैसे पेंडोई बिगार पोट को त्यागकर सुखी होता है इसी प्रकार पक्षी छर्दी को त्यागकर सुखी हुआ, तब उसी शरीर के साथ विषूचिका तप करने लगी। हे रामजी! इस प्रकार इन्द्र ने सुनकर उसको देखने के लिये पवन को चलाया, तब पवन आकाश को छोड़कर भूतल पर उतरा, लोकालोक पर्वत को लाँघकर स्वर्ण की पृथ्वी लांघी, फिर समुद्र, फिर द्वीप को पार करके क्रम से हिमालय के बन में सूक्ष्म शरीर के साथ उसको देखने लगा।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूचीतपोवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥७३॥

चतुः सप्ततितमः सर्गः ७४

सूचीतपः पाकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! पवन चल रहा है सूर्य तप रहा है परन्तु चलायमान न हुई, प्राणवायु भी भोजन न करे। तब पवन ने भी आश्चर्यवान् होकर कहा—हे तपस्विनी! तू किस निमित्त से तप कर रही है। हे रामजी! ऐसा जब पवन ने कहा तब भी विषूचिका न बोली। पवन ने कहा, भगवती विषूचिका ने बड़ा तप किया है अब कोई कामना इसको नहीं, ऐसे कहकर उड़ा, क्रम से इन्द्र के पास गया, इन्द्र ने विषूचिकाके दर्शनके माहात्म्य से पवन को कण्ठ से लगाया, मिला,आदर किया कि तू बड़े पुण्यवान् के दर्शन करके आया है। पवन ने भी सब वृत्तान्त कह सुनाया, और कहा—हे राजन्! उसके तप तेज से हिमालय की शीतलता आच्छादित हो गई है, तुम और ब्रह्माजी उसके पास चलो नहीं तो उसके तप से जगत् जलेगा। हे रामजी! जब इस प्रकार पवन ने कहा तब इन्द्र, पवन, देवतागणों सहित ब्रह्माजी के पास आये, प्रणाम करके बैठ गये तब ब्रह्माजी ने कहा कि तुम्हारा वृत्तान्त मैंने जाना है।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे उत्पत्ति प्रकरणेसूचीतपः परिपाकवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥७४॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः ७५

सूचीशरीरलाभवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! ब्रह्माजी इन्द्र को कहकर विषूचिका का जिसका नाम सूची था, उसके पास आये, उसको देखकर आश्चर्यवान् हुए कि तृण की नाईं विषूचिका ने सुमेरु से भी अधिक धैर्य धारण किया है,

जैसे मध्याह्न का सूर्य तेजवान् होता है, ऐसा ही इसका तप तेज हुआ है, और परब्रह्म में स्थित हुई है, और इसका जगत् अब शांत हो गया है। अतः वंदन करने योग्य है। हे रामजी! जब आकाशतल में स्थित होकर ब्रह्माजी ने कहा—हे पुत्रि कर्कटि! तू अब वर ग्रहण कर, तब विचूषिका विचार कर कहने लगी, जो कुछ जानने योग्य था, वह मैंने जाना है और शांतरूप हुई हूँ, मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट हो चुके हैं, अब मुझे वर से क्या प्रयोजन है? यह जगत् अपने संकल्प से उपजा है—जैसे बालक को अपनी शरीरछाया में ही बेताल बुद्धि होती है, उससे भय पाता है, ऐसे ही मैं स्वरूप के प्रमाद से भटकती रही हूँ, अब इष्ट और अनिष्ट जगत् की इच्छा मुझको कुछ नहीं। अब मैं निर्विकल्प शान्ति में स्थित हूँ। हे रामजी! ऐसे कहकर सूची तूष्णीं हो रही, तब ब्रह्माजी वीतराग प्रसन्न बुद्धि उसके भाव को देखकर कहने लगे। ब्रह्माजी बोले—हे कर्कटि! तू कुछ वर ग्रहण कर! कुछ काल तक तुझे भूतल पर विचरना है, भोगों को भोगकर तू विदेह मुक्त होगी, अब तू जीवन्मुक्त होकर विचरेगी, नियति के निश्चय का कोई उल्लघंन नहीं कर सकता। और जब तू तप करने लगी थी, तब पूर्व देह पाने का संकल्प किया था, वह संकल्प अब सफल हुआ है, जैसे बीज में वृक्ष का सद्भाव होता है, वह समय आने पर विस्तार पाता है, इसी प्रकार तुझमें जो पूर्व शरीर का संकल्प था, वह अब प्राप्त होगा। उसी जैसा शरीर पाकर तू हिमालय के वनों में विचरेगी। हे पुत्रि! तेरे लिये तो अनिच्छित योग हुआ है, जैसे कोई छाया के निमित्त आम्र के वृक्ष के पास आ बैठे तो उसको छाया और फल—दोनों वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है। तुमने शरीर की वृद्धि के लिये यत्न किया था, वह तेरी तृप्ति करने हारा हुआ, और तेरे लिये ब्रह्मतत्व हुआ है। हे पुत्रि! तू राक्षसी शरीर में जीवन्मुक्त होकर विचरेगी, और जन्म तेरा न होगा। इस जन्म में तू परमशान्त रहेगी, और शरत्काल के आकाश की नाईं निर्मल होगी। जब तेरी वृत्ति बहिर्मुख फुरेगी तब सब जगत् तुझको आत्मरूप भासेगा। व्यवहार में समाधि

रहेगी, पापी जीव को तू खायेगी। न्याय बाँधव तेरा नाम होगा, और विवेकपालक तेरा देह होगा, इसलिये पूर्व शरीर को अंगीकार कर। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्ध्यान हो गये। तब सूची ने कहा—ऐसा ही हो, हमको दोनों तुल्य हैं, तब जैसे बीज से वृक्ष होता है ऐसे क्रम से उसका शरीर बढ़ गया, कैसे बढ़ा? प्रथम प्रादेशमात्र हुआ, फिर हस्तमात्र, फिर वृक्षमात्र, फिर योजनमात्र हो गई, जैसे संकल्प का वृक्ष एक क्षण में बढ़ जाता है ऐसे उसका शरीर बढ़ गया।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सूचीशरीरलाभो पंचसप्ततितमः नाम सर्गः॥७५॥

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

अन्यायबाधकत्ववर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे वर्षाकाल का बादल सूक्ष्म से स्थूल हो जाता है, इसी प्रकार सूची सूक्ष्म शरीर से फिर कर्कटी नाम की राक्षसी हो गई, जैसे सर्प केंचुली को त्यागकर फिर ग्रहण नहीं करता, ऐसे राक्षसी ने शरीर को आत्मतत्व के कारण नहीं ग्रहण किया, ऐसे शरीर को पाकर पद्मासन बाँधकर संवित् सत्ता में निर्विकल्पक पद में स्थित हुई, षट्मासपर्यन्त पहाड़ के शिखर की नाईं समाधि स्थित रही, फिर प्रारब्धवेग से जगी तब वृत्ति बहिर्मुख हुई, क्षुधा लग आई, क्योंकि शरीर के स्वभाव शरीरपर्यन्त रहते हैं, तब विचारने लगी, जो अविवेकी हैं मैं उनका भोजन न करूँगी, उनके भोजन से मेरा मरना श्रेष्ठ है जो न्याय से भोजन करने योग्य हैं उनका भोजन करूँगी, शरीर नष्ट हो जाय तो भी अन्यायी का भोजन न करूँगी। देहादिक सब संकल्पमात्र हैं,

मुझे न मरने की इच्छा है न जीने की। हे रामजी! ऐसा विचार कर सूची तूष्णीं हो बैठी, राक्षसी स्वभाव को त्याग किया। तब सूर्य भगवान् ने आकाशवाणी द्वारा कहा–हे कर्कटि! तू जाकर मूढ़ जीवों का भोजन कर, जब तू भोजन करेगी तब उनका कल्याण होगा, मूढ़ों का उद्धार करना भी सन्तों का स्वभाव है, जो विवेकी पुरुष हैं उनका तुम भोजन न करना और जो तेरे उपदेश से ज्ञान प्राप्त करें उनको भी न मारना। और जो उपदेश से भी बोध को न प्राप्त हों, उनका भोजन करना। यह न्याय है, तब राक्षसी ने कहा–हे भगवन्! तुमने अनुग्रह करके कहा है इसी प्रकार मुझको ब्रह्माजी ने कहा था।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अन्याय बाधकत्ववर्णनं
नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ।।७६।।

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

राक्षसीविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! ऐसे कहकर सूची हिमालय के शिखर से उतरी, वहाँ किरात देश था, बहुत मृग पशु रहते थे। उनमें विचरने लगी, रात्रि भी श्याम और राक्षसी भी श्याम, और तमालवृक्ष भी श्याम, महाअंधकार भासे, जैसे भ्रमर की पीठ श्याम होती है, मानों कज्जल का मेघ आकर स्थित हुआ है, ऐसी श्यामता में किरात देश का राजा, मंत्री और वीर यात्रा के लिये निकले, उनको आते देखकर राक्षसी विचार करने लगी, कि मेरा भोजन आ गया, यह मूढ़ अज्ञानी है, इनको देहाभिमान है, इन मूर्खों के जीने से कुछ प्रयोजन सिद्धि मालूम नहीं होती। न यह लोक सिद्ध होता है न परलोक सिद्ध होता है, ऐसे जीवों का जीना दुःख के निमित्त है, इनको यत्न करके भी मारना चाहिये, इनका पालना अनर्थ के निमित्त है, यह पाप का उदय करते हैं, आदि ब्रह्मा की नीति है कि पापी मारने योग्य है, और जो गुणवान् हैं वह मारने योग्य

नहीं। कदाचित् गुणवान् हों तो न मारूँगी। गुणवान् भी दो प्रकार के हैं जो अमानी, अदंभी, अहिंसक, शान्तिमान् हैं, वे गुणवान् हैं, और पुण्यकर्म करनेवाले हैं वे भी गुणवान् हैं, और महागुणवान् तो ब्रह्मवेत्ता हैं, उनके जीने से अनेक के कार्य सिद्ध होते हैं, मेरा शरीर भोजन के बिना नष्ट भी होने लगे, तो भी मैं गुणवान् को न मारूँगी। जो उदार पुरुष हैं, वे पृथ्वी का चन्द्रमा हैं, उनकी संगति से स्वर्ग अपवर्ग दोनों मिलते हैं, जैसे संजीवनी बूटी से मरा भी जी उठता है ऐसे ही सन्तों के संग से भी पुरुष अमृतरूप हो जाता है। इसलिये मैं प्रश्न करके इनकी परीक्षा करूँ, कदाचित् यह भी गुणवान् हों, क्योंकि यह कमलनयन ज्ञानवान् भासते हैं, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वह तो पूजा के योग्य हैं, और जो मूर्ख हैं वे दण्ड के योग्य हैं, तो मैं इनको खा जाऊँगी।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीविचारोनाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

राक्षसीवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे राजन्! वह राक्षसी उन्हें देखकर मेघ की नाईं गर्जने लगी और बोली–अरे वनाकाश के चन्द्र! सूर्य! तुम कौन हो? बुद्धिमान हो अथवा दुर्बुद्धि हो और कहाँसे आये हो? और तुम्हारा क्या आचार है? तुम तो मुझे ग्रासरूप मिले हो, अब मैं तुम्हें खा जाऊँगी। राजा ने कहा–अरे! इस भौतिक तुच्छ शरीर को पाकर तुम कहाँ रहती हो, हमको देखकर जो तू गरजती है, वह तेरा शब्द हमको भ्रम से शब्दवत् भासता है, हमको कुछ भय नहीं होता। हे राक्षसि! यह तेरा शरीर मायामात्र है, इस तुच्छस्वभाव को त्यागकर जो कुछ तुम्हारा प्रयोजन है वह कहो, हम पूर्ण कर देंगे। हे रामजी! जब इस प्रकार राजा ने कहा–तब उनको डराने के लिये प्रलयकाल के मेघों के समान राक्षसी बड़े भयंकर शब्द के साथ गर्जने लगी कि मानों पहाड़ों को भी चूर कर

देती है। सब दिशाएँ उस शब्द से गूँज उठीं, उसने ग्रीवा और भुजायें उठाकर बिजली से नेत्रों को चमकाते हुए अतिभयंकर रूप धरे हुए यह घोर शब्द किया था। उसकी मूर्ति की भयंकरता से राक्षस, पिशाच भी काँप जायँ। ऐसी भयानकता को देखकर भी उन दोनों ने धैर्य न छोड़ा, अरी राक्षसि! यह तेरे सब शब्द व्यर्थ हैं इनसे तेरा कोई कार्य सिद्ध न होगा, इस आरंभ को छोड़कर जो कुछ तेरा प्रयोजन है उसे कह! बुद्धिमान लोग उसी काम में अपनी बल बुद्धि का व्यय करते हैं जो काम परमार्थ की दृष्टि से और समाज की सम्मति से सर्वहित संपादक हो। जो ऐसा काम नहीं होता उसमें वे यत्न नहीं करते, इसलिये हम तेरा विषय नहीं हैं तुझ जैसे सहस्रों मर्दन किये हैं। हे राक्षसि! हमारे धैर्यरूपी पवन से तुझ जैसी अनन्त मक्खियाँ उड़ती फिरती हैं। इसलिये नीचस्वभाव को छोड़कर स्वस्थ चित्त से अपने मतलब की बात कहो, स्वस्थ हुए बिना किसी भी व्यवहार की सिद्धि नहीं होती। तुम अपना मानसिक भाव हमें कहो, क्या चाहती हो? हम तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध करेंगे। कभी कोई भी अर्थी हमारे पास आकर निराश नहीं जा सकता, हम सबका अर्थ पूर्ण करते हैं। हे रामजी! जब मंत्री ने इस प्रकार कहा तब राक्षसी देखने लगी कि यह कोई उदारात्मा दृष्टि आते हैं और उज्ज्वल आचारवाले हैं, अन्य जीवों के समान नहीं, यह बड़े प्रकाशवान् हैं और धैर्यवान् हैं, उदारता के कारण इनके वचन ज्ञानवानों के साथ मिलते हैं, अब इनको मैंने जाना है, और इन्होंने मुझको जाना है, मुझसे इनका नाश भी न होगा, क्योंकि यह अविनाशी पुरुष हैं। ब्रह्मसत्ता में स्थित है। अतः ज्ञानवान् हैं, ऐसा निश्चय ज्ञानवान् बिना और किसी का नहीं होता, परन्तु कदाचित् अज्ञानी हों, संदेह को मिटाने के लिये फिर पूछती हूँ। संदेहवान् होकर बोधवान् को नहीं पूछते हैं, यह नीच बुद्धि है। हे रामजी! मन में ऐसा भाव रखकर पूछने लगी, तुम कौन हो? और तुम्हारा आचार क्या है? निष्पाप पहापुरुषों को देखकर मित्रभाव उपज आता है, मन्त्री बोला—हे राक्षसि! ये किरात देश के राजा हैं, मैं इनका मंत्री हूँ, रात के समय तुम्हारे जैसे दुष्टों को मारने के लिये उठे हैं,

दिन रात हमारा यही आचार है, जो जीव धर्म मर्यादा को त्यागने वाले हैं उनका हम नाश करते हैं, जैसे ईंधन का आग नाश करती है उसी प्रकार हम दुष्टों का नाश करते हैं। राक्षसी बोली–हे राजन्! तेरा यह मंत्री दुष्ट है, जिस राजा का मंत्री भला नहीं होता वह राजा भी भला नहीं, और जिस राजा का मन्त्री भला होता है, उसकी प्रजा भी शांत होती है, भला मंत्री वही कहा जाता है जो राजा को न्याय और विवेक सम्पन्न करे, जो राजा विवेकी होता है, वह शान्तात्मा होता है। जो राजा शान्तिमान् है तो प्रजा भी शान्त होती है, सब गुणों से जो उत्तम है, वह आत्मज्ञान है। जो आत्मा को जानता है वही राजा है और वही मन्त्री है, जिसमें प्रभुता भी हो और समदृष्टि हो। और जो प्रभुता और समदृष्टि रहित है वह न राजा है न मन्त्री है, हे राजन्! यदि तुम आत्मज्ञानवान् पुरुष हो, तो तुम कल्याणरूप हो, और यदि ज्ञान से रहित हो तो मैं तुम्हें खाऊँगी, तुम्हारे छूटने का उपाय यही है कि मैं प्रश्नों का समूह पूछती हूँ, उनका तुम उत्तर देना, यदि प्रश्नों का उत्तर दिया, तब मेरे पूजने योग्य हो, और जो मेरा अर्थ होगा वह मैं कहूँगी और तुम पूर्ण करोगे, और यदि प्रश्नों का उत्तर न दिया गया तब तुम्हारा भोजन करूगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीवर्णनं नामअष्टसप्ततितमः सर्गः।।७८।।

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

राक्षसीप्रश्नवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब इस प्रकार राक्षसी ने कहा– तब राजा ने कहा तू प्रश्न कर हम उत्तर देंगे। राक्षसी बोली– हे राजन्! यह एक अणु कौन है जिससे अनेक प्रकार हुए हैं। एक के अनेक नाम हैं और वह कौन अणु है जिसमें अनेक ब्रह्मांड होते हैं? जैसे समुद्र में अनेक

बुदबुदे उपजकर लीन होते हैं, ऐसे एक अणु में अनेक उपजते हैं, और लीन होते हैं, और वह आकाश कौन है जो पोल से रहित है और वह कौन अणु है, जो न किंचित् है न अकिंचित् है? और वह कौन अणु है जिसमे तेरा अहं और मेरा अहं फुरता है, और अहं त्वं एक में जानते हैं वह कौन हैं, और वह कौन है जो चला जाता है, और कदाचित् नहीं चलता? और वह कौन है जो तिष्ठत् भी है अतिष्ठत् भी है, और वह कौन है जो पाषाणवत् है, और वह कौन है? जिसने आकाश में चित्त किये हैं और वह अग्नि कौन है? जो दाहक शक्ति से रहित है और अग्निरूप है और वह अग्नि कौन है जिससे अग्नि उपजा है और वह कौन अणु है, जो सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, तारा के प्रकाश से रहित है और अविनाशी है और वह कौन ज्योति है, जो फूल फल और लता को प्रकाशित करती है, और जन्मान्ध को प्रकाशती है? और वह कौन अणु है, जो आकाशादि भूतों को उपजाता है? और वह कौन अणु है, जो स्वाभाविक प्रकाशमान है? और वह भण्डार कौन है जिससे ब्रह्माण्डरूप रत्न उपजते हैं? और वह कौन अणु है जिसमें प्रकाश और तम इकट्ठे रहते हैं? और वह कौन अणु है, जिसमें सत् असत् दोनों इकट्ठे रहते हैं, और वह कौन अणु है जो दूर भी अदूर है और वह कौन अणु है जिसमें सुमेरु आदि पर्वत समा रहे हैं? और वह कौन अणु है जिसमें निमेष में कल्प है और कल्प में निमेष है? और वह कौन है जो प्रत्यक्ष है और असत्‌रूप है? और वह कौन है जो सत्‌रूप है और अप्रत्यक्षरूप है, और वह कौन चेतन है जो अचेतन है? और वह कौन वायु है जो सर्व अवायुरूप है? और वह कौन है जो अशब्दरूप है, और वह कौन है जो सर्व है और निष्किचिंत् है और वह कौन अणु है, जिसमें अहं नहीं और है भी? और वह कौन है जो अनेक जन्मों के यत्न से प्राप्त होता है, प्राप्त होने पर कहता है कुछ नहीं पाया और सब कुछ पाया है? और वह कौन अणु है जिसमें सुमेरु आदि तीनों भुवन तृण समान हैं? और वह कौन है जो अनेक योजनों को पूर्ण करता है? और वह कौन अणु है जिसके देखने से जगत् फुर आता है? और वह

कौन अणु है जो अणुता को त्यागे बिना सुमेरु आदि स्थूल आकार को प्राप्त होता है? और वह कौन अणु है जो बाल का शतांश सुमेरु से भी ऊँचा हुआ है? और वह कौन अणु है जिसमें सब अनुभव स्थित हैं? और वह कौन अणु है, जो अत्यन्त निस्वाद है? और आपही सब स्वाद होता है? और वह कौन अणु है, जो अपने ढाँपने को समर्थ नहीं और सबको ढांप रहा है? और वह कौन अणु है जिससे सब जीते हैं? और वह कौन अणु है जिसका अवयव कोई नहीं और सब अवयवों को धारण कर रहा है? और वह कौन निमेष है जिसमें बहुत कल्प स्थित हैं। और वह कौन अणु है जिसमें बीज से लेकर फल पर्यन्त न उदय हुए भी भासते हैं? और वह कौन है जो प्रयोजन से और कर्तृत्व से रहित है और प्रयोजन्वान और कर्तृत्ववान् की नाईं स्थित है? और वह कौन है जो द्रष्टा है जो दृश्य से मिलकर दृश्य हो जाता है? और वह कौन है जो दृश्य के नाश हुए भी आपको अखण्ड देखता है? और वह कौन है जिसके जानने से द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, तीनों लय हो जाते हैं? जैसे सोने को जानने से भूषण भाव लीन हो जाते हैं, और वह कौन है जिससे भिन्न कुछ नहीं जैसे जल से भिन्न तरंगों का अभाव है, और वह एक ही कौन है? जो देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित सत् असत् की नाईं स्थित है? और वह कौन अद्वैत है? जिससे द्वैत भी भिन्न नहीं, जैसे समुद्र से तरंग भिन्न नहीं और वह कौन है? जिसके देखते सत्ता असत्ता सब लीन होती है? और वह कौन है जिसमें भ्रमरूप अनंत जगत् स्थित हैं, जैसे बीज में वृक्ष होता है? और वह कौन है, जो सत्ता असत्ता आप ही हुआ है, जैसे बीज वृक्षरूप है, और वृक्ष बीजरूप है? और वह अणु कौन है जिसमें तन्तु भी सुमेरु की नांई स्थूल है, जिसके अन्दर कोटि ब्रह्माण्ड हैं? हे राजन्! उस अणु को देखा है तो कहो। हे राजा! यह मुझको संशय है, उसको तुम अपने मुख से दूर करो, जिसके विद्यमान होते संशय निवृत्त न हो वह पण्डित कहलाने योग्य नहीं, और जो ज्ञानवान् है जिसके लिये इन प्रश्नों का उत्तर कहना–सुगम है, इस संशय को वह शीघ्र ही काट देता है, और

जो अज्ञानी है उनके लिये यह काम कठिन है। हे राजन्! यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दो तो तुम मेरे पूजनीय हो, और यदि मूर्खता के कारण उत्तर न दोगे तथा प्रश्नविपर्यय जानोगे तो तुम मेरी उदर सम्बन्धी जठराग्नि के ईंधन हो, दोनों मेरे उदर में जा पड़ोगे, उसके अनन्तर तुम्हारी सब प्रजा को खा जाऊँगी, क्योंकि मूर्ख पापियों को मारना श्रेष्ठ है, आगे पाप करने से छूटेंगे, तुम्हें खाकर तुम्हारी प्रजा को भी खा जाऊँगी। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! श्याम मेघ की नाईं जिसका आकार है, ऐसी राक्षसी इस प्रकार कह कर शुद्ध आशय के साथ तूष्णीं हो गई। जैसे शरत्काल में नभोमंडल निर्मल होता है ऐसे निर्मल भाव को प्राप्त हुई।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीप्रश्नवर्णनं
नामैकोनाशीतितमः सर्गः ।।७९।।

अशीतितमः सर्गः ८०

राक्षसीप्रश्नभेदवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! आधी रात के समय शून्यवन में महाराक्षसी ने जब ये महा प्रश्न किये तब महामंत्री ने उसको इन प्रश्नों का उत्तर दिया। महामन्त्री ने कहा—हे राक्षसि! तुमने जो यह संशययुक्त प्रश्न किये हैं, मैं तुमको इनका क्रम से उत्तर देता हूँ, और तुम्हारे संशय को निर्मूल करता हूँ, जैसे उन्मत्त हाथी को सटावान् सिंह नाश करता है, इसी प्रकार मैं तुम्हारे संशयों का नाश करूँगा। हे राक्षसि! कमलनयनि!! जितने प्रश्न तुमने किये हैं सब परमात्मा के विषय में हैं, इसलिये तेरे सब प्रश्नों को एक ही प्रश्न कहना चाहिये, परन्तु तुमने उसके अनेक प्रकार कर दिये हैं, वह ब्रह्मवेत्ता के योग्य हैं। हे राक्षसि! जो अनामाख्य है अर्थात् जो सब इन्द्रियों का विषय नहीं और अगम्य है,

और मन के चिन्तन से रहित हैं, ऐसी सत्ता चिन्मात्र है और आकार भी सूक्ष्म है, इस कारण से सूक्ष्म कहाता है। सूक्ष्मता के कारण उसकी अणु संज्ञा है कोई परमाणुता से उसकी अणुसंज्ञा नहीं है, क्योंकि सर्वात्मा है, उस अणु में सत् असत् की नाईं जगत् स्थित हैं, और उस ही चिद् अणु में जब कुछ संवेदन फुरंता है तब वही संवेदन सत्य असत्य जगत् की नाईं भासता है, इससे चित्त कहते हैं, और सृष्टि से पूर्व उसमें कुछ न था, इससे निष्किञ्चन कहलाता है, इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिये नकिंचित् है और वही चिद्अणु के रूप में सबकी आत्मा है, और वही चिद्अणु में एक ही आभास से अनेक रूप भासता है, जैसे सुवर्ण से नानाप्रकार के भूषण भासते हैं, और वही चिद्अणु परमाकाश रूप है जो आकाश से भी सूक्ष्म है, और मन वाणी से अतीत है वह सर्वात्मा है शून्य कैसे हो! सत् को जो शून्य कहते हैं वे उन्मत्त कहाते हैं क्योंकि असत् भी सत् बिना सिद्ध नहीं होता जिसके आश्रय से असत् भी सिद्ध होता है वह सत् है, और वही चिद्अणु पञ्चकोशों में छिपता नहीं, जैसे कर्पूर की गन्ध प्रकट होती है छिपती नहीं, ऐसे प्रकट होता है, पञ्चकोशों में आत्मा छिपता नहीं अनुभवरूप है, और वही चिन्मात्र सर्वरूप से किंचित् है और अचेतन चिन्मात्र है इससे अकिंचित् है, इन्द्रियों से रहित है, अतः निर्मल है। उसी चिद्अणु में फुरने से अनेक जगत् स्थित है, जैसे समुद्र से फुरने से तरंग उपजते हैं फिर लीन हो जाते हैं, ऐसे चिद्अणु में फुरने से अनेक जगत् उपजकर लीन हो जाते हैं, मन और इन्द्रियों के अतीत है, इसलिये चिद्अणु शून्य कहलाता है स्वयं प्रकाश है, अतः अशून्य है, हे राक्षसि! मेरा अहं और तेरा अहं हुआ है, आत्मा एक ही है, अहं की अपेक्षा से त्वं है और त्वं की अपेक्षा से मैं परिच्छिन्न हूँ परन्तु दोनों का उत्थान एक आत्मतत्व से ही है, उस ही चिद्अणु के बोध से ब्रह्मरूप होता है और उसी बोध में अहं त्वं सब लीन होते हैं, अथवा सब आप ही होता है, त्रिपुटीरूप भी वही है, और वही चिदणु अनेक योजनोंपर्यन्त जाता है, ओर कदाचित् चलायमान नहीं हुआ, क्योंकि जो संवित् अनन्तरूप है,

योजनों के समूह उसके अन्दर हैं न कोई आता है न जाता है, अपने आकाशकोश में सब देशकाल स्थित हैं, जिसमें सब कुछ हो उसकी प्राप्ति वास्तव में कहाँ हो। यह जितना जगत् है वह तो आत्मा है फिर आत्मा कहाँ जाय। जैसे माता की गोद में पुत्र हो उसके लिये वह कहाँ जाये, इसी प्रकार आत्मा में यह जगत् स्थित है, फिर आत्मा को जाता कहाँ कहना, और चलता जो भासता है वह देह की अपेक्षा से भासता है, वह कदाचित् चला नहीं, जैसे आकाश में घटादि स्थित हैं वैसे चिद्णु में देशकाल स्थित है, जैस घट एक देश से देशान्तर को जाय तो कहा जायेगा, घट गया है अकाश नहीं गया है, घट की अपेक्षा आकाश जाता भासता है, घटाकाश कहीं गया नहीं क्योंकि आकाश में सब देश स्थित हैं, वह कहाँ जावे, ऐसे आत्मा ज़ाता है और नहीं जाता है। उसी चिन्मात्र परमात्मा में संवेदना आकार रचे हैं, आदि अन्त से रहित विचित्ररूप जगत् रचा है और वही चिदणु अग्नि की तरह प्रकाशरूप हैं, और जलाने से रहित है, ज्ञानाग्नि से प्रकाशमान है, अग्नि भी उससे उत्पन्न हुआ है, और सर्वगत वही है, और द्रव्यों को पचाता भी वही है, प्रलय में सब भूत उसमें लीन होते हैं, और पुष्कल मेघ इकट्ठे हों तो भी उसका आवरण नहीं कर सकें। सदा प्रकाशरूप और ज्ञानरूप होते है, आकाश से भी निर्मल है और प्रकाशरूप है जो कि अग्नि भी उससे उत्पन्न हुआ है, और सबको सत्ता देनेवाला है, सूर्यादिक भी उसके प्रकाश से प्रकाशित हैं, और अनुभवरूप हैं, नेत्रों बिना भासता है, ऐसा हृदय रूप मंदिर का जो दीपक है वह आत्मा है, अनन्त परमप्रकाशरूप है मन इन्द्रियों का विषय नहीं, और लता फूल फल आदि सबको आत्मतत्व से प्रकाशित करता है, सबका अनुभव कर्ता वही है, काल आकाश क्रिया आदिक पदार्थ को सत्ता देने वाला वही चिदणु है, और सबका स्वामी कर्ता वही है, सबका पिता वही है और सबका भोक्ता वही है, ओर स्वरूप से सदा अकर्ता अभोक्ता है, उससे इतर कुछ नहीं, इस कारण से किंचनरूप है, जगत् को धारण करने वाला है, स्वरूप से माता मान मेय जिससे प्रकाशते हैं, उपजा कुछ नहीं, चिदात्मा का किंचन है। किंचन से जगत् की नाईं भासता है, जो

तुमने पूछा था दूर और निकट कौन है, उसके विषय में ऐसा जानना चाहिये कि अलक्ष्य भाव से दूर भी वही है और चिद्रूपभाव से अदूर भी वही है, अथवा ज्ञान से अदूर भी वही है और अज्ञान से दूर से दूर है, तथा अज्ञान से तमोरूप और ज्ञान से प्रकाशरूप भी वहीहै है, और उसी चिदणु में संवेदन से सुमेरु आदि स्थित हैं, हे राक्षसि! जितना भी यह दृश्यप्रपञ्च भासता है सब संवेदनरूप है, समेरु आदि पदार्थ कुछ उत्पन्न नहीं हुये, चित्सत्ता ज्यों की त्यों स्थित है, उसमें जैसा संवेदन फुरता है वैसा आकार होकर भासता है, जहाँ निमेष का संवेदन वहाँ निमेष कहाता है, और जहाँ संवेदन कल्पका फुरता है वहाँ कल्प कहते हैं, कल्पक्रिया आदिक जगत् विलास सब निमेष में फुर आये हैं, जैसे मनके फुरने से बहुत योजनों पर्यन्त पुरुष भास आता है और जैसे अल्पमुकुर में बड़े विशाल नगर का प्रतिबिंब समा जाता है, ऐसे ही निमेष के फुरने में सब जगत् फुर आता है, और निमेष में कल्पसमुद्र पुर अनन्त योजनों का विस्तार चिद्अणु में स्थित है, और द्वैतभ्रम से रहित है, हे राक्षसि! यह जगत् स्वरूप से अवस्तुरूप है संवेदन करके भासता है, जैसे जैसे संवेदन में दृढ़ प्रतीति होती है, वैसा वैसा अनुभव होता है, तू देख क्षण के स्वप्न में सत् असत् फुर आता है, और बहुतकाल का अनुभव होता है जो दुःखी होते हैं उनको थोड़े काल में बहुत काल भासता है, और जो सुखी होते हैं उनको बहुत काल में थोड़ा काल भासता है, जैसे श्रीराजर्षि हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में द्वादश वर्षका अनुभव हुआ था, अतः जैसा जैसा संवेदन दृढ़ होता है, वैसा देशकाल हो भासता है, सत् भी असत् की नाई भासता है, जैसे सुवर्ण में भूषण बुद्धि होती है, तब भूषण भासते हैं, जैसे समुद्र में तरंगों की दृढ़ता से तरंग भिन्न भासते हैं। ऐसे ही निमेष में कल्प भासते हैं, और वस्तुतः न निमेष है न कल्प हैं, न दूर है न निकट है, सब चिदणु आत्मा का आभास है, हे राक्षसि! प्रकाश और तम, दूर, अदूर सब चेतना संपुट में रत्नों की नाईं है। वस्तुतः अनन्यरूप है, भेदाभेद कुछ नहीं, हे राक्षसि! जब तक दृश्य का सद्भाव दृढ़ होता है, तब तक द्रष्टा

नहीं भासता, जैसे जब तक भूषण बुद्धि होती है तब तक स्वर्ण नहीं भासता, और जब स्वर्ण जाना तब भूषण बुद्धि नहीं रहती, स्वर्ण ही भासता है, ऐसे ही जब तक दृश्य का स्पंदभाव होता है तब तक द्रष्टा नहीं भासता, और जब आत्मज्ञान होता है तब केवल निर्मल ब्रह्मसत्ता ही सद्‌रूप से सर्वत्र भासती है, और दुर्लक्षता से अर्थात् मन इंद्रियों के अविषय होने से असत् रूप चेत्यता करके उसको चेतन, और चेत्य के अभाव से अचेनारूप कहते हैं, अर्थात् यह जो चेत्य के अभाव से अचेत्य चिन्मात्र कहते हैं, वह चेतन चमत्कार से जगत् की नाईं हो भासता है, हे राक्षसि! और जगत् उसमें कोई नहीं, जैसे वायु का विरोला वृक्षाकार हो भासता है, और जैसे सघन धूप में मृगतृष्णा की नदी भासती है, ऐसे ही एक अद्वैत चेतन है। वह घन चेतनता करके जगत् की नाईं हो भासता है, ऐसे ही सघन शून्यता से आकाश में नीलता भासती है, ऐसे दृढ़सघन चेतनता से जगत् भासता है, जैसे सूर्य की सूक्ष्म किरणों का किंचन मृगतृष्णा का जल होता है उस नदी का प्रमाण कुछ नहीं, ऐसे इस जगत् की अवस्था भासती है, सब आकाशरूप है, जैसे भ्रम से धूर के कण में स्वर्ण की नाईं चमत्कार होते हैं, ऐसे जगत्कल्पना चित्त के फुरने से भासती है, जैसे स्वप्नपुर और गन्धर्वनगर आकार सहित भासते हैं, वह न सत् है न असत् है, ऐसे यह जगत् दीर्घस्वप्न है न सत् है न असत् है, हे राक्षसि! जब उसका आत्मा में अभ्यास हो तब यह कुण्डादिक ऐसे ही रहें, और आकाशरूप ही भासें, स्वरूप से कुण्डादिक भी आकाशरूप हैं, आकाश और कुण्ड आदि को में भेद कुछ नहीं, मूर्खता से भेद भासता है, ज्ञानी को सब चित्ताकाशरूप भासता है, हे राक्षसि! ब्रह्मा से तृण पर्यन्त संवेदन में कल्पना दृढ़ हो रहीं है, ऐसे ही भासती है, और वास्तव से वही चिदाकाश प्रकाशता है, घन–चेतनता करके वही चिदाकाश आकारों की नाईं प्रकाशता है उसी का यह प्रकाश है, वह अनन्यरूप हैं जैसे बीज और वृक्ष अनन्यरूप हैं, ऐसे असंख्यरूप जगत् ब्रह्मसत्ता में स्थित हैं, वह अनन्यरूप है, जैसे बीज में वृक्ष का भाव स्थितहै, वह आकाशरूप है, ऐसे ब्रह्म में जगत् स्थित है वह अक्षोभरूप है, अन्य भाव को नहीं प्राप्त

हुए वह ब्रह्मसत्ता सब ओर से शांतरूप है अज है, एक है आदि मध्य अन्त से रहित है उसमें एक और दो की कल्पना कोई नहीं, अनउदय हुई ही उदय हुई है, निर्मल स्वप्रकाश आत्मा ही है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीप्रश्नभेदवर्णनं नामाशीतितमः सर्गः ।।८०।।

एकाशीतितमः सर्गः ८१

परमार्थनिरूपणम् ।

वसिष्ठजी बोले—बड़ा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है, मन्त्री ने तो ये परम पावन वचन कहे हैं, अब कमलनयन राजा भी कुछ कहता है, राजा बोला—हे राक्षसि! यह जो जाग्रत् जगत् की प्रतीति होती है, इसका जब अभाव हो तब आत्मप्रतीति होती है, जब सब संकल्प की चैत्यता का नाश हो तब आत्मसाक्षात्कार हो, वह आत्मसत्ता कैसी है जिसमें संवेदन फुरने से जगत् हो भासता है, और संवेदन के संकोच से सृष्टि का प्रलय होता है, उसका अधिष्ठानरूप आत्मसत्ता है, उसको वेदान्त वाक्य कुछ जताने के लिये कहते हैं क्योंकि वह वाणी से अतीत पद है, हे राक्षसि! यह जो द्रष्टादर्शन दृश्य है इसके अन्तर अनुभव सत्ता है, वह परमात्मा है, वह परमात्मा ही द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रूप होकर भासता है, उसमें जगत् की लीला है, नानत्वभाव करके भी कुछ खण्डित भाव को नहीं प्राप्त हुआ, अखण्ड ही रहा है, उस चिन्मात्र सत्ता को ब्रह्म कहते हैं, हे भद्रे! वही चिदणु संवेदन से वायुरूप हुआ है, और वायु उसमें अत्यन्त भ्रांतिमात्र है, क्योंकि वह केवल शुद्ध चिन्मात्र है, जब उसमें शब्द का संवेदन फुरता है तब शब्दरूप हो भासता है, और शब्दरूप उसमें भ्रांतिमात्र है, उसमें शब्द और शब्द का अर्थ देखना दूर से दूर है क्योंकि केवल चिन्मात्र है। उसमें अहं त्वं कुछ नहीं, और वह निष्किंचन है, ऐसे रूप होकर भासता है क्योंकि वह सर्वशक्तिरूप आत्मा है उसमें जैसी

प्रतिभा फुरती है वैसा ही होकर भासता है। वह आत्मसत्ता अनेक यत्नों से पाने योग्य है, उसको पाकर कुछ नहीं पाया, क्योंकि वह पहिले ही अपना आप है, और उसको पाकर सब कुछ पा लिया, क्योंकि उसको पाकर कुछ और पाने योग्य शेष नहीं रहता। हे राक्षसि! अज्ञानरूप वसन्तऋतु से जन्म परम्परालता बढ़ती है जब तक इसके काटने वाला बोधरूप खड्ग तैयार न हो, जब बोधरूप तीखी तलवार का वार होता है तब जन्म परम्परालता कट जाती है, हे राक्षसि! चिदणु संवेदन द्वारा अपने आपको दृश्य में प्राप्त करता है, जैसे किरणों का चमत्कार जलरूप होकर स्थित होता है, वह शुद्ध ही अपने को संवेदन द्वारा फुरता देखता है, ऐसे चिद्अणु जगत् हुआ है, वह मेरु से लेकर तीनों भुवन किरणों की नाईं स्थित होते हैं, और वस्तुतः मायामात्र हैं, भ्रम से भासते हैं। स्वप्न में रागी को स्वप्नस्त्री का आलिङ्गन होता है ऐसे ही यह मन के फुरण से भासता है, वह भ्रममात्र है, हे राक्षसि! सर्व शक्तिरूप अपने आप में जिस प्रकार सृष्टि का आदि स्फुरण है, तदनुरूप होकर भासने लगा है, जैसे संकल्प किया है वैसे स्थित हुआ है, इसलिये सब जगत् संकल्पमात्र है हे राक्षसि! चिदणु परमाणु से भी सूक्ष्म है और उसने ही सब सर्व जगत् को पूर्ण किया है, सब जगत् अनन्तरूप आत्मा है, उसमें संवेदन से जगत् की रचना हुई है, जैसे नट नायक होता है, वह जैसे जैसे बालक को नेत्रों से जताता है, वैसे वैसे वह नृत्य करता है, और उसके ठहर जाने पर वह भी ठहर जाता है, ऐसे ही चित्त के अवलोकन से सुमेरु से लेकर तृण पर्यन्त जगत् नृत्य करता है, जैसे जैसे चित्त संवेदन फुरता है, अनन्त शक्ति आत्मा में वैसे वैसे हो भासती है। हे राक्षसि! आत्मसत्ता देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित है इस कारण से सुमेरु आदिक से स्थूल है, सुमेरु आदिक तृण के समान है और बाल के अग्रभाग के शतांश समान सूक्ष्म है, वह अल्पता से ऐसा सूक्ष्म नहीं, जिसमें सरसों का दान भी सुमेरुवत् स्थूल है, माया की कला बहुत सूक्ष्म है, उससे भी चिदणु सूक्ष्म है, क्योंकि जो निर्मायिकपद परमात्मा है, जैसे स्वर्ण और भूषण की शोभा समान नहीं अर्थात् स्वर्ण में भूषण

कल्पित है वह समान किस प्रकार हो, तैसे माया परमात्मा के समान नहीं, क्योंकि कल्पित है, हे राक्षसि! जितने भी सूर्यादि प्रकाश हैं वह सब अनुभव से प्रकाशते हैं, इनका सद्भाव कुछ न था, उस ही सत्ता से इनका प्राकट्य है, प्रकाशरूप शुद्ध चिन्मात्रसत्ता है, वह सदा अपने आप में स्थित है, उस चिदणु के अन्तर बाह्य प्रकाश है, और यह जो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिक प्रकाश हैं वह तम के साथ मिले हुए हैं, अर्थात् यह जो भेदरूप है यह भी तमरूप हैं, क्योंकि जो आपेक्षिक प्रकाश हैं इनमे इतना भेद है कि जो प्रकाश शुक्लरूप और तब कृष्णरूप है, रंग का भेद है प्रकाशरूप कोई नहीं, जैसे श्याम कुहिड़ मेघ की होती है और शुक्ल कुहिड़ बर्फ की होती है, और दोनों कुहिड़ हैं, ऐसे तम और प्रकाश दोनों तुल्य हैं और आत्मसत्ता दोनों को प्रकाशती है, इसलिये दोनों की आश्रयभूत केवल एक आत्मसत्ता है, हे राक्षसि! रात दिन, अन्तर बाहिर नदियाँ, पहाड़ आदिक सब लोक आत्मसत्ता के प्रकाश से प्रकाशित हैं, जैसे कमल और नीलोत्पल दोनों को सूर्य प्रकाशित करता है, कमल श्वेत हैं और नीलोत्पल श्याम हैं, जहाँ श्वेत कमल है वहां नीलोत्पल का अभाव है और जहां नील कमल है वहां श्वेत कमल का अभाव है दोनों का प्रकाशक सूर्य है, वैसे ही तम और प्रकाश इन दोनों का प्रकाशक चिदात्मा है, जैसे रात्रि और दिन दोनों सूर्य से सिद्ध होते हैं, वैसे तम और प्रकाश यह दोनों आत्मा से सिद्ध होते हैं, जैसे दिन तब कहाता है जब सूर्य उदय होता है और रात तब कहाती है जब सूर्यास्त होता है, परन्तु आत्मा वैसा नहीं, आत्मप्रकाश सदा उदय और अस्त से रहित है, उसके बिना कुछ सिद्ध नहीं होता, सबका प्रकाशक चिद्अणु है, हे राक्षसि! उस अणु के अन्तर विचित्र अनुभव अणु है, जैसे वसंत ऋतु के अन्तर पत्र फल फूल फल टास होते हैं, ऐसे चिद्णु से सब अनुभव अणु होते हैं, जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष क्रम करके हो जाते हैं, वैसे अनेक चिद्अणु से अनेक अनुभव अणु होते हैं, कई व्यतीत हुए हैं कई वर्तमान हैं और कई भविष्यत् होंगे, ऐसे आत्मा में तीनों कालों की सृष्टि बर्तती है,

हे राक्षसि! चिद्णुआत्मा उदासीन है, और आसीन की नाईं स्थित होता है, सबका कर्ता भी है भोक्ता भी है, और स्पष्ट किसी के साथ नहीं, जगत् की सत्यता उसीसे उदय होती है, इस कारण से सबका कर्ता है, और सबका अपना आप है, अतः सबको भोगता है, और वास्तव से उपजा है न कुछ लीन होता है, चिन्मात्रसत्ता ज्यों की त्यों सदा अपने आप में स्थित है और अखंड है सूक्ष्म है, इस कारण से किसी के साथ स्पष्ट नहीं, हे राक्षसि! जितना यह दृश्य प्रपंच दीखता है सब आत्मरूप है आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं, आत्मा और जगत् कथनमात्र के लिये दोनों नाम हैं, वस्तुतः एक आत्मा ही है, आत्मा का चमत्कार ही जगत् हो भासता है, जगत् कुछ बना नहीं, चिन्मात्र सत्ता सदा अपने आप में स्थित है, और जितना कुछ कहना है वह उपदेश के लिये है, वास्तव से दूसरी वस्तु कुछ बनी नहीं तीनों जगत् चिदाकाशरूप हैं हे राक्षसि! द्रष्टा जब दृश्य पद को प्राप्त होता है तब स्वाभाविक अपने भाव को नहीं देखता, जैसे नेत्र जब घट को देखता है तब घट ही भासता है, अपना नेत्रत्वभाव दृष्टि नहीं आता, ऐसे दृश्य के होते द्रष्टा नहीं भासता, और जब दृश्य हो जाय तब द्रष्टा भी अवास्तव है, क्योंकि द्रष्टा भी इसको दृश्य के सम्बन्ध से कहा जाता है, जब दृश्य नष्ट हो जाय तब द्रष्टा किसको कहा जाय? दृश्य विषयभूत वह होता है जो अदृश्य है वह विषयभूत किसी का नहीं, इस कारण से उसमें और कल्पना कोई नहीं बनती, और यह जगत् भी उसका आभास है, हे राक्षसि! जैसे भोक्ता बिना भोग नहीं बनती, वैसे द्रष्टा बिना दृश्य नहीं होते, जैसे पिता बिना पुत्र नहीं होता, वैसे एक बिना दो नहीं होते, हे राक्षसि! द्रष्टा को दृश्य उपजाने की सामर्थ्य है, परन्तु दृश्य को द्रष्टा उपजाने की सामर्थ्य नहीं क्योंकि दृश्य जड है, जैसे सुवर्ण से भूषण बनता है, भूषण से सुवर्ण नहीं बनता, वैसे द्रष्टा से दृश्य होता है दृश्य से द्रष्टा नहीं होता, हे राक्षसि! सुवर्ण में जैसे भूषण हैं, ऐसे द्रष्टा में दृश्य है, वह भ्रमरूप है, इसी से जडरूप है, जब द्रष्टा दृश्य को देखता है, तब दृश्य भासता है,दृष्टत्वभाव नहीं भासता, और जब द्रष्टा अपने स्वभाव में स्थित होता है तब दृश्य नही भासता, जैसे जब तक भूषणबुद्धि होती है, तब तक सुवर्ण नहीं भासता, भूषण ही भासता है, और जब

सुवर्ण का ज्ञान होता है, तब सुवर्ण ही भासता है भूषण नहीं भासता, और एक सत्ता में दोनों नहीं सिद्ध होते जैसे अन्धकार में पुरुष देखकर करके पुरुष जाना तब फिर पशुबुद्धि नहीं रहती, ऐसे ही जब द्रष्टा दृश्य को देखता है तब द्रष्टभाव नहीं देखता, दृश्य ही भासता है, जैसे जेवरी के ज्ञान से सर्प का अभाव हो जाता हैं, ऐसे बोध से दृश्य का अभाव हो जाता है, तब एक ही परमात्मसत्ता भासती है, द्रष्टा संज्ञा भी नहीं रहती, जैसे दूसरे की अपेक्षा एक होता है, दूसरे के अभाव हुए एक कहना भी नहीं रहता, वैसे दृश्य के अभाव हुए द्रष्टा कहना नहीं रहता, शुद्ध संवित् पदमात्र शेष रहता है उसमें वाणी की गम नहीं, जैसे दीपक पदार्थों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही द्रष्टा दर्शन और दृश्य को प्रकाशित करता है, और बोध से माता, मान, मेय यह त्रिपुटी लीन हो जाती है, जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण कल्पना का अभाव हो जाता है ऐसे ही ज्ञान द्वारा त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, केवल शुद्ध अद्वैतरूप रहता है, हे राक्षसि! परम अणु जो अत्यन्त निस्वादरूप है, वह सब स्वादों को उत्पन्न करता है, जहां रस सहित होता है वहां चिदणु से होता है, जैसे आदर्श बिना प्रतिबिंब नहीं होता, ऐसे ही सब स्वाद चिद्-अणु बिना नहीं होते, सबको रस देने वाला चिदणु है, सर्वात्मभाव से सबका अधिष्ठान है और सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अतः निस्वाद है, वही चिदणु अपना गोपन करने को समर्थ नहीं, और सब जगत् को ढाँप रक्खा है, आप किसी से आच्छादा नहीं जाता, उसके विषय में सुनो। जो चिदाकाशरूप है और सब पदार्थो को सत्ता देनेवाला है, और सबका आश्रयभूत है, जैसे घास के वन में हाथी नहीं छिपता, ऐसे ही आत्मा किसी पदार्थ से नहीं छिपता, हे राक्षसि! जिससे सब पदार्थ सिद्ध होते है, और सदा प्रकाशरूप है, वह मूर्खो को नहीं भासता, यह आश्चर्य है, वह अनुभवरूप है, यह सब जगत् उसमें जीता है, जैसे वसन्तऋतु के कारण ही फूल, फल, पत्र, टास फलते हैं, ऐसे सब जगत् आत्मा से फलता फूलता है, वही चिदात्मा जगत् होकर भासता है, और सर्वात्मभाव से सब उसके अवयव

(परमार्थ से जो निरवयवरूप निराकाररूप) हैं। हे राक्षसि! एक निमेष के अबोध से चिदणु में अनेक कल्पों का अनुभव होता है, जैसे एक क्षण के स्वप्न में अपने आपको बालक फिर वृद्ध अवस्था में देखने लगता हैं, और तीनों कल्पों में जो निमेष है उनमें अनेक कल्प व्यतीत होते है, क्योंकि जो अधिष्ठान सर्वशक्तिमान् है जैसा संवेदन जहाँ फुरता है वैसा रूप वहां हो भासता है जैसे स्वप्न में अभोक्ता को भोक्तृत्व का अनुभव होता है ऐसे ही निमेष में कल्प का अनुभव होता है,वासना से आविष्ट हुआ अभोक्ता ही आपको भोक्ता देखता है, जैसे स्वप्न में अपना मरण प्रत्यक्ष देखता है, ऐसे यह जगद्भ्रम भासता है, जैसे—जहां फुरण दृढ़ होता है वैसा होकर वहाँ भासता है, हे राक्षसि! जितने भी आकार भासते हैं, वे भ्रान्तिमात्र हैं, जैसे निर्मल आकाश में नीलता भासती है, ऐसे ही आत्मा में विश्व भासता है, आत्मा सर्वगत है, और सबका अनुभवरूप है, हे राक्षसि! उसमें व्याप्त व्यापक भाव भी नहीं, क्योंकि वह सर्वात्मा है और सर्वरूप भी वही है, जब शुद्ध चित्त संवित् में संवेदन फुरता है, जब पृथक पृथक भाव को चेतता है। इच्छा करके जिस पदार्थ की उपलब्धि होती है, उसमें व्याप्त व्यापक भाव कल्पना होती है वस्तुतः जो इच्छा है वही पदार्थ हुआ, जैसे जल में द्रवता होती है उसमें तरंग फेन बुदबुदे होते हैं वे जलरूप हैं जल से इतर तो कुछ नहीं, ऐसे ही इच्छा से उपजे पदार्थ आत्मरूप हैं, इतर कुछ नहीं। आत्मा देशकाल वस्तुओं के परिच्छेद से रहित है केवल शुद्ध चिन्मात्र है और सर्वरूप होकर स्थित हुआ है, सबका अनुभव भी उसमें हुआ है, वह तो शुद्ध सत्तामात्र है, उसमें द्वैत कल्पना कैसे कहें, हे राक्षसि! जब कुछ द्वैत होता है तब एक भी होता है यदि द्वैत ही नहीं तब एक कैसे कहें, जैसे धूप की अपेक्षा छाया है और छाया की अपेक्षा धूप है, ऐसे एक की अपेक्षा दो कहा जाता है इस कल्पना से रहित है वह चिन्मात्ररूप है, और जगत् भी उससे व्यतिरिक्त नहीं, जैसे जल और द्रवता में कुछ भेद नहीं ऐसे आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं, हे राक्षसि! नाना प्रकार के आरंभ दृष्टि आते हैं, तो भी आत्मसत्ता सम है,

हे राक्षसि! जब इसको सम्यक् बोध होता है तब द्वैत भी अद्वैतरूप भासता है क्योंकि अज्ञान से द्वैत कल्पना होती है, वास्तव कुछ नहीं। अज्ञान के अभाव से द्वैत का भी अभाव हो जाता है, वास्तव से ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, जैसे जल और द्रवता में कुछ भेद नहीं, जैसे वायु और स्पंदता में कुछ भेद नहीं, जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, ऐसे आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं, हे राक्षसि! द्वैत और अद्वैत जानना दुःख का कारण है। द्वैत अद्वैत की कल्पना से रहित होना इसी को परमपद कहते हैं और द्रष्टारूप जो जगत् है वह चित् परमाणु में स्थित है, उसमें सुमेरु आदिक स्थित हैं, इसलिये बड़ा आश्चर्य है माया ही महा आश्चर्य है, वह चित्परमाणु में त्रिलोकी परम्परा स्थित है, इसी से असंभवरूप मायामय, जैसे बीज में वृक्ष स्थित है, ऐसे चिदणु में जगत् स्थित है, जैसे शाखा,पत्र, फूल, फल से बीज अपने बीज को नहीं त्यागता, और अखण्ड रहता है ऐसे चिदणु के अन्तर जगत् का विस्तार है, और अणुत्वभावना को नहीं त्यागता, अखण्ड ही रहता है, हे राक्षसि! बीज भी परिणाम करके वृक्षभाव को प्राप्त होता है, और चिदणु ही परिणाम करके जगत्रूप होता है, चिदणु का किंचनरूप है, चिदणु ही ऐसे दिखाई देता है, वास्तव से न द्वैतरूप है न अद्वैतरूप है, न बीज है, न अंकुर है, न स्थूल है न सूक्ष्म है, न उपजा है न नष्ट होता है, न अस्ति है, न नास्ति है, न सम है न असम है, न जगत् है न अजगत् है, केवल चिदानन्द आत्मसत्ता अचिंत्य चिन्मात्र अपने आप में स्थित है, वही सर्वात्मा है, जैसी जैसी भावना होती है ऐसे ऐसे हो भासता है, हे राक्षसि! वह अनुदित भी संवेदन के वश से उदित होकर भासता है, जैसे बीज से वृक्ष अनन्यरूप अनेक होकर भासता है, ऐसे एक आत्मा अनेक रूप हो भासता है, न कुछ उदय हुआ है न मिटता है। हे राक्षसि! उस चिदणु से मृणाल तन्तु सुमेरु को नाईं स्थल है, जैसे मृणाल तंतु से सुमेरु स्थूल है ऐसे चिद्णु से मृणाल तन्तु स्थूल है और दृश्यरूप है और चिदणु दृश्य नहीं। मनसहित षट् इन्द्रियों का विषय नहीं, इस कारण से मृणाल की तंतु से सूक्ष्म है, उस चिदणु में अनन्त सुमेरु आदिक स्थित हैं, वह क्या रूप है,

जैसे आकाश में शून्यता होती है, ऐसे आत्मा में जगत् है। हे राक्षसि! जिसको आत्मा का बोध हुआ है उसको जगत् सुषुप्ति की नाईं होता है वह आत्मसत्ता सदा अद्वैतरूप है और परिणाम से रहित है उसमें मुक्त पुरुष सदा स्थित है, परमार्थ से जगत् भी ब्रह्मरूप है भिन्नभाव कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्ति प्रकरणे परमार्थनिरूपणं नामैकाशीतितमः सर्गः॥८१॥

द्व्यशीतितमः सर्गः ८२

राक्षसी सौहार्दवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार राजा के मुख से श्रवण करके कर्कटी ने वन के मर्कटीरूप जीवों के मारने की चपलता का त्याग किया और अन्तःकरण से शीतल हुई, तथा उसने विश्राम प्राप्त किया, उसकी आभ्यन्तर तपश मिट गई। परमानन्द को प्राप्त हुई, जैसे वर्षाकाल में मोरनी प्रसन्न होती है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रप्रिय कमल प्रसन्न होता है, जैसे मेघ के शब्द से बगली गर्भवती होती है, ऐसे ही राजा के वचन सुनकर कर्कटी परमानन्द को प्राप्त हुई। राक्षसी बोली—बड़ा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है, हे राजन्! श्रीमानजी ने महापावन वचन कहे हैं, आपके बोध को मैं परम निर्मल मानती हूँ। यह अमृतसार है, ज्ञानरूप सूर्य है, और शीतल है, समरसपूर्ण है, शुद्ध है, रागद्वेष आदि मल से रहित है, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शीतल अमृत से पूर्ण शुद्ध होता है, ऐसा तुम्हारा बोध है, विवेकी जगत् में पूज्य है, तुम्हारे वचनों से मेरी बुद्धि प्रफुल्लित हुई है। जैसे—चन्द्रमा को देखकर कमलिनी प्रफुल्लित होती है, जैसे फूलों से मिलकर वायु सुगन्धित होता है, जैसे सूर्य के उदय हुए श्वेत कमल प्रफुल्लित होते हैं, ऐसे ही संतों की संगति से बुद्धि सुख को प्राप्त होती है। हे राजन्! वह कौन है जो दीपक हाथ में होते हुए भी गर्त में गिरे? ऐसा वह कौन है जो सत्संग से दुःखी रहे और वह कौन है

जो दीपक हाथ में होते हुए भी अन्धकार देखे, ऐसे वह कौन है जो संतों के संग दुःखी रहे, सन्तों के संग से सब दुःख नष्ट होते हैं, हे राजन्! तुम जो इस वन में आये हो, वह क्या प्रयोजन है? तुम तो पूजने योग्य हो, अपना प्रयोजन कहो, राजा ने कहा– हे राक्षसि! मेरे नगर में जो मनुष्य रहते हैं, उनको एक विषूचिका रोग लगा है, उससे वह लोग अति दुःखी हुए हैं, औषधि का प्रयोग भी बहुत कर रहे हैं, परन्तु दुःख दूर नहीं होता, और हमने सुना है कि एक राक्षसी है, वही जीवों को कष्ट देती है और उसका मंत्र भी है, उस मंत्र के पढ़ते निवृत्त हो जाती है, उस तुम सरीखी के मारने के लिये मैं रात को वीर यात्रा करने निकला हूँ, हे राक्षसि! वह राक्षसी तुम्हीं हो, हमारा तुम्हारा सम्वाद भी हुआ है, इसको विचार करके प्राणियों की हिंसा करना छोड़ दो, किसी को कष्ट न दो, राक्षसी बोली– हे राजन्! आपने सत्य कहा है, अब मैंने हिंसा धर्म का त्याग किया है, किसी जीव को न मारूँगी, राजा ने कहा–हे राक्षसि! तुमने कहा कि मैं अब किसी जीव को न मारूँगी, परन्तु तेरा आहार जो जीव हैं जीवों को मारे बिना तेरे शरीर का निर्वाह कैसे होगा? राक्षसी बोली – हे राजन्! छः सौ वर्ष मैं समाधि में स्थित रही थी, उसके अनन्तर समाधि खुली और क्षुधा लगी, अब फिर हिमालय की कन्दरा में समाधिस्थ हो जाऊँगी, गढ़ी हुई मूर्ति के समान अचलरूप से उसमें जुट जाऊँगी, जब समाधि से उतरूँगी, तब अमृत की धारणा में विश्राम करूँगी, जब उससे उतरूँगी, तब शरीर का त्याग करूँगी, परन्तु हिंसा न करूँगी। हे राजन्! जिस प्रकार से मैंने हिंसा धर्म को अंगीकार किया है, सुनो–मुझे जब बडी क्षुधा लगी तब उसके निवारण के लिये मैंने तप करना चाहा, हिमालय पर्वत के उत्तर शिखर पर एक वन है, उसमें एक सोने की शिला है, उसके पास मैं लोह के स्तंभ की नाईं आकाश के साथ जीवों के नाश निमित्त तप करने लगी, जब बहुत वर्ष व्यतीत हुए, तब ब्रह्माजी ने मुझ वर दिया तब मेरे दो शरीर हुए, एक आधारभूत सूर्य की नाईं और दूसरा पुर्यष्टकरूप हुआ, तब मैं विषूचिका नाम की राक्षसी हुई। उस शरीर से मैं अनेक जीवों को खाया करती थी, जीवों के

अन्दर प्रवेश करती थी, परन्तु ब्रह्माजी ने मुझे कहा, जो गुणवान् होंगे उन पर तेरा बल न चलेगा, और जहां ओम् मंत्र पढ़ेंगे वहाँ भी बल न चलेगा, तू निवृत्त हो जायगी, हे राजन्! उसी मंत्र का उपदेश अब तुम भी अंगीकार करो, उस मंत्र के प्रयोग से सबके व्याधिरोग नष्ट होंगे। ब्रह्माजी के उपदेश को तुम नदी के तट पर जाकर पवित्र होकर शीघ्र ही ग्रहण करो, उसके पाठ से तेरी प्रजा का दुःख दूर होगा। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार जब अर्धरात्रि के समय राक्षसी ने कहा तब निकट ही नदी के तीर पर राजा मंत्री और राक्षसी तीनों गये, और अन्वयव्यतिरेक से आपस में सुहृद हुए, तीनों पवित्र होकर नदी के तट पर बैठे, तब जो मंत्र राक्षसी को ब्रह्माजी ने उपदेश किया था, वही मंत्र विषूचिका ने प्रसन्नता से राजा को उपदेश किया, जिसके जपने से कार्य की सिद्धि होती है, उस मंत्र का क्रमपूर्वक उपदेश करके जाने लगी तब राजा ने कहा हे महादेवि! तू हमारी गुरु है, हम तुमसे कुछ प्रार्थना करते हैं उसका अंगीकार करना। जो महापुरुष है उनका सुन्दर सौहार्द बढता जाता है, और तुम्हारा शरीर भी इच्छाचारी है, इसलिये छोटा शरीर धारण करों, मनोहर वस्त्र भूषण धारण किये स्त्री–शरीर से कुछ समय तक हमारे नगर में निवास करो।राक्षसी ने कहा– हे राजन्! मैं तो लघुशरीर भी धारण कर लूँगी परन्तु मेरे भोजन देने की सामर्थ्य तुम्हें न होगी, यदि लघुस्त्री शरीर भी धारण करूँ तो भी मेरा स्वभाव राक्षसी का है, इसको सामान्य मनुष्यों को तृप्त कराने के समान नहीं तृप्त किया जा सकता, शरीरों का स्वभाव जैसा है, सृष्टि पर्यन्त वही रहेगा, अन्यथा नहीं होता, राजा ने कहा– हे कल्याणरूप वाली! तुम स्त्री रूप धारण करके हमारे नगर में चलकर रहो, जो चोर पापी हमारे मंडल में आया करेंगे उन्हें हम तुम्हें सौंप दिया करेंगे, तब तुमने स्त्रीरूप त्यागकर राक्षसी शरीर के साथ उनको ले जाया करना। कहीं हिमालय की कंदरा जैसे एकान्त स्थान में बैठकर भोजन किया करना, क्योंकि बड़ा भोजन करने वाले को एकान्त स्थान सुखदाई है। जब उनको खाकर तृप्त हुआ करोगी तब वहीं कन्दरा में कहीं जाकर सो जाया करना, जब जाग आये

तो समाधि में स्थित हो जाया करना, समाधि खुलने पर हमारे पास आ जाया करना, हम तुम्हारे भोजन के लिये बंदीजन इकट्ठे कर रक्खा करेंगे, उनको ले जाकर भोजन किया करना, जो धर्म के निमित्त हिंसा है वह हिंसा पाप नहीं, और जिसकी हिंसा करता है उसकी मृत्यु नहीं, वह उसके ऊपर दया का व्यवहार है, क्योंकि वह पाप करने से छूटता है, राक्षसी बोली–हे राजन्! तुमने युक्त वचन कहे हैं, मैं स्त्री का शरीर धरकर तुमारे साथ चलती हूँ, युक्तियुक्त वचन को सब कोई मानता है, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार कहकर राक्षसी ने महासुन्दररूप स्त्री का शरीर धारण किया और वस्त्र भूषणादि से सुसज्जित होकर राजा के साथ चली, राजा और मंत्री आगे चले जाते और स्त्री पीछे आती थी, तब उसी रात को राजा उसको अपने स्थान में ले आये। एकान्त स्थान में तीनों जा बैठे, रातभर परस्पर चर्चा करते करते बिताई। जब प्रातःकाल हुआ तब सौभाग्यवती स्त्री राक्षसी राजा के अन्तःपुर में जा बैठी, जो कुछ स्त्रियों का व्यवहार है करने लगी। राजा और मंत्री अपने व्यवहार में लगे, जब इस प्रकार छः दिन बीत गये, तब राजा के मंडल में तीन हजार चोर बाँधे हुए थे, उन सबको राजा ने कर्कटी के सामने किया, तब उसने राक्षसी का शरीर धारण करके उन सबको अपने भुजामंडल में ले लिया और अति सुगमता से उठाकर हिमालय के शिखर की ओर चली, जैसे किसी दरिद्र (निर्धन) मनुष्य को सुवर्ण मिलने से प्रसन्नता होती है, ऐसे वह प्रसन्न हुई। और उन्हें लेकर हिमालय शिखर पर गयी, तृप्त होकर भोजन किया, और सुखपूर्वक सो गयी, दो दिन पर्यन्त सोयी, तदनन्तर जगकर समाधिस्थित हो गई। पांच वर्ष तक समाधिस्थ रही, समाधि खुलने पर फिर राजा के पास आई, इसी प्रकार जब आती तब ही राजा उसकी पूजा करता, जितने भी दुष्टजन इकट्ठे करके राजा ने रक्खे होते उन सबको उसके लिये दे दिया करता था, वह भी उन्हें ले जाकर हिमालय की कंदरा में भोजन करती और ध्यान मग्न हो जाया करती थी, ध्यान से निवृत्त

होकर फिर वहीं आती, और फिर उन्हें ले जाया करती थी, बार बार आती और बार बार ले जाती। हे रामजी! इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर उस राक्षसी के प्राकृत स्वभाव को करते—२ अनेक वर्ष व्यतीत हुए, तब राजा विदेह मुक्त हुआ और यह क्रम उसके बाद होनेवाले राजाओं द्वारा भी चलाया जाता रहा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राक्षसीसौहार्दवर्णनं
नाम व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥

त्र्यशीतितमः सर्गः ८३

कंदरापूजनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! जब राक्षसी आती, तब किरात देश का राजा पूर्व की नाईं उसकी पूजा किया करता और जो कुछ उसकी प्रजा में उत्पात हों अथवा विषूचिका या कोई रोग हो तो राक्षसी सब निवृत कर दिया करती, इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये, तब एक बार उसको ध्यान मग्न होने में बहुत देर हो गयी, तब किरात देश के राजा ने उसका दुःख दूर करने के लिये उसकी एक प्रतिमा ऊँचे स्थान पर स्थापित कर दी। उस प्रतिमा का एक नाम कंदरा देवी, दूसरा नाम मंगला देवी, उसका ध्यान करके पूजा करने लगे, उससे भी उसका काम सिद्ध होने लगा, हे रामजी! उस प्रतिमा में वह देवी स्वयं निवास करती थी, जो कोई जिस कामना से उस प्रतिमा की पूजा करता था, उसका वह कार्य सिद्ध हो जाता था, और जो कोई पूजा न करे तो दुःख होता था, फिर भी जब पूजन करे तब दुःख नष्ट हो जाता था, और कार्य सिद्धि हो जाती थी, इसलिये जो कोई किसी प्रकार कार्य करने लगे उसको पहिले मंगला देवी की पूजा करनी चाहिये, उससे अवश्य कार्य सिद्धि होती है और

पूजा भी उसको विधिपूर्वक करनी चाहिये, उससे वह बहुत प्रसन्न होती है। हे रामजी! अब तक वही प्रतिमा किरात देश में स्थित है। जिस जिस फल के निमित्त उसकी कोई सेवा करता है, ऐसा ही फल उसको देती है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे कंदरापूजनवर्णनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ।।८३।।

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

मनोऽङ्कुरोत्पत्तिकथनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह अनिन्दित कर्कटी का आख्यान जैसे भूतकाल में हुआ है, मैंने तुम्हें कहा है। श्रीरामजी बोले–हे भगवन्। राक्षसी का शरीर काला क्यों था और कर्कटी नाम इसका क्यों था? जैसे हुआ ऐसे कहो। वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! यह राक्षसकुल की कन्या थी, राक्षसों का शुक्लवपु भी होता है, और कृष्णवपु भी होता है और रक्त पीत भी होता है। हे रामजी! एक कर्कट नाम का जलजन्तु होता है, उसका श्याम आकार होता है, उसके समान कर्कट नाम राक्षस था, उसके समान उसकी यह पुत्री हुई, इस कारण से इसका नाम कर्कटी हुआ। हे रामजी! यहाँ और कर्कटी का कुछ प्रयोजन न था, यहाँ अध्यात्म प्रसंग था, शुद्ध चेतन के निरूपण निमित्त मैंने तुम्हें कहा है, यह आश्चर्य है,जो असत्‌रूप जगत् के पदार्थ हैं, व्रे सत्‌रूप होकर भासते हैं, और जो आत्मसत्ता सदा सम्पन्नरूप है, वह अविद्यमान की नाईं भासती है। हे रामजी! वस्तुतः तो एक अनादि अनंत, परमकारण, आत्मसत्ता स्थित है, उसमें भावना के वास्ते जगत्‌रूप भासता है और स्वरूप से अनन्यरूप है, जैसे जल और तरंग में भिन्नता कुछ नहीं, ऐसे ही ब्रह्म और जगत् मे्ं कुछ भिन्नता नहीं, आत्मा में जगत् कुछ द्वैत हुआ ही नहीं, सदा आत्मसत्ता अपने आप ही में स्थित है, उसमें जैसा जैसा चित्तस्पंद दृढ़

होता है ऐसा ऐसा रूप होकर भासता है, जैसे वानर रक्तिका को इकट्ठा करके उसमें आग की भावना करते हैं, और उसको सेंकते हैं तब उनका शीत निवृत होता है, ऐसे ही सम स्थिर शान्तरूप आत्मा में जब जगत् की भावना फुरती है, तब नाना प्रकार का जगत् भासता है, जैसे स्तंभ में पुतलियां अनुदित ही शिल्पी के मन में उदित की नाईं भासती है, वैसे भावना के वश से जगत् ही भासता है, जैसे बीज में पत्र फूल फल टास गुच्छ अनन्यरूप होते हैं, ऐसे ही ब्रह्म में जगत् अनन्यरूप है, जैसे बीज बृक्ष में कुछ भेद नहीं ऐसे ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, अविचार से भेद भासता है, विचार करने पर जगत् नष्ट हो जाता है, हे रामजी! अब यह विचार नहीं करना कि कैसे उत्पन्न हुआ है कहाँ से आया है और कब का हुआ है? जैसे हुआ वैसे हुआ, अब इसकी निवृत्ति का उपाय करना चाहिये, जब तुम जगोगे तब हृदय की चिज्जड़ ग्रन्थि टूट जायगी, शब्द और अर्थ की जितनी कल्पना उठती है वह मेरे वचनों से स्वरूपस्थित हो जाने पर नष्ट हो जायगी, हे रामजी! यह सब जगत् अनर्थरूप चित्त से उपजा है, यह मेरे वचनों के श्रवण करने से शान्त हो जायेगा, इसमें संशय न करो। सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, और सब ब्रह्मस्वरूप है, जब तुम्हें ज्ञान जागृति होगी, तब यह सब ज्यों का त्यों जान लोगे। रामजी ने कहा—हे भगवन्! जो जिससे होता है, उसका उससे व्यतिरेक होता है अर्थात् पंचमी विभक्ति से जो निरूपण करता है जैसे कुलाल से घट वह कुलाल से भिन्न होता है तो फिर आप कैसे कहते हैं कि सब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, और ब्रह्मस्वरूप है, वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! यह जगत् ब्रह्म से उपजा है जितने कुछ प्रतियोगी सहित शब्द शास्त्रों ने कहे हैं, वह दृश्य में कहे हैं। शास्त्र ने तत्वबोध के लिये कहे है, वास्तव में यह शब्द कोई नहीं, जैसे किसी बालक को प्रतिछाया में बैताल भासता है और कोई पूछता है कि इस बालक को बैताल ने किस भाग में स्थित होकर भय दिया है। उसको कहता है अमुक ठौर में वैताल ने भय दिया है, वह व्यवहार के निमित्त उसको कहता है,

वैताल तो वहाँ कोई नहीं, ऐसे ही आत्मा के उपदेशार्थ भेद कल्पना की है, वास्तव से उसमें द्वैत कल्पना कोई नहीं। हे रामजी! ब्रह्म से जगत् हुआ, यह अर्थ केवल व्यतिरेक में नहीं होता, जो कुलालदंड से घट उपजता है, वह व्यतिरेक के अर्थ है, स्वामी का टहुलता यह भिन्न के अर्थ है और यह अभिन्नरूप भी होते हैं, जैसे अवयवी के अवयव हैं, सुवर्ण से भूषण हुए हैं, मृत्तिका से घट हुए हैं यह अभिन्नरूप हैं, अवयवी कोशरूप है, भूषण स्वर्णरूप है, घट मृत्तिकारूप है, ऐसे ब्रह्मा से उपजा जगत् ब्रह्मरूप ही है और वास्तव से भिन्न अभिन्न कारण परिणाम भाव विकार विद्या और अविद्या सुख दुःखादिक मिथ्या कल्पनाएँ अज्ञान से उठती हैं। हे रामजी! अबोध करके भेद कल्पना हुई है, और ज्ञान करके सब कल्पना शांत हो जाती है, अशब्द पद शेष रहता है, जब तू ज्ञान योग्य होगा तब ऐसे जानेगा जो आदि मध्य अन्त से रहित अविभाग अखंडरूप एक आत्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है, अज्ञान करके अथवा जिज्ञासु को उपदेश निमित्त द्वैतवाद कल्पना है, बोध होने पर द्वैत भेद कुछ नहीं रहता। हे रामजी! वाच्यवाचक भाव द्वैत बिना सिद्ध नहीं होता, जब बोध हुआ तब वाच्य का मौन होता है इसलिये महावाक्य के अर्थ में निष्ठा करो, और जितनी कुछ भेद कल्पना मन ने रची है उसकी निवृत्ति के लिये मेरे वचनों का श्रवण करो। हे रामजी! यह मन ऐसे उपजा है जैसे गन्धर्व नगर होता है, उसके आगे जगत् की रचना की है, जैसे मैंने देखा है, ऐसे तुझको दृष्टान्त कहता हूँ, जिसके जानने से तुझको सब जगत् भ्रान्तिमात्र भासेगा और निश्चय को धारण कर जगत् की वासना दूर से त्याग देगा। बोध करके सब जगत् मन का मननरूप भासेगा और आत्मरूप होकर अपने आप में निवास करेगा। हे रामजी! यह मनरूप बड़ा रोग है, विवेकरूप औषध से इसको शान्त करे और सब जगत् चित्त से कल्पना किया गया है। शरीरादिक वास्तव में कुछ नहीं, जैसे रेत से तेल नहीं निकलता, ऐसे ही जगत् से वास्तव कुछ नहीं निकलता। चित्त करके भासता है वह चित्तरूपी संसार स्वप्न की नाईं है, और रागद्वेष

आदिक संकल्प करके युक्त है, इससे जो रहित हुआ, वह संसार समुद्र के पार को प्राप्त हुआ है इसलिये शुभगुणों से चित्त का संशोधन करो, विवेकी पुरुष शुभकार्य करते हैं, अशुभ काम की ओर उनकी मनोवृत्ति कभी जाती ही नहीं, उनका आहार व्यवहार सब विचार पूर्वक होता है, ऐसे ही तुम भी आर्यों की नाईं शास्त्रानुसार सचेष्टा करो। जब ऐसा अभ्यास तुमको होगा, तब शीघ्र ही ज्ञानवान् हो जाओगे और ज्ञान प्राप्त होने पर सब कल्पनाएँ मिट जायेंगी और आत्मस्थिति प्राप्त होगी, यह सब जगत्रूप विचित्र चित्र मन ही रचता है, जैसे मोर का अंडा समय पाकर अनेक रंग धारण करता है, ऐसे ही मन अनेक प्रकार के जगत् को धारण करता है। वह मन जड़ और अजड़रूप है, मन में जो चेतन भाग है, वह सब अर्थ का बीजरूप है, (सबका उपादान है) और उसका जो जड़भाग है वह जगत्रूप है। हे रामजी! सर्ग के आदि में पृथ्वी आदिक तत्व अविद्यमान थे, उनको ब्रह्मा ने विद्यमान की नाईं देखा। जैसे स्वप्न में जगत् विद्यमान की नाईं भासता है, ऐसा उसने प्रमाद से देखा। वह सब जगत् दीर्घ वेदना है, वास्तव से सब देहादि शून्यरूप हैं, सब आत्मा से व्याप्त हैं, और उनका कोई शरीर नहीं। अपने से जो दृश्यरूप मन चेता है, वही मन आत्मा का शरीर है, वह आत्मा विस्तरणरूप है, और निर्मल स्थित है। मन उसका आभासरूप है, जैसे सूर्य की किरणों से जलाभास होता है, ऐसे ही आत्मा का आभास मन है, मनरूप बालक जगत्रूप पिशाच को अज्ञान से देखता है और ज्ञान से परमात्मपद शान्तरूप, निरामय को देखता है। हे रामजी! जब आत्मा चेत्यता को प्राप्त होती है तब वही चित्तरूप दृश्य द्वैत एक ब्रह्म को देखता है, उसकी निवृत्ति के लिये मैं तुझे एक कथा कहता हूँ। तुम श्रवण करो। जो वचन दृष्टान्त दार्ष्टान्त सहित होता है और वाणी मधुर होती है, तब गुरु का वचन श्रोता के हृदय में बैठ जाता है और जिसका वचन दृष्टान्त दार्ष्टान्त से रहित होता है और अर्थ स्पष्ट नहीं होता तथा क्षोभ संयुक्त होता है, जिसमें अक्षर पूर्ण नहीं होते,

वह वचन श्रोता के हृदय में नहीं ठहरता। उपदेष्टा का वचन भी निष्फल हो जाता है। मैं तुझे एक आख्यान कहता हूँ, जिसमें नाना प्रकार के दृष्टान्त बड़े मधुर अक्षरों में स्पष्टार्थ कहे जायेंगे, जैसे चन्द्रमा का अपने घर पर उदय हो और मंदिर शीतल हो जाये। ऐसे ही मेरे स्पष्ट वचन और उनका प्रकाशरूप अर्थ श्रवण करने से तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जायेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनोऽङ्कुरोत्पत्तिकथनं
नाम चतुरशीतितमः सर्गः ।।८४।।

पंचाशीतितमः सर्गः ८५

ब्रह्मादित्यसमागमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! पूर्व समय में जो मुझे श्री ब्रह्माजी ने सर्ग का वृतान्त कहा था, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। एक समय की बात है कि मैं ब्रह्माजी के पास गया था और मैंने पूछा था कि हे भगवन्! यह जगत्गण कहाँ से आये हैं और कैसे उत्पन्न हुए हैं, तब पितामह ने मुझे इन्द्र ब्राह्मण का आख्यान सुनाया। ब्रह्मा बोले– हे मुनीश्वर! यह सब जगत् मन से उपजा है और मन से भासता है, जैसे जल से द्रवत्व के कारण नाना प्रकार के तरङ्ग चक्र फुरते हैं और मनरूप हैं। हे मुनीश्वर! पूर्व कल्प में एक वृत्तान्त मैंने देखा है उसको सुनो। एक समय दिन का क्षय हुआ, मैं संपूर्ण सृष्टि का संहार करके रात्रि के समय स्वस्थ भाव से एकाग्रवृत्ति धारण किये स्थित हुआ, जब मेरी रात बीत गयी तब मैं जागा, उठकर विधिपूर्वक संध्यादि कर्म किये और महाकाश की ओर मैंने देखा तो तम से व्याप्त प्रकाश से रहित शून्य रूप था। तब चिदाकाश में मन को जोड़ा और सर्गोत्पादन का संकल्प चित्त में धारण किया, तब मुझे शुद्ध सूक्ष्म, चिदाकाश में सृष्टि दृष्टि आई। वह सृष्टि अति विस्तार युक्त और परस्पर अदृष्टरूप थी, अर्थात् जो एक दूसरी को न देखें। और एक एक

सृष्टि में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीनों देवता रहें और देवता, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, सुमेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय आदिक पर्वत, पृथ्वी, नदियाँ, सातों समुद्र आदिक सब सृष्टि के विस्तार को मैंने देखा, इस प्रकार संख्या में दस सृष्टियाँ देखीं। उनमें दस ब्रह्मा देखे, मानों मेरा ही प्रतिबिंब है, मेरी ही मूर्ति कमल से उत्पन्न हुई है; ऐसे राजहंसारूढ़ दसों ब्रह्मा देखे और भिन्न भिन्न उनकी सृष्टि देखी, बड़े बड़े नदियों के प्रवाह चल रहे हैं, वायु आकाश में चलता है, चन्द्रदेव उदय हुए हैं, देवता स्वर्ग में क्रीड़ा कर रहे हैं, मनुष्य पृथ्वी पर सानन्द घूम रहे हैं, दैत्य नाग पाताल में भोग भोग रहे हैं, कालचक्र घूम रहा है, द्वादशमास उसके द्वादश लोक हैं, वसन्त आदिक षट् ऋतु हैं, वासना के अनुसार शुभ अशुभ कर्म करके स्वर्ग नरक भोगते हैं अथवा मोक्ष प्राप्त करते हैं, प्रत्येक सृष्टि में सप्तद्वीप हैं, उत्पत्ति प्रलय कल्प से होते हैं। गंगाजी का प्रवाह है, जगत् के गले में यज्ञोपवीत है, कहीं ऐसे ही स्थित हैं, कहीं सदा प्रकाश रहता है, कहीं अन्धकार रहता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में मैंने स्थावर जंगम प्रजा देखी, जैसे गूलर के फल में अनेक मच्छर होते हैं, ऐसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में जीव देखे, बिजली की नाईं सृष्टि उपजती और मिट जाती है, जैसे वृक्ष के पत्र उपजते और नष्ट हो जाते हैं, आत्मा में काल का अभाव है, वह क्षण, लव, दिन, मास, वर्षो का प्रवाह चलता मैंने देखा। हे मुनीश्वर! अन्तवाहक दृष्टि से मैंने उन सृष्टियों को देखा, जब मैं चर्मदृष्टि से देखता तो कुछ न भासता और दिव्य दृष्टि से सब कुछ भासता था। चिरकाल पर्यन्त मैं देखता रहा, कभी चित्तभ्रम होता, कभी स्पष्ट ही भासता। तब एक सृष्टि के सूर्य को देखकर मैंने उसका आवाहन किया तब सूर्य मेरे निकट आ पहुँचा। मैंने उसको कहा—हे देवदेवेश भास्कर! भगवन्! आपका कल्याण हो, ऐसा कहकर मैंने उसको कहा कि हे सूर्य! तुम कौन हो? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है, यह एक जगत् है या ऐसे अनेक जगत् हैं? जैसा तुम जानते हो वैसा कहो। वह सूर्य त्रिकालज्ञ था उसने मुझको जानकर प्रणाम किया और आनन्द भरी

वाणी से बोला। सूर्यदेव ने कहा—हे ईश्वर! इस दृश्यरूप पिशाच के तुम नित्य ही कारण बनते हो, तुम स्वयं सब जानते हो, मुझे किस निमित्त से पूछते हो, यदि लीला के लिये पूछते हो तो जैसा वृत्तान्त हुआ है, मैं तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना करता हूँ। हे भगवन्! यह जो सत् असत् रूपी नाना प्रकारों के व्यवहारों से भरा हुआ यह जगत् भासता है यह सब मन के फुरने से स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ब्रह्मादित्यसमागमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः ८६

ऐंदव समाधिवर्णनम् ।

भानुदेव बोले—हे भगवन्! आपका जो कल्प का दिन व्यतीत हुआ, उस कल्प में जो जम्बूद्वीप था, उसकी कोण में कैलास पर्वत था, उसकी कंदरा में स्वर्णज्येष्ठ नाम एक आपका पुत्र था, उसने वहाँ कुटी बनवाई, जहाँ कि साधुजन जाकर निवास करने लगे। वहाँ एक वेदवेत्ता शांतरूप कश्यप ऋषि के कुल से प्रकट हुआ। इन्दु नाम का ब्राह्मण स्त्री सहित उस कुटी में निवास करता था। अपनी स्त्री उसे प्राणों से समान प्यारी थी परन्तु पुत्र नहीं था, वह परमरूपवती थी। उसका शरीर अतिसुन्दर होने पर भी सन्तान उत्पन्न करने के इस प्रकार योग्य नहीं था जैसे मरुस्थल में घास नहीं उपजता, उस महिलारत्न की भी वही दशा थी जैसे शरत्काल की बेल सुन्दर होते हुए भी फल से शून्य होती है, वह दोनों (स्त्री पुरुष) पुत्र प्राप्ति के लिये तप करने लगे। जलपान ही केवल करते, भोजन नहीं करते थे। कैलास के निकट निर्जन स्थान के कुञ्ज में एक वृक्ष था, उसके ऊपर चढ़कर बैठ गये और प्रेम से तपोमग्न हो गये, इस प्रकार केवल जलपान के आधार पर उनके रातदिन बीतने लगे, जलपान क्रम भी घटा दिया, केवल एक अंजलि जल पान पर रहने लगे, कुछ समय बाद उसका

भी त्याग किया, फुरने से रहित वृक्ष की नाईं बैठे रहने लगे। उनको तप करते त्रेता और द्वापर युग व्यतीत हुए, तब शशिकलाधारी रुद्र तुष्टमन होकर उनके निकट भवानी सहित प्रकट हुए। उनके सामने खड़े होकर देखने लगे कि स्त्री पुरुष दोनों वृक्ष के ऊपर बैठे हैं, उन्होने शंकर भवानी को देखकर प्रणाम किया और दोनों आनन्द से प्रफुल्लित हो गये, जैसे दिन की तपश से झुलसी हुई कमलिनी चन्द्रोदय हुए प्रफुल्लित हो जाती है, ऐसे ही महा हिम की नाईं मानो शिव को देखकर प्रफुल्लित हुए पृथ्वी आकाश दोनों रूप धारणकर आकर खड़े हुए हैं। भवानी शंकर उस ब्राह्मण को कहने लगे। भगवान शंकर बोले—हे ब्राह्मण! वर मांगो, हम तुम पर प्रसन्न हुए हैं, जो कुछ तुम्हारी मनोभिलाषा है मांगो। हे ब्रह्माजी! जब इस प्रकार शिवजी ने कहा तब ब्राह्मण बोला—हे भगवन्! देव देवेश! मेरे घर में दश पुत्र हों, वे बड़े बुद्धिमान् तथा कल्याण की मूर्ति हों, जिससे मुझे फिर कभी शोक न हो। भानुदेव बोले—हे भगवन्! इस प्रकार जब ब्राह्मण ने कहा, तब ईश्वर ने कहा—ऐसा ही होगा, ऐसा कहकर अन्तर्ध्यान हुए, जैसे समुद्र का तरंग उछलकर बैठ जाता है, ऐसे ही शिव अन्तर्ध्यान हो गये, तब उन दोनों ने भगवान् के चरणों को ध्यान कर प्रणाम किया और प्रसन्न होकर घर में आये। तब ब्राह्मणी गर्भवती हुई, जैसे वर्षाकाल के बादल जल से पूर्ण होते हैं, ऐसे वह गर्भ से पूर्ण भई। समय पाकर उसके घर क्रमशः दस पुत्र हुए, द्वितीया के चन्द्रमा की नाईं उनकी शोभा हुई। दस पुत्र उत्पन्न करने पर भी ब्राह्मणी की षोड़श वर्ष की अवस्था प्रतीत होती थी, ऐसा आकार बना रहा कि वृद्धभाव को प्राप्त न हुई। वे दसोंही बालक बड़े संस्कारी हुए, सात वर्ष की अवस्था में ही सर्व वाणी के वेत्ता हो गये। तब उनके माता पिता शरीर को त्याग निज गति को प्राप्त हुए। वे दसोंही ब्राह्मण बालक माता—पिता से रहित हो गये, अपने घर को छोड़कर वे कैलास के शिखर पर चढ़े और विचार करने लगे कि वह कौन ईश्वर है जो परमेश्वर है। वह कौन ईश्वर पद है जिसको पाकर फिर दुःख नहीं पाना पड़ता और फिर कभी उसका नाश

भी नहीं होता और जिसे पाकर सबका ईश्वर हो जाता है। तब एक भाई ने कहा कि सबसे बड़ा ऐश्वर्य मंडलेश्वर का है, सबके ऊपर उसकी आज्ञा चलती है, तब दूसरे भाई ने कहा—मंडलेश्वर की विभूति कुछ भी नहीं, क्योंकि वह भी राजा के अधीन होता है, इसलिये राजा का पद बड़ा होता है और भाई ने भी कहा—राजा की विभूति भी कुछ नहीं होती क्योंकि वह चक्रवर्ती के अधीन होता है, इसलिये चक्रवर्ती का पद बड़ा है, तब और भाई ने कहा—चक्रवर्ती भी कुछ नहीं, वह भी यम के अधीन होता है इसलिये यम का पद बड़ा है, अन्य भाई ने कहा—इन्द्र के आगे यम की विभूति भी कुछ नहीं, अतः इन्द्र का पद बड़ा है तब और भाई ने कहा इन्द्र की विभूति भी कुछ नहीं, ब्रह्मा के एक मुहूर्त में इन्द्र नष्ट हो जाता है तब सबसे बड़े भाई ने कहा—जितनी भी विभूतियाँ हैं वे सब ब्रह्मा के कल्प में नष्ट हो जाती हैं, इसलिये बड़ा ऐश्वर्य ब्रह्माजी का है, ब्रह्माजी से बड़ा कोई नहीं। हे भगवन्! इस प्रकार जब बड़े भाई ने कहा, तब सबने कहा—भली कही, भली कही! और फिर सबसे बड़े भाई ने कहा—हे तात! जो सब दुःख का नाश कर्ता जगत्पूज्य ब्रह्मपद है, उसको हम कैसे प्राप्त हों, वह उपाय कहिये जिससे हमारा यह मनोरथ पूर्ण हो जाये, भाई कहने लगा—भाईयो! और सब भावनाओं का त्याग करो, और इस भावना को मन में दृढ़ निश्चय से स्थित करो कि मैं ब्रह्म हूँ, पद्मासन पर बैठा हूँ, सबका सृष्टि पालन और संहार कर्ता मैं हूँ। जितना भी जगत्जाल है सबका आश्रयभूत मैं ही हूँ, सब सृष्टि मेरे अंग में स्थित है, ऐसा निश्चय धारण करके बैठो और सजातीय भावनाओं को धारण करके बैठोगे तो तुमको ब्रह्मा का पद प्राप्त होगा। हे भगवन्! जब इस प्रकार बड़े भाई ने कहा तब छोटे भाई बोले—हे तात! तुमने यथार्थ कहा है, जैसे तुमने कहा है ऐसे ही हम करते हैं, ऐसा मानकर बड़े भाई सहित सब ध्यान में मग्न हो गये, जैसे कागज पर मूर्ति लिखी होती है ऐसे ही दसों ध्यान में मग्न हो गये, और मन में यही चिन्तन करने लगे कि मैं ब्रह्मा हूँ, कमलासन मेरा है। मैं सृष्टिकर्ता हूँ, भोक्ता भी मैं ही हूँ,

महेश्वर भी मैं ही हूँ, सांगोपांग जगत् कर्म मैंने ही रचे हैं और सरस्वती गायत्री सहित जो वेद हैं—वे मेरे आगे आकर खड़े हैं, यह लोकपाल और सिद्धों के मंडलों को पालनेवाला हूँ। वे सब मैंने ही रचे हैं, स्वर्गलोक, भूमिलोक, पाताललोक, पहाड़, नदियाँ, समुद्र सब मैंने ही रचे हैं और महाबाहु वज्र धारण करने वाला यशों का भोक्ता इन्द्र मैंने ही रचा है, और सूर्य मेरी आज्ञा से तपता है, और जगत् की मर्यादा के लिये सब लोकपाल मैंने ही रचे हैं, जैसे गौ को गोपाल पालता है, ऐसे ही लोक पाल मेरी आज्ञा पाकर जीवों को पालते हैं और जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं फिर मिट जाते हैं, ऐसे जगत् मुझसे उपजा है ओर फिर मुझमें ही लीन होता है ओर मैं सदा आत्मपद में स्थित हूँ और क्षण दिन मास वर्ष युग आदिक काल मेरा ही रचा हुआ है, मैंने ही सब काल के नाम रक्खे हैं, मैं ही दिन को उत्पन्न करता हूँ और रात्रि को लीनकर लेता हूँ, सदा आत्मपद में स्थित हूँ। पूर्ण परमेश्वर मैं ही हूँ। हे ब्रह्माजी! इस प्रकार वह दसों भाई भावना धारण किये बैठे रहे, मानों कागज पर मूर्ति लिखी हो, ऐसे ही सर्व प्रकार के वृत्ति जाल को छोड़कर एक ब्रह्मा के ध्यान में जुट गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ऐंदवसमाधिवर्णनं नाम षड़शीतितमः सर्गः ।।८६।।

सप्तशीतितमः सर्गः ८७

जगद्रचना निर्वाणवर्णनम् ।

भानुदेव बोले—हे भगवन्! इस प्रकार इन्द्र के दसों पुत्र पितामह की भावना धारण कर बैठे, तब उनके देह धूप और पवन से सुख गये। जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ में कमलपत्र सूखकर गिर पड़ते हैं, ऐसे ही उनके देह सूखकर गिर पड़े। तब वनचर जीव उनको भक्षण करने लगे, उनके शरीर को इधर उधर खींचते थे और जैसे वानर फलादि को लेकर फाड़ते

तोड़ते हैं इसी प्रकार इनके शरीर को विदारण करने लगे परन्तु तो भी उनकी वृत्ति ध्यान से उखड़कर बर्हिमुख न हुई और उनको यत् किंचिद् भी देहाध्यास नहीं हुआ। ब्रह्मभावना में ही वृत्ति मग्न रही, इस प्रकार जब चर्तुयुग का अन्त हुआ और तुम्हारे अल्पदिन का क्षय होने लगा, द्वादश सूर्य तपने लगे, पुष्कल मेघ गरज गरजकर वेग से बरसने लगे, भूकम्प होने लगा, प्रचंड वायु ने अपनी तीव्रगति से चलना शुरू कर किया, समुद्र उछल पड़े, सर्वत्र जल ही जल हो गया, सर्व भूत क्षय होने लगा सबका संहार करके रात्रि को तुम आत्मपद में जाकर स्थित हुए, तब उनके शरीर भी नष्ट हो गये, और पुर्यष्टक उनके आकाश में आकाशरूप होकर ब्रह्मा के संकल्प को लेकर तीव्रभावना के वश से दशों सृष्टि सहित दश ब्रह्मा हुए। अपनी अपनी भिन्न सृष्टि के ब्रह्मा हुए। अब तुम जाकर देखते हो, जो आकाश में फुरते हैं। हे भगवन्! उन दस ब्राह्मणों के चित्ताकाश में ही सृष्टियाँ स्थित हैं, उन दस सृष्टियों के मध्य में एक सृष्टि का सूर्य मैं हूँ, आकाश मेरा मंदिर है, यह काल, क्षण, दिन, पक्ष, मास, आदिरूप सब मुझही से होता है, इस क्रिया में मुझको उन्होंने जोड़ा है। हे भगवन्! इस प्रकार मैंने तुझको दस ब्रह्मा और दस सृष्टियाँ सुनाई हैं, वह सृष्टि सब मनोमात्र है, आगे जैसी तुम्हारी इच्छा है, वैसा करो। भिन्न भिन्न कल्पना जगज्जाल विस्तार को प्राप्त हुई है, वह इन्द्रजाल की नाईं है, चित्त के भ्रम से यह जगज्जाल भासते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जगद्रचना विवरण वर्णनं
नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

ऐंदवनिश्चय कथनम् ।

ब्रह्माजी बोले–हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्राह्मण! इस प्रकार जब ब्रह्मा का सूर्य ब्रह्मा को कहकर चुप हुआ तब उसके वचनों को विचार कर मैंने कहा–हे भानो! तुमने दशसृष्टि वर्णन किया, अब मैं क्या रचूँ? यह तो दस सृष्टियाँ हुई हैं और दस ही ब्रह्मा हैं, अब मेरे रचने से क्या होगा। हे मुनिवर! जब इस प्रकार मैंने कहा तब सूर्यदेव विचार कर बोले–हे प्रभो! आप तो निरिच्छ हो, आप में सृष्टि रचने की कोई इच्छा नहीं, सृष्टि रचना तो आपके लिये मनोविनोदमात्र है किसी कामना के निमित्त, सृष्टि नहीं रचते। आप निष्काम हो, जैसे जल से सूर्य का प्रतिबिंब होता है, जल के बिना प्रतिबिंब कल्पना नहीं होती, ऐसे ही संवेदन से आप सृष्टि की रचना होती है, अज्ञानी को आप सृष्टिकर्ता भासते हैं परन्तु आप सदा ज्यों के त्यों निष्क्रियरूप हैं। हे भगवन्! आपको शरीरादि की प्राप्ति और त्याग में राग द्वेष कुछ नहीं, उत्पत्ति और संहार की आप में कुछ कल्पना नहीं, लीलामात्र से तुम्हारे द्वारा सृष्टि होती है, जैसे सूर्य से दिन होता है, और सूर्य के अस्त होने से दिन लय होता है और सूर्य असंसक्तरूप है, वैसे ही आप में संवेदन के फुरने से सृष्टि होती है, संवेदन स्फुरण न होने पर सृष्टि का लय होता है, और आप सदा असंसक्त ही जगत् की रचना तुम्हारा नित्यकर्म है, इस कर्म के त्याग करने पर आपको सदा कुछ अपूर्व वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। अतः जो कुछ आपका नित्यकर्म है वह आप करें। हे जगत्पते! महापुरुष यथाप्राप्त में असंसक्त होकर विचरते हैं (कार्य करते हैं) जैसे निष्कलंक दर्पण प्रतिबिंब को अंगीकार करता है, वैसे ही महापुरुष यथा प्राप्त कर्म को असंसक्त होकर अंगीकार करता है, जैसे ज्ञानवान् को कर्म करने में कुछ प्रयोजन नहीं, वैसे ही उसको न करने में भी कुछ प्रयोजन नहीं,

उसके लिये करना न करना दोनों सम हैं, अतः दोनों में सुषुप्तिरूप हो। हे भगवन्! आप तो सदा सुषुप्तिरूप हैं, आपको उत्थान तो किसी प्रकार है नहीं, अतः आप सुषुप्ति प्रबुद्ध होकर अपना प्रकृत आचार करें, यदि इन्द्र ब्राह्मणों के पुत्रों की सृष्टि को देखो तो भी विरुद्ध कुछ नहीं। जो ज्ञान दृष्टि से देखें तो एक ही ब्रह्म अद्वैत है और कुछ नहीं बना, और यदि चित्तदृष्टि से देखें तो तुम्हारी सृष्टि भासती ही नहीं, उनके साथ तुम्हारा क्या है? उनकी सृष्टि उन्हीं के चित्त में स्थिर है और उनकी सृष्टि तुम नाश भी न कर सकोगे, क्योंकि जो कुछ इन्द्रियों के साथ कर्म होता है उसके नाश करने को समर्थ होता है परन्तु मन के निश्चय को नाश नहीं कर सकता। हे भगवन्! जो दृढ़ निश्चय जिसके चित्त में हो गया है उसको वही निवृत्त करे तब हो सकता है अन्य कोई भी उसके निबारण करने में समर्थ नहीं। देह नष्ट हो जाता है परन्तु निश्चय नष्ट नहीं होता, जो चिरकाल का निश्चय दृढ़ हो रहा है उसका स्वरूप से नाश नहीं होता। हे भगवन्! जो मन में दृढ़ निश्चय हो रहा है वही पुरुष का रूप है, उसका निश्चय और किसी से नहीं होता, जैसे जल के सींचने से पर्वत चलायमान नहीं होता, ऐसे ही चित्त का निश्चय दूसरे से चलायमान नहीं होता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ऐन्दवनिश्चयकथनं
नाम अष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

एकोननवतितमः सर्गः ८९

कृत्रिमेन्द्रवाक्य ।

भानुदेव बोले– हे देवेश! इस पर एक पूर्व इतिहास हुआ है, उसे सुनिये। एक इन्द्रद्रुम नाम राजा था, उसकी कमलनयनी स्त्री का नाम अहल्या था, उसके नगर में इन्द्र नाम का एक पुरुष था, वह ब्राह्मण का

पुत्र बहुत सुन्दर और बड़ा बलवान् था। अहल्या राजा की पट्टरानी थी, तब उस रानी ने पूर्व की अहल्या गौतम की स्त्री और इन्द्र की कथा सुनी, तब एक सहेली ने कहा–हे रानी! जैसी पूर्व अहल्या थी वैसी ही तू है और जैसा वह इन्द्र सुन्दर था, वैसा ही तुम्हारे नगर में एक इन्द्र ब्राह्मण है। हे भगवन्! जब इस प्रकार रानी ने सुना, तब उस इन्द्र में भी रानी का अनुराग हो गया, परन्तु वह रानी को प्राप्त नहीं होता था, रानी का शरीर इसी कारण से सूखता जाने लगा, तब राजा ने सुना कि इसको कुछ गरमी का रोग है, उसके निवारणार्थ केले के पत्तों तथा शीतल औषधियों से उपचार होने लगा, परन्तु उसके अनुकूल कोई वस्तु नहीं हुई। किसी प्रकार के सुखदायक पदार्थ से भी रानी को सुख आराम नहीं मिला। प्रतिदिन उसका दुःख बढ़ने लगा, और शरीर पीतवर्ण हो गया, रानी दिन रात इन्द्र के वियोग में तड़पती थी; मानों मछली को जल से निकालकर मरुस्थल में फेंक दिया गया है, यही विलाप करती थी कि हा इन्द्र! हा इन्द्र! तुम कहाँ हो। इस प्रकार रानी ने लोक लाज त्याग दी। उसके इन्द्र में इतने बढ़ते हुए स्नेह को देखकर एक सखी ने विचारकर कहा–हे रानी! मैं उस इन्द्र ब्राह्मण को ले आती हूँ, इस प्रकार का सखी वचन सुनकर रानी सावधान हो गयी, जैसे चन्द्रमा को देखकर कमलिनी खिल आती है, ऐसे ही उसके शब्दों से रानी का मुखकमल विकसित हो गया, तब वह सखी ब्राह्मण के घर गयी। उस इन्द्र को जगाकर रात के समय अहल्या के पास ले आई। तब वह दोनों कहीं गुप्तस्थान में मिले, वहाँ उनका प्रेमसंबध परस्पर के प्रेमव्यवहार से और भी दृढ़ हो गया, और दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए, जैसे चकवी और चकवे का परस्पर स्नेह होता है ऐसा इन दोनों का परस्पर स्नेह हुआ, जैसे रति और कामदेव का स्नेह होता है, ऐसा उनका स्नेह हुआ, वे दोनों एक दूसरे के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते थे। उनकी सब क्रिया निवृत्त हो गयी, और लज्जा भी जाती रही, जैसे चन्द्रमा को देखकर नीलकमल प्रसन्न होते हैं, ऐसे ही एक दूसरे को देखकर प्रसन्न रहने लगे। हे भगवन्! उस रानी का भर्ता भी बड़ा गुणवान् था, परन्तु रानी ने भर्ता को त्याग

दिया, और इन्द्र के साथ उसका अत्यधिक स्नेह हो गया, जब राजा ने उनका पूर्ण वृतान्त सुना, तब बलात्कार से उनको दंड देने लगा, अनेक प्रकार के दुःख मिलने पर भी उन्होंने दुःख का अनुभव नहीं किया। राजा यदि कीचड़ में फिंकवाता तो भी वे साफ रहते थे। बर्फ में गिरवाता तो भी उन्हें कुछ भी नहीं होता, तब राजा ने उन्हें पूछा–हे दुर्बुद्धियो! तुमको दुःख क्यों नहीं होता? उन्होंने कहा–हमें दुःख कैसे हो, हम तो अपने आपको भी नहीं जानते, इन्द्र ने कहा–मुझे सब अहल्या ही भासती है भिन्न दुःख कहाँ से हो, तब अहल्या ने कहा–मुझे तो सब जगत् इन्द्र ही भासता है, भिन्न दुःख कहाँ हो? तुम्हारे दंड देने से हमें कुछ दुःख नहीं होता, हम परम प्रसन्न हैं। तब राजा ने उन्हें बाँधकर हाथी के पाओं में गिरवाया, आग में डलवाया तो भी वह नहीं मरे, नहीं जले। उन्हें कुछ कष्ट न हुआ। तब राजा ने कहा–रे पापियो! तुम्हें अग्नि आदि में भी दुःख क्यों नहीं होता? तब इन्द्र ने कहा जितना भी जगज्जाल है सब मन में स्थित है, और जैसा मन है ऐसा ही पुरुष का रूप है, जैसा निश्चय मन में दृढ़ होता है, उसको दूर करने में कोई समर्थ नहीं होता, जो चाहो दंड दो, परन्तु हमको कुछ दुःख न होगा, क्योंकि हमारे हृदय में परस्पर प्रेम की अत्यधिकता से अनन्यता हो रही है, यदि हमारा कुछ अनिष्ट हो तो हमको दुःख भी पहुँचे, अनिष्ट तो कुछ हुआ नहीं तब दुःख कैसे हो। हे राजन् जो कुछ मन में दृढ़ीभूत होता है वही पड़ा भासता है, उसके निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता, शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु मन के निश्चय का नाश नहीं होता। हे राजन्! जो मन में तीव्र संवेग होता है, वह वर और शाप से भी दूर नहीं हो सकता, जैसे सुमेरु पर्वत को मंद वायु चलायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार मन के बलवान् निश्चय को बदल देने की सामर्थ्य किसी निश्चयवान् के बिना और किसी में नहीं दीखती, इसीलिये हमने कहा है कि मेरे हृदय में इसकी मूर्ति स्थिरीभूत है और इसके हृदय में मेरी मूर्ति स्थिरीभूत है, इसको सब जगत् मैं ही भासता हूँ और मुझको सब जगत् यही भासती है। यदि

कुछ दूसरा भासे तब दुःख भी हो, जैसे लोहे के कोट के अन्दर रहनेवाले को दुःख देने में कोई समर्थ नहीं, ऐसे ही मुझे कोई दुःख नहीं, मैं जहाँ जाता हूँ सब ओर से अहल्या भासती है, इस कारण से कोई दुःख नहीं, जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ की वर्षा से पर्वत चलायमान नहीं होता, ऐसे ही हमको कोई दुःख नहीं दे सकता। हे राजन्! मन का नाम अहिल्या है, और मन का नाम इन्द्र है मन ने सब जगत् रचा है, जैसा मन में दृढ़ निश्चय होता है, वैसा ही भासता है, सुमेरु की नाईं स्थिर हो जाता है। नष्ट नहीं होता है जैसे पत्र फूल टास के काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता, जब बीज ही नष्ट होवे तब वृक्ष नष्ट होता है, ऐसे शरीर के नाश से मन का नाश नहीं होता। जब मन का निश्चय ही उलट पड़े तब ही दूर होता है, एक शरीर जब नष्ट होता है तब और शरीर धारण कर लेता है, जैसे स्वप्न में यह शरीर रहता है और और शरीर धारण करके चेष्टा करता है, तो शरीर के अधीन हुआ क्या? इस प्रकार शरीर के नष्ट हुए मन का निश्चय दूर नहीं होता, जब मन नष्ट हो तब शरीर के होते भी कुछ क्रिया सिद्ध नहीं होती। अतः सबका बीज मन है, जैसे पत्र टास फल फूल इन सबका कारण जल है, वैसे पदार्थों का कारण मन है, जैसा चित्त है वैसा रूप पुरुष का है, इसलिये जहाँ जाता है वहाँ सब ओर से रानी ही भासती है, मुझको दुःख कैसे हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे कृत्रिमेन्द्रवाक्यवर्णनं
नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥८९॥

नवतितमः सर्गः ९०

अहल्यानुरागसमाप्तिवर्णनम् ।

सूर्यदेव बोले–हे भगवन्! इस प्रकार जब इन्द्र ब्राह्मण ने कहा, तब कमल नयन राजा के समीप जो भरतनाम मुनीश्वर बैठा था, उसको राजा ने कहा, हे सर्वधर्मों के वेत्ता भरत मुनीश्वर! तुम देखो, कैसे यह

ढीठ पापात्मा हैं, जैसा इनका पाप है, ऐसा इनको शाप दो जिससे कि यह मारे जायँ। जो मारने के योग्य न हो उसको राजा मारे तो पाप होता है, ऐसे पापियों के तो न मारने से पाप होता है, अतः इन पापियों को शाप दो जिससे नष्ट हो जायँ। हे भगवन्! जब इस प्रकार राजा ने कहा तब भरत मुनि ने उनके पाप को विचार कर कहा—अरे पापियो! तुम मर जाओ। जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब उस इन्द्र ब्राह्मण ने कहा—रे दुष्टो! तुमने शाप दिया उससे क्या होगा? उससे शरीर नष्ट होगा, उससे हमारा मन तो नाश नहीं होगा, तुम चाहे लाखयत्न करो, उस मन से शरीर होंगे। मन के नष्ट हुए बिना हमारा दशा विपर्यय नहीं होता, ऐसा कहकर दोनों पृथ्वी पर गिर पड़े, जैसे मूल के काटने से वृक्ष गिर पड़ता है, ऐसे वे गिर पड़े और संयोगवश वे दोनों मृग हुए, वहाँ भी परस्पर प्रेम में रहे, फिर उस जन्म को त्यागकर पक्षी जन्म प्राप्त किया। हे भगवन्! तब समयानुसार उस शरीर का भी त्याग किया, अब हमारी सृष्टि में तप करनेवाले पुण्यवान् ब्राह्मण और ब्राह्मणी हुए। इसलिये तुम देखो जो भरत मुनि ने शाप दिया, तब उनके शरीर नष्ट हुए, परन्तु मन का जो निश्चय था वह नष्ट न हुआ, जहाँ शरीर प्राप्त करें वहीं दोनों इकट्ठे रहें, आपस में अकृत्रिम प्रेमवान् हुए, वे और किसी प्रकार से आनन्दित नहीं होते थे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अहल्यानुरागसमाप्तिवर्णनं नाम नवतितमः सर्गः ९०

एकनवतितमः सर्गः ९१

जीवक्रमोपदेशवर्णनम् ।

सूर्यदेव बोले—हे नाथ! देखो कि जैसा मन का निश्चय होता है, उसी के अनुसार आगे भासता है, इन्द्र के पुत्र की सृष्टिवत् मन मे निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता है, जगत् के प्रति मन ही जगत् का कर्ता है,

और मन ही पुरुष है मन का किया होता है, शरीर का किया कर्म नहीं होता, जो मन में दृढ़ निश्चय होता है वह किसी औषधि करके दूर नहीं होता, जैसे मणि में प्रतिबिंब होता है वह मणि के उठाये बिना दूर नहीं होता, ऐसे मन का निश्चय भी किसी और से दूर नहीं होता, जब मन ही उलटे तब ही दूर हो, इसीलिये कहा है कि जो अनेक सृष्टि के भ्रम चित्त में स्थित हैं, अतः हे ब्रह्माजी! तुम भी चिदाकाश में सृष्टि को रचो। हे नाथ! तीन आकाश हैं, एक भूताकाश है, एक चित्ताकाश है, एक चिदाकाश है, वे तीनों अनन्त हैं, इनका अन्त कहीं नहीं। भूताकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है ओर चित्ताकाश चिदाकाश के आश्रय स्थित है, भूताकांश और चित्ताकाश, यह दोनों चिदाकाश के आश्रय से प्रकाशित होते हैं, इसलिये चिदाकाश के आश्रय में जितनी तुम्हारी इच्छा हो उतनी सृष्टि तुम भी रचो, चिदाकाश अनन्तरूप है, इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों ने तुम्हारा क्या लिया है? अपना नित्य कर्म तुम भी करो, ब्रह्माजी बोले—हे वसिष्ठजी! जब इस प्रकार सूर्य ने मुझको कहा कि सब जगत्‌जाल मन से उठा है, तब मैंने विचारकर कहा कि—हे भानो! तुमने युक्त वचन कहे हैं कि एक भूताकाश है, एक चित्ताकाश है, एक चिदाकाश है, तीनों अनन्त हैं, परन्तु भूताकाश और चित्ताकाश दोनों चिदाकाश के आश्रय से फुरते हैं, इसलिये हम भी अपने नित्य कर्म करते हैं और जो कुछ मैं तुमको कहता हूँ वह तुम भी मानों, तुम्हें मेरी सृष्टि के मनुप्रजापति होना होगा। जैसे तुम्हारी इच्छा हो वैसे रचो, ऐसा जब मैंने कहा तब सूर्य ने मेरी आज्ञा पाकर अपने दो शरीर कर दिये, एक तो पूर्व का सूर्यरूप किया, उस सृष्टि का सूर्य हुआ और दूसरा शरीर उस स्वयंभू मनु का किया हैं। हे वसिष्ठजी! मेरी आज्ञा के अनुसार उसने सृष्टि रची, इसलिये मैंने तुम्हें कहा है, कि यह जगत् सब मन का रचा हुआ है, जो मन में दृढ़ निश्चय होता है, वही सफल होता है, जैसे इन्द्र ब्राह्मण की सृष्टि हुई। हे मुनीश्वर! देह के नष्ट हुए भी मन का निश्चय दूर नहीं होता, चित्त में वही भास आता है, वह चित्त आत्मा का

किंचनरूप है, जैसे उसमें फुरना होता है, वैसा ही हो भासता है, प्रथम जो शुद्ध संविद्रूप में उत्थान हुआ है, वह अंतवाहक शरीर है, उसमें जो दृढ़ अभ्यास हुआ है और स्वरूप का प्रमाद हुआ है तब अधिभूत का शरीर हुआ, जब आधिभौतिक का अभिमानी हुआ तब इसका नाम जीव हुआ और देहाभिमान से नानाप्रकार की वासना होती है, उसके अनुसार घटी यंत्र की नाईं भटकता है, जब फिर आत्मा का बोध हो तब देह से आदि लेकर दृश्य शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर! जितना कुछ दृश्य भासता है, वह ब्रह्म से भासता है, वास्तव से न कोई उपजा है, न कोई जगत् है, यह भ्रम सब चित्त से रचा गया है, उसके अनुसार घटी यंत्र की नाईं भटकता है, जब आत्मबोध होता है तब देह से लेकर सब दृश्य प्रपंच शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर! जितना कुछ यह दृश्य भासता है, मन से भासता है, वास्तव से न कोई माया है न कोई जगत् है, यह सब भ्रम से भासता है। हे वसिष्ठजी! और द्वैत कुछ नहीं, चित्त के फुरने से अहं, त्वं, आदि का भ्रम भासता है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र मन के निश्चय से ब्रह्मारूप हुए, ऐसे ही मैं ब्रह्मा हूँ, शुद्ध आत्मा में चेत्यता होती है वही चेत्यता ब्रह्मारूप होकर स्थित है, और शुद्ध आत्मा में जो चेत्यता होती है, वही मनोरूप है, उस मन के संयोग से चेतन को जीव कहते हैं, जब इसमें जीवत्व होता है तब अपने देह को देखता है, नानाप्रकार के जगत् भ्रम देखता है, जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र की सृष्टि हुई, ऐसे यह जगत् है, जैसे भ्रम से आकाश में चन्द्रमा भासता है, जैसे जेवरी में सर्प भासता है। जगत् सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं, प्रत्यक्ष देखने से सत्य भासता है और नाश भाव से असत्य है, वह मन में फुरता है, और मन के दो रूप हैं, और चेतनरूप मन का ब्रह्म है, जब दृश्य की ओर फुरता है तब दृश्यरूप होता है, जब चेतन भाव की ओर स्थित होता है, तब जड़भाव दृश्यरूप इसका नष्ट हो जाता है, जैसे स्वर्ण के जानने से भूषणभाव नष्ट हो जाता है और जब जड़भाव में फुरता है, तब नाना प्रकार के जगत् को देखता है, वास्तव से ब्रह्मादि तृण पर्यन्त सब ही चेतनरूप है, जड़ उसको कहते हैं

जो अभावरूप हो, जैसे लकड़ी में चित्त नहीं भासता और प्राणधारियों में चित्त भासता है, परन्तु स्वरूप में दोनों तुल्य हैं, क्योंकि यह सब चेतन परमात्मा से प्रकाशित है। हे वसिष्ठजी! स्वरूप से सब चेतन स्वरूप है, यदि स्वरूप न हों तो क्यों भासे! चेतना से उपलब्धरूप होते हैं, जड़ और चेतन का विभाग अवाच्य ब्रह्म में नहीं होता, जड़ चेतन का विभाग प्रमाद दोष से है, वास्तव से नहीं, जैसे स्वप्न में दो प्रकार के भूत भासते हैं, जड़ और चेतनरूप। उस रूप का प्रमाद होता है, उस चेतन भूत प्राणी को जड़ चेतन विभाग भासता है और स्वरूपदर्शी को सब एकरूप है। हे मुनीश्वर! ब्रह्मा में चेत्यता हुई वह मन हुआ, उस मन में जो चेतन भाग है, वह ब्रह्मा है और जो जड़ भाग है वह अबोध है। जब अबोधभाव होता है तब दृश्य भ्रम को देखता है, जब चेतनभाव में स्थित होता है, तब शुद्धरूप होता है। हे मुनीश्वर! चेतन मात्र में अहंकार उत्थान दृश्य है और परमार्थ में कुछ भेद नहीं जैसे तरंग जल से भिन्न नहीं, ऐसे अहं चेतनमात्र से भिन्न नहीं होता। सबकी प्रतीति ब्रह्म ही में होती है, वह परमपद है, सब दुःखों से रहित है, वही शुद्ध चित्त जीव चेत्यभाव को देखता है, तब जड़ भाव को देखता है, जैसे स्वप्न में कोई अपना मरना देखता है, ऐसे वह चित्त जड़ भाव को देखता है। वह आत्मा सर्व शक्तिमान् है कर्ता है तो भी कुछ नहीं करता, उसके समान और कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! यह जगत् वास्तव से उत्पन्न नहीं हुआ, चित्त के फुरने से भासता है, जब चित्त का फुरना होता है तब जगज्जाल भासता है, जब चेतन आत्मा में स्थित होता है, तब मन का जड़ भाव नहीं रहता, जैसे पारसमणि के मिलाप से लोहा स्वर्ण हो जाता है फिर उसका लोह भाव नहीं रहता, ऐसे ही जब मन आत्मा में स्थित होता है तब मन की जड़ता का दृश्यभाव नहीं रहता, और जैसे सुवर्ण का शोधन किया जाता है, तब मैल जलता है, शुद्ध ही शेष रहता है, ऐसे चित्त जब आत्मा में स्थित होता है, तब इसका जड़भाव जल जाता है, शुद्धचेतन मात्र शेष रहता है और वास्तव में पूछे तो शुद्ध भी द्वैत में होता है, आत्मा में द्वैत कुछ नहीं,

अतः शुद्ध कैसे हो, जैसे आकाश के फूल वृक्ष वास्तव से कुछ नहीं ऐसे शोधन भी वास्तव से कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! जब तक आत्मा का अज्ञान है, तब तक नानाप्रकार का जगत् भासता है, जब आत्मबोध होता है तब जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है। यह जगद्भ्रम चित्त में है, जैसा निश्चय चित्त में होता है, वैसा ही हो भासता है, इसके ऊपर अहल्या और इन्द्र का दृष्टान्त कहा है, इसलिये जैसे भावना दृढ़ होती है, ऐसा हो भासता है, हे वसिष्ठजी! जिसको यही भावना दृढ़ है कि मैं देह हूँ, वह पुरुष जो कुछ चेष्टा करता है देह के निमित्त करता है, इस कारण से बहुत काल पर्यन्त कष्ट पाता है, जैसे बालक वेताल की कल्पना करता है, उससे आपही भय पाता है, ऐसे ही देहाभिमान से मनुष्य कष्ट पाता है, और जिसका देहाध्यास निवृत्त हुआ है, और स्वरूप स्थिति प्राप्त हुई है उसका जगद्भ्रम निर्मूल हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे जीवक्रमोपदेशवर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥९१॥

द्विनवतितमः सर्गः ९२

मनोमाहात्म्यवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने मुझे कहा, तब मैंने फिर प्रश्न किया कि हे भगवन्! तुम्हारा कथन है कि शाप में मंत्रों का बल होता है, वह शाप भी अचलरूप होता है मिटता नहीं। मैंने ऐसा भी देखा है कि शाप से मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय भी जड़ीभूत हो जाते हैं, ऐसा तो नहीं कि देह को शाप हो ओर मन को न हो। हे भगवन्! मन और देह तो अनन्यरूप हैं, जैसे वायु और स्पंद में भेद नहीं, जैसे घृत और चिकनाई में भेद नहीं, ऐसे मन और जगत् में भेद नहीं, और यदि कहें कि देह कुछ वस्तु नहीं, चैतन्य ही चित्त है, देह भी चित्त में कल्पित है, जैसे

स्वप्न देह होता है, जैसे मृगतृष्णा का जल होता है, जैसे चन्द्रमा भासता है वह एक के नष्ट होते दोनों क्यों नहीं नष्ट होते, ऐसे ही देह के शाप से चाहिये कि मन को भी शाप लग जावे, वह मैंने देखा, जो शाप भी जड़ीभूत हो गये हैं और तुम कहते हो, देह का कर्म मन को नहीं लगता, वह कैसें जाना जाये? श्री ब्रह्माजी बोले—हे मुनीश्वर! ऐसा पदार्थ जग में कोई नहीं, जो सब कर्मोंको त्यागकर पुण्यरूप पुरुषार्थ करने से सिद्ध न हो सके। पुरुषार्थ करने से सब कुछ होता है, ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जिस जिस की भावना होती है, वैसा रूप होकर भासता है, और सब जगत् के दो शरीर हैं, एक वनरूप शरीर है, वह चञ्चल रूप है, दूसरा आधिभौतिक मांसमय शरीर है, उसका किया कार्य निष्फल है, और जो मन से चेष्टा होती है, वह सफल होती है। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष को मांसमय शरीर के साथ अहंभाव है, उसको आधि व्याधि और शाप भी अवश्य लगता है, और मांसमय शरीर जो मूक (गूँगा) है, दीन है, क्षणस्थायी है, इसके साथ जिसका संयोग है वह दीन रहता है और चित्तरूपी शरीर चंचल है, अपना चित्त किसी से भी वश नहीं होता अर्थात् मन को वश करना महाकठिन है। जब दृढ़ वैराग्य और अभ्यास हो, तब वश में आ सकता है अन्यथा नहीं, मन महाचञ्चल है और यह जगत् मन में है जैसा जैसा मन में निश्चय है वह दूर नहीं होता। हे मुनीश्वर! जिन पुरुषों ने चित्त को आत्मपद में स्थित किया है, उनको आग में डालिये तो भी दुःख नहीं होता, क्योंकि उनका चित्त बाह्य शरीरादिक भाव को ग्रहण नहीं करता, आत्मा में स्थित होता है, हे मुनिवर! वैराग्य और अभ्यास इन दो साधनों से ही सधा हुआ चित्त ब्रह्मरूप हो जाता है, यह जितने भी विघ्न तथा अन्तराय हैं अनभ्यासी और भोगासक्त मनुष्यों के लिये ही हैं, जिन पुरुषों ने पूर्ण संयम से इस मन को अपने अधीन कर लिया है वही संसार में विजयी हुए हैं। ब्रह्मभूत हुए सुस्थिर मन को विचलित करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है, आत्मा में दृढ़ता के साथ तल्लीन हुए ब्रह्मीभूत मन को त्रिलोकी का बड़े से बड़ा

भी वह कौनसा पदार्थ या दुःख है जो विचलित कर सके। मांडव्य ऋषिवर सूली पर चढ़े थे उनका चित्त आत्मपद में लगा हुआ था, उनको सूली पर भी अणुमात्र दुःख का अनुभव नहीं हुआ। हे मुनिवर! जब मन दृढता से लग जाता है, तब उसको कोई विचलित नहीं कर सकता, जैसे इन्द्र ब्राह्मण चलायमान नहीं हुए। हे मुनीश्वर! जैसा जैसा मन में तीव्र भाव होता है उतनी ही उसकी अत्यधिक स्थिरता है। दीर्घतपा नाम के एक ऋषि कूप में गिर पड़े। कूप में पड़े हुए भी उन्होंने मन से यज्ञारंभ कर दिया और निरन्तर यज्ञ करने लगे, उसका परिणाम यह हुआ कि सकल भोगभरी इन्द्रपुरी में निवास मिला। इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र मनुष्यों के समान थे उन्होंने स्थिर मन से ब्रह्मा की भावना की, उससे दशों ही ब्रह्मा हुए और अपनी अपनी दस सृष्टियाँ रचीं और वे सृष्टियाँ भी कैसी? जो मुझसे भी खंडित नहीं की जा सकतीं। इसलिये यह बात यथार्थ है कि दृढ़ अभ्यास नष्ट नहीं होता और भी जो देवता ऋषि आदि धैर्यवान् हुए हैं, जिनकी क्षणमात्र भी वृत्ति विचलित नहीं होती, उनको संसार का ताप, आधि, व्याधि, शाप, मंत्र, पापकर्म आदि संसार के जितने भी क्षोभ दुःख हैं, कोई स्पर्श नहीं कर सकता, जैसे कमल फूल का प्रहार शिला को नहीं तोड़ सकता, वैसे ही धैर्यवान् को संसार का ताप खंडन नहीं कर सकता, और जिस पर आधि व्याधि आदि दुःखों का प्रभाव पड़ता है अर्थात् जो दुःखित हो जाते हैं उनसे मालूम होता है कि यह लोग परमार्थ दर्शन से शून्य है। हे मुनीश्वर! जो पुरुष स्वरूप में सावधान हुए हैं, उनको कोई दुःख स्पर्श नहीं कर सकता, स्वप्न में भी उनको दुःख का अनुभव नहीं होता क्योंकि उनका चित्त सावधान है, अतः दृढ़ पुरुषार्थ से मन के द्वारा मन को मारो, उससे जगद्भ्रम नष्ट हो जायेगा। हे मुनीश्वर! स्वरूप का प्रमाद होता है, उसको क्षण में प्रमाद से जगत् भासता है। हे मुनीश्वर! मनरूप कुलाल है, जैसे वृतिरूपी मृत्तिका है, उस मन से वृत्ति अनेक आकार क्षण में धारण करती है, जैसे मृत्तिका कुलाल से घटादिक अनेक आकार करती है, ऐसे ही निश्चय के

अनुसार वृत्ति अनेक आकारों को पाती है। जैसे उलूक आदि, सूर्य में भी भावना के अनुसार अन्धकार देखते हैं, और उनको चन्द्रमा की किरणें भी भावना लवण अग्निरूप भासती है, जिनको विष में अमृत की भावना होती है, उनको विष भी अमृरूप हो भासता है, इसी प्रकार कटुक अम्ल और लवन भी भावना के अनुसार भासता है जैसा मन में निश्चय होता है ऐसा ही इसको भासता है, मनरूप बाजीगर जैसी रचना चाहता है ऐसी रच लेता है, और मन का रचा जगत् है यह सत्य नहीं, असत्य भी नहीं, प्रत्यक्ष भाषण से सत्य है, असत्य नहीं, नाश भाव से असत्य है सत्य नहीं और सत्य असत्य भी मन से भासता है वास्तव में कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे मनोमाहात्म्यवर्णनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ।।९२।।

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

वासनात्यागवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार प्रथम ब्रह्माजी ने मुझको कहा था, वह मैंने अब तुम्हें कहा है, जो प्रथम ब्रह्म शब्द अहंपद में स्थित था, उसमें चित्त हुआ अर्थात्–अहम् अस्मि चेतनता का लक्षण हुआ, उसकी जब दृढ़ता हुई तब मन हुआ, उस मन में पंच तन्मात्रा की कल्पना की, वह तेजोमय–आकारवान् ब्रह्मा (परमेष्ठी, पितामह स्वयं भू) कहाता है। हे रामजी! वह ब्रह्माजी मनरूप हैं, मन ही ब्रह्मारूप है, उसका रूप संकल्प है, जैसा संकल्प करता है वैसा ही हो जाता है, उस ब्रह्मा ने एक अविद्या शक्ति की कल्पना की है, अनात्मा में आत्माभिमान करने का नाम अविद्या है, उसके बाद ब्रह्मा ने उस अविद्या की निवृत्ति के लिये विद्या की कल्पना की, इसी प्रकार पृथ्वी, पहाड़, तृण जल पवन आकाश समुद्र स्थावर जंगमरूप पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया, इस प्रकार ब्रह्मा हुआ और इस प्रकार जगत् हुआ, अब जैसे तुमने कहा है कि वह

जगत् कैसे उत्पन्न होता है वह सुनो, जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं और समुद्र ही में लीन होते हैं ऐसे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में से उपजता है और ब्रह्म ही में लीन होता है। हे रामजी! शुद्ध आत्मसत्ता में जो अहंकार का उल्लेख हुआ है वह मन है, और वही ब्रह्मा है, उस ही ने नाना प्रकार का जगत् रचा है, वह समष्टि चित्तशक्ति फैली है, वह चित्त के फुरने से नानात्व भासता है, हे रामजी! जितने कुछ जीव हैं, उन सबमें आत्मसत्ता स्थित है, परन्तु अपने स्वरूप के प्रमाद से पड़े भटकते हैं, जैसे वायु से वन के कुंजों में सूखे पत्ते भटकते हैं, वैसे ही कर्मरूप वायु से जीव भटकते हैं, अध और ऊर्ध्व में घटी यंत्र (अरहट) की नाईं अनेक जन्म धारण करते हैं, जब काकतालीयवत् सत्संग की प्राप्ति हो, अपना पुरुषार्थ करे तब ही मुक्त हो, जब तक सत्संग की प्राप्ति नहीं हुई तब तक कर्म रज्जु से बंधे हुए अनेक जन्म भटकना पड़ता हैं, जब ज्ञान की प्राप्ति हो तब ही दृश्य भ्रम से छुटकारा मिल सके, अन्यथा नहीं। हे रामजी! इस प्रकार ब्रह्मा से जीव उपजते हैं और मिटते हैं। अनन्त संकटों का कारण वासना ही नाना प्रकार के भ्रम दिखाती है, और जगत्रूप वन की जन्मरूपी बैतालवल्ली वासना जल से बढ़ती है! जब सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो, तब उसी ज्ञानकुठार से दुःखमूल वल्ली को अति शीघ्र काटना चाहिये। जब मन में से वासना का क्षोभ मिटे तब शरीररूप अंकुर मनरूप बीज से उत्पन्न नहीं होता, जैसे भुना बीज अंकुर नहीं निकाल सकता, ऐसे ही वासना से रहित मन शरीर को नहीं धारण करता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे वासनात्यागवर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥९३॥

चतुर्नवतितमः सर्गः ९४

सर्वब्रह्मप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! जितनी भी भूत जातियाँ हैं सब ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं, जैसे समुद्र से तरंग बुदबुदे कई बड़े, कई छोटे, कई मध्यम भाव के होते हैं, वे सब जल हैं, ऐसे यह जीव ब्रह्म से उपजे हैं अतः ब्रह्मरूप हैं जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है, जैसे अग्नि से चिंगारियाँ निकलती हैं ऐसे ब्रह्म से जीव उपजते हैं। जैसे कल्पवृक्ष की मञ्जरी अनेकरूप धारण करती है ऐसे ही ब्रह्म से जीव हुए हैं, जैसे चन्द्रमा से किरणों का विस्तार होता है, जैसे वृक्ष से पत्र, फूल, फल आदिक होते हैं ऐसे ब्रह्म से जीव होते हैं, जैसे सुवर्ण से अनेक भूषण होते हैं, ऐसे ब्रह्म से जगत् होता है, जैसे झरनों से जल के कण उपजते हैं, ऐसे परमात्मा से भूत उपजते हैं, जैसे आकाश एक ही है, उसमें घट मठ की उपाधि से घटाकाश मठाकाश कहाता है, ऐसे संवेदन के फुरने से जीव कल्पना होती है जैसे जल ही द्रवता से तरंग आवर्तरूप हो भासता है ऐसे ब्रह्म ही संवेदन से जगत्रूप हो भासता है। द्रष्टा दर्शन दृश्य सब ब्रह्म से उपजा है, जैसे सूर्य के तेज से मृगतृष्णा की नदी भासती है, ऐसे संवेदन से ब्रह्म में दृष्टा, दर्शन, दृश्य, त्रिपुटी भासती है, वास्तव से द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, कल्पना कोई नहीं, जैसे चन्द्रमा और शीतलता में कुछ भेद नहीं, जैसे सूर्य और प्रकाश में कुछ भेद नहीं, ऐसे ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं और समुद्र में ही लीन होते हैं, ऐसें जीव ब्रह्म ही से उपजते हैं और ब्रह्म ही में लीन होते हैं, कई सहस्रों जन्मों के अनंतर प्राप्त होते हैं, कई थोड़े कई बहुत जन्मों से प्राप्त होतें हैं। हे रामजी! इस प्रकार जगत् परमात्मा से हुआ है और उसकी इच्छानुसार सब कुछ होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सर्व ब्रह्मप्रतिपादनं
नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ।।९४।।

पंचनवतितमः सर्गः ९५

कर्मपौरुषयोरैक्यप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! कर्ता और कर्म यह अग्निरूप हैं और इकट्ठे ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, जब जीव सब संकल्प कलना को त्यागता है, तब निर्मलब्रह्म होता है, जैसे आकाश में नीलता भासती है, ऐसे आत्मा में जगत् कल्पना फुरती है, आत्मा अद्वैत सदा अपने आप में स्थित है और यह भी अज्ञानी के बोध के लिये कहा गया है, कि जीव ब्रह्म से उपजते हैं और इस प्रकार सात्विक राजस तामस गुणों के भेद स्थित हैं, जो ज्ञानवान् हैं, उनके लिये यह कथन भी अनुचित है कि ब्रह्म से उपजते हैं, तो भी दूसरा कुछ नहीं, दूसरे को अंगीकार करके उपदेश करता है, वास्तव से ब्रह्मसत्ता में कोई कल्पना नहीं, सदा अपने स्वभाव में स्थित है, जो ज्ञानवान हैं उनको सदा ऐसे ही प्रत्यक्ष भासता है और अज्ञानी दूर से दूर चले जाते है, उनको सुमेरु और मंदराचल की नाईं आत्मा और जीव का अंतर भासता है, जैसे वसन्त ऋतु से नाना प्रकार के नूतन अंकुर उपजते हैं, और वसन्त ऋतु के न रहने पर नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार चित्त के फुरने से जीवगण उपजते हैं चित्त के अफुर हुए नष्ट होते हैं, मन और कर्म में भेद कुछ नहीं, मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे वृक्ष से फल और सुगन्ध इकट्ठे उत्पन्न होते हैं, ऐसे आत्मा से मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न होते हैं, फिर आत्मा से लीन होते हैं, हे रामजी! दैत्य, नाग, मनुष्य, देवता, आदि जितने जीव तुझको भासते हैं, वे आत्मा से उत्पन्न होते हैं और फिर आत्मा में लीन होते हैं, इनका उत्पत्ति कारण अज्ञान है, आत्मा के अज्ञान से भटकते हैं, जब आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, तब संसार भ्रम निवृत्त हो जाता है, रामजी बोले– हे भगवन्! जो पदार्थ शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, वही सत्य है, और शास्त्र प्रमाण वही है, जिसमें राग द्वेष से रहित निर्णय है, और अमानित्व अंदभित्व आदिक गुण

प्रतिपादन किये हैं, इस दृष्टि से जो उपदेश किया जाय, वह प्रमाणित है, उसके अनुसार जो जीव विचरते हैं उनको सद्गति प्राप्त होती है और जो शास्त्र प्रमाण से विपरीत को मानते हैं, उनकी दुर्गति-स्वाभाविक है, और यह बात लोक प्रसिद्ध भी है कि कर्मों के अनुसार ही जन्म और व्यवहार की प्राप्ति होती है, जैसे बीज से अंकुर उपजता है वह जैसा बीज होता है वैसा ही अंकुर उससे उपजता है, इसी प्रकार जैसा कर्म होता है ऐसी ही इसको गति प्राप्त होती है, कर्ता से कर्म होता है ये परस्पर अभिन्न हैं, ये इकट्ठे कैसे हों, कर्त्ता से कर्म होते हैं, और कर्मों से गति प्राप्त होती है और तुम कहते हो कि मन और कर्म ब्रह्म से इकट्ठे ही उत्पन्न हुए हैं, इस करके शास्त्र के वचन और लोक के वचन अप्रमाण होते हैं। हे देवताओं में श्रेष्ठ ! तुम्हीं इस संशय को दूर करने योग्य हो, जो कुछ यथार्थ है उसे कहिये! वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह तुम्हारा भला प्रश्न है हम इसका उत्तर देंगे। जिसके श्रवण करने से तुम्हें ज्ञानप्रकाश होगा, हे रामजी! शुद्ध संवित्मात्र आत्मतत्व में जो संवेदन फुरा वह कर्म का बीज मन हुआ, वह सबका कर्मरूप है, उस बीज से सब फल होते हैं, इसलिये कर्म और मन में कुछ भेद नहीं, जैसे सुगन्ध और काल में कुछ भेद नहीं, ऐसे मन और कर्म में भेद नहीं, मन में संकल्प होता है उसको ज्ञानवान् कर्म अंकुर कहते हैं, हे रामजी! इसका पूर्व देह मन ही है उस मनरूप शरीर के साथ कर्म होते हैं, मन में जो स्फुरण होता है वही क्रिया है और वही कर्म है, उस मन से ही क्रिया कर्म सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं। ऐसे कोई पर्वत नहीं, लोक नहीं, आकाश नहीं जिसको प्राप्त होकर मनुष्य कर्मों से छूटे। जो कुछ मन के संकल्प के साथ किया है वह अवश्य सिद्ध होता है इससे पहिले जो पुरुषार्थ प्रयत्न कुछ किया है वह निष्फल नहीं होता, अवश्यमेव उसकी प्राप्ति होती है। हे रामजी! ब्रह्म में जो चेत्यता हुई है वही मन है, और मन कर्मरूप है, और सब लोकों का बीज है इतर कुछ नहीं, हे रामजी! जब कोई देश से देशान्तर को जाने लगता है तब जाने का संकल्प ले जाता है, वह चलना

कर्म है इसलिये स्फुरण रूप कमल हुआ और स्फुरण मन का रूप है, मन और कर्म में भेद नहीं, अक्षोभ समुद्ररूप ब्रह्म है, उसमें द्रवतारूपी चेत्यता है। वह चेत्यता जीवरूप है और उसी का नाम मन है। वह मन कर्मरूप है, जैसे मन फुरता है वही सिद्ध होता है, जो कुछ मन से कार्य करता है, वही सिद्ध होता है, शरीर की चेष्टा सिद्ध नहीं होती, इस कारण से कहा है कि मन और कर्म में भेद कुछ नहीं, जो भिन्न भिन्न भासते हैं, वह मिथ्या कल्पना मूर्ख करते हैं, बुद्धिमान नहीं करते, जैसे समुद्र और तरंगों में मूर्ख भेद मानते है, बुद्धिमान को भेद नहीं भासता, आरंभ में परमात्मा से मन और कर्म इकट्ठे ही उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र से तरंग द्रवता से उपजते है, वैसे चित्त के फुरणे से कर्म आत्मा से उपजते हैं, जैसे तरंग समुद्र में लीन होते हैं, वैसे मन और कर्म परमात्मा में ही लीन होते हैं, जैसे जो पदार्थ दर्पण के निकट होते हैं वैसे ही प्रतिबिंब भासता है, जैसे जो कुछ मन का कर्म होता है, वह आत्मरूप दर्पण में प्रतिबिंब रूप भासता है, जैसे बर्फ का रूप शीतल है, शीतलता बिना बर्फ नहीं होती, ऐसे, चित्त कर्म हैं कर्मों के बिना चित्त नहीं होता, जब चित्त का स्पंदन मिट जाता है, तब चित्त भी नष्ट हो जाता है, चित्त के नष्ट हुए कर्म का नष्ट हो जाते हैं और कर्मों के नाश से मन का नाश होता है, जो पुरुष मन से मुक्त हुआ हैं वही मुक्त है, जो चित्त से मुक्त नहीं हुआ वह बंधन में है, एक के नाश हुए दोनों का नाश होता है, जैसे अग्नि के नाश हुए उष्णता भी नाश होती है और जब उष्णता नाश होती है तब अग्नि का भी नाश होता है, इसी प्रकार मन के नष्ट हुए कर्मों का नाश होता है, और कर्म नाश हुए मन भी नष्ट होता है।एक का अभाव होने पर दोनों का अभाव होता है, कर्मरूप चित्त है और चित्तरूप कर्म है। परस्पर दोनों अभेद है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे कर्मपौरुषयोरैक्य प्रतिपादनं
नाम पंचनवतितमः सर्गः।।९५।।

षण्णवतितमः सर्गः ९६

मनः संज्ञाविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! मन भावनामात्र है, भावना नाम फुरने का है और फुरणा क्रियारूप है, उससे सर्व फल की प्राप्ति होती है, श्रीरामजी बोले—हे ब्राह्मणोत्तम! इस मन का रूप विस्तार के साथ कहो, जड अजडरूप मनका है उसको विशेषकर कहो, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! आत्मतत्त्व अनन्तरूप सर्व शक्तिमान् है, जब उसमें संकल्प शक्ति फुरती है तब उसको मन कहते हैं, जड अजड के मध्य में दोलायमान होता है उस मिश्रितरूप का नाम मन है, हे रामजी! भावरूप जो पदार्थ है, उसके मध्य में जो सत् असत् का निश्चय करता है उसका नाम मन है, उसमें जो यह निश्चय करना कि मैं चिदानन्दरूप नहीं, मैं कृपण हूँ, देह से मिलकर ऐसे फुरता है वह मन का रूप है, जो कल्पना करता रहता है, उसमें रहित मन नहीं होता। जैसे गुणों बिना गुणी नहीं रहता, वैसे ही कर्म कल्पना बिना मन नहीं रहता, जैसे उष्णता की सत्ता अग्नि से भिन्न नहीं पड़ती, ऐसे कर्मों की सत्ता मन से नहीं पाते, तथा मन और आत्मा में भेद कुछ नहीं। हे रामजी! मनरूप बीज है इसमें संकल्परूपी नाना प्रकार के फूल होते हैं इस कारण से नाना प्रकार के शरीर होते हैं, इससे सम्पूर्ण जगत् देखता है, जैसी जैसी मन में वासना होती है उसके अनुसार फल की प्राप्ति होती है, अतः मन का फुरणा ही कर्मों का बीज है, उसमें जो भिन्न क्रिया होती है वह उस वृक्ष की शाखा है और नाना प्रकार के विचित्र फल हैं, हे रामजी! जिस ओर मन का निश्चय होता है उसी ओर कर्मेन्द्रिय भी प्रवृत होते हैं और जो कर्म है वही मन का फुरणा है और मन ही स्फुरणरूप है, इसी कारण से कहा कि मन कर्मरूप है उस मन की इतनी संज्ञायें कही हैं, मन, बुद्धि, अहंकार, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, इन्द्रियों पर्यन्त, प्रकृति, माया इत्यादिक कल्पना संसार का कारण है, चित्त को जब चेत्यता का संयोग

होता है तब संसार भ्रम होता है और यहाँ जितनी संज्ञायें तुझे कही हैं, वह चित्त के फुरणे से काकतालीयवत् अकस्मात् फुरी हैं। श्रीरामजी बोले–हे भगवन्! अद्वैत तत्त्व परम संवित् आकाश में इतनी कलना कैसे हुई और उनमे अर्थरूप दृढता कैसे हुई। वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! शुद्ध संवित् मात्र जो सत्ता है वह फुरने की नाई स्थित हो तब इसका नाम मन है और जब यह वृत्ति निश्चय रूप होती है जो भाव अभाव पदार्थों को निश्चय करती है किय यह पदार्थ ऐसा है यह पदार्थ ऐसा है, उस वृत्ति का नाम बुद्धि है, अनात्मा में आत्मभाव परिच्छिन्न रूप जब मिथ्या अभिमान दृढ हुआ, तब उसका रूप अहंकार हुआ, वही मिथ्या अहंवृत्ति संसार बन्धन का कारण है, किसी पदार्थ को ग्रहण करती है किसी को त्याग करती है, बालक की नाईं विचार से रहित दौडती है, उसका नाम चितवृत्ति है, वृत्ति का फुरणा धर्म हैं, उस फुरणे में फलारोपण करके उसकी ओर भावना और कर्तव्य के अभिमान के फुरने का नाम कर्म है और भूतकाल में जो कर्म किये हैं उस पदार्थ को त्याग कर उसका संस्कार चित्त में धारण कर स्मरण करने का नाम स्मृति हैं अथवा जिसका पूर्व अनुभव नहीं हुआ और हृदय में वह फुर आवे, कि यह पूर्व में मैंने किया था उसका नाम ही स्मृति है और जिस पदार्थ का अनुभव हो उसका संस्कार हृदय में दृढ़ हो, उसके अनुसार चित्त के फुरणे का नाम वासना है। हे रामजी! आत्मतत्त्व अद्वैत है, उसमें अविद्यमान होकर भासता है, जिससे कि उसका नाम अविद्या है और अपने स्वरूप को भुलाकर अपने नाश के निमित्त स्पंद चेष्टा करता है और शुद्ध आत्मा में विकल्प उठते हैं, उसका नाम मूल अविद्या है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांचो इन्द्रियों को दिखाने वाला परमात्मा है और अद्वैत तत्त्व आत्मा में जिसने दृढ़ जग को रचा है, उस स्पंद कलना का नाम प्रकृति कहाता है और सत्य को असत्य की नाईं दिखाती है, वह माया कहाती है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह कर्म हैं और जिससे शब्द जिससे शब्द, स्पर्श, रूप , रस गन्ध होते हैं, वह कर्ता कहाता

है। वही कार्यकारण कहाता है, और शुद्ध चेतन चैत्य को प्राप्त होता है, कलना की नाईं होता है, उस फुरण वृत्ति को विपर्यय कहते हैं, फुरणे से संकल्प जाल उठता है, तब यह जीव कहाता है, मन भी इसका नाम है, चित्त भी इसका नाम है, बध भी इसका नाम है। हे रामजी! परमार्थ शुद्ध चित्त ही चेत्य के संयोग से स्वरूप से बर्फ की नाईं स्थित हुआ है। रामजी ने कहा—हे भगवन्! यह मन जड़ है या चेतन है, वह एकरूप मुझे समझाइये जो मेरे हृदय में स्थित हो जाय, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! मन जड़ नहीं, और चेतन भी नहीं, जड चेतन की जो गाँठ है उसके मध्यभाग का नाम मन है, और संकल्प विकल्प में कल्पित रूप मन है उस मन से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, जड़ और चेतन दोनों भावों में दोलायमान है, अर्थात् यह कभी जड़ भाव की ओर आता है कभी चेतन भाव की ओर आता है, उसका नाम मन है, शुद्ध चेतन मात्र में जो फुरणा हुआ उसका नाम मन है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार जीव आदिक अनेक संज्ञाओं को मन ही प्राप्त हुआ है, जैसे एक नट स्वांगों से अनेक संज्ञाओं को पाता है, जैसे पुरुष विचित्र कर्मों से अनेक संज्ञाओं को पाता है, पाठ से पाठक कहाता है, रसोई से रसोइया कहाता है, ऐसे ही मन अनेक संकल्पों से अनके संज्ञाओं को पाता है। हे रामजी! यह जो मैंने तुम्हें चित्त की अनेक संज्ञाये कही हैं वह वादियों के बहुत प्रकारों के रक्खे हुए नाम हैं, जैसा जैसा मत है वैसा वैसा स्वभाव लेकर मन बुद्धि इन्द्रियों को मानते है, जो मन को जड़ मानते हैं, और जिसको मन से भिन्न मानते हैं और अहंकार को भिन्न मानते हैं वे मिथ्या कल्पना करते हैं, नैयायिक कहते हैं सृष्टि तत्त्बों के सूक्ष्म परमाणुओं से उपजती हैं, जब प्रलय होता है तब स्थूलतत्त्व लय हो जाते हैं, उनके सूक्ष्म परमाणु द्वगुणे रहते हैं, और फिर उत्पत्तिकाल में वही सूक्ष्म परमाणु द्विगुणे तिगुणे आदिक होकर स्थूलता को प्राप्त होते हैं, उन पांचो तत्त्वों से सृष्टि होती है, और सांख्य मतवाले कहते हैं कि प्रकृति माया के परिणाम से सृष्टि होती है, और चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चारों तत्त्वों के इकट्ठे होने से चेतनरूप ही हो तो जगत् का कारण नहीं होता, क्योंकि जड़ पाषाणरूप होता है,

सृष्टि उपजती मानते हैं, और चारों तत्त्वों के शरीर को पुरुष मानते हैं, जब तत्त्व आपस में से बिछुर जाते हैं तब प्रलय होता हैं, और आर्हत और ही प्रकार मानते हैं परन्तु सब ही का सिद्धान्त एक ही ब्रह्म आत्मतत्त्व है, जैसे एक ही स्थान के अनेक मार्ग हों, परन्तु प्राप्य स्थान तो सभी मार्गों का वही एक है, ऐसे ही अनेक मत है परन्तु सब की अधिष्ठान सत्ता एक आत्मा (परमात्मा) है, और जो भिन्न भिन्न मत न मानकर वाद करते हैं वे आत्मतत्त्व से अज्ञान से करते हैं, सिद्धान्त सब का एक है उसमें कोई वाद प्रवेश नहीं करता, हे रामजी! जितने मतोंवाले हैं, वे अपने अपने मतों को सच्चा मानकर दूसरों को खंडन द्वारा अपमानित करते हैं जैसे मार्ग पर चलने वाले अपने अंपने मार्ग की प्रशंसा करते हैं, दूसरे की नहीं करते, ऐसे ही मन के भिन्न भिन्न रूप से अनेक प्रकार से जगत् की रचना बताते हैं उससे एक मन की अनके संज्ञाये हुई हैं, जैसे एक मनुष्य को अनेक प्रकार से पुकारते हैं, स्नान करने से स्नानकर्ता, दान करने से दानी, तप से तपस्वी इत्यादि क्रियाओं से उसकी अनेक संज्ञायें होती है, वैसे ही अनेक शक्तियाँ मन की कही हैं। अनेक नामों से पुकारा जाता है। मन ही का नाम जीव है, वासना भी मन ही का नाम है, कर्म भी उसी का नाम है, हे रामजी! चित्त ही के फुरणे से सम्पूर्ण जगत् हुआ है, और मन ही के फुरणे से भासता है। जब वह पुरुष चैत्य के फुरणे से रहित होता है तब देखता है तो भी कुछ नहीं देखता और यह प्रसिद्ध जानिये, कि जिस पुरुष की शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, जो इन्द्रियों के विषय हैं वे इष्ट अनिष्ट में हर्ष शोक देता हैं उसका नाम जीव है, मन ही से सिद्ध होता है, सब अर्थों का कारण मन ही है, जो पुरुष चेत्य से छूटा है वह मुक्तरूप है, और जिसको चेत्य का संयोग है, वह बधंन में बंधा है, हे रामजी! जो पुरुष इस मन को केवल जड मानते हैं उनको अत्यन्त जड़ जानते हुये उनको भी जड़ों मे ही सम्मिलित करना चाहिये जो इसको केवल चेतन मानता हैं, यह मन केवल जड़ नहीं और केवल चेतन भी नहीं है, यदि मन का एक ही रूप हो तो सुख दुःख आदि की विचित्रता न होनी चाहिये, और तब जगत् की लीनता भी नहीं होती, जो केवल

उस पाषाण से कुछ क्रिया उत्पन्न नहीं होती, इसलिये केवल जड़ जगत् का कारण नहीं होता, और मन केवल चेतन भी नहीं, केवल चेतन आत्मा है, उसमें कर्तृत्वादि कल्पना नही होती, इसलिये मन केवल चेतन भी नहीं, और केवल जड़ भी नहीं, चेतन और जड़ के मध्य भाव में वही जगत् का कारण है, हे रामजी! सब अर्थों का कारण मन है, जैसे प्रकाश पदार्थों का कारण है, जब तक चित्त है तब तक चेत्य भासता है, जब चित्त अचित्त हो तब सर्वभूतजाल लीन हो जाता है, जैसे एक ही जल रसरूप से अनेक होकर भासित है, वैसे एक ही मन अनेक पदार्थरूप होकर भासता है, और अनेक संज्ञाएँ इसकी शास्त्रकारों ने कल्पित कही हैं, सबका कारण मन ही है और मन भी परमदेव परमात्मा सर्वशक्तिरूप की एक शक्ति है, उस परमात्मा से ही यह स्फुरित हुई है, जड़भाव से स्फुरित होकर फिर उसी में लीन होती है, जैसे बबोहा (मकड़ी) अपने ही अन्दर से तन्तु (तार) को पसारता है, फिर अपने आप में ही लीन कर लेता है, ऐसे परमात्मा से जड़भाव उपजता है, हे रामजी! नित्य शुद्ध बोधरूप ब्रह्म हैं वही जब प्रकृतभाव को प्राप्त होता है तब अविद्या के वश से नाना प्रकार के जगत् को धारण करता है, उसी के सब पर्याय हैं जीव, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इत्यादिक संज्ञाये मलिन चित्त की होती हैं उनकी संख्या भिन्न भिन्न मतावलम्बियों के कल्पित की है, हमको संख्या के साथ क्या प्रयोजन हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे मन:संज्ञाविचारोनाम षण्णवत्तितमः सर्गः ।।९६।।

सप्तनवतितमः सर्गः ९७

चित्ताकाशमाहात्म्यवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे भगवन्, यह सब जगत् आडम्बर मन ही ने रचा है, सब मनरूप है, और मन ही कर्मरूप है, यह तुम्हारे कहने से मैंने निश्चय किया है, परन्तु इसका अनुभव कैसे हो? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह मन भावना मात्र है, जैसे प्रचंड सूर्य की धूप होती है वह मरुस्थल में जलरूप होकर भासती है, ऐसा ही आत्मा का आभास रूप मन होता है, उस मन से जितना कुछ जगत् भासता है सब मनरूप है, कहीं मनुष्य रूप होकर भासता है, कहीं देवता होकर भासता है, कहीं दैत्य, कहीं यक्ष, कहीं गन्धर्वरूप हुआ है, नगर, पुर, पत्तन, आदिक जितने कुछ रूप भासते है सब मन से विस्तार को प्राप्त हुए हैं, वह कैसे हैं? तृण और काष्ठ के तुल्य हैं उनके विचारने से क्या है यह सब मन की रचना है, वह मन अविचार सिद्ध है, विचार करने से नष्ट हो जाता है, मन के नाश होने पर परमात्मा ही शेष रहता है, वह साक्षी भूत सर्व पद से अतीत है, और सर्व व्यापी सबका आश्रय भूत है उसके प्रमाद से मन जगत् को रचने में समर्थ होता है, इस कारण से कहा है कि मन और कर्म एकरूप हैं। हे रामजी! जन्म मरण आदिक जितने कुछ विकार हैं, वे मन से भासते हैं, और मन अविचार सिद्ध है विचार करने पर नहीं रहता, जब मन न रहा, तब कर्म आदिक भ्रम भी सब नष्ट हो जाता है, जो इस भ्रम से छूटा वह मुक्त है, वह पुरुष फिर जन्म मरण में नहीं आता, सब भ्रम उसका नष्ट हो जाता है। रामजी बोले– हे भगवन्! तीन प्रकार के सात्विक, राजस, तामस आपने कहे, इनका कारण इससे पहिले सत्य असत्य रूप मन कहा, वह मन अशुद्धरूप शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व से उत्पन्न हुआ, और उत्पन्न होकर वह विस्तार रूप विचित्र जगत् को कैसे प्राप्त हुआ? वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! आकाश तीन हैं एक चिदाकाश है

और एक चित्ताकाश है, तीसरा भूताकाश है, वह आकाश भाव से समान रूप है, और अपनी–अपनी सत्ता हुई है, चिदाकाश से नित्य उपलब्धरूप है, चेतनमात्र सबके अन्तर बाहिर स्थित है, और अनुमाता रूप है बोधरूप है, जो सर्व भूतों में सर्वव्यापी है, वह चिदाकाश है, और जो भूतों का कारणरूप है, और आप जिसने विस्तारा है वह चित्ताकाश कहाता है और दस दिशाओं को विस्मृत कर जिसका वपु परिच्छेद को प्राप्त नहीं होता और जिसका शून्यस्वरूप है, और पवन आदि भूतों का जो आश्रयभूत है, वह भूताकाश कहाता है, हे रामजी! चित्ताकाश और भूताकाश यह दोनों चिदाकाश से उत्पन्न हुए हैं और सबका कारण हैं, जैसे दिन से सब काम होते हैं, वैसे चित्त से सब पदार्थ प्रकट होते हैं, वह चित्त जड़ भी नहीं और चेतन भी नहीं, आकाश भी उससे उत्पन्न होता है, हे रामजी! तीन आकाश भी अप्रबोध के विषय हैं, ज्ञानी का विषय नहीं और ज्ञानवान् भी चित्त आकाश कहते हैं, वे अज्ञानी को उपदेश देने के निमित्त से ही कहते हैं, क्योंकि ज्ञानवान् को एक परब्रह्म पूर्ण सर्व कल्पना से रहित भासता है, द्वैत और अद्वैत शब्द भी उपदेश के निमित्त कहते हैं, प्रबोध का विषय कोई नहीं, हे रामजी! जब तक आत्मा प्रबुद्ध नहीं हुआ तब तक मैं तीन आकाश कहता हूँ, वास्तव से कल्पना कोई नहीं, जैसे दावाग्नि से वन जल जाता है, वह शून्य जैसा भासता है, ऐसे ही ज्ञानाग्नि से जले हुए चित्ताकाश और भूताकाश चिदाकाश में शून्य कल्पना भासती है, वह फुरणे से भासती है, मलिन चेतन जो चेत्यता को प्राप्त होता है, उससे यह जगत् भासता है, इन्द्रजाल की बाजी होती है, ऐसे यह जगत् है, बोधहीन को यह जगत् भासता है, जैसे असम्यग् दर्शी को सीपी में रूपा भासता है, वैसे अज्ञानी को जगत् भासता है, आत्मतत्त्व नहीं भासता, जब दृश्य भ्रम नष्ट हो जाय तब मुक्त रूप हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे चित्ताकाशमाहात्म्यवर्णनं
नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥९७॥

अष्टनवतितमः सर्गः ९८

चित्तोपाख्यानवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह जो कुछ उपजा है इसे तुम चित्त से उत्पन्न हुआ मानो। वह जैसे उपजा, वैसे उपजा। अब तुम इसकी निवृत्ति के लिये यत्नपूर्वक आत्मपद में चित्त को लगाओ, तब यह जगद्भ्रम नष्ट होगा। हे रामजी! इस पर एक चित्ताख्यान हुआ है उसे सुनो। भगवान ब्रह्मा से जैसे मैंने सुना है वैसा तुम्हें कहता हूँ--एक भयंकर अंधकारपूर्ण शून्यवन है जो क्षोभ के कारणों से भरा है, जहां सौ योजन भी अणुमात्र दीखता है, उसमें एक हजार हाथों और आंखोंवाला भयंकर विशाल आकार व्याकुलसा दीखने वाला जो कि हजार हाथों में परिघनाम के शस्त्र लिये है, उन शस्त्रों से अपने आपको मार रहा है और दौड़ता है, चिल्लाता है, इधर उधर झूमता, गिरता पड़ता बेबस हुआ सा किसी अन्धकूप में गिर पड़ा और बहुत समय के बाद उस अन्धकूप से निकला, और एक कंटकाकीर्ण जंगल में जा पड़ा। वहाँ बहुत काँटे लगे तो उनसे दुःख पावे, अपने हाथों से अपने ही शरीर पर प्रहार करे। जैसा पतंग दीपक को सुखरूप जानकर उसमें प्रवेश करके नाश पाता है ऐसे ही वह भी जहाँ तहाँ कष्टदायक स्थानों में जान बूझकर जाता और दुःख पाता था, कभी दौड़ता दौड़ता फिर अन्धकूप में जा पड़ता, वहाँ से निकलकर कदली वन में जा पड़े, कदली वन में जब जाता तो कुछ शान्ति पाता, फिर दौड़ता और अपने आपको प्रहार करता, बड़े कष्ट से निकलकर उससे भी बड़े कष्ट में जा पड़ता है, अपने किये का फल आप ही पाता, तब मैंने उसको पकड़कर पूछा अरे! तू कौन है? और क्या करता है, तथा किसलिये करता है? तेरा उद्देश्य क्या है? तेरा नाम क्या है? और यहाँ क्यों मिथ्या जगत् में मोह में पड़ा है? हे रामजी! जब इस प्रकार मैंने पूछा तब मुझी कहने लगा, कि न मैं कुछ हूँ न यह कुछ है, न मैं

कुछ करता हूँ और तू तो मेरा शत्रु है, तेरे देखने से मेरा नाश होता है। इस प्रकार कहकर वह अपने अंगों को देखने लगा, देखे और रुदन करे, क्षण में उसका वपु नाश होने लगा, मेरे देखते देखते उस पुरुष ने अपने अंगों को त्याग दिया, पहिले उसका सिर गिर पड़ा, फिर भुजाएँ गिरने लगीं फिर छाती और पेट इस प्रकार क्रम से उसने अपना शरीर छोड़ा, जैसे स्वप्न से जगने पर स्वप्नशरीर नष्ट हो जाता है। तब मैं नीति शक्ति को विचारकर आगे गया, तब और एक पुरुष मैंने देखा। वह भी इसी प्रकार आप ही अपने आप को प्रहार कर रहा था। कष्ट पाकर इधर उधर दौड़ने भी लगा और पहिले के समान कुएँ में भी गिर पड़ा, वहाँ से निकल कर अपने आपको प्रहार करे, दौड़े वन में प्रवेश करे, कदली वन में जावे और फिर अपने आपको प्रहार करे, तब उसने मुझको देखा देखकर प्रसन्न हुआ, और हँसा तब उसको रोककर मैंने उसी प्रकार पूछा जब मैंने पूछा तब वह भी मेरे देखते देखते अपने अंग त्यागने लगा त्यागने पर प्रसन्न भी हुआ और दुःखित भी हुआ। उसको देखकर मैं फिर आगे गया, तब और एक पुरुष देखा वह भी इसी प्रकार करता हैं। अपने हाथों से अपने आपको मारता है बड़े अंध कूप में जा पड़ता है, हे रामजी! चिरकाल पर्यन्त मैंने उसको भी देखा, जब कूप से निकला तब मैंने प्रसन्न होकर उससे पूछा, जैसे उसको पूछा था, तब वह मूर्ख मुझको न जानकर दूर से छोड़ गया और ज़ो कुछ अपना व्यवहार था उसमें जा लगा उसके अनन्तर चिरकाल पर्यन्त मैं उस वन में विचरता रहा। तब उसी प्रकार के और पुरुष मैं देखता रहा जो आप ही अपना नाश करे उसको मैं पूछूँ और वह मेरे पास आवे उसको मैं कष्ट से छुड़ा दूँ और आनन्द को प्राप्त करूँ, और यदि मेरे पास ही न आये और मुझे त्याग भाग जाय तो उस अटवी में उसका वही हाल हो। हे रामजी! वह अटवी तुमने भी देखी है, परन्तु तुमने वह व्यवहार नहीं किया और उस अटवी में तुम जाने योग्य भी नहीं। तू बालक है और वह अटवी महाभयानक है, उसको प्राप्त हुए कष्टाति कष्ट को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे चित्तोपाख्यानं नामाष्टनवतितमः सर्गः ।।९८।।

नवनवतितमः सर्गः ॥९९॥

चित्तोपाख्यानसमाप्ति वर्णनम् ।

रामजी बोले–हे मुनिवर! वह कौन अटवी है और मैंने कब देखी, और वे कौन हैं और वे पुरुष अपने नाश के निमित्त क्यों उद्यम करते थे? यह कहिये, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! वह अटवी दूर नहीं और वह पुरुष भी दूर नहीं। जो गंभीर बड़ा आकार रूप संसार है, वह अटवी है, कैसी अटवी है? शून्य है, विकारों से पूर्ण है और यह अटवी भी आत्मा से सिद्ध होती है, और उसमें जो पुरुष रहते हैं वे सब मन हैं, दुःखरूप चेष्टायें करते हैं, और विवेक ज्ञानरूप जो मैं था, वह उनको ऐसे पकड़ता था, जो मेरे निकट आते थे, वे मेरे प्रकाश से प्रफुल्लित होते थे, जैसे सूर्य के प्रकाश से सूर्यमुखी कमल खिल जाते हैं ऐसे मेरे प्रबोध से वे महा मति हुए, चित्त से उन्होंने उपशम प्राप्त किया, वे परमपद को प्राप्त हुए, और जो मेरे निकट न आये और अविवेक करके मोह हुए, जिन्होंने मेरा निरादर किया, वे मोह कष्ट ही में रहे। अब उनके अंग और प्रहार और कूप और करजुवे तथा केले के वन के विषय में सुनो। हे रामजी! जितनी भी कामनाएँ हैं वे उस मन के अंग हैं और हाथों से प्रहार करना यह है, जो सकाम कर्म करते हैं, उनसे फटे हुए दूरसे दूर दौड़ते हैं, मर जाना ही अन्धकूप में गिरना है। पुण्य कर्मों से स्वर्गादि लोकों में जाने का नाम है कदलीवन में जाना, गृहस्थाश्रम ही कँटकाकीर्ण वन है, जैसे दुःखरूप फल देनेवाले विविध कर्म करके वे लोग अपने साथ शत्रुता करते हैं, विचार पूर्वक जो अपना कल्याण नहीं करते वही उनका दूर से दूर भागना है, मुझको (विवेक को) देखकर जो रुदन करते कहते थे किन्तु हमारा शत्रु है, वह भोगासक्त मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा है कि विवेकी पुरुष को अपना शत्रु समझते हैं, क्योंकि विवेकवान् पुरुष उनका भोग छुड़ाता है, इसलिये उसे शत्रु कहा क्योंकि विषयव भोग के त्यागने में मूर्ख का चित्त

कष्ट पाता है, मूर्ख की प्रीति विषयोंमें होती है, उसके त्यागनेसे वे दुःखी होते हैं और विवेक को देखकर रुदन करने लगते हैं, क्योंकि अर्ध प्रबुद्ध हैं, जिनको परम पद की प्राप्ति नहीं हुई वे भोगों को त्यागकर कष्ट पाते हैं और रोते हैं और जब अज्ञान को मूर्ख चित्त अर्ध प्रबोध अभिलाषीरूपी अंगों को संतप्त न हुआ त्यागता है और विवेक को प्राप्त होता है तब परम संतुष्ट हुआ हँसने लगता है। इसलिये विवेक को प्राप्त करके संसार की वासना को त्यागो, तब सुख पाओगे और तब तुम्हें अपनी पूर्व की चेष्टाओं पर हँसी आयेगी कि मैं मिथ्या चेष्टा करता था, चिरकाल तक मूर्खता से कष्ट पाता रहा। हे रामजी! इस प्रकार विवेक को प्राप्त होकर चित्त परमपद में विश्राम पाता है तब पूर्व की दीन चेष्टा को स्मरण करके हँसता है। हे रामजी! जब मैं उस मनरूप पुरुष को रोककर पूछता था और वह अपने अङ्गों को त्यागता जाता था, वह भी सुनो। मैं (विवेकरूप) जब उस चित्तरूप पुरुष को मिला, तब उसके सहस्त्रकर और लोचन रूप अभिलाषा का त्याग हुआ और अपने प्रहार करने से भी रह गया और उसका सिर जो प्रथम गिर पड़ा वह परिच्छन्न देहाभिमानी जो अहंकार है वही सिर था। जब वह गिर पड़ा तब उसने दुर्वासनारूप अङ्गों को त्याग किया, उनको त्यागकर आप भी नष्ट हो गया, उस अहंता ने अपना निर्वाण देखा अर्थात् परब्रह्म में लीन हो गया। हे रामजी! इस पुरुष के बन्धन का कारण वासना है, जैसे बालक विचार से रहित चञ्चलरूप चेष्टा करता है, वह कष्ट पाता है, आग में हाथ डाले, गढ़े में गिर पड़े अथवा कोई ऐसा कार्य करे ओर जैसे घुराण नाम का कीट आप ही अपने रहने की कन्दरा बनाकर फँस मरता है, वैसे ही यह पुरुष अपनी वासना से आप ही बंधन में पड़ता है, जैसे मर्कट लकड़ी में हाथ डालकर कीलक को निकालना चाहता है तब उसका हाथ फँस जाता है, और वह कष्ट पाता है ऐसे अज्ञानी को अपनी चेष्टा ही बन्धन में डालती है। इसलिये हे रामजी! इस चित्त को शास्त्र निर्दिष्ट मार्ग पर जहाँ कि सत् पुरुषों के चरण चिह्न स्पष्ट मालूम पड़ रहे हैं चलाओ और शास्त्र प्रतिपादित तत्व को हृदयस्थ करके दृढ़ अभ्यास करो, जब

अभ्यास से तेरा चित्त स्वस्थ होगा तब तुझे कोई शोक न होगा। हे रामजी! जब चित्त आत्मपद में स्थित होगा, तब राग और द्वेष तुम्हें विचलित न कर सकेंगे और जो कुछ देहादिक में प्रच्छन्न अहंकार है, वह नष्ट हो जायेगा। जैसे सूर्योदय हुए बर्फ गल जाती है वैसे ही तुच्छ अहंकार नष्ट हो जायगा और सर्वात्मभाव की प्राप्ति होगी। हे रामजी! जब तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब तक शास्त्राज्ञानुसार अनिन्दित आचारों में पुरुष रहे और शास्त्र के अर्थ में अभ्यास करे तथा मन को रागद्वेषादि से मौन रक्खे। हे रामजी! जब तक आत्मतत्व का प्रमाद है तब तक अनेक दुःख वृद्ध होते जाते हैं, शान्ति नहीं होती और जब आत्मतत्व की प्राप्ति होगी, तब अजन्मा शुद्ध शान्तरूप को प्राप्त होगा और जब आत्मपद की प्राप्ति हुई तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तोपाख्यानसमाप्तिवर्णनं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥९९॥

शततमः सर्गः १००

चित्तचिकित्सावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह चित्त परब्रह्म से उपजा है, वह आत्मरूप है और आत्मरूप नहीं जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, वह तन्मय भी हैं और भिन्नरूप भी हैं, ऐसे चित्त है, जो ज्ञानवान् है, उनका चित्त ब्रह्मरूप ही है, इतर कुछ नहीं, जैसे जिसको जल का ज्ञान है उसको तरंग भी जलरूप भासता है और जो ज्ञान से रहित है, उनका मन संसार भ्रम का कारण है, जैसे जिस को जल का ज्ञान नहीं उसको भिन्न भिन्न तरंग भासते हैं, ऐसे जो अज्ञानी है, उनको भिन्न भिन्न जगत् भासता है और ज्ञानवान् को केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी! जो ज्ञानवान् भेद की कल्पना भी करते हैं तो अज्ञानी को उपदेश देने के निमित्त भेद

कल्पना करते हैं, अपनी दृष्टि में उनको सर्व ब्रह्म ही भासता है और मन आदि भी जो आपको भासते हैं वह ब्रह्म से भिन्न नहीं, अनन्यरूप हैं। शक्तिरूप हैं, उससे अन्य कोई पदार्थ नहीं, सर्वशक्त परब्रह्म है, वह नित्य है सब ओर से पूर्ण है, अविनाशी है, इससे अन्य कोई पदार्थ नहीं, सब ही ब्रह्मसत्ता में है, सर्व शक्तिमान् आत्मा है, जैसे उसको रुचती है वही शक्ति प्रत्यक्ष होती है, सर्व शक्तिरूप होकर व्याप्त है। जीवों में चेतन शक्ति और ज्ञानरूप से वही प्रत्यक्ष है, वायु में स्पंद शक्ति वही है, पत्थर में जड़ शक्ति, जल में द्रवता शक्ति, अग्नि में तेज शक्ति और आकाश में शून्य शक्ति स्वर्ग में भावशक्ति, काल में नाशभक्ति, शोक में शोकशक्ति, मुदितों में आनंदशक्ति, वीरों में वीरताशक्ति, सृष्टि में उत्पन्न होने की शक्ति, कल्प के अन्त में सबकी नाशकशक्ति आदि जितनी भी भाव अभाव पदार्थ की शक्ति है, वह सब ब्रह्म की शक्ति है। जैसे–फूल, फल, वल्ली, पत्र, शाखावृक्ष जितना कुछ विस्तार है, वह सब बीज के अन्तर्निहित होता है, वैसे सब जगत् ब्रह्म में स्थित है, जीव, चित्त और मन आदिक भी ब्रह्म स्थित है, जैसे नाना प्रकार के पत्र, फूल, फल, बीज के अन्तर स्थित हैं, ऐसे सब ब्रह्म में स्थित हैं। हे रामजी! जैसे बसन्त ऋतु से एक ही रस नाना प्रकार के फूल, फल, टास, बहुत रूपों को धारण करता है, ऐसे एकही आकाश ब्रह्म चैतन्यता से जगत्रूप हो भासता है, उसमें और देश कालआदिक विचित्रता कोई नहीं, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप है, वह ब्रह्म आत्म सर्वज्ञ है, नित्य उदित रूप है, बृहद्रूप है, सबसे बड़ा है वपु जिसका हे रामजी! उसमें कुछ मननकलना होती है तब उसको मन कहते हैं, जैसे आकाश में आँख से तरवरे भासते हैं, जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है, ऐसे आत्मा में मन है। हे रामजी! ब्रह्म में जो चित्त होता है, वह मन का रूप है, वैसे मन ब्रह्म शक्तिरूप है, इसी कारण ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, ब्रह्म से इतर की कुछ कल्पना करना अज्ञान है, ब्रह्म में ऐसा उत्थान होता है इसका नाम मन है, जड़ अजड़रूप मन से आगे जगत् हुआ, मन ही के आगे प्रतियोगी व्यवच्छेदक,

संख्यारूप, यह सब मन के कल्प हैं, प्रतियोगी, व्यवच्छेदक, संख्या इनका भेद यह है, प्रतियोगी जैसे–चेतन का प्रतियोगी जड़ और व्यवच्छेदक–जैसे घटावच्छिन्न, पटावच्छिन्न इत्यादि संज्ञा कहते हैं। अनेकरूप जो दृश्य है वह सब मन कल्पित है, जैसे जैसे ब्रह्म में दृढ़ मन होता है, ऐसे ऐसे भासता है, इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों की नाईं, जैसे समुद्र में द्रवता से तरंग हो भासते हैं, ऐसे ही शुद्ध चिन्मात्र में जीव के फुरने से नाना प्रकार का जगत् होकर भासता है, परंतु कुछ हुआ नहीं, ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। जैसे तरंगों के होने और मिटने में जल एक ही रस है, ऐसे जगत् के उपजने और मिटने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है, जैसे सूर्य की किरणों में तीव्र तेज के कारण जल भासता है, ऐसे आत्म तत्व में विचित्रता भासती है परन्तु सदा अपने आप में स्थित है, सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से इतर कुछ भी नहीं और आत्मा शुद्धरूप है, उसमें न लोभ है, न मोह है, न तृष्णा है, क्योंकि अद्वैत रूप है और सर्वात्मा है, जैसे सुवर्ण से नाना प्रकार के भूषण होकर भासते हैं, ऐसे ब्रह्म से जगत् भासता है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको ऐसे ही भासता है और जो अज्ञानी हैं उनको भिन्न भिन्न कल्पना भासती है, जैसे किसी का बाँधव हो अति दूर देश से देर के बाद आवे तब देशकाल के व्यवधान से बांधव को अबाँधव जानता है, ऐसे अज्ञान के व्यवधान से अभिन्न रूप आत्मा को भिन्नरूप जानता है, जैसे आकाश में दूसरा चंद्रमा भ्रम से भासता है, ऐसे सत्य असत्य रूप मन आत्मा में भासता है, उस मन ने शब्द अर्थरूप भिन्न भिन्न कंल्पना रची है और आत्मतत्व सदा अपने आप में स्थित है, उस बन्ध मोक्ष कल्पना का अभाव है। रामजी बोले–हे भगवन्! जो मन में निश्चय होता है वही होता है अन्यथा नहीं होता, और मन में बंध का निश्चय होता है वह बंध कैसे सत्य है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! बंध की कल्पना मूर्ख करते हैं इसलिये मिथ्या है, यदि बंध की कल्पना मिथ्या हुई तो बंध की अपेक्षा से जो मोक्ष है वह भी मिथ्या है, अतः बन्ध मोक्ष की कल्पना जो कि मिथ्या है, मूर्ख करते हैं। वास्तव में न बंध है न मोक्ष है। हे महामते! रामजी! अज्ञान से अवस्तु भी वस्तुरूप होकर भासती है, जैसे

जेवरी में सर्प भासता है, और ज्ञानवान् को अवस्तु सत्य नहीं भासती, जैसे जेवरी के ज्ञान से सर्प नहीं भासता। इसलिये बन्ध मोक्ष कलना मूर्खों को भासती है, ज्ञानवान् को बंधमोक्ष कलना कोई नहीं भासती। हे रामजी! आदि परमात्मा से मन उत्पन्न हुआ उस मन ने बन्धमोक्ष की कल्पना की है, फिर दृश्य प्रपञ्च को रचा है, वही प्रपञ्च कल्पनामात्र है, बालक कथा के समान यह जगत् विचारहीन मनुष्यों को रुचिकर तथा सत्य भासता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तचिकित्सावर्णनं नाम शततमः सर्गः ॥१००॥

एकोत्तरशततमः सर्गः १०१

बालकाख्यायिका वर्णनम् ।

रामजी बोले—हे मुनिश्रेष्ठ! बालक की कथा क्या है, वह यथाक्रम मुझसे कहिये। वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! एक मूर्ख बालक था, उसने अपनी धात्री (धाय) से पूछा कि मुझे ऐसी कथा सुनावो जो पहिले न हुई हो और तुम्हें आती हो। हे रामजी! जब इस प्रकार कहा—तब महाबुद्धिमती धात्री उसके मनोविनोद के लिये कहने लगी हे पुत्र! सुनो! एक बड़ा शून्यनगर था, उसका एक राजा था, उस राजा के तीन पुत्र थे, वे पुत्र शुभ आचारवान् थे और सुन्दर तथा तेजस्वी थे। उन तीनों में से दो तो अभी उत्पन्न नहीं हुए थे और एक गर्भ में न आया था। वे तीनों सदाचार सम्पन्न शुभ क्रिया कर्ता द्रव्य के अर्थ जीतने को चले, शून्यनगर से बाहिर निकले, निर्मार्गरूप उनके नगर थे, निर्बुद्ध और शोक सहित इकट्ठे जाते थे, जैसे बुध, शुक्र, शनैश्चर , इकट्ठे चलें, अर्थ यह कि इकट्ठे चलने का दृष्टान्त शुक्र, शनैश्चर, और बुध का नहीं है, निर्बुद्ध और शोक का ग्रहणरूप दृष्टान्त है और सरसों के फूल की नाईं उनके अंग कोमल थे, वे मार्ग में थके ऊपर से सूर्य की धूप से तपे, जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप से कमल कुम्हिला जाते हैं, ऐसे कुम्हिला गये और तप्त चरणों से

तपने लगे, महाशोक में पड़े, उनके पाँव में दाभ के कंटक समान तीखे तिनके लगे, और मुख धूल से धूसर हो गये, तीनों कष्टवान् होकर आये, आगे तीन वृक्ष देखे, वह कैसे वृक्ष हैं कि दो तो उत्पन्न नहीं हुए और तीसरे का बीज भी नहीं बोया, वह तीनों एक वृक्ष के नीचे आकर विश्राम करने लगे, जैसे कल्पवृक्ष के नीचे स्वर्ग में इन्द्र और यम आकर बैठे, ऐसे आ बैठे और उनके फल भक्षण किये और फलों का रस काटकर पान किया, और उन्हीं के पुष्पों की माला गले में डाली और देर तक वहाँ विश्राम किया, फिर चले, दूर से दूर गये, ऊपर मध्याह्न का समय हुआ, उससे तपने लगे, तब आगे तीन नदियाँ देखीं, उनके निकट गये, तरंगों से लीलायमान हैं, और दोनों में जल कुछ नहीं और तीसरी सूखी पड़ी है उसमें चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे, जैसे स्वर्ग की गंगा में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कल्लोल करते हैं, ऐसे उसमें कल्लोल करें, और जलपान करें। जब दिन अस्त होने लगा तब वहाँ से चले, एक भविष्यत् नगर को देखा, बड़ी ध्वजाएँ लगी हैं, और रत्नमणि सुवर्ण से जड़ित हैं, मानों सुमेरु का शिखर है, उससे हीरे मणियों से जड़ा एक मंदिर देखा, कैसा मंदिर जो कि निर्मय रूप अर्थ यह जो निराकार रूप है उसमें जाकर प्रवेश किया, वहाँ बहुत अंगनाएँ हैं, उस मंदिर में जाकर विचारने लगे कि रसोई करें और ब्राह्मणों को भोजन करायें, तब कंचन की तीन बटलोइयाँ मँगवाई, वह कैसी कि दो का कर्ता पैदा नहीं हुआ, अर्थ यह कि आधार से रहितरूप तीसरी चूर्णरूप, उस चूर्णरूप बटलोई में उन्होंने षोडश सेर रसोई चढ़ाई। ब्राह्मण और आप तथा जो कोई विदेहरूप (देहदीन) थे उन्होंने और निर्मुख ऋषियों ने भोजन किया, उससे सैंकड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराया, आप भी भोजन किया, षोडश सेर का जो एक द्रोण होता है तीनों ने चावल राँधे, साढ़े उनतालीस मन और चालीस सेर उनका तोल होता है, तीनों ने साढ़े उनतालीस मन चालीस सेर घट राँधा। इस प्रकार वह तीनों राजपुत्र आजपर्यन्त सुख के साथ स्थित हैं। हे पुत्र! यह मनोहर कथा मैंने तुमको सुनाई है, जब तू इसको

हृदय में धारण करेगा तब पंडित होगा। हे रामजी! इस प्रकार धात्री ने बालक को कथा सुनाई तब बालक के मन में ठीक जँच गई, जैसे उस कथा का रूप संकल्प से इतर कुछ न था, ऐसे यह जगत् है, सब संकल्पमात्र है, अज्ञान से हृदय में स्थिर हो रहा है, भ्रम से इसमें आस्था हुई है, बंध मोक्ष की कल्पना मात्र है, संकल्प से इतर इसका स्वरूप कुछ नहीं। हे रामजी! शुद्ध आत्मा निष्किंचन रूप है, संकल्प के वश से किंचनरूप होकर भासता है, पृथ्वी वायु आकाश पर्यन्त नदियाँ देश आदिक जो पांच भौतिक सृष्टि है वह सब संकल्पमात्र है, जैसे स्वप्न में नाना प्रकार सृष्टि भासती है और कुछ नहीं, उपजी भी नहीं, ऐसे यह जगत् जानना, जैसे कल्पित राजपुत्र भविष्यत् नगर में स्थित हुए, रचना संकल्प बालक को स्थिरीभूत हुआ, ऐसे यह जगत् संकल्पमात्र मन के फुरने से दृढ़ हुआ है, जैसे द्रवता से जल से तरंग होते हैं, वह जल में जल ही तो है, ऐसे आत्मा ही आत्मा में स्थित है, यह सब जगत् संकल्प से उपजा है, और बड़े विस्तार को प्राप्त हुआ है, जैसे दिन से व्यवहार विस्तार को पाता है ऐसे संकल्प जाल से उपजा जगत् विस्तार को पाता है, और चित्त का विस्तार है, चित्त के फुरने से भासता है। अतः हे रामजी! संकल्प मैल को त्यागकर निर्विकल्प आत्मतत्व का आश्रय करो, जब उस पद में स्थित हो जाओगे, तब परमशान्ति की प्राप्ति होगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पतिप्रकरणे बालकाख्यायिका वर्णनं
नामैकोत्तरशततमः सर्गः ॥१०१॥

द्व्युत्तरशततमः सर्गः १०२

मनोनिर्वाणोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जो मूढ़ अज्ञानी पुरुष है वह अपने संकल्प से आप ही मोह को प्राप्त होता है और जो पंडित है वह मोह को प्राप्त नहीं होता, जैसे मूर्ख बालक अपनी छाया में पिशाच की कल्पना करके भय पाता है, ऐसे मूर्ख अपनी कल्पना से दुःखी होता है। रामजी बोले–हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ भगवन्! वह संकल्प क्या है और छाया क्या है, जो असत्य ही सत्यरूप पिशाच की नाईं दीखता है। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! पांचभौतिक शरीर छाया के समान है, क्योंकि अपनी कल्पना से रचा गया है और अहंकार रूप पिशाच है, जैसे मिथ्या छाया में पिशाच को देखकर भयवान् होता है, ऐसे देह में अहंकार को देखकर खेद को प्राप्त होता है। हे रामजी! एक परमात्मा सबमें स्थित है, तब अहंकार कैसे हो, वास्तव से अहंकार कोई नहीं, परमात्मा ही अभेदरूप है, उसमें अहं बुद्धि भ्रम से भासती है, जैसे मिथ्यादर्शी को मरुस्थल में जल भासता है, ऐसे मिथ्या ज्ञान करके अहंकार कल्पना होती है, जैसे मणि का प्रकाश मणि के ऊपर पड़ता है, वह मणि से इतर कुछ नहीं, मणिरूप है, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, वह आत्मा ही में स्थित है, जैसे जल में द्रवता से चक्र तरंग भासते हैं, वह जलरूप हैं, ऐसे आत्मा में चित्त से नानात्व हो भासता है वह आत्मा से इतर कुछ नहीं, असम्यक् दर्शन से नानात्व भासता है इसलिये असम्यक् दृष्टि को त्यागकर आनन्द रूप का आश्रय करो, मोह के आरंभ को त्यागकर शुद्ध बुद्धि सहित विचरण करो। विचार पूर्वक सत्य को ग्रहण करो, असत्य का त्याग करो, हे रामजी! तुम मोह का माहात्म्य देखो। जो देह स्थूलरूप नाशवान् है, उसके रखने का उपाय करता है, वह रहता नहीं और जिस मनरूप शरीर के नाश होने से कल्याण होता है उसे पुष्ट करता है। हे रामजी! सब मोह का आरंभ मिथ्या भ्रम से दृढ़ हुआ है, अनन्त आत्मतत्व में

कल्पना कोई नहीं, कौन किसको कहे? जितना नानात्व भासता है, वह है नहीं और जीव ब्रह्म के साथ अभिन्न है, उस ब्रह्मतत्व में कौनसा बन्ध कहें और कौन मोक्ष कहें वास्तव से न कोई बंध है न कोई मोक्ष है क्योंकि आत्मसत्ता अनन्तरूप है, हे रामजी! वास्तव से कुछ द्वैत कल्पना नहीं हुई, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, जो आत्मतत्व अनन्त है वही अज्ञान करके अन्य की नाईं भासता है, जब अनात्म में आत्माभिमान करता है, तब परिच्छिन्न कल्पना होती है, तब शरीर को अच्छेद्यरूप जानकर कष्टवान् होता है और आत्मपद में भेद अभेद विकार कोई नहीं, क्योंकि वह नित्य शुद्ध बोध अविनाशी पुरुष है। हे रामजी! आत्मा में न कोई विकार है न बंध है न मोक्ष है, क्योंकि आत्मतत्व अनन्तरूप निर्विकार अच्छेद्यरूप है, निराकार अद्वैत रूप है, उसको बंधविकार कल्पना कैसी हो। हे रामजी! देह का नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे फूल का नाश होने पर गन्ध आकाश में लीन हो जाती है, जैसे कमल पर बर्फ पड़ता है तब कमल नष्ट हो जाता है, भ्रमर नाश नहीं होता, ऐसे देह के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे मेघ के नाश हुए पवन का नाश नहीं होता। हे रामजी! सबका शरीर मन है, वह मन आत्मा की शक्ति है, उस मन में ही शरीरादि जगत् की रचना हुई है, उस मन का ज्ञान बिना नाश नहीं होता, तो फिर शरीरादि का नाश होने से आत्मा का नाश कैसे हो। हे रामजी! शरीर का नाश हुए, तुम्हारा नाश नहीं होता। तुम वृथां शोकवान् क्यों होते हो? तुम तो नित्य शुद्ध ज्ञानरूप आत्मा हो। हे रामजी! मेघ के क्षीण हुए पवन क्षीण नहीं होता, कमलों के सूखने से भ्रमर नष्ट नहीं होता। ऐसे ही देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। संसार में क्रीड़ा करने वाले मन का भी संसार से नाश नहीं होता तो आत्मा का नाश कैसे हो, जैसे घट के नाश हुए घटाकाश का नाश नहीं होता। हे रामजी! जैसे जल का कुण्ड होता है, उसमें सूर्य का प्रतिबिंब पड़ता है, उस कुण्ड का नाश होने से प्रतिबिंब का नाश नहीं होता। उस जल को दूसरे स्थान पर ले जाया

जाये तो प्रतिबिंब भी साथ जाता भासता है, ऐसे देह में जो आत्मा स्थित है वह देह के चलने से चलता भासता है, जैसे घट के फूटने पर घटाकाश महाकाश में स्थित होता है, ऐसे देह का नाश होने पर आत्मा निरामय पद में स्थित होता है। हे रामजी! सब जीवों का देह मनरूप है, जब मृतक होता है, तब कुछ समय अर्थात् मुहूर्त पर्यन्त देशकाल पदार्थ का अभाव हो जाता है, उसके अनन्तर फिर पदार्थ भासते हैं, उस मूर्छा का नाम मृत्यु है और आत्मा का नाश तो होता नहीं, चित्त की मूर्छा से देशकाल पदार्थों का अभाव होना ही मृत्यु है। हे रामजी! संसार भ्रम को रचने से हारा जो मन है, उसका ज्ञानरूप अग्नि से नाश होता है, आत्मतत्व का नाश कैसे हो। हे रामजी! देशकाल वस्तु से मन का निश्चय विपर्यय भाव को प्राप्त होता है, परन्तु ज्ञान विचार नष्ट नहीं होता, अनेक यत्न करे। हे रामजी! जन्मकल्पित रूप का नाश नहीं होता। जगत् के पदार्थों से आत्मसत्ता का नाश कैसे हो, इस कारण से शोक किसी का न करना चाहिये। हे महाबाहो! तुम तो नित्य शुद्ध अविनाशी पुरुष हो, तुम्हारे अन्दर यह जन्ममरण आदिक संकल्प वासना से भासते हैं, वे भ्रममात्र हैं। इसलिये इस वासना को त्यागकर शुद्धचिदाकाश में स्थित हो जाओ, जैसे गरुड़ पक्षी अंडे को त्यागकर आकाश की तरफ उड़ता है, ऐसे ही वासनाओं को त्यागकर तुम चिदाकाश में स्थित हो जाओ। हे रामजी! शुद्ध आत्मा में जो मनन फुरता है वही मन है, वह मनन शक्ति इष्ट अनिष्ट करके इसको बन्धन का कारण है, वह मन मिथ्या भ्रान्ति से उदय हुआ है, जैसे स्वप्नद्रष्टा भ्रान्तिमात्र होता है, ऐसे ही जाग्रत सृष्टि भ्रान्तिमात्र है। हे रामजी! यह जगत अविद्या से बंधनमय है, और दुःख का कारण है, उस अविद्या को तरना कठिन है। अविचार से अविद्या सिद्ध है, विचार से नष्ट हो जाती है। उस अविद्या ने जगत् का विस्तार किया है, यह जगत् बर्फ का ढेर है, ज्ञानरूप अग्नि के तेज से पिघल जाता है। हे रामजी! यह जगत् आकाशरूप है अविद्या से भ्रान्त हुई दृष्टि से आकार होकर भासता है।

असत्य अविद्या से बड़े विस्तार को प्राप्त होता है, दीर्घ स्वप्न है, सद्विचार से निवृत्त होता है। हे रामजी! यह जगत भावनामात्र है, वास्तव से उत्पन्न नहीं हुआ, जैसे आकाश में भ्रान्ति करके मोर पुच्छ की नाईं तरवरे भासते है, ऐसे भ्रान्ति से जगत् भासता है, जैसे बर्फ की शिला तपाने से लीन हो जाती है, ऐसे आत्मविचार से जगत् का अभाव हो जाता है, जैसे बर्फ की शिला गर्मी पहुँचाये बिना शीतलता को नहीं छोड़ती, ऐसे बिना आत्मविचार के प्रकाश के जगद्भ्रमरूप अन्धकार दूर नहीं होता। हे रामजी! यह जगत् अविद्या से बँधा है, अतः अनर्थ का कारण है, जैसे जैसे चित्त फुरता है ऐसा ऐसा होकर भासता है, जैसे इन्द्रजाली सुवर्ण की वर्षा आदिक माया रचता है ऐसे ही चित्त फुरने के अनुरूप भासता है, जितनी भी चेष्टा आत्मा के प्रमाद से मन करता है वह नाश का कारण होती है, जैसे घुराण (कीट) की चेष्टा अपने बन्धन का कारण होती है, वैसे मन की चेष्टा अपने नाश के निमित्त होती है, जैसे नट अपनी क्रिया से नाना प्रकार के रूप धारण करता है, वैसे मन अपने संकल्प विकल्पों से नाना प्रकार के भव अभावरूपों को धारण करता है, जब चित्त अपने संकल्प विकल्पों को त्यागकर आत्मा की ओर देखता है तब नष्ट हो जाता है, जब तम आत्मा की ओर नहीं देखता, तब तक जगज्जाल फैलाता है, वह दुःख का कारण होता है, हे रामजी! संकल्प मात्र होना, इसमें तो यत्न कुछ नहीं, संकल्प आवरण को दूर करो तब आत्मतत्व का प्रकाश होगा। संकल्प विकल्प ही आत्मा में आवरण है, जब दृश्य तब आत्मबोध प्रकाशित होगा। हे रामजी! मन के नाश में बड़ा आनन्द है और मन के उदय हुए तो बड़ा अनर्थ होता है, इसलिये मन के नाश करने का यत्न करो, मन के बढ़ाने का यत्न मत करो। हे रामजी! मनरूप किसान ने जगत्रूप वन रचा है, इस वन में सुख दुःख रूप वृक्ष हैं, मनरूप सर्प उसमें रहता है, वह विवेकहीन पुरुषों का भोजन करता है। हे रामजी! यह मन परमदुःख का कारण है, इसलिये इस मनरूप शत्रु को वैराग्य और मनरूप अभ्यास के खड्ग से मारो, तब

आत्मपद की प्राप्ति होगी। श्रीवाल्मीकि मुनि बोले—जब वसिष्ठजी ने इस प्रकार से कहा—तब सायंकाल का समय हुआ, सब श्रोता परस्पर नमस्कार करके स्नान करने चले गये और सूर्य की किरणों के साथ साथ ही आकर अपने अपने स्थान पर बैठ गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे मनोनिर्वाणोपदेशवर्णनं नाम द्युत्तरशततमः सर्गः ॥१०२॥

द्व्युत्तरशततमः सर्गः १०३

चित्तमाहात्म्य वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह चित्त भी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, जैसे समुद्र से जल कणिका होती है, ऐसे परमात्मा से मन हुआ है, फिर मन ने जगत् रचा है, वह जगत् बहुत विस्तार को प्राप्त हुआ है, छोटे को बड़ा कर लेता है और बड़े को छोटा करता है, जो अपना स्वरूप है उसको अन्य की नाईं दिखाता है और अन्य रूप को अपना स्वरूप बतलाता है, अर्थात् यह मन आत्मतत्व को अनात्मरूप और अनात्म पदार्थ को आत्मरूप दिखाता है, ऐसा भ्रान्तिरूप मन दूर वस्तु को निकट और निकट वस्तु को दूर दिखाता है, जैसे स्वप्न में निकट वस्तु दूर हो भासती है, और दूर निकट भासती है। हे रामजी! एक निमेष में मन संसार को उत्पन्न करता है और निमेष में लीन कर लेता है, जितना कुछ स्थावर जंगम जगत् भासता है, सब मन से ही उपजता है। देश, काल, क्रिया, द्रव्य, अनेक शक्ति विपर्ययरूप मन ही दिखाता है। अपने फुरणे से नानाप्रकार के भावअभाव को मन ही प्राप्त होता है, जैसे नट लीला करके नाना प्रकार के स्वाँगों को अपनाता है, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कर दिखाता है, ऐसे ही मन में जैसा फुरणा दृढ़ होता है, वैसा ही भासता है, जैसा जैसा निश्चय चंचल मन में होता है, उसके

अनुसार इन्द्रिय भी विचरती है अन्यथा नहीं, हे रामजी! जो मन से चेष्टा होती है, वही सफल होती है, शरीर की की हुई चेष्टा मन के बिना सफल नहीं होती, जैसा जैसा वल्ली का बीज होता है वैसा वैसा उसका फल होता है, अन्य प्रकार नहीं होता, ऐसे ही जो कुछ मन में निश्चय होता है वही सफल होता है, जैसे बालक मृत्तिका की सेना बनाता है, नाना प्रकार के नाम रखता है, ऐसे मन भी संकल्प से जगत् से जगत् को रच लेता है, जैसे माटी की सेना माटी से भिन्न नहीं, ऐसे ही आत्मा में नाना प्रकार के जगत् की कल्पना की गई है, वह आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! एक गोपद में मन अनेक योजन रच लेता है, कल्प का क्षण और क्षण का कल्प बना लेता है, जैसा कुछ मन में तीव्र संवेग होता है, वैसा ही होकर भासता है, उसको रचने में विलंब नहीं लगता, रचना में समर्थ है, जैसा तीव्र संवेग होता है वैसा ही भासता है, जितने भी देश काल पदार्थ हैं वे मन से उत्पन्न हुए हैं, सबका कारणरूप मन है, जैसे पत्र, फूल, फल, टास वृक्ष उपजे हैं वे वृक्षरूप हैं, जैसे समुद्र से तरंग होते हैं और जैसे अग्नि उष्णता रूप है, वैसे नाना प्रकार के स्वभाव मन से उत्पन्न हुए दृष्टि आते हैं, वे मनोरूप हैं। हे रामजी! कर्ता, कर्म, क्रिया, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सब मन का ही पसारा है, जैसे सुवर्ण से नानाप्रकार के भूषण भासते हैं और जब सुवर्ण का ज्ञान हुआ तब सब भूषण केवल एक सुवर्ण ही भासता है भूषणभाव नहीं भासता, ऐसे ज़ब तक आत्मा के विषय में प्रमाद है तब तक द्वैतरूप जगत् भासता है, जब आत्मज्ञान हुआ तब समझो कि सब भ्रम मिट गया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्तमाहात्म्यवर्णनं
नाम त्र्युत्तरशततमः सर्गः ॥१०३॥

चतुरुत्तरशततमः सर्गः १०४

नृपमोहनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! अब तुमको एक भूतकाल का वृतान्त सुनाता हूँ, यह जगत् इन्द्रजाल के समान है। मनरूप इन्द्रजाली में यह जगत् जिस प्रकार से स्थित है सुनो! हे रामजी! इस पृथ्वी में एक उत्तरपाद नाम देश था, उसमें एक बड़ा वन था, जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष और फूल फल थे, एक सुन्दर सरोवर भी उसकी शोभा बढ़ा रहा था। वहाँ आकर विद्याधर जाति की स्त्रियाँ मनोविनोद करती थीं, वन की रमणीयता दर्शन के योग्य थी, बड़े बड़े सुन्दर स्थान थे, केले, खजूर, आदि वृक्षों से शोभा और भी बढ़ रही थी, सुन्दर पक्षियों का कलरव अतीव मनोहर और प्रिय लगता था, विविध सुगन्ध के प्रसारक पुष्पसमूह से बन का वायुमण्डल मदन का दूत बनकर उस वैराग्यत्पादक प्रदेश को भी विलास क्षेत्र बना रहा था। वहाँ आकर विद्याधर, सिद्धगण और देवता लोग विश्राम करते थे, किन्नर गायन करते थे, मंद सुगन्ध पवन चलता था, अतीव सुन्दर रचना बनी हुई थी। सुवर्ण के समान अति सुन्दर महाकल्पवृक्ष और पारिजातिक वृक्ष लगे हुए थे, उस देश का लवण नाम का राजा हरिश्चन्द्र के कुल में उत्पन्न हुआ था, वह बड़ा धर्मात्मा था। मानों पृथ्वी पर दूसरा सूर्य उतर आया हो, उसने अपना कोई शत्रु जीवित न छोड़ा और भी जो दुराचारी लोग थे, उनका नाश किया। अपनी प्रजा की प्राणों के समान रक्षा की, साधुसन्त महात्मा और पुण्यात्मा लोग उसके राज्य में परम सुखी थे, वह इतना प्रतापी और तेजस्वी राजा था जिसका नाम सुनकर शत्रु प्राण खो देता था। उस राजा का पृथ्वी और स्वर्गादि लोकोंमें सर्वत्र यशोगान होने लगा। हे रामजी! उस राजा के समान और कोई स्वप्न में भी उस समय दृष्टिगोचर नहीं होता था। उस राजा ने न केवल संसार के शत्रुओं को ही जीता था किन्तु मानसिक शत्रु कामक्रोधादि भी उन्होंने अपने वश में कर रखे थे। वह परम

पुण्यवान् और धर्मात्मा राजा था। वह राजा एक दिन सभा में सिंहासनासीन था, जैसे देव सभा में इन्द्र विराज रहे हों, दरबारी लोग तथा मन्त्रिमंडल हाथ बाँधे आज्ञा पालन में दत्त चित्त थे। अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। विविध बाजे बज रहे थे, मधुर ध्वनि से आकाश गूँज रहा था, राजा के सिर पर चमर डुलाये जा रहे थे। वृहस्पति समान चतुर मंत्री देश मंडल की बात सुना रहे थे। भट्टकविलोग स्तुति कर रहे थे, उस समय एक इन्द्रजाली बाजीगर उस राजसभा में आडंबर के साथ आया, वह इन्द्रजाली इस प्रकार दीखता था कि मानो जल से भरा हुआ वर्षा काल का मेघ आ गया हो और राजा, सुमेरु के शिखर के समान ऊँचे स्थान पर ऊँचे आसन पर विराजमान था, जैसे पहाड़ पर वृक्ष होता है और उसके फल नीचे लटकते हैं, ऐसे ही राजा सिंहासन पर बैठे थे और चरण नीचे लटकते थे, उस राजा के पास इन्द्रजाली आया जैसे वृक्ष के निकट मर्कट आते हैं ऐसे आकर कहने लगा, हे राजन्! मेरा एक कौतुक देखो। हे रामजी! ऐसा कहकर उसने पिटारा खोला, उसमें से एक मोर पुच्छ को लेकर घुमाने लगा उसे नाना प्रकार की रचना भासने लगी, मानों परमात्मा की माया है, उससे राजा नाना प्रकार के रंगों को देखने लगा, जैसे इन्द्रधनुष आकाश में भासता है, ऐसे सूर्य की किरणवत् प्रकाशमान रंग भासने लगे, तब उसी क्षण में एक मंडलेश्वर दूत आया, जैसे आकाश में तारामंडल को पार करके मेघ आता है, इस प्रकार आकर कहने लगा—हे राजन्! यह महा बलवान घोड़ा मेरे राजा ने तुमको दिया है। यह कैसा घोड़ा है? जैसे उच्चैःश्रवा इन्द्र का घोड़ा समुद्र के मथने से निकला है, वैसा यह घोड़ा है, और पवन की नाईं इसका वेग है, मानों पवन की मूर्ति है, मेरे स्वामी ने कहा कि जो उत्तम पदार्थ है, वह बड़ों के देने योग्य है, इस कारण से यह घोड़ा रत्न आपको दिया है, अतः स्वीकार कीजिये। हे रामजी! जब दूत ने इस प्रकार कहा तब इन्द्रजाली बोला—हे राजन्! तुम इस घोड़े पर आरूढ़ होकर विचरो, आप शोभा पायेंगे, जैसे आकाश में सूर्य शोभा पाता है और जगत् को भी

शोभा देता है इसी प्रकार तुम्हारी भी शोभा होगी। हे राजन्! तुम भी शोभा पाओगे, घोड़ा भी शोभा पायेगा। हे रामजी! जब इस प्रकार इन्द्रजाली ने कहा तब राजा ने घोड़े की ओर देखा और देखकर मूर्छित हो गया, जैसे कागज पर मूर्ति लिखी होती है, ऐसे ही दो मुहूर्त पर्यन्त राजा मूर्छित रहा, जैसे वीतराग मुनीश्वर परमानन्द रूप आत्मपद में स्थिर होता है, राजा भी वैसा हो गया। हे रामजी! मंत्री भी डर के मारे जगाते नहीं थे और हाथ पाँव राजा के हिलते नहीं थे, सिर पर चमर हो रहा था, राजा अचल पड़े हुए थे, भट्ट कवि, जो स्तुतिकर रहे थे, वे भी चुप हो गये, जैसे वर्षाकाल का मेघ गर्जकर शान्त हो जाता है, ऐसे शान्त हो गये और मंत्री तथा अन्य सेवक लोग सब भय और संशय के समुद्र में डूब गये, उन लोगों ने जान लिया कि राजा के मन में कोई बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई है, सभा के सभी लोग आश्चर्य में पड़ गये कि यह क्या हुआ है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने
नृपमोहो नाम चतुरुत्तरशततमः सर्गः ।।१०४।।

पंचोत्तरशततमः सर्गः १०५

राजप्रबोधवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! तब राजा कुछ ही समय के अनन्तर सचेत हुआ (होश में आया) जैसे वर्षाकाल के मेघ से छूट कमल कुछ प्रफुल्लित होने लगता है, ऐसे ही राजा जगे परंतु सिंहासन पर काँपने लगे, जैसे भूकम्प में पर्वत हिलते हैं ऐसे राजा के अंग हिलने लगे, जैसे समुद्र के मन्थन से मन्दराचल काँपता था, इस प्रकार काँपता हुआ राजा गिरने लगा, तब मंत्रियों और सेवक लोगों ने पकड़कर गिरने से रोक लिया, जैसे प्रलयकाल में सुमेरु गिरने लगे और पड़ोस के पर्वत उसे पकड़

रखें और गिरने न दें, ऐसे ही राजा को गिरने न दिया, परन्तु राजा की बुद्धि व्याकुल हो गयी। राजा बोला–यह नगर किसका है, यह सभा किसकी है और राजा कौन है, यह क्या है? हे रामजी! जब इस प्रकार राजा का वचन सुना तब मंत्री लोग कुछ शान्त हुए, और उन लोगों ने प्रसन्न होकर इस प्रकार राजा से पूछा, जैसे प्रलय के क्षोभ से घबराये हुए मार्कण्डेय ऋषि को देवताओं ने पूछा था। हे राजन्! आप व्याकुल क्यों हुए हैं? आप तो अतीव निर्मल अन्तःकरण के पुरुष हैं। हे देव! जो लोग विविध प्रकार के आपात रमणीय पदार्थों और भोगों में आसक्त हैं, उनका मन उन वस्तुओं की प्राप्ति के मोह में पड़ जाता है परन्तु जो आप जैसे उदारात्मा सन्तजन हैं, उनका चित्त निर्मल होता है, वे मोह में कैसे पड़ सकते हैं। हे देव! जिनका चित्त भोग तृष्णा के बन्धन से बन्धा हुआ है, उनका मन मोह में पड़ सकता है, परन्तु निर्मल अन्तःकरण वाले महात्मा पुरूषों का चित्त कभी मोह में डूबता नहीं डूबता क्योंकि वे सर्वदा आत्मतत्व में स्थित हैं और अनन्त गुण सम्पन्न हैं, उनको शरीर के रहने या चले जाने में कुछ मोह उत्पन्न नहीं होता और जिन लोगों की आत्मतत्व में स्थिति नहीं है और जो विवेक रहित हैं, उनका चित्त देशकाल मंत्र औषध के वश से मोहान्ध होता है, परन्तु आपका चित्त तो परम विवेकी और अत्यन्त निर्मल है, क्योंकि नित्य नूतन उदारकथाएँ और ज्ञानामृत पूर्ण वाक्य सुनते हो, इस समय आप ऐसे मोह से क्यों विचलित हो रहे हैं? जैसे वायु से पर्वत विचलित हो ऐसा ही आपका विचलित होना है, यह महान् आश्चर्य है। अपनी उदारता का स्मरण करो। हे रामजी! जब मंत्रियों तथा अन्य सेवक लोगों ने बार बार कहा तब राजा सावधान हुआ और उसके मुख की निस्तेज आकृति में कुछ तेज चमकने लगा, जैसे शरत्काल की सूखी हुई मञ्जरी वसन्त ऋतु में प्रफुल्लित होती है, ऐसे ही राजा नेत्र खोलकर देखने लगा, जैसे सूर्य राहु की ओर देखता है, जैसे सर्प न्योले की ओर देखता है, ऐसे ही इन्द्रजाल की ओर देखकर बोला–हे दुष्ट इन्द्रजाल! तुमने यह क्या काम किया?

क्या राजा के साथ भी कोई ऐसा कर सकता है, जैसे जल के बिना मीन व्याकुल होती कष्ट पाती और फिर जल को प्राप्त करके ही सुख का अनुभव करती है, इसी प्रकार मेरे साथ हुआ है। महान् आश्चर्य है, भगवान् अनन्त शक्ति हैं, अनेक प्रकार के पदार्थ फुरते हैं, मैंने दो मुहूर्त में क्या क्या भ्रम देखा, मेरा तो परमार्थ में पर्याप्त अभ्यास है। यदि मैं मोहित हो गया हूँ तो अन्य प्राकृत जीवों की क्या दशा होगी। मैंने बड़ा आश्चर्य पूर्ण भ्रम देखा, वह सब मुझसे सुनो। यह इन्द्रजाली है, मानो यह शंबर दैत्य है, जिसने दो मुहूर्त में मुझे अनेक देश, काल, पदार्थ दिखाये, जैसे ब्रह्मा एक मुहूर्त में नाना प्रकार के पदार्थ रच लें, ऐसे ही एक मुहूर्त में इसने मुझको अनेक भ्रम दिखाये हैं, मैं सब तुम्हें सुनाता हूँ, मानों सारी सृष्टि इसके पिटारे में है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे राज प्रबोधवर्णनं
नाम पंचोत्तरशततमः सर्गः ॥१०५॥

षडुत्तरशततमः सर्गः १०६

चांडाली विवाह वर्णनम् ।

राजा बोला–हे साधो! इस पृथ्वी का मैं राजा हूँ, सारी पृथ्वी पर मेरी आज्ञा चलती है और मैं इन्द्रजाली की नाईं सिंहासन पर बैठता हूँ, जैसे स्वर्ण में इन्द्र के आगे देवता होते हैं वैसे मेरे आगे भृत्य मंत्री आदि हैं। ऐसी उदारता से सम्पन्न हूँ, मैंने महान् भ्रम देखा, हे साधो! जब इस इन्द्रजाली ने पिटारी से निकलकर मोर के पुच्छ को घुमाया तब वह पुच्छ मुझको सूर्य की किरणों की नाईं भासा, जैसे बड़ा मेघ गरज कर शान्त होता है, और पीछे से इन्द्र धनुष दृष्टि आता है, ऐसे विचित्ररूप पुच्छ मुझको दृष्टि आया, तब उसके अनन्तर एक दूत घोड़ा ले आया, मैं उस घोड़े पर सवार हुआ, वह घोड़ा चित्त ही से मुझे दूर से दूर ले गया, मैं यहाँ ही बैठा रहा, और घोड़ा मुझे दूर से दूर ले गया, जैसे भोगों की

वासना से मूर्ख घर बैठे ही दूर से दूर भटकते फिरे वैसे घोड़ा मुझको दूर से दूर ले गया, एक महा भयानक देश में पहुंचा, जैसे प्रलयकाल में जले हुये स्थान होते हैं, वैसे स्थान पर मुझे ले गया, मानों दूसरा आकाश है, मानों सातों समुद्र हैं, उनके समान आठवां समुद्र है, चारों दिशाओं के जो चार समुद्र वर्णन किये हैं, उनके समान मानों पांचवां समुद्र है, महा भयानक स्थानों पर ले गया, देशों को पार करके महा अटवी में से आया, जैसे आकाशवत् ज्ञानी का चित्त होता है, और जैसे अज्ञानीका चित्त कठोर होता है और शून्य होता है, ऐसे स्थान में ले गया, जहाँ मनुष्य, पशु, जीव, जन्तु, वृक्ष घास कोई दृष्टि न आवें। वहां मुझे अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ, मैं अपने आप में अति दीनता को प्राप्त हुआ, जैसे धन और बांधवों से तथा बल से रहित पुरुष कष्ट पाता है, ऐसे ही मैं कष्टवान् हुआ, तब दिन का अन्त हुआ, और वहां उजाड़ में कष्ट के साथ रात व्यतीत की, रात को भूमिशयन किया, नींद नहीं आई, कल्प के समान रात प्रतीत हुई, अति दुःखित होने पर समय बीता और सूर्योदय हुआ, तब मैं वहां से चला, आगे निकला, पक्षियों का शब्द सुना, वृक्ष दिखायी दिये, परन्तु खान पान का अभाव रहा, उन वृक्षों को देखकर प्रसन्न हुआ। एक जामन के वृक्ष का मैंने आश्रय लिया, जैसे मार्कण्डेय ऋषि ने प्रलय के समुद्र में घूमते हुए वटका आश्रय लिया था, ऐसे मैंने वृक्ष का आश्रय लिया, तब घोड़ा मुझको देखकर चल दिया, जैसे गंगा में डुबकी लगाने से पाप प्रस्थान कर जाते हैं, वैसे घोड़ा मुझको छोड़ गया, तब सूर्यदेव अस्त हुए, मैंने रात्रि वहीं व्यतीत की, भोजन का अभाव रहा, जलपान किया, स्नान न किया, मेरी दशा अति दीन हो गई, जैसे कोई बिका हुआ मनुष्य अति दीन हो जाता है, और जैसे अंधकूप में गिरा मनुष्य कष्ट पाता है, ऐसे ही कष्ट का अनुभव हुआ और रात्रि कल्प के समान बीती। दिन हुआ परन्तु कोई फूल फल पत्र जल वहाँ दृष्टिगोचर न हुआ, जैसे मूर्ख मनुष्य के शरीर में कोई गुण दृष्टिगोचर नहीं होता वैसे ही वहाँ भोजन आदि का नितान्त अभाव था, तब मैं आगे गया वहाँ

पक्षी शब्द करते थे, अर्धप्रहर दिन शेष था कि मुझे एक कन्या दिखाई दी। उसके हाथ में मिट्टी की मटकी थी जिसमें रँधे चावल और जामन के रस की टीड भरी हुई थी उसे वह ले जा रही थी, उसको देखकर मैं उसके सम्मुख आया, जैसे रात्रि के सन्मुख चन्द्रमा आता है ऐसे मैंने आकर कहा–बाले! मुझे भोजन दे मैं क्षुधा से परम आतुर हूँ, जो कोई दीन आर्त को अन्न देता है वह बड़ी सम्पत्ति का भागी होता है, इसलिए तुम मुझे भोजन दे दो, हे साधो! जब मैंने बारम्बार कहा तब उसने कहा–तू तो कोल राजा भासता है, जो नाना प्रकार के भूषण वस्त्र पहिरे हुए है, तू भोजन मांगता है परन्तु मैं न दूँगी, ऐसा कहती हुई आगे चली जाती थी और मैं भी छाया के समान उसके पीछे चला जाता था, मैं कहता जाता कि हे बाले! मुझे भोजन दे, मेरी क्षुधा शान्ति हो, वह कहती थी–हे राजन्–हम नीच लोग हैं अपने प्रयोजन के बिना किसी को नहीं देते, यदि तू मेरा भर्ता होना स्वीकार करे तब मैं दूँ क्योंकि भर्ता प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है, पिता से क्षमा करा लूंगी, हे साधो! जब चांडाली ने ऐसा कहा तब मैंने कहा मुझे भर्ता बनना स्वीकार है, भोजन दे दो, हे साधो ऐसा कौन पुरुष है जो ऐसे आपत्काल में भी वर्णाश्रम कें को दृढ़ रक्खे तब उसने मुझे आधा भोजन दे दिया, और आधा ही जम्बूफल का रस भी दे दिया, भोजन किया तो जान में जान आई, परन्तु मेरा मोह निवृत्त न हुआ, तब उसने मेरे दोनों हाथ पकड़कर मुझे आगे कर लिया और अपने पिता के पास ले गयी, जैसे पापी को यमदूत ले जाकर यमराज के सामने खड़ा कर देते हैं, ऐसे ही मुझे अपने पिता के सामने करके बोली कि पिताजी! इनको मैंने अपना भर्ता स्वीकार किया है, पिता ने कहा–बहुत अच्छा किया, ऐसा कहकर चावल और जम्बू के रस का भोजन कराया। भोजन के बाद पिता ने कहा–पुत्रि! इसको अपने घर ले जा, तब वह मुझे अपने घर ले गई, जब घर के निकट गये तब मैंने देखा कि अस्थि, मांस, रुधिर बहुत पड़ा है, कूकर शूकर गर्दभ हाथी आदि महान् जीवों की खालें पड़ी है, उनमें से निकलती हुई अपने घर ले गई, जैसे पापी को यमदूत नरक में ले जाते हैं, पास ही एक

बगीचा था, उसके कुछ आगे अपनी माता के पास मुझे ले गई, और कहा माता! यह तेरा जामाता बना है, माता ने कहा–बहुत अच्छा हुआ, तब वहाँ हमने विश्राम किया, उस चांडाली ने भोजन दिया उसका भोजन मैंने किया, मानों अनेक जन्मों के पाप आकर इकट्ठे हो गये हैं, विवाह का दिन नियत किया गया, और उस दिन विवाह हो गया, चांडाल हँसें और नृत्य करें मानों मेरे पाप नाच रहे हैं। वह चांडाली मुझको विवाह कर दी गयी, जैसे पापी को शासन देते हैं, वैसे चांडाली का वस्त्र आदि अन्य वस्तुओं सहित मुझसे विवाह कर दिया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चाण्डाली विवाह वर्णनं
नाम षडुत्तरशततमः सर्गः ।।१०६।।

सप्तोत्तरशततमः सर्गः १०७

इन्द्रजालोपाख्यानोपद्रववर्णनम् ।

राजा बोला– हे साधो! बहुत कहने से क्या है? वहाँ मैं तो महा चांडाल हो गया, सात दिन तक विवाहोत्सव चलता रहा, मैं वहाँ आठ महीने तक रहा, उसके बाद अन्य स्थानों में रहा। तब वह चांडाली गर्भवती हुई, उससे एक कन्या जन्मी, जैसे पाप करने से दुःख उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही दुःख नाम्नी वह कन्या हुई, और वह शीघ्र ही बड़ी हो गयी, जैसे मूर्ख के चित्त में चिंता बढ़ जाती है, तीसरे वर्ष उससे एक बालक ने जन्म लिया, जैसे दुर्बुद्धि से अनर्थ होता है, इसके अनन्तर फिर कन्या हुई और फिर बालक जन्मा। इसी प्रकार तीन पुत्र और तीन कन्यायें उत्पन्न हुई, तब मैं बड़े परिवार वाला चांडाल हुआ, उस चांडाली के साथ देर तक चांडालों में विचरता रहा, जैसे चिन्ताग्रस्त ब्रह्म हत्यारा नरकों में बसता है ऐसे मैं रहा, और उसके साथ मेरा बहुत स्नेह हो गया जैसे जाल में पक्षी फँस जाता है उसी प्रकार मैं भी वहाँ फँस गया, हे साधो! उनमें

मुझे बहुत कष्ट हुआ, कोई समय था कि मुझे रेशमी वस्त्र भी चुभता था, आज मैं सिर पर बोझ उठाता हूँ और नीचे से पाँव जलते हैं, सिर पर सूर्य तपता है, काँटों पर सोना पड़ता है, तन पर कोई कपड़ा नहीं पुराने फटे चीथड़े, वे भी जीव जन्तुओं के रुधिर से भरे हुए, और गंदे सिरहाने मिलते हैं, और कुक्कुट मांस आदि अशुचि पदार्थों का भोजन मिलता है, रुधिर पान करना पड़ता है, जाल आदि साधनों से पक्षियों और मछलियों को मारना अनेक प्रकार के नीच कर्म करने पड़ते हैं। जैसी कैसी वस्तु भोजन में लेनी खानी पड़ती है, चिरकाल तक हमें विचारहीन चेष्टाओं से रहना पड़ रहा है, और नीच अवस्था हो गयी कि अस्थि, मांस के निमित्त आपस में लड़ें सरदी में सरदी से और गर्मी में गर्मी से दुःख पायें, मेरा शरीर बहुत ही कृश हो गया, वृद्ध अवस्था आ गयी, श्मशानों पर हमारा बहुत समय व्यतीत होता रहा, वहाँ मांस खाते और रक्तपान करते, वहाँ जो वैताल लोग आते उनको हम इस प्रकार मारते जैसे चंडिका ने दैत्यों को मारा था, अंतड़ियों और चमड़ों को नीचे बिछाकर सोते थे, और सिर के नीचे सिरहाने भी उन्हीं चीजों के होते। बान्धवों में स्नेह बहुत बढ़ गया तृष्णा नित्य बढ़ती ही गयी, जैसे वर्षाकाल की नदी बढ़ती ही जाती है, जिन मिट्टी के पात्रों में चांडाल भोजन कर जाते, उन्हीं में हम भी भोजन करें समय ऐसा आया कि वर्षा होनी बन्द हो गयी, दुर्भिक्ष पड़ गया, सूर्य देव तपने लगे। मानों द्वादश सूर्य इकट्ठे उदय हुए हों, वनों में दावाग्नि प्रचंड हुई, वन के जीव अन्न जल के लिये कष्ट पाने लगे अपने देश को छोड़कर देशान्तर को प्रस्थान कर गये, ऐसे उपद्रव दृष्टिगोचर होने लगे कि मानों प्रलय समय के पहिले ही प्रलय होना चाहता है, भूख और प्यास से असंख्य जीव जहाँ तहाँ गिरे हुए दिखाई पड़ने लगे बहुत ही कष्ट देखकर हम लोग वहाँ से निकल पड़े, मैं तीनों लड़कों तीनों लकड़ियों तथा स्त्री को लेकर निकला, जहाँ कहीं अन्न जल का पता मिलता वहीं जाते मांस खाते जल अथवा रक्त पान करते, कभी यह भी न मिलता, तब बहुत शोकवान् होते, शरीर सूख

गया, उस समय इतना कष्ट बढ़ गया कि पुत्र पिता को और पिता पुत्र को न संभाल पाते थे, बांधवों का पारस्परिक स्नेह छूट गया, अपना आप ही दीखने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे इन्द्रजालोपाख्याने उपद्रववर्णनं
नाम सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥१०७॥

अष्टोत्तरशततमः सर्गः १०८

अकांडदुर्भिक्ष वर्णनम् ।

राजा बोले– हे सभासदो! इस प्रकार चिरकाल तक बिचरते हुये मेरा शरीर वृद्ध हो गया, बाल बर्फ के समान श्वेत हो गये जैसे सूखा पत्ता वायु की प्रेरणा से बिचरता है, ऐसे ही हम कर्मों के वश से घूमते रहे, जो कुछ अपने राजापन का अभिमान था सब भूल गया, और चांडालभाव दृढ़ हो गया, तब मैं काँपता हुआ तुम्हारे दृष्टिगोचर हुआ, अब कुछ सावधान हुआ हूँ, जैसे पंखों के टूटने से पहाड़ अचल हुये, ऐसे चांडालता हमारे अन्दर स्थिर हो गयी, और परमव्याकुलता देखी अनन्त दुःख पाये, दुर्भिक्ष ऐसा पड़ा कि कोई खान पान की वस्तु शेष न रही, केवल मृगतृष्णा की नदियाँ दृष्टिगोचर होती थीं, जब वायु उग्ररूप से जरा चलता तब तो रेत के कण उड़ते हुए मेघ की नाईं भासते ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अकांडदुर्भिक्षवर्णनं
नामाष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥१०८॥

नवोत्तरशततमः सर्गः १०९

शाम्बरिकोपाख्यानवर्णनम् ।

राजा ने कहा— सब जीव दुर्भिक्ष के कारण अति दुःख पाने लगे। कई परिवार को छोड़ भाग गये, अनेकों ने दुःखित होकर पहाड़ों पर से कूदकर प्राण दे दिये, कई अन्य जीवों को खाकर गुजारा करते थे, एक वृक्ष आया उसके नीचे विश्राम के लिये मैं बैठा, तब सबसे छोटे बालक ने मेरे पास आकर कहा पिताजी! मुझे मांस दो मैंने कहा मांस तो है नहीं, तब उसने कहा जहाँ से चाहो लाकर दो मैं भूखा हूँ, क्या खाऊँ, मेरे प्राण निकल रहे हैं, उसकी यह बात सुनकर मुझे पुत्र मोह ने व्याकुल कर दिया। छोटा पुत्र प्यारा भी अधिक होता है, इसलिये मैंने कहा! पुत्र! मेरा मांस है इसको खायेगा? तब उस दुर्बुद्धि ने कहा, दो। तब मैंने वन से लकड़िया इकट्ठी करके आग जलाई, और कहा हे पुत्र! मैं आग में प्रवेश करता हूँ जब मेरा यह मांस पक जावे तब तुम भोजन करना, हे सभासदो! इस प्रकार स्नेह के वश मैंने कहा कि किसी प्रकार यह जीते रहें, ऐसा कहकर मैंने चिता में प्रवेश किया, जब मुझे उष्णता लगी तब मैं कांपने लगा, तुम लोगों ने मुझे काँपते देखा, तब कुछ सावधान हुआ। हे साधुपुरुषो ! इस प्रकार मैंने यह चरित्र देखा, जो कि तुम्हें सुना दिया, जैसे मार्कण्डेय ने प्रलय के समय क्षोभ पाया और देवताओं को सुनाया वैसे मैंने अपना वृत्तान्त तुम्हें सुनाया है। जब इन्द्रजाली ने पूँछ को घुमाया तब उसके घुमाने के साथ ही मैं घोड़े पर सवार हो गया, इसलिये इतने समय तक भ्रम को प्रत्यक्ष देखता रहा, अतः बड़ा आश्चर्य है जो मेरे जैसे विवेकवान् राजा को इसने मोहित किया है, तो अन्य सामान्य जीवों की तो बात ही क्या है, माया महान् आश्चर्य है, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार तेजस्वी राजा ने कहा तब वह शाम्बरिक अंतर्धान हो गया, और सभा में जो मंत्री से आदि लेकर बैठे थे, सब

आश्चर्यवान् हुए और देखकर परस्पर कहने लगे बड़ा आश्चर्य है, भगवान् की माया विचित्ररूप है, यह शावरी माया नहीं, क्योंकि शाम्बरिक अपने लोभ के लिये दिखाता है, पीछे से यत्न करके धनादि पदार्थ मांगता है, और यह लिये बिना ही अन्तर्धान हो गया है, यह ईश्वर की माया है, उसी से ऐसा विवेकवान् राजा मोह को प्राप्त हुआ है, ऐसा तेजस्वी शूरवीर राजा मोहित हो गया तो सामान्य जीवों की क्या बात है। हे रामजी! इस प्रकार सब संदेहवान् होकर स्थित हुए, और मैं भी उस सभा में बैठा था, यह सब कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा है, किसी के मुख से सुनकर नहीं कहा। हे रामजी! यह जो अणुरूप मन है, वह महामोह है, अविद्या है, इसके फुरणे से अनेक प्रकार का मोह दीखता है, जब यह मन शान्त हो, तब ही कल्याण है, इसलिये मन जो कल्पना उठाता है उसको त्यागकर आत्म पद में स्थित करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे शाम्बरिकोपारख्यानसप्राप्तिवर्णनं नाम नवोत्तरशततमः सर्गः ॥१०९॥

दशोत्तरशततमः सर्गः ११०

चित्तवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! शुद्ध परमात्मा से जो आदि चित्त संवेदन फुरा है, वह कलना रूप होकर स्थित हुआ है, उससे दृश्य सत्य होकर भासता है। आत्मा के प्रमाद से मोह को प्राप्त हुआ है, वह चित्त के फुरणे से निरन्तर जगत् में मग्न हो रहा है, वह मन असत्य रूप है, और मन ने ही जगत् को विस्तारा है, उससे अनेक दुःख पाता है, जैसे बालक अपनी परछाई ही में बैताल की कल्पना करके आप ही भयवान् होता है, और वही मन जब संसार की वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित होता है, तब एक क्षण में सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य की किरणों

से अंधकार नष्ट हो जाता है, हे रामजी! ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो अभ्यास करने से प्राप्त न हो, इसलिये आत्मपद की प्राप्ति के लिये जब अभ्यास किया जाये तभी प्राप्त होता है, आत्मपद का अभ्यास करने से आत्मा निकट भासती है, और संसार दूर भासता है और जब जगत् का अभ्यास दृढ़ होता है, तब जगत् निकट भासता है, आत्मा दूर भासती है। हे रामजी! जो मूर्ख मनुष्य हैं उनको अभय पद में भय होता है, जैसे पंथी को दूर से वृक्ष में बैताल की कल्पना होती है और भय पाता है, ऐसे चित्त की वासना से जीव डरता है। हे रामजी! जो वासना सहित मलिन होता है उसमें नाना प्रकार का संसार भ्रम उठता है, जब आत्मपद में स्थित होता है, तब भ्रम मिट जाता है ओर जैसा मन में निश्चय होता है वैसा ही भासता है, जब मित्र में शत्रु बुद्धि होती है तब निश्चित रूप से वह शत्रु हो जाता है और जो मद से उन्मत्त होता है उसको सारी पृथ्वी घूमती नजर आती है और जब मन व्याकुल होता है तब चन्द्रमा भी श्याम जैसा भासता है, जब अमृत, विष की भावना होती है तब अमृत भी विष की नाईं भासता है, जितने पदार्थ देश काल क्रिया आदि भासते हैं मन से भासते हैं। हे रामजी! संसार का कारण मोह है, उस मोह के कारण जीव भटकता है, अतः ज्ञान कुठार से वासनारूप इस मलिनता को काटो, आत्मपद पाने में वासना ही आवरण है। हे रामजी! वासनारूप जाल में मनुष्य मृग फँसे हैं, संसार रूप वन में भटकते हैं, जिस पुरुष ने विचार से वासना का नाश किया है उसको परमात्मप्रकाश भासता है, जैसे बादल से रहित सूर्य प्रकाशवान् होता है। हे रामजी! तू मन को ही पुरुष जान, देह को पुरुष मत जानना क्योंकि देह जड़ है और मन जड़ और चेतन से विलक्षण है, मन से किया हुआ कार्य सफल होता है, मन से दिया और लिया हुआ ही दिया और लिया कहा जाता है जो देह से किया जाता है वह मन से ही हुआ है। हे रामजी! यह सम्पूर्ण जगत् मनरूप है, मन ही पर्वत है, मन ही आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि सब मन ही है, सूर्य आदिकों का प्रकाश मन से ही होता है और शब्द, स्पर्श,

रूप, रस, गन्ध, सब मन ही से ग्रहण होते हैं और नाना प्रकार की वासना से नाना प्रकार के रूप मन ही धरता है, जैसे नटवा नाना प्रकार के स्वांग धारण करता है ऐसे नाना प्रकार के रूप मन ही धारण करता है, मन ही लघु पदार्थ को दीर्घ करता है, सत्य को असत्य की नाईं और असत्य जगत् के पदार्थ को सत्य की नाईं करता है; मित्र को शत्रु करता है ओर शत्रु को मित्र करता है। हे रामजी! जैसी वृत्ति मन की दृढ़ होती है वही सत्य होकर भासती है। हरिश्चन्द्र को एक रात्रि में बारह वर्ष भासे और इन्द्र को एक मुहूर्त में युगों का अनुभव हुआ ओर मन ही के दृढ़ निश्चय से इन्द्र ब्राह्मण के दस ही पुत्र ब्रह्मपद को प्राप्त हुए। हे रामजी! जो सुख के साथ बैठा हो और मन में कोई चिन्ता पैदा-हो जाये तो उसके लिये वह सुख का वातावरण ही रौरव नरक बन जाता है, और जो दुःख में बैठा है और मन में शान्त है, तो दुःख भी सुख हो जाता है, इसलिये जैसा निश्चय मन में होता है, ऐसा ही हो भासता है और जिस ओर मन का निश्चय होता है, उसी तरफ मन इन्द्रियों का समूह विचरता है और इन्द्रियों का आधारभूत मन है, जब मन टूट पड़ता है तब इन्द्रिय भिन्न भिन्न हो जाते हैं, जैसे धागे के टूटने से मनके भिन्न भिन्न हो पड़ते हैं, ऐसे ही मन से रहित इन्द्रिय अर्थों (विषयों) से भिन्न (पृथक) हो जाती है, वास्तव आत्मतत्व सब में अधिष्ठानरूप से स्थित है। वह स्वच्छ, निर्विकार, सूक्ष्म, सम भाव नित्य है और सबका साक्षी है सब पदार्थों का ज्ञाता है ओर देह से भी अधिक सूक्ष्मरूप है अर्थात् अहंभाव के उत्थान से रहित चिन्मात्र है, उसमें मन के फुरणे से संसार भासता है, वास्तव अद्वैत भ्रम से रहित है, सब जगत् आत्मा का किंचनमय रचा है, सब में चेतन शक्ति व्याप्त है, वायु में स्पंदरूप वही है, पृथ्वी में कठोरता वही है, सूर्य अग्नि आदि में प्रकाश वहीं है, जल में द्रवता रूप वही है आकाश में शून्यता वही है, सब पदार्थों में चेतनशक्ति व्याप्त हो रही है, वह अनेकता वास्तव नहीं है, मन से अनेकता भासती है, शुक्ल पदार्थ को कृष्ण करता है, देश, काल, पदार्थ, क्रिया, द्रव्य को

मन ही विपर्यय लाता है, हे रामजी! जैसे निश्चय मन में दृढ़ होता है, वही सिद्ध होता है मन के बिना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। हे रामजी! जिह्वा से नाना प्रकार के भोजन करता है, परन्तु मन यदि दूसरी ओर हो तो उसका स्वाद कुछ नहीं आता, नेत्रों से चित्त सहित देखता है, तब रूपका ज्ञान होता है, इसलिये मन के बिना किसी इन्द्रिय के विषय की सिद्धि नहीं होती, अन्धकार और प्रकाश भी मन के बिना नहीं भासता, हे रामजी! मन से ही सब पदार्थ भासते हैं, जैसे नेत्र भी होता है परन्तु प्रकाश नहीं होता, तो नहीं भासता, ऐसे विद्यमान पदार्थ भी मन के बिना नहीं भासता, हे रामजी! इन्द्रियों से मन नहीं उपजा किन्तु मन से इंद्रिय उपजे हैं और जितना कुछ इन्द्रियों का विषय दृश्य जाल है, वह सब मन से उत्पन्न हुआ है। जिन पुरुषों ने मन को वश में किया है, वही महात्मा पुरुष पंडित हैं, उनको नमस्कार है। हे रामजी! नाना प्रकार के भूषण वस्त्र आदि से सुसज्जित सुन्दरी यदि प्रेमपूर्वक उस पुरुष के कण्ठ से लिपट जाय, जिसका चित्त आत्मपद में अटल अचल रूप से स्थित है, उसको वह शवगन्ध के समान भासेगी, अर्थात् ऐसे मनुष्य के अन्दर इष्टानिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होती । इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष उत्पन्न करना चञ्चल मन का काम है, मन के स्थिर हो जाने पर तो रागद्वेष का अत्यन्ताभाव हो जाता है। हे रामजी! एक वीतराग ब्राह्मण ध्यान स्थित वन में बैठा था, उसके हाथ को कोई वनचर जीव तोड़ ले गया, परन्तु उसको कुछ कष्ट न हुआ, क्योंकि मन स्थिर था, यही मन फुरणे से सुख को भी दुःखकर देता है, और स्थिर होने से दुःख को भी सुख कर देता है, हे रामजी! कथा श्रवण करने के लिये बैठे हुये मनुष्य का चित्त यदि किसी अन्य चिन्तन में लगा हो तब कथा का अर्थ समझ में नहीं आता, और अपने घर में बैठा हुआ यदि मन के संकल्प से पहाड़ के ऊपर से टूट पड़ता है तब उसको प्रत्यक्ष अनुभव होता है, अतः मन का भ्रम है, जैसा फुरणा मन में फुरता है, वही होकर भासता है। जैसे स्वप्न में एक क्षण में नदी, पहाड़, आकाश आदि दृश्य

भासने लग जाते हैं, ऐसे यह पदार्थ भासते हैं। हे रामजी! अपने अन्दर सृष्टि भी मन के भ्रम से भासती है, जैसे जल के अन्दर अनेक तरंग होते हैं, जैसे वृक्ष के अन्दर पत्र, फूल, टास होते हैं, ऐसे एक मन के अन्दर जाग्रत् स्वप्न आदि भ्रम होते हैं, जैसे सुवर्ण से भूषण अन्य नहीं होते ऐसे जाग्रत और स्वप्न अवस्था भिन्न नहीं होती, जैसे तरंग बुदबुदे जल से भिन्न नहीं, जैसे नट नाना प्रकार के स्वांगों को दिखाने के लिये अनेक रूप धारण करता है, ऐसे मन वासना से अनेक रूप धारण करता है, हे रामजी! जैसे स्पन्द में निश्चित होता है, वैसा ही अनुभव होता है, जैसे लवण राजा को भ्रम से चांडाली का अनुभव हुआ, ऐसे यह जगत् का अनुभव मनोमात्र है, चित्त के भ्रम से भासता है। हे रामजी! जैसी जैसी प्रतिमा मन में होती है, वैसा ही इसको अनुभव होता है, यह सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है, जैसे तेरी इच्छा हो वैसे कर, जैसा जैसा फुरणा मन में होता है, वैसा वैसा हो भासता है, मन के फुरणे से देवता भी दैत्य हो जाते हैं, और दैत्य भी मन के फुरणे से देवता बन जाते हैं, मनुष्य नाग हो जाते हैं, वृक्ष हो जाते हैं, जैसे लवण राजा ने अनुभव किया। हे रामजी! मन के स्पंद से मृत्यु और मन के स्पन्द से जन्म होता है। संकल्प के बल से पुरुष से स्त्री और स्त्री से पुरुष हो जाता है, पिता पुत्र हो जाता है और पुत्र पिता हो जाता है, जैसे नटवा शीघ्र ही अपने स्वाँग से अनेक रूप धारण करता है, ऐसे ही अपने संकल्प से मन भी अनेक रूपों का धारण करता है, हे रामजी! जीव निराकार है, और मन से साकार की नाईं भासता है, उस मन में जो मन है, वह दृढ़ता है, उस मूढ़ता से जो वासना हुई है, उस वासनारूप पवन से यह जीवरूप पत्र भटकता है, संकल्प के वश हुआ सुख दुःख और भय को पाता है, जैसे तिलों में तेल रहता है, ऐसे सुख दुःख मन में रहते हैं, जैसे तिलों का कोल्हू में जब पेरा जाता है तब तेल प्रकट भासता है, ऐसे मन को स्पंद के संयोग से सुख दुःख प्रकट भासते हैं, जो संकल्प देशकाल क्रिया के कारण घनत्व को प्राप्त होता है और देशकाल आदि भी मन में स्थित होते हैं, तो स्पन्दवाले मन को

नाना प्रकार का क्षोभवान् जगत् भासता है, हे रामजी! जिनका पवित्र मन आत्म पद में अटल अचलरूप से स्थित होता है, उनको बड़े से बड़े क्षोभ भी स्वरूप से विचलित नहीं कर सकता, जैसे अश्वारोही रण में जा कूदता है तो भी घोड़ा उसके वश में होता है, ऐसे पूर्वोक्त आत्माभ्यासी का मन जगत् के विस्तार में पड़कर भी स्वरूप स्थित रहता है, अर्थात् उसका मन उसके वश में ही रहता है। हे रामजी! जब मन की चपलता वैराग्य से दूर हो जाती है, तब मन वश में आ जाता है, जैसे बन्धनों से हाथी वश में आ जाता है, इस प्रकार जिस पुरुष का मन वश में है और संसार की ओर से निवृत्त होकर आत्मपद में स्थित हुआ है, वही पुरुष संसार में महापुरुष, महात्मा, ब्रह्मज्ञानी, तथा जीवन्मुक्त कहलाने ने योग्य है और जिनका मन प्रतिक्षण संसार की ओर दौड़ता है, वे नरकों के कीट हैं, जिनका चित्त चंचल नहीं है, जो नित्य ही वेदान्त शास्त्र के आश्रय से सत् असत् का विवेचन करते हुए संसार की असत्यता और दुःख परम्परा को विचार कर वैराग्यवान् हुए आत्मचिन्तन में संलग्न हैं, वे ही जगद्बन्धन से मुक्त होते हैं। जिन पुरुषों का मन भोगों की ओर प्रवृत होता है, वे ही संसार रूप विषवृक्ष के बीज हैं। हे रामजी! स्वरूप की विस्मृति के कारण जो मनुष्य भोगासक्ति में ही अपना समय बिता रहे हैं वे महान् दुःख के भागी होंगे। जैसे एक तिनका जल के चक्र में आकर घूमता ही रहता है, ऐसे ही मन भाव को प्राप्त हुआ जीव सदा भ्रान्त है,इसलिये मन को स्थिर करो जिससे शीघ्र ही आत्मशान्ति प्राप्त हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्त वर्णनं नाम दशोत्तरशततमः सर्गः ॥११०॥

एकादशोत्तरशततमः सर्गः १११

मन:शक्तिरूपप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह चित्त एक महाव्याधि है, इसकी निवृत्ति के लिये मैं तुम्हें एक परम उत्तम औषध कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। यह औषध अपना ही यत्न है, अपना ही संयम है अपना ही वैराग्य है, वासना सहित विषयों का त्याग ही इस औषध का रूप है। हे रामजी! विविध विषयों के भोग की सूक्ष्म वासना का नाम ही रस है, उसका त्याग कर देने से मन परम शान्त होगा। तब इसे आत्मदर्शन की तीव्र इच्छा होगी और आत्मसाक्षात्कार से कृतकृत्य हो जायेगा, जैसे लोहे से लोहा कटता है, ऐसे ही मन से मन का नाश करो, इस चित्त रूप वैताल को शुभगुणों के द्वारा यत्न करके दूर करो, इस अवस्तुरूप देहादिक में जो वस्तु की भावना है उसको त्यागो और वस्तुरूप आत्मतत्व में जो देहादिक की भावना है उसका त्याग करके आत्मतत्व में भावना जोड़ो। हे रामजी! जैसे चित्त में अन्य पदार्थों का चिन्तन होता है, ऐसे आत्मपद प्राप्ति की चिन्ता करो। सत्य कर्म का सात्विक बल लेकर चित्त को यत्न से चेतन संवित् की ओर लगाओ और सब वासनाओं को छोड़कर एकाग्रता को दृढ़ करो, तब परमपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी! जो पुरुष अपनी इच्छाओं को नहीं त्याग सकते, वे विषयों के कीड़े हैं, अज्ञान से अशुभ पदार्थ भी रमणीय भासते हैं, अशुभ को अशुभ और शुभ को शुभ जानना ही पुरुषार्थ है, हे रामजी! अशुभ और शुभ दोनों पहलवान् हैं, इन दोनों में जो बली होता है उसकी जय होती है, अतः शीघ्र ही पौरुष के साथ चित्त को जीतना चाहिये, जब तू अचित्त होगा तब बिना यत्न के आत्मपद की प्राप्ति होगी, जैसे बादलों के न रहने पर बिना यत्न के सूर्य दर्शन होता है। इसी प्रकार आत्मपद के आगे चित्त का स्पंद ही आवरण है, उसका जब अभाव होगा तब अयत्न ही आत्मपद भासेगा, और चित्त के वश करने का मंत्र भी अपना ही आप है, जिसमें चित्त वश करने की शक्ति नहीं है, उसको धिक्कार है। शास्त्रों ने उसको मनुष्यों में गर्दभ कहा है, अपने पुरुषार्थ से मन को वश करना अपने आपके साथ

परममित्रता करना है, मनं को वश में किये बिना अपना आप ही परमशत्रु है, क्योंकि मन को शान्त किये बिना घटी यंत्र की नाईं संसारचक्र पर चढ़ा पड़ा घूम रहा है क्षण भरके लिये शान्ति नहीं है, जिन मनुष्यों ने पौरुष करके मन को शान्त कर लिया है उनको परम लाभ हुआ है। हे रामजी! मन के मारने का मंत्र यही है कि दृश्य की ओर से निवृत्त करना और आत्म चेतन संवित् में लगाना, यही मन को जीतना है। आत्मचिंतन से चित्त को मारना। हे रामजी! इच्छा से मन पुष्ट रहता है, जब इच्छा निवृत्त होती है तब मन उपशम हो जाता है, जब मन उपशम (निर्मल) हुआ तब गुरु शास्त्रों के उपदेश और मंत्रार्थ आदि की अपेक्षा नहीं रहती। हे रामजी! जब यह पुरुष असंकल्परूप औषध से अपना चित्तरूप रोग दूर करे तब उस पद को प्राप्त होता है, जो सर्व है और सर्वगत शांतरूप है और जो देह है उसकी निश्चित रूप से मूढ़ मन ने संकल्प द्वारा कल्पना की है, इसलिये पुरुषार्थ से चित्त को अचित्त करो, तब इस बन्धन से छूटोगे, हे रामजी! शुद्ध चित्ताकाश में यत्न से चित्त को जोड़ो, जब दीर्घकाल तक मन का तीव्र संवेग आत्मा की ओर रहेगा, तब चेतन (चिच्छक्ति) चित्त का भक्षण कर लेगा, जब चित्त का चित्तत्व निवृत्त होगा, तब केवल चेतनमात्र ही शेष रहेगा। हे रामजी! जब तू जगत् की भावना से मुक्त होगा, तब तेरी बुद्धि परमार्थ तत्व में युक्त होगी, अर्थात् बोधरूप होगी, इसलिये इस चित्त का नाश करो, जब तुम परम पुरुषार्थ से चित्त को अचित्त करोगे, तब महा अद्वैतपद को प्राप्त होओगे, हे रामजी! मन को जीतने में तुम्हें और कुछ यत्न नहीं, केवल एक संवेदन के प्रवाह को उलटाना है, जो कि दृश्य की ओर से निवृत्त करके आत्मा की ओर लगाना है इससे चित्त अचित्त हो जायेगा। चित्त का क्षोभ से रहित होना परम कल्याण है, अतः क्षोभ रहित होने के यत्न करो, जिसने मन को जीता है उसके लिय त्रिलोकी का जीत लेना एक तुच्छ मात्र भी काम नहीं है, हे रामजी! संग्राम में बड़े बड़े शस्त्रों के प्रहार सहने वाले भी कई वीर हैं, अग्नि के ताप को सहनेवाले भी मौजूद हैं, शत्रुओं को निर्मूल करने वाले भी शूर हैं, परन्तु मनरूप महारिपु को मारनेवाला

वीर उन सब वीरों से बड़ा है, इसलिये इस मनरूप शत्रु को मारकर उज्जवल यश के भागी बनो, संसार में मनुष्य का सर्वोत्तम कार्य मनुष्य का है। हे रामजी! संसार में जिस मनुष्य में चित्त को उलटाने की सामर्थ्य नहीं है, वह मनुष्यों में अधम है, जिसका यह अनुभव होता है, मैं पैदा हुआ हूँ, मरूँगा, मैं जीव हूँ, यह असत्यरूप प्रमाद चित्त की चपलता से भासता है, जैसे किसी स्थान में बैठा हो, और मन के फुरणे से किसी और देश में कार्य करने लगे वह भ्रमरूप है। ऐसे ही अपना जन्ममरण भ्रम से मानता है, हे रामजी! यह पुरुष मनरूप शरीर के साथ इस लोक परलोक में भटकता है, वह मोक्ष पर्यन्त चित्त में भटकता है यदि चित्त का भी मोक्ष पर्यन्त नाश नहीं होता, तब तुझको मृत्यु का भय कैसे होता है, तेरा स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सर्व विकास से रहित है। यह लोक आदि भ्रम मन के फुरने से उपजा है, मन से इतर चित्त का रूप कुछ नहीं, और स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, सेवक आदि जो स्नेह के स्थान है, उनके क्लेश से अपने आपको क्लेश में मानता है, यह सब चित्त से ही मानता है, जब चित्त अचित्त हो जाय, तब सर्व बंधन मुक्त हो, हे रामजी! मैंने अधऊर्ध्व सब स्थान देखे हैं और अब शास्त्र भी देखे हैं, एकान्त में बैठकर उनका विचार भी किया है कि शान्ति प्राप्त होने का और कोई उपाय नहीं हैं, चित्त का उपशम करना ही उपाय है, जब तक चित्त दृश्य का चिन्तन करता है तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती, और जब चित्त उपशम को प्राप्त हो, तब इसको उस पदमें विश्राम होता है, जो नित्य है और शुद्ध है सर्वात्मा है, सबके हृदय में चेतन आकाश है, परमशान्त रूप है, उस पद में विश्राम पायेगा। हे रामजी! हृदयाकाश में जो चैतन्यचक्र है अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति है, जब मन का तीव्र संवेग उसकी ओर हो तब सब ही दुःखों का अत्यन्ताभाव होता है। उस ब्रह्माकारवृत्तिरूप चक्र से मन का मनस्त्व निर्मूल नष्ट हो जाता है। हे रामजी! जो संसार के भोग मन से रमणीय भासते हैं, वे जब रमणीय न भासें, तब जानिये कि मन के अंग कटे हैं, जितने भय यह अहं त्वं आदि शब्दार्थ भासते हैं, सब मनोमात्र

भासते हैं, जब दृढ़ विचार से इनकी अभावना हो तब मन की वासना नष्ट हो, जैसे दात्र से खेती नष्ट हो जाती है, ऐसे ही वासना नष्ट होने से परमतत्व शुद्ध भासेगा जैसे मेघ घटा के अभाव हुए शरत् काल का आकाश निर्मल भासता है ऐसे ही वासना से रहित मन शुद्ध भासेगा। हे रामजी! मन इसका परम शत्रु है, वह मन इच्छा संकल्पादिक से पुष्टि पाता है, जब इच्छादि का अभाव होगा तब स्वयंनिवृत्त हो जायगा, जैसे अग्नि में काष्ठ डालिये तो अग्निदेव अति प्रज्वलित होगें और काष्ठ के अभाव में उसका शान्त हो जाना तो स्वाभाविक है। हे रामजी! इस मन में जो संकल्प कल्पना उठती है उसका त्याग हो तो मन का अभाव होगा। जहाँ शस्त्र चलते हैं, आग लगती है वहाँ वीर पुरुष निर्भय होकर कूद पड़ते हैं और शत्रु का नाश करते हैं, प्राण जाने का भय नहीं रखते तब तुझको संकल्प त्यागने में क्या भय होता है, हे रामजी! चित्त के प्रसारण में अनर्थ होता है और चित्त के अस्फुरण से कल्याण होता है, इस बात को बालक भी जानते हैं। जैसे पिता बालक को अनुग्रह करके कहता है ऐसे मैं तुम्हें समझाता हूँ कि मनरूप शत्रु ने तुम्हें भयभीत किया है संकल्प कल्पना से जितनी भी आपत्तियाँ हैं वे सब मन से उपजती हैं, जैसे सूर्य की किरणों से मृगतृष्णा का जल दीखता है, वैसे सब आपत्तियाँ मन से दीखती हैं, जिसका मन स्थित हुआ है उसको कोई क्षोभ नहीं होता,हे रामजी! प्रलयकाल का पवन चले और सातों समुद्र मर्यादा को त्यागकर इकट्ठे हो जायँ और बारह सूर्य भी इकट्ठे होकर तपने लगें तो भी मन से रहित पुरुष को कोई विघ्न नहीं पहुँच सकता, वह सदाशान्त रूप है। हे रामजी! मनरूप बीज से संसाररूप वृक्ष उत्पन्न हुआ है, सप्तलोक उसके पुत्र हैं, और शुभ, अशुभ, सुख और दुःख उसके फल हैं, वह मन संकल्प से रहित हो तब नष्ट हो जाता है, संकल्प के बढ़ने से अनर्थ का कारण होकर बढ़ता है, इसलिये संकल्प से रहित होना चक्रवर्ती राजपद है, उस पर आरूढ़ हुआ परमपद को प्राप्त होगा, जिस पद पर स्थित हुए को चक्रवर्ती राजा तृणवत् भासता है। हे रामजी! मन के क्षीण होने से

परमानन्दरूप उत्तमपद की प्राप्ति होती है, हे रामजी! मन के वश करने का साधन सन्तोष है, तब नित्य उदय रूप निरीह, परमपावन, निर्मल, शम, अनन्त, सर्व विकार विकल्प से रहित, आत्मपद शेष रहता है वह तुमको प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्ति प्रकरणे मनः शक्तिरूपप्रतिपादनं नामैकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥१११॥

द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ११२

सुखोपदेशकथनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जहाँ जिसके मन में तीव्र संवेग है उसको मन देखता है, अज्ञान जो दृश्य का तीव्र संवेग हुआ है उससे चित्त जन्म मरणादिक विकारों को देखता है, जिसका निश्चय मन में दृढ़ होता है, उसीका अनुभव करता है, जैसा मन का स्पन्द होता है वैसा रूप हो जाता है, जैसे बर्फ का शीतल शुक्ल रूप है और काजल का कृष्ण रूप है ऐसे मन का रूप चंचल है। रामजी ने कहा–हे ब्राह्मणोत्तम! इस चंचल मन की चपलता जिस प्रकार निवृत्त हो सके वह उपाय मुझे कहिये। वसिष्ठ जी बोल–हे रामजी! तुम सत्य कहते हो। मन चंचलता से रहित कहीं नहीं दीखता, क्योंकि मन स्वभाव से चंचल है। हे रामजी! जो मन में चंचल स्पंदन शक्ति है, वह मानसिक शक्ति है, वही जगत् आडम्बर का कारण रूप है, जैसे वायु का स्पंद रूप है, ऐसे मन का चंचल रूप है, जहाँ चंचलता से रहित मन है, उसको मृत कहते हैं। हे रामजी! तप का और शास्त्र का जो सिद्धान्त है, वह यही है। मन के मृत रूप को मोक्ष कहते हैं, मन के क्षीण होने पर सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, चित्त के लय होने पर अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् परमानन्द स्वरूप आत्मपद प्राप्त होता है। हे रामजी! मन में जो चंचलता है अविचारसिद्ध है, विचार से

नष्ट हो जाती है। चित्त की चंचलतारूप जो वासनान्तर स्थित हैं जब यह नष्ट होगी तब परमसार की प्राप्ति होगी, इसलिये यत्नपूर्वक चपलतारूप अविद्या का त्याग करो, जब चपलता निवृत्त होती है तब मन शान्त हो जाता है। उस मन का रूप सुनो, हे रामजी! सत्य असत्य के मध्य में जड़ चेतन के मध्य में जो डोलायमान है, उसका नाम मन है, हे रामजी! जब यह तीव्रता से जड़ की ओर लगता है, तब आत्मा के प्रमाद से जड़रूप हो जाता है अर्थात् अनात्म से आत्म प्रतीति होने से ऐसा होता है और जब विवेक विचार में लगता है तब उस अभ्यास से जड़ता निवृत्त हो जाती है, केवल चेतन आत्मतत्व पड़ा भासता है। जैसा अभ्यास दृढ़ होता है ऐसा इसको अनुभव होता है। जैसे पदार्थ की एकता चित्त में होती है, अभ्यास के वश से तद्रूप हो जाता है, हे रामजी! जिस पद के निमित्त पुरुष मन से प्रयत्न करता है, उस पद को प्राप्त होता है और अभ्यास की तीव्रता से भावितरूप हो जाता है। इसीलिये तुम्हें कहता हूँ कि चित्त को स्थिर करो और अशोकपद का आश्रय लो, जितने भाव अभावरूप संसार के पदार्थ हैं सब मन से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मन के शान्त होने का प्रयत्न करो, मन का अभाव किये बिना और छूटने का कोई उपाय नहीं और मन का निग्रह अथवा नाश मन ही कर सकता है अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं। जैसे राजा के साथ राजा ही युद्ध करता है, अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं, ऐसे मन के साथ मन ही युद्ध कर सकता है, इसलिये तू मन से ही मन को मार जिससे शान्ति की प्राप्ति हो। हे रामजी! यह पुरुष बड़े संसार समुद्र में पड़ा है, उसमें तृष्णारूप तन्तु ने इसका आवरण किया है, उससे अधः को चला जाता है, रागद्वेषरूप घुमनघेर में कष्ट पाता है, उसमें तरने के लिये भी मनरूप ही बेड़ा है, अर्थात् शुद्ध निर्मल निगृहीत मन के द्वारा संसार समुद्र को पार किया जा सकता है, अन्यथा कष्ट पाता है। हे रामजी! अपना मन ही बंधन कारण (फाँसी) है, उसको मन ही से काटो, उसको इस प्रकार काटना चाहिये कि जो मन सदा दृश्य की ओर दौड़ता है उससे वैराग्य करे और

आत्मतत्व का अभ्यास करे तब छूट सकता है और कोई उपाय छूटने का नहीं है, जहाँ मन में जैसी वासना प्रतीत हो उसका ज्ञान द्वारा वहीं त्याग करोगे तब तुम्हारी अविद्या मिटेगी। हे रामजी! जब पहिले भोगों की वासना का त्याग करोगे तो जगत् वासना सब बिना यत्न छूट जायेगी, जब भाव अभावरूप जगत् का त्याग किया तब निर्विकल्प सुख का अनुभव होगा, जब सब दृश्यभाव पदार्थों का अभाव होता है तब भावना करनेहारा मन भी कष्ट होता है। हे रामजी! जो कुछ संवेदन फुरता है (इस संवेदन का होना जगत् है) और संवेदन होने का नाम निर्वाण है। संवेदन होने से दुःख है। इसलिये यत्न द्वारा संवेदन का अभाव करना कर्तव्य है। जब भावना की अभावना हो तब कल्याण हो, जितने भाव अभाव रूप पदार्थों का रागद्वेष उठता है वह मन के अबोध से होता है। वे पदार्थ मृग तृष्णा के जलवत् मिथ्या हैं, अतः इनकी आस्था का त्याग करो। यह सब अवस्तुरूप है और तेरा स्वरूप नित्यतृप्त अपने आप में स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सुखोपदेशकथनं
नाम द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥११२॥

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ११३

अविद्यावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह वासना भ्रान्ति से उठी है जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रांति से भासता है ऐसे ही आत्मा में जगत् भ्रांति से भासता है इसकी वासना का दूर से त्याग करो। हे रामजी! जो ज्ञानवान् हैं उनको जगत् नहीं भासता और जो अज्ञानी हैं उनको अविद्यमान भी विद्यमान भासता है और संसार नाम करके सार को अंगीकार करते हैं और ज्ञानवान् सम्यक्दर्शी को आत्मतत्व से इतर सब अवस्तुरूप भासता है, जैसे समुद्र द्रवता से तरंग बुदबुद होकर भासता है,

परंतु जल से इतर कुछ नहीं, ऐसे अपने विकल्प से भाव अभावरूप जगत् को देखता है, वस्तुतः असत्यरूप है, आत्मतत्व ही अपने आप में स्थित है, वह नित्य शुद्ध, सम, अद्वैत, तेरा अपना आप है, न तू कर्ता है न अकर्ता है और कर्ता, अकर्ता को ग्रहण और त्याग भेद को लेकर कहता है तुम दोनों विकल्पों को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ और जो कुछ क्रिया आचार को प्राप्त हो उसको करो। अन्तःकरण से अनासक्तरूप रक्खो, अर्थात् अपने आप में कर्तृत्व भोक्तत्व का आरोप मत करो। क्योंकि कर्तव्यादि तब होते हैं जब कुछ ग्रहण करना होता है कुछ त्याग करना होता है और ग्रहण त्याग तब होते हैं, जब पदार्थ सत्य भासता है, वह बात तो है नहीं क्योंकि यह सब पदार्थ मिथ्या इन्द्रजाल की मायावत् हैं। हे रामजी! मिथ्या पदार्थों में आस्था करके उसका ग्रहण त्याग करना क्या है? सब संसार का बीज अविद्या है, वह अविद्या स्वरूप के प्रमाद से अविद्यमान ही सत्य की नाईं भासती है। हे रामजी! चित्त में चेत्यमय वासना फुरती है, वे मोह का कारण है, संसाररूप वासना का चक्र है। जैसे कुम्हार चक्रपर चढ़ाकर मृत्तिका से अनेक प्रकार के घट आदिक बर्तन रचता है, ऐसे चित्त से जो चेत्यमय वासना फुरती है वह संसार के पदार्थों को उत्पन्न करती है और यह अविद्या रूप संसार देखने मात्र बड़ा सुन्दर भासता है परन्तु अन्तर से शून्य है और जैसे बाँस बड़े विस्तार को प्राप्त होते हैं और अन्तर से शून्य हैं, और जैसे केले का वृक्ष देखने को विस्तार सहित भासता है और अन्तर उसके सार कुछ नहीं, ऐसे ही संसार असाररूप है। जैसे नदी का प्रवाह चला जाता है, ऐसे संसार नाशरूप है। हे रामजी! यह अविद्या कैसी है यदि पकड़े तो हाथ में कुछ नहीं आता, कोमल भासती है और अत्यन्त क्षीणरूप है, आकार से भी प्रकट दृष्टि आती है और मृगतृष्णा के जल समान असत्यरूप है, अविद्या माया कहीं विकाररूप भासती है, कहीं स्पष्टरूप भासती है, कहीं दीर्घरूप भासती है, जिससे यह जगत् उपजता है ओर आत्मा से व्यतिरेक भाव को प्राप्त होती है और जड़ है, परंतु आत्मा की सत्ता पाकर चेतन

होती है, चेतनरूप भासती है, तो भी असत्यरूप है और एक निमेष के भूलने से बड़े भ्रम को दिखाती है, जहाँ निर्मल प्रकाशरूप आत्मा है, उसमें तम को दिखाती है, कि मैं आत्मा को नहीं जानता, जैसे उलूक को सूर्य में अन्धकार भासता है ऐसे मूर्खों को अनुभवरूप आत्मा नहीं भासता, जगत् भासता है जो स्वरूप से असत्यरूप है, जैसे मृग तृष्णा की नदी विस्तार सहित भासती है, ऐसे अविद्या नाना रंग विलास, विकाररूप, विषमरूप, सूक्ष्मरूप, मृदु अर्थात् कोमलरूप और कठिनरूप है और स्त्री की नाईं चंचल है और क्षोभरूप सर्पिणी है, वह तृष्णारूप जिह्वा के साथ मार डालती है और दीपक की शिखावत् प्रकाशवान् है, जब तक स्नेह होता है तब तक दीपकवत् प्रज्वलित होता है जब तेल पूर्ण हो तब निर्वाण हो जाता है, ऐसे जब तक भोगों में प्रीति है तब तक अविद्या बुद्धि में रहती है, जब भोगों में स्नेह क्षीण हुआ तब नष्ट हो जाती है, रागरूप अविद्या तृष्णा बिना नहीं रहती और भोगरूप प्रकाश के बिजली की नाईं चमत्कार करती है, इनके आश्रय मैं जो काम करूँ वह नहीं होता, क्षणभंगुररूप है जैसे बिजली मेघ के आश्रय है ऐसे अविद्या जड़ों मूर्खों के आश्रय रहती है और अविद्या तृष्णा को बढ़ाती है और भोग पदार्थ बड़े यत्न से प्राप्त होते हैं, प्राप्त होने पर भी अनेक अनर्थों को उत्पन्न करते हैं, जो लोग भोगों के लिये यत्न करते हैं उन्हें धिक्कार है, क्योंकि जो भोग बड़े यत्न से प्राप्त होते हैं, फिर स्थिर भी नहीं रहते और अनर्थ को उत्पन्न करते हैं, उनकी तृष्णा से भटकने वाले महामूर्ख हैं, हे रामजी! ज्यों ज्यों इसका स्मरण होता है त्यों त्यों अनर्थ होते हैं ओर ज्यों ज्यों इसका विस्मरण होता है, त्यों त्यों सुख होता है, इस कारण से अत्यन्त सुख का कारण विस्मरण है और स्मरण दुःख का निमित्त है, जैसे किसी को क्रूर स्वप्न हो तों उससे वह न केवल उसी समय भीत होगा, किन्तु जब कभी दूसरी बार भी उसका स्मरण करेगा तो फिर भी भयवान् होगा। ऐसे अविद्या जगत् के स्मरण में कष्ट होता है,

अविद्या एक मुहूर्त में त्रिलोकी को रच लेती है और एक क्षण में प्रलय कर देती है। हे रामजी! रोगी मनुष्य को और स्त्री के वियोगी मनुष्य को रात कल्प के समान बीतती है और जो बहुत सुखी होता है उसको रात क्षण के समान बीतती है, अर्थात् अविद्या के राज्य में काल विपर्यय भी हो जाता है। हे रामजी! ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो अविद्या द्वारा विपर्यय को प्राप्त न हो, इस अविद्या से शुद्ध, निर्विकार, निराकार अद्वैत तत्व में कर्तृत्व भोक्तृत्व का स्पंद फुरता है। हे रामजी! जितना भी जगज्जाल तुझको भासता है सब अविद्या से भासता है, जैसे दीपक का प्रकाश इन्द्रियों को रूप दिखाता है, ऐसे अविद्या पदार्थों को दिखाती है वह सब असत्य रूप है, जैसे नाना प्रकार की सृष्टि मनोराज्य में भासती है और जैसे स्वप्न सृष्टि भासती है, मृग तृष्णा की नदी बड़े आडम्बर सहित भासती है, ऐसे यह जगत् है, जैसे मृग तृष्णा की नदी को देखकर मूर्ख मृग जलपान के निमित्त दौड़ते हैं और कष्टवान् होते हैं, ऐसे मनुष्य दौड़ते हैं जैसे जगत् के पदार्थों को देखकर अज्ञानी दौड़कर यत्न करते हैं। ऐसे ज्ञानवान् तृष्णा नहीं करता, ज्यों ज्यों मूर्ख मृग दौड़ते हैं त्यों त्यों कष्ट पाते हैं, शान्ति को प्राप्त नहीं होते, ऐसे अज्ञानी जगत् के भोगों की तृष्णा करते हैं परंतु शान्ति को प्राप्त नहीं होते, जैसे तरंग बुदबुदे सुन्दर भासते हैं परन्तु ग्रहण करने से कुछ नहीं निकलता, ऐसे शान्ति का कारण जगत में सार पदार्थ कोई नहीं निकलता, जड़रूप अविद्या चिदाकार हुई है, वह चेतन के साथ अभिन्नरूप है परन्तु भिन्न की नाईं स्थित हुई है, जैसे बबोहा (मकड़ी) अपनी तन्तु को पसारता है और फिर अपने आप में ही लीन कर लेता है, वह तंतु बबोहे के साथ अभिन्नरूप है, परन्तु भिन्न की नाईं भासती है, हे रामजी! जैसे आग से धुआँ निकलकर बादल का आकार होता है, वह रस को खैंचता है, फिर मेघ होकर वर्षा करता है, ऐसे अविद्या आत्मा से उपजकर आत्मा की सत्ता पाकर जगत् को रचती है उस जगत् में यह जीव घटी यंत्र की नाईं भटकता है, जैसे जेवरी से बँधी हुई, टिड्डी, अधः ऊर्ध्व को भटकती है,

ऐसे ही वासनाओं के साथ बाँधा हुआ जीव भटकता है, जैसे कीचड़ से भेह उपजती है ओर उसके अन्दर छिद्र होते हैं, ऐसे ही अविद्यारूप कीचड़ से यह जगत् उपजा है और विकाररूप दृश्य इसमें छिद्र हैं, सारभूत इसमें कुछ नहीं, वही रूप है, जैसे आग, घी और लकड़ी के संयोग से बढ़ती ही जाती है, ऐसे ही अविद्या विषयों की तृष्णा से बढ़ती ही जाती है, जैसे आग, घृत और ईन्धन के न मिलने पर शान्त हो जाती है, ऐसे तृष्णा से रहित अविद्या शान्त हो जाती है, जब विवेकरूप जल से सिंचन किया जाय और तृष्णारूप घृत न पड़े तब अग्निरूप अविद्या नष्ट हो जाती है, अन्यथा नहीं होती। हे रामजी! यह अविद्या, दीपक की शिखावत् है और तृष्णारूप तेल से अधिक प्रकाशयुक्त होती है, जब तृष्णारूप तेल से रहित हो और विवेकरूप वायु चले तब अविद्या दीप शिखा निर्वाण हो जाती है और पता न चलेगा कि कहाँ गयी, अविद्या कुहिड की नाईं आवरण करती है अनुभूत होती है, परन्तु पकड़ना चाहो तो हाथ में कुछ नहीं आता, देखने से स्पष्ट दृष्टि आती है, परन्तु विचार करने पर अणुमात्र भी नहीं रहती, जैसे रात को बहुत अन्धकार होता है, परन्तु जब दीपक लेकर देखे तो अणुमात्र भी दृष्टि नहीं आता, ऐसे ही अविद्या विचार करने पर नहीं रहती, जैसे आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भ्रान्तिसे भासता है, जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र भासती है, जैसे नाव पर चढ़े हुए को किनारे के वृक्ष चलते भासते हैं, जैसे मृग तृष्णा की नदी भ्रम से भासती है, जैसे सीपी में चाँदी और जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे अविद्यारूप जगत् अज्ञानी को सत्य भासता है, हे रामजी! यह जाग्रत जगत् भी दीर्घ काल का स्वप्न है, जैसे मृग को सूर्य की किरणों में जलबुद्धि हुई है, ऐसे ही मूर्ख के चित्त में जगत् की सत्यता रहती है। हे रामजी! जिन लोगों की जगत् के पदार्थों में प्रीति अधिक रहती है उनकी प्राप्ति की तीव्र इच्छा से उनका मन खिंचता है और उन पदार्थों को प्राप्त करके वे लोग बड़े कष्ट का अनुभव करते हैं, जैसे आकाश में स्वच्छन्द उड़नेवाले पक्षी दाने के प्रेम में बन्धा हुआ उसकी प्राप्ति के

लिये आकाश से उतरकर जाल में फँसता है, अत्यन्त दुःखी होता है, एक अन्न कण की तृष्णा व्योम विहारी विहंग को खींचकर कैद में डाल देती है, ऐसे ही संसारी जीवों को भोगों की तृष्णा दुःख देती है। हे रामजी! यह भोग पहिले तो अमृत तुल्य प्रिय लगते हैं, परन्तु इनका परिणाम परमदुःख रूप है, मूर्ख (अज्ञानी) को यह अति सुन्दर भासते हैं, जैसे मूर्ख पतंगा दीपक को सुखरूप जानकर उसकी इच्छा करता है, परन्तु उसका स्पर्श करते ही समाप्त हो जाता है, ऐसे ही इन भोगों के स्पर्श से जीव नाश होते हैं, जैसे संध्याकाल में आकाश में लाली भासती है, ऐसे अविद्या से जगत् भासता है, जैसे दूर वस्तु निकट भासती है और निकट वस्तु दूर भ्रम से भासती है, जैसे स्वप्न में बीता हुआ समय बहुत होने पर भी थोड़ा भासता है, और थोड़े समय में बहुत भासता है ऐसे यह जगज्जाल सब अविद्या से भासता है, वह अविद्या आत्मज्ञान से निर्मूल होती है, इसलिये यत्न के साथ मन के प्रहार को रोको, हे रामजी! जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सब तुच्छरूप है, यह संसार मिथ्याभावना से अन्धा हुआ है, महान् आश्चर्य है। हे रामजी! अविद्या का रूप निराकार है और शून्य है। उसने सत्य होकर जगत् अंधा किया है, अर्थात् मनुष्य संसार के असत् पदार्थों को भी सत् जानकर उनकी प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं जैसे सूर्य के प्रकाश में उलूक को अंधकार भासता है, भ्रांति से सूर्य उनको नहीं भासता, ऐसे ही चिदानंद आत्मा सदा अनुभव से प्रकाशता है और अविद्या से नहीं भासता है, असत्यरूप अविद्या ने जगत् को अन्धा किया है, जो विकर्म कराती है और विचार करने पर रहती नहीं। इसलिये अपना आप नहीं भासता, महान् आश्चर्य है। जो धैर्यवान् धर्मात्माओं को भी स्वाधीन करके समर्थ नहीं होने देती, अविचार सिद्ध अविद्यारूप स्त्री ने पुरुष को अन्धा किया है। अनन्त दुःखों का विस्तार पसारती है, उत्पत्ति नाश और सुख दुःख को प्रकट करती है, आत्मा को भ्रान्ति करती है अज्ञान से अनन्त दुःख दिखाती है, काम क्रोध उपजाती है, बोध से हीन कर देती है, मन में वासना से यही भावना बढ़ती है। हे रामजी! यह अविद्या कैसी है,

निराकार रूप है और इसने जीव को बाँधा है, वह भी ऐसा कि जैसे कोई स्वप्न में अपने आपको बाँधा देखे, ऐसी अविद्या है। स्वरूप प्रमाद का नाम अविद्या है और कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे अविद्यावर्णनं
नाम त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः ।।११३।।

चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ११४

दोषपरिहारोपदेशवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! जितना जगत् दृष्टिगोचर होता है सब अविद्या से उत्पन्न हुआ है, उस अविद्या की निवृत्ति कैसे होती है, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे बर्फ की पुतली सूर्य के तेज से क्षण भर में नष्ट हो जाती है, ऐसे ही अविद्या आत्मा के प्रकाश से नष्ट हो जाती है, जब तक आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तब तक अविद्या पुरुष को भ्रम दिखाती है, और नाना प्रकार के दुःख पहुँचाती है, जब आत्मा के दर्शन की इच्छा होती है तब वही इच्छा मोह को नाश करती है, जैसे धूप से छाया क्षीण हो जाती है, ऐसे ही आत्मपद की इच्छा से अविद्या क्षीण हो जाती है और सर्वगत देव आत्मा के साक्षात्कार होने से निर्मूल नष्ट हो जाती है, जैसे द्वादश सूर्य उदय हो जायें, तो सब दिशाओं की छाया नष्ट हो जाय। हे रामजी! जो दृश्य पदार्थ की इच्छा उपजती है, इसी का नाम अविद्या है, और उस इच्छा के नाश का नाम विद्या है, और उस विद्या ही का नाम मोक्ष है, वह अविद्या का नाश संकल्पमात्र है, जितना कुछ दृश्य पदार्थ है उसकी इच्छा न उपजे और केवल चिन्मात्र में चित्त की वृत्ति स्थित हो यह अविद्यानाशक उपाय है, जब सब वासनायें निवृत्त हो जायँ तब आत्मतत्व प्रकाशित हो, जैसे रात बीत जाने पर सूर्य प्रकाशित होता है, ऐसे वासना क्षय होने पर आत्मा प्रकाशित होता है। जैसे सूर्योदय होने

पर नहीं जान पड़ता कि रात्रि किधर गयी, इसी प्रकार विवेक का उदय होने पर भी मालूम नहीं पड़ता कि अविद्या कहाँ गयी। हे रामजी! यह पुरुष संसार की दृढ़ वासना से बँधा है, जैसे संध्याकाल में मूर्ख बालक परछाईं में वेताल जानकर डरता है, ऐसे यह पुरुष अपनी वासना से भय पाता है। रामजी बोले हे भगवन्! जितना भी दृश्य है, यह अविद्या से हुआ है, और अविद्या आत्म भाव से नाश होती है, वह आत्मा कैसी है? वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! चैत्योन्मुखत्व से रहित और सर्वगत समान अनुभवरूप ऐसा जो चेतनतत्त्व अशब्दरूप है वह आत्मा परमेश्वर है, हे रामजी! ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जो जगत् है वह सब आत्मा है और अविद्या कुछ नहीं। हे रामजी! सब देहों में नित्य चेतन घन अविनाशी पुरुष स्थित है, उसमें मनोनाम्नी कल्पना आभास अन्य की नाईं होकर भासती है, और आत्मा तत्त्व से इतर कुछ नहीं, हे रामजी! कोई न जन्मता है न मरता है न कोई विकार है, केवल आत्मतत्व प्रकाश सत्ता समान है, अविनाशी चेत्य से रहित शुद्ध चिन्मात्र तत्व अपने आप में स्थित है, वह नित्य सर्वगत है शुद्ध चिन्मात्र है, निरुपद्रव है, शांतरूप सत्ता समान निर्विकार अद्वैत आत्मा है,हे रामजी! उस एक सर्वगत देव सर्वशक्ति महात्मा की जब विभाग कलना शक्ति होती है तब उसका नाम मन है जैसे समुद्र में द्रवता से तरंग होते हैं ऐसे शुद्ध चिन्मात्र में जो चेत्यता होती है उसका नाम मन होंता है, संकल्प कलना से दृश्य की नाईं भासती है, उसी संकल्प कलना का नाम अविद्या है, संकल्प ही से उपजी संकल्प ही से नाश हो जाती है, जैसे वायु से अग्नि उपजता है, और वायु से ही बुझ जाता है, ऐसे ही संकल्प से ही अविद्यारूप जगत् उत्पन्न होता है, और संकल्प से ही नष्ट हो जाता है, जब चित्त की वृत्ति दृश्य की ओर फुरती है तब अविद्या बढ़ती है, जब वृत्ति दृश्य की नष्ट हो जावे दृश्य को त्यागकर स्वरूप की ओर आये तब अविद्या का नाश होता है। हे रामजी! जब संकल्प करता है कि मैं ब्रह्म नहीं, तब मन दृढ़ बंधनमय होता है और जब यही संकल्प दृढ़ करता है कि सब ब्रह्म है तब मुक्त

होता है और जब मन अनात्म में अहं अभिमान का संकल्प दृढ़ करता है तब बंधन होता है और सर्व ब्रह्म के संकल्प से मुक्त होता है, दृश्य का संकल्प बंध है और असंकल्प मोक्ष है, आगे तेरी इच्छा है वैसा कर, जैसा बालक आकाश में स्वर्ण के कमलों की कल्पना करे कि जो सूर्यास्त प्रकाशमय और सुगंध से पूर्ण है तो वह उसकी केवल भावना मात्र है, ऐसे ही अविद्या भावनामात्र है जो अज्ञानी जानता है मैं कृश हूँ, अति दुःखी हूँ, वृद्ध हूँ, हस्तपाद इन्द्रियों वाला हूँ, ऐसे व्यवहार से बद्ध होता है और जब ऐसे जाने कि मैं दुःखी नहीं, न मेरा देह है न मैं हूँ, न मेरे बन्धन हैं, तब भावना से मुक्त होता है, न मैं मांस हूँ, न अस्थि, देह से अन्य साक्षी हूँ। ऐसे निश्चयवान् को अन्तर अविद्या से मुक्त कहते हैं, जैसे सूर्य में अंधकार नहीं, मणि के प्रकाश में अन्धकार नहीं, ऐसे आत्मा में अविद्या नहीं, जैसे पृथ्वी पर स्थित मनुष्य आकाश में नीलता की कल्पना करता है, ऐसे अज्ञानी आत्मा में अविद्या की कल्पना करता है वास्तव में कुछ नहीं। रामजी बोले– हे भगवन्! सुमेरु की छाया आकाश में पड़ती है अथवा तम की प्रभा है अथवा और कुछ है, यह आकाश में नीलता कैसे भासती है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! आकाश में नीलता है नहीं, यह शून्यतागुण है, न सुमेरु की छाया है और न तम है, आकाश पोलमात्र है। हे रामजी! यह ब्रह्माण्ड तेजोरूप है, इसका प्रकाश ही स्वरूप है, तम का स्वभाव नहीं, तम ब्रह्माण्ड के बाह्य है, अन्तर नहीं, ब्रह्माण्ड का प्रकाश स्वभाव है और यह जो नीलता भासती है वह दृढ़शून्यता से आकाश में नीलता भासती है, जिसकी दिव्य दृष्टि है, उसको नहीं भासती, पोल भासती है, जैसे मन्द दृष्टि को आकाश में नीलता भासती है, उसी प्रकार अज्ञानी को अविद्या सत्य भासती है, जैसे दिव्य दृष्टिवाले को नीलता नहीं भासती, ऐसे ज्ञानवान् को अविद्या नहीं भासती, ब्रह्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी! जहाँ तक इसके नेत्रों की दृष्टि जाती है, वहाँ तक अवकाश भासता है और जहाँ वृत्तिकुंठित होती है, वहाँ इसको नीलता भासती है। हे रामजी! जैसे जिसकी दृष्टि

क्षय होती है, वहाँ उसको नीलता भासती है, ऐसे ही जहाँ इस जीव की आत्म दृष्टि क्षय होती है वहाँ अविद्यारूप सृष्टि भासने लगती है। यह दु:खरूप है, हे रामजी! चेतन को छोड़कर जो कुछ स्मरण करता है, उसका नाम अविद्या है और जब चित्त अचल होता है, तब अविद्या नष्ट हो जाती है, असंकल्प होने से अविद्या नष्ट हो जाती है, जैसे आकाश के फूल ऐसे अविद्या है, यह भ्रमरूप जगत् मूर्खों को सत्य भासता है, वास्तव में कुछ नहीं, मन के फुरणे से रहित हो तब जगत् कुछ नहीं, भावनामात्र जगत् है उसी का नाम अविद्या है, वह मोह का कारण है, जब वही भावना उलटकर आत्मा की ओर आये तब अविद्या का नाश हो, बारबार चिंतन करने का नाम ही भावना है। जब भावना आत्मा की ओर आकृष्ट होती है तब आत्मा की प्राप्ति होती है तथा अविद्या नष्ट हो जाती है, मन के संसरण का नाम अविद्या है, जब संसरण आत्मा की ओर हुआ तब अविद्या नष्ट हुई। हे रामजी! जैसे राजा के आगे मंत्री व सेवक काम करते हैं, ऐसे ही मन के आगे इन्द्रिय काम करते हैं, हे रामजी! बाह्य-विषय पदार्थों की भावना छोड़कर तुम अन्तर आत्मा की भावना करो, तब आत्मपद को पाओगे, जिन पुरुषों नें अन्तरात्मा की भावना का यत्न किया है वे शांति को प्राप्त हुए हैं। हे रामजी! जो पदार्थ आदि में नहीं होता वह अन्त में भी नहीं रहता, इसलिये जो कुछ भासता है वह सब ब्रह्मसत्ता है, इतर कुछ नहीं, जो कुछ इतर भासता है वह मननमात्र है और तेरा स्वरूप निर्विकार आदि अन्त से रहित ब्रह्मतत्व है, तू क्यों शोक करता है, अपने पुरुषार्थ से संसार की भोगवासनाओं को चित्त से निर्मूल कर दो और आत्मपद का अभ्यास करो कि दृश्यभ्रम शान्त हो। हे, रामजी! इस सांसारिक वासना का उदय, जरामरण तथा मोह को देने वाला है। जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब इसको यह कल्पना उठती है, आशारूप अनन्त फाँसियों से बँध जाता है और वासनायें बढ़ जाती है, कहता है मेरे पुत्र हैं,

मेरा धन है, मेरे बान्धव हैं। यह मैं हूँ वह और है। इस प्रकार से इसके चित्त में वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं। हे रामजी! जिस शरीर के साथ मिलकर यह कल्पनायें करता है वह शरीर शून्यरूप है, जैसे वायु विरोले के साथ तृण उड़ते हैं, ऐसे अविद्यामयी वासनाओं से शरीर उड़ते हैं। अहं, त्वं आदि जगत् अज्ञानी को भासता है, ज्ञानवान् की भावना में यह सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है, अनेको ब्रह्माण्डों के रूप में भासने वाला यह जगत् अज्ञानमात्र से भासता है और ज्ञान से नष्ट हो जाता है, जैसे जेवरी के न जानने से सर्प भासता है और जेवरी के सम्यक् ज्ञान से नष्ट होता ऐसे आत्मा के अज्ञान् से जगत् भासता है आत्मा के सम्यक ज्ञान से जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है। इसलिये आत्मा की भावना करो। हे रामजी! जेवरी में दो विकल्प होते हैं, एक जेवरी का दूसरा सर्प का, वह दोनों विकल्प अज्ञानी को होते हैं, ज्ञानी को दो विकल्प नहीं होते हैं, जो जिज्ञासु होता है उसकी वृत्ति सत्य और असत्य में दोलायमान होती है और जो ज्ञानी है उसको विकल्प से रहित ब्रह्म तत्व ही भासता है, इसलिये तुम अज्ञानी मत होना, अपितु ज्ञानवान् होना, जितनी जगत् की वासनाएं हैं उन सबका त्याग करो, तब शान्तिमान् होओगे। हे रामजी! संसार की भोग वासना भी तब होती है, जब अनात्म में आत्माभिमान होता है, तुम देह के साथ किसका अभिमान करते हो, यह देह तो मूक जड़ है और अस्थि मांस की थैली है, ऐसा देह तुम क्यों होते हो, जब तक देह में अभिमान होता है तब तक सुख दुःख को भोगता है और इच्छा करता है जैसे काष्ठ और लाख का संयोग होता है और जैसे घट और आकाश का संयोग होता है, जैसे देह और देही का संयोग होता है, जैसे चमड़ी के अंदर आकाश होता है वह चमड़ी के नष्ट हुए आकाश का नाश नहीं होता, जैसे घट के नष्ट होने से घटाकाश नष्ट नहीं होता, ऐसे देह के नष्ट होने से आत्मा का नाश नहीं होता, हे रामजी! जैसे मृगतृष्णा की नदी भ्रांति से भासती है, ऐसे

अज्ञान से सुख दुःख की कल्पना होती है। इसलिये सुख दुःख की कल्पना त्यागकर अपनी स्वभाव सत्ता में स्थिति पाओ। महान् आश्चर्य है जो ब्रह्म तत्व सत्य स्वरूप है, उसको मनुष्य भूल गया है और असत्य अविद्या को बार बार स्मरण करता है, ऐसी अविद्या को तुम मत पाओ। हे रामजी! मन का जो मनन है, वही अबिद्या है और अनर्थ का कारण है इससे जीव अनेक भ्रमों को देखता है, मन के फुरणे से चन्द्रमा का बिंब अमृत से पूर्ण भी नरक की अग्नि के समान भासता है और तरंगों और कमलों से युक्त जल भी मरुस्थल की नदी के समान भासता है, जैसे स्वप्न में मन के फुरणे से नाना प्रकार के सुख और दुःख का अनुभव होता है। ऐसे यह सब जगत् भ्रम चित्त की वासना से भासता है, जाग्रत और स्वप्न में यह जीव विचित्र रचना को देखता है, मन के फुरणे से देखता है, जैसे स्वर्ग में बैठा होता है और स्वप्न में उसे नरक का अनुभव होता है। वैसे आनंदरूप आत्मा में प्रमाद से इसको दुःख का अनुभव होता है। हे रामजी! अज्ञानी मन के फुरणे से शून्य अणु में सम्पूर्ण जगद्भ्रम को देखता है, जैसे राजा लवण ने सिंहासन पर बैठे हुए चांडाल की अवस्था का अनुभव किया, इसलिये चित्त में संसार की वासनाओं को निकाल दो, यह संसार वासनाएँ बँधन का कारण हैं, सब भावों में वर्तो, परन्तु राग किसी में न हो, जैसे स्फुटिक मणि प्रत्येक वस्तु का प्रतिबिम्ब अपने आप में लेता है, परन्तु रंग किसी का नहीं लेता, इसी प्रकार तुम भी सब काम करो परन्तु राग द्वेष किसीमें न हो, ऐसा पुरुष निर्बन्धन है, जिसको शास्त्र का उपदेश नहीं वह निजरूप है। हे रामजी! जो कुछ प्रकृत आचार तुमको आकर प्राप्त हो, देना, लेना, बोलना, चलना आदि सब काम करो परन्तु अन्तःकरण में कर्तृत्व के अभिमान का कहीं चिह्नमात्र न हो, ऐसा ज्ञान सबसे उत्तम है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे यथाकथित दोषपरिहारोपदेशवर्णनं नाम चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ।।११४।।

पंचोदशोत्तरशततमः सर्गः ११५

सुखदुःखभोक्तव्योपदेशकथनम् ।

श्री वाल्मीकि मुनि बोले—इस प्रकार जब महर्षि वसिष्ठजी ने कहा तब कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी की ओर देखा और अन्तःकरण प्रफुल्लित हुआ, जैसे रात के मुँदे हुए कमल सूर्योदय होने पर प्रफुल्लित होते हैं, इसी प्रकार प्रफुल्लित होकर श्रीरामजी बोले—महान् आश्चर्य है जो कि पद्म की तंतु के साथ पर्वत बाँधा है। अविद्यमान अविद्या ने सर्वजगत् को वश में किया है, अविद्यमान जगत् को वज्रसारवत् दृढ़ किया है सब जगत् असत्यरूप है, सत्य की नाईं स्थित किया है। हे भगवन्! इस संसार की नटिनी जो माया है, उसका रूप क्या है और इतना पुण्यवान् लवण महाराजा ऐसी आपत्ति में क्यों पड़ा? वह इन्द्रजाल भ्रम दिखाने वाला कौन था? उसको अपना कुछ प्रयोजन न था वह इन्द्रजाल कहाँ गया? इस देह और देही का सम्बन्ध कैसे हुआ और शुभ अशुभ कर्मों के फल भोगने को कैसे समर्थ होता है? इतने प्रश्नों का उत्तर मेरे बोध के लिये कहिये। वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! यह देह, काष्ठ और मिट्टी के समान है, जैसे स्वप्न में चित्त के फुरणे से देह भासता है, ऐसे यह देह चित्त से कल्पित हुआ है और चित्त चेत्य सम्बन्ध से जीव पद को प्राप्त हुआ है, वह जीव चित्त सत्ता से शोभायमान है, उस चित्त के फुरणे से संसार उपजा है, वह चित्त वानर बालक के समान चंचल है और अपने स्पंदन रूप कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है, उस चित्त के अहंकार, मन, जीव इत्यादिक नाम हैं, वह चित्त ही अज्ञान से सुख दुःख भोगता है, शरीर नहीं भोगता और जो प्रबुद्ध चित्त है वह शान्तरूप है, जब तक मन अप्रबुद्ध है और अविद्यारूप निद्रा में सोया है, तब तक स्वप्नरूप अनेक सृष्टियों को देखता है और जब अविद्या निद्रा में जगता है तब नहीं देखता है! हे रामजी! जब तक जीव अविद्या से मलिन है, तब तक संसारभ्रम को देखता है, बोधवान् होने पर इसका

संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है, जैसे रात को कमल मुँद जाते हैं और सूर्य के उदय होने पर खिल आते हैं, ऐसे ही निद्रा से जगद्भ्रम देखता है और बोध होने पर अद्वैत रूप होता है, इसलिये अज्ञान ही दुःख का कारण है, अविवेक से पंचकोशमय देह में अभिमानी होकर जैसे कर्म करता है वैसे ही फल भोगता है, शुभकर्म का सुख और अशुभ का दुःख भोगता है, जैसे नटवा अपने विविध कर्मों से अनेक स्वाँग धारण करता है, ऐसे मन अपने फुरणे से अनेक शरीरों को धारण करता है, जितने भी इष्ट, अनिष्ट, सुख, दुःख है वह एक मन के फुरणे में हैं, शरीर में स्थित होकर मन करता है, जैसे रथ पर चढ़कर रथी चेष्टा करता है, जैसे कोटर में सर्प बैठकर चेष्टा करता है ऐसे शरीर में स्थित होकर मन चेष्टा करता है। हे रामजी! अचलरूप शरीर को मन चंचल करता है, जैसे वृक्ष को वायु चंचल करता है, जैसे जड़ शरीर को मन चंचल करता है, जितनी सुख दुःख की कलना है, मन ही करता है, मन ही भोगता है, मन ही मनुष्य है, हे रामजी! अब लवण का वृत्तान्त सुनो। लवण राजा मन के भ्रम से चांडाल हुआ, जितना कुछ मन से किया जाता है, वह सफल होता है। हे रामजी! एक समय हरिश्चन्द्र के कुल से उत्पन्न हुआ, राजा लवण, बागीचे में एकान्त में बैठा हुआ विचार कर रहा था कि मेरा पितामह बड़ा राजा हुआ है। मेरे बड़ों ने राजसूय यज्ञ किये हैं, मैं भी उनके कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं भी राजसूय यज्ञ करूँ। इस प्रकार चिन्तन करके लवण ने मानसी यज्ञ का प्रारम्भ किया। देवता, ऋषि, मुनि और अग्नि वायु आदि सबका विधिवत् पूजन किया, मंत्र और सामग्री आदि जो कुछ भी राजसूय में आवश्यक था, सब पूर्ण किया और मन ही से सबको दक्षिणा दी, यह यज्ञ सपाद वर्ष में पूर्ण हुआ, और राजा ने मन ही से उसका फल भी भोगा। इसलिये हे रामजी! मन ही से सब काम होते हैं और मन ही भोगता है, जैसा चित्त है, वैसा ही पुरुष है, पूर्ण चित्त से पूर्ण होता है और नष्ट चित्त से नष्ट होता है अर्थात् जिसका चित्त आत्मतत्व से पूर्ण है वह पूर्ण है और जो आत्मतत्व से नष्टचित्त है वह

नष्ट पुरुष है। हे रामजी! जिसको यह निश्चय है कि मैं देह हूँ वह नीच बुद्धि है, उसे अनेक दुःख होते हैं और जिसका चित्त पूर्ण विवेक में जगा है, उसमें सब दुःखों का अभाव होता है, जैसे सूर्य के उदय से कमलों का मुकुलित होना दूर हो जाता है अर्थात् विकसित होते हैं। वैसा ही विवेकरूप सूर्य के प्रकाश से रहित (अज्ञानी) पुरुष दुःख से सकुचे रहते हैं और जो विवेकरूप सूर्य के प्रकाश से प्रफुल्लित हुए हैं वे संसार संकट से मुक्त हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सुख दुःखभोक्तव्योपदेश वर्णनं
नाम पंचदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११५॥

षोड़शोत्तरशततमः सर्गः ११६

सात्विकजन्मावतारवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! राजा लवण ने मन से राजसूय यज्ञ किया और मन से ही उसका फल होगा, परन्तु ऐसा शांबरी कौन था जिसने उसको भ्रम दिखाया? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब वह शांबरी लवणराजा की सभा में आया, तब मैं वहाँ था, मैंने उसे देखा था, जब वहाँ लवण और मंत्रियों ने मुझे पूछा कि यह कौन था, तब मैंने उनको जो कुछ कहा था, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ, हे रामजी! जो पुरुष राजसूय यज्ञ करता है, उसको द्वादश वर्ष की आपत्ति प्राप्त होती है, उन द्वादश वर्षों में अनेक दुःख पाता है, तब राजा लवण को मानसिक आपत्ति प्राप्त हुई, क्योंकि उसने मानसिक यज्ञ किया था, स्वर्ग से इन्द्र ने अपना दूत भेजा, आपत्ति समापन के लिये वह शांबरी आकार होकर आया, राजा को चांडाल की आपत्ति अनुभूत करा कर फिर स्वर्ग को चला गया, हे रामजी! जो कुछ मैंने प्रत्यक्ष देखा था वह तुझे कह दिया, इसलिये मन ही करता है और मन ही भोगता है, जैसा दृढ़ संकल्प मन में फुरता है,

उसके अनुसार उसको सुख दुःख का अनुभव प्राप्त होता है। हे रामजी! जब तक चित्त फुरता है तब तक इसको आपत्ति प्राप्त होती है, जैसे ज्यों ज्यों किंकर का वृक्ष बढ़ता है त्यों त्यों कंटक बढ़ते जाते हैं, ऐसे ही मन के फुरणों से आपत्ति बढ़ती है, और जब मन स्थिर होता है तब आपत्ति मिट जाती है, इसलिये हे रामजी! इस चित्तरूप बर्फ को विवेकरूप अनल से तपा दो तब परमसार की प्राप्ति होगी, यह चित्त ही सकल जगदाडम्बर का कारण है, उसको तुम अविद्या जानो, जैसे वृक्ष, बिटप, तरु एक ही वस्तु के नाम हैं, ऐसे अविद्या, जीव, बुद्धि, अहंकार सब फुरणे के नाम हैं, इसको विवेक से लीन करो। हे रामजी! जैसा संकल्प इसमें दृढ़ होता है, ऐसा देखता है। हे रामजी! वह कौनसा कार्य है जो यत्न करने पर सिद्ध न हो, यदि निश्चय करके पीछे न हटे तो सब कुछ सिद्ध हो जाता है, जैसे बर्फ के पात्रों को जल में डालें तब जल की एकता ही हो जाती है, ऐसे ही आत्मबोध से सब पदार्थों की एकता हो जाती है, रामजी बोले—हे भगवन्! तुमने कहा कि सुख दुःख सब मन ही में स्थित हैं और मन की वृत्ति नष्ट होने से सब नष्ट हो जाते हैं, वह चपल वृत्ति कैसे नष्ट हो? वसिष्ठ जी बोले—हे रघुकुलरूप आकाश के चन्द्रमा! मैं तुझको मन के उपशम की युक्ति कहता हूँ, जैसे घोड़ा सवार के वश में होता है, ऐसे ही मन तुम्हारे वश में रहेगा। हे रामजी! सब भूत ब्रह्म ही से उत्पन्न हुए है उनकी उत्पत्ति तीन प्रकार की है, सात्विकी, राजसी और तामसी, प्रथम जो शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म में कलना उठी है, उस बाह्यमुखी फुरने का नाम मन हुआ, वह ब्रह्मारूप है, वह ब्रह्मा संकल्परूप है, उसने आगे संकल्प किया, जैसा संकल्प किया ऐसा आगे देखा, उसने इस भुवनाडम्बर की कल्पना की, उसमें जन्म मरण सुख दुःख मोहादिक संसरण की कल्पना की, इस प्रकार अपने आरंभ संयुक्त, जैसे बर्फ की कणिका का समुद्र से उपजकर सूर्य के तेज से लुप्त हो जाये, ऐसे आरम्भ से निर्वाण हो गया, फिर संकल्प के वश से उपजा, फिर लीन हो गया, इस प्रकार कई अनंत कोटि ब्रह्माण्ड ब्रह्मा से हो होकर लीन हो चुके हैं

और कई होंगे। अब जैसे ब्रह्मतत्व से उत्पन्न होते हैं और मुक्त होते हैं, वह सुनो। हे रामजी! शुद्धब्रह्मतत्व से प्रथम मन सत्ता उत्पन्न हुई है, उसने जब आकाश को चेता तब आकाश हुआ, उससे पवन हुआ, अग्नि हुआ, जल हुआ, उसकी दृढ़ता से पृथ्वी हुई, तब चित्तशक्ति दृढ़संकल्प से पांचों भूतों को प्राप्त हुई, तब अन्तःकरण जो सूक्ष्मप्रकृति है, वह पृथ्वी, तेज, वायु के साथ मिलकर धान्य में आकर प्राप्त होती है उसका पुरुष भोजन करते हैं तब वह वीर्य और रुधिर के रूप में परिणत होकर गर्भ में निवास करती है, जिससे पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष जन्ममात्र से वेद को पढ़ने लगता है, फिर गुरु से निकट जाता है, तदनन्तर क्रम से उसकी बुद्धि विवेक से चमत्कारिणी हो जाती है उसको ग्रहण और त्याग में, शुभ और अशुभ में, विचार उत्पन्न होता है, तब निर्मल अन्तःकरण सहित वह पुरुष स्थिर प्रकृति होता है, तब क्रमशः उत्पन्न होते हुए सप्त भूमिकाएँ चन्द्रमा की नाईं उसके चित्त में प्रकाशित होती हैं।

इति श्री योगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे सात्विक जन्मावतारो नाम षोडशोत्तशततमः सर्गः ॥११६॥

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ११७

अज्ञानभूमिकावर्णनम् ।

श्रीराम बोले–हे सर्व शास्त्रोंके तत्ववेत्ता भगवन्! वह सप्तभूमिकाएँ कैसी हैं उनके विषय में संक्षेप से प्रकाश डालिये। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! सप्तभूमिकाएँ अज्ञान की हैं और सप्तभूमिकाएँ ज्ञान की हैं, उनके अन्तर्गत अवस्थाएँ बहुत हैं, उनकी संख्या कुछ नहीं, ज्ञान की, अज्ञान की अनन्त हैं, परन्तु सप्त के अन्तर्गत हैं। हे रामजी! आत्मा वृक्ष है अपना पुरुषार्थ वसन्त है, उससे दो प्रकार की बेल उत्पन्न होती है, एक शुभ और दूसरी अशुभ है उस पुरुषार्थ रूपरस के बढने से फल की प्राप्ति

होती है, अब सुनो कि ज्ञान किसे कहते हैं, शुद्ध चिन्मात्र में चेत्यदृश्य के फुरणे से रहित होकर स्थित होना, इसी का नाम ज्ञान है और शुद्ध चिन्मात्र अद्वैत में अहं जो संवेदना उठती है वह स्वरूप से गिरना है, वही अज्ञान दशा है। हे रामजी! यह मैंने तुझको संक्षेप से ज्ञान और अज्ञान का लक्षण कहा है। शुद्ध चिन्मात्र में जिसकी निष्ठा है और जो सत्य स्वरूप से विचलित नहीं होता और जिसे किसी में राग द्वेष की भावना नहीं वह ज्ञानी है और ऐसे शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप से जो गिरे हैं, वह अज्ञानी हैं, जो जगत् के पदार्थों में मग्न हैं वे मूढधी हैं, इससे अधिक मोह क्या है, यही परम मोह है और स्वरूप स्थिति किसका नाम है; एक अर्थ को छोड़कर जो संवित् और अर्थ को प्राप्त होता है, जैसे जाग्रत को त्याग कर सुषुप्ति को प्राप्त होता है उसके मध्य में जो निर्मननरूप सत्ता है, उसमें स्थित होना वह स्वरूप स्थिति कहाती है, हे रामजी! भली प्रकार सर्वसंकल्प जिसके शान्त हुए हैं और जो शिला के अन्तरवत् शून्य हैं, कैसी शून्यता है कि निद्रा और जड़ता से रहित है, उस सत्ता में स्थित होना वह स्वरूप स्थिति कही गयी है, कैसा स्वरूप है? अहं, त्वं आदि फुरणे से रहित है भेद विकार से रहित है, जड़ से रहित अचेत्य चिन्मात्र है वह आत्मस्वरूप कहाता है। उस तत्व से फिर कर जो जीवों की अवस्था हुई है, उसे सुनो—हे रामजी! बीजजाग्रत, (१) जाग्रत (२) महाजाग्रत (३) जाग्रतस्वप्न (४) पंचमस्वप्न (५) स्वप्नजाग्रत (६) सुषुप्ति (७) यह सप्त प्रकार की मोह की अवस्थाएँ हैं, इनके अन्तर्गत और अनेक हैं, मुख्य यह सप्त हैं। अब इनके लक्षण सुनो, हे रामजी! प्रथम जो शुद्ध चिन्मात्र अशब्द पद तत्व से चेतना का अहं है उसका भविष्यत् जीव नाम होता है, वह आदि सब पदार्थों का बीज रूप है, उसका नाम बीज जाग्रत है, और उसके अनन्तर जो अहं और यह मेरा इत्यादिक प्रतीति दृढ़ हो गई, जन्मान्तर में भासे, उसका नाम जाग्रत है, और यह है सो मैं हूँ इत्यादि शब्दों के साथ तन्मय होना और जन्मान्तर में जो यह दृढ़ प्रतीति हो जाय, उसका नाम महाजाग्रत है, और

महाजाग्रत् में बैठे हुए मन फुरता है, मनोराज्य में यह फुरणा दृढ़ हो भासे अथवा अदृढ़ हो भासे अथवा अदृढ़ हो, वह जाग्रत् स्वप्न कहाता है और दूसरा चन्द्रमा भासे, सीपी में रूपा भासे, मृगतृष्णा का जल भासे, इत्यादि विपर्यय भासना जाग्रत स्वप्न हैं, और निद्रा आई उसमें मन फुरणे लगा, जब जगा तब कहता है मैंने थोड़े से समय में कितनी वस्तुएँ देखीं, नींद के समय जो पदार्थ देखे थे उनको जाग्रत में असत्य अनुभव करने लगा उस निद्राकाल में फुरने का नाम स्वप्न है स्वप्न आया, उसमें बहुत समय बीत गया, अपने शरीर को परम प्रफुल्लित देखा, उसमें अहं, मम, भाव दृढ़ हुआ, और अपने आप को सत्य जानकर जन्म मरण देखा, यहाँ देह रहे अथवा न रहे, इसका नाम स्वप्न जाग्रत् है, वह स्वप्न महाजाग्रत् रूप को प्राप्त होता है। यह स्वप्न जाग्रत है और इस छठी अवस्था का जहाँ अभाव हो जड़ रूप हो और भविष्यत् हो उसका मान सुषुप्ति है। उस अवस्था में घास, पत्थर, वृक्ष आदिक स्थित हैं, हे रामजी! यह अज्ञान की सात भूमिकायें कही हैं, इनके एक एक में अवस्था भेद है, हे रामजी! स्वप्न चिरकाल जाग्रत रूप हो जाता है, उसके अन्तर्गत और स्वप्न जाग्रत है, उसके अन्तर और हैं, इस प्रकार एक एक के अन्तर अनेक हैं, यह मोह की घनता है, उससे जीव भ्रान्त होते हैं जैसे जल नीचे से नीचे चला जाता है, ऐसे ही मोह के बाद मोह को पाते हैं। हे रामजी! यह तुझको अज्ञान की अवस्थाएँ कही हैं, नाना प्रकार के मोह भ्रम विकार हैं, विचार कर उनसे मुक्ति प्राप्त करो, जब तुम्हें आत्मविचार से निर्मल बोध की प्राप्ति होगी तब इस भ्रम को पार करोगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे अज्ञान भूमिकावर्णनं
नाम सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥११७॥

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥११८॥

ज्ञानभूमिकोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! अब तुम ज्ञान की सप्तभूमिका सुनो, चित्त की अवस्था का नाम भूमिका है, उस ज्ञान की भूमिकाओं के जानने से पुनः मोहरूप कीचड़ में नही फँसता। हे रामजी! भूमिकाओं के विषय में अनेक मत हैं, मेरा मत पूछो तो यह है कि इन भूमिकाओं से निर्मल बोध की प्राप्ति होती है, स्वरूप में जगने का नाम ज्ञान है, उस ज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं और जो मुक्त इन सप्त भूमिकाओं से परे है वह विदेह मुक्त है, अब भूमिकाओं के नाम सुनिये। प्रथम–शुभेच्छा, दूसरी–विचारणा, तीसरी–तनुमानसा, चतुर्थी–सत्वापत्ति, पंचमी–असंसक्ति, षष्ठी–पदार्थाभाविनी, सप्तमी–तुरीया। इसके सार को प्राप्त हुआ फिर शोक नहीं करता, अब इनका अर्थ श्रवण करो–हे रामजी! जिस मानव के हृदय में यह विचार उत्पन्न हो कि मैं महामूढ़ हूँ, मेरी बुद्धि सत्य का परित्याग करके संसार में लगी है, अतः सत्शास्त्रों का विचार, सत्संग और सत्यमार्ग की प्राप्ति के लिये वैराग्य पूर्वक निरन्तर अभ्यास तथा सद्विवेक द्वारा सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना मेरे लिये परमावश्यक है, इसका नाम शुभेच्छा है, इसी को क्रियात्मकरूप देने का नाम विचारना है, अर्थात् सत् के ग्रहण और असत् कें त्याग के लिये, विरक्त हो विचार में मग्न हुआ। जब विचार और शुभेच्छा से तत्वचिंतन का अभ्यास करता है और विषयों से वैराग्य हो जाता है तो उसका मन सूक्ष्म हो जाता है। इसी तीसरी भूमिका का नाम तनुमानसा है। तीनों भूमिकाओं के अभ्यास, विषयविरक्ति और श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा सत्यरूप आत्मा में स्थित होने का नाम सत्वापत्ति है, इसमें सत्यात्मा का अभ्यास होता है, यह चार भूमिकाएँ हैं, इनके फल में आसक्त होने का नाम असंसक्ति है, दृश्य प्रपंच की

विस्मृति, आत्माराम होना, अन्तर बाहिर से नाना प्रकार के पदार्थों का तुच्छ भासना, इसका नाम पदार्थभाविनी है, यह छठी भूमिका है। हे रामजी! छठी भूमिका के दीर्घ अभ्यास से जब भेद कलना का अभाव हो जाता है और छै भूमिकाएँ जहाँ एकता को प्राप्त हो जाती हैं उसका नाम तुरीया है, यह जीवन्मुक्त की अवस्था है, जीवन्मुक्त तुरीयापद में स्थित है, तीन भूमिकाएँ जगत् की जाग्रत अवस्था में हैं और चौथी भूमिका तत्वज्ञानी की है, पाँचवीं, छठीं और सातवीं जीवन्मुक्त की अवस्थाएँ हैं और तुरीयातीत पद में विदेहमुक्त होता है। हे रामजी! जो पुरुष महाभाग्यवान् हैं वह सप्त भूमिकाओं में स्थित होता है, वह आत्माराम महापुरुष परमपद को प्राप्त होता है। हे रामजी! जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे सुख दुःख के भेद में नहीं पड़ते, शान्तरूप होकर अपना प्रकृत उपचार करते हैं, अथवा नहीं करते तो भी उनको कोई बन्धन नहीं, उनको क्रिया का बोध कुछ नहीं रहता, जैसे सुषुप्त पुरुष के पास जाकर कोई क्रिया करे तो उसका उसको कुछ बोध नहीं होता, ऐसे ही जीवन्मुक्त को क्रिया बोध नहीं रहता। हे रामजी! जैसे सुषुप्त पुरुष के इन्द्रिय विषय ग्रहण नहीं करते, यही अवस्था जीवन्मुक्त की होती है, सातों भूमिकाएँ, ज्ञानवान् का विषय हैं, पशु वृक्ष और म्लेच्छवत् जो मूर्ख तथा पापाचारी हैं उनको इन भूमिकाओं का अधिकार नहीं, निर्मल मनवाले का ही इनमें अधिकार है। हे रामजी! आत्मज्ञान के बल से जिनके हृदय की ग्रन्थी टूट गयी है उनको संसार मृगतृष्णा के जलवत् भासता मिथ्या भासता है, वे मुक्तरूप हैं और जो संसार से विरक्त होकर इन भूमिकाओं में आये हैं और अभी मोहसागर को पार नहीं कर सके, अर्थात् पूर्णपद को प्राप्त नहीं हुए और सप्तभूमिकाओं में से किसी भूमिका में लगे हैं, वे भी आत्मपद की प्राप्ति से कृतकृत्य होंगे। हे रामजी! जो मानव इन सात भूमिकाओं में स्थित होकर यत्न कर रहे हैं, अर्थात् कोई पहली, कोई दूसरी और कोई तीसरी, कोई चौथी, कोई पांचवीं और कोई छठीं को प्राप्त हुआ है और तदनुसार–कोई घर में है, कोई वन में है, कोई तपस्वी

है, कोई अतीत है, वे सभी रत्नपुरुष धन्य हैं, वन्दनीय हैं, परम शूरवीर हैं, संसार के बड़े से बड़े बलवान् वीर योधा भी उनके आगे तुच्छ हैं, क्योंकि सांसारिक व्यवहार से संबन्ध रखनेवाले मनुष्यरूप शत्रुओं को जीत लेना सुगम है, परमार्थ जगत् के इस मानसिक युद्ध में इन इन्द्रियरूप महाशत्रुओं पर विजय पाना बिरले ही वीरों का काम है, जिन पुरुषों ने इन शत्रुओं को जीता है, वे परमयोधा है। एक भूमिका को जीतनेवाला भी वन्दनीय है, उसको चक्रवर्ती राजा जानना चाहिये। विशाल राज्य और ईश्वर विभूति यह सब उनको तृणवत् है, वे परमपद को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे ज्ञानभूमिकोपदेशवर्णनं नामाष्टदशोत्तरशततमः ॥११८॥

एकोनविंशोत्तरशततमः सर्गः ११९

युक्तोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जैसे सुवर्ण में भूषण फुरे और वह अपना सुवर्णभाव भूल जाय, कहे कि मैं भूषण हूँ, ऐसे ही चित्त संवेदन जिस स्वरूप से भरा है उससे भूलकर अहंवेदना हुई है, इसलिये अहंकाररूप धारण किया है कि मैं यह कुछ हूँ। रामजी बोले– हे भगवन्! सुवर्ण में जो भूषण होते हैं वह मैं जानता हूँ, परन्तु आत्मा में अहंभाव कैसे होता है? यह कहिये। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! अहंकार आदिकों का जो होना है, वह असत्यरूप आगमापायी है, उसका कुछ भिन्न रूप नहीं, यह आत्मा का चमत्कार है, वास्तव से द्वैत कुछ नहीं, जैसे समुद्र में अधःऊर्ध्व जल ही जल है, और कुछ नहीं, ऐसे परमतत्व में और विभाग कल्पना कुछ नहीं, शांतरूप है, जैसे समुद्र में द्रवता से तरंग आदिक भासते हैं, वैसे

संवेदन करके जगदभ्रम भासता है, आत्मा में नाना प्रकार का भ्रम भासता है, परन्तु और कुछ नहीं, जैसे सुवर्ण में भूषण भासते हैं, जैसे जल में द्रवता और वायु में स्पंद भासता है, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, फुरणे से रहित शान्तरूप परमपद भासता है, हे रामजी! जैसे मृत्तिका की सेना होती है, उसमें हाथी, घोड़ा, पशु जो भी होते हैं सब मृत्तिकारूप हैं, इतर कुछ नहीं ऐसे सब जगत् आत्मरूप हैं, भ्रम से नानात्व भासता है, आत्मा ही पूर्णरूप है, जैसे आकाश में आकाश स्थित है वैसे ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है सत्य में सत्य स्थित है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब होता है, ऐसे ही आत्मा में जगत् है, जैसे स्वप्न में दूर पदार्थ अदूर भासते हैं, और अदूर दूर भासते हैं, वह भ्रममात्र है, ऐसे ही आत्मविपर्यय दृष्टि से जगत् भासता है, हे रामजी! असत्य जगत् भ्रम करके सत्य भासता है, वस्तुतः असत्यरूप है जैसे दर्पण में नगर का प्रतिबिंब हो, जैसे मृगतृष्णा का जल होता है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे यह जगत् आत्मा में भासता है, जैसे इन्द्रजाल के योग से आकाश में नगर भासे, ऐसे यह असत्यरूप जगत् अज्ञान से सत्य भासता है, जब तक आत्मविचाररूप अनल से अविद्यारूप वल्ली (बेल) को न जलायेगा, तब तक जगतरूप वीरुत निवृत्त न होगी। अनेक प्रकार के सुख दुःख दिखायेगी, जब विचारपूर्वक मूलसहित इसको जला देगा तब शान्त पद प्राप्त करोगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे युक्तोपदेशो
नामैकोनविंशोत्तर शततमः सर्गः ॥११९॥

विंशोत्तरशततमः सर्गः १२०

चांडालीशोकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जैसे सुवर्ण में भूषण होते हैं वे मिथ्यारूप हैं, ऐसे आत्मा में अहं त्वं आदिक अविद्यारूप हैं, जो लवण की कथा तुमने सुनी है, उसको अब फिर सुनो– हे रामजी! वह लवण राजा दूसरे दिन विचार करने लगा कि यह जो मुझे जो भ्रम भासा है परन्तु सत्यरूप होकर देखा है। देशनगर मनुष्य आदिक पदार्थ मुझको प्रत्यक्ष दृष्टि आये हैं फिर जाकर देखूँ कि कैसी बात है, ऐसा विचारकर दिग्विजय मानकर मंत्री और सेनाको साथ लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला, देश को पार करता हुआ विंध्याचल पर जा पहुँचा। जैसे आकाश वीथियों में सूर्य घूमता है ऐसे राजा घूमता हुआ देखने लगा, जो वृत्तान्त देश और ग्राम पदार्थ भ्रम में देखे उन्हें प्रत्यक्ष देखने लगा तब विस्मित हुआ। हे देव! यह क्या है, जो कुछ मैंने भ्रम में देखा था, उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, महान् आश्चर्य है, ऐसा विचारकर आगे गया तो क्या देखा कि आग से वृक्ष जल रहे हैं और दुर्भिक्ष पड़ा है। जो सम्बन्धी देखे थे, उनकी चेष्टा के स्थान देखे और उनकी कथा सुनी, इस प्रकार देखता आगे गया, तो क्या देखा कि चांडाल शरीर की सास बैठी रो रही थी हे देव! मेरा पुत्र कहाँ गया? तुम कहाँ गये? मेरी कन्या जीर्ण देह हो गयी चन्द्रमा के समान मुखवाला राजकुमार था और मृग नयनी मेरी बेटी थी, दुहितायें, दौहित्रियाँ थीं, दुर्भिक्ष से सबका नाश हुआ, उनके ये चेष्टा के स्थान हैं, रतिकाल की माला कंठ में डालते थे और चेष्टा करते थे, जीवों के मांस खाते थे, और रुधिर पान करते थे, वे कहाँ गये? इस प्रकार पुत्र, पुत्री, भर्ता और जामाता का नाम लेकर रोदन करती थी, और लोग भी पास आकर बैठे थे, वे भी रोते थे तब राजा ने उसे रोने से चुप कराकर पूछा, कि तू किसलिये रोती है, किससे तेरा वियोग हुआ है?

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चांडालीशोकवर्णनं नामविंशोत्तरशततमः सर्गः ॥१२०॥

एकाविंशोत्तरशततमः सर्गः १२१

चित्ताभावप्रतिपादनम् ।

चांडाली बोली– हे राजन्! एक समय वर्षा का अभाव हुआ था, अकाल पड़ा जीवों को बहुत दुःख पहुँचा, मेरे सब पुत्र, दौहित्र और दुहितायें, जमाता तथा जो अन्य बान्धव थे, सब चले गये और कष्ट पाकर मर गये, उनके वियोग से दुःखिता होकर रोती हूँ उनके बिना मैं शून्य हो गयी हूँ। जैसे बिछुरी हुई कुन्द कुम्हलाती है ऐसे मैं कुम्हलाती हूँ, हे रामजी! जब इस प्रकार चांडाली ने कहा तब राजा विस्मित हुआ, और मंत्री के मुख की ओर देखने लगा, जैसे कागज पर पुतली होती है इस प्रकार राजा आश्चर्यवान् होकर विचार में मग्न हो गया, उस चांडाली से बार बार पूछता और वह भी बार बार सुनाती तथा राजा भी पुनः पुनः आश्चर्यवान् होता था, तब उसको यथोचित धन देकर देर तक वहाँ रहा और फिर अपने राजमन्दिर को आ गया, जब प्रातःकाल हुआ, तब सभा में राजा मुझसे पूछने लगा। हे मुनीश्वर! यह स्वप्न मुझको प्रत्यक्ष कैसे हुआ, उसको देखकर मैं अतीव आश्यर्चवान् हुआ हूँ, जब इस प्रकार राजा ने कहा तब मैंने प्रश्नानुसार उसको युक्ति से उत्तर दिया, उसके चित्त का संशय दूर किया, जैसे मेघ को वायु दूर करे, वह तुमसे कहता हूँ, हे रामजी! अविद्या ऐसी है जो असत्य को शीघ्र ही सत्य दिखाती है और सत्य को असत्य कर दिखाती है, बड़े भ्रम को दिखाने वाली है, रामजी बोले– हे भगवन्! स्वप्न सत्य कैसे हुआ, यह मेरे चित्त में भारी संशय उत्पन्न हुआ है, इसको दूर कीजिये, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इसमें क्या आश्चर्य है? अविद्या में सब कुछ बनता है, स्वप्न में तुम प्रत्यक्ष देखो कि घट से पट हो जाता है, स्वप्न में मृत्यु और मूर्छा के अनंतर बुद्धिविपर्यय हो जाता है, जिनका चित्त वासना से वेष्टित है, उनको जैसा संवेदन फुरता है, ऐसे ही भासता है, हे रामजी! जिनका चित्त स्वरूप से गिरा है, उनको अविद्या अनेक भ्रम दिखाती है, हे रामजीव जैसे मद्यपान करने वाला और विष पीने वाला भ्रम को प्राप्त होता है, ऐसे ही अविद्या से जीव भ्रान्त होता है। एक और राजा था, उसको यह

अवस्था प्राप्त हुई थी, वह सब लक्षण राजा के चित्त में फुर आयी, जैसे यह अवस्था प्राप्त हुई थी, वह सब लवण राजा के चित्त में फुर आयी, जैसे उसकी चेष्टा हुई थी तदनुसार इसको अनुभूत हुई, तब इसे मालूम हुआ कि यह काम मैंने किया है, जैसे अभोक्तापुरुष अपने आपको स्वप्न में भोक्ता देखता है, कि मैं राजा हूँ, और तृप्त हूँ, और भूखा सोया हूँ, स्वप्न में जैसे देशान्तर को जाय, तब अचल रूप ही भासता है, ऐसे लवण को स्फुरण हुआ, वह प्रतिमा भास पात्र है, सभा में बैठे चांडाली की चेष्टा लवण को स्फुरित हुई, अथवा विंध्याचल के चांडालों को लवण की प्रतिमा फुरी, लवण के चित्त का भ्रम उनको दृढ़ हो गया है जैसे एक ही भ्रम अनेक को फुरता है, स्वप्न सदृश होता है, एक ही जेवरी में अनेकों को सर्प भासता है, उसी प्रकार अनेक जीवों को एक भ्रम ही अनेक हो भासता है, हे रामजी! जितने भी पदार्थ भासते हैं, उनका सत्तारूप संवेदन है, जैसे उसमें संकल्प दृढ़ होता है ऐसा होकर भातसा है जो पदार्थ सत्यरूप हो भासता है, वह सत्य होता हैं और असत्य रूप हो भासता है, वह असत्य हो जाता है, सब ही पदार्थ संवेदन रूप हैं, तीनों काल संवेदन से उपजते हैं। इनका बीज संवेदन है, सब पदार्थ अविद्या रूप हैं और जैसे रेत में तेल है ऐसे आत्मा में अविद्या है, अर्थात् आत्मा में अविद्या का अत्यन्ताभाव है, आत्मा को अविद्या का सम्बन्ध कदाचित् नहीं, क्योंकि जो सम्बन्ध उसका होता है वह समरूप होता है, जैसे काष्ठ और लाख का सम्बन्ध कैसे हो, जैसे प्रकाश और तम का सम्बन्ध नहीं होता चेतन के साथ चेतन का सम्बन्ध होता है, वह सजातीय रूप का सम्बन्ध होता है, विजातीय का सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण से अविद्यारूप देह का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं, जो जड़ के साथ आत्मा का सम्बन्ध हो तो आत्मा जड़ हो, वह आत्मा तो सदा चेतन रूप है सर्वदा अनुभव से प्रकाशित होता है, उसको जड़ कैसे कहें? जैसे—स्वाद को जिह्वा ग्रहण करती है और अंग नहीं, ऐसे चेतन के साथ चेतन की, जड़ के साथ जड़ की, जल के साथ जल की, माटी के साथ माटी की, अग्नि के साथ अग्नि की, प्रकाश के साथ प्रकाश की, तम के साथ तम की,

एकता होती है, इसी प्रकार सब पदार्थों की सजातीय के साथ एकता होती है। विजातीय के साथ नहीं होती, अतः सब चैतन्यप्रकाश हैं पाषाणादिक दृश्य वर्ग कोई नहीं, भ्रम से इनके आकार भानरूप भासते हैं, जैसे स्वर्णबुद्धि को त्यागकर नानाप्रकार के भूषण भासते हैं, ऐसे जब अहं वेदना आत्मा में स्फुरित होती है, तब अनेकरूप होकर विश्व भासता है, ऐसे ही सुवर्ण की ओर देखिये तब भूषण स्वर्णरूप भासते हैं, जैसे ब्रह्मसत्ता की ओर देखिये तब सर्वजगत् ब्रह्मरूप भासता है, जैसे माटी की सेना बालक को अनेकरूप भासती है, और बुद्धिमान् को एक मृत्तिका रूप है, ऐसे ही अज्ञानी को यह जगत् नानारूप भासता है, ज्ञानवान् को एक ब्रह्मसत्ता ही भासती है। वह कौन ब्रह्म है जो द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, जिसमें फुरते हैं। इनके मध्य और इनसे रहित जो सत्ता है वह ब्रह्मसत्ता है। हे रामजी! जो सत्ता अजड़रूप है और शिला के कोशवत् निर्विकल्प है, तन्मयरूप है, उसमें जब स्थित हो, जब समाधि में रहे अथवा उत्पत्ति न होगी तब तुझको सब वहीरूप भासेगा। हे रामजी! जो पुरुष मनोरहित सत्ता में स्थित हुआ है वह शरीर के इष्ट में हर्षवान् नहीं होता और अनिष्ट में शोकवान् नहीं होता, निर्मनस्क होकर स्थित होता है, जैसे भविष्यत नगर में जीव बसते हैं, और अनेक चिंताओं से युक्त भासते हैं वे सब उसके चित्त में स्थित होते हैं, जैसे पुरुष देशान्तर को जाते हैं, उनको मार्ग में अनेक इष्ट अनिष्ट पदार्थ भासते हैं परन्तु उसकी वृत्ति अपने गन्तव्य स्थान पर ही लगी रहती है, मार्ग के पदार्थों में उसकों रागद्वेष नहीं होता, ऐसे ही तुम भी हो जाओ। जैसे पत्थर से जल नहीं निकलता, जल से अग्नि नहीं निकलती, ऐसे आत्मा में चित्त नहीं, जैसे भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे ही आत्मा में चित्त भासता है। वास्तव में कुछ नहीं। वह सत्ता नित्य शुद्ध परमानन्दरूप अपने आप में स्थित अनुभवरूप है, उसके विस्मरण से दुःख प्राप्त होता है, उसकी विस्मृति महा मूर्खता है। हे रामचन्द्र! तुम सावधान हो जाओ। यह जो स्फुरण होता है, इसी का नाम चित्त है और चित्त कोई नहीं। इस

चित्त का त्याग करो तुम स्वरूपपस्थ हो, असत्यरूप चित्त ही संसार है, जो उसको असत्य जानकर उसका त्याग नहीं करता वह आकाश के वन में विचरता है, उसको धिक्कार है, और जिनका मननभाव नष्ट हुआ है, वे महापुरुष संसार के पार को प्राप्त हुए हैं, उनका परम पद निश्चितरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उत्पत्तिप्रकरणे चित्ताभाव प्रतिपादनं
नामैकविंशोत्तर शततमः सर्गः ।।१२१।।

द्वाविंशोत्तरशततमः सर्गः १२२

परमार्थनिरूपणम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह पुरुष क्रमशः जिस प्रकार उत्तरोत्तर भूमिकाओं को क्रम से पाता है, वह क्रम सुनो। परमार्थ के काम में प्रायः वही लोग प्रविष्ट होते हैं जिनके पूर्व संस्कार कुछ न कुछ सात्विक हों, ऐसे मनुष्यों के बचपन के स्वभाव को देखकर मनोवैज्ञानिक सन्तजन अथवा हमारे घर के ही अनुभवी एवं धर्मप्रेमी वृद्ध पितामहादि ही उनके उज्जवल भविष्य पर कुछ कह दिया करते हैं कि अमुक बालक ऐसा होगा, इत्यादि कहने का तात्पर्य यही है कि जन्म से ही कई पुरुषों को परमार्थ में रुचि और तत् सम्बन्धी बातों का किंचित् किंचित् ज्ञान स्वतः ही होता है, ऐसे पुरुष को यदि प्रसंगवश सत्संग का मेल मिल जाय तो वह उससे अपेक्षा अधिक लाभ उठाता है, अर्थात् जब सत्पुरुषों का संग और सत् शास्त्रों का विचार करने लगता है, तब, इसको ग्रहण और त्याग की बुद्धि उपजती है कि यह कर्तव्य है ग्राह्य है और यह अकर्तव्य है त्याज्य है, यह विचार उत्पन्न होता है, इसका नाम शुभेच्छा है, यह शुभ है, यह अशुभ है, शुभ को ग्रहण करना, अशुभ का त्याग करना, यथा शास्त्र विचरना इसका नाम विचार है, जब सम्यक् विचार दृढ होता है, तब मिथ्यारूप संसार की वासना त्यागता है, और सत्य में स्थित होता है,

इसका नाम तनुमानसा है जब संसार की वासना तीक्ष्ण होती है, और सत्य का दृढ अभ्यास होता है, तब वैराग्य और अभ्यास से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है, आत्मा का साक्षात्कार होता है, उसका नाम सत्वापत्ति है, मन से वासना नष्ट हो जाती है, और इससे सिद्धि आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनकी प्राप्ति में भी संसक्ति नहीं होती, स्वरूप में सदा सावधान रहता है, सिद्धि आदि प्रारब्ध से प्राप्त होते हैं, उनको स्वप्नरूप जानता है, और कर्मफल से बद्ध नहीं होता, इसका नाम असंसक्ति है, इसके अनन्तर मन की तनुता हो गयी, और स्वरूप की ओर चित्त का परिणाम होता है, तब दृढ़ परिणाम से व्यवहार का भी अभाव हो जाता है, पल पल में कर्म करता है अथवा प्रारब्ध वेग से करता है, परन्तु उसके चित्त में कोई स्फुरण नहीं होता, मन क्षीण है, वह करता हुआ भी अकर्ता है, देखता हुआ भी नहीं देखता, अर्धसुषुप्तवत् होता है, उसको कर्तव्य की भावना नहीं फुरती, मन नहीं फुरता, इसका नाम पदार्थाभाविनी, योगभूमिका है, इसमें चित्तलीन होता है, इस अवस्था में जो अभ्यास होता है वह स्वाभाविक होता है, जब कुछ समय इस अभ्यास में बीतता है और अन्दर से पदार्थों का अभाव दृढ़ होता हैं, तब तुरीयारूप होता है, तब जीवन्मुक्त कहाता है, इष्ट को पाकर हर्षवान् नहीं होता और उसके अभाव में शोकवान् नहीं होता। केवल विगतसंदेह होता है, वह उत्तमपद को प्राप्त हुआ है, हे रामजी! तुम भी ज्ञातज्ञेय हुए हो, जो कुछ जानने योग्य है, तुमने यथावत् जान लिया है, तुम्हारी सब पदार्थों के प्रति भावना तनुता को प्राप्त हुई है, अब शरीर तुम्हारे साथ रहे न रहे, तुम हर्ष शोक से रहित निरामय आत्मरूप अपने आपको अनुभव कर रहे हो, तुम स्वच्छ आत्मतत्त्व में स्थित हो, सर्वगत सदा उद्योत रूप हो, जन्म मरण जरा सुखदुःख से रहित तुम आत्मरूप हो, बोधरूप हो, शोक रहित हो, अद्वैतरूप हो, अपने आप में स्थित हो, देह उदय भी होता है और लीन भी हो जाता है, देशकाल वस्तु के भेद से रहित जो आत्मा है वह उदय और अस्त कैसे हो? हे रामजी! तुम अविनाशी हो, अपने आपको नाशवान् जानकर शोक क्यों करते हो, तुम अमर हो स्वच्छरूप हो जैसे घट के फूटने से घटाकाश नाश नहीं होता ऐसे शरीर के नाश हुए

तुम्हारा नाश नहीं होता, जैसे सूर्य की किरणों से जाने से मृगतृष्णा के जल का नाश हो जाता है, किरणों का नाश नहीं होता, ऐसे ही हे राम! जितने भी जगत् के पदार्थ भासते हैं, वे सब असत्यरूप हैं, उनकी वासना भ्रांति करके होती है, तुम तो अद्वैतरूप हो, यह सब तुम्हारी छायामात्र है, तुम किसकी बांछा करते हो, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह जो पाँचों विषयरूप दृश्य हैं, किंचिन्मात्र भी तुमसे भिन्न नहीं, सब तुम्हारा स्वरूप है, तुम्हें भ्रम मत हो। हे रामजी! सर्वशक्तिरूप आत्मा है, वही आभास से अनेक रूप होकर भासता है, जैसे आकाश में शून्यता शक्ति है, वह आकाश से भिन्न नहीं, ऐसे आत्मा में सर्वशक्ति है, जो जगत् द्वैतरूप होकर भासता है, वही चित्त से दृढ़ हुआ है, इन सात्विक, राजस और तामसरूप तीन प्रकारों से लोकत्रय रूप जगत् जीव को भ्रम हुआ है, जब इन तीनों का उपशम हो, तब कल्याण होता है, जब वासना क्षय हो तब उसके कर्मक्षय हो जाते हैं, उससे भी भ्रम नाश हो जाता है, चित्त के संसरण का नाम वासना है कर्म संसारमाया मात्रा है, इसके नष्ट होने से सब कुछ शान्त हो जाता है, हे रामजी! यह संसार घटी यंत्र की नाईं है, जीवरूप टिड्डी वासनारूप रस्सी के साथ बँधी हुई घूमती है, तुम आत्मविचार रूप शस्त्र से इसको यत्न से काटो, और जब तक अविद्या को वस्तुतः न जान लिया जाय जब तक यह बड़ा मोह भ्रम दिखाती है, और जब इसको जानता है तब बहुत सुखदायक होती है, अर्थात् जब तक अविद्या को वस्तुतः नहीं जानता कि क्या है? तब तक संसार सत्य भासता है, उसमें अनेक भ्रम भासते हैं, जब इसको स्वरूप से जाना कि वस्तु कुछ नहीं भ्रमरूप है, तब संसार वृत्ति को त्याग करता है, और स्वरूपको प्राप्त होता है, यह संसार भ्रम से उपजा है, और उसी से भोग भोगता है, लीला करता है, फिर ब्रह्म ही में लीन हो जाता है। हे रामजी! शिव तत्त्व अनन्तरूप हैं, अप्रमेय हैं, निर्दुःखरूप हैं, सब भूत तत्व से उपजते हैं, जैसे जल से तरंग और अग्नि से उष्णता होती है, वैसे ही ब्रह्म से जगत् होता है, और उसमें स्थित है, वह वही रूप है, वह सबका आत्मा है, वह आत्मा ही ब्रह्म कहाता है उसके जानने से जगत्

जानता है और तीनों लोकों को जानने से उसको नहीं जानता। अच्युत निर्वाण रूप है, उसको जानने के लिये शास्त्रकारों ने ब्रह्म, आत्मा आदि नाम कल्पित किये हैं, वास्तव में नाम संज्ञा कोई नहीं, हे रामजी! जो पुरुष राग द्वेष से रहित है, इन्द्रियों और विषयों के संयोग वियोग में रागद्वेष को नहीं प्राप्त होता, जो एक चेतन शुद्ध संवित् अनुभव रूप है, अविनाशी और आकाश से भी स्वच्छ निर्मल है, उसमें जगत् ऐसे स्थित है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब होता है, अन्तर्बाह्यरूप होकर स्थित है ऐसे जो जानता है तो लोभ मोहादिक से भिन्न नहीं, और बोध आत्मा से भिन्न नहीं, वही रूप है, द्वैत रूप कुछ नहीं। हे रामजी! देह से रहित निर्विकल्प चेतन तुम्हारा आकार है, लज्जा, हर्ष, भय आदिक असत्यरूप हैं। तुम मूर्ख के समान विकल्प जाल को क्यों प्राप्त होते हो। तुम चेतन आत्मा अखंड रूप हो, देह के खंडित होने से आत्मा का अभाव नहीं होता, असम्यक्दर्शी भी ऐसा मानते हैं तो बोधवानों की क्या कथा है? हे रामचन्द्र! चित्त संवेदन को जो जानता है, उसके अनुभव करनेवाली जो सत्ता है, जो सूर्य के मार्ग से भी नहीं रोकी जा सकती, उसको तुम चित्तसत्ता जानों वही पुरुष है, शरीर पुरुषरूप नहीं, हे रामचन्द्र! शरीर, सत्य हो अथवा असत्य हो पुरुष तो शरीर नहीं देह के रहने और नष्ट होने से आत्मा ज्यों का त्यों ही है, और यह जो सुख दुःख को ग्रहण करते हैं, वह देह इन्द्रियादिक चिदात्मा को नहीं ग्रहण करते जिन पुरुषों को अज्ञान से देह में अभिमान हुआ है, उनको सुख दुःख कर अभिमान होता है, ज्ञानवान् को नहीं होता आत्मा को दुःखस्पर्श नहीं करता, सब विकारों से रहित है, मन के मार्ग से अतीत शून्य की नाईं स्थित है, उसको सुख दुःख कैसे हो? और देह के साथ मिला हुआ भासता है, स्वरूप को त्याग कर दृश्य के चेतने से देहादिक भ्रम भासते हैं और वासना के अनुसार देह के साथ सम्बन्ध होता है, जैसे भ्रमर और कमलों का संयोग होता है। देह पिंजर के नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे कमल का नाश होने से भ्रमर का नाश नहीं होता, अतः तुम वृथा शोक क्यों करते हो? हे रामजी! जगत् को असत्य जान कर

अभावना करे, मन निरिच्छ हो, साक्षीभूत सम स्वच्छ निर्विकल्प चिदात्मा में जगत् होकर भासता है, जैसे मणि प्रकाश रूप हो भासता है, फिर जगत् और आत्मा का कैसे सम्बन्ध हो? जैसे अनिश्चित दर्पण में प्रतिबिम्ब आकर प्राप्त होता है, ऐसे आत्मा को जगत् का सम्बन्ध भासता है, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब द्वैतरूप होता है, ऐसे आत्मा में जगत् भेद भी अभेद रूप है, जैसे सूर्य के उदय से सब जीवों की क्रिया होती है, जैसे दीपक से पदार्थों का ग्रहण होता है, ऐसे आत्मसत्ता से जगत् पदार्थ का अनुभव होता है, यह जगत् चैतन्य तत्व के स्वभाव से उपजा है; प्रथम आत्मा से मन उपजा है, उस मन ने यह जगज्जाल रचा है, वास्तव में आत्मसत्ता में आत्मसत्ता स्थित है, जैसे शून्याकाश शून्यता में स्थित है, उसमें जगत् भासा है, वह ऐसे है जैसे आकाश में नीलता, इन्द्रधनुष भासता है, वह नाना रूप होता है, परन्तु स्वरूप से शून्य है, हुआ तो कुछ नहीं, ऐसे यह जगत् कुछ हुआ नहीं, हे रामचन्द्र! यह जगत् चित्त में स्थित है, वह चित्त संकल्प रूप है, जब संकल्प क्षय होता है, तब चित्त नष्ट हो जाता है। जब चित्त नष्ट हुआ तब संसाररूपी कुहिड नष्ट हो जाती है। निर्मल शरत्काल के आकाशवत् आत्मसत्ता प्रकाशित होती है। वह चेतनमात्र सत्ता एक अज आदि अन्त मध्य से रहित है, उससे स्पंद फुरा है, वह संकल्परूप ब्रह्मा होकर स्थित हुआ है। उसके आगे नाना प्रकार का जगत् रचा है, वह जगत् शून्य रूप है, मूर्ख बालक को सत्यरूप भासता है, जैसे परछाईं में बालक को वेताल भासता है, जैसे जीवों को अज्ञान से देहाभिमान होता है, असत्य रूप ही सत्य होकर भासता है, जब सम्यक् ज्ञान होता है, तब लीन हो जाता है, अपने आपसे उत्पन्न होकर लीन हो जाता है, जैसे समुद्र से तरंग उपजकर समुद्र में लीन हो जाती है, ऐसे आत्मा में जगत् उत्पन्न होकर आत्मा में लीन हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे आर्षे महारामायणे शतसाहस्त्र्यां
संहितायामुत्पत्तिप्रकरणे मोक्षोपाये परमार्थनिरूपणं
नाम द्वाविंशोत्तरशततमः सर्गः ।।१२२।।

इति श्री योगवासिष्ठे तृतीयमुत्पत्तिप्रकरणं समाप्तम् ।।३।।

सच्चिदानन्दाय नमः ।

अथ श्रीयोगवासिष्ठे

चतुर्थ स्थिति प्रकरणम् ४.

प्रथमः सर्गः १.

जगन्निराकरण वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! अब स्थिति प्रकरण सुनो। जिसके सुनने से जगत् निर्वाण को प्राप्त हो, जगत् कैसा है? जिसके आदि में अहंता है, ऐसा दृश्यरूप जगत् भ्रान्तिमात्र है, जैसे आकाश में नाना प्रकार के रङ्गसहित इन्द्रधनुष भासता है, वह असत्‌रूप है ऐसे यह जगत् है, जैसे द्रष्टा बिना अनुभव होता है और जैसे निद्रा बिना स्वप्न भासता है, जैसे भविष्यत् नगर चित्त के फुरणे से भासता है, वैसे भ्रम से जगत् चित्त में स्थित हुआ है, जैसे वानर रक्तिकाओं (गुंजाओं) को इकट्ठा करके अग्नि की कल्पना करते हैं, उससे शीत निवृत्त नहीं होता, वह भावनामात्र अग्नि होती है, ऐसे यह जगत् भावनामात्र है, जैसे आकाश में रत्नमणि का प्रकाश और गन्धर्व नगर भासता है, जैसे मृग तृष्णा की नदी भासती है, ऐसे यह जगत् असत्‌रूप भ्रम करके सत्‌रूप हो भासता है, जैसे संकल्प दृढ़ अनुभव करके भासता है तो भी असत्‌रूप है, जैसे कथा के अर्थ चित्त

में भासते हैं, ऐसे निस्साररूप जगत् चित्त में साररूप हो भासता है, जैसे स्वप्न में पहाड़ नदियाँ भास आती हैं, ऐसे सब बड़े भूत भी भासते हैं, तो भी आकाशवत् शून्यरूप हैं, जैसे स्वप्न में अंगना के साथ प्रेम करता है, वह अर्थ से रहित असत्‌रूप हैब, जैसे मूर्ति के लिखे अग्नि सूर्य होते हैं, परन्तु उनसे अर्थ सिद्ध कुछ नहीं होता, ऐसे यह जगत् भी प्रत्यक्ष भासता है, परंतु वास्तव कुछ नहीं होता, अर्थ से रहित है, जैसे चित्र की लिखी कमलिनी सुगन्ध से रहित होती है। ऐसे यह जगत् शून्यरूप है, जैसे आकाश में इन्द्रधनुष भासता हैब जैसे केले का स्तंभ सुन्दर भासता है, परंतु उसमें सार कुछ नहीं निकलता, ऐसे ही यह जगत् देखनेमात्र को रमणीय भासता है, परन्तु अत्यन्त असत्‌रूप है, इसमें सार कुछ नहीं निकलता, प्रत्यक्ष देखने में अनुभव होता है, परन्तु मृगतृष्णा की नदीवत् असत्‌रूप है, है कुछ नहीं। रामजी बोले—हे सर्व संशयों के नाशकर्ता भगवन्! जब महाकल्प क्षय होता है, तब दृश्यमान जगत् सब आत्मरूप बीज में जाकर लीन हो जाता है, जैसे बीज में अंकुर रहता है, फिर उससे उत्पन्न होता है, उससे स्थित होता है, फिर उसीमें लीन होता है, यह जो बुद्धि है वह ज्ञान की है, या अज्ञान की है! अन्त:सर्व संशयों की निवृत्ति के लिये मुझे स्पष्टं कहो। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार महाकल्प के क्षय हुए बीजरूप आत्मा में जगत् स्थित होता है, जो ऐसा कहते हैं, वे परमअज्ञानी हैं, वे महामूर्ख बालक हैं जो ब्रह्म को जगत् का कारण बीज से अंकुर के समान कहते हैं, वह मूर्ख का कथन है, बीज तो दृश्यरूप का इन्द्रियों का विषय होता है, जैसे बीज से अंकुर होता है, फिर वही विस्तार पाता है, वह इन्द्रियों का विषय है और जो मन सहित षट् इन्द्रिय से अतीत है, अर्थात् जो इन्द्रियों का विषय नहीं, आकाश से भी अधिक निर्मल है उसको जगत् क़ा बीज कैसे कहें। आकाश से भी अधिक सूक्ष्म परम उत्तम अनुभव से उपलब्ध है, नित्य प्राप्त है, उसको बीजभाव कहना नहीं बनता। हे रामजी! जो शास्त्र सूक्ष्म सदा प्रकाश सत्ता है और दृश्य जगत् जिसमें असत्‌रूप है, उसको बीजरूप कैसे कहा जाये, जब

बीजरूप कहना नहीं बनता तब उससे जगत् कैसे कहा जाय, जैसे आकाश से अधिक सूक्ष्म निर्मल परमपद में सुमेरु समुद्र आकाश आदिक जगत् नहीं बनता, जो किंचन और अकिंचन है, निराकार सूक्ष्म की नाईं सत्ता है, उसमें विद्यमान जगत् कैसे हो, महासूक्ष्मरूप है, दृश्य उसमें विरुद्धरूप है, जैसे धूप में छाया नहीं, जैसे सूर्य में अंधकार नहीं, जैसे अग्नि में बर्फ नहीं, जैसे अणु में सुमेरु नहीं होता, ऐसे आत्मा में जगत् नहीं होता, सत्यरूप आत्मा में असत्यरूप जगत् कैसे हो, बट का बीज भी साकाररूप होता है और निराकार रूप आत्मा में साकाररूप जगत् होना अयुक्त है। हे रामजी! कारण दो प्रकार का होता है, एक समवायि कारण, दूसरा निमित्त कारण है, आत्मा दोनों प्रकार के कारण भाव से रहित है। निमित्त कारण होता है, जब कार्य से कर्ता भिन्न होता है, आत्मा अद्वैत है उसके निकट दूसरी वस्तु है ही नहीं, कर्ता कैसे हो और किसका हो? सहकारी भी नहीं जिससे कार्य करे, मन और इन्द्रियों से रहित निराकार अविकृत रूप है, और समवायि कारण भी परिणाम से होता है, जैसे बटबीज परिणाम से वृक्ष होता है, वह आत्मा अच्युतरूप है, परिणाम को कदाचित् प्राप्त नहीं होता, समवायि कारण कैसे हो, अस्ति जायते वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति, इन षट् विकारों से रहित निर्विकार आत्मा जगत् का कारण कैसे हो! इसलिये यह जगत् अकारणरूप भ्रान्ति करके भासता है, जैसे आकाश में नीलता और सीपी में रूपता भासती है, जैसे निद्रादोष से स्वप्न दृष्टि भासती है, ऐसे यह जगत् भ्रान्ति से भासता है, जब स्वरूप में जगे तब जगद्भ्रम मिट जाता है, अतः कार्यकारण भ्रम को स्वरूप में स्थित हो जाइये, दुर्बोध से संकल्प रचना हुई है, उसको त्यागकर आदि मध्य और अन्त से रहित जो सत्ता है, उसमें स्थिति प्राप्त कीजिये कि जगद्भ्रम मिट जाय।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगन्निराकरणवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २

स्मृतिबीजोपन्यासः ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! बीज से अंकुरवत् आत्मा से जगत् का होना अङ्गीकार करे तो नहीं बनता, आत्मा सर्व कल्पना रहित महा चैतन्य निर्मल आकाशवत् है, उसको जगत् का बीज कैसे माने? बीज परिणाम से अंकुर होता है और कारण समवायी से होता है, आत्मा में समवायी और निमित्त सहकारी कदाचित् नहीं बनते जैसे वन्ध्या स्त्री की सन्तान किसी ने नहीं देखी, ऐसे ही आत्मा से जगत् नहीं होता, जो समवायि और निमित्त कारण के बिना सहकारी पदार्थ भासे तो जानिये कि यह है ही नहीं, भ्रान्तिमात्र भासता है, आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। सृष्टि स्थित, प्रलयरूप से ब्रह्मसत्ता अपने आप में ही स्थित है, जो इस प्रकार स्थित है तो कारण कार्य का क्रम कैसे हो जब कारण कार्य का भाव न हुआ तो पृथ्वी आदिक भूत कहाँ से उत्पन्न हों? कहीं हैं भी नहीं और कारण कार्य मानें तो पूर्व जो विकार कहे हैं, उनका दूषण आता है, अतः न कोई कारण है न कोई कार्य है, कारण कार्य बिना जो पदार्थ भासे उसको सत् रूप जाने वह मूर्ख बालक है, वह विवेक से रहित है, इसलिये यह जगत् न आगे था, न अब है, न भविष्य में होगा, स्वच्छ चिदाकाशसत्ता अपने आप में स्थित है, तब जगत् का अत्यन्ताभाव होता है तब सम्पूर्ण ब्रह्म ही दृष्टि आता है, जैसे समुद्र में तरंग भासते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् भासता है, अन्यथा कारण कार्य भाव कोई नहीं, प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव कोई नहीं, प्रागभाव अर्थात् जो पहिले प्रथम न था, जैसे प्रथम पुत्र नहीं होता, बाद में उत्पन्न होता है जैसे मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है और प्रध्वंसाभाव वह है जो प्रथम (पहिले) होकर नष्ट हो जाता है, जैसे घट था नष्ट हो गया। अन्योन्याभाव जैसे–घट में पट का अभाव है और पट में घट का अभाव है। यह तीन प्रकार का अभाव जिसके हृदय में है उससे जगत् दृढ़ होता है, उसको

शान्ति नहीं प्राप्त होती है, जब जगत् का अत्यन्ताभाव दीखता है, तब चित्त शान्त होता है, जगत् के अत्यन्ताभाव का इस युक्ति बिना और कोई उपाय नहीं और अशेष जगत् की निवृत्ति के बिना मुक्ति नहीं होती, सूर्य से लेकर जितना प्रकाश है और पृथ्वी आदि तत्व हैं तथा क्षण, वर्ष, कल्प आदिक जो काल है यह मैं हूँ, यह और है, रूप आलोक, मन, संस्कार इत्यादिक जगत् सब संकल्पमात्र है। कल्प और कल्पक ब्रह्माण्ड और ब्रह्म, विष्णु रुद्र, इन्द्र और कीट से लेकर जितना जगज्जाल है, उत्पन्न होकर अन्तर्ध्यान हो जाता है, महाचैतन्य परम आकाश में अनंत वृत्तियाँ उठती है, जैसे जगत् पूर्व शान्त सत्ता थी, ऐसे तुम अब भी जाओ, अपर कुछ हुआ नहीं। परमाणु के सहस्त्रांश के समान सूक्ष्म चित्त कला है, उस चित्तकला में अनन्तकोटि सृष्टियाँ स्थित हैं, वही चित्त सत्ता फुरने से जगत्रूप होकर भासती है, और प्रकाशरूप हैं, निराकार है, शान्तरूप है न उदय होता है न अस्त है, न आता है न जाता है, जैसे शिला में रेखा होती हैं, ऐसे आत्मा में जगत् है, जैसे आकाश में आकाशसत्ता फुरती है, ऐसे आत्मा में जगत् फुरता है, और आत्मा ही में जगत् स्थित है, निराकार निर्विकाररूप विज्ञानघन सत्ता अपने आप में स्थित है, उदय और अस्त से रहित विस्तृतरूप है, हे रामजी! जब सहकारी कारण कोई न हुआ तो जगत् शून्य हुआ, क्योंकि ऐसा जानने से सर्व कलंक कलना शान्त हो जाती है, दीर्घ निद्रा में सोया है, उसका अभाव करके ज्ञान भूमिका को प्राप्त हो, जगने पर निःशोक पद प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे स्मृतिबीजोपन्यासो नाम द्वितीयः सर्गः ।।२।।

तृतीयः सर्गः ३

जगदनन्तवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे भगवन्! महाप्रलय के अन्त में और सृष्टि के आरम्भ में जो प्रजापति होता है, वह जगत् को पूर्व की स्मृति से उसी भांति रचता है, तो जगत् स्मृति रूप क्यों न हो? वसिष्ठजी बोले हे रामजी! महाप्रलय के आदि में जो प्रजापति होता है, वह स्मरणपूर्वक पूर्व की नाईं जगत् को रचता है ऐसा माने तो उचित नहीं क्योंकि महाप्रलय में प्रजापति कहाँ रहता है, जो आप ही न रहे उसकी स्मृति कैसी मानी जाय? जैसे आकाश में वृक्ष नहीं होता, ऐसे महाप्रलय में प्रजापति नहीं होता! रामजी बोले– हे ब्राह्मण! जगत् के आदि में जो ब्रह्म था उसने जगत् को रचा था, महाप्रलय में उसकी स्मृति का नाश तो नहीं होता, सुषुप्ति से उठे की नाईं फिर स्मृति करके जगत् को रचता है, तो उचित है आप कैसे कहते हैं कि उचित नहीं, वसिष्ठजी बोले– हे शुभ व्रत रामजी! महाप्रलय के पूर्व जो ब्रह्मादिक होते हैं वे महाप्रलय में सब निर्वाण हो जाते हैं, अर्थात् विदेह मुक्त हो जाते हैं, ब्रह्मतत्व में लीन हो जाते हैं, जो स्मृति करने वाले अन्तर्धान हो गये तो स्मृति कहां रही, जो स्मृति निर्मूल हो गयी, उसको जगत् का कारण कैसे कहा जाय, महाप्रलय उसका नाम है, जहां सब अर्थ सहित निर्मूल हो जहां सब अन्तर्धान हो गये वहां स्मृति किस की कही जाय, जब स्मृति का अभाव हुआ तब कारण किसका, किसकी नाईं कही जाय। अतः सर्व जगत् चित्त का फुरण मात्र है, जब महाप्रलय होता है, तब सब यत्न बिना मोक्ष भागी होते हैं, यदि आत्मज्ञान हो तो जगत् के होते भी मोक्ष भागी होते हैं, और यदि आत्मज्ञान न हो तो जगत् दृढ़ होता है, निवृत नहीं होता। जब दृश्य जगत् का अभाव हो तब स्वच्छ चैतन्यसत्ता प्रकाशित होती है वह आदि अन्त से रहित है जगत् भी सब वही रूप भासता है, अनादि

सिद्ध ब्रह्मतत्व ही प्रकाशित होता है, उसमें जो आदि संवेदन फुरता है वह ब्रह्मरूप है, अन्तवाहक देह विराट् जगत् हो भासता है, उसका एक प्रमाणरूप यह तीनों जगत् हैं उसमें देश, काल, क्रिया, द्रव्य, दिन रात्रि क्रम हुआ है, फिर उसके अणु में जगत् पड़े फुरते हैं, वह क्या है? सब संकल्परूप हैं, ब्रह्म सत्ता का प्रकाश है, जो प्रबुद्ध आत्मज्ञानी है, उसको सब जगत् एक ब्रह्मरूप हो भासता हैं, और जो अज्ञानी है उसके चित में अनेक प्रकार के जगत् की भावना होती है, द्वैत भावना में वह पड़ा भ्रमता है, जैसे इस ब्रह्माण्ड के अनेक जीव परमाणु है, उनके अन्तर अनेक सृष्टियां हैं, उनके अन्तर अनेक अन्तर और अनेक सृष्टियां फुरती हैं, ब्रह्मतत्व का प्रकाश है, जैसे बड़े स्तम्भमें अनेक पुतलियां शिल्पी कल्पना करे उसके अन्तर और अनेक पुतलियाँ कल्पना करे उसके अन्तर और अनेक पुतलियां हों ऐसे परमाणु परमाणुके अन्दर त्रिलोकी स्थित है, वह अभिन्नरूप है, और कुछ हुआ नहीं, जैसे पहाड़ के अन्तगंत असंख्य परमाणु होते हैं, वह उसके साथ अभिन्नरूप हैं, ऐसे ब्रह्मारूप महासुमेरु है, उसके अन्दर अनेक जगत्रूप परमाणु हैं, वे अभिन्नरूप हैं, हे रामजी! सूर्य की किरणों का समूह हो उनमें सूक्ष्म त्रसरेणु होते हैं, उनकी संख्या करनेको कोई समर्थ भी हो, परन्तु आदि अन्त से रहित जो आत्मरूप सूर्य है, उसके त्रिलोकरूप परमाणुओं की संख्या करने में कोई समर्थ नहीं जैसे समुद्र में जल से परमाणु होते हैं, जैसे पृथ्वी में धूलि के परमाणु होते हैं, वे असंख्य हैं, वैसे ही आत्मा में असंख्य परमाणु सृष्टियाँ हैं, जैसे आकाश शून्य रूप है, ऐसे आत्मा चिदाकाश जगद्रूप है, यह जो मैंने उसकी सृष्टि कही है यदि इनको तू जगत् शब्द से जानेगा तो अज्ञान बुद्धि है और दुःख तथा भ्रम को प्राप्त होगा और यदि इनको ब्रह्मशब्दरूप का अर्थरूप जानेगा तो इस बुद्धि से परमसार को प्राप्त होगा। सर्वविश्व ब्रह्म से फुरता है और विज्ञान घन ब्रह्मरूप है, और द्वैत कुछ हुआ नहीं, जब जगेगा तब तुझको ऐसा ही भासेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगदनंतवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ।।३।।

चतुर्थः सर्गः ४

अंकुरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इन्द्रिय ग्राम के साथ युद्ध करके जीत लेना संसार सागर पार करने के लिये बेड़ा है, अर्थात् इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मोक्ष है और किसी क्रम या उपाय से संसार समुद्र का पार नहीं प्राप्त हो सकता। सत् पुरुषों के संग से और सत् शास्त्र के विचार से ही मनुष्य इन्द्रियों पर विजय पाता है, क्योंकि इन साधनों से आत्मतत्व का बोध और जगत् का अत्यन्ताभाव होता है,जब तक संसार का अत्यन्ताभाव नहीं होता, तब तक आत्म बोध नहीं होता, यह मैंने तुझे क्रम कहा है, संसार समुद्र तैरने का उपाय है, बहुत कहने से क्या है? सब कर्मों का बीज मन है, मन के छेदने से सब जगत् छेदा जा सकता है, जब मनरूप बीज का नाश होता है तब जगत् रूप अंकुर भी नष्ट हो जाता है। सर्व जगत् मन का रूप है, इसके अभाव का उपाय करो, मलिन मन से अनेक जन्मों के समूह उत्पन्न होते हैं, इसके जीतने से सर्वलोक में जय होती है, सब जगत् मन करके हुआ है, मन रहित होने से देह भी नहीं भासता, जब मन से दृश्य का अभाव होता है, तब मन मर जाता है, और उपाय कोई नहीं, हे रामजी! मनरूप पिशाच है उसका नाश और किसी उपाय से नहीं होता, अनेक कल्प बीत गये है, और बीतें तब भी नाश नहीं होगा, अतः जब तक दृश्यमान है, तब तक उसका उपाय करें जगत् का अत्यन्त अभाव चिन्तन करना और आत्मस्वरूप का अभ्यास करना, यह परम औषध है, इस उपाय से मन रूप द्रष्टा नाश होता है, जब तक मन नष्ट नहीं होता तब तक मनके मोहसे जन्ममरणको प्राप्त होगा जब ईश्वर परमात्मा की प्रसन्नता होती है, तब मन बन्धन से मुक्त होता है, सम्पूर्ण जगत् मन के फुरणे से भासता है, जैसे आकाश में शून्यता भासती है, अथवा जैसे गन्धर्व नगर भासता है, ऐसे सम्पूर्ण जगत् मन में भासता है, जैसे पुष्प में सुगंध रहता है, जैसे तिल में तेल रहता है, जैसे गुणी में गुण रहता है, धर्मों में धर्म रहता ऐसे यह सत् असत् स्थूल सूक्ष्म कारण

कार्यरूप जगत् मन में रहता है, जैसे समुद्र में तरंग फुरते हैं, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा फुरता है जैसे मरुस्थल में मृग तृष्णा का जल फुरता है वैसे चित्त में जगत् फुरता है, जैसे सूर्य में किरणें हैं, जैसे तेज में प्रकाश है, जैसे अग्नि में उष्णता है ऐसे मन में जगत् है, जैसे बर्फ में शीतलता है, जैसे आकाश में शून्यता है, जैसे पवन में स्पंदता है, ऐसे मन में जगत् है, सम्पूर्ण जगत् मनरूप है और मन जगत्रूप है, परस्पर एक रूप हैं, दोनों में से एक का नाश होने पर दोनों नष्ट हो जाते हैं, सब जगत् नष्ट हो तब मन भी नष्ट हो जाता है, जैसे वृक्ष के नाश होने पर पत्र, टास फूल, फल सब नष्ट हो जाते हैं, फूल फल के नष्ट होने से वृक्ष नष्ट नहीं होता।

इति श्रीयोगवसिष्ठे स्थितिप्रकरणे अकुंरवर्णनम् नाम चतुर्थः सर्गः ।।४।।

पंचमः सर्गः ५

भार्गवसंविद्गमनवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे सर्व धर्मों के वेत्ता! पूर्व अपर के ज्ञाता! भगवन्! मन के फुरणे से जगत् कैसे फुरता है? और कैसे हुआ है? जैसे प्राप्त हुआ है ऐसे ही दृष्टान्त द्वारा हम को कहो, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र की दश सृष्टियां हुईं और वे दश ही ब्रह्मा हुए, मन के फुरणे से उत्पन्न होकर मन के फुरणे में स्थित हुए, और जैसे लवण राजा को इन्द्रजाल की माया से चांडाल की प्रतिमा दृढ़ होकर भासी, ऐसे यह जगत् मन के फुरणे में स्थित हुआ है, जैसे भार्गव (शुक्र) मन के फुरणे से चिरकाल स्वर्ग को भोगता रहा और उसने अपर अनेक भ्रम देखे, वह मन ही का भ्रम दृष्टि में आकर भासा, ऐसे यह जगत् मन के भ्रम से स्थित हुआ है। रामजी बोले–हे भगवन्! भृगुऋषीश्वर के पुत्र ने मन के भ्रम से कैसे स्वर्ग सुख भोगे हैं और कैसे भोग का अधिपति हुआ है? और संसारी होकर उसने किस प्रकार भ्रम को देखा है? वसिष्ठ जी बोले–हे

रामजी! भृगु के पुत्र का वृत्तान्त सुनो! भृगु और काल का संवाद मंदराचल पर्वत पर हुआ है। एक ससय भृगु और शुक्र दोनों मंदराचल में थे। शुक्र के मुख का चन्द्रमा के समान प्रकाश और भृगुजी भी परम उदारात्मा थे। वहाँ कल्पवृक्ष और मंदार वृक्ष शोभायमान थे, हर प्रकार से वह स्थान सुन्दर और दिव्य है; वहाँ भृगुजी तप किया करते थे और शुक्रजी उनकी सेवा सुश्रूषा में लगे रहते थे, एक समय भृगुजी निर्विकल्प समाधि में स्थित हुए, तब निर्मल मूर्ति शुक्र एकान्त में जा बैठे, उनके कंठ में मंदार कल्पवृक्ष पुष्पों की माला पड़ी हुई थी, शुक्र विद्या और अविद्या के मध्यमें स्थित था, जैसे त्रिशंकुराजा चांडाल था, विश्वामित्रका वर पाकर स्वर्ग में गया तब देवताओं ने अनादर किया, स्वर्ग से गिरा दिया कि यह चांडाल है, तब विश्वामित्र ने देखकर कहा कि यहाँ ही खड़े रहो, तब वह भूमि और आकाश के मध्य में स्थित हुआ, ऐसे शुक्र बैठा है और एक महासुन्दरी अप्सरा को उसने अपने ऊपर से स्वर्ग को जाते देखा, जैसे लक्ष्मी की ओर विष्णुजी देखें ऐसे अप्सरा को देखा जो अतिसुन्दर अनेक प्रकार के भूषण और दिव्य वसन धारण किये थी और जिसके शरीर से दिव्यसुगंध संचार हो रहा था, जिससे सारा आकाशमार्ग महक रहा था, उस अप्सरा की सुन्दरता और मदनमद घूर्णित नेत्रों को देखकर शुक्र का मन क्षुब्ध हो उठा, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर क्षीर समुद्र क्षुब्ध होता, ऐसे ही इसकी वृत्ति अन्य मार्गों से निवृत्त होकर अप्सरा में जाकर स्थित हुई, स्त्री स्मरणरूप कामदेव का बाण इसे आ लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गव संविद्गमवर्णन नाम पंचम सर्गः ।।५।।

षष्ठः सर्गः ६

भार्गवमनोराज्यवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार उस अप्सरा को देखकर शुक्र ने नयन मूंद लिये और उसी के चिंतन में मन लगा दिया कि यह मृगनयनी ललना स्वर्ग को गयी है, मैं इसके पास जाऊँ, ऐसा विचार कर चला, मन से जाता जाता स्वर्ग में जा पहुँचा। वहाँ मँदार कल्पतरु हैं, उन सुंगधित पुष्पित वृक्षों को देखा और वहाँ स्वर्ग में स्वर्ण वर्ण से सुन्दर शरीर देवता और हास्यविलास युक्त अत्यन्त मनोहारिणी हरिणाक्षियों को देखा, मणिजड़ित दिव्य स्थान देखे, त्रिविध समीर चल रहा है, विलास का प्रत्येक दिव्यसाधन वहाँ उपस्थित देखा। अप्सरागण विचरते हैं, इन्द्र का स्थान देखा, ऐरावत हाथी, मदमत्त खड़ा झूम रहा है, जिसने देवदानव युद्ध में अपने दुर्दम्य दांतों से अनेका दैत्यों के शरीर चूर्णित किये हैं। देवांगनाओं देवसभा में नृत्यगायन हो रहा है, स्वर्ण के कमलों पर ब्रह्मा के हंस और सारस पक्षी विचर रहे हैं। गंगा का प्रवाह चला जा रहा है, देवताओं के नायक वहाँ विश्राम करते हैं। उसके अनन्तर लोकपालों के स्थान देखे, जो महान् प्रकाश से जगर मगर कर रहे हैं, यम, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वायु, अग्नि आदि सब लोकपालों को देखा, सुदंर विमानों की पंक्तियाँ आकाश में घूमती हुई देखीं, कहीं मंदार वृक्ष हैं, कहीं कल्पवृक्ष हैं, उनके साथ सुन्दर बल्लियाँ हैं, गंगा का प्रवाह चलता है, वहाँ भी अप्सरागण बैठे हैं, कहीं ऐसा स्थान नहीं जहाँ दिव्य सुगन्ध लिये पवन नहीं घूम रहा, कहीं झरणों में से अमृत जल चल रहा है, नन्दनवन की सुन्दरता वर्णनातीत है, कहीं अप्सराएँ बैठी हैं कहीं नारदादि मुनिवर विराज रहे हैं, कई पुण्य करनेवाले लोग जिनको पुण्य के बल से स्वर्ग प्राप्ति हुई है, स्वर्ग का आनन्द भोग रहे हैं। कई विमानों पर आरूढ़ होकर घूम रहे हैं, कहीं स्वर्ग सुन्दरियाँ इन्द्र की सेवा में उपस्थित हैं, जैसे कल्प वृक्ष में पक्के फल लगते हैं, ऐसे ही रत्न और

चिन्तामणियाँ लगी हैं, कहीं चन्द्रकान्त मणि स्रव रही है इस प्रकार शुक्र ने मन से स्वर्ग की रचना देखी, मानों त्रिलोकी की रचना यहाँ पर ही हुई हो। शुक्र को देखकर इन्द्र खड़ा हो गया, मानों दूसरे भृगुजी आये हैं, शुक्र का प्रकाश संयुक्त मूर्ति को देखकर इन्द्र ने प्रणाम किया, और हाथ से पकड़कर पास बैठाया, और कहने लगा हे शुक्र भगवान्! आज हमारे धन्य भाग्य हैं, जो यहाँ आपका शुभागमन हुआ, आज हमारा स्वर्ग आपके आने से सुशोभित हुआ है, अब आप देर तक यहीं रहे, जब इन्द्र ने ऐसे कहा तब शुक्र प्रसन्न हुए, उन्हें सारे देवसमूह ने प्रणाम किया कि भृगुजी के पुत्र श्री शुक्रजी आये हैं। हे रामजी! इस प्रकार शुक्र मन से इन्द्र के पास जा बैठा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गव मनोराज्यवर्णनं नामषष्ठः सर्गः ।।६।।

सप्तमः सर्गः ७

भार्गवसंगमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब इस प्रकार शुक्र इन्द्र के पास जो बैठा तब उसने अपना जो भाव था उसको भुला दिया, मदंराचल पर जो उसका शरीर था उसको वह भूल गया और वासनासे मनोराज्य शरीर दृढ़ हो गया, एक मुहूर्त पर्यन्त इन्द्र के पास बैठा रहा परन्तु चित्त उस अप्सरा में रहा, उसके अनन्तर उठा और स्वर्ग को देखने लगा देवताओं ने कहा, कि चलो स्वर्ग की रचना देखो, तब शुक्रजी देखते देखते वहाँ चले गये जहाँ अप्सराएँ थीं, उनमें वह अप्सरा भी बैठी थी जिसके मृग के से नयन हैं उसको शुक्रजी ने देखा, जैसे चन्द्रमा चाँदनी को देखे ऐसे देखने पर शुक्र का शरीर द्रवीभूत हो गया, प्रस्वेद से स्विन्न हो गया, जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है, ऐसे शरीर हो गया, उसके हृदय में कामदेव के बाण लग गये, उनसे व्याकुल हो गया और शुक्र को देखकर उसका चित्त भी मोहित हो गया, उसको भी शुक्र के समान बाण लग गया, जैसे वर्षा काल की नदी जल से पूर्ण हो जाती है

वैसे ही वह भी काम से पूर्ण हो गयी, ऐसे परस्पर स्नेह बढ़ा, तब शुक्रजी ने मन से वहाँ तमो रचना की। सर्वत्र तम हो गया, जैसे लोकालोक पर्वत के तट पर तम होता है, ऐसा सूर्य का अभाव हो गया, तब सब भूतजात अपने अपने स्थान पर चले गये, जैसे दिन के अभाव हुए पशु पक्षी अपने अपने गृह में जाते हैं, ऐसे तम के होने से सब बन को चले गये, तब वह अप्सरा शुक्र के निकट आई, शुक्रजी श्वेत आसन पर बैठ गये अप्सरा भी चरणों के पास ही बैठ गयी, उसने सुन्दर वसन भूषण किये हुए हैं, स्नेह से दोनों कामवश हुए, तब अप्सरा ने मधुर वाणी से कहा हे नाथ! मैं निर्बल होकर तुम्हारी शरण आई हूँ, मुझे कामदेव दग्ध कर रहा है तुम रक्षा करो, मैं इससे पूर्ण हो गयी हूँ और स्नेह रस को वही जानता है जिस को वह प्राप्त हुआ है, जिसको रस का स्वाद नहीं आया वह क्या जाने? हे साधो! ऐसा सुख त्रिलोकी में और कोई नहीं, जैसा सुख परस्पर स्नेह से होता है, अब तुम्हारे चरणों को पाकर आनन्दवती हुई हूँ, जैसे चन्द्रमा को पाकर कमलिनी आनन्दवती होती है, जैसे चकोर चन्द्रमा की किरणों को पाकर आनन्दवान् होता है, ऐसे मुझको स्पर्श करके सुख होगा, जब इस प्रकार अप्सरा ने कहा तब दोनों काम वश हो क्रीड़ा करने लगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवसंगम वर्णनं
नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

अष्टमः सर्गः ८

भार्गवोपाख्याने विविधजन्मवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार उसको पाकर शुक्र परम आनन्दवान् हुआ, और वे दोनों मन्दार तथा कल्प वृक्ष के नीचे क्रीड़ा करते हैं। दिव्य वस्त्र भूषण और पुष्पों की माला धारण किये वन और बागीचों में क्रीड़ा करते हैं, चन्द्रमा की किरणों के मार्ग से अमृतपान करते रहें। स्वर्ग में विचरें, विद्याधरों के गणों के साथ रहें, उनके स्थान से नन्दवन इत्यादि स्थानों पर क्रीड़ा करते आनन्द भोगते कैलाश पर्वत पर

उमर रहे निवृत्त अन्धकूप विद्याधर सहस्र वर्ष रन्ध्रयुत ने मुख छै जा निकले, अप्सरा सहित वहाँ वन कुञ्ज में फिरते रहे फिर लोका लोक पर्वत पर क्रीड़ासक्त रहे, मन्दराचल के कुञ्ज में विचरते रहे, श्वेतद्वीप में रहे पचास युग पर्यन्त गंधर्व नगर में रहे, इन्द्र के वन में रहे, बत्तीस युग पर्यन्त स्वर्ग में रहे, जब पुण्यक्षीण हुआ तब भूमि लोक में गिरा दिये गये, गिरते गिरते उनके शरीर टूट गये, जैसे झरने में से जल बन्द होता है ऐसे शरीर अन्तर्धान हो गया, तब उनकी पुर्यष्टक चिन्ता युक्त आकाश में निराधार हो गयी, जैसे नीड़ के बिना पक्षी की स्थिति होती है ऐसे उनकी पुर्यष्टक चिन्ता सहित निराधार हो गयी, तब वासनारूप दोनों चन्द्रमा की किरणों में जा स्थित हुए, फिर किरणों द्वारा धान्य में आकर निवास किया, तब एक दशारण्य नाम के ब्राह्मण ने उस धान्य का भोजन किया, और उस धान्य (चावल) की वीर्य रूप ब्राह्मणी के गर्भ में स्थिति हुई, फिर उसी धान्य का मालब देश के राजा ने भोजन किया, उसके वीर्य द्वारा अप्सरा, स्त्री के उदर में आकर स्थित हुई, और दशारण्य ब्राह्मण के घर में शुक्र उत्पन्न हुआ, और वह अप्सरा मालवा देश के यहाँ पुत्री हुई, तब क्रम से बड़ी हुई, सोलह वर्ष की यौवन भरी उमर में उसने शंकर महादेव की प्रार्थना कि हे देव! मुझे पूर्व भर्ता की प्राप्ति हो, इसी प्रकार वह प्रतिदिन महादेव की पूजा करती और यही वर मांगती थी। उधर वह भी वहाँ जवान हुआ, इधर यह युवती हुई, तब राजा ने यज्ञ का आरम्भ किया, उसमें सब राजा और ब्राह्मण आये, और दशारण्य ब्राह्मण पुत्र सहित आया, तब राजकुमारी ने उस पूर्वजन्म के भर्ता को देखा, जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होती है, ऐसे ही राजकन्या हो गयी, स्नेह के कारण नेत्रों से जल चलने लगा, राजकन्या ने दशारण्य के पुत्र की ओर देखा और उसके कंठ में फूलों की माला डालकर उसे भर्ता स्वीकार कर लिया, राजा देखकर विस्मित हुआ और उसने इस सम्बन्ध का अनुमोदन किया। फिर क्या था, दोनों का विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न हुआ, तब राजा अपनी पुत्री और जामाता को राज्य देकर स्वयं तप करने वन को चला गया, यहाँ यह दोनों स्त्री पुरुष मालवदेश का राज्य करने लगे। दोनों देर तक राज्य करते रहे और वृद्ध हो गये, शरीर जरा से जर्जर हो गये, राजा को वैराग्य हुआ, कि

स्त्री महादुःखरूप है, कोई दुःख का कारण प्रतीत हुआ जिससे राजा को वैराग्य हुआ, परन्तु वह वैराग्य सामान्य था विशेष नहीं था। शरीर के जर्जर होने के कारण वह राजा स्त्री सेवन में अशक्त था परन्तु उसकी तृष्णा निवृत्त न हुई थी, इसी दशा में राजा मृत्युवश हो गये, बान्धवों ने उनका अंतिम संस्कार किया, अपने संस्कारों के अनुसार ज्ञानशून्य राजा मोह के अन्धकूप में जा पड़े। हे रामजी! मृत्यु मूर्छा के अनन्तर उसको परलोक भासने लगा, वहाँ कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगकर अंग वंग देश में धीमर हुआ, और तदनुसार कर्म करने लगा, फिर वृद्ध अवस्था आई तो वैराग्य हुआ कि यह संसार महादुःखरूप है, ऐसा जानकर सूर्य भगवान् का तप करने लगा, जब मरा तब तप के प्रताप से सूर्य वंश में राजा हुआ भावना के वश से वहाँ कुछ ज्ञानवान् हुआ, योग भी करता था और वेद भी पढ़ता था, योग की भावना में जब शरीर छूटा, तब बड़ा गुरु हुआ, सबको उपदेश करता और मंत्र सिद्धि में लगा रहता था, वेद में उसका अभ्यास बहुत बढ़ा था, तब मंत्रवश से वह विद्याधर हुआ, विद्याधररूप में एक कल्प पर्यन्त रहा, तब कल्प का अन्त हुआ, तब सशरीर अन्तर्धान हो गया, तब इसका वासना सहित पवनरूप शरीर हुआ, जब ब्रह्मा की रात बीती दिन हुआ और पुनः सृष्टि रची गयी, तब एक मुनीश्वर के घर में पुत्र हुआ, वहाँ इसने बड़ा तप किया तब यह सुमेरु पर्वत पर जाकर स्थित हुआ, एक मन्वन्तर पर्यन्त वहाँ रहा, एकत्तर चौकड़ी युग बीत गये, वहाँ भोग से हरिणी के पुत्र हुआ वह मनुष्याकार था, उस पुत्र के स्नेह से उत्पन्न मोह को प्राप्त हुआ, पुत्र के लिये प्रार्थना करता था कि मेरे पुत्र को धन मिले यह गुणवान् हो, दीर्घायु हो, बलवान् हो, वह निरन्तर इसी चिन्तन में रहने लगा। इस कारण से अपने तप धर्म की ओर से विरक्त हुआ, आयु क्षीण होने पर मृत्यु ने ग्रस लिया, तपोभ्रष्ट अवस्था में परन्तु तप के बल से ही शरीर छूटा, तब भोग चिन्ता संयुक्त मद्रदेश के राजा के घर में पुत्र हुआ, तदन्तर उस देश का राजा हुआ, चिरकाल तक राज्य भोगकर वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ, शरीर जर्जर हो गया, वहाँ तब की अभिलाषा में शरीर छूटा, इस कारण से तपेश्वर के घर में

पुत्र हुआ, अब संताप से रहित होकर गंगाजी के किनारे पर तप करने लगा है, हे रामजी! इस प्रकार मन के फुरने से शुक्र ने अनेकों शरीरों को भोगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्याने विविधजन्म वर्णनम् नाम अष्टमः सर्गः ॥८॥

नवमः सर्गः ९

भार्गवकलेवर वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार शुक्र मन से घूमता रहा तब भृगु के पास जो शरीर था, वह निर्जीव हो गया, पुर्यष्टका निकल गयी थी, पवन और धूप से शरीर जर्जर हो गया था जैसे मूल से काटा हुआ वृक्ष गिर पड़ता है, ऐसे शरीर गिर पड़ा, चंचल मन भोग की तृष्णा से वहीं गया था, जैसे हरिण वन में भ्रमता है अथवा जैसे चक्रपर चढ़ा बासन भ्रमता है, ऐसे भ्रम से भ्रमान्तर को देखा, जब मुनीश्वर के घर में जन्म लिया तब चित्त में विश्राम हुआ, गंगा के तटपर तप करने लगा, मंदराचल पर्वत वाला शरीर नीरस हो गया, अस्थि चर्ममात्र शेष रह गया और रुधिर सूख गया, शरीरके रन्ध्रमार्गोंसे पवन चलने पर वंसरी की नाईं शब्द होता था, मानो चेष्टा को त्यागकर शरीर आनन्दवान् हुआ है, जब बड़ा पवन चले तब भूमिपर लोटने लगे, नेत्र गड्ढे से हो गये, मुख फैल गया, मानो अपने पूर्व स्वभाव को देखकर हँसता है, तब वर्षाकाल आता तब पानी से भर जाता और पानी रंध्रों में से बाहर निकलता था, जैसे झरने बहते हैं, गर्मी का समय आने पर सूख जाता था, महाकाष्ठ की नाईं वन में मौन रूप होकर स्थित हुआ, और मृगपक्षियों ने शरीर का नाश नहीं किया। यहाँ शरीर की यह अवस्था हुई और वहाँ शुक्र पवन के शरीर से चेष्टा करता था।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गव कलेवर वर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥९॥

दशमः सर्गः १०

कालवाक्यवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब सहस्त्रवर्ष व्यतीत हुए, तब वे भूमिलोक के तीन लाख आठ हजार वर्ष हुए, तब भगवान् भृगुजी ने समाधि खोली, जगकर देखा तो अपने आगे शुक्र का शरीर दृष्टि न पड़ा जब भलीप्रकार देखा तो अपने आगे शुक्रका शरीर दृष्टि आया जो अत्यंत शोचनीय दशा थी, शरीर कृश होकर गिर पड़ा है, तब जान लिया कि काल ने इसे भक्षण किया है, धूप, वायु और मेघ से शरीर जीर्ण शीर्ण हो गया है, नेत्रों के स्थान में गड्ढे बने हैं कीडें पडें हुए हैं, कई जीवों का निवास स्थान बन रहा है, घुराण मक्खियाँ आती हैं जाती हैं, सफेद दाँत निकल आये हैं, मानों शरीर की दशा को देखकर हँसते हैं। मुख और ग्रीवा का भयानक रूप है, खोपड़ी श्वेत हो गयी है, नासिका श्रवणस्थान सब जर्जर हो गये हैं, वायु चले तब रन्ध्रायु स्थान शब्द करते हैं, महा आश्चर्य रूप शरीर कृश होकर गिर पड़ा है, राग द्वेष से रहित होकर स्थित हुआ है, मृगों पक्षियों ने इसे भक्षण नहीं किया, वह इसलिये कि एक तो वह पुण्य स्थान, दूसरा भृगुजी का तेज था, इस कारण से हिंसकों ने भक्षण नहीं किया, शरीर की यह दशा देखकर भृगुजी उठ खड़े हुए, क्रोधवान् होकर कहने लगे, कि काल ने क्या समझा है? जो मेरे पुत्र को मारा है, शुक्र परम तपस्वी और सृष्टि पर्यन्त रहने वाला था। बिना काल (समय) के मेरे पुत्र को क्यों मारा, यह कौनसी रीति है? मैं काल को शाप देकर भस्म करूंगा, मेरे पुत्र को बिना समय के मारा है, तब काल के महाकाल अद्भुत शरीर धारण कर सामने आये उनके छै मुझे छै भुजाएँ थीं, हाथ में खड्ग त्रिशूल और फांसी लिये हुए थे, कानों में धारण किये थे, और मुख से आग निकल रही थी, महाश्याम शरीर, और आग की लपटों के समान उनकी जिह्वायें थीं उनके त्रिशूल के अग्रभाग से भी

अग्नि शिखाएँ निकल रही थीं, जैसे कि प्रलय काल की अग्नि से धूम निकलता है, ऐसा पहाड़ सरीखा काल शरीर भयंकर स्वरूप प्रकट हुआ। उनके चरण के पड़ने से पृथ्वी पहाड़ कांपते थे, वे महाभयानकरूप काल भगवान् भृगुजी के पास आकर कहने लगे, हे मुनीश्वर! मर्यादा के वेत्ता और परावर परमात्मा को जानने वाले ऋषिलोग क्रोध को नहीं प्राप्त होते, जो कोई उनके पास क्रुद्ध होकर भी आवे तो भी वे मोह के वश से क्रोधवान् नहीं होते, तुम कारण बिना वृथा मोहित होकर क्यों क्रोध को प्राप्त हुए हो? तुम ब्रह्मतनय तपस्वी हो, और हम नीति के पालक हैं, तुम हमारे पूजने योग्य हो, यही नीति की इच्छा है तप के बल से तुम क्षोभ मत करो, तुम्हारे शाप से मैं भस्म नहीं होता प्रलय काल का अग्नि भी मुझे दग्ध नहीं कर सकता, तो तुम्हारा शाप मुझे क्या भस्म करेगा? हे मुनीश्वर! मैंने तो अनेक ब्रह्माण्ड भक्षण किए हैं, कोटि कोटि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र मेरा ग्रास हो चुके हैं, तेरा शाप मेरा क्या बिगाड़ सकता है, जैसे आदि नीति ईश्वर ने रची है वैसी स्थिति है, हम समस्त जगत् के भोक्ता हुए हैं, आप सब लोग हमारा भोजन हो, यह आदिनीति है, हे मुनीश्वर! अग्नि स्वभाव से ऊपर को जाता है, और जल स्वभाव से नीचे को जाता है, और भोग भोक्ता को प्राप्त होता है, सब सृष्टि काल के मुख में जाती है, आदि परमात्मा की नीति ऐसी ही है, जैसी रची है, ऐसे स्थित है! और यदि निष्कलंक ज्ञान दृष्टि से विचारकर देखें तो न कोई कर्ता है न भोक्ता है, न कारण है न कार्य है, एक अद्वैत सत्ता ही है, यदि अज्ञान कलंकित दृष्टि से देख तो कर्ता भोक्ता अनेक प्रकार के भ्रम भासते हैं। हे ब्राह्मण! कर्ता भोक्ता आदि जो भ्रम हैं, वह असम्यक् ज्ञान से होता है, जब सम्यक् ज्ञान हुआ तब कर्ता कार्य भोक्ता कोई नहीं जैसे वृक्ष के साथ पुष्प स्वभाव से ही उत्पन्न हो आते हैं, और स्वभाव से ही नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ही भूतप्राणी सृष्टि में स्वभाव से ही फुर आते हैं, फिर स्वाभाविक रीति से नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मा उत्पन्न करता है, फिर नाश करता है, जैसे चन्द्रमा का बिंब जल में पड़ता है, जल के हिलने से

हिलता भासता है ठहरने से ठहरा भासता है, ऐसे ही मन में फुरणे से आत्मा में कर्तव्य भोक्तव्य भासता है, वास्तवसे कुछ नहीं, मिथ्या ही मन के फुरने से लोक में कर्तव्य आदिक भासते हैं, जैसे जेवरी में सर्प भ्रम भासता है, ऐसे आत्मा में कर्तव्य भोक्तव्य भ्रम से भासता है, वास्तव कुछ नहीं, इसलिये क्रोध मत करो यह दुष्ट कर्म आपत्ति का कारण है, हे मुनीश्वर! यह जो मैं वचन तुम्हें कहता हूँ वह अपनी विभुता और अभिमान से नहीं कहता, यह स्वतः ईश्वर की नीति है, हम उसीमें स्थित हैं, जो बोधवान् पुरुष हैं, वे प्रकृत आचार में विचरते हैं, वे अभिमान करके नहीं विचरते, जो कर्तव्य के वेत्ता हैं, वे बाह्य प्राकृत आचार को करते हैं, जैसा आकर प्राप्त हो और अन्दर से सुषुप्ति की नाईं स्थित हैं, यह ज्ञानदृष्टि कहाँ, वह धैर्य कहाँ और उदार कहाँ, जो शास्त्र से प्रसिद्ध है, तुम क्यों अन्धे के समान मोह मार्ग में मोहित होते हो, हे साधो! तुम तो त्रिकालदर्शी हो, अविचार से मूर्ख के समान क्यों जगत् यंत्र में मोहित हो? तुम्हारा पुत्र अपने कर्मफल को प्राप्त हुआ है, और तुम मूर्ख की नाईं मुझे शाप देना चाहते हो, हे मुनीश्वर! इस लोक में जीवों के दो दो शरीर हैं, एक मनरूप है, दूसरा अधिभूतरूप है, अधिभूतरूप जड़ है, अत्यन्त विनाशी है, जहाँ इसको मन प्रेरता है वहाँ चला जाता है, स्वयं कुछ नहीं कर सकता, जैसे सारथी भला होता है तो रथ को भले स्थान ले जाता है, ऐसे ही जब मन भला होता है तब उत्तम लोक को प्राप्त करता है, जब दुष्ट होता है तो नीच स्थान में पहुँचाता है जिसको मन असत् करता है वह असत् भासता है, जिसको मन सत् करता है वह सत् भासता है, जैसा कमल का पत्ता है वैसे हो भासता है, जैसे बालक मिट्टी की सेना बनाते हैं, फिर तोड़ देते हैं, कभी सत् करते हैं कभी असत् करते हैं, जैसे करतें है वैसे देखते हैं, हे साधो! यह चित्तरूपी पुरुष है, जो चित्त करता है वह किया होता है जो चित्त नहीं करता वह न किया होता है यह जो फुरणा है यह देह है ये नेत्र हैं यह सिर है यह अंग है इत्यादिक सब

मनरूप हैं, जीव भी मन का नाम है, मन का जीवन जीव है, जब मन की वृत्ति निश्चयरूप होती है तब उसका नाम बुद्धि होता है। रूपता को धारण करता है, तब इसका नाम अहंकार होता है, देह को स्मरण करता है तब इसका नाम चित्त होता है, इसलिये पृथ्वीरूप शरीर कोई नहीं, मन दृढ़ भावना से शरीररूप होता है, वही अधिभूत भासता है, जब शरीर की भावना को त्यागता है तब चित्त परमपद को प्राप्त होता है, जितना जगत् है वह मन के फुरणे में स्थित है, जैसा मन को फुरणा होता है, ऐसा ही रूप हो भासता है और तेरा जो पुत्र था शुक्र, वह भी मन के फुरणे से अनेक स्थान को देखता है। जब तुम समाधि में स्थित थे तब विश्वाची देव सुन्दरी जो अप्सरा थी उसके पीछे मन से चला गया, इन्द्र के स्वर्ग लोक में पहुँचा, देवता होकर मंदार वृक्षों के बीच विचरने लगा, परिजात वृक्ष तमाल और नन्दन में विचरता रहा, लोकपालों के स्थानों में विचरा, बत्तीस युग पर्यन्त विश्वाची के साथ रहा, जैसे भँवरा कमल का सेवन करता है, ऐसी तीव्र वेग से भोगता रहा, जब पुण्य क्षीण हुआ तब वहाँ से गिराया गया, जैसे पका फल वृक्ष से गिरता है, तब देवता का शरीर आकाश मार्ग में अन्तर्धान हो गया, भूमि लोक में आन पड़ा धान्य में आकर ब्राह्मण के वीर्य द्वारा ब्राह्मणी का पुत्र हुआ, मालव देश का राज्य किया, फिर धीमर का जन्म पाया, तदनन्तर सूर्य वंशी राजा हुआ, फिर विद्याधर हुआ, कल्प पर्यन्त विद्याधरों में बुद्धिमान रहा, इस प्रकार अनेक शरीरों को पाकर अब गंगा के तट पर ब्राह्मण का पुत्र होकर तप करता है, वसुदेव उसका नाम है, हे मुनीश्वर! इस प्रकार तेरा पुत्र वासना से अनेक शरीर पाता रहा है, विंध्याचल पर्वत में गैव हुआ, क्रान्त देश में धीमर हुआ, तरंगित देश में राजा हुआ, क्रान्त देश में हरिण हुआ, वन में विचरा, फिर विद्यावान् गुरु हुआ, विद्याधर श्रीमान् हुआ, तदनन्तर कुंडलादि भूषित ऐश्वर्यवान् गन्धर्वों का मुनिनायक भूषण हुआ, कल्प पर्यन्त वहां रहा, जब प्रलय होने लगा तब सब लोग पूर्व ही भस्म हो गये, जैसे अग्नि में पतंग भस्म होते हैं, तब तेरा पुत्र

तुम्हारे अधीन है, इन सबके तुम वेत्ता हो जाननहार हो, जैसे इन्द्रजाली अपनी बाजी का वेत्ता (ज्ञाता) होता है, इस प्रकार तुम्हारी प्रकृति (माया) तुम्हारे अधीन हुई आज्ञा के अनुसार काम करती है, हे भगवन्! मैंने जो भ्रम में पड़कर क्रोध किया, वह इस कारण से कि मेरे पुत्र का मृत्यु न था, चिरजीवी था, उसको मरा हुआ देखकर मुझे भ्रम हुआ, और हमारा जो क्रोध है, वह आपत्ति का कारण नहीं, क्योंकि मैंने पुत्र का शरीर निर्जीव देखा तब कहा कि यह असमय मरा है (अभी इसका मृत्यु समय नहीं था) इस कारण से क्रोध हुआ, वह क्रोध भी नीति रूप है, अर्थात् जहां क्रोध का स्थान न हो वहां क्रोध रहता है, मैंने संसार की गति देखकर क्रोध नहीं किया, अर्थात् पुत्र की अवस्था देखकर क्रोध नहीं किया, निर्जीव शरीर को देखकर क्रोध किया है, इसीसे यह क्रोध आपत्ति का कारण नहीं, अयुक्त क्रोध आपत्कारण है, युक्त अर्थात् सकारण क्रोध संपत्ति का कारण है, यह कर्तव्य संसार की सत्ता में स्थित है, यह नीति है, जब तक जीव है तब तक जगत् क्रम है, जैसे जब तक अग्नि है तब तक उष्णता भी है ऐसे जो कर्तव्य है, वह करना है, जो त्याज्य है उसको त्यागना योग्य है, यह नीति जगत् में स्थित है, जो हेयोपादेय नहीं जानता उसको जानना उसको त्यागना योग्य है, अतः मैंने पुत्र की अकाल मृत्यु देख कर क्रोध किया था, परन्तु विचारकर जब तुमने स्मरण कराया तब मैंने देखा कि मेरा पुत्र अनेक भ्रम पाकर गंगा के तट पर तप करता है, हे भगवन्! तुमने जो कहा जीवों के दो दो शरीर हैं, एक मनोमय दूसरा आधिभौतिक, और मैं तो यह मानता हूँ कि शरीर एक मन ही है, स्थूल देह मनोरचित है, जैसे घट को कुलाल रचता है, ऐसे मन देह को रचता है, जो मन शरीर से रहित निराकार होता है, क्षण में आकार को रच लेता है, जैसे बालक परछाईं में वैताल को रचता है, मन में जो स्फुरण सत्ता है भ्रम से स्वप्न भ्रम उससे दिखाता है, बड़े आकार और गन्धर्व नगर भास आते हैं, वह मन की ही सत्ता है, स्थल दृष्टि से जीव को दो शरीर भासते हैं, बोधवान् को तीनों जगत् मन रूप भासते हैं, सब मन ने रचे हैं, जब भेदवासना होती है, तब

निराधार निराकार वासना से आकाश मार्ग में भ्रमता रहा, जैसे आलय बिना पक्षी रहता है, ऐसे रहा। जब ब्रह्मा की रात्रि व्यतीत हुई, तब सृष्टि की रचना हुई, अब वह सत्युग में ब्राह्मण का बालक वसुदेव नाम गंगा के तट पर तप करता है, आठ सौ वर्ष उसको तप करते बीते हैं, तू भी ज्ञान दृष्टि देखेगा, तो सब ही वृत्तान्त उसका तुझको भास आवेगा, अतः देखो कि इसी प्रकार है अथवा किसी और प्रकार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे कालवाक्यवर्णनं नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः ११

संसारावर्तवर्णनम् ।

काल भगवान् बोले—हे मुनीश्वर! बडे-बडे तरंगोंवाली गंगा के तट पर तेरा पुत्र तप करता है, सिर पर बड़ी जटाएं हैं, सर्व इन्द्रियों के भ्रम को उसने जीता है, यदि तुमको इसके मन का विस्तार देखने की इच्छा हो तो इन नेत्रों को मूँदकर ज्ञान नेत्रों से देखो, हे रामजी! जब इस प्रकार जगत् के ईश्वर समदर्शी काल ने कहा—तब मुनिवर चिन्तन करने लगे विचारकर उन्होंने नेत्र बन्द किये और ज्ञान नेत्र से देखा तब एक मुहूर्त भर में अपने पुत्र का सब वृतान्त देख लिया, जैसे कोई अपनी बुद्धि में प्रतिबिंब को देखे, ऐसे देखकर मंदराचल पर जो भृगुशरीर था उसमें प्रवेश किया अन्तवाहक शरीर से अपने आगे काल भगवान् को देखा, पुत्र को गंगा तट पर देखा, आश्चर्यवान् हुआ, तब विकार दृष्टि को त्याग कर निर्मल दृष्टि से वीतराग मुनीश्वर ने कहा, हे भगवन्! तीनों कालों के ज्ञाता ईश्वर! हम बालक हैं इसी लिये निर्दोष हैं, आप परम बुद्धिमान त्रिकालज्ञ हैं, हे भगवन्! ईश्वर की माया महा आश्चर्यरूप है, जीवों को अनेक भ्रम दिखाती है, बुद्धिमान् को भी मोहित करती है, मूर्खों की तो बात ही क्या है। तुम सब कुछ जानते हो, जीवों की प्रत्येक बात आपके अन्तर्गत है, जीव मनोवृत्ति के अनुसार भ्रमते हैं, मनोवृति जीवों की

असत्‌रूप जगत् नाना प्रकार हो भासता है जैसे असम्यक् दृष्टि से दो चन्द्रमा भासते हैं, सम्यक्‌दर्शी को एक चन्द्रमावत् सब शान्तरूप आत्मा ही भासता है, भेदभावना से घट पट आदिक अनेक पदार्थ भासते हैं, कि मैं दुर्बल हूँ, मोटा हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, यह जगत् है, यह काल है, इत्यादि अनेक भ्रम को देखता है, संसार वासना मात्र है, जब मन शरीर की वासना को त्यागकर परमार्थ की ओर आता है, तब भ्रम को प्राप्त होता है, हे मुनीश्वर! समुद्र का तरंग उठकर ऊर्ध्व को जाता है, जब वह जाने कि मैं तरंग हूँ, तो मूर्ख है, यही अज्ञान दृष्टि है, उर्ध्व को जावेगा तब जानेगा मैं उर्ध्व को गया हूँ, नीचे जावेगा तब जानेगा मैं पाताल को गया हूँ, यह कल्पना अज्ञान है वास्तव नहीं, वास्तव दृष्टि यह है, कि अधः होय अथवा ऊर्ध्व होय, परन्तु अपने आपको जलरूप जाने, ऐसे जो पुरुष परिछिन्न देहादिक में अहं प्रतीति करता है, वह अनेक भ्रम को देखता है, सम्यक्‌दर्शी सब आत्मरूप जानता है, सब जीव आत्म समुद्र के तरंग हैं, अज्ञान से भिन्न हैं, और ज्ञान से वही रूप है, आत्मरूप सम है, स्वच्छ है, शुद्ध है, आदिरूप है, शीतल अविनाशी विस्तृतरूप अपनी महिमा से स्थित है। सदा आनन्द रूप है, जैसे कोई जल में स्थित है और तट के ऊपर पहाड़ है, उसको आग लगी हो अग्नि का प्रतिबिंब जल में पड़ता है और वह कहे मैं दग्ध होता हूँ, वह जैसे भ्रम से उसको ज्वलनता भासती है, ऐसे जीव को आभासरूप जगत् दुःखदायक भासता है, जैसे तट के वृक्ष पर्वतादि पदार्थ जल में प्रतिबिंबित भासते हैं, और उनको देखकर नाना प्रकार भासें वैसे आभासरूप जगत् को जीव नाना प्रकार रूप भासते हैं, जैसे एक समुद्र में नाना तरंग भासते है, ऐसे आत्मा में अनेक आकार जगत् भासता है, वास्तव से द्वैत कुछ नहीं, सर्व शक्तिरूप ब्रह्मसत्ता है, उससे विचित्ररूप चंचल भासता हैं तो भी एक रूप है, अपने आप में स्थित है, ब्रह्म में जगत् फुरता है, फिर उसी में लीन होता है, जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं, फिर उसमें लीन होते हैं, और भेद कुछ नहीं, पूर्ण में पूर्ण ही स्थित है, जैसे जल से तरंग भिन्न नहीं ऐसे ईश्वर से जगत् भिन्न

नहीं, जैसे पत्र, डाली, फूल, फल, वृक्षरूप हैं, ऐसे सब जगत् आत्मरूप है, वह आत्मा अनेक शक्तिरूप है, जैसे एक पुरुष अनेक धर्म का कर्ता होता है, जैसा कर्म करता है वैसे ही संग को पाता है, पाठ करने से पाठक कहाता है, पाक करने से पाचक कहाता है, जापक आदि अनेक नाम धारण करता है, ऐसे एक आत्मा अनेक शक्तिधारी होती है, ज़ैसे एक परछाया जिस आकार की पड़ती है, वैसा आकार भासता है, जैसे एक मेघ में अनके रंगों सहित इन्द्रधनुष भासते हैं ऐसे यह अनेक भ्रम प्राप्त करता है, हे साधो! जगत् ब्रह्म से फुरते हैं, जड़ भासते हैं, वह भी चैतन्य सत्ता से फुरते हैं, जैसे बबोहा अपने मुख से तंतु निकालकर आप ही ग्रस लेता है, ऐसे चेंतन से जड़ उत्पन्न होते हैं, फिर लीन हो जाते हैं, चैतन्य जीव से सुषुप्ति जड़ता उत्पन्न होती है, फिर उसीमें लीन होती है, इसलिये अपनी इच्छा से यह पुरुष बद्ध होता है और अपनी इच्छा से मुक्त होता है, जब बहिर्मुख हुआ देहादिक अभिमान के साथ मिलता है, तब अपने आपको बंधन में डालता है, जैसे घुराण आप ही गृह रचकर बंधन में आती है, जब पुरुषार्थ से अन्तर्मुख होता है, तब मुक्ति पाता है जैसे अपने हाथ से बंधन को बलपूर्वक तोड़कर कोई बली निकल जाता है, हे साधो! ईश्वर विचित्र रूप शाक्ति है, जैसी शक्ति फुरती है, वैसा रूप दिखाती है, जैसे ओस आकाश में उपजती है, उसीको आच्छादित करती है, ऐसे आत्मा में जो इच्छा शक्ति उपजती है, वही आवरण बन जाती है, तन्मय रूप हो जाता है, और वास्तव से इनको बन्धन से बन्धन नहीं, मोक्ष से मोक्ष नहीं बन्ध और मोक्ष दोनों शब्द भ्रान्तिमात्र हैं, मैं नहीं जानता कि बन्ध और मोक्ष संसार में कहाँ से आये हैं, आत्मा को न बन्धन है न मोक्ष है ऐसे सत् रूप को असत्यरूप ने ग्रसा है, जो कहता है मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ, दुबला हूँ, मोटा हूँ, इत्यादि भ्रम देखता है। माया महाआश्चर्यरूप है जिसने जगत् को मोहित किया है, हे मुनीश्वर! जब चित्तसंवित् कल्पनारूप होता है अर्थात् जब दृश्य के साथ मिलकर स्फुरणरूप होता है तब घुराण की नाईं आप ही अपने आपको बन्धन में

डालता है, और जब दृश्य से रहित अन्तर्मुख होता है, तब शुद्ध मोक्षरूप भासता है, बन्ध और मुक्ति दोनों मन की शक्तियां हैं, जैसा मन फुरता है, वैसा वैसा रूप भासता है, अनेक शक्तियाँ आत्मा के साथ अनन्यरूप हैं, सब आत्मा से उपजी हैं और आत्मा में स्थित हैं, उसमें भिन्न होकर भासती हैं, उसमें लीन होती हैं, जैसे समुद्र से तरंग उपजते हैं उसमें स्थित होकर लीन हो जाते हैं, जैसे चन्द्रमा से किरणें उदय होकर भिन्न भासती हैं फिर उसी में लीन हो जाती हैं, ऐसे परमात्मरूप महासमुद्र से जिसमें चेतनता रूप जल है, जीवरूप अनेक तरंग उपजते हैं उसमें स्थित हैं फिर लीन हो जाते हैं, कोई तरंग ब्रह्मारूप, कोई विष्णुरूप, कोई रुद्ररूप होकर प्रकाशित है, जिससे उपजते हैं उसीमें स्थित हैं, प्रमाद से रहित कोई यम, कोई कुवेर, कोई इन्द्र, कोई सूर्य, कोई अग्नि, कोई मनुष्य, कोई देवता, कोई गन्धर्व, कोई विद्याधर, यक्ष, किन्नर आदिकरूप होकर उपजते हैं फिर लीन हो जाते हैं, कोई स्थित होकर चिरकाल तक रहते हैं, जैसे ब्रह्मादिक हैं, कोई उपजकर कुछ काल रहकर विध्वंस हो जाते हैं वे देवता मनुष्यादिक हैं और कोई कीट सर्प आदि फुरते हैं चिरकाल भी रहते हैं अल्पकाल में नष्ट हो जाते हैं, आत्म–समुद्र से तरंगवत् फुरते हैं, फिर उसीमें लीन हो जाते हैं, कोई ब्रह्मा आदिक उपजकर अप्रमादी रहता है कोई प्रमादी हो जाता है, तुच्छ शरीर होते हैं यह संसार स्वप्न आरंभ है, और दृढ़ होकर भासता है, कोई कैसे कोई कैसे रूप से स्थित है, स्वरूप के प्रमाद से दीनता को प्राप्त होता है, ऐसा मानते हैं मैं दुःखी हूँ मैं कृश हूँ इत्यादिक भ्रम को मूढ़ता से देखते हैं, सब आत्मरूप के तरंग पड़े फुरते हैं कोई जंगमरूप, कोई स्थावररूप, मनुष्य, देवता, दैत्य, तिर्यक्, पशु पक्षी सब आत्मसमुद्र तरंग हैं, उत्पन्न होकर लीन हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारावर्तवर्णनं नाम एकादशः सर्गः ।।११।।

द्वादशः सर्गः १२

उत्पत्तिविस्तारवर्णनम् ।

काल भगवान् ने कहा—हे मुनीश्वर! देवता, दैत्य, मनुष्य, आदिक जो आकार हैं, ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हैं। यह सत् है, जब मिथ्या संकल्प के साथ जीव कलंकित होता है तब जानता है कि मैं ब्रह्म नहीं, इस निश्चय को पाकर मोहित होता है, मोहित हुआ अधः को चला जाता है, यद्यपि ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप है, और उसमें स्थित है तो भी भावना के वश से आपको भिन्न जानकर मोह को प्राप्त होता है, शुद्ध ब्रह्म में संवित् का उल्लेख होता है, कंलकितरूप कर्म का बीज होता है, उससे आगे विस्तार को पाता है, जैसे जल जिस जिस बीज के साथ मिलता है, उसी रस को प्राप्त होता है। ऐसे संवित् का फुरणा जैसे कर्म के साथ मिलता है वैसी गति को प्राप्त होता है, संकल्प से कंलकित हुआ अनेक दुःख पाता है। यह प्रमादरूप कर्म कर जुए के बीज के समान है जो मूठ भर बीजने से अपने ही दुःख का कारण होता है, यह जगत् आत्मरूप समुद्र की लहरें हैं, विस्तार से फुरती हैं, कई ऊपर को (स्वर्गादि लोक) जाती हैं, कई अधः नीचे (पाताल) को जाती हैं, फिर लीन हो जाती हैं, ब्रह्मादि तृण पर्यन्त इन सबका यही धर्म है, जैसे पवन का स्पंद धर्म है, उनमें कई निर्मल हैं पूजने योग्य हैं, वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक है, कई कुछ मोह संयुक्त हैं, जैसे देवता, मनुष्य, सर्प हैं। कई एक अनन्त मोह में स्थित हैं जैसे पर्वत वृक्ष आदिक हैं। कई अज्ञान से मूढ़ हैं, वह कृमि कीट आदिक योनि को प्राप्त हुए हैं। यह दूर से दूर चले गये हैं, जैसे जल के प्रवाह से तृण चला जाता है, देवता, मनुष्य, सर्प आदिक कई भ्रमवान् भी होते हैं, कई एक तट के निकट आकर फिर बह जाते हैं, अर्थात् सत्संग में पड़कर भी माया के व्यवहार में बह जाते हैं, यमरूप चूहा उन्हें काटता रहता है, एक अल्प मोह को पाकर फिर ब्रह्म समुद्र में लीन हुए हैं, कई एक ब्रह्म समुद्र के तत्व को जानकर स्थित हुए हैं, अज्ञान को पार कर गये हैं। कई कोटि

जन्मों के बाद स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, कई नीचे से ऊपर को चले जाते है कई ऊपर से नीचे आते हैं, प्रमाद से अनेक योनियों के दुःखों को भोगते हैं जब आत्मज्ञान होता है तब आपत्ति से छूटकर शान्तिमान् होते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे उत्पत्तिविस्तारवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ।।१२।।

त्रयोदशः सर्गः १३

भृग्वाश्वासनवर्णनम् ।

काल भगवान् बोले– हे साधो! यह जितना कुछ जगत् भूतजात विस्तार है सब आत्मरूप समुद्र के तरंग हैं, एक ही अनेकरूप विचित्र विस्तार को प्राप्त हुआ है, जैसे वसन्त ऋतु एक ही रस अनेक प्रकार के फूल फल को धारण करता है, ऐसे ही इस जीवन में जिन्होंने मन को जीतकर सर्वात्मा ब्रह्म का दर्शन किया है, वे जीवनमुक्त हुए हैं और मनुष्य, देवता, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, आदि सब भ्रान्त हो रहे हैं, इनसे इतर भी स्थावर मूढ़ अवस्था में हैं, उनकी बात ही क्या है। लोक में तीन प्रकार के जीव हैं, एक अज्ञानी महामूढ़ हैं, दूसरे जिज्ञासु हैं, तीसरे ज्ञानवान् हैं, जो मूढ़ हैं उनको शास्त्र के श्रवण में तथा विचार में कोई रुचि नहीं, और जो जिज्ञासु हैं, उसके लिये ज्ञानवान्ों ने शास्त्र रचे हैं, जिस जिस मार्ग से वे प्रबुद्धआत्मा हुए हैं, उसी उसी मार्ग के अनुसार उन्होंने शास्त्रों की रचना की है, जिससे अन्य जिज्ञासुजन भी कृतार्थ होते हैं। हे मुनीश्वर! ज्ञानवान् महात्मा पुरुषों के अनुभवरूप उस उस मोक्ष शास्त्र का जो भी निष्पाप हृदय शास्त्रश्रवणाधिकारी जिज्ञासु विचार करता है उसको निश्चित रूप से निर्मल बोध की प्राप्ति होती है, उससे जिज्ञासु का समस्त मोह इस प्रकार मिट जाता है जैसे सूर्य के प्रकाश से अन्धकार का नाश हो जाता है और जो मूढ़ अज्ञानी हैं वे आत्म प्रमाद से

विषय सुख को चाहते हुए मोह को प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धेरी रात हो और ऊपर से कुहिड भी छा जाय तो तम से तम होता है, ऐसे ही मूढ़ मोह से मोह को प्राप्त होते हैं। अपने सकंल्प से आप ही दुःखी होते हैं, जैसे बालक अपनी परछाही में वैताल की कल्पना करके आप ही दुःखी होता है, इसलिये जितने भी भूतप्राणी हैं, इन सबके सुख दुःख का कारण मनरूपी शरीर हैं, उसके स्पंदनानुसार सब कुछ होता है, मांसमय शरीर का किया कुछ सफल नहीं होता, असत् मांस आदिक से मिला हुआ जो आधिभौतिक शरीर है, वह मन के संकल्प से रचा गया है, वास्तव कुछ नहीं, संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासने लगा है, स्वप्न शरीर की नाईं है, मन रूपी शरीर से जो तेरे पुत्र ने किया है, उसी गति को प्राप्त हुआ है, इससे हमारा कुछ अपराध नहीं है। हे मुनीश्वर! अपनी वासना के अनुसार जैसा कोई कर्म करता है वैसा फल पाता है, मांसमय शरीर में कुछ नहीं होता, जैसे जैसे तीव्र भावना से तेरे पुत्र का मन फुरता गया, वैसी वैसी गति प्राप्त हुई। स्वर्ग नरक सबका भोक्ता हुआ है, मन के अनुसार होकर सब कुछ देखा है, बहुत कहने से क्या है अब वहाँ ही चलिये। जहाँ वह ब्राह्मण का पुत्र होकर तप करने लगा है, गंगा के तट पर वहाँ उसको देखें। श्रीवाल्मीकि मुनि बोले– हे भरद्वाज! इस प्रकार जब काल भगवान् ने कहा तब दोनों जगत् की गति को हँसते उठ खड़े हुए, हाथ में हाथ पकड़कर कहने लगे, बड़ा आश्चर्य है, ईश्वर की नीति आश्चर्य रूप है, जीव को भ्रम में डालती है। जैसे उदयाचल पर्वत से सूर्य उदय होता है और आकाश मार्ग से चलता है, ऐसे प्रकाश के निधि उदार आत्मा दोनों चले। इस प्रकार वसिष्ठजी ने रामजी को कहा तब सूर्य अस्त हुआ सारी सभा स्नान के लिये चली गयी, दिन निकलने पर सब अपने आसन पर आ विराजमान हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भृग्वाश्वासनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।१३।।

चतुर्दशः सर्गः १४

भार्गवजन्मान्तरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! काल भगवान् और भृगुजी दोनों मंदराचल पर्वत से भूमि पर उतरे। जहाँ पुत्र बैठा था वहाँ चले देवताओं के सुन्दर स्थानों को लांघते वहां गये जहां ब्राह्मण शरीर के साथ समंगा नदी के किनारे पर वह तप करता था, उसको समाधिस्थ देखा कि उसका मनोमृग चंचलता को त्यागकर शान्त हुआ है, जैसे चिरकाल का थका चिरकाल तक विश्राम पाना चाहता है ऐसी ही वह विश्राम में था। अनेक जन्मों के चिन्तन से भटकता भटकता अब तप में लगा है और विश्राम को प्राप्त हुआ है जैसे चक्र भ्रमता ठहर जाता है, वैसे ठहर गया है, संसाररूपी महासमुद्र है, उसके आवर्त से निकलकर एकान्त स्थित हुआ है, इंद्रिय और मन की चपलता को त्यागकर निर्विकल्प समाधि में स्थित हुआ है, स्थावर की नाईं अचल हुआ है, आधिव्याधि आदिक संपूर्ण कल्पना जाल से मुक्त परमशान्ति को प्राप्त हुआ है, रागद्वेष से रहित होकर परमानन्द में स्थित हुआ है, परमबोध उदारता में समाधि स्थित उसको देखकर काल ने कहा– हे भृगु! देख समाधि में स्थित है, अब जगाइये। इस प्रकार मेघ की नाईं गरजकर काल भगवान् ने कहा, तब उसकी कल्पना फुरणे से और बाहिर शब्द से शुक्रजी जगे, जैसे मेघ के शब्द से मोर जगता है ऐसे जगा, और अर्धोन्मीलित नेत्र खोलकर काल और भृगु को अपने आगे खड़े देखा, परन्तु पहचाना नहीं, देखा कि दोनों के श्याम आकार हैं, बड़े प्रकाशरूप हैं, जैसे विष्णुजी और सदा शिवजी हों, उनको देखकर उठकर खड़ा हो गया, प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और कहा कि मेरे बड़े भाग्य हैं जो कि प्रभु चरण इस स्थान पर प्राप्त हुए, नम्रता सहित आदर सत्कार किया, तब दोनों एक शिला पर बैठ गये, वसुदेवनाम जो शुक्र है उसका नाम तप के संयोग से शातातप हो गया, उस तपस्वी ने शान्त हृदय से काल भगवान् और भृगुजी से यह वचन कहे हे प्रभो! मैं आपके दर्शन से

परमशान्ति को प्राप्त हुआ हूँ, सूर्य और चन्द्रमा सम आप मेरे यहाँ आये, जो मोह शास्त्रों के विचार और कठिन तप से भी निवृत्त होने वाला नहीं वह मेरा मोह आपके दर्शन से निवृत्त हुआ है, हे साधो! ऐसा सुख ऐश्वर्य से अथवा अमृत की वर्षा से भी नहीं मिल सकता जैसा कि महापुरुषों के दर्शन से मिलता है, आपके दर्शन से मेरा मोह नष्ट हुआ है, आप ज्ञान के सूर्य चन्द्रमा हो, हे ऋषीश्वरो! आपने मेरे स्थान को पवित्र किया है, दर्शन से मैं परम शान्तात्मा हुआ हूँ, आप कौन है? जिन्होंने यहाँ आने की इतनी कृपा की है, जब इस जन्मान्तर के पुत्र ने भृगुजीको कहा तब भृगुजी बोले हे साधो! तू अपने आपको स्मरण कर कि कौन है क्योंकि तुम अज्ञानी नहीं हो,प्रबुद्धात्मा हो, भृगुजी के इस प्रकार से कहने पर वह नेत्र बंद करके ध्यान में मग्न हो गया, एक मुहूर्त में अपना सब वृत्तान्त देखकर नेत्र खोले और बोला कि ईश्वर की गति विचित्र है, मैं कितने बड़े भ्रम को प्राप्त हुआ हूँ, जगद्रूप चक्र पर चढ़ा हुआ मैं अनन्त जन्मों में घूमा हूँ, उन सब के स्मरण से आश्चर्यवान् होता हूँ कि मैंने बहुत दुःख भोगे हैं और अनेक अवस्थाएँ देखी हैं, स्वर्ग में रहा हूँ, मन्दराचल पर कल्प वृक्ष के नीचे रहा हूँ, सुमेरु कैलासादिक वन कुंजों में रहा हूँ, ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मैंने नहीं प्राप्त किया, ऐसा कोई कार्य नहीं जो मैंने नही किया, ऐसा कोई इष्ट अनिष्ट स्वर्ग नरक पदार्थ नहीं, जो मैंने नहीं देखा, अब जो कुछ जानने योग्य है, उसे जाना, पाने योग्य को पाया, अब मैं आत्मतत्त्व में विश्रामवान् हुआ हूँ, संकल्प भ्रम मेरा नष्ट हो चुका है, अब चलिये मेरा शरीर जहाँ मन्दराचल पर पड़ा है। हे भगवन्! अब मुझे इच्छा कुछ नहीं है, मेरे लिये हेयोपादेय कुछ नहीं रहा, तथापि नीति की रचना देखकर कहता हूँ, जो बोधवान् हैं वे प्रकृत आचार में विचरते हैं आगे जैसे इच्छा हो ऐसे कीजिये, बोधवान् उसी आचार को अंगीकार करते हैं, अतः अपने अपने प्रकृत आचार को ग्रहण करके व्यवहार में विचरे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गव जन्मान्तर वर्णनं
नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पंचदशः सर्गः १५

शुक्र प्रथम जीवनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! इस प्रकार विचार कर तीनों आकाश मार्ग को चले, शीघ्र ही मेघ मण्डल का उल्लंघन करते हुए सिद्धों के मार्ग से मन्दराचल पर्वत की स्वर्ण कन्दरा में जा पहुँचे, वहाँ शुक्र के पूर्व शरीर को देखा और तपस्वी ब्राह्मण ने कहा हे तात! मेरा पूर्व शरीर देखो जिसको तुमने प्रेम से पाला था, कपूर की सुगन्धि से सुशोभित किया जाता था, पुष्पशय्या पर जिसे शयन कराते थे, वह अब मट्टी में लिपटा पड़ा है, जिसे देखकर देवाङ्गनाएँ मोहित होती थीं, वह अब सूख कर कैसा कुरूप हुआ है, जिसके कंठ में तारक पंक्ति की नाईं मुक्तामाला शोभा पाती थीं, वह अब पृथ्वी पर पड़ा है, नन्दन वन में इसने अनेक भोग भोगे हैं, आत्मरूप जानकर इसको मैं पुष्ट करता था, वही अब मुझे भयानक भासता है, जो शरीर देवांगनाओं के साथ मिलता था और रागवान् होता था, उनकी चिन्ता से सूख जाता था, मनोभिलषित विलास करता था, अब तो चिन्तारहित होकर पड़ा है, महाभाग्यहीन धूप से सूख गया है, अति विकराल भयानक सा दिखाई देता है, जिस पर पुष्पमालायें शोभित होती थीं उस पर आज अनेक प्रकार के कीड़े घूम रहे हैं, सब गुण इसको छोड़ गये हैं, मानों यह भी विरक्त हुआ है, विषयमुक्त होकर निर्विकल्प समाधि में स्थित हुआ है, हे शरीर! तू अदृष्ट तनु को प्राप्त हुआ है, अब तुम्हारे अन्दर कोई क्षोभ नहीं। तुम्हारा चित्तरूप वैताल शान्त हुआ है, तेरी सब कल्पनाएं नष्ट हुई हैं संकल्प जाल मिट गया है, सुख से सोया है, चित्तरूप मर्कट से रहित शरीर रूप वृक्ष निश्चेष्ट हुआ है। सब अनर्थों से रहित, पहाड़ की नाईं अचल हुआ हैं, यह देह अब सब दुःखों से रहित परमानन्द में स्थित हुआ है। हे साधो! सब अनर्थों का कारण चित्त है, जब तक चित्त शान्तिमान् नहीं होता, तब तक जीव को परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती, मनोनाश

होने पर जगत् की आधिव्याधियों से छूट सकता है, रामजी बोले– हे सर्वधर्मवेत्ता भगवन्! भृगु का जो पुत्र था उसने तो अनेक शरीर धारण किये थे और बार बार भोग भोगे थे, परन्तु उसने केवल भृगु से उत्पन्न हुए शरीर पर ही बहुत परिवेदना के साथ विविध बातों का वर्णन किया, दूसरे किसी शरीर का चिन्तन नहीं किया, इसका क्या कारण है? वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! शुक्र की जो संवेदन कला थी वह जीवभाव को प्राप्त हुई थी, वह कर्मरूप होकर भृगु से उत्पन्न हुई थी, उसे सुनो–आदि जो परमात्मतत्व से चित्कला फुरी है, वह भूताकाश को प्राप्त हुई है, वही बात कला में स्थित होकर प्राण अपान के मार्ग से भृगु के हृदय में प्रविष्ट हुई, वीर्यस्थान को प्राप्त होकर गर्भमार्ग से उत्पन्न हुई, क्रमपूर्वक बड़ी हुई, विद्यागुण सम्पन्न होकर उसी शरीर की शुक्र संज्ञा हुई, उसको चिरकाल तक सेवन करने से ही परिवेदना हुई, यद्यपि वह वीतराग तथा निरिच्छ था, तो भी चिरकालीन अभ्यास के कारण वह शरीर फुर आया! हे रामजी! ज्ञानी हो, अथवा अज्ञानी हो, व्यवहार दोनों का तुल्य होता है, परन्तु शक्ति अशक्तिका भेद है, ज्ञानवान् असंसक्त निर्लेप रहता है और अज्ञानी बन्धन में आ जाता है, ज्ञानवान् मोक्षरूप है और अज्ञानी दरिद्र है, जैसे वन में जाल में पक्षी फँसता है, वैसे अज्ञानी लोक व्यवहार में बद्ध हो जाता है व्यवहार जैसे ज्ञानी करता है, ऐसा अज्ञानी करता है, वासना से बन्धन है, निर्वासन मुक्त है, जब तक शरीर है, तब तक सुख दुःख भी होता है, परन्तु ज्ञानवान् दोनों में शान्तबुद्धि रहता है, अज्ञानी हर्षशोक से सुखी दुःखी होता है जैसे स्तंभ का प्रतिबिंब जल में पड़ता है, वह जल के हिलने से हिलता भासता है, परन्तु स्वरूप से स्थित है, ऐसे ही अज्ञान में सुखी दुःखी भासता है, परन्तु स्वरूप ज्यों का त्यों है। जैसे सूर्य का प्रतिबिंब जल के हिलने से हिलता भासता है, परन्तु स्वरूप से ज्यों का त्यों है ऐसे ज्ञानवान् इन्द्रिय चेष्टा से सुखी दुःखी भासता है, स्वरूप से ज्यों का त्यों है और अज्ञानी बाहिर से क्रिया का त्याग करता है तो भी बंधन पाता है, ज्ञानवान् क्रिया करता हुआ भी मुक्त है, कर्मेन्द्रियों से कुछ न करता हुआ भी जो अन्तःकरण से

विषय चिन्तम में मग्न है वह बद्ध है और जो अन्तःकरण से स्वस्थ है और कर्मेन्द्रियों द्वारा काम कर रहा है वह मुक्त है, सब प्रकार की चेष्टा बन्द करके भी जिसके मन में जगत् की सत्यता है वह कुछ करे या न करे तो भी बन्धन में है और बाह्यव्यवहार चलते रहने पर भी जिसके अन्दर अद्वैत है ज्ञान है वह मुक्तरूप है, उसको कर्म नहीं बाँध सकता, इसलिये हे रामजी! सब कार्य करो परन्तु अन्तः शून्य रहो, सब ईषणाओं से रहित आत्मपद में स्थिति प्राप्त करो, अपने प्रकृत व्यवहार को करते रहो, यह संसाररूप समुद्र है इसमें आधि–व्याधिरूप गड्ढे हैं, अहंता ममतारूप गर्त हैं, उसमें जो गिरा वह ऊपर से नीचे को ही जाता है इसलिये मन में संसार भाव स्थित न हो, ऐसा ही प्रयत्न करना जिससे शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति बनी रहे। जो ब्रह्मस्वरूप है शुद्ध है, सर्वात्मा है, निर्विकार निराकार आत्मपद में जो स्थित है उसको नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे शुक्रप्रथमजीवनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

षोडशः सर्गः १६

भार्गव जन्मान्तरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! इस प्रकार जब शुक्र ने शरीर का वर्णन किया और विकराल रूप देखकर उसमें त्याग बुद्धि की तब काल भगवान् ने शुक्र के वचन को न मानकर गम्भीर वाणी से कहा, हे शुक्र! तुम इस तपरूप शरीर का त्याग करके भृगु के पुत्र का जो शरीर है, उसको अङ्गीकार करो, जैसे राजा देश देशान्तर का भ्रमण करता हुआ अपने नगर में आता है, इसी प्रकार तुम इस शरीर में प्रवेश करो क्योंकि भार्गव शरीर से असुरों का गुरु होना परमात्मा की आदि नीति है, महाकल्पपर्यन्त तेरा आयुर्बल है, महाकल्प का जब अन्त होगा तब भार्गवतनु नष्ट होगा। तुम्हें फिर शरीर ग्रहण नहीं करना है, जैसे रस

सूखने पर पुष्प गिर पड़ता है, वैसे प्रारब्धवेग के पूर्ण होने पर तेरा शरीर छूट जायेगा और शरीर के होते जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त हुआ प्रकृत आचार में विचरेगा, इसलिये तुम दैत्य के महागुरु होकर रहो। यह ईश्वर की नीति है, इस शरीर को त्यागकर भार्गव शरीर में प्रवेश करो, अब हम जाते हैं, तुम दोनों का कल्याण हो, तुम्हें अपने वांछित की प्राप्ति हो, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! कालभगवान् ने ऐसा कहकर दोनों पर पुष्प डाले और अन्तर्धान हो गये। तब तपस्वी विचार करने लगा कि क्या होने वाला है, विचार से मालूम हुआ कि काल भगवान् ने जैसा कहा है, वैसा ही होता है, यूं विचार कर उस महाविकृत शरीर में प्रवेश किया और तपस्वी देह को त्याग दिया, जैसे वसन्तऋतु में लता में रस प्रवेश करता है, ऐसे भार्गव शरीर में प्रवेश किया, जैसे सर्प कंचुकी को त्यागता है, वैसे तपस्वी शरीर का त्याग किया, तब उस शरीर की शोभा जाती रही, कांपता हुआ जमीन पर गिर पड़ा जैसे मूल कट जाने से बल्ली गिर पड़ती है, वैसे वह शरीर गिरा और शुक्रदेह जीवकला संयुक्त हो गया तब भृगुजी जीवकला संयुक्त देह को देखकर उठ खड़े हुए, हाथ में जल का कमंडलु लिया और पुष्टिशक्ति नाम की मंत्रविद्या से (मंत्र पढ़कर) पुत्र के शरीर पर जल डाला, उसको फ्रकर शरीर की सब नाड़ियाँ पुष्ट हो गयीं, जैसे वसन्त ऋतु में कमलिनी प्रफुल्लित होती है, उसी प्रकार शरीर प्रफुल्लित हो आया, श्वास आने लगे, तब पिता के सामने होकर उसने प्रणाम किया जैसे मेघ जल से पूर्ण होकर पर्वत के आगे नमता है, ऐसे विधिपूर्वक नमस्कार कर नम्रभाव दिखाने लगा और स्नेह के कारण नेत्रों से जल चलने लगा। तब पुत्र को देखकर भृगुजी ने कंठ से लगा लिया और मेरा पुत्र है, ऐसा स्नेह छा गया। हे रामजी! जब तक देह है, तब तक देह के धर्म फुर आते हैं, इस प्रकार ज्ञानी को भी यदि यत् किंचित् स्नेह ममता फुर आई तब और का क्या कहना है?–पिता और पुत्र दोनों बैठ गये, एक मुहुर्त पर्यन्त कथा वार्ता करते रहे फिर उठकर तपस्वी शरीर को जलाया, जो बुद्धिमान् हैं वे शास्त्राचार में स्थित होते हैं, उसके अनंतर दोनों मंदराचल पर स्थित हुए, तप से उनके शरीर प्रकाशित हैं,

श्यामकान्ति हैं, जीवन्मुक्त उदारात्मा होकर वहाँ रहने लगे, समय पर शुक्रजी दैत्यगुरु होगें और भृगुजी समाधिस्थित होंगे, निर्विकार जीवन्मुक्त पुरुष जगद्‌गुरु हैं, वे सबके पूजने योग्य हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवजन्मान्तरवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

मनोराज्यसंमीलनवर्णनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! जैसे भृगु के पुत्र को यह प्रतिभा फुरती गई और सिद्ध होती गई, ऐसे अन्य जीवों की सिद्धि क्यों नहीं होती? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! शुक्र का जो ब्रह्मतत्व से फुरणा हुआ है, वह भार्गव जन्म से हुआ है, अन्य जन्म से कलंकित नहीं हुआ। सब ईषणाओं से रहित शुद्ध चैतन्य तथा निर्मल हृदय को जैसा स्फुरण होता है वैसा सिद्ध हो जाता है, मलिन हृदय का संकल्प शीघ्र सिद्ध नहीं होता, जैसे भृगु के पुत्र को मनोराज्य हुआ और भ्रमता फिरा, ऐस सब ही स्वरूप के प्रमाद से भ्रमते हैं, जब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती, यह मैंने भृगु के पुत्र का वृत्तान्त तुझको सुनाया है, मनोराज्य की दृढ़ता के लिये जैसे बीज से अंकुर फूल फल अनेक भावको प्राप्त होते हैं, ऐसे सब भूत जात को मन का भ्रम अनेक भ्रम को प्राप्त करता है जितना जगत् तुझे प्रतीत होता है, वह सब मन के फुरने का रूप है, मिथ्या भ्रम से नानात्व भासता है और कुछ हुआ नहीं, एक एक प्रति ऐसा भ्रम है, सब संकल्पमात्र है, न कुछ उदय होता है न अस्त होता है, कदाचित् किसी को सब मिथ्यारूप मायामात्र है, जैसे स्वप्नपुर और संकल्पनगर प्रतीत होता है, परस्पर व्यवहार दृष्टि आते हैं और हुआ कुछ नहीं, ऐसे यह जगत्भ्रम भी अज्ञान से दृष्टि आता है, भूत पिशाच

आदिक जितने भी ज़ीव हैं, उनका भी संकल्प मात्र शरीर है जैसे उनको सुख दु:ख का भोग होता है, ऐसे ही हमको तुमको होता है, जैसे यह जगत् है ऐसे अनन्त जगत् बसते हैं, परस्पर अज्ञानता है, एक को दूसरा नहीं जानता, जैसे एक स्थान में बहुत पुरुष सोते हैं। उनको परस्पर का मनोराज्य और स्वप्नभ्रम अज्ञात होता है, ऐसे ही यह जगत् है, वास्तव में कुछ हुआ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है, जो इस जगत् को सत् जानता है उसका पुरुषार्थ नष्ट होता है, जो वस्तु भ्रान्ति से भासती है उसका सम्यक् ज्ञान से अभाव हो जाता है, यह जाग्रत जगत् भी दीर्घस्वप्न है, चित्तरूप हस्ती का बन्धन है, चित्तसत्ता से जगत् सत् भासता है और जगत्सत्ता से चित्त है। एक के नाश होने पर दोनों का नाश हो जाता है, जब जगत् का सत् भाव नष्ट होता है तब चित्त नहीं रहता, जब चित्त शान्त होता है तब जगत् शान्त हो जाता है, इस प्रकार एक के नाश होने पर दोनों का नाश हो जाता है, दोनों का नाश आत्मविचार से होता है और विचार वहाँ उत्पन्न होता है, जहाँ हृदय निर्मल होता है, जैसे उज्ज्वल वस्त्र पर केसर का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है, मलिन वस्त्र पर नहीं चढ़ता, हृदय निर्मल तब होता है जब शास्त्र की आज्ञा के अनुसार क्रिया क्रम चलता है। हे रामजी! प्रत्येक जीव के हृदय में अपनी अपनी सृष्टि है, चित्त की मलिनता के कारण एक दूसरा नहीं जानता, जब चित्त शुद्ध होता है तब दूसरे की सृष्टि को भी जान लेता है, जैसे शुद्ध धातु परस्पर मिल जाते हैं। जब इसका अभ्यास समय के बाद दृढ़ हो जाता है तब सब कुछ भासने लगता है, क्योंकि सबका अधिष्ठाता एक आत्मा है, उसमें स्थित होने से सबका ज्ञान होता है। रामजी बोले—हे भगवन्! शुक्र को प्रतिमा मात्र आभास हुआ था, उसमें देश काल क्रिया, द्रव्य उसको दृढ़ होकर कैसे भासे हैं? वसिष्ठजी जी बोले—हे रामजी! जो कुछ जगत् शुक्र ने देखा है वह अपने अनुभव रूप भंडार में मन से देखा है, जैसे मोर के अंडे से अनेक रंग के पंख निकलते हैं, ऐसे उसको अपने अन्दर भ्रम भास हुआ। जैसे बीज से पत्र, टास, फूल, फल निकलते हैं, ऐसे

जीव जीव को अपने अपने अनुभव में संसार खंड खंड पड़े फुरते हैं। यहाँ स्वप्न दृष्टान्त प्रत्यक्ष है, जैसे एक एक के स्वप्न में जगत् होता है, ऐसे यह जगत् है। दीर्घस्वप्न जाग्रत हो भासता है, जैसा दृढ़ होता है, वैसा भासने लगता है, रामजी बोले– हे भगवन्! सृष्टि के समूह परस्पर कैसे मिलते हैं और कैसे नहीं हैं? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! मलिन चित्त परस्पर नहीं मिलते शुद्ध मिलते हैं, जैसे शुद्ध धातु मिल जाते हैं, सुषुप्त रूप आत्मा से सब फुरते हैं, तन्मयरूप हैं, जिसको उसमें विश्राम होता है, वह ज्ञान दृष्टि से सब के साथ मिल जाता है, जैसे जल के साथ जल मिल जाता है, वैसे वह सब के साथ मिलकर सबको जानता है और कोई नहीं जानता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे मनोराज्यसंमिलन वर्णनं
नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः १८

जीवपद वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जितने संसार खण्ड हैं उन सबका बीज रूप आत्मा है, सब आत्मा ही का आभास है, उदय अस्त होने से आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है, अपने स्वभाव के त्याग से रहित है और सब जीवों का अपना आप है, वास्तवरूप है और सुषुप्त के समान स्फुरण से रहित है, उस सत्ता से जीव फुरते हैं, सब स्वप्नवत् जगत्भ्रम को देखते हैं। जीव जीव के प्रति अपनी अपनी सृष्टि स्थित है, जो पुरुष उलट कर आत्मपरायण होता है, वह आत्मपद को प्राप्त होता है, जिन पुरुषों की आत्मब्रह्म के साथ एकता हुई है उनको परस्पर और की सृष्टि भासती है। अन्तःकरण में सृष्टि होती है, उनका अन्तःकरण मिलता है, उस अन्तःकरण जीवकला के मिलने से परस्पर सृष्टि भास आती है, वह जानते हैं जीव की अपनी अपनी सृष्टि है, सबको अपनी आप सन्मात्र

सत्ता है, उसमें सब सृष्टि स्थित होती है, जैसे कर्पूर का पर्वत हो, उसके अणु अणु में सुगंधि होती है और सब अणुओं की सुगंधि की पर्वत में एकता होती है, ऐसे सब जीवों का अधिष्ठान आत्मसत्ता है, जैसे सब नदियों के जल का अधिष्ठान समुद्र है, ऐसे सब जीवों का अधिष्ठान आत्मा है, वह सृष्टि कहीं परस्पर मिलती है, कहीं भिन्न भिन्न स्थित है, जहाँ चेतन सत्ता मात्र के साथ एकता है, वहाँ चित्त की वृत्ति जिसके साथ मिलना चाहे उसको मिल जाती है, मलिन चित्तवाला नहीं मिल सकता और एक एक जीव में सहस्र सृष्टि परस्पर गुप्तरूप होती हैं, जहाँ जैसा स्फुरण दृढ़ होता है, वहाँ वैसा ही भासता है, जहाँ मन का स्फुरण कोमल होता है, वह सफल नहीं होता और जहाँ दृढ़ होता है वह भासने लगता है। हे रामजी! जब देह की भावना मिट जाती है, और प्राण पवन ही के स्थित करने से चित्त की वृत्ति स्वभाव से स्थित होती है, तब अपर के चित्त की चेष्टा इसके चित्त में फुर आती है और जब तक चित्त मलिन होता है, देह की भावनाओं को नहीं त्यागता तब तक किसी पदार्थ के साथ एकता नहीं होती और जिसका चित्त निर्मल होता है उसको जैसे और के चित्त का ज्ञान होता है, ऐसे और सृष्टि में भी मिलने की शक्ति हो जाती है, अशुद्ध को नहीं होती और सब जीवों की तीन अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति होती हैं। यह तीनों ही अवस्थाएँ आत्मा में जीवत्व के लक्षण हैं, जैसे मृगतृष्णा की नदी के तरंग किरणों में होते हैं, उनका अभाव है और जीव को आत्मा में प्रमाद है, इससे तीनों अवस्थाओं में पड़ा भटकता है, जब चित्तकला तुर्या में स्थित होती है तब जीवन्मुक्त होता है। आत्मसत्ता स्वभाव में स्थित होने से आत्मा के साथ एकता को प्राप्त होती है और सब जीवों के साथ सुहृदभाव होता है, जब अज्ञानी सुषुप्त आत्मसत्ता से जगता है, अर्थात् संसार का चिन्तन करता है, तब संसार को प्राप्त होता है, वह संसार में और संसार उसमें इस प्रकार प्रमाद से अनेक सृष्टियाँ देखता है, जैसे केले के स्तंभ से पत्तों का समूह निकलता ही आता है, ऐसे ही सृष्टि पर सृष्टि देखता है, शान्त नहीं होता, अनेक भ्रम देखता है, जब

उलटकर अपने स्वभाव में स्थित होता है तब नानात्वभाव मिट जाता है, शान्तरूप होता होता है जैसे केले का अंतर शीतल होता है। हे रामजी! जगत् के समूह भासते हैं, तो भी आत्मा में कुछ द्वैत नहीं, आत्मा के साथ एक रूप हैं जैसे केले के अन्दर से पत्तों के सिवा अन्य कुछ नहीं निकलता, ऐसे आत्मा से इतर कुछ नहीं, जैसे बीज फूल भाव को प्राप्त होता है, फूल से फिर बीज हो जाता है, ऐसे ब्रह्म से मन होता है, फिर बुद्धि से ब्रह्म होता है, बीज का कारण वही रस है, आत्मा में कारण कार्यभाव कुछ बनता नहीं, अद्वैत अचिन्त्यरूप है आदि परमात्मा अकारणरूप है, वही विचारने योग्य है और के साथ क्या प्रयोजन है? बीज जब अपने स्वभाव को त्यागता है, तब फूल भाव को प्राप्त होता है और ब्रह्मसत्ता अपने स्वभाव को कदाचित् नहीं त्यागती और बीज परिणाम से आकाररूप है, आत्मा अकृत्रिम निराकार अच्युतरूप है, इस कारण से आत्मा को बीज की नाईं भी कहना नहीं बनता। आकाश से आकाश नहीं उपजता है और अभिन्नरूप है न कोई उपजता है, न किसी को उपजाया है, केवल ब्रह्म आकाश अपने आप में स्थित है जब द्रष्टा पुरुष को देखता है तब आपको नहीं देख सकता क्योंकि मनोराज्य का जगत् में परिणाम होता है, तब विद्यमान वस्तु की सँभाल नहीं रहती। देहादिक में आत्माभिमान होता है, जो पुरुष आत्मसत्ता को देखता है उसको जगत्भाव नहीं रहता और जो जगत् को देखता है उसको आत्मसत्ता नहीं भासती, जैसे जो मृगतृष्णा की नदी को झूठ जानता है उसको जल भाव नहीं रहता और जो जल जानता है उसको असत्‌बुद्धि नहीं होती, आकाश की नाईं पूर्ण पुरुष द्रष्टा है जब इस दृश्य की ओर जाते हैं तब अपने आपको नहीं देख सकते, आकाश की नाईं ब्रह्मसत्ता सब ठौर पूर्ण है, वह अज्ञानी को नहीं भासती, जिस दृश्य का अत्यन्ताभाव है वह भासता है, परन्तु स्वरूपानुभूति दूर रहती है। हे रामजी! किसी स्थूल पदार्थ पहाड़ अथवा वृक्ष आदि के आगे भी यदि कोई दूसरा आच्छादक द्रव्य आ जाय तो वह नहीं भासता तो जो सूक्ष्म निराकार द्रष्टा पुरुष है, उसके आगे आवरण आए तो वह कैसे भासे? द्रष्टा पुरुष अपने ही भाव

में स्थित है, दृश्यभाव को प्राप्त नहीं होता और दृश्य भासता है, तब द्रष्टा देखने में नहीं आता और दृश्य कुछ वस्तु नहीं है, इसलिये द्रष्टा एक परमात्मा ही अपने आप में स्थित है, जो आत्मरूप सर्वशक्तिमान् देव है, जैसा स्फुरण उसमें होता है, वैसा ही शीघ्र भासने लगता है, जैसे वसन्तऋतु में एक रस अनेक रूप धारण करता है, ऐसे ही एक आत्मसत्ता अनेक जीव देह होकर भासती है, जैसे अपने ही अन्दर अनेक स्वप्नभ्रम देखता है, ऐसे अहम् आदिक जगत् दृश्यभ्रम को अनुभव प्राप्त होता है ओर स्वरूप से अपर कुछ हुआ नहीं, जैसे एक बीज के अन्दर पत्र, टास, फूल, फल अनेक होते हैं, उसमें और बीज होता है, बीज के अन्दर और वृक्ष, उसके अन्दर और बीज, इसी प्रकार एक बीज के अन्दर अनेक वृक्ष होते हैं, ऐसे एक आत्मा में चिद्अणु अनेक फुरते हैं, उनके अन्दर सृष्टि, फिर सृष्टि के अन्दर चिद्अणु, फिर चिदणु के अन्दर सृष्टि, इसी प्रकार आत्मा में अनेक सृष्टियाँ (ब्रह्माण्ड) हैं, उनकी संख्या कुछ कही नहीं जाती, अपने आप से फुरते हैं, आप स्वाद लेता है। एक एक चिद्अणु के अंदर अनेक सृष्टियाँ हैं, जैसे तिलों में तेल हैं, ऐसे ही चिदणु में आकाश वायु आदि अनेक सृष्टियाँ हैं, आकाश में पवन, अग्नि में जल, सर्वभूतों में पृथ्वी सृष्टि स्थित है, ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो चित्तसत्ता से रहित हो और जहाँ चित्त है वहाँ उसका आभासरूप द्रष्टा भी स्थित है। सबका अधिष्ठान आत्मा है, जैसे जितने भी कमल हैं उनका पोषक जल है, उससे सब विस्फूर्जित होते हैं और प्रकाशित होते हैं, ऐसे ही सबको सत्ता देनेहारा आत्मा है, सबका आश्रयरूप आत्मतत्व है और दीर्घ स्वप्नरूप यह जगत् अनुभव से उदय हुआ है, बाह्यरूप होकर भासता है, उस स्वप्न के आगे स्वप्नान्तर होता है, उसके आगे और स्वप्न, इसी प्रकार सृष्टि की स्थिति हुई है। जैसे एक बीज से अनेक वृक्ष होते हैं, ऐसे एक चित्त अणु में अनेक सृष्टियाँ स्थित हैं जैसे जल में तरंग भासते हैं, ऐसे आत्मानुभव में अनेक जगत् भासते हैं, वे अभिन्नरूप हैं। अतः द्वैतभ्रम को त्याग दो, न कोई देश है, न काल

क्रिया जगत् है, केवल एक अद्वैत ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, ब्रह्मादि कीट पर्यन्त जितना जगत् भासता है वह एक परमात्मा ही अपने आप में किंचनरूप होता है, जैसे एक रस सत्ता कहीं फूल सुगंधि सहित भासती है, कहीं काष्ठरूप को प्राप्त होती है, ऐसे एक परमात्मसत्ता कहीं चेतनरूप होकर भासती है, कहीं जड़रूप होकर दिखाई देती है, जो सर्वगत अविनाशी आत्मा है, वही सब का बीजरूप है, उसी के अन्दर सब जगत् स्थित है, जिसको आत्मभाव में प्रमाद है उसको नानारूप भासती है, जैसे पानी में डूबे, फिर निकले, फिर डूबे, फिर निकले, जैसे स्वप्न में स्वप्नान्तर को देखे, ऐसे ही प्रमाद दोष के कारण भ्रम से भ्रमान्तररूप नाना प्रकार के जगत् को देखता है। जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं, जगत् हुआ ही नहीं, क्योंकि आत्मा ही जगत् जैसा होकर भासता है, जैसे विचार रहित को सुवर्ण में भूषण बुद्धि होती है, विचार करने पर भूषण बुद्धि का नाश हो जाता है, एक सुवर्ण भासता है, ऐसे जो विचार से रहित हैं उनको यह जगत्पदार्थ भासता है कि यह मैं हूँ, यह जगत् है, यह उत्पन्न हुआ है, यह लीन होता है और जिसको सत्संग और शास्त्र के संयोग से विचार उत्पन्न हुआ है उसकी दिन प्रतिदिन भोग तृष्णा घटती जाती है, आत्म विचार दृढ़ होता जाता है, जैसे किसी को ज्वर होता है वह औषधि करने से दूर होता है उसमें दो बातें होती हैं, एक को ज्वर के समय उसको तृषा बहुत थी, वह निवृत्त हो गयी, दूसरी शरीर में जो जलन सी हो रही थी वह भी जाती रही। अब चित्त शान्त है। शरीर में प्रसन्नताभरी शीतलता है, इसी प्रकार ज्यों ज्यों विवेक दृढ़ होता है, त्यों त्यों इन्द्रिय विजित अथवा स्वायत्त होते जाते हैं। सन्तोष से अन्तःकरण में शीतलता रहती है, सब कुछ आत्मा ही भासता है, यह विवेक का फल है। हे रामजी! जिस पुरुष में विवेक शक्ति तो हो परन्तु स्थिरता नहीं हो, उसका विवेक कार्य सिद्ध नहीं कर सकता, जैसे मूर्ति की अग्नि से कोई कार्य सिद्धि नहीं होती, ऐसे ही निश्चय से रहित विवेक दुःख की निवृत्ति नहीं कर सकता, उससे शान्ति प्राप्त नहीं होती, जैसे जब पवन चलता

है, तब वृक्षों के पत्ते हिलते हैं, तब मालूम पड़ता है कि पवन से यह हिलते हैं, परन्तु केवल वाणी से कहें तब नहीं हिल सकते, ऐसे ही जब विवेक हृदय में आता है, तब भोग की तृष्णा घट जाती है, मुख से केवल कहने पर तृष्णा नहीं घटती, जैसे पत्र पर लिखी हुई अमृत की मूर्ति से अमृत से होने वाला काम नहीं हो सकता, अर्थात् उसके पान करने से अमरता प्राप्त नहीं होती और मूर्ति का लिखा अग्नि भी उसी के समान अपना दाहक कार्य नहीं कर सकता। मूर्ति की लिखी हुई स्त्री स्पर्श तथा सन्तानोप्तादन का कार्य नहीं कर सकती, ऐसे ही मौखिक विवेक वाणी विलास मात्र है। भोग की तृष्णा को निवृत्त करके शान्त नहीं बन सकता, जैसे मूर्तियाँ देखने मात्र को हैं ऐस वह विवेक वाग्विलास है, हे रामजी! प्रथम जो विवेक आता है, तब राग द्वेष को नाश करना है और ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने विषय भोग हैं, उनकी तृष्णा और वैर भाव को नाश करता है, जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट होता है, ऐसे ही विवेक के उदय होने से अज्ञान नष्ट हो जाता है और पावनपद की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवपदवर्णनं नाम अष्टादशः सर्गः ।।१८।।

एकोनविंशतितमः सर्गः ।।१९।।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्यारूपवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! सब जीवों का बीज परमात्मा है, वह सब ओर आकाश की नाईं स्थित है, उसके स्फुरण का नाम जीव है, जीव जीव के अन्तर जगत् है, उसके आगे और नाना प्रकार की रचना है, वस्तुतः चिद्घन जीव के रूप से अन्तर (अन्दर) स्थित हुआ है, इसलिये सब जीव चिद्घन रूप हैं, जैसे केले के स्तम्भ में पत्र होते हैं, ऐसे ही

आत्मसत्ता के अन्तर जीव स्थित है, जैसे पुष्प के अन्दर कीट होते हैं, ऐसे ही आत्मा के अन्दर जीव राशि हैं, जैसे प्रस्वेद से जुएँ, लीखें आदि जीव उत्पन्न होते हैं, अथवा देर से पड़े पदार्थ में कीट पैदा हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा में चित्कला के फुरणे से जीवों के समूह फुर आते हैं, फिर जीव जैसी जैसी सिद्धि के लिये यत्न उपासना करते हैं, वैसी वैसी गति को प्राप्त होते हैं, उपासना की विचित्रता से नाना प्रकार की गतियाँ पाते हैं, जो देवताओं की उपासना करते हैं वे देवताओं को प्राप्त होते हैं, यक्षों के उपासक यक्षों को पाते हैं, इसी प्रकार जिसकी उपासना करते हैं उसी को पाते हैं, ब्रह्म के उपासक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इसलिये हे रामजी! जो अतुच्छ पद है उस महत् पद का आश्रय प्राप्त करो। जैसे जब शुक्र दृश्य की ओर लगा तब अनेक प्रकार के दृश्य भ्रम को प्राप्त हुआ, जब शुद्ध बुद्ध की ओर आया तब निर्मल बोध को प्राप्त हुआ, जिसकी जो उपासना करता है, वह उसको प्राप्त होता है, अन्य को नहीं प्राप्त होता, रामजी बोले–हे भगवन्! जाग्रत और स्वप्न का जो भेद है, वह कहो कि जाग्रत क्या है और स्वप्न क्या है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! स्थिर प्रतीति का नाम जाग्रत और अस्थिर प्रतीति का नाम स्वप्न है, जो चिर काल रहता है उसका नाम स्थिर है और जो अल्प समय तक रहे वह अस्थिर है। दीर्घकाल प्रतीति का नाम जाग्रत है, अल्पकाल प्रतीति का नाम स्वप्न है और भेद कोई नहीं, दोनों का अनुभव सम होता है, जो शरीर के अन्दर स्थित होकर शरीर को जिलाता (जीवित रखता) है, उसका नाम जीव है, तेजोरूप है, बीजरूप है, जीव है, धातु है, यह सब उसके नाम हैं, जीव धातु का स्पंदरूप होता है, जीवित के रन्ध्र में प्रसरण करता है तब मन, वाणी, देह से सब व्यवहार होता है, रन्ध्र खुल जाते हैं, तब इसको जाग्रत कहते हैं और जब चित्तकला जाग्रत व्यवहार में स्पष्टरूप होती है और आन्तर होकर फुरती है, उससे अन्तर्जगत् भ्रम भासने लगता है तब स्वप्न कहाता है, अब सुषुप्ति का क्रम श्रवण करो। मन, वाणी और शरीर से जहाँ कोई क्षोभ नहीं और स्वच्छवृत्ति

जीवधातु अन्दर स्थित होता है, हृदयकोश में प्राणवायु से क्षोभ नहीं, होता, नाड़ियाँ रससे पूर्ण होती है, उस मार्गसे प्राण आने जानेसे रहित होते हैं, सम वायु चलता है, उसका नाम सुषुप्ति है, जैसे वायु से रहित दीपक घर में एकान्त उज्ज्वल प्रकाशित होता हैं, वैसे वहाँ संवित् सत्ता अपने आपका अनुभव करती है, जैसे तिलों मे तेल होत्ता है, वैसे जीव संवित् कलना करके जो कल्पना करता है, वह उस समय अपने आपमें स्थित होता है, जैसे बर्फ में शीतलता होती है, घृत में चिकनाहट होती है, ऐसे ही वहाँ सवित् में संवित्सत्ता स्थित होती है, उसका नाम सुषुप्ति अवस्था है, सुषुप्ति अवस्था से जगकर यदि दृश्य भाव में आसक्त न होकर निर्विकल्प प्रकाशरूपता में स्थिति प्राप्त हो वह ज्ञानरूप तुरीया है, उसमें पहुँचकर व्यवहार भी करे तो भी जीवन्मुक्त है, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति में बद्ध नहीं होता, हे रामजी! आत्मसत्ता से स्फुरणा होता है और स्वरूप विस्मरण हो जाता है और फुरणा दृढ़ होकरं स्थित होता है, इसी का नाम जाग्रत है और स्वरूप प्रमाद दोष के कारण जगत् भासे उसको सत् जाने यह प्रतीति कुछ काल रहकर निवृत्त हो जाय उसका नाम स्वप्न हैं और दृश्य के फुरणे का अभाव हो उस अज्ञात वृत्ति जड़ता का नाम सुषुप्ति है और अनुभव में ज्ञान स्थित है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का व्यवहार हो और निश्चय में इनका सद्भाव रञ्चक भी न हो, केवल ज्ञान में अहंप्रतीति हो, वृत्ति उससे विचलित न हो, उसका नाम तुरीया पद है। उसमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त होता है और जो जीव हैं, वे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में स्थित होते हैं, जब नाड़ियाँ अन्न के रस से पूर्ण हो जाती हैं, प्राणवायु हृदय नाम्नी नाड़ी में नहीं आता, तब चित्त संवित् अक्षोभरूप सुषुप्त होता है, जब अन्न उस नाड़ी का पचता है और प्राणवायु चलने लगता है, तब चित्त संवित् क्षोभ रूप फुरने लगता है, उस फुरणेसे अन्दर ही बडे जगद्भ्रम को देखता है, जैसे बीज से वृक्ष होता है, जब वायु का रस नाड़ी में बहुत होता है, तब चित्तसत्ता द्वारा आकाश में उड़ना और वायु आंधी (तूफान) आदिक पदार्थ को

देखता है और जब कफ का रस नाड़ी में अधिक होता है तब फूल, लताएँ, बागीचे, बावलियाँ, मेघ, जल आदिक पदार्थ भासते हैं, जब पित्त की अधिकता होती है, तब उष्णरूप, अग्नि, रक्त, वस्त्र आदिक भासने लगते हैं, इस प्रकार वासना के अनुसार जगद्भ्रम देखता है, जैसी जैसी भावना दृढ़ होती है, वैसा ही दृढ़ होकर पदार्थ भासता है और जब पवन क्षुब्ध होता है तब चित्त संवित् नेत्रादिक द्वार से बाहिर निकल कर रूपादि का अनुभव करता है, सत् जानकर चिरपर्यन्त रूपादि के अनुभव का नाम जाग्रत है, वासना के अनुसार मनरूप शरीर के साथ नेत्र जिह्वादि के बिना रूपरसादिका जो अनुभव होता है, उसका नाम स्वप्न है, स्वरूप से न कोई स्वप्न है न जाग्रत है, न सुषुप्ति है, केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। उसके फुरणे का नाम जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति है, चिरकाल तक फुरणे का नाम जाग्रत है, अल्पकाल का नाम स्वप्न है, प्रतीति का भेद है, अन्य कोई भेद नहीं, यदि वास्तव में भेद हुआ तो जगत् स्वरूप हुआ क्यों? अतः यही भावना दृढ़ करो कि जगत् असत्रूप स्वप्नवत् है, इसमें सद्भावना करना दुःख का कारण है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीयारूपवर्णनं नाम एकोनविंशः सर्गः ।।१९।।

विंशतितमः सर्गः २०

भार्गवोपाख्यानसमाप्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह मैंने तुम्हें मन का रूप निरूपण कर दिखाया है, इसकी जाग्रत आदि अवस्थाओं का भी निरूपण इसीलिये किया है और प्रयोजन कुछ नहीं। जैसा निश्चय चित्त में होता है, वैसा ही भासता है, जैसे आग में लोहा रक्खा जाय तो अग्निरूप हो जाता है, ऐसे मन जिस पदार्थ के साथ चलता है, उसका रूप हो जाता है, भाव, अभाव,

ग्रहण,त्याग, सब मन ही से होते हैं और न कोई सत् है, न असत् है, केवल मन की चपलता से सब कुछ होता है, मन के मोह से जगत् भासता है, मन के नष्ट होने से जगत् नष्ट हो जाता है, मलिन मन अपने फुरणे से जगत् की रचना करता है, यह मन ही पुरुष है, इसको अशुभ मार्ग में कभी मत जोड़ना। जब मन को जीतोगे तब समस्त जगत् में तुम्हारी विजय होगी, मन के जीतने से सब जगत् जीता जाता है, तब महा विभूति प्राप्त होती है, यदि शरीर का नाम पुरुष हो तो शुक्र का शरीर पड़ा था, वह और शरीर न रचता, शरीर वहाँ पड़ा रहता और मन और शरीर को रचता फिरा, इसलिये शरीर का नामपुरुष नहीं मन ही का नाम पुरुष है, शरीर चित्त का निर्माण किया होता है, शरीर का किया चित्त नहीं होता, जिस ओर चित्त जा अटकता है उसी पदार्थ की प्राप्ति होती है, इसमें संशय नहीं, अतः अति तुच्छपद है, आत्मसत्ता का चित्त में सदा अभ्यास करो और भ्रम को त्याग दो, जब मन दृश्य की ओर जाता है तब अनेक जन्म के दुःख को प्राप्त होता है और जब आत्मा की ओर इसका प्रवाह होता है, तब परमपद को प्राप्त होता है, इसलिये दृश्य भ्रम को त्यागकर आत्मपद में स्थिति प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे भार्गवोपाख्यानसमाप्तिवर्णनं नाम विंशतितमः सर्गः ।।२०।।

एकविंशति तमः सर्गः २१

विज्ञानवादवर्णनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! हे सर्व धर्मों के वेत्ता प्रभो! मेरे हृदय में बड़ा संशय उत्पन्न हुआ है, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर फैल जाती है, वैसे ही मेरे हृदय में संशय फैल गया है, यदि आत्मसत्ता देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित नित्य निर्मल विस्तृत निरामय है तो उसमें मन नामक मलिन संवित् कहाँ से आया और कैसे स्थित हुआ, जिससे इतर

और वस्तु ही कुछ नहीं, न आगे होगी उसमें कलंकता कहाँ से आई, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है, अब तुम्हारी बुद्धि मोक्षभागिनी होगी, जैसे–नन्दनवन के कल्पवृक्ष के साथ कल्पमंजरी लगती है, ऐसे ही तुम्हारी बुद्धि पूर्व–अपर के विचार से जगी है, तू अब उस पद को प्राप्त होगा, जिस पद को शुक आदिक प्राप्त हुए हैं और तेरे प्रश्न का उत्तर मैं सिद्धान्त काल में कहूँगा, उस समय आत्मपद तुम्हें हस्तामलकसा भासेगा, हे रामजी! सिद्धान्त का प्रश्न उत्तर सिद्धान्त काल में शोभा पाता है, जिज्ञासा काल में जिज्ञासा सम्बन्धी शोभा पाता है, जैसे वर्षाकाल में मयूर की वाणी शोभा पाती है और शरत्काल में हंस की और जैसे वर्षा काल के बीत जाने पर स्वभाव से ही आकाश में नीलता भासती है और वर्षाकाल में मेघ की छटा शोभा पाती है, ऐसे ही प्रश्नोत्तर भी समयानुसार शोभा पाते हैं, हे रामजी! मैं तुम्हें अनेक प्रकार के दृष्टान्त युक्तिपूर्वक कहूँगा, मन का स्वरूप और जिस प्रकार यह निवृत्त होता है, वह भी क्रमपूर्वक बहुत बार कहूँगा, मन की शान्ति के विषय में वेद ने निर्णय किया है और शास्त्रकारों ने भी वर्णन किया है तदनुसार सुनिये। चंचल मन ने जो जैसा भाव अंगीकार किया है, वैसा ही रूप होकर भासने लगा है, जैसे पवन जैसी सुगंधि से मिलता हैं उसका वैसा स्वभाव हो जाता है, जैसे जल जिस रंग के साथ मिलता है वैसा रूप हो, भासता है, इसी प्रकार मन जिस पदार्थ के साथ मिलता है, उसका रूप हो जाता है, जो मन से शून्य शरीर के साथ काम करता है, उसका कुछ फल नहीं होता, यदि मन के साथ होते हुए करता है तो उसका पूरा फल होता है, जिस ओर मन जाता है शरीर भी उसी ओर लग जाता है, सब कार्यों का बीज मन है, मन से सब कर्म होते हैं, जैसे धूलि क्षुब्ध हो तो पवन के बिना आकाश पर नहीं जा सकती यदि पवन क्षोभ में आ जाय तो किसी भी रूप में पड़ी धूल को उडा ले जाता है, ऐसे ही देह पड़ा रहता है मन अपने फुरणे से स्वप्न में अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होता है और जगत् में भी जिस ओर मन फुरता है, देह को भी वहाँ

ले जाता है, अतः यह बात यथार्थ हैं कि सब कर्मों का बीज मन है, और सब कर्म मन से होते हैं मन और कर्म परस्पर अभिन्नरूप हैं, जैसे फूल और सुगन्ध अभिन्नरूप होते हैं, ऐसे मन और कर्म हैं, जिस कर्म का अभ्यास मन में दृढ होता है, उस कर्म की शाखा का प्रसार होता है और उसी फल की प्राप्ति होती है और उसी स्वाद का अनुभव होता है, जिस जिस भाव को चित्त ग्रहण करता है, उसी उसी भाव को प्राप्त होता है और उसी को कल्पनारूप मानता है, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चार पदार्थ हैं, इनमें जिसकी भावना मन दृढ करता है, उसको सिद्ध करता है, कपिलदेव ने जो शास्त्र निर्माण किया, वह मन की सत्ता से किया है, उसने निर्णय किया है, कि प्रकृति जो माया है उसके दो स्वभाव हैं, एक अनुलोम परिणाम है, दूसरा प्रतिलोम परिणाम है, जब प्रतिलोम परिणाम होता है, तब दृश्य भाव को प्राप्त होता है और अनुलोम परिणाम होता है, तब अन्तर्मुख आत्मा की ओर आता है, आत्मा शुद्धरूप है, आत्मा की ओर अनुलोम परिणाम मोक्ष का कारण है कि यह सब ब्रह्म ही है, जब मन शम दम आदिक से सम्पन्न होता है, तब यह निश्चय धारण होता है कि सब ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञान के बिना और किसी भी बड़ी से बड़ी युक्ति द्वारा मोक्ष नहीं होता, उनके चित्त में यही निश्चय है और विज्ञान वादियोंका कहना है कि जब तक बुद्धि पड़ी फुरती रहती है, तब तक संसार है जब इसका इसका स्फुरण अपने स्वभाव में होता है तब यह स्वरूप स्थित होता है, जब वह काल आयेगा तब मोक्ष की प्राप्ति होगी मन ही सब का कारण है, मनोनाश के बिना स्वरूपस्थिति (आत्मसाक्षात्कृति) नहीं हो सकती, सबका कारण मन है। यद्यपि संसार में अनेकों मत हैं, परन्तु ऐसा कोई भी मत न मिलेगा जिसमें मनोविजय के बिना मुक्ति मानी गई हो, अर्हन्त से लेकर, मीमांसक, पांतजल, नैयायिक वैशेषिकादि जितने शास्त्रकार हैं, अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उन्होंने निश्चय किया है, जिसने जैसा निश्चय किया है वैसा ही उसको भासता है, वस्तुतः स्वरूप से न कोई मत है, न शास्त्र है, सबका कारण मन है, मन को अंगीकार करके सब मत डूबे है, सबका कारण मन है, न निम्ब है, न मधु मिष्ट है,

न अग्नि उष्ण है, न चन्द्रमा शीतल है, जैसा जैसा जिनके मन में निश्चय होता है, ऐसा ऐसा ही उनको भासता है, किसी को नीम प्यारी होती है, मधु कडवा लगता है, नीम के कीडे को मधु नहीं रुचता, तो क्या इससे मधु कडवा हो गया? विरहिणी स्त्री को चन्द्रमा अग्निवत् भासता है, चकोर अग्नि को भक्षण कर लेता है, जैसी जैसी भावना पदार्थ में हो गयी है, वैसा वैसा होकर भासता है, सब जगत् भावनामात्र है, जिस पुरुष को दृश्य में भावना है, वह अनेक दुःख भ्रम देखता है और जिसको शमदमादिक साधनों से अकृत्रिम पद की प्राप्ति हुई है और मन तदाकार हुआ है, वह शान्ति को प्राप्त हुआ है और नहीं प्राप्त होता, हे रामजी! यह जगत् दृश्य तेरे मन के स्मरण में स्थित हुआ है, वह तुच्छरूप है, इसका मन से त्याग करो, यह सुख दुःख आदि महान् भ्रम को देने वाला है, यह संसार अपवित्र और असत् मोहरूप महाभय का कारण है, आभासरूप है, मायामात्र अविद्यारूप है, इसकी भावना भय का कारण है, जगत् के साथ संवित् की तन्मयता होती है, इसका नाम बुद्धीश्वर कर्म कहते हैं, जब द्रष्टा का दृश्य के साथ संयोग होता है, तब बड़े मोह को प्राप्त होता है, दृश्य के साथ मिलकर भ्रम से अनात्म में आत्माभिमान करता है, देहादिक को अपना आप जानता है, संसाररूप मद से उन्मत्त हो जाता है, स्वरूप की संभाल इसको नहीं रहती, इसको बुद्धिमान् अविद्या कहते हैं, जो दृश्य के साथ मिला है, उसका कल्याण नहीं होता, जिसके आगे मन का आवरण है उसको स्वरूप का भान नही होता, जैसे सूर्य के आगे मेघ का आवरण आता है, तो सूर्य का प्रकाश आच्छान्न हो जाता है, इसी प्रकार मन के आवरण से आत्मा नहीं भासता। अतः मनरूप आवरण को दूर करो, मन का रूप है, स्फुरण (फुरणा) है, उसको संकल्प कहते हैं, जो जो संकल्प फुरे उसका त्याग करो, असंकल्प होने से मनोनाश हो जायेगा, हे रामजी! जब तू सब भावों में असंग होगा, तब सब पदार्थों में द्रष्टा पुरुष प्रसन्न होगा, उससे निर्विकल्प चिदात्मा की प्राप्ति होगी, वहां न जगत् की सत्ता है, न सुख है, न दुःख है केवल केवली भाव है, वह अपने आप में प्रकाशित होता है, जब तेरे हृदय से संसार की भावना निकल

जायगी, तब निर्मल स्वरूप में स्थित होगा, तब दृश्य भ्रम निवृत्त हो जायेगा जैसे जेवरी के सम्यक्ज्ञान से सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है, ऐसे ही चिदात्मा के सम्यक्ज्ञान से जगद् भ्रम नष्ट हो जायगा। इसलिये दृश्य भावना को त्यागकर चिदात्मा की भावना करो, जैसी भावना होती है वैसा होकर भासिता होता है, जब पूर्व भावना को त्यागकर और भावना करता है तब प्रथम भावना का इस प्रकार अभाव हो जाता है जैसे दिन के आने पर रात्रि का अभाव हो जाता है, ऐसे ही आत्मभावना का उदय होते ही दृश्य भावना का अत्यन्ताभाव हो जाता है, जैसे लोहा लोहे को काटता है, ऐसे भावना भावना को काटती है, इसलिये उस अतुच्छपद निरुपाधि निःसंशय रूप का आश्रय पकड़ो, जब उसकी भावना दृढ होगी, तब भ्रमशून्य सिद्धपदको प्राप्त होगा, हे रामजी! तुम्हारा स्वरूप आत्मा है, तुम बुद्धि आदिक कल्पना मत करो, जैसे बालक को कहें कि उस निर्जन स्थान में सिंह है तो वह भयवान् होता है, ऐसे ही जब शून्य शरीरादिक में बुद्धि यह निश्चय नहीं कर पाती कि यह मैं हूँ, यह अपर है, इत्यादिक जो कल्पना आत्मा में होती है, वह इस प्रकार है जैसे बालक को अपनी परछाई में वैताल कल्पना होती है, ऐसे ही इसको अपनी ही कल्पना के वश से भाव अभाव शुभ अशुभ क्षण में प्राप्त होते हैं, कोई सत् रूप कोई असत् रूप भासते हैं, जैसी जैसी भावना होती है ऐसा ऐसा भासता है, पर स्त्री में काम बुद्धि होती है, तब स्पर्श आनन्ददायक होता है और यदि स्त्री में माता की भावना करता है, तब अन्दर से वह काम वृद्धि जाती रहती है, अतः तुम देखो जैसी जैसी भावना होती है ऐसा ही भासता है, भावना के अनुसार इसको फल होता है, तत्काल उसी आकार को देखता है, ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो सत् नहीं और ऐसा कोई नहीं, जो असत् नहीं जैसा जैसा जिसने निर्णय किया है, वैसा ही उसको भासता है, इसलिये इस संसार की भावना को त्यागकर स्वरूपस्थित हो जाओ, हे रामजी! मणि में जो प्रतिबिंब पड़ता है, उसके दूर करने को मणि समर्थ नहीं होता, तुम तो मणिवत् जड नहीं हो, तुम चैतन्यरूप आत्मा हो, तुम पर

जो दृश्य प्रतिबिंब पड़ता है, उसका त्याग करो, उसे किस प्रकार त्यागना चाहिये, कि जो संकल्प दृश्य का उठे, उसको असत् रूप जानकर त्याग दो और जो प्रकृत व्यवहार आ पडे उसका आचरण करो और मणि की नाईं अन्दर से रंगरहित रहो। जैसे प्रतिबिंब दृष्टि आता है और अन्दर रंग नहीं चढ़ता, ऐसा बहिर्दृष्टि व्यवहार तुम्हारे अन्दर भासे परन्तु अन्दर राग दोष स्पर्श न करे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे विज्ञानवादी नाम एकविंशतितमः सर्गः ।।२१।।

द्वाविंशतितमः सर्गः २२

अनुत्तमविश्रामवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब जीव को सत्संग और सत्शास्त्र के विचार से विचार उत्पन्न होता है, तब अन्य बातों से वृत्ति निवृत्त हो जाती है और संसार का मनन मिट जाता है, विवेकवती बुद्धि उदित होती है, संसार दृश्य के त्याग की भावना हो जाती है, द्रष्टा आत्मा में आत्मीयता बुद्धि होती है, द्रष्टा पुरुष प्रकट होता है, दृश्य अदृश्य हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा के लक्षण से दृश्य को असत् रूप जानता है, जब यह पुरुष ज्ञात ज्ञेय होता है, तब परम तत्व में जगता है जगत् की ओर से घन सुषुप्त की नाईं होता है, संसार में वैराग्य, भोग में अभोग भाव, रसों में नीरस भाब बुद्धि उपजती है जब ऐसी बुद्धि हुई तब मन अपनी सत्ता को त्यागकर आत्मरूप हो जाता है, जैसे बर्फ का पुतला सूर्य के तेज से जलरूप हो जाता है, जब मन में संसार की सत्ता होती है, उस फुरने से जड़ भागी होता है, विवेकरूप सूर्य के उदय होने से मन गलकर आत्मरूप हो जाता है। जैसे–जब तक मरुस्थल में धूप होती है तब तक वहाँ से मृगतृष्णा की नदी नष्ट नहीं होती, जब वर्षा होती है, तब नष्ट हो जाती है, ऐसे जब तक संसार की सत्यता होती है तब तक मन नष्ट नहीं होता, जब ज्ञान की वर्षा होती है, तब दृश्य सहित मन नष्ट हो जाता है। हे

रामजी! संसार वासनाओं का जाल है, उसमें जीवरूप पक्षी फंसे हैं, जब वैराग्यरूप मूषक इस जाल को काटता है तब जीव बन्धनमुक्त होता है, जैसे मलिन जल निर्मल होता है ऐसे ही वैराग्य के वश से जीव का स्वभाव निर्मल होता है, जब जीव निरोग निरुपाधि और असंग होता है और राग–द्वेष के मोह से रहित होता है, तब जैसे पिंजरा टूट जाने से पक्षी स्वतंत्र होता है ऐसे जीव बन्धनमुक्त होता है, बुद्धि संदेह से रहित जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है, अन्तःकरण पूर्ण हो जाता है, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभा पाता है, ऐसे ही ज्ञानवान् की शोभा होती है, सबसे उत्तम सौन्दर्य को वह प्राप्त होता है, उदय अस्त राग द्वेष नष्ट हो जाता है और सार्वत्रिक समताभाव का बर्ताव होता है, न्यूनता और विशेषतारूप विषमता नष्ट हो जाती है, जैसे पवन से रहित सौम्य समुद्र अचलरूप होता है, ऐसे ही असंग पुरुष मूक जड अन्ध कर्म की वासना से रहित अचल हो जाता है, वह सब चेतन प्रकाश देखता है, उसकी बुद्धि विवेक से प्रफुल्लित हो आती है, जैसे सूर्य के उदय होने पर कमल प्रफुल्लित होते हैं, ऐसे ही वह पुरुष परम लक्ष्मी से सुशोभित होता है, अधिक क्या कहा जाय, ज्ञातज्ञेय पुरुष आकाशवत् हो जाता है, न उदय होता है न अस्त होता है। विचारपूर्वक जिसने आत्मतत्व को जाना है वह उस पद को प्राप्त होता है, जहां भी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र स्थित हैं, सब ही उस पर प्रसन्न होते हैं औरों की नांई उसका भी आकार प्रकट भासता है, परन्तु वह अन्तःकरण में अहंकार से शून्य है, विकल्पों के समूह उसको विचलित नहीं कर सकते, जैसे जल का अभाव जानने वाले को मृगतृष्णा की नदी नहीं खींच सकती, हे रामजी! आविर्भाव और तिरोभावरूप जो संसार है, उसको रमणीयरूप जानकर ज्ञानवान् हर्ष–विषादवश नहीं होता, देह के नाश को अपना नाश नहीं मानता और उसकी उत्पत्ति को आत्मा की उत्पत्ति नहीं मानता, जैसे घट के उत्पन्न होने से आकाश नहीं होता, क्योंकि वह तो पूर्व सिद्ध है, तथा घट का अभाव होने पर आकाश का अभाव नहीं होता, ऐसे ही देह के उत्पन्न होने पर आत्मा नहीं उत्पन्न

होता, देह का नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता, जब ऐसा विवेक उदय होता है, तब वासना का जाल नष्ट हो जाता है, कोई भ्रम नहीं रहता, जैसे मृगतृष्णा की नदी का ज्ञान से अभाव हो जाता है, यह संसाररूप अन्धकार तब तक रहता है जब तक इसको यह विचार नहीं उत्पन्न होता कि मैं कौन हूँ और जगत् क्या है, जो पुरुष ऐसा जानता है कि संसार भ्रम मिथ्या उदय हुआ है, परम आपत्ति का कारण देह अनात्मरूप है, आत्मा से भिन्न यह जगत् कुछ नहीं सब आत्मसत्ता करके स्थित है, जो ऐसा देखता है वही यथार्थ देखता है, सब चैतन्यसत्ता है, मैं अनन्त चिदाकाशरूप हूँ, देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित हूँ, आधि, व्याधि, भय, उद्वेग, जरा मरण आदि संयुक्त देह है वह मैं नहीं, जो ऐसे देखता है वही देखता है, बाल के अग्र भाग के लाख भाग किये जायँ, फिर एक एक भाग के भी करोड़ भाग करने में जैसे सूक्ष्मता की समाप्ति हो जाती है इतने सूक्ष्म आत्मतत्त्व की इस व्यापक सूक्ष्मता को जो पहिचानता है वही देखता है, मैं सर्वसमर्थ अनन्त आत्मा हूँ, सर्व पदार्थों में स्थित हूँ, अद्वैत चित् आदित्य हूँ, ऐसा जो देखता है वही देखता है, अधः (नीचे पतालादिलोकों में) ऊर्ध्व (ऊपर) मध्य सबमें मैं व्याप्त हूँ, मुझसे इतर द्वैत कुछ नहीं, ऐसा जो देखता है, न मैं हूँ, न यह जगत् है, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, सत् असत् के मध्य में जो एक देव प्रकाशक है, त्रिलोकी में जो एक है, वह मैं एक अविनाशी पुरुष हूँ, जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं और लीन हो जाते हैं, ऐसे ही मुझ में जगत् फुरते है और लीन हो जाते हैं, जो ऐसा देखता है वहीं देखता है, अथवा प्रथम अहं है, उसके बाद दृश्य जगत् होता है, न मैं हूँ न जगत् है, केवल एक आत्मसत्ता है, अहं और मन उसमें कोई नहीं, ऐसा जो देखता है वही देखता है, दृश्य से रहित मैं चैतन्य रूप भैरव अपार हूँ, मैं जगज्जालको पूर्ण कर रहा हूँ, ऐसा जो देखता है वह देखता है जो पुरुष ज्ञानवान् है वह सुख दुःख भाव अभाव में विचलित नहीं होता, केवल ब्रह्मरूप में स्थित है, जगत् के भाव अभाव से रहित अनाभास सन्मात्र रूप है, जो हेयोपादेय बुद्धि से रहित आकाशवत् सर्वात्मभाव में स्थित हुआ है, जगत् का कोई पदार्थ उसको वश नहीं कर

सकता, वह महात्मा महेश्वर परम पुरुष तम प्रकाश से रहित है, सर्व कल्पना से मुक्त शम स्वच्छरूप है, उदय अस्त से रहित समवृत्त है जिसकी ऐसी परम बोध अनन्त सत्ता में स्थिति है, उसको मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे अनुत्तमविश्राम वर्णनम्
नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ।।२२।।

त्रयोविंशतितमः सर्गः २३

शरीरनगरवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! उत्तमपद का जिसने आश्रय पकडा हुआ है, ऐसा जो जीवन्मुक्त पुरुष है जिसका कुम्भकार चक्र की नाईं प्रारब्ध शेष है, वह पुरुष शरीर रूप नगर में राज्य करता है, और लिप्त नहीं होता, उसके भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होते हैं जैसे इन्द्र का वन सुखरूप है, ऐसे उसका शरीररूपी नगर सुखरूप होता है, शरीर के सुख से सुखी नहीं होता, दुःख से दुःखी नहीं होता, अपने स्वरूप में स्थित रहता है। रामजी बोले–हे मुनीश्वर! शरीररूप नगर कैसा है और इसमें रहकर योगिराज क्या करता है और सुख कैसे भोगता है, वसिष्ठजी बोले हे रामजी! ज्ञानी का शरीररूप नगर रमणीय होता है, सर्व गुण संयुक्त ज्ञानवान् को अनन्त आनन्द विलास दिखाता है, जैसे सूर्य प्रकाश उत्पन्न करता है, उस नगर का स्वरूप और लक्षण करो, शरीर में जो गांठी हैं वे ईंट हैं और रुधिर मांस कीचड के स्थान हैं, अस्थियाँ लकड़ियां (स्तंभ) हैं, किवाड़ पट है और रोम वनस्पति हैं, उदर खाई है छाती चौक है, नवद्वार जिनमें नेत्र भी है झरोखे हैं, उस द्वार से त्रिलोकी का प्रकाश होता है, हाथ गली हैं, जिनसे लेता है देता है, मुख बड़ी कंदरा है,

ग्रीवा, सिर, बड़े मंदिर हैं और रेखाएँ मालाएँ हैं, भिन्न भिन्न लगी हुई हैं और नाड़ी विभाग करने के स्थान हैं और प्राणवायु आदिक से नाडियों में जीव विचरते हैं, आत्मचित्ता मणिरूप उस स्थान में श्रेष्ठ बुद्धिरूपिणी स्त्री रहती है, इत्यादि और जिनके इन्द्रिय रूप वानर बाँधे हैं। हास्यरूप सुन्दर फूलोंवाले उस शरीररूप पुर में ज्ञानवान् के लिये सुख का निमित्त है सौभाग्ययुत सुन्दररूप है, शरीर के सुख दुःख से ज्ञानवान् सुखी दुःखी नहीं होता है। हे रामजी! जो अज्ञानी है उसको शरीररूप नगर अनन्त दुःख का भंडार है अज्ञान से शरीर का नाश होने पर अपना नाश हुआ मानता है, ज्ञानवान् इसके नाश से नाश नहीं पाता, जब तक रहता है शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध इनको ग्रहण करता है, इष्ट रूप होकर भासता है और शरीररूप नगर में भ्रम से रहित निष्कंटक राज्य करता है, लोभ से रहित है, इस कारण से शत्रु कुछ लेता नहीं और उनको अपने स्थान में आने नहीं देता वह शत्रु कौन है? काम क्रोध मान मोहादिक अज्ञान देश के हैं, इन शत्रुओं में आप भी नहीं जाता और अपने देश में उनको आने नहीं देता। सावधान ही रहता है वह अपना देश कौन है? उदारता, धैर्य, सन्तोष, वैराग्य, शमता, मित्रता, मुदिता, उपेक्षा, ज्ञानदेश है, उसमें अज्ञान को प्रवेश नहीं करने देता और आप ध्यान नगर में रहता है, सत्यता और एकता, इन दोनों स्त्रियों को साथ रखता है, उनसे सदा शोभावान् रहता है, जैसे चन्द्रमा चित्रा विशाखा दोनों स्त्रियों से शोभा पाता है, ऐसे ही ज्ञानवान् सत्यता और एकता से शोभा पाता है, मनरूप घोड़े पर चढ़कर तीर्थ स्नानार्थ जाता है, घोड़े के मुख में विचाररूप लगाम रखता है और जीव ब्रह्मैकतारूप संगमतीर्थ पर स्नान करता है सदा आनन्दवान् रहता है, भोग और मोक्ष दोनों से सम्पन्न होता है, जैसे इन्द्र अपने पुर में शोभा पाता है, ऐसे ज्ञानवान् देह में शोभा पाता है और जैसे घट के फूटने से आकाश की कुछ न्यूनता नहीं होती, ऐसे देह के नाश से ज्ञानी की कुछ हानि नहीं होती, ज्यों का त्यों रहता है, यदि देह होता है तो भी उसके साथ स्पर्श नहीं करता जैसे घट

के साथ आकाश स्पर्श नही करता, सर्व क्रिया का कर्ता भोक्ता है परन्तु किसी से लिप्त नहीं होता, सदा एक रस आत्मदेव के रूप में रहता है, जब विमान पर आरूढ होकर शरीररूप नगर में विचरता है, तब मैत्रीरूप नेत्रों के साथ सबको देखता स्थित होता है मैत्रीभाव सदा उसमें रहता है, सत्यता और एकता सदा उसके पास है, उससे शोभा पाता है, सदा आनन्दवान् विचरता हैं, अन्य जीवों को दुःख ओर से कटते देखता है, जैसे कोई पहाड़ के ऊपर चढकर पृथ्वी में लोगों को जलता देखे और आप आनन्दवान् होता हो, ऐसे ज्ञानवान् जीव की दुःखी देखता है और आप आनन्दवान् है, उसकी दृष्टि में तो सदा अद्वैतरूप हैं, आत्मानन्द की अपेक्षा अनात्म धर्म को दुःखदायी देखकर ही कहता है। उसके निश्चय में जगत् जीव कोई नहीं, चारों प्रयोजन धर्म अर्थ, काम, मोक्ष, उसके पूर्ण होते हैं, किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती, वह सर्वदा सम्पन्न होता है, सांसारिक भोगों के सेवन से भी उसे कोई सुख दुःख नहीं स्पर्श कर सकते, जैसे सदा शिव ने कालकूट विष का पान किया था परन्तु उनको वह दुःखदायक न हुआ। ऐसे ही ज्ञानवान् सर्व समर्थ है, उसको भोग दुःखदायक नहीं होते, जैसे चोर को जानकर अपने वश में कर लिया जाय तो वह मित्र भाव में आ जाता है, ऐसे भोग उसको दुःख नहीं देते। जब भोग को जानता है कि यह कुछ वस्तु नहीं तब सुख का कारण हो जाते है, जब तक इनको सत् जानकर इनमें आसक्त रहता है, तब तक यह दुःख का कारण होता है। हे खमजी! जैसे कोई यात्रा कर रहा हो, मार्ग में स्त्रियां पुरुष मिलते है, इकट्ठे चलते बैठते हैं परन्तु परस्पर आसक्त नहीं होते, अपने अपने गन्तव्य स्थान को चले जाते हैं, ऐसे ही ज्ञानवान् संसार के पदार्थों में चित्त को नहीं लगाता, जैसे कोई कासिद विदेश में जाता है, मार्ग में कई रमणीय सुन्दर स्थान दृष्टिगोचर होते हैं और कई मलिन कष्ट के स्थान भासते हैं, परन्तु रागद्वेष किसी में नहीं करता, जैसे तैसे देखता चला जाता है, ऐसी ही ज्ञानवान् भोग क्रिया में बद्ध नहीं होता, सर्व संशय उसके सम्यक् ज्ञान से शान्त हो जाते हैं। कोई पदार्थ

इसको आश्चर्यमय दिखाई नहीं देता, इसके वासना समूह नष्ट हो जाते हैं, चक्रवर्ती राजा की नाईं शोभा पाता है, परिपूर्ण होकर स्थित होता है, जैसे क्षीर समुद्र अपने आप में पूर्ण समाता नहीं, ऐसे ज्ञानी अपने आप में पूर्ण समाता नहीं, हे रामजी! इन जीवों को भोगों की इच्छा दीन करती है, इसीलिये आत्मपद से गिरते हैं, अनात्म वस्तु के संग से दीन होकर कृपण हो जाते हैं उनको देखकर आत्म पदावलम्बी ज्ञानवान् लोक हँसते हैं, (योगार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात्प्रेति स कृपणः) जैसे स्वामी स्त्री के वश में हो, स्त्री स्वामी की नाईं हो और भर्ता दीन हो तो उसको देखकर लोक हँसते है। इसी प्रकार ज्ञानवान् महात्मा भोगों की तृष्णावालों को दीन देखकर हँसते हैं, चंचल मन ही जीव को ज्ञान सुख से गिराता है, इस लिये इस मनरूप मदमत्त गज को विचाररूप अंकुश से वश करो, तब सिद्धपद की प्राप्ति होगी, जिसका मन निरन्तर विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वह मनुष्य संसाररूप विष का बीज वपन कर रहा है, इसलिये पहिले इस मन की ताड़ना करो, तब शान्ति की प्राप्ति होगी, जो माननीय होता है उसका कोई मान करता है तब वह उसमें कोई विशेषता नहीं मानता, जब पहिले उसके मान में कमी हुई हो तो उसको थोडेसे मानसे भी प्रसन्नता प्राप्त होगी, जैसे धान्य जलसे पूर्ण होते हैं, उन पर और जल सींचने से कोई उपकार नहीं होता और जब ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप से सन्तप्त होते हैं तब थोड़े से जल से भी सींचना उनके लिये अमृतस्पर्श होता है, ऐसे ही जब मन का प्रथम ही मान किया जाय तो उससे मित्रभाव नहीं होगा, पहिले ताडना करके पीछे से सम्मान करना चाहिये, तब इससे मित्रभाव होगा, मन की ताडना करना यही है कि संयम से इसको विषयों से निवृत्त करना, जब संयम द्वारा यह निर्माण हो जाय तब इसको सम्मानित करना यह कि अनासक्त होकर संसार का व्यवहार करे, जैसे वर्षाकाल में नदी जल से पूर्ण होती है, उसमें जल का उपकार नहीं होता शरत्काल में जल का उपकार होता है, जैसे राजा को

अन्य देश का राज्य प्राप्त हो तो वह प्रसन्न नहीं होता। पहिले उसको कारागार में जाना पड़े उसके बाद उसे चाहे थोडा लाभ पहुँचाया तो भी प्रसन्न होता है, ऐसे ही जब प्रथम मन को ताडना करे तो पीछे थोड़े सन्मान से भी प्रसन्न होता है, इसलिये बडे वेग के साथ हाथों से हाथ और दांतों से दांतों को पीसते हुए परम पुरुषार्थ से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। मनुष्य के हृदय में मनरूप सर्प कुण्डली बाँधे बैठा है और कल्पनारूप विषय से भरा है, जिस पुरुष ने उसका मर्दन किया है उसको मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे चतुर्थेस्थितिप्रकरणे शरीरनगरवर्णनंनाम
त्रयोविंशतितमः सर्गः ।।२३।।

चतुर्विंशतितमः सर्गः २४

मनस्विसत्यताप्रतिपादनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! अज्ञानी जीव महानरक को प्राप्त होता है, आशारूप बाण की शलाका उनको लगती है, इन्द्रियरूपरिपु मारते हैं इन्द्रिय बड़े कृतघ्न हैं दुष्ट हैं, जिस देह के आश्रय रहती हैं, उसको शोक और इच्छा से पूर्ण करते हैं, महादुष्ट हैं, दुःखदायी हैं, इनको जीतो, इन्द्रिय और मन चील पक्षी हैं, जब विषय नहीं होते तब ऊपर उड़ते हैं, जब विषय प्राप्त होते हैं तब नीचे आ गिरते हैं, जिसने इनको विचार द्वारा स्वाधीनकर (जीत) लिया है उसको यह कुछ हानि नही पहुँचा सकते। हे रामजी! यह भोग आपातरमणीय हैं, अत्यन्त विरस हैं, जो पुरुष इनमें रमण करता है, वह अन्त में नरक को प्राप्त होगा, जो पुरुष ज्ञान के धन से सम्पन्न है और देह रूप देश मे रहता है, वह परम शोभा पाता है और आनन्दवान् होता है, क्योंकि बडे ऐश्वर्य अर्थात् विवेक तथा संयमरूप धन से उसने इंद्रियरूप प्रबलशत्रुओं को जीता है, हे रामजी! स्वर्ण के मन्दिर में रहने से ऐसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा वासना शून्य ज्ञानवान् को होता है, जो अपने शरीर नगर में रहता है जिसने

इन्द्रियों और अनात्मभाव को जीता है, वह परमशोभावान् है, जिस पुरुष के चित्त का गर्व नष्ट हुआ है और इन्द्रियरूप शत्रु जिसने जीत लिये हैं, उसकी वासना नष्ट हो जाती है, जैसे शीतलकाल में पद्मिनियाँ नष्ट हो जाती हैं, हे रामजी! वासनारूप वैताल निशाचर तब तक विचरते हैं जब तक एक तत्त्व का अभ्यास करके मन को नहीं जीता, जब विवकेरूप सूर्य उदय होता है तब अन्धकार नष्ट हो जाता है, जब विवेक से मन को वश करता है, तब इन्द्रिय उसके सेवक बन जाते हैं मन मित्र हो जाता है, आप राजा होकर स्वरूप प्राप्तिरूप राज्य करता है, हे रामजी! विवेकी के इंद्रिय पतिव्रता स्त्री के समान उसका हित करनेवाले हो जाते हैं और मन पिता के समान पालन करने वाला हो जाता है और चित्त सुहृद् हो जाता है, जब निश्चयवान् पुरुष सच्छास्त्र का विचार करता है वह परमसिद्धान्त को प्राप्त होता है और मन अपने मननभाव को त्यागकर शान्तरूप हो जाता है, इसलिये मन का विवेक से वश में करो, जैसे मणि को घिसाकर जल से धोकर उसमें सुराख (छिद्र) निकलवाते हैं और फिर सुन्दर धागे में पिरोकर कंठ में धारण करते हैं तो अतीव शोभा होती है, इसी प्रकार मन को अभ्यास द्वारा सूक्ष्म करना ही इसका घिसाना है और इसके धोने के लिये वैराग्यरूप जल है, वैराग्य जल से इसे धोना यही है कि आत्मतत्त्व को छोड़कर जो किसी और कभी नहीं जाता वही मनरूप मणि घिसा हुआ और वैराग्य जल से धोया हुआ हो उसको सुन्दर ध्यानरूप धागे में पिरोकर धारण करने से मनुष्य की बड़ी शोभा होती है, इसलिये मन का वश करना परम आनन्द का कारण है, मन को यदि वश में न किया जाय तो दुःख देता है और वश में हो परमसुखदायी होता है, हे रामजी! मनरूपमणि भोग तृष्णारूप कीच से कलंकित हुई है, यदि विवेकरूप जल से शुद्ध की जाय तब इसकी यथोचित शोभा होती है, यह संसार महाभयंकर है, अल्पविवेकी पुरुष को भी इसमें गिरने का भय होता है, इससे बचने के लिये बड़े विवेक की आवश्यकता है, इससे मनुष्यों को धोके में नहीं रहना चाहिये, परमसावधानता की आवश्यकता है, यह मायामय संसार विविध विघ्नों से भरा पड़ा है,

महामोहरूप कुहरे से जीव अन्धे हो रहे हैं, इसलिये विवेक का आश्रय पकड़ो और बोध से उस सत् को प्राप्त करो, वैराग्यरूप नाव पर बैठ संसार समुद्र को पार कर जाओ। शरीर भी असत् है, इसमें सुख दुःख भी असत् हैं, दामव्यालकटन्याय मत हो, भीमभास दृढ स्थिति को ग्रहण करो, सर्वदा प्रसन्न रहो, अहं मम आदिक निश्चय का त्याग कर तत् पद को प्राप्त करो, चलते, बैठे, खाते, पीते, मन में कभी मनन का अभाव न हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे मनस्थिसत्यताप्रतिपादनं
नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ।।२४।।

पञ्चविंशतितमः सर्गः २५

दामव्यालकटोत्पत्तिवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे भगवन्! आप समस्त संसार को निष्पाप निर्मल करने वाले हैं, यह आपने क्या कहा है, इसको स्पष्ट करके कहो, ("दाम व्याल कटक की नाईं कैसे है और भीम भास दृढ की स्थिति कैसे है") जैसे वर्षा काल के मेघ ताप को दूर करता है, मोर को अपने शब्द से जगाता है, ऐसे ही अपनी कृपा से आप बचायें, हे रामजी! प्रथम इनकी नाईं स्थित होकर श्रवण करो, पश्चात् जो भला मालूम हो उसमें विचरना। पाताल में शम्बर नाम का दैत्य राजा था, वह मायारूप गणिका समुद्र और सर्व आश्चर्यरूप रमणीय मनोहर वस्तुएं रचता था, एक बार उसने अपनी माया से आकाश में एक नगर की रचना की, बाग दैत्यों के मंदिर रचे, सूर्य चन्द्रमा और अनन्त ऐश्वर्य से संपन्न दैत्य रचे और रत्नों की स्त्रियां रचीं, जो गायन करती थीं, अपने उस गायन से उन्होंने देवाङ्गनाओं को जीत लिया था और चन्द्रवत् वृक्ष रचे गये थे, जिनमें फल लगे। श्वेत पीत रत्न की कमलिनियाँ रची गयीं, स्वर्ण के हंस रचे गये, स्वर्ण के सारस पक्षी रचे गये जो स्वर्ण के कमल और स्वर्ण के

वृक्ष की बड़ी शाखा पर बैठे हुए थे। करंजुए के वृक्ष जिनमें कमल के फूल लगे हुए थे, रत्नों से जड़े हुए सुन्दर स्थान थे, बरफ के समान शीतल बागीचे और चन्दन के वन रचे गये जो इन्द्र के नन्दवन से विशेष थे, वहाँ सर्व ऋतुओं के फल लगे थे, दैत्यों की स्त्रियाँ वहाँ क्रीड़ा करती फिरती थीं और बड़े ऐश्वर्य की रचना की गई थी, विष्णु भगवान् और शंकर भगवान् के नगरों सुदृश महा ऐश्वर्य संयुक्त अपने नगर की रचना की, जिसमें रत्नों के तारागण रचाये गये जब रात्रि का समय आता, तब वे बड़े प्रकाश संयुक्त हो चन्द्रमा के साथ उदय होते और पुतलियाँ गाया करतीं, माया के हाथी ऐसे रचे गये जो इन्द्र के ऐरावत को जीत सकें उसने त्रिलोकी से उत्कृष्ट विभूति रची, अन्दर बाहिर से सर्व सम्पत्ति से पूर्ण हो गया, सब दैत्य मंडलेश्वर वन्दना करने लगे, वह राजा बनकर सब दैत्यों पर शासन करने के लिये सब उसकी आज्ञानुसार चलते थे, उसकी बड़ी भुजाओं के नीचे दैत्य विश्राम करने लगे इस प्रकार उसने सारे राज्य और स्थानों के मंडलेश्वरों की रचना की, बहुत सी सेना रचकर राज्य करने लगा। जब वह शम्बर दैत्य शयन करता था अथवा देशान्तर को जाता था तो अवकाश देखकर देवता लोग उसकी सेना को मार जाते थे और उस स्थान की सम्पत्ति को लूट ले जाते थे। ऐसा देखकर शम्बर ने उनकी रक्षा के लिये सेनापतियों की रचना की, परन्तु समय पाकर देवता लोग उनको भी मार गये तब शंबर ने सुनकर कोप किया और आज्ञा दी कि इनको मारो और इसी विचार से उसने अमरपुरी पर चढाई की, देवता लोग भयभीत हुए सुमेरु पर्वत पर भवानी शंकर की शरण में जा छिपे, जैसे प्रलय काल में सब दिशायें शून्य हो जाती हैं, ऐसे ही अमरपुर स्वर्ग शून्य हो गया, तब दैत्यराज ने अमरपुर को शून्य देखकर क्रोध के साथ वहाँ आग लगा दी लोकपालों के पुर सब जला दिये, देवताओं की तलाश की गयी परन्तु वे कहीं भी देखे न जा सके, जैसे पापी पुण्य को देखना चाहे तो नहीं देख सकता, ऐसे ही देवता ढूंढने से न मिल सके, तब शंबर ने महाक्रोध में आकर बडी भारी बलशालिनी राक्षस सेना की माया से रचना की,

उसका प्रत्येक योधा मानों काल की मूर्ति हैं, मानों बड़े आकारवाले पर्वत पंखोंसमेत हिलते हों, ऐसे शरीर दाम, व्याल, कट यह तीन उनके नाम हैं और हाथों में बड़े शस्त्र और भुजाकल्प वृक्ष की नाईं और धर्म उनका यह कि यथा प्राप्त कर्मों में लगे रहा करें और उनको कर्म का अभाव है क्योंकि पूर्ववासना के अनुसार उनको कर्म न था, निर्विकल्प चिन्मात्र उनका स्वरूप था और अपनी स्वभाव सत्ता में स्थित न थे और अनात्मभावको प्राप्त हुए न थे एक स्पंदमात्र कर्मरूप चेतना उनमें थी वह कर्म का बीज चित्तकलना स्पन्दरूप हुई थी, मननात्मक शस्त्र प्रहार को रचा था उसको पडे किया करें। परन्तु अन्दर स्पष्ट वासना उनको कोई न फुरे, आकाशमात्र स्वभाव को उनकी क्रिया पड़ी हो, जैसे अर्ध सुषुप्त बालक अपने अंगको वासना रहित स्वाभाविक हिलाता है, ऐसेही वह बिना वासना के चेष्टा करता है, गिरना और गिराना कुछ नहीं जाने और न जाने कि हम इसको मारते हैं और न जाने हम मरते हैं, न दौड़ना जाने न भागना जाने, न जाने हम जीते हैं और न जाने हम मरते हैं, जीत और हार को कुछ न जाने, केवल शस्त्र का प्रहार करे, जैसे यंत्र की पुतली धागे पर चेष्टा करती है, बिना संवेदन ऐसे दाम, व्याल, कट चेष्टा करें, ऐसे महाबली जिनके प्रहार से पहाड भी चूर्ण हो जावें उनको देखकर शम्बर प्रसन्न हुआ, कि यह सेना की रक्षा के लिये समर्थ है, इनका नाश भी उनसे न हो सकेगा, क्योंकि इनको इष्ट अनिष्ट कुछ नहीं, जिनको इष्ट अनिष्ट का ज्ञान और वासना नहीं, उनका नाश कैसे हो और भगें कैसे? जैसे देवताओं के हाथी में बडे बली हैं तो भी सुमेरु को नहीं उखाड़ सकते, ऐसे ही देवता बड़े बली हैं, परन्तु इनको मार न सकेंगे । यह रक्षक बड़े बली हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाम व्याल कटोत्पत्ति वर्णनं
नाम पंचविंशतितमः सर्गः ।।२५।।

षड्विंशतितमः सर्गः २६

दाम व्याल कट संग्राम वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! इस प्रकार निर्णय करके शम्बर ने दाम व्याल कट को स्थापित किया और देवताओं की सेना भी पृथ्वी पर आयी, दोनों ओर से सेनाएँ निकली और युद्ध होने लगा जैसे प्रलयकाल के समुद्र क्षोभ में आते हैं और सब जलमय हो जाता है ऐसे देवता और दैत्य सब ओर से पूर्ण हो गये, बड़े वाणों से युद्ध करने लगे, शंखध्वनि के साथ शस्त्र चलते थे, उनसे भयंकर शब्द निकलते थे, आग निकलती थी, तारे से चमकते थे, शरीरों पर ससिर कटे जाते थे, धड़ कांपते हुए गिरते थे, दोनों ओर से शस्त्र चल रहे थे, दाम, व्याल, कट भागते नहीं थे मारते ही जाते थे, उनके प्रहार से पहाड चूर्ण हो जायँ ऐसी शक्ति थी, शस्त्रों से सब दिशायें पूर्ण हो गयीं रुधिर के प्रवाह चलते थे, उनमें मरे हुए देव दैत्य बहते जाते थे, महाप्रलयका का सा भय छा गया, एक एक अस्त्र ऐसा चले कि अनन्त हो जायँ, कोई अग्नि अस्त्र चलाता था तो कोई मेघ अस्त्र, कोई तम अस्त्र चलाता था तो दूसरा प्रकाशरूप, कोई निद्रारूप अस्त्र चलाता था तो कोई प्रबोधरूप, कोई सर्परूप, कोई गरुडरूप, इस प्रकार परस्पर युद्ध होता था फिर ब्रह्मा भी चलाये गये, शिलाओं की वर्षा हुई, तब सब पृथ्वी रक्त और मांस से पट गयी, अनेकों जीवों के धड़ और सिर पृथ्वी पर पड़े थे जैसे वृक्षों से फल गिरते हैं, ऐसे देवता दैत्य गिरे पड़े थे महान् संग्राम हुआ, गन्धर्वों, किन्नरों और देवताओं का बहुत नाश हुआ, दैत्य भी बहुत नष्ट हुए परन्तु फिर भी विजयी रहे, इस प्रकार मायावी शम्बर की सेना का दैत्यों के साथ युद्ध हुआ, जैसे वर्षाकाल के आकाश में मेघ घटायें चढती हैं, इसी प्रकार का दृश्य देवता और दैत्यों की सेनाओं का बना था, दिशा विदिशायें पूर्ण हो गई थीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकट संग्रामवर्णनं नामषड्विंशतितमः सर्गः ॥२६॥

सप्तविंशतितमः सर्गः २७

ब्रह्मवाक्यवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार घोर संग्राम हुआ, देवताओं और दैत्यों के शरीर इस प्रकार गिरे जैसे पंख टूटने पर पर्वत गिरते हैं, रुधिर प्रवाह चले, महान् शब्द होता था, वह भी कई प्रकार का, जिससे आकाश और पृथ्वी पूर्ण हो गयी, दाम ने देवताओं के समूह को विष्टित कर लिया, व्याल ने पकड़कर देवताओं को पहाड़ में पीस डाला, कट ने देवताओं के समूह चूर्ण कर दिये, उनके निवास स्थान तोड़ डाले, बहुत ही क्रूर संग्राम हुआ, देवताओं का मदमत्त हाथी भी मारा गया, वे सभी वहां से भाग निकले, भयभीत हुए देवताओं के भाग जाने पर दैत्य सेना बढने लगी, जैसे मध्याह्न के सूर्य का प्रकाश होता है, ऐसे ही दैत्यों का तेज बढ़ा, देवता बड़ी संख्या में मारे गये, जैसे जल का प्रवाह बांध टूट जाने से तेज चलता है, ऐसे ही देवता लोग बड़ी तेजी से भागने लगे, जल के प्रवाह की नाईं उनकी मर्यादा टूट गयी, दाम, व्याल, कट की सेना ने विजय पाई, वे लोग देवताओं के पीछे लगे हुए उन्हें मारते जाते थे, जैसे काष्ठरहित अग्नि अन्तर्धान हो जाता है, ऐसे ही देवता बलहीन हो गये, दैत्य ढूढ़ते फिरें परन्तु देवता कहीं न मिलें, जैसे जाल से निकले पक्षी कहीं हाथ नहीं आते, ऐसेही देवता उनके हाथ नहीं आये, जैसे मृग बन्धन से छूटा भाग जाता है हाथ में नहीं आता, तब दाम, व्याल, कट तीनों सेना सहित पाताल में जाकर स्थित हुए, अपने स्वामी शम्बर के पास प्रसन्नता प्रकाशित करने के लिये आये और वहां देवताओं ने सुना कि दैत्य लोग पाताल में गये हैं, तो विचार करने लगे कि किसी प्रकार ईश्वर हमारी इनसे रक्षा करें, जब ऐसी चिंता में व्याकुल हुए तब ब्रह्माजी इन (देवताओं) के पास आ

पहुँचे। अमित तेजस्वी रक्ताम्बरधारी संध्याकाल के मेघ के समान रक्तवर्ण ब्रह्माजी को देखकर इन्द्रादि देवताओं ने प्रणाम किया, शम्बर दैत्य की शत्रुता के विषय में भी प्रार्थना करने लगे, हे त्रिलोकेश्वर! हम तेरी शरण में आये हैं, हमारी रक्षा करो, शम्बर दैत्य ने हमको बहुत दुःख दिये हैं, उनके सेनापति दाम, व्याल कट हैं, वे बड़े दैत्य हैं, किसी प्रकार हमसे मारे नहीं जाते और हमारी बहुत सी सेना उन्होंने चूर्ण कर डाली है, हे रामजी! इस प्रकार दाम, व्याल, कट का सम्पूर्ण वृत्त देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा और यह भी कहा कि इनके मारने का उपाय हमें कहो, जिससे इनका नाश हो तब सम्पूर्ण जगत् पर दया करने वाले ब्रह्माजी ने शांतिप्रद वचन कहे, ब्रह्मा–बोले, हे अमरेश! यह दैत्य अब तो नष्ट होंगे, जब इनको अहंकार उत्पन्न होगा तब मरेंगे, तुम ही उनको जीतोगे। मैंने इनका भविष्यत् देखा है, दाम, व्याल, कट युद्ध में भागना नहीं जानते और इनको मरने मारने का ज्ञान नहीं है, यह शम्बर दैत्य की माया से रचे गये हैं, इनका नाश कैसे हो, जिसको अहं मम का अभिमान हो उसका नाश भी होता है, यह तो अहं मम आदि शत्रु को जानते ही नहीं, इनका नाश कैसे हो? इस प्रकार तो इनका नाश कभी होना नहीं। जब इनको अहंकार उपजेगा तब इनका नाश होगा, तुम उनके साथ युद्ध करते रहो वह अहंकार उपजाने का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। ऐसा करो कि कभी उनके सम्मुख, कभी दाहिनी ओर, कभी बाईं तरफ कभी भाग जाना, इस प्रकार जब तुम लोग बारंबार करोगे तब युद्ध के अभ्यासवश से इनमें अहंकार का अंकुर उत्पन्न होगा, जब अहंकार का अंश हृदय में उत्पन्न हुआ तब उसका प्रतिबिंब इंद्ररूप भी देखेंगे, तब वासना भी फुर आयेगी, कि हम यह हैं, हमारा यह कर्तव्य है, यह ग्राह्य है यह त्याज्य है, इत्यादिक वासना जाल उनके अन्दर फुर आवेगा। अपने आपको वे दाम, व्याल, कट जानेंगे, तब तुम उनको वश कर लोगे, तुम्हारी जय होगी, जैसे जाल में फँसा पक्षी वश में हो जाता है, ऐसे ही वे

अहंकार से वश में आ जायेंगे। अभी वे वश में नहीं आते। सुख दुःख से रहित बड़े धैर्यवान् हैं, अभी उनको जीतना तुम्हारे लिये कठिन है। हे साधो! जो लोग वासना के तन्तु से बँधे हुए हैं, वे वश में हो जाते हैं, जो वासना से रहित बुद्धिमान पुरुष हैं सर्वत्र असंसक्त बुद्धि हैं, इष्ट अनिष्ट में सम रहते हैं, किसी बन्धन में नहीं आते, वे किसी से जीते नहीं जाते, वे अजित पुरुष हैं और जिनके अन्दर वासना है, देह में अभिमान है ऐसे पुरुष चाहे सर्ववेत्ता हों बालक से भी जीते जा सकते हैं, जो अहं मम आदि की कल्पना से कलंकित है, वह सब आपत्तियों का पात्र है, सब आपत्तियाँ उसमें आकर निवास करती हैं। जो पुरुष अपने आपको परिच्छिन देहमात्र रूप जानता है वह सर्वज्ञ हो तो भी कृपणता को प्राप्त होता है, उसमें उदारता कहाँ है, उसका अपना स्वरूप अनन्त आत्मा है, अप्रमेय है, उस स्वरूप का जिसको प्रमाद हुआ है और देहादिक में आत्माभिमान हुआ है, उसने अपने आपको आप ही दीन किया है, जब तक आत्मतत्व से इतर इसको त्रिलोकी में कुछ भी सत् भासता है तब तक इसकी उपादेय बुद्धि होती है, भावना के साथ बँधा रहता है, संसार में सत् भावना करना अनंत दुःख का कारण है और संसार में असद्बुद्धि सुख का कारण है, हे साधो! जब तक दाम, व्याल, कट को जगत् के पदार्थों में आस्थाभाव नहीं, तब तक तुम इनके जीतने को समर्थ नहीं हो सकते, जैसे मक्खी वायु को जीतने में सामर्थ्य नहीं रखती। जिसको देह में अहं भावना होती है और जगत् में सत् बुद्धि होती है, वह जीव है और दीनता को प्राप्त होता है, चाहे कितना बली हो उसको जीतना सुगम है और तुच्छ कृपण है और जिसके अन्दर वासना नहीं, वह मक्षि का सम अल्प होने पर भी सुमेरु के समान गरिष्ठ हो जाता है हे देवताओं! जो वासना संयुक्त होता है, वह परम कृपणता को प्राप्त होता है, गुणी गुणों से बाँधा जाता है, जैसे मणि में छिद्र होता है, तब धागे से पिरोया जाता (ती) है, यदि छिद्र से रहित है पिरोया नहीं जाता, ऐसे ही जिसका हृदय वासना से वेधा गया है, उसके अन्दर गुण अवगुण प्रवेश करते हैं,

जो निर्वेध है उसके अन्दर प्रवेश नहीं करते। इसलिये जिस प्रकार अहं इदं आदिक वासना दाम, व्याल, कट के अन्दर उपजे वही उपाय करो, तब तुम्हारी जय होगी, जिस जिस इष्ट अनिष्ट के भाव अभाव को जीव प्राप्त होते हैं, वह तृष्णारूप करंजुए का पौदा है, उससे आपत्ति को प्राप्त होते हैं, इससे रहित हो जाने पर आपत्ति का अभाव हो जाता है, जो वासना के तंतु से बँधे हुए हैं, वे अनेक जन्म दुःख पायेंगे, जो बलवान् हैं और सर्वज्ञ हैं, कुल का अधिष्ठाता बड़ा भी है, तृष्णा संयुक्त है तो बँधा है, जैसे सिंह है और सांकर के पिंजरे से बँधा है, तब उसका बल और बड़ाई किसी काम नहीं आती, ऐसे जो तृष्णा से बँधा है, वह तुच्छ है, उसको देहमात्र में अहंभाव है, हृदय में तृष्णा उत्पन्न होती है, वह पुरुष ऐसा है, जैसा पक्षी धागे से बँधा हो जैसे रस्सी से बँधे हुए पक्षी को बालक भी खेंचकर वश करता है, परन्तु निर्वासन पुरुष को कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता, जैसे आकाश में उड़ते पक्षी को कोई पकड़ नहीं सकता, इसलिये शस्त्र युद्ध को छोड़ो और इनके अन्दर वासना उत्पन्न करने का यत्न करो, तब वश में होंगे, हे इन्द्र! जिसको अहं मम इदम् आदिक वासना नहीं, जिसका राग–द्वेष से अन्तःकरण क्षोभ में नहीं आता, उसको शस्त्र से और अस्त्र से कोई जीत नहीं सकता, इसलिये दाम, व्याल, कट के जीतने का अन्य उपाय से समर्थ न हो सकोगे। युद्ध के अभ्यास से जब इनको अहंकार उपजाओगे, तब यह तुम्हारे वश में होंगे और तब ही तुम इनको जीत सकोगे, हे देवताओं! यह तो शम्बर दैत्य के रचे हुए यन्त्र पुरुष हैं, इनके अन्दर वासना कोई नहीं, जैसे उसने रचे हैं ऐसे ही निर्वासनिक पुरुष हैं, जब तुम उनको युद्ध का अभ्यास कराओगे, तब इनको अहंकार वासना उत्पन्न हो जायेगी, यह तुम्हें इनके वश करने की उत्तम युक्ति कही है, जब तक उनके अन्दर वासना नहीं फुरती, तब तक यह तुमसे अजेय हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामोपाख्याने ब्रह्मवाक्यवर्णनं
नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमः सर्गः २८

सुरासुरयुद्धवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार कह कर भगवान् ब्रह्मा अन्तर्धान हो गये, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर शब्द करके लीन होता है, इसी प्रकार देवताओं को पूर्वोक्त वचन कह कर अन्तर्धान हो गये। तब देवगण भी सुनकर अभिलषित स्थान की ओर चल दिये, जैसे कमल की सुगंधि को पवन ले जाता है, ऐसे जाकर कुछ दिनों तक अपने स्थान पर रहे, जैसे भँवरे कमल में रहते हैं, ऐसे रह कर अपने कल्याण के निमित्त उनका नाश करने के लिये उठे, अर्थात् अपने स्थान से उठकर युद्ध करने को चले, प्रथम देवताओं ने शंख बजाये जिनका महाशब्द हुआ, जैसे प्रलयकाल में मेघ गर्जते हैं, ऐसे ही शब्द से संस्थान भर गये, तब पाताल छिद्र से शब्द सुनकर दैत्य निकले और आकाश मार्ग से देवता लोग आ गये, युद्ध होने लगा, तब बरछी, बाण, मुद्गर, मूसल, गदा, चक्र, वज्र, पहाड़, वृक्ष, सर्प, अग्नि आदिक शस्त्र, अस्त्र चलने लगे, एक ओर से देवता चलाते थे, दूसरी ओर से दैत्य चलाते थे, शस्त्रास्त्रों के प्रवाह चले, चक्र, मूसल, त्रिशूल आदिक शस्त्रास्त्र ऐसे चलते थे जैसे गंगा का प्रवाह चलता है, शस्त्र अस्त्रों के समूहों से सब दिशायें भर गयीं, आकाश में भी शस्त्र ही दीखते थे। अग्नि भी लगाई गयी जिससे देवता और दैत्य दोनों का नाश हुआ, कई शरीर हीनांग हो गये अर्थात् हाथ पांव आदि कट गये, समस्त पृथ्वी रुधिराप्लुत हो गयी, जैसे समुद्र के उछलने से पृथ्वी जल से पूर्ण हो जाती है, ऐसे रुधिर से पूर्ण हो गयी आकाश में तथा दिशाओं में अग्नि का तेज इस प्रकार बढ़ा कि जैसे प्रलयकाल में द्वादश सूर्यों का तेज होता है, युद्ध स्थल पर पहाड़ों की वर्षा होती थी और रुधिर का प्रवाह इतना महान् हो गया कि ऐसे पहाड़ घूमने लगे। हे रामजी! ऐसा भीषण युद्ध हुआ कि प्रवाहरूप से बहता हुआ रुधिर पहाड़ों को बहा ले जा रहा है, उस विचित्र युद्ध

के भयंकर दृश्य क्षण क्षण में बदलते थे, क्षण भर में आकाश सूर्य भगवान् के निकलने से प्रकाशमय हो जाता तथा क्षण भर में सब ओर से अन्धकार भासने लगता, महाभयानक युद्ध हो रहा था कि दैत्य आकाश में उड़कर लड़ने लगे थे। देवता वज्रादिक शस्त्र चलाते तो अनेक दैत्य गिरते थे, जब दैत्यों की तरफ से शस्त्र वर्षा होती थी तब देवता ऐसे गिरते थे जैसे पंख रहित पहाड़ गिरते हैं, दोनों तरफ के वीरों के अंग प्रत्यंग कट कटकर गिरते थे। किसी का सिर, किसी की भुजा, किसी का हाथ, किसी के पांव, इतना भयावह दारुण महायुद्ध हुआ कि दैत्य और देवता परम संकट में पड़े।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे सुरासुर युद्धवर्णनं
नाम अष्टाविंशतितमः सर्गः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमः सर्गः २९

असुरहननवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार जब देवता और दैत्यों का युद्ध हुआ तब देवताओं का धैर्य फिर नष्ट हो गया, युद्ध से भीत होकर अन्तर्धान होने लगे, पैंतीस वर्षों के अनन्तर फिर युद्ध करने लगे। कभी पांच दिन के अनन्तर कभी सात आठ दिनानन्तर युद्ध करें और फिर छिप जायँ। ऐसे विचार कर देवता लोग छल से युद्ध करने लगे, कभी दाम, व्याल, कट के निकट जाते, कभी दक्षिण पार्श्व कभी बाम, कभी आगे कभी पीछे दौड़ने लगे, इधर उधर देखकर मारने लगे, इस प्रकार जब देवताओं ने बहुत उपाय किये तब युद्ध के अभ्यास से दाम, व्याल, कट,भी देवताओं के पीछे दौड़ने लगे, उनको देहादिक में अहंकार स्फुरण हुआ है, हे रामजी! जैसे समीपता से दर्पण में प्रतिबिंब पड़ता है, दूर का नहीं पड़ता, ऐसे अतिशय अभ्यास से अहंकार फुर आता है अन्यथा नहीं फुरता। जब उनके अन्दर अहंकार फुरा तब पदार्थ की वासना भी फुर

आयी, फिर यह सभी स्फुरण हुआ कि हम दाम, व्याल, कट हैं, किसी प्रकार जीते रहें, जीने की इच्छा से दीन भाव को प्राप्त हुए और डरने लगे कि इस प्रकार हमारा नाश हो जायेगा, जिस प्रकार हमारी रक्षा होगी, जिससे हम जीते रहें वह उपाय करें। इस प्रकार आशा की फाँसी में बँधे हुए दीन भाव को प्राप्त हुए, उनको देहमात्र में अपने आपकी आस्था हुई,कि देहरूप लता हमारी स्थित रहे, हम सुखी हों, इस वासना से युक्त हुए उनका पूर्व का धैर्य छूट गया और जानने लगे कि यह हमारे शत्रु हैं, नाश कर्ता हैं, इनसे हमारी रक्षा हो। इस प्रकार का कार्पण्य उनमें आ गया और धैर्य किंचित् भी न रहा। जैसे जल के बिना कमल शोभाहीन होते हैं, उसी प्रकार इनकी शोभा जाती रही, खान पान की वासना फुर आई, संसार की भयंकर गति को प्राप्त हुए, युद्ध करें तो आश्रय लेकर करें, अहंकार के कारण ही भयभीत हुए, ढाल आदिक आगे रखते हैं, इस चिन्ता मैं इनका मन फँस गया कि यह हमें मारते हैं हम इनको मारते हैं, इस चिंता में इनके मन फँस गये। शनैः शनैः युद्ध करने लगे, जब देवता शस्त्र चलावें तब बच जावें, भयभीत होकर भागें, इस प्रकार अहंकार के आने पर आपत्ति ने उनके मस्तक पर चरण रक्खा, महादीन हो गये, मुख शोभाहीन हो गये, धैर्य बल नष्ट हो गया ऐसे हो गये कि जो कोई आगे पड़ा हो उसको भी न मार सके जैसे काष्ठ से रहित हुआ अग्नि क्षीर को नहीं भक्षण करता, ऐसे निर्बल हो गये, अंग काटे जाते हैं, भागे जा रहे हैं, जैसे अन्य शूर युद्ध करते हैं ऐसे सामान्य युद्ध करने लगे, हे रामजी! अधिक क्या कहें मरने के डर से वे युद्ध नहीं कर सक रहे थे, तब देवता वज्र आदि शस्त्रों से उन पर प्रहार करने लगे, उससे चूर्ण होने लगे और भयभीत होकर भागे, दैत्य सेना भागने लगी, जो देश देशान्तर से आये थे वे भी कोई किसी देश को कोई किसी देश को भाग गये। अर्थात् दैत्यों की हार और देवताओं की विजय हुई, दैत्य भागकर पाताल में जा छिपे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाम व्याल कटोपाख्याने असुरहननं नाम एकोनत्रिंशंत्तमः सर्गः ।।२९।।

त्रिंशत्तमः सर्गः ३०

दाम व्याल कट जन्मान्तर वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! ऐसा होने पर देवता अति प्रसन्न हुए और दाम, व्याल कट भीत होकर पाताल को चले गये, देवताओं से तो भय था ही वे शम्बर से भी डर रहे थे कि वह हारकर जाने में पता नहीं क्या करेगा? जैसे प्रलय काल की अग्नि प्रज्वलित होती है उसी प्रकार शम्बर भी प्रज्वलित अग्नि का ही रूप है, उसके भय से दाम, व्याल, कट, सातवें पाताल में जा छिपे, जिस स्थान पर वहाँ दैत्यमंडल को तोड़ कर यमकिंकर रहते हैं वहाँ चले गये, इनका कुकुहा नाम वहाँ से ही हुआ, नरक रूप समुद्र के आपालक यमकिंकर हैं उन्होंने दया करके इनको बैठाया, जैसे पापी को चिंता मिलती है इस प्रकार इनको स्त्रियाँ प्राप्त हुईं, इनके सहित सातवें पाताल में रहने लगे, आगे इनकी बड़ी सन्तान अर्थात् पुत्र पौत्रादिक हुए, हजारों वर्ष बीत गये, वहाँ वासना दृढ हो गयी, यह मेरी स्त्री है यह मेरा पुत्र है इत्यादि बाँधवों में स्नेह बहुत हो गया, एक समय वहाँ अपनी इच्छा से धर्मराज आया, नरक का कुछ काम करना था, उसको देखकर सब किंकर उठ खड़े हुए प्रणाम किया, और दाम, व्याल, कट, उसके प्रभुत्व को नहीं जानते थे, किंकर समान जानकर उनको प्रणाम नहीं किया, तब वैवस्वत यमराज ने क्रोध किया कि यह दुष्ट मानी है, इनको शिक्षा देनी चाहिये, इस प्रकार विचार कर किंकरों को इशारा किया कि इन दुष्टों को परिवार सहित अग्नि की खाई में फेंक दो, वे रोते पुकारते रहे परन्तु फेंक ही दिये गये। परिवार सहित नरक की अग्नि में जल गये, जैसे दावाग्नि में वृक्ष, पत्र, टास, फूल, फल सहित जल जाता है, ऐसे जल गये, क्रान्त देश के राजा के यहाँ मलिन वासना के कारण धीवर हुए और राजा के किंकर बने हुए हिंसा का काम करने लगे। जब धीवर शरीर छूटा तब कुजा हुए। उसके बाद चील्ह हुए, बगले हुए, फिर तीरगत देश में धीवर हुए, बर्बर देश में मच्छर हुए,

मगध देश में कीट हुए। हे रामजी! इस प्रकार दाम, व्याल, कट, तीनों वासना के कारण अनेक जन्मों को प्राप्त हुए, काश्मीर देश में एक ताल है, अब उसमें तीनों मच्छ हुए हैं, वन को आग लगी जल भी सूख गया, थोडा सा गरम जल बचा है उसमें रहते हैं और वहीं जल पान करते हैं। न मरते हैं, न जीते हैं, जिनकी जो सम्पत्ति है, उसको भी नहीं भोगते, चिंता से जलते रहते हैं। हे रामजी! अज्ञान से ही अनेक बार जन्मते मरते हैं, जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं और मिटते हैं, जैसे जल के भँवर में तृण आकर घूमता है, ऐसे ही वासना के अनुसार घूमते हुए उनको अभी तक शान्ति नहीं प्राप्त हुई, अहंकार वासना महादुःख का कारण है, इसके त्याग से सुख है अन्यथा सुख कदाचित् नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटजन्मान्तरवर्णनम्
नाम त्रिंशत्तमः सर्गः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमः सर्गः ३१

निर्वाणोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! तुम्हारे प्रबोध के लिये मैंने तुम्हें दाम, व्याल, कटन्याय कहा है, कि इनके समान न होना, इसलिये इतिहास कहा है और किसी बात से प्रयोजन नहीं था। विवेकरहित पुरुष का निश्चय ही ऐसा है कि वह अनेकों दुःख और आपत्तियाँ अपने शिर पर ले लेता है, देवताओं के नाश करने वाली शम्बर दैत्य की सेना का पति होना कहाँ? और अग्नि से उत्पन्न हुए कीचड के दल दल की मछली होकर तडपना कहाँ? और देवताओं की सेना को भगादेनेवाला धैर्य कहाँ? और किरात राजा की क्षुद्रकिंकरता कहाँ? अहंकार से रहित औदार्य धैर्य सम्पन्न चित्स्वरूपता कहाँ? और मिथ्या वासना के आवेश से अहंकार भरी कुत्सित कल्पना कहाँ? शाखाओं के प्रताप से घनी हुई यह संसाररूप विषमञ्जरी, अहंकाररूप जिसके अंकुर है फैल रही है,

इसलिये हे राम! यत्नपूर्वक अन्तःकरण से अहंकार को निकालो। मैं कुछ भी नहीं हूँ, ऐसी भावना करके सुखी हो जाओ, क्योंकि संसाररूप वृक्ष का बीज अहंकार है, जब तक अहंकार है, तब तक अनेक दुःख और आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, इसलिये तुम अति शीघ्र ही अहंकार का यत्नपूर्वक मार्जन करो, मार्जन करना यह है कि अहंवृत्ति को असत् जानो, कि मैं कुछ नहीं हूँ, इस मार्जन से सुखी हो जाओगे, हे रामजी! आत्मरूप अमृत का चन्द्रमा है, शीतलता शान्तिरूप उसके अंग हैं, अहंकाररूप बादल आकर उसको आच्छन्न करता है उससे वह अदृश्य हो जाता है अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं भासता। जब विवेकरूप पवन चले तब अहंकाररूप बादल लुप्त हो जाता है और आत्मरूप चन्द्रमा प्रत्यक्ष भासता है, अहंकार पिशाच जब उत्पन्न हुआ तब दाम, व्याल, कट, तीनों मायारूप दानव सत् होकर अनेक आपत्तियों को भोगते हैं, अब तक काश्मीर के ताल में मच्छ हुए पड़े हैं, सिवार का भोजन करने का यत्न करते हैं, यदि अहंकार न होता है तो इतनी आपत्ति को क्यों प्राप्त होते? रामजी ने कहा–हे भगवन्! सत् का अभाव नहीं होता और असत् का भाव नहीं होता, असत् दाम, व्याल, कट सत् कैसे हुए? वसिष्ठजी ने कहा–हे रामजी! यह इस प्रकार है, जो सत् नहीं, वह किसी को कभी कुछ नहीं भासता, परन्तु सत् किसी को असत् प्राप्त हुआ देखता है और असत् को न हुआ देखा है, जो स्थित हुआ है, इसी तुम्हारे कहने से मैं तुम्हें युक्ति पूर्वक प्रबुद्ध करूँगा। रामजी बोले–हे भगवन्! हम तुम जो यह सब सत्यरूप हैं, और दाम आदि जो थे, वे मायामात्र असत्‌रूप थे, सत् कैसे हुए? यह कहिये। वसिष्ठमहिर्षि बोले–हे रामजी! जैसे दामादिक मायारूप असत् होने से मृगतृष्णा के जलवत् स्थित हैं, ऐसे तुम, हम, देवता, दानव सम्पूर्ण संसार असत् मायामात्र है, सत् होकर भासता है, वस्तुतः कुछ हुआ ही नहीं, जैसे स्वप्न में अपना मरना भासता है, वह असत्‌रूप है, ऐसा हम तुम आदि यह जगत् भासता है, वह असत्यरूप है, जैसे स्वप्न में अपने मरे बान्धव आकर मिलते हैं और चर्चा करते हैं, प्रत्यक्ष भासते हैं,

वह असत् रूप होते हैं, ऐसे यह जगत् असत् रूप है। हे रामजी! मेरे यह वचन मूढों के लिये नहीं कहे गये, उनको शोभा नहीं देते, क्योंकि अज्ञानी के हृदय में संसार का सद्भाव हो गया है, और बिना अभ्यास के इस निश्चय का अभाव नहीं होता, जैसा निश्चय किसी के हृदय में दृढ हो गया हो, वह बिना दृढ़ अभ्यास तथा यत्न के दूर नहीं होता, जिसको यह निश्चय है कि जगत् सत् है, वह मूर्ख उन्मत्त है। ज्ञानवान् पुरुष के हृदय में जगत् का सद्भाव नहीं होता, केवल ब्रह्मसत्ता का भाव होता है और अज्ञानी को जगत् सत् भासता है, ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता, और अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानी नहीं जानता, जैसे मदमत्त पुरुष के निश्चय को अमत्त नहीं जानता और अमत्त के निश्चय को मत्त नहीं जानता, ऐसे ज्ञानी अज्ञानी का निश्चय इकट्ठा नहीं होता, जैसे प्रकाश और अन्धकार इकट्ठा नहीं होता, धूप और छाया इकट्ठी नहीं होती, वैसे ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय इकट्ठा नहीं होता, जिसके चित्त में जो निश्चय है, उसको वह जब अभ्यास करे तब दूर कर सकता है अन्यथा नहीं, ज्ञानी भी अज्ञानी के निश्चय को दूर नहीं कर सकता, जैसे मृत की जीवकला को मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकते कि उसके निश्चय में क्या है, ज्ञानवान् के निश्चय में सदा ब्रह्मभाव है, जगत् द्वैत कुछ नहीं, उसी को मेरे वचन शोभा देते हैं, आत्मानुभव सदा सत्‌रूप है और सब असत् पदार्थ हैं, यह वचन प्रबुद्ध का विषय है, उसी को शोभा देतें हैं, अज्ञानी को जगत् सत् भासता है, इसलिये ब्रह्मवाणी उसको शोभा नहीं देती, ज्ञानी का यह निश्चय है कि जगत् किंचित्‌मात्र भी सत्य नहीं, एक ब्रह्म ही परमसत्ता स्वरूप है, यह बोधवान् का अनुभव है, उसके निश्चय को कोई दूर नहीं कर सकता, परमात्मा से कुछ व्यतिरेक नहीं, जैसे स्वर्ण में भूषणभाव नहीं, ऐसे आत्मा में सृष्टिभाव नहीं और अज्ञानी को पंचभूतों से अतिरिक्त कुछ नहीं भासता, जैसे स्वर्ण में भूषण नाममात्र होता है, ऐसे वह आपको नाममात्र जानता है, सम्यक्‌दर्शी को इससे विपरीत भासता है और जो पुरुष हो और कहे मैं घट हूँ जैसे यह निश्चय

उन्मत्त का सा है, ऐसे हम तुम आदि असत् रूप हैं, सत् रूप नहीं, सत् वही है, जो शुद्ध संवित् बोध आकाश निरंजन रूप हैं, सर्वगत है शान्त रूप है, उदय अस्त से रहित है जैसे दूषित नेत्रोंवाले को आकाश में तरवरे भासते हैं, ऐसे अज्ञानी जगत् सत् रूप भासता है, आत्मा में जैसा जैसा किसी को निश्चय हो गया है, ऐसा ही तत्काल हो भासता है, वस्तुतः जैसे दामादिक अणु होते थे, ऐसे तुम हम आदिक जगत् हैं, अनन्त चेतन आकाश सर्वगत निराकार में स्फुरण होता है वही देहाकार होकर भासते हैं, जैसे संवित् का किंचन दामादिक निश्चय से आकारवान् होकर भासे, ऐसे हम तुम भी स्फुरणमात्र हैं। संवेदन के फुरने ही से स्थित हुए हैं, जैसे स्वप्न नगर भासता है, जैसे—मृगतृष्णा की नदी भासती है, ऐसे हम तुम आदिक जगत् आत्मरूप भासता है, प्रबुद्ध को सब चिदाकाश ही भासता है, अन्य को सब मृगतृष्णा और स्वप्न नगर भासता है, जो आत्मा की ओर जगे हैं और जगत् की ओर से सोयें हैं, वे मोक्षरूप हैं और जो आत्मा की ओर से सोये हैं और जगत् की ओर जगे हैं, वह अज्ञानी बन्धरूप हैं, वास्तव से न कोई सोयें हैं, न जागते हैं, न बँधे हैं न मुक्त हैं, केवल चिदाकाश है वही जगत् निर्वाण रूप हो भासता है, निर्वाण सत्ता ही जगत् लक्ष्मी होकर स्थित हुई है और जगत् निर्वाण रूप है, दोनों एक वस्तु के पर्याय हैं, जैसे तरु और विटप एक ही वस्तु के दो नाम हैं, ऐसे ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु के पर्याय हैं, जैसे आकाश में तरवरे भासते हैं परंतु है नहीं, आकाश ही है, ऐसे ही अज्ञानी को ब्रह्म में जगत् भासता है, वह है नहीं, ब्रह्म ही है, जैसे किसी को नेत्रों में तिमिर का रोग होता है, उससे तरवरे भासते हैं, वह तरवरे नेत्र रोग से भिन्न नहीं, वैसे अज्ञानी को अपना आप ही अन्यत् रूप हो भासता है, वह चिदाकाश स्थान में भासता है, वह चिदाकाश चारों ओर व्यापक रूप है, उससे इतर जगत् असत् है, कुछ वस्तु नहीं, सत्यरूप एक विस्तृत आकार वही सत्ता है, महा शिलावत् वन स्वच्छ निस्पंद उदय से रहित है, सर्व कलना को त्यागकर उसी अपने आप में स्थिति प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे निर्वाणोपदेशवर्णनम्
नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमः सर्गः ३२

देशाचारवर्णनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! असत् ही सत् की नाईं होकर स्थित हुआ है, जैसे बालक को अपनी परछाई में वैताल भासता है, वह तो जैसे हुआ वैसे हुआ। अब आप यह कहें कि दाम, व्याल, कट के दुःख का अन्त कैसे होगा? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब उनको यमराज ने अग्नि में भस्म करा दिया तब यमराज से किंकर पूछने लगे कि हे प्रभो! इनका उद्धार कब होगा? तब यमराज ने कहा–हे किंकरो! जब यह तीनों आपस में बिछुर जायेंगें और अपनी संपूर्ण कथा श्रवण करेंगे, तब निस्संदेह होकर मुक्त होंगे। यह नीति है, रामजी बोले–हे भगवन्! यह वृत्तान्त कहां सुनेंगे और कब सुनेंगे और कौन निरूपण करेगा। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! काश्मीर देश में एक बड़ा ताल है, वह कमलों से पूर्ण है, उसके निकट एक छोटा ताल है, उसमें बहुत देर तक यह बार बार मत्स्य होंगे, उसके अनन्तर मत्स्य का शरीर त्यागकर सारस नामक पक्षी होगें। कमलों के तालाब पर ही रहेंगे, कमलों और कमलिनियों में विचरा करेंगे, इस प्रकार देर तक सुगन्ध का सुख लेंगे, तब दैव योग से उनके पाप नष्ट होंगे और बुद्धि निर्मल हो जायेगी। तब तीनों आपस में वियुक्त हो जायेंगे और मुक्ति युक्ति को प्राप्त होंगे जैसे सत्व रज तम आपस में स्वेच्छा से वियुक्त हो जाते हैं, ऐसे वे स्वेच्छा से बिछुर जायेंगे। काश्मीर देश में एक पहाड़ है, उसके शिखर पर एक नगर बसेगा, उसका नाम प्रद्युम्न होगा, वहां शिखर पर कमलों से भरा हुआ तालाब होगा, वहाँ एक राजा का स्थान होगा, ईशान कोण (पूर्व उत्तर के मध्य) की ओर राजा का मंदिर होगा, उस मंदिर के एक छिद्र में घास फूस का घोंसला बनाकर व्याल नाम का दैत्य चिड़िया के रूप में वहां रहेगा, उसके घोंसले में घास के तिनके वायु से हिलेंगे और उसमें से ऐसी

आवाज भी आयेगी जिसका कुछ अर्थ न हो। उस समय वहां श्रीशंकर नाम का गुणवान् ऐश्वर्य सम्पन्न राजा होगा मानों दूसरा इन्द्र हो, उस मंदिर के छत की लकडी के छिद्र में दाम नाम का दैत्य मच्छर बनकर निवास करेगा, भूँ भूँ शब्द करता विचरेगा और कट नाम दैत्य वहां क्रीड़ा का पक्षी होगा, रत्न जड़ित पिंजरे में रहेगा, इस राजा का मंत्री बड़ा बुद्धिमान होगा, जैसे हाथ पर आमलक फल स्पष्ट प्रतीत होता है, उसी प्रकार राजा के बन्ध और मोक्ष (मुक्ति) का ज्ञान प्रसिद्ध होगा और नरसिंह मंत्री का नाम होगा, वह मंत्री दाम व्याल कट की कथा कविताबद्ध करके कहेगा, तब कट नाम का दैत्य, जो करकर नाम का पक्षी बना हुआ है पिंजरे में बैठा श्रवण करेगा, उसके श्रवण करने से उसको अपना सब वृत्तान्त स्मृतिगोचर होगा, उसको विचारेगा, तब मिथ्या अहंकार शान्त हो जायेगा, परम निर्वाण सत्ता को प्राप्त होगा, इसी प्रकार राजा के मंदिर में चिड़िया बना हुआ व्याल दैत्य भी, श्रवण करेगा, वह भी परम निर्वाण को प्राप्त सत्ता को प्राप्त होगा। इस प्रकार लकड़ी के छिद्र में मच्छर बना हुआ दाम नाम दैत्य भी श्रवण करके मुक्त होगा, हे रामजी! करकर पक्षी चिड़िया और मच्छर तीनों पहाड के शिखर पर राजमंदिर में वसने वाले मुक्त होंगे, यह सम्पूर्ण क्रम तुम्हें कहा है, संसार भ्रम मायामय है, अत्यंत भास्वर प्रकाश रूप भासता है, तो भी महाशून्य अविचार सिद्ध है, विचार करने पर ज्ञान का उदय होने से शान्त हो जाता है, जैसे मृगतृष्णा का जल भली प्रकार देखते शान्त हो जाता है, यद्यपि अज्ञानी को बड़े पद को प्राप्त होता है, तो भी मोह से नीचे से नीचे चला जाता है, जैसे दाम व्याल कट महाजाल में पड़े थे। वह बल कहाँ? कि भौंहें टेढी करने से सुमेरु और मन्दराचल जैसे पर्वत गिर पड़े और कहां राजा के घर में काष्ठ के छिद्र में मच्छर होना? वह बल कहाँ? कि जिसके हाथ की एक चपत लगने से सूर्य, चन्द्रमा गिर पड़ें और कहाँ प्रद्युम्न का पहाड के गृहछिद्र में चिडिया होना कहाँ? वह बल जो सुमेरु पर्वत को फूल की नाईं लीला से उठा लेना और कहाँ? पहाड़

के शिखर पर घर में पक्षी होना, केवल अज्ञानमय अहंकार से जीव इतनी लघुता को प्राप्त होते हैं, अज्ञान से रंगे हुए मिथ्या भ्रम देखते हैं, अपनी वासना की कल्पना से जगत् सत्रूप भासता है, जैसे मृगतृष्णा का जल भ्रम से सत् भासता है, ऐसे अपनी कल्पना से जगत् सत् भासता है, इस संसार के समुद्र के तरने को वही समर्थ होता है जो शास्त्र के विचार द्वारा निर्वासनिक पुरुष हुआ है, संसार का निरूपण करनेवाला शास्त्र के बल से संसार के पदार्थों को शुभ जानने लगता है, उससे अधोगति प्राप्त होती है, जैसे कोई किसी गर्त को जलरूप जानकर स्नानार्थ जाए और गिर पड़े। हे रामजी! अपना अनुभवरूप जो प्रसिद्ध मार्ग है जो लोग उस पर चलने वाले हैं उनका नाश नहीं होता, सुख से स्वच्छन्द चले जाते हैं। जैसे पथिक सीधे मार्ग चला जाता है, ब्रह्मनिरूपक शास्त्र मनुष्य को निर्वेदमार्ग बतलाते हैं और संसार निरूपकशास्त्र दुःखदायक मार्ग दिखाते हैं, यह जगत् असत्रूप भ्रान्तिमात्र है, जिसकी बुद्धि इस आशा में लगी है, कि अमुक पदार्थ और यह सुख मुझको अवश्य मिलेंगें, इस प्राकर जो लोग संसार के विषयों की तृष्णा करते हैं, वे भाग्यहीन हैं, ज्ञानवान् पुरुष को संसार घास(तृण) के समान तुच्छ भासता है, जिस पुरुष के हृदय में परमात्मा के चमत्कार का अनुभव हुआ है, वह इस ब्रह्मांड को लोकों और लोक पालों सहित तृणवत् तुच्छ मानता है, जैसे जीव आपत्ति को त्यागता है इसी प्रकार सांसारिक ऐश्वर्य को भी आपत्ति जानकर त्याग दे तब ठीक है। हे रामजी! निश्चयात्मक वृत्ति में रहना चाहिये, अपना बाह्य आचार यथावत् चलते रहना चाहिये, आचार में व्यतिक्रम नहीं करना, व्यतिक्रम से शुभकार्य भी अशुभ हो जाता है, जैसे राहु दैत्य ने अमृत पान करने का यत्न किया तो भी व्यतिक्रम करने से फल यह हुआ कि शरीर कट गया, इसलिये शास्त्रानुसार चेष्टा करना कल्याण का कारण है, सत् पुरुषों के संग से और सच्छास्त्रों के विचार से बड़ा प्रकाश प्राप्त होता है, जो पुरुष इनका

सेवन करता है वह कभी मोह के अन्धकूप में नहीं गिरता, हे रामजी! वैराग्य, धैर्य, सन्तोष, उदारता आदिक गुण जिसके हृदय में प्रवेश करते हैं, वह पुरुष परम सम्पत्तिमान् हो जाता हैं, उसकी सर्व आपत्ति निर्मूल हो जाती है, शुभगुणों से सन्तुष्ट रहने वाले सच्छास्त्र विचार के व्यसनी सद्वासनावान् पुरुष ही संसार में पुरुष हैं, अन्य सब पशु हैं; जिस शरीर में वैराग्य, सन्तोष, धैर्य आदि गुणों से प्रकाश फैल रहा है और जिसके हृदयाकाश में विवेकरूप चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, वह पुरुष शरीर नहीं मानों क्षीरसागर है उसके हृदय में भगवान् विष्णु विराजते हैं, इसलिये संसार में उन को किसी द्रष्टव्य या भोक्तव्य पदार्थ की अभिलाषा नहीं रही, जिस पुरुष का यथाक्रम यथाशास्त्र आचार है और निश्चय है, उसके भोग की तृष्णा निवृत्त हो जाती है, उन पुरुषों के गुण आकाश में सिद्ध, देवता और अप्सरा गायन करती हैं, वही पुरुष जीवित हैं, अन्य सब मृत हैं, इसलिये परम पुरुषार्थ का आश्रय लीजिये तब ही परम सिद्धि की प्राप्ति होगी, वह कौन वस्तु है, जो शास्त्रानुसार पुरुषार्थ करने से अनायास प्राप्त न हो सके। अवश्यमेव यथोक्त आचरण से मनुष्य अभिलषित सफलता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य यथाशास्त्र कर्म करता चले, यदि अधिक समय बीत जाने पर भी सफलता न मिले, तो उद्विग्न न हो, उस कर्म का फल परिपक्व होकर मिलेगा, जैसे वृक्ष से जब फल परिपक्व होकर स्वयं उतरता है तो अधिक स्वादिष्ट और सुखदायक होता है, यथा शास्त्र व्यवहार करने वाला उस पद को पाता है, जहाँ शोक, भय, यत्न सब नष्ट हो जाते हैं, उसे शान्ति मिलती है। हे रामजी! मूर्ख जीव की नाईं संसार कूप में मत गिरो, यह संसार मिथ्या है, तुम उदारात्मा हो उठ कर खड़े हो जाओ, अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो और इस शास्त्र को विचारो, जैसे रण में प्राण भी निकलना चाहें तो भी वीर पुरुष भागता नहीं, किन्तु पहिले से भी वेग के साथ शस्त्र चलाता है, तब उस अमरपद को प्राप्त करता है, ऐसे ही संसार—संग्राम में पुरुषार्थ शस्त्र है, अतः शास्त्र का विचार करो कि कर्तव्य क्या है? विचार से हीन मनुष्य दुर्भाग्य है, दीन है, उसको कल्याण की प्राप्ति नहीं

होती, हे रामजी! महा मोह गहरी निद्रा है इसको त्यागकर जगो और पुरुषार्थ को अपनाओ, जरामृत्यु की शान्ति का कारण वही है और जितने अर्थ हैं सब अनर्थ रूप हैं भोग सब रोग के समान हैं, सम्पत्ति विपत्ति रूप हैं, यह सब कुछ त्याग के योग्य है, सन्मार्ग का अवलम्बन करके अपने प्रकृत आचार में विचरो। शास्त्र और लोक मर्यादा के अनुसार व्यवहार करो, शास्त्र के अनुसार कर्म करना सुखदायक हैं, शास्त्र के अनुसार व्यवहार रखने वाले विवेकी पुरुष का संसार दुःख नष्ट हो जाता है, आंयुर्बल, यश, गुण और लक्ष्मी की वृद्धि होती है, जैसे वसन्त ऋतु की मंजरी प्रफुल्लित होती है, ऐसे वह प्रफुल्लित होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाम व्याल कटोपाख्यानें देशाचारवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमः सर्गः ।।३२।।

त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ३३

पुरुषार्थजयवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! 'अपने अपने कर्मानुसार सब किसी को सर्वत्र सुख दुःख रूप फल प्राप्त होता है, एक दिन नन्दीगण एक सरोवर जाकर सदाशिव का आराधना करने लगा, सदाशिव प्रसन्न हुए, इससे उसने मृत्यु को जीत लिया, वह पहिले नंदी था, इसलिये वह नन्दीगण हुआ, अपने मित्रों और बान्धवों को सुख देनेवाला हुआ अपने स्वभाव और पुरुषार्थ से ही उसमें यह योग्यता आई थी। दैत्य भी जब शास्त्र के अनुसार यत्न करते हैं तब देवताओं को भी मार सकते हैं, इतने बड़े उत्कृष्ट देवताओं के भी मारने की उनमें शक्ति आ जाती है, जैसे हाथी कमल को उखाड़ फैंकते हैं, ऐसे देवताओं को दैत्य उखाड़ते हैं, यह उनके अपने पुरुषार्थ का फल है और सुनिये मरुत्‌राजा के यज्ञ में संवृत नामक एक महाऋषि आया, उसने देवता दैत्य मनुष्य आदिक सृष्टि अपनी रच

ली, मानो दूसरा ब्रह्मा है। इस प्रकार सृष्टि रचने की सामर्थ्य पुरुषार्थ से ही मिलती है। विश्वामित्र ने वार वार तप किया, तप के प्रताप से राजर्षि पद से ब्रह्मर्षि पद को प्राप्त किया, वह भी उसके पुरुषार्थ का ही फल है, हे रामजी! उपमन्यु नामक एक दुर्भाग्य ब्राह्मण था, उसके घर में भोजन के लिये भी कुछ नहीं था। किसी गृहस्थ के घर में उसने अपने पिता के सहित भोजन किया, वहां उसको भोजन में दूध भात मिला था, अपने घर में आ जाने पर जब उसको भूख लगी तब उसने पिता से वही भोजन मांगा तब पिता ने उसको दूध के बदले में आटा घोलकर दिया क्योंकि दूध तो घर में था नहीं, जब उसको स्वाद नहीं लगा तब उसने पिता से कहा मुझे वही भोजन दो, जो वहाँ मिला था, पिता ने कहा बेटा! वह भोजन हमारे पास नहीं है, सदाशिव के पास है, यदि वे देवे तो हम खायें, तब वह ब्राह्मण सदाशिव की उपासना करने लगा, ऐसा तप किया कि शरीर अस्थिमात्र शेष रह गया, रक्त मांस सब सूख गया, तब शिवजी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और कहा—हे ब्राह्मण! इच्छानुसार वर मांगो, ब्राह्मण ने कहा दूध और चावल दो, तब सदाशिव बोले—दूध और चावल क्या, कुछ और मांग, जो कुछ तुमने मांगा है वह भोजन तो तुम्हें मिला ही करेगा, जब मेरा चिन्तन करेगा, मैं दर्शन दूंगा, हे रामजी! यह अपने पुरुषार्थ का फल है, त्रिलोकी का पालन करने वाले विष्णु भगवान् है, काल उनका भी तृण के समान मर्दन करता है उस काल को श्वेत नाम के ऋषीश्वर ने जीत लिया था, यह भी अपना उद्यम है, सावित्री का पति मर गया, वह पतिव्रता थी, उसने स्तुतियों और नमस्कारों से यमराज को प्रसन्न कर लिया और अपने भर्ता को यमलोक से वापिस ले आई, यह भी अपना पुरुषार्थ है, श्वेत नामक एक ऋषीश्वर हुए हैं उन्होंने अपने पुरुषार्थ से काल को जीतकर मृत्युंजय नाम प्राप्त किया, अतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो यथाशास्त्र उद्योग करने पर प्राप्त न हो सके। यदि पुरुष अपने प्रयत्न का त्याग न करे, तब सर्व सुख की प्राप्ति होती है, यदि अविनाशी सुख की इच्छा हो

तो आत्मबोध का अभ्यास करे, संसार के अन्य सब सुख दुःख से मिले हुए हैं और आत्मसुख सब दुःखों को नाश करता है किसी दुःख के साथ मिला हुआ नहीं, वास्तव से कहें तो शम अशम ब्रह्म ही है यद्यपि ऐसा है तो भी शम परम कल्याण का कर्ता है इसलिये निरभिमान होकर शम का आश्रय पकड़ो और बुद्धि से निरन्तर विचार किया करो और साथ ही सत्संग भी। इस प्रकार यदि यत्न द्वारा तुम सत्संग भी करोगे, तब शीघ्र ही परमपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी! संसार-समुद्र से पार जाने के लिये, तप इतना समर्थ नहीं है जितना कि सत्पुरुषों का संग है, तीर्थ यात्रा करने अथवा सामान्य शास्त्रों के परिशीलन से भी, वह लोभ नहीं जो सत्संग से है, जिस पुरुष के काम क्रोध लोभ मोह आदि विकार क्षीण हो गये हैं और जो यथा शास्त्र कर्म करंता है, उसको सत् पुरुष कहते हैं और आचार्य कहते हैं, उनकी संगति पाप कर्म से मनुष्य को निवृत्त करती है और शुभ कर्म में लगाती है, आत्मवेत्ता पुरुष की संगति से इसकी बुद्धि में संसार का अत्यन्ताभाव हो जाता है, जब दृश्य का अत्यन्त अभाव हुआ तब शेष आत्मा रहता है, इस क्रम से जीव को जीवभाव निवृत्त हो जाता है, शेष बोधतत्त्व रहता है। जगत् न उत्पन्न हुआ न उत्पन्न होगा, न वर्तमान में है। इस प्रकार मैंने तुम्हें अनके युक्तियों द्वारा कहा है और कहूंगा, ज्ञानवान् को सदा ऐसा ही भासता है। अचल चिदात्मा में चंचल चित्त में स्फुरण हुआ, उसने जगत् आभास को रचा है, जैसे जैसे फुरता है; ऐसे ऐसे जगत् भासता है और वास्तव से अन्य कुछ हुआ ही नहीं, आत्मा सूर्य है जगत् उसकी किरणें हैं। जैसे सूर्य और किरणों में भेद कुछ नहीं' ऐसे जगत् और आत्मा में भेद कुछ नहीं, अहंरूप आत्मा है, उसमें आपकों न जानभा आत्माकाश में मेघरूप मलिनता है, जब परमार्थ में अहंभाव को जानेगा तब अनात्ममें अहंभाव न रहेगा, तब चिदाकाश के साथ जीव की अत्यन्त एकता होती है, जैसे घट के फूटने से घटाकाश की महाकाश के साथ एकता होती है, अहं आदिक जो दृश्य है, उसको निश्चय से जानो, जो वास्तव से कुछ नहीं है, विचार करने से नहीं

रहता, जैसे बालक को परछाई में पिशाच भासता है, वह भ्रान्तिमात्र होता है, ऐसे ही यह जगत् भ्रान्ति सिद्ध है, अपनी कल्पना से भासता है और दुःखदायक होता है, विचार करने से नष्ट हो जाता है, हे रामजी! आत्मरूप चंद्रमा सदा प्रकाश है और अहंकार उसके आगे बादल आया है, इसलिये परमार्थ बुद्धिरूप कमलिनी विकसित नहीं हो पाती मुकलित मुख हो रही है, अतः विवेकवायु से उसको नष्ट कर दो, नरक, स्वर्ग, बन्ध, मोक्ष, तृष्णा, ग्रहण, त्याग आदिक सब अहंकार से फुरते हैं, हृदयरूप आकाश में अहंकाररूप मेघ जब तक गर्जता बरसता है, तब तक तृष्णारूप कंटक मंजरी बढती जाती है, जब तक अहंकाररूप बादल ने आत्मरूप सूर्य को आच्छन्न कर रक्खा है, तब तक जड़ता और अन्धकार है, प्रकाश उदय नहीं होता। अहंकार वृक्ष है, उसकी अनन्तों शाखायें फैल रही हैं, अहं मम आदिक विस्तार अनेक अर्थों को लाता है, जो कुछ संसार में सुख दुःखादिक प्राप्त होता है सब अहंकार से प्राप्त होता है, संसार चक्र है, अहंकार उसकी नाभि है, उसी से भ्रान्त हो रहा है और अहं ममरूप बीज है, उससे अनेक जन्मरूप वृक्ष परम्परा उदय होती है, वह कभी नष्ट नहीं होती, अतः उसका यत्न से नाश करो, जब तक नाश करो, जब तक अहंकाररूप अन्धकार है, तब तक चिन्तारूप पिशाचिनी विचरती है, और अहंकार पिशाच ने जिसको पकड़ा हुआ है, उस नीच पुरुष को मंत्र तन्त्र भी दीनता से छुड़ा नहीं सकते, रामजी बोले—हे भगवन्! निर्मल चिन्मात्र आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, उसमें अहंकाररूप मलिनता कहाँ से प्रतिबिंबित हुई?

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! अहंकार का जो चमत्कार भासता है वह वास्तव धर्म नहीं, मिथ्या है, वासना भ्रम से हुआ है, पुरुष प्रयत्न से नष्ट हो जाता है, न मैं हूँ न मेरा कोई धर्म है, अहं मम में सार कुछ नहीं, जब यह शान्त होगा तब दुःख भी कोई न रहेगा, जब ऐसी भावना का दृढ़ निश्चय होगा, तब अहंकार का नाश हो जायेगा। आत्मा में अहं कोई नहीं, न दृश्य में सार है, इस प्रकार जब इसका फुरणा शान्त हुआ तब

अहंकार भी नष्ट हो जायेगा, जब अहंकार नष्ट हुआ, तब हेयोपादेय बुद्धि भी शांत हो जायेगी, समता आदि प्रसन्नता का उदय होगा, अहंकार की प्रवृत्ति दुःख का कारण है, रामजी बोले—हे प्रभो! अहंकार का रूप क्या है? और त्याग कैसे होता है और शरीर से रहित कब होता है और इसके त्याग से फल क्या होता है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! अहंकार तीन प्रकार का है, दो प्रकार का श्रेष्ठ अंगीकार करने योग्य है और तीसरा त्यागने योग्य है, उसे सुनो, इसका त्याग शरीर सहित होता है, यह दृश्य सब मैं ही हूँ, वह मैं परमात्मा अद्वैतरूप हूँ, मुझसे इतर कुछ भी नहीं, यह निश्चय परम अहंकार का है, मोक्ष को देनेवाला है, बन्धन का कारण नहीं है, इसमें जीवन्मुक्त विचरते हैं और यह अहंकार भी मैंने तुझको उपदेश के लिये कल्पना से कहा है, वास्तव से यह भी नहीं, केवल चिन्मात्र सत्ता है। दूसरा अहंकार यह है कि सबसे व्यतिरिक्त हूँ और बाल के शतांश सूक्ष्म अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ, ऐसा जो निश्चय है, वह भी जीवन्मुक्ति का है, मुक्तिदायक है, बन्धन का कारण नहीं, यह अहंकार भी तुझको कल्पना से कहा है, वास्तव से यह भी नहीं। तीसरा अहंकार यह है, हाथ पाँव आदि अंगों वाला यह शरीरमात्र ही अपने आपको जानना, यह निश्चय तुच्छ है, बंधन का कारण है, इसको त्यागो, यह परमशत्रु है, दुष्ट है, इससे जो जीव मरे हैं वे परमार्थ की ओर नहीं आ सके, यह अहंकाररूप रिपु बड़ा चतुर और बलवान् है, नाना प्रकार के जन्म और मानसी दुःख, काम, क्रोध, राग, द्वेष, आदिक का देनेवाला है, सब जीवों को नीच बनाता है और संकट में डालता है, इस दुष्ट अहंकार के त्याग देने से जो पीछे शेष रहता है वह आत्मा है, मुक्तिरूप भगवत् सत्ता है, हे रामजी! लोक में जो अहंकार भावना है, वह वपु की है, कि मैं इतना मात्र हूँ, यह दुःख का कारण है। महापुरुषों ने इसका त्याग किया है, वे जानते हैं कि हम देह नहीं हैं, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हैं, प्रथम जो दो अहंकार मैंने तुझे कहे हैं स्वीकार करने योग्य हैं और मोक्षदायक हैं और तीसरा अहंकार त्यागने योग्य है, क्योंकि दुःख का कारण है, उसी अहंकार को लेकर दाम, व्याल, कट विपत्ति में पड़े जो कि महाभयदायक

थे, जिन का वर्णन नहीं हो सकता वही जानता है, जिसको उनके हाथ लगे । रामजी बोले—हे भगवन्! तीसरा अहंकार जो तुमने कहा है उसका त्याग करने से पुरुष का क्या भाव रहता है और उसको क्या विशेषता प्राप्त होती है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब यह जीव अनात्मा अहंकार का त्याग करता है, तब परमपद को प्राप्त होता है, जितना–२ त्याग करता जाता है उतना उतना ही दुःख से मुक्त होता जाता है, इसलिये इसको त्यागकर आनन्दवान् बनो। इसको त्यागकर महापुरुष शोभा पाता है। जब तुम इसका त्याग करोगे तुम को स्वयं ही अपने अनुभव में, परम निर्मलता प्रकाशरूप और आनन्द की प्राप्ति होगी। महान से महान् यत्न करके भी इस दुष्ट अहंकार का त्याग करना मंगलमूल है, परमानन्द बोध के आगे यह आवरण है। इसके त्याग से मनुष्य बोधवान् होता है, जब यह अहंकार निवृत्त होता है, तब शरीर पुण्यरूप हो जाता है और परमपद को पाता है, जब मनुष्य स्थूल अहंकार का त्याग करता है, तब व्यवहार में उसकी प्रत्येक चेष्टा परम सात्विक हो जाती है, जिस पुरुष का अहंकार शान्त हुआ है, उसको भोग और योग दोनों स्वाद नहीं देते अर्थात् वह रागद्वेष से विचलित नहीं होता। एकरस रहता है, जिसका अनात्मा में अहंभाव नष्ट हुआ है, उसको भोग में राग नहीं होता। उसका तृष्णा राग द्वेष नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, ऐसे अपने दृढ़ पुरुषार्थ से जिसके हृदयसे अहंकारका अनुसंधान नष्ट हो जाता है, वह संसार सागरको पार कर जाता है, इसलिये यह निश्चय रखो कि न मैं हूँ न कोई मेरा है, अथवा सर्व मैं ही हूँ, मुझसे इतर कुछ वस्तु नहीं। यह निश्चय जब दृढ़ होगा तब संसार की द्वैत वासना मिट जायेगी केवल आत्मतत्व का सर्वदा भान होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्याने पुरुषार्थजयवर्णनम् नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः सर्गः ।।३३।।

चतुस्त्रिंत्तमः सर्गः ३४

दाम व्याल कटोपाख्यान समाप्ति वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब दाम, व्याल, कट युद्ध करते करते भाग गये तब शंबर के नगर की जो अवस्था हुई उसे सुनो, शम्बर का नगर पहाड़ के समान था, वहां उसकी जितनी सेना रहती थी मारी गयी, शरत्काल के मेघ के समान साफ हो गयी, देवता विजयी होकर अपने स्थान पर जा बैठे और शम्बर भी बड़े क्षोभ में पड़ा हुआ बैठा रहा, जब कुछ वर्ष बीते तब देवताओं को मारने के लिये उसने एक युक्ति सोची, कि दामादिक माया से रचे थे, वे मूर्ख थे, बलवान् तो थे, परन्तु उनमें मिथ्या अहंकार का बीज अज्ञान था, उससे उनको मिथ्या अहंकार हुआ, जिसके द्वारा नष्ट हो गये, अब मैं ऐसे योधा रचूँ जो आत्मवेत्ता ज्ञानवान् और निरअहंकार हों, जिनको कदाचित् उत्पन्न न हो, उनको कोई जीत न सकेगा, वे देवताओं की सेना का नाश कर देंगे, हे रामजी! इस प्रकार विचार कर शम्बर ने माया द्वारा दैत्यों की रचना की। जैसे समुद्र बुदबुदों की रचना करे, इस प्रकार शम्बर द्वारा दैत्य रचे गये, वे सब सर्वज्ञ, विद्याओं के वेत्ता और वीतराग आत्मा थे, वे यथा प्राप्त काम करते, आत्मरूप थे। उनको आत्मभाव में पूर्ण आस्था थी, ऐसे उत्तम पुरुष उपजे, भीम, भास और दृढ यह उनके नाम थे। वे तीनों इस जगत् को तृणवत् जानते थे, उनके हृदय परमपवित्र थे, ऐसे वे पुरुष उत्पन्न होकर गर्जने लगे, बड़े बल से शब्द करते थे, उनके शब्द से आकाश भर गया, इन्द्रादि देवताओं ने स्वर्ग में बैठे हुए शब्द सुना और बड़ी भारी सेना के साथ लिये आ गये और इधर यह लोग भी बिजली के समान चमकते हुए आगे बढ़े। दोनों ओर से महायोधा युद्ध करने लगे, शस्त्रों की भरमार है कोई संख्या नहीं, भीम, भास और दृढ धैर्य्य के साथ खड़े रहे, जब कभी किसी शस्त्र का प्रहार लग जाता तब युद्ध के अभ्यास से देह का मोह आकर फुरने लग जाता था, फिर भी विचार द्वारा उस वृत्ति को

रोकते और सावधान हो जाते थे कि हम तो अशरीर हैं, चैतन्यमय, निर्विकार, निराकार, अद्वैत, अच्युतरूप हैं, हमारे साथ शरीर कहां है, जब जब मोह आता था, तब तब ऐसा विचार किया करते थे, उनको जरा मरण कुछ नहीं भासता था, निर्भय होकर यह वर्तमान युद्ध करते थे, वासना के जाल से मुक्त होकर शत्रु को पकड़ मार डालते थे, हेयोपादेय से रहित होकर समताभाव स्थित होकर युद्ध करते थे। घोर युद्ध हुआ, देवताओं की बड़ी सेना मारी गयी, जो देवता शेष रहे थे, वे भीम, भास और दृढ के डर के मारे भाग गये, जैसे पानी पर्वत से उतरता है तब बड़ी तेजी से दौड़ता है, ऐसे ही देवता बड़ी तेजी से भागे और क्षीरसागर में विष्णु भगवान् की शरण में गये, जैसे वायु से भगाया हुआ बादल पर्वतों के आश्रय से बच जाता है, ऐसे ही भय से भागे हुए देवता विष्णु भगवान् की शरण में आये। उनको भयभीत देखकर विष्णुभगवान् ने कहा–तुम लोग यहां ही ठहरो। मैं युद्ध में उनको मारकर अभी आता हूँ। ऐसा कहकर सुदर्शन चक्र हाथ में लिये विष्णुभगवान् युद्धभूमि में आये, वहां विष्णुभगवान् का शम्बर दैत्य के साथ घोर युद्ध हुआ, मानों अकाल प्रलय हो रहा है, इस प्रकार विष्णु भगवान् का शम्बर के साथ महाघोर युद्ध होने के बाद शम्बर विष्णुभगवान् के हाथों से मारा गया, शम्बर शरीर छोड़कर विष्णुलोक में जा पहुँचा। तब विष्णुभगवान् ने भीम, भास दृढ़ के अन्तः पुर्यष्टक शरीर में प्रवेश किया, उसकी चित्तकला जो प्राण के साथ मिश्रित थी उसको असत् किया, जैस पवन दीपक को निर्वाण करता है, ऐसे उनकी पुर्यष्टक फुरणे से निवार्ण हुई। पहिले ही जीवन्मुक्त थे वे विदेहमुक्त हुए, हे रामजी! वे भीम, भास, दृढ़ निर्वासनिक थे इस कारण से दीपकवत् निर्वाण हो गये। इसलिये जो वासना संयुक्त है वह बद्ध है, जो निर्वासनिक है वह मुक्तरूप है, तुम भी विवेक द्वारा निर्वासनिक बनो। जब यह निश्चय हो जाय कि सब जगत् असत्‌रूप है तब वासना की ओर नहीं फुरता, यही यथार्थ देखना है कि किसी जगत् के पदार्थ में आसक्त बुद्धि न हो, वासना कहो, चित्त कहो

यह एक ही वस्तु के नाम हैं, सब पदार्थों के शब्दार्थ चित्त में स्थित हैं, जब सत् का अवलोकन सम्यक् ज्ञान होगा तब यह लय हो जायेगा। परमपद शेष रहेगा, जो चित्त वासना संयुक्त है, उसमें अनेकों पदार्थों की तृष्णा होती है, इससे जो मुक्त कहाते हैं, नाना प्रकार के घट पट आदिक आकार भासते हैं, चित्त फुरने से अनेकता को प्राप्त होता है, जैसे परछा ही में वैताल भ्रम होता है, ऐसे नानात्व भ्रम चित्त में भासता है। हे रामजी! जैसी जैसी वासना को लेकर चित्त स्थित होता है, ऐसा ही आकार निश्चित होकर भासता है, दाम, व्याल, कट का रूप चित्त के परिणाम से विपर्ययरूप हो गया, तुमको भीम भास दृढ़ का निश्चय हो, दाम व्याल कट का निश्चय मत हो, हे रामजी! यह वृत्तान्त मुझको पहिले ब्रह्माजी ने कहा था, वह मैंने अब तुमसे कहा है, इस संसार में कोई विरला ही सुखी है, दुःखी अनेक हैं, जब तुम इस संसार की भावना त्यागोगे तब देहादिक बन्धन में न पड़ोगे, व्यवहार में भी आसक्ति न रहेगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दामव्यालकटोपाख्यानसमाप्तिवर्णनम्
नाम चतुस्त्रिंशत्तमः सर्गः ।।३४।।

पंचत्रिंशत्तमः सर्गः ३५

उपशमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! अविद्या से जो मन संसार की ओर झुका है, उसको जिसने जीता है, वही पुरुष सुखी है, वही वीर है, उसी की जय है, यह संसार सब उपद्रवों को देने वाला है। इसका उपाय यही है कि अपने मन को वश में किया जाये, यह जो मेरा शास्त्र है, वह सब ज्ञान संयुक्त है, इसको सुनकर आप विचारें कि यह जगत् क्या है? ऐसा विचारकर भोग से उपरत होना और सत् स्वरूप आत्मा का अभ्यास करना, जितनी भी भोग की इच्छा है, वह बंधन का कारण है इसके

त्यागने का नाम मोक्ष कहते हैं और शास्त्रों में इस बात का बहुत विस्तारसे वर्णन है कि यह जो विषय भोग हैं, इनको विष और आगके समान जानो, जैसे विष और अग्नि नाशका कारण है, इसी प्रकार जानकर इनका त्याग करे, बार बार यही विचार करे कि विषय भोग विष की नाईं है, ऐसा विचार कर यदि त्याग करोगे तो सेवन करने पर भी यह दुःखदायक न होगें, जैसे मंत्र शक्तिवाले पुरुष को सर्प दुःखदायक नहीं होता ऐसे उसको भोग दुःखदायक नहीं होते। इसलिये संसार को सत् जानकर वासना फुरती है, वह दुःख का कारण है, जैस पृथ्वी में जो बीज होता हैं वही अंकुरित होता है, कडवे से कडवा, मीठे से मीठा, उत्पन्न होता है, इस प्रकार जिसके अन्तः करण में संसार भोग की वासना का बीज है, उससे दुःख की परम्परा उत्पन्न होती है और जिस बुद्धि में शान्ति की शुभ वासना गर्भित होती है उससे शुभ गुण, वैराग्य, धैर्य, उदारता, शान्तिरूप उत्पन्न होते हैं और शुभ वासना का अनुसन्धान होगा, मन बुद्धि निर्मल भाव को प्राप्त होंगे। जब मन निर्मल हुआ, तब शनैः शनैः अज्ञान नष्ट हो जायेगा और सज्जनता की वृद्धि होगी, जैसे शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला बढ़ती ही जाती है, जब इन शुभ गुणों की परम्परा स्थित होती है तब विवेक पैदा होता है, उसके प्रकाश से हृदय का मोहरूपी तम नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्य भगवान् के उदय से सब अन्धकार नष्ट होता जाता है, तब धैर्य, उदारता, वृद्ध होते हैं, जब सत्संग और सत् शास्त्र के अभ्यास द्वारा इसमें शुभ गुण आकर उदय होते हैं, तब महा आनंद का कारण शीतल और शान्तिरूप प्रकट होता है, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा की कान्ति होती है, आनन्ददायक शीतलता फैल जाती है, ऐसे सत्संगरूप वृक्ष फल इसको प्राप्त होता है, हे रामजी! सत्संगरूप वृक्ष है, इससे विवेकरूप फल प्रकट होता है, उस विवेक फल से समतारूप अमृत बहता है, उससे मननिर्द्वन्दू हो जाता है, सर्व कामनाओं से रहित निरुपद्रव हो जाता है, मन की चपलता शोक और अनर्थ का कारण है। मन के अचल होने पर सब ओर से शान्त हो जाता है, शास्त्र

के विचार से संदेह दूर हो जाते हैं, नाना प्रकार के कल्पना जाल शान्त हो जाते हैं, इससे जीवन्मुक्त निर्लेप होता है, कोई संसार का क्षोभ उसको स्पर्श नहीं कर सकता, उसके चित्त में किसी प्रकार की इच्छा नहीं रहती, किसी प्रकार का दुःख उसका स्पर्श नहीं कर सकता, उसकी चिज्जड़ ग्रन्थी खुल जाती है, वह परम आनन्द स्वरूप है। वह तृष्णारूप जाल से मुक्त हो गया है, ऐसा पुरुष वही वीर है, जिस पुरुष ने तृष्णा का नाश नहीं किया, वह अनेक जन्मों तक दुःख सागर में गोते खायेगा, जिसकी तृष्णा घट जाती है, उसका मन भी नष्ट हो जाता है, हे रामजी! जैसे भले सेवक होते हैं, वे स्वामी के लिये, संग्राम में तृणवत् शरीर का त्याग कर देते हैं, उससे स्वामी की विजय होती है, जो दुष्ट हैं वे नहीं त्याग सकते हैं, इससे दुःख का कारण होते हैं, मन का उदय होना जीव के दुःख का कारण है और मन का नाश होना सुख का हेतु है, ज्ञानवान् का मन नष्ट हो जाता है अज्ञानी का मन बढ़ता जाता है, सारा जगद्चक्र मनोमात्र है, यह पर्वत मंडल तथा स्थावर जंगमरूप जितना कुछ जगत् है, सब मनोरूप है। अब सुनिये कि मन किसको कहते हैं, शुद्ध कला चिन्मात्र में जो चित्तकला का स्फुरण हुआ है और वही संवेदन संकल्प विकल्प के साथ मिलकर मलिन हुआ है और स्वरूप विस्मृति हुई है, उसका नाम मन है वही मन वासना से संसार भागी होता है। जब चित्त संवेदन दृश्य के साथ मिलता है, उसके साथ तन्मय होने से चित्तसंवित् का नाम जीव होता है, वह जीव दृश्य वर्ग के साथ मिलकर संसार दशा में चला जाता है, अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त होता है, आत्म पुरुष परब्रह्म है संसारी नहीं, वह न रुधिर है, न मांस है, न शरीर है, शरीरादिक सब जड़रूप हैं, आत्मा चैतन्य आकाशवत् निर्लेप है, सारे शरीर को भिन्न भिन्न करके देखें तब रुधिर, मांस, अस्थि से इतर कुछ नहीं निकलता, जैसे कैले के वृक्ष को उधेड़कर देखें तो पत्र से इतर कुछ नहीं निकलता, ऐसे मन ही जीव है, जीव ही मन है, मन से इतर आकार कोई नहीं है, हे रामजी! इस पुरुष के बन्धन का कारण अपनी

कल्पना है, जैसे घुराण अपने यत्न से आप ही बन्धन को पाती है ऐसे पुरुष अपनी वासना से आपही संसार बन्धन को पाता है। इसलिये भोग की वासना मन से दूर करो, संसार का बीज वासना है, जिस वासना से युक्त हुआ दिन को विचरता है, ऐसा ही स्वप्न देखता है, जैसी जैसी वासना होती है, वैसा वैसा पाप पुण्य के अनुसार परलोक भासता है, अपनी वासना से जगत् भास आता है, जैसे अन्न जिस द्रव्य स्वाद के साथ मिलता हैं, ऐसा भासता है, मीठे के साथ मीठा, खट्टे के साथ खट्टा, कड़वे के साथ कड़वा होता है, ऐसे ही जैसी वासना जिसके हृदय में दृढ होती है, ऐसे होकर भासती है, जैसे बड़ा पुण्यवान् होता है, उसको स्वप्न में अपनी इन्द्र की मूर्ति भासती है, नीच को नीच मूर्ति भासती है; भूत के संगी को भूतादिक भास आता है, इसी प्रकार वासना के अनुसार परलोक भासता है, जब मन में निर्मल भाव स्थित होता है, तब मन की कल्पना पाप वासना मिट जाती है और जब मन में मलिन वासना बढ़ती है, तब निर्मलता नहीं भासती, वही रूपफल प्राप्त होता है, इसलिये दुर्वासना कलंक को त्यागकर पूर्णिमा के चन्द्रमावत् विराजमान हो जाओ, यह संसार भ्रान्तिमात्र है, सत्‌रूप नहीं, अज्ञान से भेद विकार भासते हैं, वास्तव से न कोई बन्ध है, न मोक्ष है, न कोई करने हारा है, यह सब इन्द्रजाल की नाईं मिथ्या भ्रम भासते हैं, जैसे गन्धर्व नगर मिथ्या होता है, जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, वह असत्‌रूप है, ऐसे यह जगत् असत्‌रूप है, जीव को अज्ञान से ऐसा निश्चय हो रहा है कि मैं अनन्त आत्मा नहीं, मैं लघ नीच हूँ, जब इस निश्चय का अभाव हो और अपने आपको अनन्त आत्मा निश्चयकर जाने, पहिले इसका अभ्यास करे, तब हृदय में स्थित हो, इस निश्चय से उस नीच निश्चय का अभाव हो जाता है, सर्व जगत् स्वच्छ निर्मल आत्मा है, उसमें जिसको देहादिक भावना हुई है, उसको लोक में बन्धन होता है, अपने संकल्प से आप ही शुक की नाईं बन्धन में आता है और जिसको स्वरूप में भावना होती है, उसको मोक्ष भासता है। आत्मसत्ता मोक्ष और बन्ध दोनों से रहित है, एक और द्वैत से

रहित अद्वैत ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, जब मन निर्मल होता है तब इस प्रकार भासता है, किसी पदार्थ में बद्ध नहीं होता, जब मनोभाव से रहित अमन होता है, तब ब्रह्म! सत्ता को देखता है, अन्यथा नहीं देखता, जब वैराग्य और अभ्यास रूप जल से मन को निर्मल भाव होता है तब ब्रह्मज्ञानरूप रंग चढ़ जाता है, सब आत्मा ही भासता है, जब सर्वात्म भावना होती है, तब ग्रहण त्याग की वृत्ति नष्ट हो जाती है, बंध मोक्ष भी नहीं रहता, जब मन के कषाय परिपक्व होते हैं अर्थात् यह जो भोग की सूक्ष्म वासना से मुक्त होता है, सच्छास्त्र के विचार से, वैराग्य के क्रम से, बुद्धि में वैराग्य उपजता है, तब परमबोध को प्राप्त होता है, बुद्धि कमल के समान विकसित हो जाती है, मन से सर्वपदार्थ रचित हैं, उनसे मिलकर तद्रूप हो जाता है, उसका नाम असम्यक् ज्ञान है, जब सम्यक् दृष्टि होती है तब उसका तत्काल नाश करता है, जब अन्तरबाहिर दृश्य का त्याग करता है और मन सद्भाव में स्थित होता है तब परमपद को प्राप्त हुआ कहाता है, हे रामजी! यह द्रष्टा और दृश्य जो स्पष्ट भासते हैं असत् हैं, उस असत् के साथ तन्मय हो जाना यह मन का रूप है, जो पदार्थ आदि अन्त में न हो और मध्य में भासे उसको असत् रूप जानिये, यह दृश्य आदि में नहीं उपजा और अन्त में भी नहीं रहता, मध्य में जो भासता है, वह असत्रूप है, अज्ञान से जिनको सत् भासता है उनको दुःखदायक होता है, आत्मभावना बिना दुःख की निवृत्ति नहीं होती। जब दृश्य में आत्मभावना होती है तब दृश्य भी मोक्षदायक हो जाता है, जल और है तरंग और है, यह अज्ञानी का निश्चय है। जल और तरंग एक ही रूप है, यह ज्ञानवान् का निश्चय है, ऐसे नाना रूप जगत् अज्ञानी को भासता है, इससे दुःख पाता है, ग्रहण और त्याग की बुद्धि में पड़ा भटकता है और ज्ञानी को सब आत्मा भासता है, भेद भावना से रहित अन्तर्मुख सुखी होता है, हे रामजी! जो नानात्व है वह मन के फुरणे से रचा गया है और मन का रूप है, अपने संकल्प बल का नाम मन है, वह असत्रूप है जो असत् विनाशीरूप है,

उसको सत् मानने से क्लेश होता है, जैसे किसी का बांधव परदेश से आता है, उसको पहचानता नहीं, दृष्टि आता है पर उसमें राग नहीं होता, जब उसमें अपने की भावना करता है तब राग भी होता है, ऐसे जब आत्मा में अहं प्रतीति ह्रोती है और देहादिक में नहीं होती तब देहादि सुख दु:ख स्पर्श नहीं करते, जब देहादिक में भावना होती है तब स्पर्श करते हैं। हे रामजी! जब शिवतत्व का ज्ञान हो, तब दु:ख कोई नहीं रहता, वह शिव कैसा है? कि द्रष्टा और दृश्य के मध्य में व्यापक है, उसमें स्थित होने से मन शान्त हो जाता है, जैसे वायु से रहित धूर उड़ती नहीं, ऐसे मन के शान्त होने पर देहरूप धूर शान्त हो जाती है, फिर संसाररूप कुहिड़ नहीं रहती, वर्षाऋतुरूप वासना क्षीण हो जाती है, तब जाना नहीं जाता कि जड़तारूपी वल्ली कहाँ गयी? जब अज्ञानरूप मेघ शान्त हुआ तब तृष्णारूप वल्ली सूख जाती है, हृदयरूप पवन से मोहरूप कुहाडी नष्ट हो जाती है, जैसे कि प्रात:काल होने से रात्रि नष्ट हो जाती है, अज्ञानरूप मेघ के क्षीण होने से देहाभिमानरूप जड़ता जानी नहीं जाती कि कहाँ गयी? जब तक अज्ञानरूप मेघ गर्जता है, तब तक संकल्परूप मोर नृत्य करते हैं जब अहंकार रूप मेघ नष्ट हो जाता है, तब परम निर्मल चिदाकाश आत्मरूपी सूर्य स्वच्छ प्रकाशता है, जब मोहरूपी वर्षाकाल का अभाव हुआ तब ज्ञानरूप शरत्काल में दिशायें निर्मल हो जाती हैं, आत्मरूप चन्द्रमा शीतल चांदनी से प्रकाशित होता है। वह सर्व संपत्ति का देने वाला है, परमानन्द की प्राप्ति कराने वाला है, जब पहिले शुभ गुणों से विवेकरूप बीज संचित होता है, वह शुभ मन सर्व संपत्ति के देने वाला है, परमानन्द अति सफल भूमि को प्राप्त होता है, उस विवेकी पुरुष को वन पर्वत चतुर्दश भुवन सब आत्म ही प्रकाशित है, वह निर्मल से निर्मल शीतल से शीतल भावना में भासता है। हृदयरूप तालाब अति विस्तारवान् होता है। स्फटिक मणिवत् उज्ज्वल स्वच्छ जल से पूर्ण होता है, उसमें धैर्य उदारता रूप कमल विराजते हैं। उस हृदय रूप कमल पर अहंकार रूप भँवरा विचरता है वह नष्ट हो जाता है फिर

उत्पन्न नहीं होता। जो पुरुष निरपेक्ष निर्वासन, शान्त चित्त है, वह अपने देहरूप नगर में विराजमान ईश्वर होता है। जिसके हृदयाकाश में आत्म सूर्य प्रकाशित है, उस बोधवान् पुरुष का मन अभावरूप हो जाता है। भय आदिक विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, देहरूप नगर में विगतज्वर होकर विराजमान होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे उपशामरूपवर्णनं नाम पंचत्रिंशत्तमः सर्गः ।।३५।।

षट्त्रिंशत्तमः सर्गः ३६

चिदात्मरूपवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! आत्मा चैतन्यरूप है और विश्व से अतीत है, उस चिदात्मा में विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? बोध की वृद्धि के लिये मुझे फिर कहो। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे सौम्य जल में तरंग अव्यक्तरूप होते हैं, परन्तु त्रिकालदर्शी को उनका सद्भाव नहीं भासता, उनका रूप दृष्टमात्र होता है, जैसे आकाश सर्वगत है, परन्तु सूक्ष्म भाव से देखने में नहीं आता, ऐसे आत्मानिरंश निराकार सर्वगत सर्व व्यापक है, परन्तु लखा नहीं जाता, अव्यक्त अच्युतरूप है, उस आत्मा में जगत् ऐसे है जैसे कोई स्तंभ मणिरूप हो, उसमें शिल्पी कल्पना करता है कि इसमें इतनी पुतलियाँ हैं, वे क्यों हैं, शिल्पी के मन में अनहोती फुरती है। ऐसे ही आत्मा में मनरूप शिल्पी ने जगत् की कल्पना की है, वह आत्मा के आधार है, आत्मा के आश्रय आत्मा में स्थित है और आत्मा कदाचित् इसके साथ स्पर्श नहीं करता, जैसे मेघ आकाश के आश्रय आकाश में स्थित होता है, परन्तु आकाश उसका साथ स्पर्श नहीं करता, ऐसे आत्मा अस्पर्श है और सर्वत्र पूर्ण है, परन्तु पुर्यष्टक रूप हृदय में भासता है, जैसे सूर्य का प्रकाश सब ठौर व्यापक है, परन्तु जल में प्रतिबिंब भासता है, पृथ्वी में काष्ठ में प्रतिबिम्ब नहीं भासता, ऐसे आत्मा का

इन्द्रियों और प्राणों में प्रतिबिंब नहीं होता, हृदय पुर्यष्टक में भासता है, वह आत्मा सर्व संकल्प से रहित है, सर्व संग से रहित स्वरूप उसको ज्ञानवान् पुरुष उपदेश के निमित्त चैतन्य अविनाशी आत्मा ब्रह्म आदिक रूप से कहते हैं, वह आकाश से भी सूक्ष्म निर्मल है, आकाश कलंकित है, आत्मा आभास से जगत्रूप हो भासती है और जगत् कुछ वस्तु नहीं जैसे जल द्रवता से तरंगरूप हो भासता है, परन्तु तरंग कुछ भिन्न वस्तु नहीं, ऐसे आत्मा से व्यतिरिक्त जगत् कुछ नहीं, चैतन्य सत्ता और चेत्यता फुरणे से जगत् रूप होकर भासते हैं, परन्तु जगत् कुछ वस्तु नहीं, ज्ञानवान् पुरुषों को तो आत्मा ही भासती है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासता है और जगत् कोई वस्तु नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है, अनुभव स्वभाव से प्रकाशित होता है। सूर्यादि को प्रकाशित करने वाला सब स्वादों का स्वाद वही है, सब भाव उससे ही सिद्ध होते हैं, वह उदय अस्त से रहित सत्ता है, चलने न चलने से रहित है, न लेता है, न देता है, अपने आप में स्थित है, जैसे अग्नि का समूह शिखारूप हो भासता है, जल का समूह तरंगरूप हो भासता है, ऐसे आत्मसत्ता जगत्रूप होकर भासती है, अपने संवेदन के फुरणे से नाना प्रकार के संकल्पों से विपर्यय रूप देखता है, यह पदार्थ है, यह मैं हूँ, यह और है इत्यादि भावना को प्राप्त होता है, जब अपने आपको जानता है, तब अज्ञान भ्रम नष्ट हो जाता है, जैसे वृक्ष में बीजसत्ता है वह परिणाम से आकार के आश्रय द्वारा बढ़ती जाती है, ऐसे आत्मसत्ता में चित्तसंवेदन फुरता है, स्फुरणरूप रस विपरिणाम के आत्मसत्ता के आश्रय विस्तार को प्राप्त होता है, वह संकल्परूप है, उसमें जगत् की दृढ़ता है, जैसे संवेदन फुरता है ऐसे स्थित होता है, उसमें नीति हुई है कि यह पदार्थ इस प्रकार हो, ऐसे स्थित है, अन्यथा नहीं होता, वसन्त ऋतु में रस विस्तार को पाता है, कार्तिक में धान्य उपजते हैं, हिम ऋतु में जल पाषाणरूप हो जाता है, अग्नि उष्ण है, बर्फ शीत है, इत्यादि जितने पदार्थ रचे हैं, ऐसे ही महाप्रलय पर्यन्त

स्थित हैं, अन्यथा भाव को नहीं प्राप्त होते। जगत् में चतुर्दश प्रकार के भूत जात हैं, उनमें जिनको आत्मज्ञान प्राप्त होता है वे शान्तिरूप आत्मा को पाकर आनंदवान् होते हैं और जिनको प्रमाद है, वे पड़े भटकते हैं, जन्म मरण को प्राप्त होते हैं। जैसे जैसे कर्म करते हैं, ऐसी ऐसी गति को पाते हैं, आवागमन में भटकते भटकते यम के मुख में जा पड़ते हैं, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर लय हो जाते हैं, ऐसे जन्म पा पाकर मर जाते हैं, उन्मत्त की नाईं प्रमादी पड़े भ्रमते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे चिदात्मरूपवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमः सर्गः ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमः सर्गः ३७

शान्त्युपदेशकरणम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार जगत् की स्थिति है वह सब चंचल आकार विपरिणाम रूप है, जैसे समुद्र में तरंग चंचलरूप होते हैं, ऐसे जगत् की गति चंचल है, आत्मा से जगत् उत्पन्न होता है, वह स्वतः होता है, किसी कारण से नहीं होता, पीछे से कारण कार्य भाव हो जाता है, वही चित्त में दृढ़ होकर भासता है, आत्मा में यह कोई नहीं, जैसे स्वाभाविक जल से तरंग उठकर लय हो जाते हैं, ऐसे आत्मा से स्वाभाविक जगत् उत्पन्न होकर लय हो जाता है, जैसे ग्रीष्मऋतु में ताप से मरुस्थल जल की नाईं स्पष्ट भासता है और है कुछ नहीं, जैसे मदमत्त पुरुष अपने आपको और का और जानता कहता है, ऐसे ही यह पुरुष आत्मरूप है, चित्त से अपने आपको देवता मनुष्य आदि शरीर जानते हैं और कहते हैं, हे रामजी! यह जगत् आत्मा में न सत् है न असत् है, जैसे स्वर्ण में भूषण है, ऐसे मूढ़ जीव अपने आपको आकार मानते हैं, इसलिये आप दृश्य को त्यागकर

द्रष्टा में स्थित हो जायँ, जिससे शब्द स्पर्श रूप गन्ध आदिक सब को जानता है, उसको आत्मा ब्रह्म जानो, जो सबसे पूर्ण स्थित है, स्वच्छ निर्मल आत्मसत्ता में एक द्वैत कल्पना कुछ नहीं, जब तक आत्मा से इतर कोई वस्तु भासती है, तब तक उसकी ओर वासना दौड़ती है, हे रामजी! आत्मा से व्यतिरिक्त कुछ सिद्ध नहीं होता, जब ऐसे भासे तब किसकी वांछा करे, किसका अनुसंधान करे और ग्रहण त्याग किसका करे? आत्मा को ईप्सित अनीप्सित, इष्ट, अनिष्ट, आदिक विकार विकल्प कोई स्पर्श नहीं करते। कर्ता, कारण कर्म, तीनों की एकता है, न कोई आधार है, न आधेय है, द्वैत कल्पना असंभव है, अहं त्वं आदिक कुछ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता स्थित है, ऐसा जानकर सर्वदा निर्द्वंद्व होकर सर्व संताप से रहित कार्य में प्रवृत्ति करो, पहिले जो कुछ तुमने किया और नहीं किया उसके करने और न करने से तुम्हारा क्या सिद्ध हुआ और कौनसा पाने योग्य पद पाया है और भूतकाल की बातों के वर्णन से लाभ भी क्या है? तुम हृदय में अपने आपको अकर्ता मानों और बाहिर से इन्द्रियों द्वारा जगत् के कार्य करो, जब स्थिरतारूप समुद्र में तुम्हारी वृत्ति धैर्यवती होगी, तब तुम आत्मशान्ति प्राप्त करोगे। दृश्य जगत् में दूर से दूर चले जाने पर भी, अन्तःकरण में शान्ति नहीं मिलती, जहाँ जाय वहीं उसी की भावना हो ऐसा पदार्थ पाने का प्रयत्न करे, उसके पाने से भी शान्ति प्राप्त न होगी, सर्व दृश्य जगत् के पदार्थों का त्याग करने से जो शेष अपना स्वरूप रहता है, वह चिदात्मा है, उसमें स्थित होने पर शान्ति प्राप्त होगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे शान्त्युपदेश करणं नाम सप्तत्रिंशत्तमः सर्गः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः ३८

मोक्षोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार का ज्ञानी पुरुष है उसमें कर्तव्य भाव भी दृष्टि आता है, यज्ञादिक सब कुछ करता है, हिंसादिक तामस कर्म भी सामने आते हैं तो भी स्वरूप के ज्ञान से वह अकर्ता ही है, कदाचित् कुछ नहीं किया और जो मूढ अज्ञानी हैं, वह जैसा कर्म करते हैं वैसा फल भोगते हैं। कर्तव्य किसका नाम है यह सुनो! मन में सत्य जानकर जिस पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा करता है, वह स्फुरण वासना रूप होता है, उस सद्भावरूप फुरने का नाम कर्तव्य है, उस चेष्टा से फल की प्राप्ति होती है, जिस पदार्थ को सत् जानकर वासना फुरती है, उसका अनुभव होता है, शरीर करे या न करे, जैसी वासना मन में दृढ होती है शुभ अथवा अशुभ, उसके अनुसार दृश्य भास आता है। शुभ से स्वर्ग भासता है अशुभ से नरक भासता है। जिस पुरुष को आत्मा का ज्ञान है, यद्यपि प्रत्यक्ष अकर्ता है तो भी अनेक कर्मों के फल का अनुभव होता है और जो ज्ञानवान् हैं उनके हृदय में पदार्थ का सद्भाव और वासना दोनों नहीं, इस कारण से उनमें कर्तव्य का अभाव है, यद्यपि करते हैं तो भी कर्तव्य के फल को प्राप्त नहीं होते, संसार को असत्य जानते हैं, केवल शारीरिक स्पन्दमात्र उनका कर्म है, हृदय में बद्ध नहीं होते, पूर्व के प्रारब्ध से सुख दुःख रूप फल उनको भी प्राप्त होता है, परन्तु आत्मा से भिन्न उसको नहीं जानते। सब ब्रह्म ही देखते हैं और जो अज्ञानी है, वह अवयव के स्पंद में भी अपने आपको कर्ता मानता है, उसके अनुसार सुख दुःख भोगता है, मोह में पड़ता है, जिनका मन अनात्मभाव में मग्न है वे अकर्ता होते हुए भी कर्ता होते हैं, मन से रहित केवल शरीर से क्रिया है वह किया भी न किया है, इसलिये मन करता है शरीर कुछ नहीं करता। यह जगत् सब मन से उत्पन्न हुआ है और

मनोरूप है, मन ही से स्थित है, जिसका मन अमनोभाव को प्राप्त हुआ है, उसको सब शान्ति रूप भासता है, जैसे तेज धूप से मृग तृष्णा की नदी भासती है, जब वर्षा होती है तब शान्त हो जाती है, ऐसे जब आत्मज्ञान होता है तब यह जगत् सब शान्त रूप हो जाता है, संसार के सुख दुःख उसको स्पर्श नहीं कर सकता। न वह चंचल है, न सत्य है न असत्य है, सर्व विकार रहित शान्तिरूप है, संसार की वासना में नहीं डूबता, अज्ञानी डूबता है, उसका मन संसार भ्रम में मग्न रहता है। सदैव सांसारिक पदार्थों की तृष्णा करता है, ज्ञानी नहीं करता, हे रामजी! और दृष्टान्त सुनो कि अज्ञानी को अकर्तव्य में कर्तव्य बुद्धि है और ज्ञानी को कर्तव्य में अकर्तव्य, जैसे एक पुरुष शय्या पर सो रहा है और स्वप्न में गिरकर दुःख पाता है, वह अकर्तव्य में कर्तव्य है, और एक गर्त में गिरा है परन्तु उसका मन समाधिस्थ है, अतः उसको सब शान्त रूप है, यह कर्तव्य में अकर्तव्य हुआ, क्योंकि शय्या पर सोया था, उसका मन चलता था, इसलिये उसको अकर्तव्य में कर्तव्यता हुई, दुःख का अनुभव करने लगा, दूसरे को सुख हुआ, इसलिये यह बात निश्चित हुई कि जैसा मन होता है ऐसा ही परिणाम प्राप्त होता है। तुम भी असंसक्त होकर कर्म करो, तब अकर्ता ही रहोगे, जितना कुछ जगत् भासता है वह आत्मा से व्यतिरिक कुछ नहीं, जिसको यह निश्चय होता है, उस ज्ञानवान् को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते। आधार, आधेय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, इच्छा आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता, जब इसको ऐसा निश्चय होता है कि मैं देह नहीं, सब पदार्थों से व्यतिरिक्त बाल (केश) के अग्र से सौवां भाग सूक्ष्म हो, अथवा जो कुछ दृश्य जगत् है, वह सब मैं ही हूँ, सर्व तत्व का प्रकाशक हूँ सर्व व्यापी हूँ, यह निश्चय कर उसको सुख दुःख का क्षोभ नहीं होता, विगत ज्वर होकर स्थित होता है, यद्यपि दुःख संकट ज्ञानवान् को आकर प्राप्त होता है, तो भी उसको नहीं भासता, परमानन्द से आनन्दवान् लीलामात्र विचरता है, जैसे चन्द्रमा की चांदनी शीतल प्रकाशित होती है, ऐसे वह पुरुष शीतल प्रकाशवान् होता है, जिसको ने कोई चिन्ता

होती है न कोई दुःख होता है, शान्तरूप कर्म को कर्ता हुआ भी अकर्ता है, मन से सदा अलेप रहता है, हे रामजी! हस्तपादादिव, इन्द्रियों से कर्ता का नाम कर्म नहीं, मन के करने का नाम कर्म है, मन ही सर्व कर्म का कर्ता है, अहंत्वं संब भाव, सर्व लोक बीज सर्वगत् मन है, मन का नाश होने पर सब कर्मों का नाश हो जाता है, सब दुःख मिट जाते हैं, जैसे बालक मन से नगर रचे, फिर लीन कर ले, उसको उत्पन्न करने और लीन करने में हर्ष शोक कुछ नहीं होता, ऐसे परमार्थदर्शी को किसी कर्म का लेप नहीं होता, वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसमें कर्तव्य भोक्तव्य सुख दुःख अज्ञान मोह से अध्यारोप द्वारा है और कुछ नहीं। ज्ञानवान् को बंध मोक्ष सुख दुःख कुछ नहीं भासता, क्योंकि वह असंसक्त मन है और जिसका मन आसक्त है उसको नानारूप दृश्य भासता है। ज्ञानवान् को केवल आत्मसत्ता भासती है। एक है द्वैत कलना से रहित है, जैसे जल से तरंग भिन्न नहीं होता, ऐसे आत्मा से जगत् भिन्न नहीं, न कोई बंध है, न मोक्ष है, न कोई बन्धनयोग्य है, अज्ञान दृष्टि से दुःख है, बोध से उसका अभाव हो जाता है, बंध और मोक्ष संकल्प से कल्पित मिथ्यारूप है, तुम इस मिथ्या कल्पना अनात्म अहंकार को त्यागो, आत्मनिश्चयी बनो, धैर्ययुक्त बुद्धिमान होकर प्रकृत आचार को करो, तब कोई विकार स्पर्श न करेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे मोक्षोपदेशवर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमः सर्गः ।।३८।।

एकोनचत्वारिंशत्तमः सर्गः ३९

सर्वैकताप्रतिपादनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! सत् चित् आनन्द अद्वैत निर्विकार आदि गुणों से सम्पन्न ब्रह्म तत्व ही विद्यमान है उसमें यह निराधार चित्त के समान इस सृष्टि का आगमन कहाँ से हुआ, वसिष्ठजी बोले–हे

राजपुत्र! यह समस्त जगत् ब्रह्मरूप है, उस परब्रह्मसत्ता में सब शक्तियाँ हैं, इसी कारण से वे दृश्यरूप होकर स्थित हुई हैं, सत्य असत्य एक अद्वैत आदि विश्वरूप भासता है, वह स्वरूप से ऐसा है—जैसे जल में जल उल्लासरूप नाना प्रकार के तरंग बुदबुदे आवर्त आकार हो भासता है तो भी जल एक रूप है, ऐसे चिद्घन में चिद्घन सर्व शक्ति सर्वरूप होकर फुरता है, कहीं कर्मरूप, कहीं वाणीरूप, कहीं मूकरूप, मनोरूप, कहीं भरणपोषण और नाश का कारण होता है। सब पदार्थों का बीज उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मसत्ता है, जैसे समुद्र तरंग उपजकर उसी में लय हो जाते हैं, ऐसे सब पदार्थ उपजकर ब्रह्म में लय होते हैं, रामजी बोले—हे भगवन् आपके यह वचन स्पष्ट हैं, परन्तु फिर भी अति कठिन और गंभीर हैं, इनका मान (माप या तोल) नहीं किया जा सकता, अतः यह बेतोल (बिना माप के) हैं। इनके यथार्थ भाव को मैं नहीं प्राप्त कर सकता, मन सहित छै इंद्रियों की वृत्ति से रहित स्वरूप और सर्व पदार्थ रचना से रहित ब्रह्मतत्व कहाँ? और जगत् कहाँ जो पदार्थ उपजता है, वह वही रूप होता है, जैसे दीपक से उत्पन्न हुआ दीपक होता है, मनुष्य से उत्पन्न हुआ मनुष्य होता है और अग्नि से अग्नि होता है, इस प्रकार कारण से जो कार्य उपजता हैं वह उसी के सदृश होता है। अतः जो निर्विकार आत्मा से जगत् उपजा है, वह जगत् भी निर्विकार होना चाहिये, वह तो ऐसा नहीं है, आत्मा निर्विकार शान्तरूप है और जगत् विकारी दुःखरूप है, उससे कलंकरूप जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है? वाल्मीकि मुनि बोले—जब इस प्रकार रामजी ने कहा, तब ब्रह्मऋषि वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी! यह सब जगत् ब्रह्मरूप है, नाना प्रकार का मलिनरूप संसार भासता है, वह मलिनता नहीं, जैसे तरंग के समूह समुद्र में फुरते हैं, वह मलिनता धूलि नही किन्तु वही रूप है, ऐसे आत्मा में जगत् कलक नहीं किन्तु वही रूप है, जैसे अग्नि में उष्णता अग्निरूप है, ऐसे आत्मा में जगत् आत्मरूप है इतर कुछ नहीं। रामजी बोले—हे ब्रह्मन्! निर्दुःख निर्धर्म से जो जगत् का दुःख रूप उपजा है, यह कलंक है तुम्हारे वचन आकाश रूप हैं, मुझे स्पष्ट

नहीं ज्ञात होते । मैं इनको समझ नहीं सकता, वाल्मीकि मुनि बोले—हे पुत्र! जब इस प्रकार रामजी ने कहा—तब मुनिवर वसिष्ठजी विचार करने लगे कि अभी इसकी बुद्धि परम प्रकाश को प्राप्त नहीं हुई है, कुछ निर्मूल हुई है, इसने पदार्थ भूमिका को जान लिया है, परमार्थवेत्ता नहीं हुआ, जिसको परमार्थ बोध प्राप्त हुआ हो और मन शान्त हुआ हो, ऐसा ज्ञात ज्ञेय पुरुष ब्रह्म विद्या के पार को प्राप्त हो जाता है, संसार रूप अविद्यामल उसको नहीं भासता, केवल अद्वैत सत्ता भासती है, जब तक और उपदेश रामजी को न करूंगा तब तक इनको विश्राम न होगा, जो पुरुष अर्ध प्रबुद्ध हो उसको यह कह देना कि यह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है शोभा नहीं देता, क्योंकि उसका चित्त अभी तक भोगों से उपरत नहीं हुआ होता, केवल ब्रह्म के वचन सुनकर वह भोगासक्त हो जायेगा, जो कि नाश का कारण है, उससे अर्ध प्रबुद्ध का नाश होगा और जिसको परमार्थ की दृष्टि प्राप्त हुई है उसको भोगने की इच्छा नहीं उपजती। इसलिये सिद्धान्त प्रतिपादन के समय रामजी को "सर्व खल्विदं ब्रह्म" इस महावाक्य का कथन करके समझाना शोभा देगा, प्रारम्भ में ही गुरु को शिष्य के प्रति सर्व ब्रह्म कहना नहीं बनता। प्रारम्भ में शिष्य को शमदम आदि गुणों से शुद्ध करे उसके अनन्तर सर्व ब्रह्म शुद्ध तू ही है ऐसा उपदेश करने से शिष्य जगता है अपने स्वरूप को पहचान जाता है कृत कृत्य हो जाता है परन्तु अर्धप्रबुद्ध को जो कोई सर्व ब्रह्मा का उपदेश करे कि वह सत् चित् आनन्द रूप परब्रह्म परमात्मसत्ता तु ही है, तो जान लो कि उसको ऐसा उपदेश करनेवाले गुरु ने महान् घोर नरक में डाल दिया। जो प्रबुद्ध हो, उसकी भोगेच्छा क्षीण हो जाती है, वह निष्काम पुरुष है, उसमें अविद्या रूप मल नहीं रहता, इसलिये उसको कहना बनता है। इस प्रकार विचारकर अज्ञानान्धकार के नाशक ज्ञानसूर्य मुनिवसिष्ठजी भगवान् रामचंद्रजी से कहने लगे, हे राघव! कलनारूप कलंक ब्रह्म में है और नहीं, यह मैं तुम्हें सिद्धान्त काल में कहूंगा, अथवा तू आप ही जान लेगा, ब्रह्मसत्ता सर्व शक्तिरूप सर्व

व्यापक सर्वगत है, सब कुछ उसी से रचा गया है, जैसे इन्द्रजाली विचित्र शक्ति से अनेक रूप रचता है, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कर दिखाता है, ऐसे ही आत्मा मायावी परम इन्द्रजाली अघटित घटना घटक है, अर्थात् जो न बन सके उसको भी बना दे असंभव को संभव और संभव को असंभव कर दे, यह उसकी शक्ति है, जो जाहे तो पहाड़ के स्थान गढ़ा कर दे और बल्ली में पाषाण लगा दे, पृथ्वी को आकाश और आकाश को पृथ्वीरूप कर दे, इत्यादि हे रामजी! यह विचित्ररूप दृश्य तुम्हें कहा है। चित्त संवेदन फुरने से जगत् रूप हो भासता है, इसलिये सर्व प्रकार से सर्व रूप वही है जो एक रूप अविद्यमान है। हर्ष शोक आश्चर्य किसका नाईं किसका मानिये, यह अन्यथा कोई नहीं, सब एकरूप है, इसी कारण से हमको समता भाव रहता है, हर्ष शोक आश्चर्य मोह हमको नहीं प्राप्त होता, ममता और चपलता आदिक विकार कोई नहीं प्राप्त होता, कदाचित् हम जानते ही नहीं, देश, काल, वस्तु यह जगत् अवसान को प्राप्त हो भासते हैं, उनका विपर्यय होना भी भासता है, और वह अपने स्वभाव में स्थित है, क्योंकि यह दृश्य उनको अपने स्वरूप का आभास फुरता भासता है, जितना कुछ दृश्य प्रपंच है वह सत्य चित्संवित् की स्पंद कला से फुरता है, नाना प्रकार देशकाल क्रिया द्रव्य होकर भासते हैं, उसको आत्मसत्ता किसी यत्न से नहीं रचती, स्वाभाविक फुरने से फुरते है, जैसे समुद्र तरंग को यत्न से नहीं उपजाता और लीन करता, स्वाभाविक चमत्कार ही फुरता और लीन होता है, ऐसे आत्मा में स्वाभाविक सृष्टि फुरती है और लय होती है, जैसे समुद्र और तरंग कुछ भेद नहीं, ऐसे आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं, वही रूप है जैसे दूध घृत रूप है, जैसे घट पृथ्वी रूप है, जैसे पट तन्तुरूप होता है, ऐसे जगत् आत्मरूप है, जैसे वट धान्य वृक्षरूप हो भासता है, जैसे समुद्र तरंग रूप हो भासता है, ऐसे आत्मा जगत् रूप हो भासता है, हे रामजी! इस दृष्टांत का एक अंग लेना है, कारण ही विनाश को प्राप्त होता है केवल आत्मतत्व साक्षी निरामय अद्भुत अपने आप स्वभाव सत्ता में स्थित है, यह जगत् आत्मा का प्रकाश है, जैसे दीपक का प्रकाश स्वभाव है, सूर्य का प्रकाश स्वभाव है, पुष्प गन्ध का स्वभाव है, ऐसे आत्मा का स्वभाव जगत् है,

कि कारण कार्य से नहीं हुआ, जगत् आत्मा का स्वभाव आभासरूप है, आत्मा से इतर कुछ नहीं हुआ, जैसे पवन का स्वभाव स्पंदरूप है, वह जब निस्पंद होता है तब नहीं भासता, और स्पंद से भासता है, ऐसे आत्मा में संवेदन फुरता है, तब जगत् हो भासता है, जब लय होता है, तब जगत् नहीं भासता, और जगत् कुछ है नहीं, न सत् है न असत् है, कहीं जगत् प्रकट भासता है, कहीं अप्रकट भासता है और नाना प्रकार का विचित्ररूप भासता है जैसे वन में पुष्प का रस होता है, उनके उपजने और नष्ट होने से न वन उपजता है न नष्ट होता है, ऐसे ही आत्मसत्ता जगत् के उपजने और नष्ट होने से रहित है और वास्तव में उपजा कुछ भी नहीं, आत्मा ही अपने आप में स्थित है। असम्यक् ज्ञान से जगत् भासता है, अनन्त शाखाओं के रूप से फैल रहा है। इस ज्ञानरूप कुठार से काट दो तब सुखी हो जाओगे, जगत् वृक्ष है, असम्यक्ज्ञान इसका बीज है, शुभ अशुभरूप फूल हैं, आशारूप वल्ली से वेष्टित है, दुःखरूप उसकी शाखाएँ है और भोगराजरूप फल हैं, ऐसे संसार वृक्ष को आत्म विवेकरूप कुठार से यत्न से काट कर मुक्ति प्राप्त करो, जैसे गजपति अपने बल से बंधन तोडकर सुख से विचरता है, ऐसे तुम बंधन रहित होकर विचरो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे सर्वैकताप्रतिपादनं
नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ।।३९।।

चत्वारिंशत्तमः सर्गः ।।४०।।

ब्रह्मप्रतिपादनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! यह जीव ब्रह्म से किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं और कितने हुए हैं, यह मुझे विस्तार से कहो। वसिष्ठजी बोले—हे महाबाहो! जैसे यह जीव विचित्रता से उत्पन्न होते हैं और नाश होते हैं, बढ़ते हैं और स्थित होते हैं, वह क्रम सुनो, हे निष्पाप राम!

शुद्ध ब्रह्म की चेतन निर्मल शक्ति जब स्फुरण रूप होती है, तब कलनारूप घनभाव को प्राप्त होकर संकल्प रूप धारण करती है, तन्मय होकर मनोरूप हो जाती है, वह मन संकल्पमात्र से जगत् को रचता है, विस्तृत रूप बना देता है, जैसे गन्धर्व नगर का विस्तार होता है वैसे ही मन द्वारा जगत् का विस्तार होता है और ब्रह्म दृष्टि को त्यागकर रचता है, वह सब आत्मसत्ता का चमत्कार है, बना कुछ नहीं, हमको तो सब आकाशरूप भासता है, अदूरदर्शी को जगत् भासता है, जैसा चित्तसंवित में संकल्प फुरता है, ऐसा रूप होता है, प्रारम्भ में ब्रह्मा का संकल्प फुरा है, चित्त संवित् ने अपने आप को ब्रह्मारूप देखा, ब्रह्मारूप होकर जगत् की कल्पना की। प्रजापति होकर चतुर्दश प्रकार के भूतजात उत्पन्न किये, वस्तुतः सब शक्तिरूप है, उसके फुरने से जगत् भासता है। वह चिन्मात्र शून्य आकाशरूप है, वास्तव से शरीर कुछ नहीं, संकल्पमात्र नगरवत् भ्रान्ति करके भासते हैं, उस भ्रान्तिरूप जगत् में जो जीव हुए हैं, वे कोई तो मोह संयुक्त हैं, कोई अज्ञानी हैं, कोई मध्य स्थित हैं, कोई ज्ञानी उपदेष्टा हैं, जितने कुछ भूतजात हैं, वे सब आधिव्याधियों और दुःखों से दीन हुए हैं, उनमें ज्ञानवान् सात्विक सात्विकी हैं और राजससात्विकी है, जो शान्तात्मा पुरुष है, उसको संसार के दुःख कभी स्पर्श नहीं करते, वह सदा ब्रह्म में स्थित है, हे रामजी! मैंने तुम्हें यह भूतजात कहे हैं, वह ब्रह्म शान्त, अमृतरूप, सर्वव्यापी, निरामय, चैतन्यस्वरूप अनंतात्मा आधिव्याधि दुःख से रहित निर्भ्रम है, उसके किसी एक देश में जगत् स्थित है, जैसे अनन्त सौम्य जल के किसी स्थान में तरंग फुरते हैं, ऐसे ही परब्रह्म सत्ता के किसी स्थान में जगत् प्रपंच फुरता है, श्रीरामजी बोले–हे भगवन्! ब्रह्मतत्व तो अनन्त निराकार निरवयवरूप है, उसका एक अंश एक स्थान कैसे हुआ? निरवयव में अवयव क्रम कैसे होता है, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इससे उपजे हैं, अथवा उससे उपजे हैं, यह जो कारण और उपादान है, वह भ्रान्तिमात्र है, यह शास्त्र रचना व्यवहार के

निमित्त कही है, परमार्थ से कुछ नहीं, अवयवों से जो देशादि कल्पना मात्र है, वह क्रम से नहीं उपजी, उदय और अस्त पर्यन्त दृष्टिमात्र ही है और कल्पनामात्र है, वह कल्पना भी आत्मरूप है, आत्मा से रहित कल्पना भी कुछ वस्तु नहीं न हुई है, न कुछ होगी। उसमें जो शब्द अर्थ आदिक युक्तियां हैं, वे व्यवहार के लिये हैं, परामर्थ से कुछ नहीं, शब्द अर्थमात्र जगत् कल्पना है, इससे उपजा है, उससे उपजा है, यह द्वितीय कल्पना भी नहीं, तन्मय रूप है शान्तरूप आत्मा ही है और कुछ नहीं, जैसे आग से आग की शिखा फुरती है वह अग्निरूप है, इससे उपजी या उससे उपजी यह कल्पना अग्नि में कोई नहीं, अग्नि ही अग्नि है, ऐसे ही जन्य और जनक है, कार्य और कारण भेद आत्मा में कोई नहीं, कार्य कारण भाव कल्पना मात्र है, जहां अधिकता और ऊनता होती है, वहां कार्य कारण भाव होता है कि यह अधिक कारण है, ऊनकार्य है, भिन्न कारण कार्य शब्द बनता भी है, जहां भेद होता है, वहां भेद कल्पना भी हो, वहां एक अद्वैत में शब्द कैसे हो, शब्द का अर्थ कैसे हो जैसे अग्नि और अग्नि की शिखा में भेद नहीं, ऐस कारण का कार्य भाव आत्मा में कोई नहीं। शब्द अर्थ कल्पना मात्र हैं, जहां प्रतियोगी व्यवच्छेद संख्या भ्रम होता है, वहाँ द्वैत नानात्व होता है, अर्थात् यह जैसे चेतन का प्रतियोगी जड और जड का प्रतियोगी चेतन है और व्यवच्छेद कहते हैं परिच्छिन्न, जैसे घट में आकाश होता है, संख्या कहते हैं। जीव ईश्वर ये शब्द अर्थ द्वैत कल्पना में होते हैं, जहां एक अद्वैत आत्मा ही है, वहां शब्द अर्थ कोई नहीं,

जैसे समुद्र में तरंग बुद्बुदे सब ही जल से हैं, जल से इतर कुछ नहीं, ऐसे शब्द और अर्थ कल्पना ब्रह्म हैं, जो बोधवान् पुरुष हैं, उनको सब ब्रह्म ही भासता है, चित्त भी ब्रह्म है मन भी ब्रह्म है, ज्ञान शब्द ब्रह्म ही है, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं, उसमें जो इतर भासता है, वह मिथ्या ज्ञान का विकल्प है, जैसे अग्नि और अग्निशाखा की कल्पना भ्रान्तिमात्र है ऐसे आत्मा में जगत् की कल्पना असत् रूप है, जो ज्ञान से रहित है उनको दृष्टि दोष से सत्य भासता है, इसलिये सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं,

निश्चयरूप से परमार्थ ब्रह्म से सब ब्रह्म ही है, सिद्धान्त काल में तुझको यही दृष्टि उत्पन्न होगी। यह जो सिद्धान्त पिंजर मैंने तुझको कहा है उसके विषय में उदाहरण कहूँगा कि यह क्रम अविद्या का कुछ भी नहीं, अज्ञान के नाश होने पर अत्यन्त असत् जान लेना, जैसे तम के कारण जेवरी (रस्सी) में सर्प भासता है, जब प्रकाश का उदय होता है, तब ज्यों का त्यों भासता है, सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है, ऐसे अज्ञान दृष्टि से जगत् भासता है जब शुद्ध विचार से भ्रान्ति नष्ट होगी, तब निर्मल प्रकाशसत्ता तुझको भासेगी, इसमें संशय नहीं, यह निश्चितार्थ है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे ब्रह्मप्रतिपादनं नाम चत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४०॥

एकचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४१

अविद्या कथनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! यह जो तुम्हारे वचन हैं, वह क्षीर सागर के तरंगवत् उज्ज्वल हैं, ताप त्रय दूर करने वाले मनोमल हरकर अन्तःकरण को निर्मल दर्पण सा बनाने वाले हैं। अज्ञानरूप अंधकार का निर्मूल करके हृदय को प्रकाशमय बना देते हैं, परम गंभीर हैं। मैं इनकी तुलना नहीं कर सकता, एक क्षण में संशय से अज्ञान के अन्धकार में डूबता हूँ और एक ही क्षण में निःसंशयरूप प्रकाश को पा जाता हूँ, जैसे चंचल मेघ के सूर्य का प्रकाश कभी भासता है कभी आच्छादित हो जाता है, अतः मेरा संशय दूर करो कि जो आत्मानन्दसत्ता अप्रमेयरूप है और सबकी वही प्रकाशक रूप है, असत्य भाव से रहित साररूप है, तो उस

अद्वैत तत्व में कल्पना कहां से आई? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जो कुछ मैंने तुम्हें कहा है, वह मेरे वचन यथार्थ हैं, जैसा कहा है, ऐसा ही है, असमर्थरूप वचन भी जिसके हृदय में नहीं ठहरें, उसको आत्मपद में प्राप्त करें और विरूप भी नहीं। इसका फल प्रगट है, जिनके धारण से संसार के सब दुःख मिट जाते हैं और पूर्वा पर विरोध भी नहीं, जो कि पहले कुछ और कहा पीछे और कहा। अपितु जो कुछ कहा है यथार्थ कहा है, परन्तु ज्ञान दृष्टि करके जब तेरा हृदय निर्मल होगा, तब विस्तृत बोध सत्ता हृदय में प्रकाशित होगी, तब तू मेरे वचनों का तात्पर्य अपने हृदय में जानेगा और जो तुझे मैं उपदेश करता हूँ, वह वाच्यवाचक शास्त्र कें सम्बन्ध तेरे समझाने के लिये कहता हूँ, जब इन वचनों से तू ठीक जगेगा तब तुझे अद्वैत सत्ता निर्मल भासेगी और जो कुछ वाच्यवाचक शब्द अर्थ रचना है, उसको त्याग करेगा, ज्ञानवान् को सदा परमार्थ अद्वैत सत्ता भासती है, इच्छादिक कल्पना आत्मा में नहीं पायी जाती, आत्मा निर्दुःख है, निर्द्वन्द्व है, वही जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है, अवकाश है, हे रामजी! शुद्ध जो आत्मसत्ता है, उसके आश्रय संवेदना भास फुरता है, उसी का नाम अविद्या है, वह दो रूप रखती है, एक उत्तम दूसरा मलिन, जो अविद्या नाश के लिये प्रवृत्त होती है वह उत्तम है, विद्या भी उसी का नाम है, सब दुःख नाश करती है और जो संसार की ओर प्रवृत्त होती है, वह अविद्या है, अर्थात् जो आत्मा की ओर फुरती है, वह विद्या है, जो दृश्य की ओर फुरती है, वह अविद्या है, वे दोनों स्पंदरूप हैं, इससे अविद्या का अविद्या से नाश करो, जैसे ब्रह्मास्त्र से ब्रह्मास्त्र शान्त होता है, जैसे मैल को कलर मैल दूर करता है, जैसे विष को विष नाश करता है, जैसे शत्रु को शत्रु मारता है, ऐसे अविद्या से अविद्या नाश होती है, यदि ऐसा है तो तुम भी इसको नाश करो, तब सुख प्राप्त होगा, विचार से इसका नाश होता है, तब जानी नहीं जाती कि कहाँ गयी, जैसे दीपक से अन्धकार देखिये तो कभी नहीं जाना जाता कि कहां गया, बड़ा आश्चर्य है, जो कि जीव का अज्ञान इसने आच्छादित

कर लिया है, सदा अनुभव आत्मसत्ता उदय रूप है, वह जीव को नहीं भासती, जब तक अविद्या को नहीं जानता, तब तक फुरती है, जब जान गया तब नहीं जानता कि कहां गयी, भ्रममात्र सिद्ध है, बड़ा आश्चर्य है, जो माया ने संसार को बाँधा है, सत्य सी भासती है, परन्तु असत्य है। यह बुद्धिमान की भी हानि करती है, तो इतर जीवों की क्या कहें? आत्मा निरन्तर अभेदरूप है, उसमें अविद्या की भेद कल्पना कोई नहीं, जिस पुरुष ने संसार माया को ज्यों की त्यों जाना है, वह पुरुषोत्तम है, जिसकी यह भावना हुई कि अविद्या परमार्थ से कुछ नहीं, असत्यरूप है, वह ज्ञानवान् है, उसने जानने योग्य जान लिया है, इसमें कुछ संशय नहीं, जब तक तुम स्वरूप से जगे नहीं, तब तक मेरे वचनों में आसक्त बुद्धि बनो और महान् निश्चय को धारण करो कि अविद्या नाशरूप है, है ही नहीं, जितना दृश्य जगत् भासता है, वह मन का मन असत्रूप है, जिसको यह निश्चय हुआ है, वह पुरुष मोक्ष भागी है। यह जो मन का स्फुरण जगत् दृश्य भाव को प्राप्त हुआ है, सब ब्रह्मरूप है, जिसके अन्दर यह निश्चय स्थित है वह पुरुष मोक्षभागी है और जिसको चराचर जगत् में दृढ़ भावना है, वह बन्धन का भागी है, जैसे पक्षी जाल में बद्ध होता है, हे रामजी! समस्त जीव इस संसार की सत्य दृष्टि बँधे हुए हैं, सब जगत् स्वप्न भ्रान्तिरूप है, उसमें जिसको असत् बुद्धि है, अथवा सत् ब्रह्म बुद्धि है, वह आसक्त होकर संसार दुःख में नहीं डूबता और जिसको अनात्म धर्म देहादिक में भावना है, स्वरूप में आत्मबोध नहीं, वह सुख दुःख आदि द्वन्द्वों में जा गिरता है। जो स्वरूपस्थ है और अनात्मधर्म त्यागी है उसको अविद्या जनित दुःख स्पर्श नहीं कर सकते, जैसे जल में धूल नहीं उड़ती, ऐसे ही उस महात्मा पुरुष के चित्त में दुःख उदय नहीं होते। ज्ञानवान् पुरुष के हृदय में जगत् के शब्द अर्थ का रंग नहीं चढ़ता। जैसे तंतु बिना पट नहीं होता। पट तंतु रूप ही है, ऐसे आत्मा बिना जगत् नहीं होता, जगत् आत्मरूप है, ऐसा विचारकर जो व्यवहार में प्रवृत्त होता है, वह पुरुष मानसिक दुःख को नहीं प्राप्त होता है और जो

अविद्या से संसार में पड़ा भटकता है, वह आत्मतत्व को पा नहीं सकता। विद्यमान भी उसको नहीं भासता, आत्मज्ञान से अविद्या का नाश होता है, जिसको आत्मज्ञान होता है वह अविद्या नदी को पार करता है, आत्मसत्ता के प्राप्त होने पर अविद्या क्षीण हो जाती है, जिनको अविद्यारूप संसार के पदार्थ की इच्छा होती है, वे अविद्या रूप नदी में बह जाते हैं, हे रामजी! यह अविद्या बड़े मोहभ्रम को देती है, दृढ होकर स्थित हुई है और इतने तत् पद को आच्छादित कर लिया है, अतः तुम यह न विचारो कि अविद्या कहां से उपजी है और कौन इसका कारण है, इत्यादिक विचार भ्रम मत करो, यही विचारो कि यह नाश कैसे होती है, इसके क्षय करने का उद्योग करो, जब नष्ट होगी तब इसकी उत्पत्ति भी जान लोगे, कि इस प्रकार उत्पन्न हुई है और यह इसका स्वरूप है और यह कारण है व कार्य है, हे रामजी! अविद्या वस्तुतः कुछ है नहीं, अविचार सिद्ध है, विचार दृष्टि से नष्ट हो जाती है, तब जानी नहीं जाती कि कहां गयी, जब स्वरूप विस्मरण होता है, तब उत्पन्न होकर दृढ होती है और दुःख देती है, इसलिये बल से इसका नाश करो, बड़े बड़े वीर पुरुष हुए हैं, उनको भी अविद्या ने व्याकुल किया है, ऐसा बुद्धिमान कोई नहीं जिसको अविद्या ने व्याकुल नहीं किया, अविद्या सब रोगों का मूल है, यत्न द्वारा इसकी औषधि द्वारा इलाज करो, जितनी भी आपत्तियाँ हैं, उनकी यह अधिष्ठात्री सखी हैं, अज्ञान रूप वृक्ष की शाखा है, (या बल्ली है) अनर्थरूप अर्थ की जननी हैं, ऐसी अविद्यारूप मलिनता को दूर करो, यह मोह भय और आपत्तियों को देनेवाली है, हृदय में मोह पैदा करके जीव को व्याकुल करती है, अज्ञान चेष्टा से बढ़ती है, जब अविद्यारूप संसार समुद्र से पार होगा तब शान्ति प्राप्त होगी।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे अविद्या कथनं नाम एकचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४२

जीवतत्व वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब विचारवान् पुरुष अविद्या की बीमारी निकालकर शान्ति से विचार करते हैं, तब यह नष्ट हो जाती है। इस विशाल व्याधि की औषध सुनो, जीवों का विस्तार मैं तुम्हें कहता हूँ। सात्विक राजस आदिक मनोवृत्तियों के विचारार्थ मैंने बात चलायी थी, उसे अब सुनिये, जो तत्व अमृत और ब्रह्म स्वरूप है, वह सर्वव्यापी निरामय चैतन्य प्रकाश अनन्त है, आदि अन्त से रहित निर्भ्रम चेतन प्रकाश उसका वपु है, जब वह चेतन प्रकाश स्पंदरूप होकर फुरता है, तब दीपकवत् तेजः प्रकाश चेतन रूप चित्तकला जगत् को चेतने लगती है, तब जगत् फुरता है, जैसे सौम्य जल समुद्र में द्रवता से तरंग फुरता है, वह जल से इतर कुछ नहीं, ऐसे सर्वात्मा से इतर काल का रूप कुछ नहीं, यह स्पंदरूप भी अभेद है, जैसे आकाश में आकाश स्थित है, ऐसे आत्मा में चित्त शक्ति है, जैसे नदी में वायु के संयोग से तरंग उठते हैं, ऐसे आत्मा में चित्तकला से दृश्य जगत् होता है ऐसे भी नहीं, आत्मा अद्वैत है, स्वतः जिसमें चित्त कला हो जाती है, जैसे वायु में स्वाभाविक स्पंद होता है, स्पंद निस्पंद दोनों वायु के रूप हैं, जब स्पंद होता है, तब भासता है, निस्पंद होता है, तब अलक्ष हो जाता है, ऐसे जब चित्तकला फुरती है, तब लक्ष में आती है, निस्पंद होते ही अलक्ष हो जाती है, शब्द की गम नहीं होती। निस्पंद से जगत् भाव को प्राप्त होती है, जैसे समुद्र में तरंग चक्र फुरते हैं, ऐसे चेतन में चित्तकला फुरती है, जैसे आकाश में मुक्ता माला भासती है, वह है नहीं ऐसे आत्मा में वस्तु नहीं है, स्पंदभाव से कुछ भूषित दूषित हो भासती है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं परन्तु भिन्न की नाईं भासती है, जैसे प्रकाश की लक्ष्मी कोटि रवि जैसे स्थित होती है, ऐसे आत्मा में चित्त शक्ति है, देशकाल क्रिया द्रव्य को जैसे जैसे चेतती है ऐसे होकर भासती है, आगे नाम संज्ञा होती है, अपने स्वरूप को

विस्मरण कर दृश्य के साथ तन्मय होती है, तो भी स्वरूप से व्यतिरिक्त नहीं होती, परन्तु व्यतिरेक की नाईं भावना होती है, जैसे समुद्र से तरंग भिन्न नहीं और सुवर्ण से भूषण भिन्न नहीं, ऐसे आत्मा से चित्त शक्ति भिन्न नहीं, परन्तु अपने अनन्त स्वभाव को विस्मरण कर देश काल क्रिया द्रव्य के भेद मानती है, संकल्प के धारण से कलना भाव प्राप्त होती है, विकल्पकलना से चित्तशक्ति क्षेत्रज्ञ रूप होती है। शरीर का नाम क्षेत्र होता है, शरीर को अन्तर्बाहिर जानने से क्षेत्रज्ञ नाम होता है, वह क्षेत्रज्ञ चित्तकला अहंभाव की वासना करती है, उस अहंकार से आत्मा से इतर रूप धारण करती है, फिर अहंकार में निश्चय होती है, उसका नाम बुद्धि होता है, अहंभाव से जब निश्चय संकल्प कलना होती है, उसका नाम मन होता है, वही चित्तकला मनभाव को प्राप्त होती है, जब मन में घन विकल्प उठते हैं तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की भावना से इन्द्रिय स्फुरण होता है और फिर हस्तपाद प्राण संयुक्त देहभास आता है, इस प्रकार जगत् में देह को पाकर जीवजन्म मृत्यु को प्राप्त होता है, वासनाओं से बँधा हुआ अनेक दुःख पाता है, कर्म के कारण चित्त में दीन रहता है, जैसे कर्म करता है, ऐसा ही स्वरूप बना लेता है, जैसे समय पाकर फल पक जाता है, ऐसे स्वरूप के प्रमाद (विस्मरण) से जीव दृश्य भाव को प्राप्त होता है अपने आपको कारण कार्य मानकर अहंभाव को प्राप्त होता है, निश्चय वृत्ति से बुद्धिभाव और संकल्प संयुक्त मनोभाव को पाता है, मन देह इन्द्रिय रूप होकर स्थित होता है, अपने अनन्तरूप को भूल जाता है, परिच्छिन्न भाव ग्रहण करके प्रतियोग व्यवच्छेद भाव भासता है, तब इच्छा मोहादिक शक्ति को प्राप्त होता है, जैसे मदमत्त बैल को गौ आ मिलती है, ऐसे सब आपत्तियाँ उसे आकर प्राप्त होती हैं, जैसे समुद्र में नदियाँ आ प्रवेश करती हैं, इसी प्रकार अहंकार अपनी रचना से आप ही बद्ध होता है, जैसे घुराण अपने स्थान को रचकर आप ही बद्ध होता है, बड़ा खेद है कि आप ही संकल्प से दृश्य को रचता है, फिर उसी देह में आस्था करता है, उससे आपही दुःखी होता है, अंदर से तपता रहता है, अपने को बंधन में डालकर संसाररूप वन में अविद्यारूप

आकाश को ले फिरता है, अपने संकल्प काल से तन्मात्र देह रचना हुई है, उसमें अहं प्रतीति होती है, जैसे जल में तरंग होते हैं, ऐसे देहादिक उदय हुए हैं, उनके साथ बँधा हुआ दुःख पाता है, जैसे सिंह को सांकल से बाँध दिया जाये, ऐसे यह बँधा हुआ है, एक स्वरूप है। फुरने के वश से नाना भाव को प्राप्त हुआ है, कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं अहंकार, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं पुर्यष्टक, कहीं प्रकृति, कहीं माया, कहीं कर्म, कहीं विद्या, कहीं अविद्या, कहीं इच्छा है, हे रामजी! इस प्रकार जीव भ्रम को प्राप्त हुआ है, तृष्णारूप शोक रोग से दुःख पाता है, तुम यत्न से इसका उद्धार करो, जरा मरण आदि विकार और संसार की भावना इसको नष्ट करती है, यह भला है, ग्राह्य है, बुरा है, त्याज्य है, इस भाव से ग्रसा हुआ अविद्या के रंग से रंजित हो रहा है, इच्छा करने से इसका रूप सकुचा गया है, कर्मरूप अंकुर से संसाररूप वृक्ष बढ़ गया है, अपना वास्तवरूप विस्मरण हो चुका है, कलना से अपने आपको मलिन जानता है, अविद्या के संयोग से नरक भोगता है, संसार भावनारूप पर्वत के नीचे दब गया है, आत्मपद की ओर उठने को समर्थ नहीं, संसाररूप विष वृक्ष जरा मरण की शाखाओं से बढ़ गया है, आशारूप फांसी के साथ बँधे हुए जीव पड़े भटकते हैं, चिन्तारूप अग्नि से जलते हैं, क्रोधरूप सर्प ने जीव को चर्बित कर लिया है, अपनी वास्तवता इसको विस्मृत हो गयी है, जैसे हरिण अपने यूथ से भूला हुआ शोक से दुःखी होता है, जैसे पतंग दीप शिखा में जल मरता है, जैसे मूल से काटा हुआ कमल विरूप होता है, ऐसे आशा से क्षुद्र बना हुआ मूर्ख बड़ा दुःख पाता है, जैसे कोई दृढ़ विष को सुखरूप जानकर भक्षण करे, तब दुःख पाता है, ऐसे इसको भोगों में मित्र बुद्धि हुई है, परन्तु वे इसके परम शत्रु है, इसको उन्मत्त करके मूर्छित करते हैं, बड़ा दुःख देते हैं, जैसे बँधा हुआ पक्षी पिंजरे में दुःख पाता है, अतः इस बन्धन का नाश करो, यह जगज्जाल असत् है, गन्धर्व नगरवत् शून्य है,इसकी इच्छा अनर्थ का कारण है, इस संसार समुद्र में मत डूबो, जैसे हस्ती कीचड़ से अपने बल द्वारा निकलता है, ऐसे अपना उद्धार करो, संसार रूप गड्ढे में मनोरूप बैल गिरा है, इस कारण से इसके

अंग चूर हो गये हैं, अभ्यास और वैराग्य बल से इसे निकालो, अपना उद्धार करो, जिस पुरुष को अपने मन पर भी दया नहीं उपजती, वह संसार दुःख से कैसे निकल सकता है, वह मनुष्य का आकार है, परन्तु मनुष्य नहीं है, इसलिये तुम अपना उद्धार करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवत्व वर्णनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४३

जीववीजसंस्थावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार असंख्य जीव संसार वासना से प्रवाहित हुए परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं, होंगे और हो रहे हैं, जैसे झरने से जल के कण प्रकट होते हैं, ऐसे ब्रह्मसत्ता से जीव प्रवाहित हो रहे हैं, अपनी वासना से बँधे हुए भटकते हैं, विवश होकर नाना प्रकार की दशा को प्राप्त होते हैं। चिन्ता से दीन होते हैं, दशों दिशाओं में जल स्थल में भ्रमते हैं, जैसे समुद्र में तरंग उपजते और नष्ट होते हैं, ऐसे ही जन्म और मृत्यु प्राप्त करते हैं, कई जीवों का भूतकाल में जन्म हुआ है, कई ऐसे हैं, उनके अनेकों अर्थात् हजारों अथवा लाखों जन्म हो चुके हैं और अनेकों के होंगे। कई होकर मिट गये हैं और कई अनेक कल्पों पर्यन्त अज्ञान से भटकते रहेंगे, अब कई जरा (बुढ़ापे) में स्थित हैं, कई जवानी में हैं, कई मोह में नष्ट हुए हैं, कई अल्पायु होकर स्थित हैं, कई अनन्त आनन्दी हुए हैं, कई सूर्य के समान उदित रूप हैं, कई किन्नर कई विद्याधर होकर स्थित हैं, कई सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुवेर, रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु होकर स्थित हैं, कई यक्ष, बेताल, सर्प आदिक स्थित हुए हैं, कई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र गण कहाते हैं, कई किरात, चांडाल आदिक स्थित हैं, कई तृण, औषधि, पत्र, फल, फूल, मूल को प्राप्त हुए हैं, कई लता, गुच्छ, पाषाण, शिखर हुए हैं, कई कदम्ब वृक्ष ताल तमाल हुए

हैं, कई मंडलेश्वर चक्रवर्ती हुए भ्रमते हैं, कई मुनीश्वर मौन पद में स्थित हैं। कई कृमि, कीट, पिपीलिका आदिक रूप हैं, कई सिंह, मृग, घोड़े, खच्चर, गर्दभ, बैल आदिक पशु स्थित हैं, कई नक्षत्र, चक्र, आकाश वायु सूर्य की किरणों में स्थित हैं, कई रस लेते हैं, कई जीवन्मुक्त हैं, कई अज्ञान से घूमते रहते हैं। सारस, चक्रवाक, कोकिला, बगलादिक पक्षी होकर स्थित हैं, कई कमल कली कुमुद सुगन्धादिक रूप में स्थित हैं, कई आपत्तिग्रस्त दुःखी हैं, कई धन सम्पन्न हैं, कई स्वर्ग कई नरक में स्थित हैं, कई कल्याण भागी चिर पर्यन्त भोग भोगते हैं, कई परमात्म भक्त हुए हैं, कल्प कालपर्यन्त कई शीघ्र ही, आत्मतत्व में लीन हुए हैं, कई चिरकाल तक जीवन्मुक्त होगें, कई मूढ़ दुर्भावना करते हैं, अनात्म में भ्रमते हैं, कई मरकर इस जगत् में जन्म लेते हैं, कई और जगत् में जाकर स्थित होते हैं। कई न यहां पर न वहां उत्पन्न होते हैं, आत्मतत्व में लय हो जाते हैं। कई मंदराचल सुमेरु आदि पर्वत होकर स्थित हुए हैं, कई क्षीरसमुद्र, घृतसमुद्र, इक्षुरस जल आदिक समुद्र हुए हैं, कई नदियाँ तड़ाग, वापिका आदि हुए हैं, कई स्त्रियाँ, कई पुरुष नपुंसक रूप हुए हैं, कई मूढ़, कई प्रबुद्ध, कई अत्यन्त मूढ़ हुए हैं, इसी प्रकार जीव अपनी वासना से बँधे हुए घूमते हैं, संसार भावना से जगत् में कभी नीचे कभी ऊपर जाते हैं, काम, क्रोध जनित दुःख को सहन करते हैं, काम की प्रेरणा से भ्रमण करते हैं, आशारूप फांसी से बँधे हुए हैं, देह को उठाये फिरते हैं, जैसे भारवाही भार उठाता है, कई मनुष्य शरीर से फिर मनुष्य शरीर में आते हैं, कई वृक्ष से वृक्ष होते हैं, कई और से और शरीर को धारण करते हैं, इसी प्रकार आत्मरूप को भुलाकर देह के साथ मिले हुए वासनारूप कर्म करते हैं, उनके अनुसार ऊपर नीचे घूमते हैं, जिनको आत्मबोध हुआ है, वे पुरुष कल्याणरूप हैं और सब दुःखी मायारूप संसार में मोहित हुए हैं, यह संसार रचना इन्द्रजाल की नाईं है, जब तक आनन्दरूप अपने आपको नहीं पाया अर्थात् जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ, तब तक संसार भ्रम में भ्रमता है और जिस पुरुष ने अपने स्वरूप को जान लिया

है और अन्य जीवों की तरह त्याग नहीं किया किन्तु बार बार संसार के पदार्थों से रहित हुआ आत्मा की ओर दौड़ता है, वह समय पाकर आत्मपद को प्राप्त होगा, उसका पुनर्जन्म न होगा, कई जीव अनेक जन्म भोगकर ज्ञान से अथवा तप से ब्रह्मा के लोक को प्राप्त होते हैं। तब उनको परमपद मिलता है, हजारों जन्म पर्यन्त भोग भोगकर फिर संसार में जन्म लेते हैं, कई बुद्धिमान् विवेक को प्राप्त होते हैं फिर संसार में गिरते हैं, मोक्षदायी ज्ञान पाकर भी फिर संसारी होते हैं, कई इन्द्रपद पाकर तुच्छ बुद्धि से फिर तिर्यक् पशुयोनियों को प्राप्त होते हैं फिर मनुष्यरूप में आ जाते हैं, कई महाबुद्धिमान् ब्रह्म पद से उत्पन्न होकर उसी जन्म में ब्रह्म पद को प्राप्त होते हैं। कई अनेक जन्मों के बाद थोड़े जन्मों में ही ब्रह्म पद को प्राप्त होते हैं, कई एक ही जन्म से और ब्रह्माण्ड को प्राप्त होते हैं, कई इसी में देवता से पशु जन्म पाते हैं, कई पशु से देवता हो जाते हैं, कई नाग हो जाते हैं, जैसी जैसी वासना होती है, ऐसा ही रूप हो जाते हैं, जैसे यह जगत् विस्तार रूप है, ऐसे अनेक जगत् हैं। कई समान रूप हैं, कई विलक्षण आकार हैं, कई हुए हैं, कई होंगे, विचित्ररूप सृष्टि होती और मिटती है, कई गन्धर्व भाव को, कोई यक्ष देवता आदिक भाव को प्राप्त हुए हैं। जैसे जीव इस जगत् में व्यवहार करते हैं ऐसे और जगत् में व्यवहार करते हैं, आकार विलक्षण है, अपने स्वभाव के वश होने से जन्म मरण पाते हैं, जैसे समुद्र से तरंग उपजते हैं और मिटते हैं, ऐसे सृष्टि की प्रवृत्ति उत्पात्त लय होता है। जैसे दीपक का प्रकाश लय होता है और जैसे सूर्य से किरणें निकलती हैं, ऐसे तप्त लोहे से चिनगारे निकलते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारे निकलते हैं, जैसे काल से ऋतु निकलते हैं, पुष्प से सुगन्धित प्रकट होती है, समुद्र से तरंग उठते हैं फिर लय होते हैं, ऐसे आत्मसत्ता से जीव उपजते हैं फिर लय होते हैं। जितने जीव हैं वे सब ही समय पाकर अपने पद में लीन होंगे, स्वरूप इनका उत्पन्न होना भी मिथ्या है, स्थिति बंधन भी मिथ्या है, त्रिलोकीरूप महामाया के मोह से

उपजते समुद्र के तरंग की नांई नाश होते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जीवबीजसंस्थावर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४४

संसारप्रतिपादनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! जीव इस क्रम से आत्मस्वरूप में स्थित हैं फिर अस्थिमांस की पूर्ण देह पंजर इसको कैसे प्राप्त हुआ है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! मैंने पहिले ही तुम्हें अनेक बार कहा है, तुम अब तक नहीं जगे, पूर्वापर के विचार करने वाली तुम्हारी बुद्धि कहाँ गयी है? जितना कुछ शरीरादिक स्थावर जंगम जगत् दृष्टि आता है, वह सब आभास मात्र है, स्वप्न की नाईं उठा है, दीर्घ स्वप्न है, मिथ्या भ्रम से भासता है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रममात्र से भासता है, जैसे घूमने से पर्वत घूमते भासते हैं, ऐसे जगत् अज्ञान से भासता है और जिन पुरुषों की अज्ञान निद्रा नष्ट हुई है और यथार्थ निश्चय से संसार वासना विगलित हुई है वे प्रबुद्ध चित्त हैं, संसार को स्वप्नरूप देखते हैं और स्वरूप भाव से कुछ देखते नहीं। अपने ही स्वभाव से संसार की कल्पना करते हैं, यह जीव जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई तब तक संसार को सत् रूप देखते हैं, इनकी संसार भावना असत् नहीं होती, अपने अन्दर सदा जगत् आकार की कल्पना करते हैं और जीव के अनेक आकार चपलरूप क्षण भंगुर होते हैं, जैसे जल में तरंग चंचलरूप होते हैं, जैसे बीज में अंकुर होते हैं, उसी के अन्दर पत्र, फूल, फल, आदिक होते हैं, ऐसे कल्पनारूप देह मन के फुरने में रहता है, हे रामजी! देह न हो परन्तु जहाँ मन फुरता है वहाँ ही देह को रच लेता है, ऐसे यह देह और जगत् भी मन से रचा गया है, जैसे मृत्तिका का पिंड चक्र के ऊपर चढ़ाया घटरूप हो जाता है, ऐसे मन के फुरने से, देह बनता है, सब देह मन के

फुरने में स्थित हैं, जितना जगत् भासता है, सब संकल्प मात्र है, जैसे मृगतृष्णा का जल असत्‌रूप होता है, ऐसे यह जगत् असत्य है, जैसे बालक को अपनी प्रतिछाया में बेताल भासता है ऐसे जीव को अपने फुरने से देहादिक भासते हैं, हे रामजी! सृष्टि के आदि में जो शरीर उत्पन्न हुए हैं, वे आभास मात्र संकल्प जन्य होते हैं, पहिले ब्रह्मापद्म में स्थित हुआ, उसने संकल्प के क्रम से विस्तार किया है, जैसा संकल्प पर स्थित हो ऐसे स्थित किया है, वह सब माया मात्र है, माया की घनता से यह जगत् भासता है, स्वरूप से कुछ नहीं। रामजी बोले—हे भगवन्! आदि जीव जो मनोरूप स्फुरण को पाकर ब्रह्मपद को प्राप्त हुआ है, वह ब्रह्मा जैसे हुआ और स्थित हुआ है, वह मुझको क्रम से सुनाओ। वसिष्ठजी बोले—हे महाबाहो रामजी! प्रथम ब्रह्म शरीर को पाकर ग्रहण किया है, उसके श्रवण से स्थिति भी जानोगे। देशकाल आदिक परिच्छेद से रहित आत्मतत्व अपने आप में स्थित है, वह अपनी लीलाशक्ति से देशकाल क्रिया कल्पितरूप हुआ है, इसीलिये जीव के इतने नाम हुए हैं, वासना से तद्रूप हुई चित्‌कला चपलरूप मन हुआ है, दृश्यकला के सम्मुख हुई प्रथम उसी चित्‌कला में मानसी शक्ति होकर आकाश की भावना की है, स्वच्छ बीजरूप जो शब्द है, उसके सम्मुख मध्य में उदर धर्म है, जैसे नूतनबालक प्रकट होता है, ऐसे आकाश पोलरूप फुर आया, जब शब्द स्पर्श आकाश पवन का संघर्षण हुआ, तब मन के तन्मय होने से अग्नि उत्पन्न हुई, बड़ा प्रकाश भी हुआ, फिर रस तन्मात्राकी भावना की, तब शीतल भावना से जल स्फुरण हुआ, जैसे अति उष्णता से स्वेद निकल आता है, फिर गंधतन्मात्रा की भावना की उससे घ्राण इन्द्रिय का उदय हुआ, स्थल की भावना से जलचक्र पृथ्वी होकर स्थित हुआ। आकाश में बड़ा प्रकाश हुआ। अहंकार की कला से शुद्ध और बुद्धिरूप बीज से समुचितरूप हुई अष्टम जीव सत्ता हुई, इन अष्ट का नाम पुर्यष्टक हुआ, वह देहरूप कमल का भ्रमर हुआ, उस आत्मसत्ता में तीव्र भावना से उसी चित्त सत्ता में बड़ा स्थूल वपु देखा, जैसे बीज से वृक्ष फूल होने से रस परिणत होता है, ऐसे निर्मल आकाश

में वृत्ति स्पंद अस्पंदरूप हुई है, जैसे साँचे में भूषण निमित्त स्वर्णादिक धातुएँ पडती हैं और वे भूषणरूप हो जाती हैं, ऐसे ब्रह्माजी ने अपनी चेतन संवेदन मनरूप संवित् में तीव्र भावना की, उससे स्थूलता को प्राप्त हुए, स्वतः यह फुरना दृश्य का रूप क्रम से हुआ, जो ऊर्ध्व शीश है, मध्य उदर है, अधःपाद है, चारों दिशाहस्त हैं, मध्य में उदर धर्म है, जैसे नूतन बालक प्रकट होता है, महा उज्ज्वल प्रकाश ज्वाला की शिखावत अंग होते हैं, ऐसा ब्रह्मा का शरीर उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार वासना से कल्पित मन से शरीर उत्पन्न कर लिया है। आदि ब्रह्मा का प्रकाश ही शरीर हुआ। सब बुद्धियों की समष्टिरूप उसकी बुद्धि और बल उत्साह की समष्टि है, पुनः कैसा है, सदाज्ञानरूप है, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण शक्ति और तेज उदारता से सम्पन्न स्थित है, इस प्रकार श्री ब्रह्माजी सब जीवों के अधिपति हुए, उनका शरीर स्वर्ण की सी कांति वाला था। ऐसा शरीर आकाश से उत्पन्न होकर आकाशरूप होकर स्थित हुआ है, लीला के निमित्त अपना निवासगृह बनाते हैं, हे रामजी! कभी ब्रह्मा परम आकाश में रहता है, कभी कल्पांतर महाभास्कर अग्नि में रहता है, कभी स्वर्ण कमल विष्णु के नाभि कमल में रहता है, इसी भांति अनेक प्रकार के आसन रचकर कभी कहाँ कभी कहाँ स्थित होता है, लीला करता है, जब परमतत्व से प्रथम इस प्रकार फुरता है, तब अपने साथ शरीर देखता है, जैसे बालक निद्रा से जगकर अपने साथ शरीर देखता है, ऐसे ब्रह्माजी ने जगकर अपने साथ शरीर देखा, वह शरीर कैसा है कि प्राण प्रवाह से युक्त है, प्राण अपान आते ज़ाते हैं, पंचतत्वों से रचा गया है, बत्तीस दाँत हैं, तीन स्तंभ हैं, और पंच देवता शरीर में स्थित हैं। वे कौन हैं? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव पंच भाग शरीर के हैं, नव द्वारा हैं, दो जंघास्थल, दो पाद और दो भुजायें बीस अंगुलियाँ हैं, हाथों पावों के वीस नख हैं, एक मुख है, दो नेत्र हैं, कभी अपनी इच्छा से अनेक भुजायें और अनेक नेत्र कर लेता है, यह शरीर चित्तरूप पक्षी का नीड़ है, काम भोग का स्थान है, वासनारूप पिशाचिनी का घर है, जीवरूप सिंह

की कंदरा है, अभिमानरूप हस्ती का वन है। इस प्रकार बड़े उत्तम कान्तिमान् शरीर को देखकर ब्रह्माजी विचार करने लगे कि अब हमको क्या करना उचित है, इसके आदि में क्या हुआ, इस प्रकार त्रिकालदर्शी ब्रह्मा ने भूतकाल में हुए वेदसंयुक्त तपस्वियों का सर्व धर्म स्मरण करके देखा, वाङ्मय भगवी का स्मरण किया, वेदों का स्मरण सर्व सृष्टि के धर्म गुण विकार उत्पत्ति, स्थिति, बढ़ना, परिणाम, क्षय नाश होना आदि सब धर्म को स्मृति शक्ति से इस प्रकार देखा, जैसे योगीश्वर ने अपना अनुभव किया, दिव्य नेत्रों से ऐसा देखने पर इच्छा हुई कि लीला से विचित्ररूप प्रजा को उत्पन्न करें। ऐसे विचारकर उत्पत्ति करना प्रारम्भ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पदार्थ तथा उनके साधन रचे। उनके विधि निषेध रचे गये कि यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है। उनके अनुसार फल की रचना करके शुभ अशुभ विचित्रता रची हे रामजी! इस प्रकार फुरने से सृष्टि हुई है फुरने की दृढता से स्थिति को प्राप्त हुई है, उसमें नीति, काल, क्रिया, द्रव्य, कर्म, धर्म रचे गये हैं, जैसे नीति की है, ऐसे स्थित हैं, जैसे वसंत से पुष्प उत्पन्न होते हैं, ऐस ब्रह्मा के मन से भी सृष्टि रची गयी है। विचित्ररूप रचना का विलास चित्तरूप कमलज ब्रह्मा के चित्तद्वारा कल्पना किया गया है, वह कलनारूप है, काल में उत्पन्न हुई है। काल ही से स्थित है, स्वरूप से न कुछ उत्पन्न हुआ है, न कुछ नष्ट होता है, जैसे स्वप्न सृष्टि होती है ऐसे यह संसार रचना है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारप्रतिपादनं
नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमः सर्गः ४५

यथार्थोपदेश वर्णनम् ।

वसिष्ठ जी बोले–हे रामजी! इस प्रकार जो उपजा है वह नहीं उपजा, न स्थित है, शून्य आकाशरूप है, वन के फुरने से सृष्टि भासती है। बड़े देश काल क्रिया संयुक्त जो ब्रह्माण्ड दृष्टि आता है, परमार्थ से उसने कुछ भी स्थान नहीं रोका, स्वप्नवत् संकल्प मात्र है, आधार बिना चित्र है, जैसे मूर्ति का चित्र आधार बिना मिथ्या होता है, ऐसे यह जगत् भासता है तो भी मिथ्या है, असत्य है, तमोरूप है, आकाश में चित्त की नाईं है, जैसे स्वप्न मे भासरूप जगत् भासता है, तो भी असत्‌रूप है, ऐसे यह शरीरादिक जगत् मन के फुरने से भासता है, मन का फुरना भी इसका कारण है, जैसे नेत्र का कारण प्रकाश है, ऐसे जगत् का कारण चित्त है, सब जगत् आकाशमात्र है, घटपट तोयादिक क्रम सहित भासते हैं तो भी असत् रूप हैं, जैसे जल में चक्र आवर्त भासते हैं, वे असत्य रूप हैं, ऐसे प्रथम पर्वत आदिक जगत् असत्यरूप हैं, अपने निवास के निमित्त मन ने यह शरीर रचा है, जैसे घुराण अपने निवास के लिये घर बनाती है और आप ही बंधन में आ जाती है, ऐसे मन शरीरादि को रचकर आप ही दुःखी होता हैं, ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो संकल्प से रहित सिद्ध हो और मन के यत्न से जो सिद्ध न हो, कठिन क्रूर कार्य भी मन के यत्न से सिद्ध होता है, भगवान् परमात्मा सर्व शक्तिमान् है। मन भी उसकी शक्ति है, वह कौनसा काम है जो मन से सिद्ध न हो, सब कुछ बन जाता है, क्योंकि जितने पदार्थ हैं, उनमें से सत्ता परमात्मा की है, उससे इतर कुछ भी नहीं, इसलिये परमात्म देव में सब संभव है। आदि चित्तकला ब्रह्मारूप होकर उदय हुई है, उस भावना के अनुसार अपने आपको उसने ब्रह्मा के शरीर में देखा, उस कमलज ब्रह्मा ने कलनारूप जगत् रचा है। देवता, दैत्य, मनुष्य, स्थावर जंगम रूप जगत् संकल्प में स्थित है, जब तक उसका संकल्प है तब तक ऐसे ही स्थित है, जब संकल्प मिट जायेगा,

सृष्टि भी नष्ट हो जायेगी, जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है, ऐसे जगत् भी हो जायेगा, आकाशवत् सब ही कलना मात्र है, दीर्घस्वप्न स्थित है, वास्तव से न कोई उत्पन्न हुआ है न मरता है, परमार्थ से तो ऐसे हैं। अज्ञान से सब पदार्थ विकारयुक्त भासते हैं, न कोई वृद्ध है, न नष्ट होता है, उसमें और विकार कैसे मानिये जैसे पत्र की रेखा हो, उसके उपजने और नाश होने में वन को कुछ अधिकता और ऊनता नहीं होती, ऐसे ही शरीर के उत्पन्न होने और नाश होने में आत्मा को लाभ हानि कुछ नहीं, सब जगत् दृश्य भ्रान्ति से भासता है, ज्ञान दृष्टि से देखो। अज्ञानी के समान मोहित क्यों होते हो? जैसे मृगतृष्णा का जल प्रत्यक्ष भासता है, जो कि मिथ्या भ्रममात्र होता है, ऐसे ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सब भ्रान्ति मात्र है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे मिथ्या ज्ञान से जगत् भासता है, जैसे नाव पर बैठे हुए तट को वृक्षस्थान चलते दृष्टि आते हैं, ऐसे दृष्टि से जगत् भासता है। इस जगत् को तुम इन्द्रजाल के समान जानो, माया से रचा हुआ यह जगत् देह पंजर है। मन के असत्यरूप ही सत्य की नांई स्थित हुआ है और जगत् द्वैत कुछ हुआ नहीं, ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित हुआ है और शरीरादिक कैसे हैं। इनको किस की नांई कहें, पर्वत तृण आदिक जो जगत् आडम्बर है वह भ्रान्ति मात्र मन की भावना से दृढ हो भासता है, असत्य ही सत्यरूप हो स्थित हुआ है, हे रामजी! यह प्रपंच नाना प्रकार की रचना संयुक्त भासता है तो भी अन्दर से तुच्छ है इसकी कामना तृष्णा त्यागकर सुखी हो जाओ, जैसे स्वप्न में बड़े आडम्बर भासते हैं, वह भ्रान्तिमात्र असत्यरूप हैं, वास्तव से कुछ नहीं, ऐसे यह जगत् दीर्घकाल का स्वप्न है, चित्त से कल्पित है, देखने में बड़ा विस्ताररूप विचार करके पकड़े तो हाथ कुछ नहीं आता, जैसे स्वप्न सृष्टि जगत् में कुछ नहीं पायी जाती, जैसे घुराण को अपना रचा गृह बंधन करता है, ऐसे अपना रचा जगत् मन को दु:ख देता है, इसलिये इसका त्याग करो। जिस पुरुष ने इसे असत्य जाना है, वह जगत् की भावना फिर नहीं करता, जैसे मृगतृष्णा को जिसने असत्य जाना है, वह पीने के लिये नहीं दौड़ता,

जैसे अपने मन की कल्पी स्त्री से बुद्धिमान् राग नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् जगत् के पदार्थ में राग नहीं करता और अज्ञानी मनुष्य राग से बँध जाते हैं। जैसे स्वप्न में असत्य स्त्री से चेष्टा करते हैं, ऐसा अज्ञानी असत्य जगत् को सत्य जानकर चेष्टा करते हैं, बुद्धिमान् सत्य मानकर नहीं करते। जैसे जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे मन के मोह से जगत् भासता है और भयदायक होता है, सर्व जगत् भावना मात्र है, जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिंब चंचल भासता है, उसके ग्रहण की इच्छा अज्ञानी करते हैं, ज्ञानवान् नहीं करते। हे रामजी! यह परम गुण समूह तुझको उपदेश किया है, उसकी भावना करके तू सुखी होगा और जो मूर्ख इन वचनों को त्यागकर दृश्य की ओर सुखरूप जानकर लगते हैं, वे पुरुष ऐसे हैं जैसे कोई शीत से दुःखी हो और प्रत्यक्ष अग्नि को छोड़कर जल में पड़े, अग्नि के प्रतिबिंब का आश्रय करे तथा उससे शीत निवृत्ति चाहे, वह मूढ है, इसी प्रकार जो लोग आत्मविचार को त्यागकर संसार के पदार्थों की सुख के लिये इच्छा करते हैं, वे मूढ हैं, सब जगत् असत्यरूप है, मन के मनन से रचा गया है, जैसे स्वप्न में चित्त से नगर भासता है और स्वप्न में नगर जलता भासे तो पुरुष कदाचित् नहीं जलता, ऐसे जगत् का नाश होने से आत्मनाश नहीं होता। आत्मा उत्पन्न होने बढ़ने घटने और नाश होने से रहित है, जैसे बालक अपनी क्रीडा के लिये हाथी, घोड़ा नगर आदि रच लेता है और समेट भी लेता है, तब वह उत्पन्न होकर नाश होने में ज्यों का त्यों रहता है, ऐसे बाजीगर बाजी पसारता है फिर लय कर लेता है, परन्तु उत्पत्ति और लय में ज्यों का त्यों है, ऐसे आत्मा में जगत् की उत्पत्ति तथा लय में ज्यों की त्यों है, उसका कुछ कदाचित् नाश नहीं होता, इसलिये जगत् में हर्ष शोक करना उचित नहीं, यदि सब जगत् ब्रह्मरूप है तब सुख दुःख कहाँ है? ब्रह्मसत्ता में कुछ द्वैत जगत् बना नहीं, सब प्रत्यक्ष जो अनन्वय होता है तो भी असत्यरूप है, उस असत्यरूप संसार में ज्ञानवान् को कोई पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं, यह जगत् ब्रह्मतत्व है, इतर कुछ नहीं, जो वस्तु आदि में अन्त में असत्य है उसको मध्य में भी असत्य जानिये, उसके पीछे जो शेष रहता है, वह सत्यरूप है,

जिससे असत्य भी सिद्ध होता है, जो मोह से आच्छादित बाल बुद्धि है, वे जगत् के पदार्थों की इच्छा करते हैं, बुद्धिमान् नहीं करते, बालक को जगत् विस्ताररूप भासता है, उससे अपना प्रयोजन प्राप्त करने की इच्छा होती है, परिणाम में सुख दुःख भोगने पड़ते हैं, तुम बालक मत बनो। जगत् अनित्य है, उसकी आस्था त्यागकर सत्यात्मा में स्थित हो जाओ और यदि अपने समेत सम्पूर्ण जगत् को असत्रूप जाने तो भी कुछ विषाद नहीं, यदि अपने समेत सब जगत् सत्य जाने तो भी इस दृष्टि से हर्ष शोक नहीं, यह दोनों निश्चय सुखदायक हैं। आप सहित सब असत्यरूप जानेगा तो दुःख नहीं। वाल्मीकि मुनि बोले– जब इस प्रकार वसिष्ठजी ने कहा तब सूर्य भगवान् अस्त हुए, सब सभासद नमस्कार करके अपने अपने स्थान पर चले गये। प्रातःकाल सूर्य किरणों के साथ ही निज निज आसन पर विराजमान हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे यथार्थोपदेशयोगानाम्
पञ्चचत्वारिंशत्तमः सर्गः ।।४५।।

षट्चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४६

यथाभूतार्थबोधयोगवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यदि धन स्त्री आदि नष्ट हो जावें तो इन्द्रजाल की बाजी के समान देखिये अर्थात् जो वस्तुएँ स्वभाव से ही नाशवान् हैं, कुछ समय के लिये दृष्टिगोचर रहने वाली हैं, उनके नाश से भी शोक का असर नहीं होता। क्षण भर दृष्टि में आकर नाश होने वाली वस्तुओं के नाश होने पर क्या शोक है, गन्धर्व नगर यदि रत्नों और मणियों से भूषित किया हो, अथवा दुःख से दूषित किया गया हो, हर्ष शोक का स्थान कहाँ हो सकता है, ऐसे अविद्या से रचे हुए स्त्री पुत्र धनादिक हैं, इनके सुख दुःख का क्रम कहाँ है, यदि पुत्र धनादिक बढ़े तो भी हर्ष करना व्यर्थ है, जैसे मृगतृष्णा का जल बढा हो तो भी अर्थ सिद्ध

नहीं करता, ऐसे धनदारा आदिक बढें तो हर्ष कहाँ है, शोक ही के कारण बने रहते हैं, वह कौन पुरुष है जो मोहमाया के बढ़नेपर शान्तिमान् होता हैं, वह दुःखदायक है, जो मूढ है वे भोग को देखकर भी हर्षवान् होते हैं, अधिक से अधिक चाहते हैं और बुद्धिमान् को उन भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है, जिनको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ और भोगों को भी नाशवान् नहीं जाना, उनकी भोगतृष्णा बढ़ती है, जो बुद्धिमान् हैं, वे भोगों को स्थिर नहीं मानते, दुःखरूप जानकर उनकी इच्छा नहीं करते, इसलिये हे राघव! ज्ञानवान् के समान व्यवहार में विचरो, जो नष्ट हो तो हो, जो प्राप्त हो वह हो, उनमें हर्ष शोक न करो। यथा शास्त्र हर्ष शोक से रहित होकर यथा प्राप्त भोगो, जो न प्राप्त हो उसकी इच्छा मत करो। यह पुंका लक्षण है, हे रामजी! यह संसार दुःखरूप भोग से आया है, इसमें मोह को नहीं प्राप्त होना चाहिये, जैसे ज्ञानवान् विचरते हैं, ऐसे विचरना चाहिये, मूढवत् नहीं। यह संसार मायारचित है, जो इसको ज्यों का त्यों नहीं देखते, वे कुबुद्धि नष्ट होते हैं, जिसको जिस संसार के पदार्थ की इच्छा होती है बंधन का कारण है, उसमें डूब जाता है, जो बुद्धिमान् हैं वे जगत् के पदार्थों में प्रीति नहीं करते, जिस निश्चय से जगत् को असत्यरूप जाना है वह किसी पदार्थ में बद्ध नहीं होता, अविद्यारूप पदार्थ उसको खेद नहीं देते, जिसकी बुद्धि में यह निश्चय हुआ कि सब मैं ही हूँ। ऐसा जानकर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, हे राम! जो शुद्ध तत्व जगत् के मध्यभाव है, उसका अन्तःकरण से आश्रय करो और अन्तर बाहिर जगत् दृश्य पदार्थ हैं, उनको मत ग्रहण करो, इनकी आस्था त्यागकर परमपद को प्राप्त हो जाओ। अति विस्तृत स्वच्छरूप आत्मा में स्थित हो जाओ, सब कार्य रागद्वेष से रहित होकर करो, जैसे आकाश सब पदार्थों में व्यापक भी निर्लेप है, ऐसे सब कार्य करते हुए निर्लेप रहो, रागद्वेष रहित रहो, जिस मनुष्य को किसी वस्तु की न इच्छा है न अनिच्छा है, कर्म में स्वाभाविक स्थित है, उसको कर्म का स्पर्श नहीं होता, कमलवत् सदा निर्लेप रहता है, देखना सुनना

आदिक इन्द्रियों से व्यवहार होता है, इसलिये तुम इन्द्रियों से व्यवहार करो अथवा न करो, परन्तु इनमें निरिच्छित रहो, अभिमान से रहित होकर आत्मतत्व में स्थित हो, यह मैं हूँ यह मेरा है इस मिश्रण कल्पना से रहित हो जाओ, इन्द्रियार्थ का साररूप जो अभिमान है वह जब हृदय में न फुरेगा तब तुम योग्य पद को प्राप्त हो जाओगे, राग द्वेष से रहित हुए संसार समुद्र को तर जाओगे, जब इन्द्रियों के रागद्वेष से रहित हुए संसार समुद्र को तर जाओगे, जब इन्द्रियों के राग द्वेष रहित हो तब मुक्ति की इच्छा न करे तो भी मुक्त रूप है, हे रामजी! इस देह से अपने आपको व्यतिरिक्त न कर उस परमोत्तम आत्मपद में स्थित हो, तब तुम्हारा परम यश होगा, जैसे पुष्प सुगन्धि से प्रकट होता है, यह संसार समुद्र है, इसमें वासनारूप जल है, जो आत्मवेत्ता बुद्धि रूप नाव पर चढ़ता है, पार हो जाता है, अन्यजन जो कि नहीं चढ़े, डूब जाते हैं यह बोध मैंने तुझे क्षुरधारा के समान अति तीक्ष्ण अर्थात् जिस पर चलना अति कठिन होता है वीरों का काम है, इस तीक्ष्ण बोध से अविद्या कट जाती है, इसको विचार कर आत्मतत्व में स्थित होना चाहिये, जैसे तत्त्ववेता आत्मतत्व को जानकर व्यवहार में विचरते हैं ऐसे तुम भी विचरो, अज्ञानी की नाईं नहीं विचरना, जैसे जीवन्मुक्त पुरुष का आचार होता है ऐसे नित्य तृप्त बनो, भोगों में दीन नहीं होना मूढ के आचारवत् आचार अंगीकार न करना, जो परमात्मवेत्ता पुरुष हैं, वे न कुछ ग्रहण करते हैं, न त्याग करते हैं, न किसी की वांछा करते हैं, जैसा व्यवहार प्रारब्ध वेग से प्राप्त होता है, उसी में विचरते हैं, राग द्वेष किसी में नहीं करते, बड़ा ऐश्वर्य हो बहुत गुण हों, लक्ष्मी आदिक विभूति बहुत बड़ी हो, तो भी ज्ञानवान् अज्ञानी के समान अभिमान करते, और महाशून्य वन में खेदवान् नहीं होते, देवता का सुन्दर वन विद्यमान हो उससे प्रसन्न नहीं होते, न किसी की इच्छा है, न त्याग है जैसी अवस्था आकर प्राप्त हो, राग द्वेष रहित होकर उसमें विचरते हैं, अब तुम भी विवेकशील होकर बोध के बल से इसमें स्थित हो जाओ और किसी पदार्थ की ओर

दृष्टि नहीं, निर्वैर निर्मल दृष्टि लेकर विचरो, जैसे सूर्य समभाव में लीन हो जाता है, ऐसे ज्ञानवान् अभिमान से रहित होकर देहरूप पृथ्वी पर विचरते हैं, समभाव से स्थित होकर संसार की इच्छा दूर से त्यागकर यथा व्यवहार और परम शान्तरूप रहना चाहिये। वाल्मीकि मुनि बोले– जब इस प्रकार निर्मल वाणी से वसिष्ठजी ने कहा तब निर्मल चित्त रामजी का हृदय अमृत से पूर्ण और परम शीतल होता है। ऐसे रामजी शान्ति से पूर्ण हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे यथाभूतार्थबोधयोगो नाम षट् चत्वारिंशत्तमः सर्गः ।।४६।।

सप्त चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४७

जगत् सत्यासत्य निर्णयः ।

रामजी बोले– हे भगवन्– सब धर्म वेद वेदान्त के पारज्ञ! आपके परमपवित्र वचन सुनकर मैं स्वरूपस्थ हुआ हूँ, आपके विरक्तिपूर्ण परमउदार, यथोचित, अतिमधुर, वचनामृत का पान करने से तृप्ति नहीं होती, हे भगवन्! आप राजससात्त्विक जगत् कहने लगे थे, वह कुछ संक्षेप से कहा था, उनमें अवकाश पाकर आपने ब्रह्माजी की उत्पत्ति कही, उससे मुझे यही संदेह हुआ वह मेरे अन्तःकरण में बढ़ता ही गया, कि कहीं ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमल से कही है कहीं आकाश से, कहीं अण्ड से और कहीं जल से कही है, शास्त्र द्वारा ऐसा विचित्ररूप से वर्णन क्यों है, आप सब संशयों के नाश करने वाले हैं, कृपाकरके मुझे इसका उत्तर दें। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! कई लक्ष ब्रह्मा हुए हैं, अनेकों विष्णु और अनेकों रुद्र होते हैं, अब भी अनेकों ब्रह्मांडो में अनेक प्रकार के व्यवहार संयुक्त होते हैं, कई तुल्य होते हैं, कई बड़े छोटे होते हैं, स्वप्न जगत् की नाईं उत्पन्न होते हैं। उनमें तुमने एक ब्रह्मा की उत्पत्ति पूछी है,

उसे सुनो, यह भी अनेक प्रकार के होते हैं, कभी सृष्टि सदाशिव से उत्पन्न होती है, कभी ब्रह्मा से, कभी विष्णु से, कभी मुनीश्वर रच लेते हैं, कभी ब्रह्मा कमल से उत्पन्न होता है कभी जल से, कभी पवन से, कभी अण्ड से उत्पन्न होता है, कभी किसी ब्रह्माण्ड में इन्द्र त्रिनेत्र होता है, कभी पुण्डरीकाक्ष विष्णु होता है, कभी सदाशिव होता है। सृष्टि से पर्वत उत्पन्न होते हैं, उनसे पृथ्वी नीरन्ध्र हो रही है, कभी मनुष्य पूर्ण कभी वृक्षपूर्ण होती है, अनेक प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति होती है। किसी ब्रह्मा में मृत्यु का भय होता है, कभी पाषाणमय होती है, कभी मांसमय होती है, कभी स्वर्णमय होती है, कहीं ऐसी सृष्टि है कि चतुर्दश लोक हैं, किसी सृष्टि में कई लोक हुए हैं। किसी सृष्टि में ब्रह्मा नहीं हुए हैं, इसी प्रकार अनेक सृष्टियाँ चिदाकाश ब्रह्मतत्त्व से फुरी हैं, और फिर लय हुई है, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर लय हो जाते हैं, ऐसे आत्मा में अनेक सृष्टियाँ उत्पन्न होकर लय हो जाती हैं, जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदी भासती है, जैसे पुष्प में सुगंध होती है, ऐसे परमात्मा में जगत् है जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु भासते हैं, उनकी संख्या कही नहीं जाती, उनकी संख्या कोई करे भी परन्तु करे भी परन्तु ब्रह्मतत्व से जिन सृष्टियों का स्फुरण होता है उनकी संख्या कोई नहीं कर सकता। जैसे वर्षाऋतु में ईख के खेत में मच्छर होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, ऐसे आत्मा में सृष्टि उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है वह काल जाना नहीं जाता, जिस काल में सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, आत्मतत्व में नित्य ही सृष्टि का उत्पन्न होना और लय होना निरन्तर होते रहनेवाला काम है। जैसे समुद्र से निरन्तर तरंग फुरते रहते हैं, जैसे उनका कोई आदि अन्त नहीं जाना जाता, ऐसे ही आत्मासे उत्पन्न होनेवाली सृष्टि का आदि अन्त भी नहीं जाना जा सकता। देवता दैत्य, मनुष्य, आदि कई उपजकर लय हुए हैं, कई आगे होंगे, जैसे यह ब्रह्मांड ब्रह्मा से रचा गया है, ऐसे अनेक ब्रह्मांड हो गये हैं, जैसे अनेक घटिका एक वर्ष में व्यतीत होती है, ऐसे बीते हैं जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, ऐसे ब्रह्मतत्व में

असंख्य जगत् होते है, कई सृष्टियाँ हो चुकी हैं, कई हुई हैं, कई होंगी, जैसे मृत्तिका में घट होता है, जैसे वृक्ष में पत्र होते हैं, और मिट जाते हैं, जैसे जब तक समुद्र है, उसमें जल है, तब तक ऊर्मि तरंग आवर्त, निवृत नहीं होते कई उत्पन्न होते हैं, कई लय होते हैं, ऐसे ब्रह्म चिदाकाश है, जब तक अपने स्वरूप का प्रमाद है,तब तक त्रलोयक्य जगत् उत्पन्न होकर लय होते हैं, आत्मसाक्षात्कार होने पर कोई विकार न भासेगा जब तक आत्मसृष्टि से नहीं देखा तब तक आभास गति में उपजते हैं और मिटते हैं, न सत्य कहे जाते हैं, न असत्य कहे जाते हैं, वास्तव में ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं, समुद्र में तरंग की नाईं अभेद है, भिन्न होकर जो भासते हैं अविद्या से भासते हैं, विचार करने से निवृत हो जाते हैं, चर अचर रूप जगत् नाना प्रकार की चेष्टा संयुक्त अनन्त सर्वेश्वर आत्मा में फुरते हैं वह भिन्न नहीं, जैसे शाखा फल फूल वृक्ष से भिन्न नहीं, भिन्न भासते हैं, तो भी अभिन्न हैं, ऐसे आत्मा से जगत् भिन्न भासते हैं तो भी भिन्न नहीं, आत्मरूप हैं, हे रामजी! मैंने जो तुम्हें चतुर्दश भुवन संयुम्त सृष्टियाँ कहीं हैं, कोई अल्प कनिष्ठरूप हैं कई बड़ी हैं, वे सब परमात्मा आकाश में उपजते हैं और वही रूप है, कभी पहिले ब्रह्मतत्व मे प्रथम ब्रह्मआकाश उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होकर प्रष्ठिा पाता है, उससे ब्रह्मा उत्पन्न होता है, तब उसका नाम आकाशज होता है, कभी पहिले पवन उत्पन्न होता है उससे ब्रह्मा होता है, वह वायुजनाम होता है, कभी प्रजापति से होता है, कभी पहिले जल उत्पन्न होता है, जल स्थित होने से ब्रह्मा का जलजनाम होता हैं, कभी प्रथम पृथ्वी उत्पन्न होती है वह विस्तृत हुई, उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है, तब पार्थिवज नाम हुआ है, अग्नि से उत्पन्न हुआ, तब अग्निज नाम हुआ है, हे रामजी! यह पञ्चभूतों से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई वह तुम्हें सुनायी गयी है, जब चार तत्व पूर्ण होते हैं पंचम तत्व सबसे बढ़ता है, तब उससे प्रजापति उत्पन्न होकर अपने जगत् को रचता है कभी ब्रह्म तत्व से आप ही फुर आता है, जैसे पुष्प से सुगंधि फुर आती है ऐसे ब्रह्माजी उत्पन्न होकर पुरुष भावना से पुरुष रूप होकर स्थित होते हैं, उनका नाम स्वयंभू होता है, कभी विष्णुदेव की पीठ से

उत्पन्न होता है, कभी नेत्र से उत्पन्न होता है, तब प्रजापति नेत्रज होता है, कभी नाभि से उत्पन्न होता है, तब पद्मज होता है, वास्तव से सब मायामात्र है, स्वप्नवत् मिथ्यारूप ही सत्य भासता है, जैसे मनो राज्य सृष्टि भास आती है, ऐसे यह जगत् है, जैसे नदी में तरंग अभिन्न रूप फुरते हैं, ऐसे आत्मा से अभेद जगत् फुरता है, वास्तव से कुछ है नहीं जब शुद्ध सत्ता का आभास संवेदन फुरता है, तब वही जगत् रूप हो भासती है, जैसे बालक के मनोराज्य में सृष्टि फुरती है, वह वस्तुतः कुछ नहीं, ऐसे यह है, कभी शुद्ध आकाश में मनकला फुरती है, उससे स्वर्ण का अंड उपजता है अंड से ब्रह्मा उत्पन्न होता है, कभी पुरुष विष्णु देव जल में वीर्य डालता है, उससे पद्म उत्पन्न होता है, उसी पद्म से ब्रह्मा प्रकट होता है कभी सूर्य से फुर आता है, इसी प्रकार विचित्र रूप रचना ब्रह्मा पद से उत्पन्न होती है, फिर लय हो जाती है, तुम्हें दिखाने के लिये मैंने अनेक प्रकार की उत्पत्ति कही है, वह सब मन का स्फुरण मात्र है, और कुछ नहीं, हे रामजी तेरे प्रबोध के लिये मैंने सृष्टि का क्रम कहा है और इनका रूप मनोमात्र है, उत्पन्न हो होकर लय हो जाती हैं, कभी दुःख कभी सुख कभी अज्ञान कभी ज्ञान कभी बंध कभी मोक्ष होते हैं, कभी मित्र कभी शत्रु होते हैं फिर मिट जाते हैं, जैसे दीपक का प्रकाश उपजकर नष्ट हो जाता है, ऐसे देह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं काल की ऊनता और विशेषता यही है कि कोई देर तक रहता है कोई शीघ्र नष्ट हो जाता है, परन्तु सब ही विनाशरूप हैं, ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जितने आकार भासते हैं उन्हें काल का भेद त्यागकर देखो कि सब नाशरूप हैं, कभी सत्ययुग कभी त्रेतायुग, कभी द्वापर कभी कलियुग आता है, पुनः पुनः वही आते हैं, और जाते हैं, इसी प्रकार काल का चक्र घूमता है, फिर मन्वन्तर का आरम्भ होता है, काल की परम्परा व्यतीत होती है, जैसे प्रातःकाल से फिर प्रातःकाल होता है, ऐसे जगत् की वही वही गति है, फिर अंधेरा और फिर प्रकाश होता है, ब्रह्मतत्व से स्फुरण रूप होकर फिर लीन होता है, जैसे तप्त लोहे से चिनगारियाँ उड़ती हैं,

वे लोहे में होती हैं, ऐसे यह सब भाव चिदाकाश से उत्पन्न होते हैं, वह चिदाकाश में स्थित हैं, कभी अव्यक्तरूप होते हैं, कभी प्रकट होते हैं, जैसे समुद्र में तरंग और वृक्ष में पत्र होते हैं, ऐसे आत्मा में जगत् है, जैसे नेत्र दोष के कारण आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं, ऐसे चित्त के फुरने से आत्मा में जगत् भासता है, उसी में स्थित और उसी में लय होते हैं, जैसे चन्द्रमा की किरणें उत्पन्न स्थित होकर लय होती है, ऐसे आत्मा में जगत् है वह स्वरूप से कभी आरम्भ नहीं हुआ, मन के फुरने से भासता है, हे रामजी! आत्मा सर्व शक्ति है जो शक्ति उससे फुरती है, वह उसी का रूप हो भासता है, जगत् सब असत्य रूप है, जिसके चित्त में महाप्रलय की नाईं असत्य का निश्चय है, वह पुरुष फिर संसारी नहीं होता, स्वरूपस्थ रहता है, ऐसे महामति ज्ञानवान् की दृष्टि में सर्व ब्रह्म का निश्चय होता है, हमको यही निश्चय है कि संसार नहीं, ब्रह्मतत्व ही सबके रूप में विद्यमान है और अज्ञानी की दृष्टि में जगत् निरन्तर सत्यरूप है, संसार उसकी दृष्टि में विद्यमान है, वह पुनः पुनः हो होकर नाश को प्राप्त होता है और स्वरूप से उत्पन्न होने और विनाश होने से भी नहीं नष्ट होता। परन्तु अज्ञानी जगत् को असत्य नही जानते सदा स्थित जानते हैं, सब पदार्थ जगत् के नाशरूप हैं, परन्तु दृश्य से जगत् असत्य नहीं भासता, जिस पदार्थ की सत्यता दृढ हो गयी है, वह नाशरूप है, रहना किसी का संभव नहीं है, कोई कोई पदार्थ सत्य भासता है, कोई असत्य भासता हैं, इस जगत् में ऐसा कौन पदार्थ है, जो कलना रूप करने से विस्ताररूप ब्रह्म में न बनें, यह जगत् महाप्रलय में नष्ट हो जाता है फिर उत्पन्न होता है, पुनः जन्म और पुनः मृत्यु होती है, सुख दुःख, दिशा, आकाश, मेघ, पृथ्वी, पर्वत सब पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं। जैसे सूर्य की प्रभा उदय अस्त को प्राप्त होती है, ऐसे सृष्टि उदय अस्त होती भासती है, पुनः देवता, पुनः दैत्य और लोकान्तर क्रम होते हैं, स्वर्ग, मोक्ष, इन्द्र, चन्द्रमा, नारायण, देव, पर्व, सूर्य वरुण, अग्नि, आदिक लोकपाल पुनः पुनः प्रकट होते हैं, सुमेरु आदिक स्थान फुरते हैं, तमोरूप

हस्ती को नाश करने के लिये सूर्यरूप सिंह प्रगट होते हैं, स्वर्ग इन्द्र अप्सरागण पूर्ववत् उत्पन्न होते हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, क्रिया कर्म, अशुभरूप हो आते हैं, यज्ञ दान होम आदिक सब क्रिया संयुक्तजीव संसारी होते हैं, शुभकर्म करने वाले स्वर्ग में विचरते हैं, सुख भोगते हैं पुण्य के क्षीण होने से उनको गिरा दिया जाता है, वे मृत्युलोक में आते हैं, इस प्रकार कर्म करते हैं, पैदा होते और मरते हैं, स्वर्गरूप कमल है, उसमें इन्द्ररूप भँवरा है, उस स्वर्ग की सुगंधि लेकर वह इन्द्र चलता रहता है, और इन्द्ररूप भँवरा स्वर्ग कमल की सुगंधि को ले आता है, जितना पुण्यकर्म किया होता है, उतना समय सुख भोग देकर वह पुण्य समाप्त हो जाता है, जैसे कुलाल चक्र से पात्र बनता है, ऐसे चित्कला स्फुरण से जगत् के अनेक पदार्थ उत्पन्न करती है, सुन्दर स्थान जीवों के सहित रचे जाते हैं फिर नष्ट हो जाते हैं, असत्यमात्र यह जगत् जीवन से रहित शून्य शमशान बन जाता है, भयंकर मेघ प्रचंड वृष्टि करते हैं, उसमें जीव बुद्बुदरूप प्रतीत होते हैं, द्वादश सूर्य इकट्ठे होकर तपते हैं, शेष भगवान् के मुख से अग्नि निकलती है, उससे सब जगत् दग्ध होता है फिर अग्नि ज्वालाएँ शान्त हो जाती है, एक शून्य आकाश ही शेष रहता है, रात्रि हो जाती है, जब रात्रि का भोग समाप्त होता है तब फिर जीव जीर्ण देह से संयुक्त मनोरूप से ब्रह्मा रच लेता है, इस प्रकार मन शून्य आकाश में जगत् रचना करता है, जैसे गंधर्व शून्य स्थान में माया से नगर रच लेता है, ऐसे ही मन जगत् को रच लेता है, पुनः प्रलय हो जाती है, इस प्रकार जगत्समूह उत्पन्न होकर महाप्रलय में नष्ट होते हैं, प्रलयान्तर जब फिर ब्रह्मा का दिन होता है तो फिर वही विरंचि जगत् रचना कर लेते हैं, फिर महा प्रलय में ब्रह्मादिक सब अन्तर्धान हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रलय और महाप्रलय के रूप में असंख्य जगत् समूह समाप्त होते हैं, बहुत लम्बा मायारूप कालचक्र पड़ा घूम रहा है, उसमें मैं तुम्हें सत्य क्या कहूं, असत्य क्या कहूं, सारा जगत् दाशूर के आख्यानवत् भ्रांतिरूप है, कल्पनामात्र चित्र है, वास्तव में शून्य है अर्थात् आकाशरूप

है, यद्यपि बड़े आरम्भ सहित विस्तृत भासता है तो भी असत्यरूप है, जैसे भ्रम से दूसरा चन्द्रमा भासता (प्रतीत होता) है, ऐसे ही यह जगत् मूढ के हृदय में सत्य भासता है, तुम्हें मूढ न होना चाहिये, ज्ञानी के समान विचारवान् होकर जगत् को असत्य जानना।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे जगत् सत्यासत्य निर्णयो
नाम सप्त सप्तचत्वारिंशत्तमः सर्गः ।।४७।।

अष्ट चत्वारिंशत्तमः सर्गः ४८

दाशूरोपाख्याने वनोपरुदनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जिनके चित्त में भोगैश्वर्य की खींच है वे लोग नाना प्रकार के क्रियारंभ करते हैं, तदनुसार उन्हें सात्विक राजस तामस कर्म करने पड़ते हैं, मूढ़ आत्मावाले लोग कदापि शान्त चित्त नहीं हो सकते, वे आत्मदर्शी तभी होंगे जब भोग की तृष्णा न रहेगी, जिन पुरुषों को इन्द्रिय वश नहीं कर सकते वे लोग आत्मा को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं, जिन पुरुषों ने विचार द्वारा अहंतारूप मलिन शरीर का त्याग किया है, उनका शरीर जगत्‌रूप हो जाता है, जैसे सर्प कंचुकी को त्यागता है और नूतन पाता है ऐसे मिथ्या शरीर को छोड़कर आत्मविचार से आत्मशरीर को पाते हैं, ऐसे जो निरहंकार आत्मदर्शी पुरुष हैं वे जगत् के पदार्थों में आसक्त प्रतीत होते हैं, तो भी जन्म मरण को नहीं पाते, जैसे अग्नि दग्ध बीज क्षेत्र में उत्पन्न नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् पुनर्जन्म नहीं पाता, और जो अज्ञानी भोगों में आसक्त बुद्धि हैं वे मन और शरीर के दुःखसे दुखी होते हैं, बार–बार जन्ममरण को प्राप्त करते हैं जैसे दिन होता है पुनः रात्रि होती है, ऐसे ही उनके जन्म मरण होते हैं, इसलिये तुम अज्ञानी जैसे मत बनो, व्यवहार चेष्टा जैसे अज्ञानी की होती है वैसी करो परन्तु अन्दर से भोगों में आसक्ति न

रक्खों, आत्मपरायण रहो, रामजी बोले– हे भगवन्! तुमने जो कहा कि संसारचक्र दाशूर के आख्यानवत् है, कल्पित है, उसका आकर वास्तव में शून्य है, यह तुमने क्या कहा, इसको भली प्रकार व्यक्त करो, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! वर्णन के लिये मैंने तुमसे जगत् माया रूप कहा है, और दाशूर के प्रसंग से कुछ प्रयोजन न था, परन्तु तुमने पूछा है तो अब सुनो। हे रामजी! इस सृष्टि में मगध नामका एक देश है, वह विचित्र वृक्षों और फलों से पूर्ण है, उसमें बड़े बड़े कदम्ब, ताल, निरंध्र, आदि वनस्पति और कमलों के समान पुष्पों से पूर्ण बागीचे हैं, अति सुन्दर देश है, वहां एक पर्वत के तट पर निरन्ध्र रूप केलिका खण्ड है, और अनेक वृक्ष जो फूलों फलों से पूर्ण जीव के जीवनरूप हैं, जहां कोकिला आदि पक्षी मधुर शब्द करते हैं, वहां नगंर में एक महा तपस्वी महात्मा थे; दाशूर उनका नाम था, महा तप से युक्त वह महात्मा कदंब वृक्ष पर बैठकर तप करते थे, वे बुद्धिमत्ता और विरक्ति में बेजोड़ थे, रामजी बोले। हे भगवन्! वह तपस्वी वन में किसलिये आया था, और कदम्ब वृक्ष पर किस लिये बैठा था, इसका कारण कहिये, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! शरलोमा नामक ऋषि उसके पिता थे वे मानों दूसरे ब्रह्मा थे, वे उस पर्वत पर रहते थे, उनके दाशूर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जैसे बृहस्पति के घर में कच हुआ था, इस प्रकार शरलोमा ने पुत्र संयुक्त होकर वन में चिरकाल व्यतीत किया, वहां जगत् के क्षीण भोग से देह का त्याग किया और स्वर्ग को चले गये, जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाश में उडता है, उस वन में दाशून् अकेले हो गये, पिता के वियोग से वे रोते थे, जैसे कुंज वियोग से कुम्हलाते हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल की शोभा नष्ट हो जाती है, ऐसे ही दीन हो गया, तब वहां जो अदृष्ट शरीर वन देवी थी, उसने दया करके आकाशवाणी की, कि हे ऋषिपुत्र बुद्धिमन्! अज्ञानी के समान क्यों रोते हो, यह संसार सब असद्रूप है, क्या तू इस संसार को नहीं देखता? यह तो नाशरूप महाचंचलरूप है, सर्वदा उत्पन्न होता और विनाश होता रहता है, कोई पदार्थ स्थित नहीं रहता, ब्रह्मा से लेकर

कीट पर्यन्त जितना जगत् तुझको भासता है सब नाशवान् है, इसमें कुछ संदेह नहीं। इसलिये तू पिता के मरने का विलाप मतकर यह बात अवश्य इसी प्रकार है, जो पैदा हुआ है उसका नाश होना आवश्यक है, यहाँ स्थिर कोई नहीं रहता, जैसे सूर्योदय होता है, अस्त होता है, हे रामजी! जब इस प्रकार अशरीर देवी की वाणी दाशूर ने सुनी तब रक्तनेत्र दाशूर को धैर्य बँध गया, जैसे मेघ का शब्द सुनकर मोर प्रसन्न होता है, ऐसे प्रसन्न होकर यथा शास्त्र पिता की सबक्रिया की, उसके बाद सिद्धता की प्राप्ति के लिये तत् पद का उद्यम करने लगा, वह विद्वान् था, ब्राह्मणोचित कर्म तप वेदाध्ययन सत्संग आदि सब किसी की शिक्षा उसे प्राप्त थी, परन्तु हृदय में अभी उसके अज्ञान शेष था, वह ज्ञानवान् नहीं था उसने तप करने का विचार किया कि कोई ऐसा पवित्र स्थान हो जहाँ जाकर तप करूँ, उसको इस प्रकार देखते देखते पृथ्वी में कोई स्थान ऐसा नहीं मिला कि जहाँ उसके चित्त को विश्रान्ति हो, उसको सारी पृथ्वी अशुद्ध ही दृष्टि आई, कहीं कोई विघ्न भासता था कहीं कोई, इसलिये उसने विचार किया कि और स्थान तो अशुद्ध हैं, परन्तु वृक्ष की शाखा पर बैठकर तप करूँ। ऐसा कोई उपाय हो कि मैं वृक्ष की शाखा के अग्र भाग में स्थिति पाऊँ, इस प्रकार चिंतन करके उसने अग्नि प्रज्वलित की, और अपने मुख का मांस काटकर होम करने लगा, तब सब देवताओं के मुख अग्निदेव ने विचार किया कि ब्राह्मण का मांस मेरे मुख में न आवे, तब अरुचि जैसा देह धारण कर ब्रह्म के निकट आया और जैसे ब्रह्मा को सूर्य कहे, इस प्रकार प्रकाशमय शरीर को धारण करके अग्नि ने कहा कि हे ब्राह्मण कुमार! मुझसे वांछित वर मांग लो, जैसे कोई धनवान् अपनी तिजोरी खोलकर मणि निकाल लेता है इसी प्रकार मुझसे वर मांग ले, जब अग्नि ने ऐसा कहा तब दाशूर गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, सुगन्धि आदिसे अग्नि देव का पूजन किया और प्रसन्न होकर कहने लगा, हे भगवन्! प्राणाहुति के पवन शरीर से तप करने के लिये मैंने उद्यम किया है मुझे और कोई शुद्धस्थान नहीं भाया मैं चाहता हूँ कि, इस वृक्ष

की शाखाओं के अग्रभाग में स्थित होने की शक्ति मुझे मिले जिससे कि वहाँ बैठ कर तप करूँ यह वर मुझे दीजिये, मुनिपुत्र के इस प्रकार कहने पर अग्निदेव ने तथास्तु कह दिया(स्वीकार कर लिया) इतना कहकर अग्निदेव सन्ध्याकाल के मेघ की नाईं अन्तर्धान हो गये, वर पाकर ब्राह्मण कुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्यानेऽष्टचत्वारिंशत्तमः सर्गः ।।४८।।

एकोनपंचाशत्तमः सर्गः ४९

दाशूर कदंब वृक्षवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार वर को पाकर दाशूर को कदम्ब वृक्ष के ऊपर चढ़ने की इच्छा हुई, वह कदंब वृक्ष अतिसुन्दर अद्भुत और लम्बा चौड़ा था, दाशूर वृक्ष की ओर देखने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूर कदंबवृक्ष
वर्णनं नामैकोन पंचाशत्तमः सर्गः ।।४९।।

पंचाशत्तमः सर्गः ५०

दाशूर दिगवलोकनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! उस वृक्ष को देखकर बुद्धिमान् दाशूर वृक्ष के टास के अग्रभाग पर जा बैठा, नूतन कमल पत्र ऊपर निकलते देखने लगा, दिशा का कौतुक चंचलरूप देखा, दृश्यरूप मानों चंचल पुतली है, श्याम आकाश उसका शीश है, उस पर श्यामकेश ही प्रकाशरूप है, पाताल उसके चरण हैं, मेघरूप वस्तु है, पुष्पवत् गौर अंग है, ऐसी दृश्यरूप एक स्त्री है, समुद्र कैलास उसके भूषण हैं, प्राणरूप फुरने से जल चलता है, वह मानों उसका झनकार है, वनस्पति मोहरूप

शरीर के रोम हैं, सूर्य चन्द्रमा जिसके कुंडल हैं, पवन प्राणवायु है, दिशायें हस्त हैं, समुद्र आरसी है, सूर्यादिक उष्णता उसके पित्त हैं, चन्द्रमा कफ है, ऐसी त्रिलोकीरूप एक पुतली है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने
दिगवलोकनं नाम पंचाशत्तमः सर्गः ।।५०।।

एक पंचाशत्तमः सर्गः ५१

दाशूरसुतबोधवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! उसके ऊपर स्थित होकर वह तप करने लगा, वहाँ उसका नाम कदंवदाशूर हुआ, एक क्षण भर एक दिशा को देखकर वहाँ से उसने वृत्ति खींच ली, पद्मासन बाँधकर मन को एकाग्र किया, वह दाशूर परमार्थपद से अज्ञात (अपरिचित) था, फलाशक्ति से कर्मान्तर में संलग्न हुआ, उसके मन में कामना थी, और वृक्ष का जो पत्र आकाश में दूर पहुँचा था उस पर स्थित हुआ, और उसने मन से यज्ञ का आरम्भ किया, जितनी कुछ सामग्री अथवा उसकी विधि थी सब यथाशास्त्र मन से सम्पादन की, दश वर्ष मन में व्यतीत किये, सब देवताओं का पूजन किया, गोमेध, अश्वमेध, नरमेध, सब विधिपूर्वक मन से पूर्ण किये, ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी, इस प्रकार से समय पाकर उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ, वह विशाल तथा निर्मल चित्त में वह स्थित हुआ, फिर क्या था–बलात्कार से ज्ञान उसके हृदय में प्रकाशित हुआ, आत्मा के आगे जो मलिन वासनाओं का आवरण था नष्ट हो गया। जैसे शरत्काल में तडाग निर्मल होता है, ऐसे उस मुनीश्वर का चित्त निःसंकल्प हुआ, तब वहां उसी वृक्ष के शाखाग्रभाग पर, उस मुनीश्वर को एक देवी ने दर्शन दिये, उसके विशाल नेत्र कुन्दकलिकासी दन्त पंक्ति, कामदेव के समान कनक कान्ति सुन्दर शरीर उस मनोहारिणी

लावण्यदेवी को देखकर बोला—हे सुन्दरि! कमल नयनि! तू कौन है, जिसकी इतनी अलौकिक शोभा है, यहाँ इस वृक्ष की पुष्पित शाखा पर किस निमित्त से आकर स्थित हुई। मुनीश्वर के वचन सुनकर काम के मन को भी मोहित करने वाली उस कोकिल कण्ठवाली गौरी ने कहा— हे मुनीश्वर! जो पदार्थ संसार में बड़े कष्ट से प्राप्त होता है वह महापुरुषों की कृपा से अत्यन्त सुगमता से मिल सकता है, हम इस वन के देवता हैं, लीलाएँ करते फिरते हैं। परन्तु यहां मैं जिस निमित्त को लेकर आई हूँ उसे सुनिये—हे मुनीश्वर! गत चैत्र शुद्ध त्रयोदशी के दिन इन्द्र के नन्दनवन में उत्सव हुआ था, तब सब वन देवियाँ एकत्रित हुई थी, वहाँ सब देवियाँ पुत्रों समेत पुष्पोयान में विलास क्रीड़ा कर रही थीं मैं पुत्र रहित थी इससे मेरे मन पर बड़ा आघाता पहुँचा, इस दुःख निवृत्ति के लिये मैं तुम्हारे पास आयी हूँ, तुम मनोरथ के सिद्ध करने वाले हो,बड़े वृक्ष पर तुम स्थित हो, मैं अनाथ, पुत्र की इच्छा से तुम्हारे पास आयी हूँ, इसलिये मुझे पुत्र दो, न दोगे तो मैं अग्नि प्रज्वलित करके जल मरूँगी। इस प्रकार पुत्र का दुःख दग्ध होने से दूर करूँगी, हे रामजी! जब इस प्रकार वनदेवी ने कहा तब मुनीश्वर ने हँसकर कहा और दया करके उसके हाथ में पुष्प दिंया, हे सुन्दरि! तू जा तुझे एक मास के बाद पूजनीय महासुन्दर पुत्र होगा, परन्तु तुमने जो कहा था कि न दोगे तो मैं जल मरूँगी, इससे अज्ञानी पुत्र होगा, उसको ज्ञान प्राप्त होगा परन्तु यत्न से। यह सुनकर प्रसन्न हो कर बोली, मुनिवर! मैं यहाँ रहकर आपकी सेवा करूँगी, मुनीश्वर ने इसका त्याग किया, और कहा हे सुन्दरि! तुम अपने ठिकाने पर जाकर रहो, तब वह चली गयी समय पाकर उसके पुत्र पैदा हुआ, जब दस वर्ष का बालक हुआ तब मुनि के पास ले आई, और प्रणाम करके पुत्र को मुनीश्वर के आगे खड़ाकर कहने लगी, हे भगवन्! यह कल्याण मूर्ति बालक है, आपका और मेरा पुत्र है, इसको मैंने समस्त विद्याएँ सिखायी हैं, और परिपक्व किया है, यह सर्वज्ञ है, परन्तु केवल एक वस्तु की इसमें कमी है कि ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ,

इसलिये जैसे कैसे यह संसार में बहुत दुःख न पाये इसे कृपा करके ज्ञानोपदेश कीजिये, हे प्रभो! कौन कुलीन पुरुष अपने पुत्र को मूढ देख सकता है, देवी के इतना कहने पर मुनिवर ने कहा तुम इसे यहाँ छोड़ जाओ। तब वह पुत्र को उनके पास रखकर स्वयं चली गयी बालक पिता के पास रहा और बड़े यत्न से उसे ज्ञान की प्राप्ति हुई, नाना प्रकार के आख्यान इतिहास और दृष्टान्त सुना सुनाकर उसे ब्रह्म विद्या पढ़ाई, वेदान्त सिद्धान्तों को समझाने में बडी युक्तियों और अनुभव से काम लिया गया, कई कथाएँ बडे विस्तार के साथ सुनानी पडीं कि बात मन में बैठ जाय, श्रृंगारादिक जो अष्ट कर्म हैं उनसे रहित परमार्थतत्व का उपदेश किया, उस महात्मा पुरुष ने बड़े विचित्र ढ़ंग से बालक का अज्ञानान्धकार दूर करके उसको आत्मसाक्षात्कार कराया। वह बालक ज्ञान सम्पन्न होने से साक्षात् शुकदेव महाराजसा तेजस्वी प्रतीत होने लगा। जैसे मेघ के शब्द से मोर प्रसन्न होता है इसी प्रकार उनकी ब्रह्मज्ञानमयी वाणी सुनकर वह लड़का कृतकृत्य होकर के प्रसन्नता से नाचने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूरसुतबोधनं नामैक पञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५१।।

द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ५२

खोत्थवैभववर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! तब मैं भी अदृश्य शरीर से कैलास वाहिनी गंगाजी के स्नान को चला जाता था, आकाश बीथी में सप्तर्षि मंडल से चलकर वहाँ आया जिस वृक्ष पर वह बैठे थे, तब कुछ आवाज सुनायी दी, उन घने वृक्षों के विरल छिद्रों से निकले हुए उस शब्द की अर्थावगति यथावत् नहीं हो रही थी, क्योंकि वह शब्द स्पष्ट नहीं सुना जा रहा था, ऐसा था जैसे मूंदे कमल में बंद हुआ भ्रमर भुनभुना रहा हो, परन्तु कुछ ही क्षणों के बाद यह सुन पड़ा कि हे प्रतिभाशालिन पुत्र!

सुनो मैं तुम्हें वस्तु के निरूपण के लिये एक आश्चार्याख्यान कहता हूँ। एक महापराक्रमी राजा जिसका जगत् प्रसिद्ध खोत्थ नाम था, बड़ा लक्ष्मीवान् हुआ है, संसार के रचना क्रम को जानने वाले बड़े बड़े मुनि उसको अत्यन्त निपुण होने के कारण अपना शिरोधार्य चूडामणि समझते हैं, वह सैंकड़ों हजारों आश्चर्यवान् काम करता है और उस महात्मा पुरुष को किसी ने त्रिलोकभर वश में नहीं किया है, उसके सहस्रों आरंभ हैं, सुख और दुःख का देनेहारा है, उसके आरंभ की संख्या कुछ कही नहीं जा सकती, जैसे समुद्र के कल्लोल तरंग अनन्त होते हैं, ऐसे उसके आरंभ हैं, उसका वीर्य पराक्रम किसी शस्त्र अस्त्र तथा अग्नि द्वारा काटा या जलाया नहीं जा सकता, जैसे आकाश को मुष्टि प्रहार से नहीं तोड़ा जा सकता, ऐसा ही वह है, उसकी भुजाएँ बड़ी विशाल हैं और लीलाओं से वह आरंभ रचना करता है, उसके आरंभ को दूर करने की किसी में सामर्थ्य नहीं है। इन्द्र, विष्णु सदाशिव भी समर्थ नहीं हे महाबाहो! उत्तम मध्यम और अधम रूप से उसके ३ देह हैं, जो कि दिशाओं को पूर्ण कर रहे हैं, तीन शरीरों से वह जगत् में फैल रहा है और महान् विस्तृत आकाश से उत्पन्न हुआ है और वही शरीर में स्थित हुआ है, जैसे आकाश का पक्षी आकाश में रहता है, जैसे पवन आकाश में है, ऐसे ही उस पुरुष ने उस परमाकाश में बागीचे समेत एक स्थान अपनी क्रीड़ा के लिये रचा है, पर्वत के शिखर पर मुक्ता लताएँ रची हैं, सात वापियाँ बनी हैं, उनसे स्थान की शोभा है, दो दीपक रचे हैं, जो बिना तेल बत्ती के प्रकाश देते हैं, वे शीत और उष्णरूप हैं, कभी नीचे को कभी ऊपर को नगर में घूमते हैं, उसी विशाल नगर में उस राजा ने चलने फिरने वाले देवमानुषादि देहगण रचे हैं, जो कि कुछ ऊपर कुछ मध्यम में और कुछ नीचे नियुक्त किये गये हैं, कई दीर्घकाल पर्यन्त और कई शीघ्र ही नष्ट हो जाया करते हैं, कई वस्त्र से आच्छादित हैं, कई वस्त्रों से रहित हैं, नवद्वार विभूषित हैं, उनमें सदा पवन बहता है, झरोखोंवाले हैं, पांच दीपों से प्रकाश सहित हैं और तीन स्तंभ हैं, उनमें और छोटे स्तंभ हैं, मूल में उनके ऊपर लेपन

किया है, महामाया द्वारा उस राजा ने वह नगर रचा है, उसकी रक्षा के लिये सेना रची गयी है, एक नीति देखने वाले यक्ष हैं, विवरक गण से वह चलते नाना प्रकार की क्रीड़ा करते हैं, उन शरीरों से सब स्थानों में विचरता है। यक्ष हर स्थान में समीप रहता है। लीला से एक स्थान को त्यागकर अन्य स्थान में जाकर चेष्टा करता है, कभी इच्छा होती है तब चंचल चित्त से भविष्यत् पुर को रचकर उसमें स्थित होता है, भय से वेष्टित हुआ वहाँ से उठता है, वेग से गन्धर्व नगर रचता है, जब इच्छा करता है कि मैं उत्पन्न हो जाऊँ तब उत्पन्न होता है, जब इच्छा करता है मैं मर जाऊं तब मर जाता है, जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं, फिर लय हो जाते हैं, इस प्रकार राजा बड़ा व्यवहार करता है, बार बार रचना करके कभी आप ही रोदन करने लगता है कि मैं क्या करूँ? मैं अज्ञानी हूँ, मैं दुःखी हूँ, चित्त से आतुर होता है, ऐसा विचार कर कभी उदय होकर बड़ा स्थूल हो जाता है, जैसे वर्षा काल की नदी बढ़ती है, ऐसे बढ़कर अपने आपको सुखी मानता हैं, विस्तार पाकर चलता फिरता है, बड़े प्रकाश से प्रकाशित होता है, उस महीपति की बड़ी महिमा है, उचितरूप होकर नगर में स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे खोत्थवैभव वर्णनं नाम द्विपंचाशत्तमः सर्गः ।।५२।।

त्रिपंचाशत्तमः सर्गः ५३

संसार विचारवर्णनम् ।

हे रामजी! जब इस प्रकार दाशूर ने कहा तब वृक्ष के अग्रभाग में बैठे हुए पुत्र ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! वह खोत्थ राजा कौन है, किस जगत् में उसकी कीर्ति प्रसिद्ध है और उसने कौन सा नगर रचा है, जो भविष्यत् नगर में रहता है। रहना तो वर्तमान में होता है, भविष्यत् में कैसे रहता है? यह विरुद्धार्थ कैसे बन सकता है। इस वचन से मेरी बुद्धि मोह में पड़ी है, दाशूर ने कहा–हे पुत्र! मैं तुझको यथार्थ कहता हूँ तू

श्रवण कर, जिसके जानने से संसार चक्र को ज्यों का त्यों देखेगा कि इस वस्तु से क्या है, वह संसार आंरभ असत्य उठा है, बड़े विस्तार वाला मालूम पड़ता है, तो भी असत्यरूप है, कुछ हुआ नहीं, जैसे वह संसार स्थित है, ऐसे मैं तुझको कहता हूँ, यह आख्यान मैंने तुझको जगत् निरूपण निमित्त कहा है, हे पुत्र! जो अचैत्य शुद्ध चिन्मात्र चिदाकाश है, उससे जो संकल्प उठाता है, उस संकल्प का नाम खोत्थ है, वह आप ही उत्पन्न होता है और आप ही लीन हो जाता है, सब जगत् उसका रूप है, जो बड़े विस्तार से भासता है, उसके उपज़ने से जगत् उपजता है। नष्ट होने से नष्ट होता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन्द्रादिक सब उसके अवयव हैं, जैसे वृक्ष के अंग टास होते हैं, जैसे पर्वत के अंग शिखर होते हैं, ऐसे उसके अंग हैं। शून्य आकाश में उसने यह जगत् रूप नगर रचा है, प्रतिभास के अनुसन्धान से वही चित्कला विरंचिपद को प्राप्त हुई है और चतुर्दश स्थान जो कहे हैं, वह विस्तार युक्त चौदह लोक हैं व बागीचे उपवनों सहित पर्वत महाचल मन्दराचल सुमेरु आदि क्रीड़ा के स्थान हैं, उष्ण शीत जो जो दीपक तेल बाती बिना कहे हैं, वह सूर्य और चन्द्रमा हैं, जगत् रूप नगर में नीचे और ऊपर प्रकाश करते हैं, सूर्य की किरणों का जो प्रकाश है मानों मोती तरंग करते हैं और इस समुद्र के आगे क्षीर जल आदि जो सात समुद्र हैं, जीव वे वातियाँ रूपी व्यापारी वहाँ (देवताओं से मनुष्य) पुण्य से स्वर्ग पाप से नरक रूप लेने देने का व्यवहार करते हैं, (देवान् भावयतानेन तेदेवा भावयंतुवः इतिगीता) पुण्य से स्वर्ग और पाप से नरक को पाते हैं और जगत् में संकल्प करके जो क्रीड़ा के निमित्त उसने विवरण रचे हैं, वह देह है, कोई देवता होकर ऊर्ध्व स्वर्ग में रहते हैं। कोई मनुष्य होकर मध्य लोक में रहते हैं और दैत्यनाग आदि पाताल में रहते हैं, पवनरूप प्रवाह से समस्त यंत्र चलते फिरते हैं, उनमें अस्थिरूप लकड़ियाँ हैं, रक्त मांस से लेपन किये हैं, कई दीर्घकाल से नष्ट होते हैं। कई शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। सिर पर केश हैं, वे श्याम वस्त्र हैं, कर्ण, नासिका, नेत्र, जिह्वा और मूत्र पुरीष के स्थान लिंग, इन्द्रिय, गुदा, यह नव द्वार हैं, उनसे निरन्तर पवन चलता है, शीत उष्णरूप से प्राण

अपान है, नासिका आदि उसके झरोखे हैं, भुजा रूप गलियाँ हैं, पंचदीपक पंच इन्द्रिय है, हे महाबुद्धिमन्! यह सर्व संकल्परूपी माया से रचे हैं, अहंकार रूप उसमें यक्ष है, महाभय का स्थान यह अहंकार से होता है, देहरूप विवरण है वे अहंकाररूप यज्ञ संयुक्त विचरते हैं, असत्यरूप हैं परन्तु सत्य होकर इसके साथ क्रीडा करते हैं, जैसे पात्र में बिलाड़ बैठे जैसे भस्त्रका में सर्प बैठे, जैसे बांस में मोती हो, ऐसे देह में अहंकार हैं, क्षण में उदय होता है क्षण में शान्त होता है, दीपकवत् देहरूप घर में संकल्प उठता है, जैसे समुद्र में तरंग उठते हैं और भविष्यत् नगर जो कहा है, उसे सुनिये। अपना जो कोई स्वार्थ चिन्तन करता हैं,कि यह कार्य इस प्रकार करूंगा, अमुक दिन उस देश को जाऊँगा, जैसा चिंतन करता है ऐसा भासत्ता है, उसी स्थान को प्राप्त होता है, जब तक दुर्वासना है, तब तक अनेक दुःख होते हैं और यह दुष्टमन अहंकार स्थूल हो जाता है और संकल्प से रहित हुए शीघ्र ही इसका नाश होता है, जब तू संकल्प नाश करेगा, तब शीघ्र ही कल्याण को प्राप्त होगा, अपना संकल्प अपने आपको ही दुःख दायक होता है, जैसे बालक को अपनी परछाईं में वेताल कल्पना होती है और आप ही भय पाता है, ऐसे अपना संकल्प अनन्त दुःखदायक होता है, सुख कोई नहीं पाता। सम्पूर्ण जगद्विस्तार संकल्प से होता है, आत्मा की सत्ता से बढ़ता है, फिर नष्ट हो जाता है, विचार करने से नहीं रहता, जब मन में विचार उत्पन्न होता है तब नष्ट हो जाता है। जैसे सायंकाल में धूप का अभाव हो जाता है, जैसे प्रकाश उदय हुए तम का अभाव हो जाता है, ऐसे विचार करके संकल्प आप ही नष्ट हो जाते हैं, मन आप ही क्रिया करता है और आप ही दुःख पाता है, फिर रोने लगता है, जैसें बानर काष्ठ के यन्त्र की कीली को हिलाकर फँसता है और निकल नहीं सकता, दुःख पाता है, ऐसे अपना संकल्प अपने आपके लिये दुःखदायक होता है, संकल्प से जो कल्पित विषय का आनन्द है वह जब जीव को प्राप्त होता है तब ऊँची ग्रीवा करके प्रसन्न होता है, जैसे अकस्मात् किसी वृक्ष के फल ऊँट के मुख में आ लगे और वह ऊँची

ग्रीवा करके विचारे, ऐसे अज्ञानी जीव विषय की प्राप्ति में ऊँची गर्दन किये हर्षवान् होते हैं, क्षण में जीव को विषय की प्राप्ति उपजती है, विशेष करके इष्ट की प्राप्ति में बढ़ते हैं, जब कोई दुःख होता है तब वह प्रीति की प्रसन्नता से उठ जाती है। क्षण में विकारी होता है क्षण में प्रसन्न हो बैठता है, वस्तु गुण की प्राप्ति में हर्षवान् होता है, शुभ संकल्प से शुभ को देखता है, अशुभ संकल्प से अशुभ को देखता है। शुभ से निर्मल होता है, अशुभ से मलीन होता है, जैसे तेरी इच्छा हो ऐसा कर। खोत्थ के मैंने जो तुझको यह तीन प्रकार के शरीर कहे थे; उत्तम, मध्यम, अधम, सात्विक, राजस, तामस यह तीन गुण तीन देह हैं, यही सबका कारण जगत् में स्थित है, जब तामसी संकल्प के साथ मिलता है, तब नीचरूप पाप चेष्टाकर्म करता है, महा कृपणता को प्राप्त होता है, मृतक होकर कृमि कीट जन्म को पाता है, जब राजसी संकल्प के साथ मिलता है, लोक व्यवहार करता है, स्त्री पुत्रादिक के राग से रंजित होता है, पाप कर्म नहीं करता तब मृतक होकर संसार में मनुष्य शरीर पाता है, जब सात्विकी भाव में स्थित होता है, तब धर्मज्ञान परायण होता है, मोक्षपद की उसको अंतर्भावना होती है, धर्मज्ञान पाकर चक्रवर्ती राजा की नाईं स्थित होता है, जब उन भावों का त्याग करता है, तब संकल्प भाव नष्ट हो जाता है, अक्षय परमपद शेष रहता है, इसलिये संसारदृष्टि को त्यागकर मन से मन को वश करके अंदर बाहिर से जो दृश्य का अर्थ चित्त में स्थित है, उस संस्कार अंकुर को निवृत्त करके शान्तात्मा हो जामें। हे पुत्र! इसके बिना और उपाय नहीं है, यदि तुम सहस्र वर्ष दारुण तप करो। अपने आपको शिला चूर्ण सम पीस डालो, समुद्र में प्रवेश करो, बड़वानल में प्रवेश करो, गर्त में गिरो, खड्ग धार के संमुख युद्ध करो, अथवा सदाशिव तुझको उपदेश करें, ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति दया करके उपदेश करें अथवा पाताल में जाकर स्थित हो जाय, पृथ्वी में स्वर्ग में कहीं भी चला जाये, तो भी दूसरा उपाय संकल्प के उपशम का कोई नहीं होगा, ऐसे जो वह अनादि,

अविनाशी, अविकारी, परमपावन सुख है, संकल्प के उपशम में प्राप्त होता है, इसलिये यत्नपूर्वक संकल्प का उपशम करो, जितने भावपदार्थ हैं, वे सब संकल्परूप तत्व में पिरोये हुए हैं, जब संकल्परूप तंतु टूट पड़ता है, तब नहीं जानता कि पदार्थ कहाँ गये, सत्य असत्य पदार्थ सब संकल्प मात्र हैं जब तक संकल्प है तब तक यह भासते हैं, संकल्प के निवृत्त होने पर असत्य हो जाते हैं, संकल्प से जैसा जैसा चिन्तन करता है, क्षण में वैसा हो जाता है, संसार भ्रम संकल्प से उदय हुआ है, संकल्प के निवृत्त हो जाने पर चित्त अद्वैत सम्मुख होता है, सर्वजगत् असत्यरूप है, माया से रचा गया है, जब संकल्प को त्यागकर यथा प्राप्ति विचरेगा, तब तुझको खेद कुछ न होगा, असत्यरूप जगत् के कार्य में दुःखित होना व्यर्थ है, अपने आप सहित जगत् को असत्य जानेगा तो दुःख भी न होगा, जब तक जगत् का सद्भाव भासता है, तब तक दुःख होता है, जब असत्य जाना तब दुःख भी नहीं रहता, जो बोधवान् हैं उनको कोई दुःख नहीं भासता, इसलिये जो नित्य प्राप्त सत्तारूप है उसमें स्थिति प्राप्त करो, विकल्प के जो बड़े समूह हैं, उनको त्याग करो और जो अद्वैत आत्मपद है, उसमें विश्राम सुख को प्राप्त होकर सुषुप्ति चित्तवृत्ति को धारण कर के विचरो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे संसारविचारो नाम त्रिपंचशत्तमः सर्गः ।।५३।।

चतुष्पंचाशत्तमः सर्गः ५४

जगच्चिकित्सावर्णनम् ।

पुत्र ने कहा–हे भगवन्! संकल्प कैसा है? और वह कैसे उत्पन्न होता है? और बढ़ता कैसे है? और नाश कैसे होता है? दाशूर ने कहा–हे पुत्र! अनंत आत्मतत्व समानरूप सत्ता है, वह चेतन सत्ता जब द्वैत के सम्मुख होती है, तब चेतनता का लक्षण जो ज्ञान रूप है, वह संकल्प

अंकुरज्ञान वही बीजरूपी संवित् उल्लास मात्र सत्ता को पाकर वनभाव को प्राप्त होता है, वही फुरने से आकाश को चेतता है, उससे आकाश को पूर्ण करता है, जैसे जल से मेघ स्पष्ट होता है, ऐसे फुरने की दृढता से आकाश होता है, अपना स्वरूप इसको आत्मसत्ता से भिन्न भासता है, यह भावना चित्त में भावित हो जाती है, जैसे बीज अंकुर भाव को प्राप्त होता है, ऐसे चित्तसंवित संकल्पभाव को प्राप्त होता है, संकल्प ही से संकल्प उपजता है, स्वयं बढ़ता है, उससे सुखी दुःखी होता है, जब अचल रूप से चित्त संवेदन दृश्य की ओर फुरता है, तब संकल्प वृद्ध होता है, वही वृद्ध हुआ जगज्जाल को रचता है, जितना कुछ प्रपंच है, वह संकल्प का रचा संकल्पमात्र है, जैसे समुद्र जलमात्र होता है, जल से इतर नहीं, ऐसे जगत् भी संकल्प से इतर नहीं और आकाशमात्र से भ्रांतिरूप जगत् फुर आया है, जैसे मृगतृष्णा का जल भासता है, जैसे आकाश में द्वितीय चन्द्रमा भासता है, ऐसे तुम्हारा उपजना और बढ़ना भ्रममात्र है, जैसे तम का चमत्कार होता है, ऐसे यह जगत् मिथ्या संकल्प से उदय हुआ तुझको भासता है, हे पुत्र! तेरा उपजना भी असत्य है और बढ़ना भी असत्य है, जब तू इस प्रकार जानेगा तब इसकी आस्था लीन हो जायेगी। यह पुरुष है, वह स्त्री है, मैं हूँ, तू है, यह जो भाव दुःख सुख से संयुक्त पदार्थ भासते हैं, अज्ञान से व्यर्थ भासते हैं, इनमें आस्था करके अन्दर से तपता रहता है, अहं, त्वं आदिक दृश्य सब असत्य रूप हैं, जब यह भावना करेगा तब तू पृथ्वी में कल्याण रूप हो विचरेगा, फिर संसार को प्राप्त न होगा, अहं, त्वं, आदि से लेकर जब सब दृश्य की भावना हृदय से चली जाय, तब इसका अभाव हो जायेगा। हे पुत्र! फल को तोड़कर मर्दन करने पर भी कुछ यत्न होता है, किन्तु स्वतः सिद्ध भावमात्र संकल्प का त्याग करने में जो किंचिन्मात्र भी यत्न नहीं, पुष्प के ग्रहण में भी यत्न है क्योंकि उसमें भी यत् किंचित् हस्त का स्पन्द तो होता है परन्तु भावरूप में वह भी नहीं तो उसके त्यागने में क्या यत्न है, अतः कुछ है नहीं, यह दृश्य प्रपंच सब मिथ्या है, यह भावना करनी उचित है कि न मैं हूँ न यह

जगत् है, जिस पुरुष ने इस दृश्य जगत् का सद्भाव संकल्प नाश किया वह शान्त रूप होता है, यह संकल्प तो एक निमेष में लीला से जीता जा सकता है, भावरूप जो आत्मसत्ता है, उसमें अब अपना आप उपशम करे, तब स्वस्तिक होता है, अपने मन के संकल्प से मन संकल्प काटेगा, जो आत्मतत्व में स्थित होगा, इसमें क्या यत्न है, संकल्प के शान्त होने से जगत् शान्त हो जाता है, और सब दुःख संसार के मूल से नाश हो जाते हैं। संकल्प, मन, बुद्धि, जीव अंहकार, आदिक सब नाम है, वह भेद कथन मात्र है, इनके अर्थरूप में भेद कुछ नहीं, जितना कुछ प्रपंच जाल है, सब संकल्पमात्र है, संकल्प का अभाव होने पर कुछ नहीं रहता, इसलिये संकल्प को हृदय से निकालो, आकाश की नाईं जगत् शून्य है, जैसे आकाश में नीलता भ्रान्ति से भासती है, ऐसे यह जगत् असत्य विकल्प से उठा है। संकल्प और जगत् दोनों असत्य हैं, इससे कुछ नहीं। सब असत्यरूप है, असत्यरूप संकल्प ने सिद्ध किया है, उसकी भावना में आस्था करनी मिथ्या है, जब इस प्रकार जाना तब इष्ट रूप किसको जाने? सब वासनाएं नष्ट हो जाती हैं, वासनाओं के नष्ट होने पर सिद्धता की प्राप्ति होती है, हे पुत्र! यदि यह सत्य जगत् होता, तो विचार करने पर भी दृष्टि आता, परन्तु विचार करने पर इसका कुछ शेष नहीं रहता, जैसे प्रकाश द्वारा देखने से अन्धकार दृष्टि नहीं आता, ऐसे ही विचार से देखें तो जगत् सत्य नहीं भासता। इसलिये अविचार से सिद्ध है और असत्यरूप है, बुद्धि की चपलता से भासता है। जिस पुरुष की जगद्भावना मिट गयी है, उसको जगत् के सुख दुःख स्पर्श नहीं करते, निर्णय करके जिसको असत्यरूप जान लिया जाय फिर उसमें आस्था नहीं उदय होती, जब आस्था गयी तो भाव अभाव बुद्धि भी नहीं रहती, संसार के सुख दुःख सब मिथ्या मन के फुरने से रचे हैं, मनोराज्य नगरवत् स्थित हुए हैं, भूत भविष्य वर्तमान काल जगत् मन की वासना से फुरता है, मानसी शक्ति में स्थित है, वह मन क्षण में बड़ा दीर्घ आकार बना लेता है, क्षण में सूक्ष्म आकार धारण करता है, पकड़ना

चाहें तो पकड़ा नहीं जाता, जैसे समुद्र के तरंग पकड़े नहीं जा सकते, ऐसा मन है, यद्यपि बड़े आकारवाला विस्तृत जगत् भासता है, तो भी कुछ वस्तु नहीं, क्षण भंगुर है, असार है, वासना से जगत् भासता है, वासना के क्षय होने से शान्त हो जाता है। जब तुझको वासना फुरे तब उसी समय उसका शीघ्र त्याग करो। यह दृश्य प्रपंच कुछ है नहीं, असत्यरूप है, ऐसी भावना से वासना नष्ट हो जायेगी, इसमें कुछ सन्देह नहीं, यदि यह संकल्परूप जगत् हो तो उसके त्याग करने में यत्न हो, यह तो असत्य भूत प्रपंच है, जो है ही नहीं, उसके त्याग करने के क्या यत्न है, यदि यह संसारमूल सत्य होता तो इसके नाश के लिये कोई प्रवृत्त न होता, जैसे कोयले को सफेद करने के लिये उसे धोने के लिये कोई प्रवृत्त नहीं होता, ऐसे सब जगत् असत्यरूप हैं, विचार करने पर केवल ब्रह्मसत्ता अन्दर बाहिर परिपूर्ण है, इसलिये असत्य अहंकाररूप दृश्य को त्याग कर सत्यात्मा को अपनाओ, जैसे धान्य से तुष को त्यागकर चावल अंगीकार करते हैं, इसी प्रकार यत्नपूर्वक सर्व दृश्य को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो जाओ, यही परम पुरुषार्थ है और क्रिया किस निमित्त करते हो, मलरूप संसार को मन से निकाल दो, जैसे शाली के ऊपर का छिलका जब भली प्रकार उतार दिया जाय तब चावल का वास्तवरूप निकलता है, ऐसे युक्ति के साथ जब दृश्यमल दूर हो जाय, तब बोध स्वरूप प्राप्त हो, इसलिये पुरुषार्थी बनो। हे पुत्र! यह संसार संकल्प विकल्प से उत्पन्न हुआ है, विचार किया जाये तो अल्प यत्न से निवृत्त हो जाता है। तुम स्वयं देख लो कि ऐसी कौनसी वस्तु है जो सदा स्थिर रहती है, सब पदार्थ असत्यरूप है, देखते देखते नष्ट हो जाते हैं, जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार का अभाव हो जाता है, जैसे भ्रान्त दृष्टि से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, स्वच्छ दृष्टि से दूसरा नहीं भासता। ऐसे ही विचार से जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है, न यह जगत् तेरा है, न तू इसका है, यह भ्रम से भासता है, भ्रम को त्यागकर देखने से असत्य प्रतीत होता है, अपने गुरुत्ववत्त बड़ा ऐश्वर्य प्रकाश का विलास है। वह

तुम्हारे हृदय में न उत्पन्न हो, यह मिथ्या भ्रम रूप है, अन्तः करण से उठे तो अपने आपको और जगत् को भी असत्य जानो। आत्मतत्व से इतर कुछ नहीं, जब ऐसा निश्चय करेगा तब जगद्भावना मिट जायेगी, सर्वात्मप्रकाश भासेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्याने जगच्चिकित्सावर्णनं नाम चतुष्पंचाशत्तमः सर्गः ।।५४।।

पंचपंचाशत्तमः सर्गः ५५

दाशूरोपाख्यानसमाप्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रघुकुलरूप आकाश के चन्द्रमा श्री रामजी! जब इस प्रकार पुत्र को उपदेश किया तब मैं उसके पीछे आकाश में स्थित था, वह कदम्ब वृक्ष के अग्रभाग में जा बैठा, जैसे मेघ वर्षा से रहित होकर चुपचाप पर्वत के शिखर पर जा बैठता है, ऐसे ही मैं भी था। दाशूर परम शक्तिशाली शूरवीर अज्ञानरूप रिपुका नाशक तपस्वी प्रकाशवान् हैं, उसका शरीर सोने का सा मालूम होता है उस दाशूर ने मुझको अपने आगे देखा, उठकर अर्घ्य पाद्य से पूजन किया, तब हम दोनों भी वृक्ष के पत्तों पर बैठ गये। उसने फिर पूजन किया जब पूजा करने लगा तब हम दोनों कथा का प्रसंग चलाने लगे, उस चर्चा के वचन से उसके पुत्र को जगाया। संसार सागर से पार होने के लिये मैंने वृक्ष की ओर देखा, वृक्ष कैसा है कि अति सुन्दर पुष्पों और फलों से शोभायमान हैं, और दाशूर की इच्छा से मृग और पक्षी उसके आश्रय रहते हैं, बहुत गुण संयुक्त वृक्ष मैंने देखा। उसके पुत्र को हमने और कथा कहकर विद्वद् दृष्टि से दृष्टान्तों तथा अपूर्व युक्तियों से उपदेश किया, नाना प्रकार के विचित्र इतिहासों से उस बालक को जगाया, रात्रि भी इसी सत्संग प्रसंग में बीती, रात्रि का समय एक मुहूर्तमात्र सा प्रतीत हुआ, जब प्रातः काल हुआ तब मैं उठकर खड़ा हो गया, दाशूर अपने पुत्र सहित मेरे साथ

चला, जहाँ तक कदम्ब का आकाश तल था, वहां तक आये, उसके अन्दर मैंने उसको बहुत देर तक ठहराया, और मैं गंगाजी को ओर चला गया, वहां स्नान करके सप्तर्षिमंडल में जा सम्मिलित हुआ, हे रघुनन्दन! यह दाशूर का आख्यान मैंने तुझको कहा है, यह जगत् प्रतिबिंब आभास के सदृश है, प्रत्यक्ष भासता है, तो भी असत्यरूप है, जगत् निरूपण के लिये यह आख्यान श्रवण कराया है, कि यह जगत् असत्यरूप है, कुछ वस्तु नहीं, बुद्धि से तुम्हें राग मत हो, इस कथा का सिद्धान्त हृदय में धारण करके विचार करेगा तब संसाररूप मल तुझको स्पर्श न करेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे दाशूरोपाख्यान
समाप्तिर्नाम पञ्जपंचाशत्तमः सर्गः ।।५५।।

षट् पंचाशत्तमः सर्गः ५६
कर्तव्यविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह प्रपंच है नहीं, ऐसा जानकर सब पदार्थों से विरक्त हो जाओ, जो वस्तु हो ही नहीं उसकी आस्था करनी कैसी, यह प्रपंच जो दृष्टि आता है, इसके भासने न भासने में तुम्हें क्या है, तुम निर्विघ्न होकर आत्मतत्व में स्थित रहो, ऐसा जान लो कि जगत् है भी और नहीं भी, इस निश्चय से भी असंग रहो। इस चल अचल के नजर आने में तुमको क्या खेद है? हे रामजी! यह जगत् न आदि है न अनादि है, केवल स्वच्छ जो चित्संवित् मनोरूप है, उसके फुरने से इस प्रकार भासता है, वास्तव में कुछ नहीं, यह जगत् किसी कर्ता ने किया नहीं, न किसी अकर्त्ता ने किया है, केवल आभासरूप है, आभास में कर्ता अकर्ता पद को प्राप्त हुआ है, अकृत्रिमरूप है, किसी का किया तो है नहीं इसके साथ तुझको सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, यह भावना हृदय में रक्खो, कि है कुछ नहीं, क्योंकि जो किसी कर्ता से हुआ नहीं, आत्मा सर्व इन्द्रियों से अतीत है, जड की नाईं अवर्ताारूप है, उसको कर्ता कैसे कहें,

यह कहना नहीं बनता, अकस्मात् यह जगज्जाल फुर आया है, वह आभासरूप है, जो अकस्मात् उपजा, उसमें आसक्त होना क्या है, यह असद्भ्रांतिरूप है, इसमें आस्था मूढ़ बालक करते हैं, बुद्धिमान् नहीं करते, स्वरूप से जगत् उत्पन्न नहीं हुआ, और नाश भी कुछ भी नहीं होता, निरन्तर दृष्टि में आता है, अज्ञान से बारबार भावना होती है, तो भी जगत् कुछ है नहीं, असत् रूप है, प्रत्यक्ष निरन्तर नष्ट हो जाता है, तुम विचार करके देखो, कि अवस्था स्थान कहाँ जाते हैं और कहां गये हैं, इसलिये तुम सब इन्द्रियों से अतीत जो आत्मतत्त्व अकर्तारूप है उसमें स्थित होकर विगतज्वर हो, वास्तव से जगत् कुछ बना नहीं, आभाससत्ता में बना भासता है, तुम आभाससत्ता में नित्य दृढ हो, जैसे हुआ है, ऐसे है, भाव, अभाव, दुःख दृश्य है, आदर्शरूप आभास में दीर्घरूप दृश्य स्थित हुआ है, वह जैसे हुआ है, वैसे है, विपर्यय नहीं होता, हे रामजी! दृश्य धर्म में अपराजितकाल है, वह अनन्त है, दृश्य पदार्थों का कुछ अन्त नहीं, और यदि आत्मविचार से देखें तो स्वप्नवत् है, कुछ है नहीं, जो वास्तव से ऐसा हो, उसमें आस्था करके यत्न करना व्यर्थ है, जगत् के पदार्थ नाशरूप हैं, इनमें आस्था नहीं बनती क्योंकि आत्मा सत् है, और जगत् असत् है, अन्योन्य विलक्षण स्वभाव हैं, जड और चेतन का संयोग कुछ नहीं बनता, यदि जगत् के पदार्थ स्थिर मानिये तो रहते नहीं, इस कारण से आस्था शोभा नहीं पाती, जैसे जल के तरंग का आश्रय लेकर कोई पार हुआ चाहे तो दुःख पाता है, ऐसे जगत् के पदार्थ का आश्रय करने से दुःखी होता है, जगत् की आस्था करनी ही बन्धन है, जगत् नाशरूप है, तुम स्थिर रूप हो, इसलिये आस्था करनी नहीं बनती, कहीं जल के तरंग का और पर्वत का सम्बंध हुआ है? यदि तुम जगत् को असत्य जानो, और अपने आपको सत्य जानो तो भी जगत् के पदार्थों की इच्छा नहीं बनती, क्योंकि सत्य को असत्य की वांछा असंगत है विपरीत है असम्भव है। असत्य की असत्य में भावना होनी ही क्या है? और यदि आप संयुक्त जगत् सत्य जानते हो तो भी वांछा नहीं बनती, क्योंकि जो

सत्य अद्वैता आत्मा है उसके समीप कुछ द्वैत वस्तु नहीं, तुम तो एक अद्वैत हो, वांछा किसकी करते हो, अतः तुम्हें किसी पदार्थ की इच्छा अनिच्छा नहीं बनती। हेयोपादेय से रहित केवल स्वस्थ होकर अपने आप में स्थित हो जाओ, कैसा आत्म तत्व है, जो सबका कर्ता है, और सर्वदा अकर्ता है, कदाचित् कुछ क्रिया नहीं, उदासीन की नांई स्थित है, जैसे दीपक सब पदार्थों को प्रकाश करता है, परन्तु किसी की इच्छा द्वारा अर्थसिद्धि करने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, स्वभाविक ही प्रकाश रूप है, ऐसे आत्मतत्व सबका कर्ता है, उसका कर्ता कोई नहीं, जैसे सूर्य सबकी क्रिया को सिद्ध करता है और आप किसी क्रिया के आश्रय नहीं, क्योंकि जो आप ही प्रकाश रूप है, चलता है, परन्तु कभी चलायमान नहीं हुआ, और जो सूर्य का प्रतिबिंब चलता भासता है, वह प्रतिबिंब चलना सूर्य में नहीं ऐसे तुम्हारा स्वरूप आत्मा सदा अकर्ता अचल है, उसमें स्थित हो जितना जगत् भासता है, उसमें विचरो, परन्तु भावना से इसमें बद्ध मत होना। यह असद्रूप है, हे रामजी! यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणों सें जगत् सत् भासता है, तो भी है नहीं, स्वतः चित् होकर अपने आपके विचार और स्वरूप स्थित हो, तब जगत् कुछ न भासेगा, जो प्रत्यक्ष बड़े तेज बल और वीर्य से सम्पन्न भासता है, और अन्तर्धान हो गया तो सत्य कैसे कहिये! इस विचार से भी तुम्हें जगत् की भावना नहीं बनती, जैसे चक्रारूढ होने पर सब स्थान घूमते दृष्टि आते हैं, अथवा जैसे स्वप्ननगर भ्रम से भासता है, वह किसी कारण कार्य से नहीं होता आभासरूप मन के फुरने से उपजा आता है, जैसे कोई जीव्र अकस्मात् आ निकलता है, वह मैत्री का भागी नहीं होता विचार किये बिना बुद्धिमान् उसमें रुचिमान् नहीं होते, वह सौहार्द का पात्र नहीं, ऐसे ही भ्रम से जो जगत् भासा है, वह आस्था करके भावना बाँधने योग्य नहीं, जैसे चन्द्र में उष्णता और सूर्य में शीतलता मृगतृष्णा की नदी में जल, इनकी भावना करनी अयोग्य है, ऐसे जगत् में सत्यभावना अयोग्य है, यह संकल्पपुर, स्वप्ननगर, द्वितीय

चन्द्रमावत् असत्य है, भ्रम से सत्य भासता है, हे रामजी! अन्दर मे भाव पदार्थ की आस्था लक्ष्मी को त्यागकर बाह्य लीला करते हुए विचरो, अन्दर से अकर्ता पद में स्थित हो और सब भाव पदार्थ स्थित सबसे अतीत हो, आत्मा सब पदार्थों में सर्वदा स्थित है और सबसे अतीत है, उसकी सत्ता से जगत् नीति में स्थित है, जैसे दीपक से सब पदार्थ प्रकाशवान् होते है, और दीपक इच्छा से रहित प्रकाशित होता है, उससे सबकी क्रिया सिद्ध होती है, और सूर्य आकाश में उदय होता है, और उसके प्रकाश से जगत् का व्यवहार होता है, ऐसे अनिच्छित आत्मा की प्रकाश सत्ता से सब जगत् प्रकाशता है, जैसे इच्छा से रहित मन का प्रकाश होता है, और स्थान में फैल जाता है ऐसे आत्मदेव की सत्ता से जगद् प्रवर्तते हैं, इसलिये कर्ता है, सब इंन्द्रियों के विषय से अतीत है, इस कारण से कर्ता अभोक्ता है और सब इन्द्रियों के अन्तर्गत स्थित है, इस कारण से कर्ता भोक्ता वही है, इस प्रकार दोनों आत्मा में बनते हैं, कर्ता भोक्ता भी संभव होता है, जिसमें तुम अपना कल्याण समझते हो उसमें स्थित हो जाओ, हे रामजी! इस प्रकार करो कि सब मैं ही हूँ, अकर्ता अभोक्ता हूँ, ऐसी दृढभावना से जगत् के कार्य को करते हुए भी कुछ बन्धन न होगा, और सर्वात्मा कर्तव्य भोक्तव्य से रहित है, इस प्रकार निश्चय करने से भोग की वासना निवृत्त हो जायगी, तब चेतन भोग की ओर फिर न आयेगा, जिसको यह निश्चय है, कि मैंने कदाचित् कुछ किया नहीं, सदा अक्रियरूप हूँ, वह भोग के समूह की कामना किस लिये करेगा और त्याग किसका करेगा? इसलिये तुम यही निश्चय करो कि मैं नित्य अकर्ता रूप हूँ, जब यह बुद्धि दृढ होगी, तब परम अमृतरूप जो समान सत्ता है, वह शेष रहेगी, अथवा यही निश्चय करो कि सबका कर्ता मैं ही हूँ, मैं महाकर्ता हूँ, सबमें अन्तर स्थित होकर सब कार्य मैं करता हूँ, हे रामजी! यह दोनों निश्चय तुझको कहे हैं, जिसमें तेरी इच्छा हो उसमें स्थित हो, जहाँ यह निश्चय होता है, कि सबका कर्ता मैं हूँ, सब जगत्भ्रम भी मैं हूँ, तब इन पदार्थों के भाव अभाव में राग द्वेष न होगा, यदि सब कुछ आप ही है तो रागद्वेष किसका करेगा। उसको यह निश्चय

होता है कि यह शरीर मेरा दग्ध होता है, वह शरीर सुगन्धादि से लीला करता है, उसको खेद और उल्लास किसका हो, अतः तुझको जगत् के क्षोभ उल्लास, उदय,अस्तमें सुख दुःख मत हो, सबका कर्ता मैं हूँ तो खेद उल्लास भी मैं करता हूँ, जब आत्मा और कर्तव्य की एकता हुई तब खेद उल्लास सब आप ही लय हो जाता है, सत्ता समान शेष रहता है, वह सत्ताभाव पदार्थ में अनुस्यूत होकर स्थित है, उसमें जब चित्त की इच्छा होती है, तब फिर दुःखको प्राप्त नहीं होता, हे रामजी! सबका कर्ता अपने आपको जानों, कि कर्ता पुरुष मैं हूँ और अकर्ता भी जानो कि मैं कुछ नहीं करता, अथवा दोनों निश्चय त्यागकर निःसंकल्प और अपना हो जाओ, तब जो तुम्हारा स्वरूप है सत्ता शेष रहेगी, इस कुत्सित भावना का त्याग करो कि यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस अभिमान में स्थित न होना, इस देह में अहंकार नरक की प्राप्ति का कारण है, कालसूत्र है, नरक का जाल है, शस्त्रों की वर्षा से भी अधिक दुःखदायी देह का अभिमान है, अतः यत्नपूर्वक इसका त्याग करना चाहिये। यह सब के नाश के लिये स्थित है, श्रेष्ठ पुरुष इसका स्पर्श नहीं करते, जैसे चांडाली की गोद में श्वानका मांस रखा हो तो श्रेष्ठ पुरुष उसको स्पर्श से बचते हैं, इसी प्रकार देहाभिमान के साथ स्पर्श नहीं करना चाहिये, यह महानीच है, यह अहंकार रूप बादल नेत्रों के आगे आवरण रूप बनकर आ जाता है, इससे आत्मसत्ता नहीं भासती, जब विचार बल से इस पर्दे को दूर करेंगे तब आत्मसत्ता प्रकाशित होगी, जैसे मेघ घटा के दूर होने पर चन्द्रमा प्रकाशवान् होता है, ऐसे अहंकार के अभाव से आत्मप्रकाश होता है, जब तुम इनमें से किसी निश्चय को धारण करेगा, तब सब दुःखोंसे रहित शान्तपद को प्राप्त होगा। यह निर्णय सबसे उत्तम है, इस निश्चय में उत्तम पुरुष सदा स्थित रहते हैं, अब तुम भी विधि अथवा निषेध दोनों में कोई निश्चय धारण करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे कर्तव्यविचारो नाम षट्पंचाशः सर्गः ।।५६।।

सप्त पंचाशः सर्गः ५७

पूर्णस्वरूप वर्णनम् ।

रामजी बोले–हे ब्राह्मण! जितने भी तुमने यह सुन्दर वचन कहे हैं वे सत्य हैं। अकर्तारूप आत्मा, कर्ता, अभोक्ता, सबका भोक्ता भूतों को धारण करनेहारा सबका आश्रय भूत, सर्वगत, व्यापक, चिन्मात्र, निर्मलपद, अनुभवरूप देव सर्वभूतों के अन्तः स्थित है, हे प्रभो! ऐसा जो ब्रह्मतत्व है, वह मेरे हृदय में रम्य हुआ है, तुम्हारे वचनों से प्रकाशित हो रहा है, तुम्हारे वचन शीतल शान्तरूप तप्तता को मिटाते हैं, जैसे बर्षा से पृथ्वी शीतल होती है, ऐसे ही मेरा हृदय शीतल हुआ है, आत्मा उदाशीन की नाईं अनिच्छित स्थित है, कर्तव्य भोक्तव्य से रहित और सब जगत् को प्रकाशित करता है, सब क्रियाएँ उससे सिद्ध होती हैं, इस कारण से कर्ता भी वही है और भोक्ता भी वही है, परन्तु मुझको कुछ संशय है, जो कि हृदय में विस्तार को प्राप्त हुआ है, उसको अपनी वाणी से काटो, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश तम को नाश करता है, ऐसे ही मेरे संशय को मिटाओ कि यह सत्य है, यह असत्य है, यह मैं हूँ, वह और है, इत्यादिक द्वैत कल्पना एक अद्वैत विस्तृत शान्तरूप में कहां से स्थित हुई है, निर्मल में मल कैसे हुआ है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रश्न का उत्तर मैं सिद्धान्त काल में कहूँगा, अथवा तुम आप ही जान लेगा मोक्षोपायरूप इस शास्त्र का सिद्धान्त जब भली प्रकार तुम्हारे हृदय में स्थित होगा, तब तुम इस प्रश्न का पात्र होगा, अनर्थ के योग्य न होगा, इस अवस्था से अन्यथा नहीं होता। हे रामजी! सुन्दर स्त्रियों की सुन्दर वाणी से गीत होता है, उसके अधिकारी कामी जीव यौवनवान् पुरुष होता हैं, ऐसे तुम सिद्धान्त अवस्था में मेरे वचन का अधिकारी होगा, जैसे रागमयी कथा बालक के आगे कहनी व्यर्थ होती है, ऐसे बोध समय के बिना उदार कथा कहनी व्यर्थ होती है, जैसे शरत्काल में पत्रसंयुक्त वृक्ष शोभा पाता है और

बसन्तऋतु में पुष्पों से शोभा पाता है, ऐसे ही जैसी अवस्था पुरुष की होती है, ऐसा उपदेश उसके लिये शोभन होता है, किसी समय कैसा और किसी समय कैसा शोभा देता है और उपदेश किया हुआ भी दृढ़ तब होता है, जब बुद्धिशुद्ध होती है, मलिन बुद्धि में उपदेश का यथोचित प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् उसको उपदेश करना व्यर्थ होता है, जैसे निर्मल वस्त्र पर केशर का रंग शीघ्र ही चढ़ जाता है, मलिन वस्त्र के ऊपर नहीं चढ़ता, ऐसे प्राप्त रूप जो आत्मा है उसका विज्ञान उपदेश सिद्धान्त अवस्था वाले को लगता है, जिसको बोधसत्ता प्राप्त हुई है और तेरे प्रश्न का उत्तर मैंने संक्षेप रूप से कहा भी है, विस्तार से नहीं कहा, जो तू नहीं जानता तो भी प्रत्यक्ष है, जब तू आपसे प्राप्त होगा, तब आप ही इस प्रश्न के उत्तर को जान लेगा। इसमें संदेह कुछ नहीं। जब सिद्धान्त काल में बोध को प्राप्त होकर स्थित होगा, तब मैं भी इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से कहूंगा। जब आप ही अपना आप निर्मल करेगा तब अपने आपको जान लेगा, हे रामजी! जो कर्ता और कर्म का विचार मैंने तुझको कहा है, उसको विचार कर वासना का त्याग करो, जब तक संसार की वासना इस हृदय में होती है तब तक बन्धन में है, जब वासना मिट जाती है तब मुक्ति मिलती है। अतः तुम वासना का त्याग करो, तब सुखी हो जाओगे, मोक्ष की भी वासना का त्याग करो। वासना का त्याग इस क्रम से करो–प्रथम शास्त्र विरुद्ध तामसी वासना को छोड़ दो। उसके बाद विषय वासना त्यागो और मैत्री, करुणा मुदिता, उपेक्षा, इस निर्मल वासना को अंगीकार करो। मैत्री अर्थात् सब में ब्रह्मभाव रखते हुए किसी से द्रोह न करना, लक्ष्मीवान् के साथ मित्र भाव और दुःखी पर दया भाव रखना, यह करुणा है, धर्मात्मा पुरुष को देखकर प्रसन्न होना, इसका नाम मुदिता है, पापी को देखकर उदासीन रहना निन्दा न करना, इसका नाम उपेक्षा है। इस चार प्रकार की वासना से सम्पन्न होना, अन्दर से इनका भी त्याग करना, हृदय में इनका अभिमान भी न हो और बाहिर से इनका व्यवहार हो फिर अन्दर दृश्य में गुण की वासना

त्यागकर चिन्मात्र वासना रखनी, पीछे से इनको भी मनबुद्धि के साथ मिश्रित जान त्याग करनां तब जिसके निमित्त वासनां त्यागी है, वह शेष रहेगा उसका भी त्याग करना। हे रामजी! चिन्मात्र तत्व से कल्पना करके देह इन्द्रिय प्राण और तम प्रकाश वासनादिक भ्रममात्र भास आये हैं, जब मल सयुंक्त इनका त्याग करेगा, तब आकाशवत् सम स्वच्छ होगा। (मूल संयुक्त का अर्थ है अहंकार सहित) इस प्रकार सबको त्यागकर पीछे जो तेरा स्वरूप है वह तुम्ही हो। जो हृदय में इस प्रकार त्यागकर स्थित होता है, वह पुरुष मुक्तरूप परमेश्वर होता है, समाधि में रहे, कर्म करे अथवा न करे, जिसके हृदय में सब प्रकार ईषणा नष्ट हुई है वह मुक्त है और उत्तम उदार चित्त पुरुष है। परमेश्वर का परमप्रिय है उस पुरुष को करने न करने में कोई लाभ हानि नहीं रहती। न उसको तप करने से प्रयोजन है न व्यवहार करने से, क्योंकि उसका मन वासना से रहित हुआ है। हे रामजी! मैंने चिरकाल पर्यन्त अनेक शास्त्र विचारे हैं और उत्तम पुरुषों के साथ चर्चा की है, परस्पर यही निश्चय किया है कि भली प्रकार वासना का त्याग करना। अतः उत्तम मौन है, इसके बिना उत्तम पद पाने योग्य कोई नहीं, जो कुछ देखने योग्य है वह मैंने सब देखा है और दशों दिशाओं में घूमा हूँ, कई लोग यथार्थ दृष्टि देखे और कई हेयोपादेय भाव सहित देखे हैं। यही यत्न करते हैं इससे इतर कुछ नहीं करते, किसी को ग्रहण और किसी को त्याग की इच्छा होती है, नाना प्रकार की क्रियाओं के आरंभ से सब देहार्थ चेष्टा करते हैं। आत्मा के अर्थ कुछ नहीं करते। पाताल स्वर्ग ब्रह्मलोक आदि सब लोक देखें हैं उनमें कितने ही तो मुझे अच्छे सन्त दृष्टि आये हैं कि जिन्होंने उस देखने योग्य आत्मतत्वपद को देखा है, ग्रहण त्याग सब मिथ्या भ्रान्तिजन्य हैं, यह जानकर जो आत्मरूप हुए हैं। ऐसे ज्ञानवान् कोई विरले होते हैं। सारे ब्रह्माण्ड का राज्य करे अग्नि में प्रवेश कर सके, जल में निमग्न हो सके, इतने एश्वर्यशक्ति सम्पन्न होने पर भी बिना

आत्मसाक्षात्कार के जीव को कभी शान्ति लाभ नहीं हो सकता, बड़े बुद्धिमान सन्त भी वही हैं जिन्होंने अपने इन्द्रियरूप शत्रु जीते हैं वही शूरवीर है जिनको जरा, जन्म, मृत्यु का भय नहीं है, उन पुरुषों की उपासना करना चाहिये, हे रामजी! ज्ञानवान् को किसी दृश्य पदार्थ में प्रीति नहीं होती, क्योंकि जो पृथ्वी आदि पंच भूत सब स्थान पर मौजूद है, त्रिलोक में इनसे इतर और पदार्थ कोई नहीं तो प्रीति किस प्रकार हो, युक्ति से ज्ञानवान् संसार समुद्र को गो पद के समान तर जाते हैं और जिन लोगों ने युक्ति का त्याग किया है, उनको संसार सप्त समुद्र के समान हो जाता है और जो प्रुरुष उदार चित हैं, उनको यह सम्पूर्ण जगत् कदम्ब वृक्ष के गोलवत् हो जाता है, उसमें वह त्याग किसका करें और भोग किसका करें? हेयोपादेय से रहित पुरुष को जगत् तुच्छ जैसा भासता है, इस कारण से वह जगत् के पदार्थों के निमित्त यत्न नहीं करता और जो दुर्बुद्धि जीव होते हैं, वे तुच्छ ब्रह्माण्ड रूप पृथ्वी पर युद्ध करते हैं, अनेक जीवों का घात करते हैं, ममता से बँधे हुए हैं और यह जगत् कैसा है, संकल्पमात्र में नष्ट हो जाता है और क्षण क्षण में आस्था से यत्न करना बड़ी मूढ़ता है। सब जगत् आत्मा के एक अंश से कल्पित है, इसकी उपमा तृण समान भी नहीं, इस प्रकार तुच्छरूप त्रिलोकी जगत् को जानकर आत्मवेत्ता किसी पदार्थ के हर्ष शोक में बद्ध नहीं होते। ग्रहण और त्याग से रहित हैं, सदा शिव के लोक से लेकर पाताल पर्यन्त जल, रस, देह, जो राजस, सात्विक, तामस से संयुक्त जितने जगत् के पदार्थ हैं, वे ज्ञानवान् को प्रसन्न नहीं कर सकते, उसकी इच्छा किसी में नहीं होती, एक अद्वितीयात्म भाव को प्राप्त हुआ है। आकाशवत् व्यापक बुद्धि होता है, अपने आप में स्थित है, चित्त दृश्य से रहित अचेतन चिन्मात्र है। शरीर रूप जाल है, वही भयानक कुहिड है, उससे जगत् रूप कोटर धूसरित हो रहा है, वह उस पुरुष का शान्त हो जाता है, द्वितीय वस्तु का अभाव हुआ है, ब्रह्मरूप बड़ा समुद्र है, उसमें

झाग के बोये के समान कुलाचल पर्वत है, चेतनरूप सूर्य है, उसमें मृग तृष्णा की नदीरूप जगत् की लक्ष्मी है और ब्रह्मरूप समुद्र में जगत् रूप तरंग उठते और लय होते हैं, ऐसा जानने वाला जो ज्ञानवान् है, उसको यह जगत् आनन्ददायक कैसे हो? सूर्य चन्द्रमा अग्नि जो तुझको प्रकाशरूप भासते हैं, वे घटकाष्ठवत् जडरूप हैं, जिससे यह प्रकाशित हो रहे हैं वह सबको सिद्ध करने वाली आत्मसत्ता है और कोई नहीं, देह जो रुधिर मांस और अस्थियों से बना है, जो इन्द्रियों सह वेष्टित है, उस देहरूप डिबिया में चेतनरूप रत्न है, हे रामजी! यह जो स्त्री का देह भासता है, वह चमड़े की पुतली बनी है, उसको देखकर मूढ बालक प्रसन्न होता है, जो बुद्धिमान् हैं वे प्रसन्न नहीं रहते। इस प्रकार ज्ञानवान् को विषय भोग प्रसन्न नहीं करते, जैसे वायु के चलने से पर्वत चलायमान नहीं होते, ऐसे ज्ञानवान् संसार के पदार्थ से प्रसन्न नहीं होते हैं। ज्ञानवान् उस उत्तम पद में विराजते हैं जिसकी अपेक्षा चन्द्र, सूर्य पाताल में भासते हैं, अर्थात् इनका बड़ा प्रकाश भी है ज्ञानवान् के ज्ञान प्रकाश के आगे तुच्छ है, ज्ञानवान् परम उत्तम पद में विराजता है और यह मूढ संसारी जीव समुद्र में सर्प की नाईं बहे जाते हैं, जैसे हमें भासते हैं ऐसे हम कहते हैं। इस जगत् में ऐसा भाव पदार्थ कोई नहीं, जो ज्ञानवान् को रंजित करे, जैसे नगर का राजा हो, उसके घरमें अति सुंदर विचित्र रूपवती रानियाँ हों, उसको ग्रामीण मूढ नीच स्त्रियाँ प्रसन्न नहीं कर सकतीं, ऐसे यह जगत् के भाव पदार्थ तत्ववेत्ता के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकते, जैसे आकाश में मेघ रहते हैं, परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर सकते जैसे सदाशिव महासुन्दर गौरी का नृत्य देखने वाले हैं और गौरी संयुक्त हैं, उनको वानरी का नृत्य प्रसन्न नहीं कर सकता, इसी प्रकार ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थ हर्षदायक नहीं होते। जैसे जल से पूर्ण कुम्भ में रत्न का प्रतिबिम्ब हो, उसको देखकर बुद्धिमान् का चित्त ग्रहण नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् का चित्त जगत् के पदार्थ नहीं चाहता, यह संसार चक्र बडा

विस्ताररूप भासता है, वह असत्यरूप है, उसको देखकर ज्ञानवान् कैसे इच्छा करे, यह तो चन्द्र के प्रतिबिंबवत् है। शरीर भी असत्य है, इसकी इच्छा मूढ करते हैं। जैसे सेवाल का मच्छर भोजन करते हैं, राजहंस नहीं करते, इसी प्रकार सांसारिक विषयों की इच्छा अज्ञानी करते हैं, ज्ञानी नहीं करते।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे पूर्णस्वरूपवर्णनं नाम सप्तपंचाशत्तमःसर्गः ।।५७।।

अष्टपंचाशत्तमः सर्गः ५८

कचगाथा वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह सिद्धान्त जो परम उचित वस्तु है, उसकी गाथा बृहस्पति का पुत्र जो कच है उसने गायी थी, वह परम पावन रूप है। एक काल में सुमेरु पर्वत के किसी गहन स्थान में देवगुरु का पुत्र कच जाकर स्थित हुआ। अभ्यास के वश से कभी उसको आत्मतत्व में विश्रान्ति हुई और अन्तःकरण उसका सम्यक् ज्ञानरूप अमृत से पूर्ण हुआ और पांच भौतिक जो मलिन दृश्य है उससे विरक्त हुआ। उसको ब्रह्मभाव का स्फुरण हुआ, उसको निराभास आत्मतत्व से इतर कुछ नहीं। एक अद्वैत भासता था, गद्गद वाणी से कहता था मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? क्या ग्रहण करूँ? किसका त्याग करूँ? सब विश्व एक आत्मपूर्ण हो रहा है, जैसे महाकाल में सब ओर से जल पूर्ण हो रहा हो, ऐसे दुःख भी आत्मा है, सुख भी आत्मा है, आकाश दशों दिशाएँ, अहं, त्वं

आदि सब जगत् आत्मा ही है, देह के अन्दर भी आत्मा है बाहिर भी आत्मा है, अधः (नीचे) ऊर्ध्व (ऊपर) इधर उधर सब आत्मा है, आत्मा से इतर कुछ नहीं। सब ओर से एक आत्मा ही स्थित है और सब ही आत्मा में स्थित है, यह सब मैं हूँ, अपने आप में स्थित हूँ। अपने आप में मैं नहीं समाता। अर्थ यह है कि आदि अंत से रहित अनन्त आत्मा हूँ, अग्नि मैं हूँ, वायु मैं हूँ, आकाश जल पृथ्वी मैं हूँ, जो पदार्थ मैं नहीं वह है नहीं, जो कुछ है, वह सब विस्तृतरूप मैं ही हूँ, एकपूर्ण परम आकाश भैरव हूँ, सब जगत् भी ज्ञानरूप है, समुद्रवत् एक पूर्ण स्थित है। वह कल्याण मूर्ति कच इस प्रकार भावना करता हुआ स्वर्ण पर्वत के कुञ्ज में स्थित हुआ, ऊँचे स्वर से ओंकार का उच्चारण करने लगा और ओंकार की जो अर्धकला है, जिसको अर्धमात्रा कहते हैं वह फूल से भी कोमल है, फिर उसमें स्थित हुआ, वह अर्धमात्रा न अन्तः स्थित है न बाह्य है, हृदय में भावना करता हुआ उसमें स्थित हुआ, कलनारूप मल से रहित निर्मल हुआ, चित्त की वृत्ति निरन्तर लीन हो गयी, जैसे मेघ के उड जाने पर शरत्काल का आकाश निर्मल हो जाता है, ऐसे कलंकित कलना से दूर होने पर निर्मल हुआ, जैसे पर्वत की पुतली अचलरूप होती है, ऐसे ही कच समाधि स्थित होकर अचल हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे कचगाथा वर्णनं
नामष्टापञ्चाशत्तमः सर्गः ।।५८।।

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

कमलजाव्यवहार वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! अंगना के शरीरादिक जो भोग्य पदार्थ हैं, इनसे इतर तो जगत् में सुख कुछ भी नहीं और ज्ञानवान् को यह पदार्थ तुच्छ भासते हैं, ज्ञानी जन इनमें आस्था नहीं करते, फिर इच्छा किस पदार्थ की करें? इन ऐश्वर्य के भोग पदार्थों से मूढ असाधु पुरुष संतोष पाते हैं, जो ज्ञानवान् महात्मा हैं वे इनमें प्रीति नहीं करते, जो

कृपण अज्ञानी हैं, उनको भोग ही सरस हैं, और भोग कैसे हैं? आपात् रमणीय हैं। आदि अन्त और मध्य में दुःखरूप हैं, जो पुरुष इनमें आस्था करते हैं, वे गर्दभ नीच पशु हैं, हे रामजी! स्त्री कैसी है, रक्त, मांस और अस्थि आदिसे पूर्ण है, जो इसको पाकर तुष्ट होते हैं, वे गीदड़ हैं, मनुष्य नहीं और जो ज्ञानवान् हैं, वे किसी जगत् के पदार्थ से प्रीति नहीं करते, पृथ्वी सर्व मृत्तिकारूप है, वृक्ष सब काष्ठरूप हैं, देह सब मांसरूप हैं, पर्वत सब पाषाणरूप हैं, पाताल अधः है, आकाश ऊर्ध्व है, वह दिशाओं से व्याप्त सर्व विश्वपांच भौतिक रूप है, उसमें तो अपूर्व सुख कोई नहीं, जिसमें ज्ञानवान् प्रीति करते हैं। इन्द्रियों के जो पांचों विषय हैं वे मोह के देनेवाले हैं। विवेक मार्ग के रोकनेवालें हैं, जितनी जगज्जाल की संपूर्ण विभूति है और बड़े ऐश्वर्य पदार्थ हैं, वे सब दुःख रूप हैं, पहिले इनका प्रकाश भासता है, पीछे कलंकित करते हैं, जैसे दीपक पहिले प्रकाश दिखाता है, बाद में काला काजल देता है, ऐसे इन्द्रियों के विषय आगमा पायी हैं, इनसे शान्ति नहीं प्राप्त होती, अज्ञानी को स्त्री आदिक पदार्थ रमणीय भासते हैं, ज्ञानवान् की वृत्ति इनकी ओर नहीं जाती, अज्ञानी को इनका स्थिररूप भासता है, और यह उसे स्वाद देते हैं, इसलिये तुष्ट होता है, ज्ञानवान् को यह सांसारिक ऐश्वर्य विषय भोग आदि सब पदार्थ असत्य चलरूप भासते हैं, अतएव उसकी तुष्टि का कारण न होकर उसके लिये वैराग्योत्पादक होते हैं, क्योंकि वह इनके वास्तविकरूप को जानता है कि यह आपात रमणीय है, और परिणाम में विषरूप हैं। स्मरण मात्र से मूर्छित करने वाले हैं, इनके दुष्प्रभाव से मनुष्य को सत्य विचार भूल जाता है, इसलिये इनको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाओ, और ज्ञानवान् के समान विचरो, हे रामजी! जब इस जीव को अनात्म में आत्माभिमान होता है, तब असद्रूप जगज्जाल सत् होकर भासता है, ब्रह्मा को भी वासना के वश से कल्पदेह का संयोग होता है, ब्रह्मा का संयोग देह के साथ वास्तव में कुछ नहीं, कल्पना मात्र देह है, रामजी बोले—हे महामते! विरंचिके पद को प्राप्त होकर फिर यह सघनरूप जगत् कैसे रचते हैं, वह क्रम से कहो वसिष्ठजी बोले! हे रामजी! पहिले

जो कमलज ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है, वह जैसे बालक गर्भ से उत्पन्न होता है, ऐसे उत्पन्न होकर बार बार उसने ब्रह्म ब्रह्म शब्द उच्चारण किया है,इस कारण से इसे ब्रह्मा कहते है, फिर संकल्प जाल के रूपवाला कल्पित आकार मन उपज आया, उस मन में आगे संकल्प रूप लक्ष्मी का प्रसार किया, पहिले संकल्प से जो माया उत्पन्न हुई, वह तेज अग्नि के चक्रवत् फुरने लगी, उससे बड़ा आकार हो गया, ज्वाला की नाईं स्वर्णलतारूप बड़ी जटाओं से युक्त प्रकाश को धारण किये, शरीर मन सहित सूर्यरूप होकर स्थित हुआ, अपने समान आकार बड़े प्रकाश से युक्त कल्पना किया ज्वाला का मंडल आकाश में स्थित हुआ, जिसका अग्नि रूप है, और अग्नि ही अंग है, हे महामते रामजी! इस प्रकार ब्रह्मा से सूर्य हुआ, और जो तेज किरणें स्फुरण होती हैं वे आकाश में तारागण हैं, अनन्तर ज्यों ज्यों वह संकल्प करता गया त्यों त्यों ही वह संकल्प परिणत होकर सृष्टि रूप में भासने लगा। इसी प्रकार जगत् को रचा गया, जिस प्रकार इस सृष्टि में ब्रह्मा रचता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी रचना होती है, प्रथम प्रजापति को रचता है, फिर काल कलना नक्षत्र तारागण रचे, तदन्तर देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, गन्धर्व, यक्ष, नदियाँ, समुद्र पर्वत सब इसी प्रकार कल्पना हुई, जैसे समुद्र में तरंग कल्पित होते हैं, ऐसे सिद्ध रचे, उनके कर्म रचे, वह भी शुभ संकल्प रूप जैसा वह संकल्प करे, वही प्रसिद्ध होकर भासने लगे, प्रजापति ने संकल्प से सिद्ध उत्पन्न किये, इसी प्रकार भूत तारागण और उत्पन्न किये, उन्होंने और उत्पन्न किये, तब ब्रह्माजी ने वेद को उत्पन्न किया, जीव के नाम, आचार, कर्म, वृत्ति पुण्य क्रिया सब जगत् की मर्यादा से नीति रूप स्त्री की रचना की। वह जगत् रूप गृह की मर्यादा है, इस निमित्त से उत्पन्न किया। वह ब्रह्मा की माया ब्रह्मा के रूप से बड़े शरीर को धारण कर रही है, इससे आगे और सृष्टि का विस्तार है, लोकों और लोकपालों की रचना और उनके क्रम निर्माण किये हैं, सुमेरु पृथ्वी के मध्य में दशों दिशाएं रची सुख, मृत्यु, राग, और द्वेष को प्रकट किया है। इस प्रकार संपूर्ण जगत् त्रिगुण रूप ब्रह्मा जी ने

रचा जैसे जैसे उसने रचे हैं, ऐसे ही स्थित हुए हैं, और है क्या, जो कुछ सम्पूर्ण दृश्य भासता है, यह सब माया मात्र है, हे रामजी! इस प्रकार जगत् का क्रम हुआ है, वह संकल्प रूप संसार बड़ा स्थित होकर अज्ञान से भासता है, यह तो संकल्प से रचा है, संकल्प के वश से जगत् की क्रिया फैलती है, और संकल्प वश से दैवनीति होकर स्थिर हुई है, सब जगत् ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है, जब उसका संकल्प निर्वाण होता है, तब जगत् भी लय हो जाता है, एक समय ब्रह्माजी पद्मासन पर बैठे विचार करने लगे कि यह जग जगज्जाल मन का स्फुरण मात्र है, मन के स्फुरण से उत्पन्न होता है, बड़ा विस्ताररूप नाना प्रकार के व्यवहारोंवाला इन्द्र उपेन्द्र मनुष्य दैत्य, समुद्र, पर्वत, पाताल पृथ्वी से लेकर जगज्जाल सब माया मात्र है, बहुत फैल रहा है, अब मैं इससे निवृत हो जाऊँ, हे रामजी! इस प्रकार चिंतन करके ब्रह्माजी अनर्थरूप संकल्प से उपरत होकर आदि अन्त रहित अनादिमत परब्रह्म स्फार आत्मरूप उस आत्मतत्व में मन को लय करके आनन्दरूप केवल आत्म स्वरूप में स्थित हुए, और निर्मल निरहंकार परम तत्व को प्राप्त हुए, जैसे कोई व्यवहार से थका हुआ विश्राम करता है, ऐसे ही यह अपने आप में स्थित हुए, जैसे समुद्र अक्षोभ होता है, ऐसे अक्षोभ हुए, ध्यान में मग्न हुए थे फिर ध्यान से जो जैसे द्रवता के कारण समुद्र से तरंग फुर आता है, ऐसे ही चित्त के वश से ब्रह्मा जी स्फुरण रूप हुए, तब जगत् को देखकर विचार करने लगे, कैसा संसार है, दुःख सुख संयुक्त अनन्तों में विघ्न बाधाओं से बद्ध है, रागद्वेष मोह और भय से दूषित है। हे रामजी! इस प्रकार जीव को देखकर ब्रह्माजी को दया आई, दया करके उन्होंने कल्याणार्थ अध्यात्म ज्ञान से भरे हुए, वेदों उपनिषदों, और वेदान्त को प्रकट किया, बहुत से गूढार्थ संयुक्त शास्त्रों और पुराणों की रचना की, सब जीवों के मोक्ष सुख के लिये उन उत्तम शास्त्रों की रचना की, सब जीवों के मोक्ष सुख के लिये उन उत्तम शास्त्रों की रचना करके स्वयं भी उस आपत्ति रहित परम पद में स्थित हुए जैसे मंदराचल पर्वत के निकलने पर क्षीरसागर शान्त होता

है ऐसे शान्तरूप होकर स्थित हुआ, फिर उसी प्रकार जगकर जगत् को देख और मर्यादा से युक्त किया, तदनंतर कमलासन पर विराजमान होकर आत्मध्यान परायण हुए, इसी प्रकार जो कुछ अपने शरीर की मर्यादा ब्रह्माजी ने की है, उसी प्रकार नीति के संस्कार पर्यन्त क्रीड़ा करते हैं, कुलाल के चक्रवत् नीति के अनुसार विचरता है, जैसे ताडना और बासना से रहित चक्र फिरता है, ऐसे जन्म कारण से रहित है, इसको शरीरके रखने और त्यागनेमें कुछ इच्छा नहीं, न कुछ जगत्‌की स्थिति अस्थिति में इच्छा है, किसी एक पदार्थ के ग्रहण त्याग की भावना में आसक्त नहीं, सर्व पदार्थ में सम बुद्धि परिपूर्ण समुद्रवत् स्थित है, अब भी सब संकल्प से रहित शान्त रूप होकर रहता है, कभी अपनी इच्छा से जगत् को रचता है, परन्तु उसको जगत् के रचने में कुछ भेद नहीं, सब पदार्थों की अवस्था में तुल्यता है, हे रामजी! यह मैंने तुमको ब्रह्मा की स्थिति कही है, यह परम दशा और किसी देवता की उपजे तो उसको समता जानिये, वह शुद्ध सात्विक रूप है, सृष्टि के आदि जो शुद्ध ब्रह्म तत्व में चित्तकला फुरी है वह फुरना रूप मन का ब्रह्मारूप होकर स्थित हुई है, जब फिर जगत् स्थितिक्रम में कलना उत्पन्न होती है, तब वही ब्रह्मारूप आकाश पवन को आश्रय लेकर औषधि पत्र में आकर प्रवेश करता है कहीं देवता भाव को प्राप्त होता है कहीं मनुष्य भाव को प्राप्त होता है कहीं पशुपक्षी तिर्यक् आदिक को प्राप्त है, चन्द्रमा की किरणों द्वारा अन्नादिक औषधि में प्राप्त होता है, जैसे भाव को लेकर चित्तकला फुरती है, ऐसा भाव शीघ्र ही उत्पन्न हो आता है, कई उत्पन्न होकर संसार के संसर्ग वश से उसी जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, अपने स्वरूप का चमत्कार होता है, कई अनेक जन्मों से मुक्त होते हैं, हे रामजी! इस प्रकार जगत् का क्रम है, प्रत्यक्ष संकट कर्म बन्ध मोक्षरूप उत्पन्न होते हैं कई मिट जाते हैं, इस प्रकार संसार बन्ध मोक्ष से पूर्ण है, जब यह कलना मल नष्ट हो जाता है, तब संसार से मुक्त होता है, जब तक कलनामल होता है तब तक संसार भासता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे कमलजा—व्यवहारो नामैकोनष्टितमः सर्गः ।।५९।।

षष्टितमः सर्गः ६०

विचारपुरुष निर्णयः ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! इस प्रकार ब्रह्माजी ने निर्मल पद पर स्थित होकर सर्ग का विस्तार किया, इस संसार रूप कूप में जीव रूपटीड (मट्टी की टिंडे बर्तन) तृष्णा रूप रस्सी से बँधे हुए कभी नीचे कभी ऊपर को घूम रहे हैं, जब तृष्णारूप रस्सी टूट जाती है तब ब्रह्म तत्व से निकले हुए तत्व में मिल जाते हैं, ब्रह्म सत्ता से उत्पन्न हुए जीव ब्रह्मतत्व में लीन हो जाते हैं, जैसे समुद्र से मेघ वाष्प कण द्वारा उत्पन्न होते हैं वर्षा से फिर उसी में प्रवेश करते हैं, इसी प्रकार जब तन्मात्रा मंडल के साथ चित्तकला मिलती है, तब उसके साथ जीव एक रूप हो जाते हैं, जैसे मंदार वृक्ष के पुष्प की सुगंधि वायु से मिश्रित एक रूप हो जाती है, ऐसे चित्तकला जीव तन्मात्र से मिलकर प्राण नाम को पाती है, इस प्रकार प्राण वायु से आदि तन्मात्र जीवकाल को खैंचने लगता है, जैसे बड़े प्रचंड दैत्यों के समूह देवताओं को खेचें, ऐसे खैंचा हुआ जीव तन्मात्रा साथ एक रूप हो जाता है जैसे गन्ध और वायु तन्मय होता है, वह प्राण तन्मात्रा जीव के शरीर में वीर्य स्थान में जाकर प्राप्त होता है, तब जगत् में उपज कर प्राण प्रत्यक्ष होते हैं, और कई धूम्र मार्ग से देहावान् के शरीर में प्रवेश करते हैं, मेघ में प्रवेश कर बिन्दु मार्ग से औषधि में रस रूप होकर स्थित होते हैं, उसका जो भोजन करे उसके अन्दर वीर्य रूप हो कर स्थित होते हैं कई और प्राण वायु द्वारा प्रगट होते हैं, वह चर स्थावर रूप होते हैं, कई पवन मार्ग से धान्य क्षेत्र में चावल रूप स्थित होते हैं, उनको जीव खाते हैं, उससे वीर्य में प्राप्त होते हैं, नाना प्रकार के रंग भेद से प्राण धर्म उपजते हैं कई उपजने मात्र से जीव की परंपरा तन्मात्र से वेष्टित आकाश में जो स्थित होते हैं, जब तक चन्द्रमा उदय नहीं हुआ, जब चन्द्रमा उदय होता है, तब उसका रस शीतल श्वेत किरणों में होता हुआ पत्रों तथा औषधि में स्थित होता है, ऐसे औषधि में तथा फलों में

स्वादरूप होता है, जैसे दूध से स्तन पूर्ण होते हैं, ऐसे जीवों से फल पूर्ण होते हैं, जब वह फल परिपक्व होते हैं, उनको देहधारी खाते हैं, तब उनमें जीव जडात्मकरूप होकर स्थित होते हैं, वे सुषुप्ति वासना से वेष्टित हुए गर्भ पिंजर में जा पड़ते हैं, हे रामजी! वीर्य में सदाजीव रहते हैं, जैसे मृत्तिका में सदा घटादिक रहते हैं। काष्ठ में सदा अग्नि रहता है, दूध में घृत रहता है, ऐसे वीर्य में जीव रहते हैं, इस प्रकार महेश्वर रूप परमात्मा से जीव की परम्परा उत्पन्न होती है, वायु मार्ग से, धूम्र मार्ग से, मेघमार्ग से, औषधिमार्ग से, प्राण मार्ग से, चन्द्रमा की किरणों के मार्ग से इत्यादिक अनेक प्रकार से जीव उत्पन्न होते हैं जो उत्पन्न होने से आत्मसत्ता से अप्रमादी रहते हैं, अपना स्वरूप विस्मरण नहीं होता, वे शुद्ध सात्विक हैं, महा उदार व्यवहारवान् होते हैं, और जिनको उत्पन्न होने से विस्मरण हो जाता है, फिर उसी शरीर में आत्मा का साक्षात्कार होता है, वे सात्विक रूप हैं, और जो उत्पन्न होकर नाना प्रकार के व्यवहार को प्राप्त होते हैं और स्वरूप विस्मरण हो जाता है, जन्म की परम्परा पाकर स्वरूप का, आत्मा का, साक्षात्कार होता है, वे राजस सात्विक कहाते हैं और जिनका अन्त का जन्म आया होता है, उनको जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति होती है, वह क्रम अब तुमसे कहता हूँ जो सहज सत्ता सात्विक भाव को प्राप्त होते हैं और मोक्ष पाते हैं, हे रामजी! उत्पन्न होने मात्र से जो अप्रमादी हुए शुद्ध सात्विक हैं, वे ब्रह्मादिक हैं और जो प्रथम जन्म से बोधवान् हुए वे सात्विक हैं और दुर्लभ हैं और जो कभी किसी जन्म से मोक्ष हुए हैं, वे राजस सात्विक हैं, इनसे इतर हैं, वे नाना प्रकार के मूक जड अनेक हैं, तमसंयुक्त स्थावरादिक हैं, जिनको आत्मपद प्राप्त हुआ है, उनको जो मिलते हैं, उनका अंत का जन्म है, ऐसे पुरुष विचारते हैं कि मैं कौन हूँ, यह जगत् कौन क्या है इस विचार के क्रम से मोक्ष भागी होते हैं, वे राजस से सात्विक होते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे विचारपुरुष निर्णयोनामषष्टितमः सर्गः ॥६०॥

एक षष्टितमः सर्गः ६१

मोक्षविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जो राजस से सात्विक हुए हैं, वे पृथ्वी पर अपने महान् गुणों से शोभा पाते हैं, सदा उदित रूप रहते हैं, जैसे आकाश में चन्द्रमा रहता है, ऐसे वे पुरुष खेद नहीं पाते। जैसे आकाश को मलिनता स्पर्श नहीं करती, ऐसे उनको आपत्ति र्स्पश नहीं करती, जैसे रात आने पर स्वर्ण कमल मूँदे नहीं जाते, जो कुछ प्रकृत आचार है, उसके अनुसार चेष्टा करते हैं प्रकारान्तर से नहीं करते, जैसे सूर्य अपने आचार में विचरता है, और प्रकार से नहीं विचरता, ऐसे वे सत्यमार्ग में विचरते हैं, अन्दर से पूर्ण शान्तरूप हैं, आपत्ति से भी शान्ति नहीं त्यागते, जैसे चन्द्रमा की कला क्षीण होती है तो भी अपनी शीतलता को नहीं त्यागती, ऐसे ही ज्ञानवान् आपत्काल में भी मलिनता को प्राप्त नहीं होते, सदा मैत्री आदि गुणों से सम्पन्न रहते हैं, और उनसे सदा शोभा पाते हैं। समतारूप सम रस से पूर्ण हुए शान्तरूप हैं। निरन्तर समुद्रवत् अपनी मर्यादा में स्थित रहते हैं, हे रामजी! तुम भी सदा महापुरुषों के मार्ग पर चलो, जो मार्ग परम पावन आपत्ति रहित तथा सात्विक है, ऐसा करने से आपत्समुद्र में न डूबोगे। जैसे वे खेद से रहित जगत् में विचरते हैं, ऐसे विचरो। जिस क्रम से राजस सात्विक होकर मोक्ष भागी होता है, वह सुनो, सबसे पहिले आर्जव पद को प्राप्त करना चाहिये, अर्थात् यथा शास्त्रसत् व्यवहार करना, इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है, उस आर्यपद को पाकर सत्पुरुषों से मिलना और बार बार सत्शास्त्र का विचार करना, तथा संसार के जो अनित्य पदार्थ हैं, उनमें प्रीति न करना, भोगों से निरिच्छ रहकर अपने आप में वैराग्य उत्पन्न करना,जो पदार्थ त्रिलोकी में सत्य रूप हैं, उनकी बारंबार भावना करनी, अन्य भावनाओं को मिथ्या जानकर त्यागना उचित है, जो कुछ दृश्य जगत् भासता है, वह असम्यक् दृष्टि से है, उसको नाशरूप जानकर व्यर्थ

समझकर उसकी भावना नहीं करनी। सम्यक् ज्ञान को स्मरण रखना, सत्पुरुष और सच्छास्त्र जो कि ज्ञान के सहायक हैं, उनसे मिलकर उनका विचार करना, कि मैं कौन हूँ जगत् क्या है, भली भान्ति प्रयत्न करके विवेक सहित अध्यात्म शास्त्र का विचार करना, सत्य व्यवहार और सात्विक ही कर्म करने चाहिये, अवज्ञा करके मृत्यु को विस्मृत न कर देना जो पुरुष मृत्यु का विस्मरण करके संसार के कार्य में लग जाता है, वह डूबता है, हे रामजी! इसलिये मुख्य बात यह कि मृत्यु को सदा स्मरण में रखना और सन्मार्ग पर चलते रहना। जिस पदपर ज्ञानी पुरुष महाउदार शीतलचित्त स्थित हैं, उस पद के मार्ग और दर्शन की सदा इच्छा रखना, जैसे मोर को मेघ की इच्छा रहती है, हे रामजी! शरीर में अहंकार स्थित है, यह शरीर संसार में उत्पन्न हुआ, इसमें रहनेवाले को अहंकार विचारकर नाश करो, यह देह रुधिर मांस, मज्जा, आदि का बना हुआ है। जितने भूत जात हैं सब चेतनरूप तागे में पिरोये हुए जैसे मोती होते हैं ऐसे हैं, उन भूतों को त्यागकर चिन्मात्र तत्व को देखो, चेतनसत्ता सत्य है, नित्य विस्तृतरूप है शुद्ध है, सर्वगत सर्वभाव उसमें है, वह त्रिलोकी का भूषण आश्रय भूत है, जो चेतन आकाश में सूर्य में है, वही चेतन पृथ्वी के किसी छिद्र में रहने वाले कीट में है, जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद कुछ नहीं, ऐसे शरीर में चेतन में भेद कुछ नहीं, जैसे मिरचें तो बहुत हैं, उनमें तीक्ष्णता एक ही है, ऐसे ही सब भूतों में एक चेतनता अनुस्यूत है, अनुभव से जानता है, उस एक चिन्मात्र में भिन्नता कैसे हो, एक सत्य सत्ता जो निरन्तर चिन्मात्र वस्तु रूप है, उसमें जन्म मरण आदिक अज्ञान से भासता है, वास्तव से न कोई उत्पन्न हुआ है, न मरता है, एक आत्मतत्व सदा ज्यों का त्यों स्थित है, जगद्विकार उसमें आभास मात्र है, न सत्य है न असत्य है, चित्त के फुरने से भासता है, चित्त के शान्त होने पर शान्त हो जाता है, यदि जगत् को सत्य माने तो अनादि हुआ, इससे भी शोक किसीका नहीं बनता और यदि जगत् को असत्य मानें तो भी शोकस्थान नहीं बनता। इसलिये दृढ विचार

करके स्थित हो जाओ, शोक का त्याग करो, तुमारा न जन्म है न मृत्यु है आकाशवत् निर्मल शम शान्तरूप हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे स्थितिप्रकरणे मोक्षविचारो नामैक षष्टितमः सर्गः ।।६१।।

द्विषष्टितमः सर्गः ६२

मोक्षोपायवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जो पुरुष धैर्यवान् और बुद्धिमान है, वह सत् शास्त्र का विचार करे, और सत्संग करे, सत्पुरुषों का सा ही अपना भी आचार बनावे, जो दुःख के नाशकर्ता परमश्रेष्ठ ज्ञान दृष्टि हैं, उनको यत्न करके आश्रय बनाओ, तब अपने आपको भी सज्जनता आकर प्राप्त होगी, सत् पुरुष जो विरक्त आत्मा हैं उनसे मिलकर यदि शास्त्र का विचार किया जाय तो तब परमपद की प्राप्त होती है, हे रामजी! जो पुरुष सत् शास्त्र को विचारने वाला है और सत्संगी वैराग्यवान् और अभ्यासी है वह तुम्हारी नाईं विज्ञान का पात्र है, तुम तो उदारात्मा हो, धैर्यवान् पुरुषों में जो शुभ गुण होते हैं उनके तुम समुद्र हो, निर्दुःख होकर स्थित हो, अब तुम परम सात्विक हुए हो, मननशील हो, इस दग्धरूप संसार में तुम्हें दुखपात्र पुनः न बनना पडेगा। यह तुम्हारा अंतिम जन्म है, जो कि अपने स्वभाव की ओर दौडते हो, अन्तरमुख हो यत्न करते हो, तुम्हें निर्मल दृष्टि प्राप्त हुई है। यथा भूत जगद्वस्तु को जानते हो, जैसे सूर्य के प्रकाश से यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है, अब मेरे वचनों की पंक्ति से सब मल दूर हो जायगा जैसे अग्नि में धातु का मल जल जाता है, ऐसे तुम्हारा मल जल जायगा, निर्मलता से तुम्हारी शोभा होगी, जैसे मेघ के नष्ट होने से शरत्काल का आकाश शोभा पाता है, ऐसे संसार की भावना से मुक्त होकर चिन्ता से रहित निर्मल भाव में शोभा पाओगे, अहं मम आदिक कल्पना से मुक्त हुये हो, इसमें कुछ संशय नहीं, हे रामजी! तेरा जो यह अनुभव उत्तम व्यवहार है, इसके अनुसार

विचरेगा तो तू अशोक पद को प्राप्त होगा, और अन्य कोई भी इस प्रकार के व्यवहार से बर्तेगा तो वह भी संसार समुद्र को अनुभवरूप नाव से तर जायगा, तुम्हारे समान जिसकी बुद्धि होगी, वह समदर्शीजन ज्ञान दृष्टि योग्य है, जैसे सर्वकांतिमान् सुंदरता पात्र पूर्णिमा का चन्द्रमा होता है, और तुम तो अशोक दशा को प्राप्त हुए हो, यथा प्राप्त में बर्ताव करते हो, जब तक राग द्वेष से रहित स्थिर बुद्धि रहो, यथाशास्त्र जो आचार है उसे बहिर्मुखता से करते रहो, और अन्दर से सब कल्पनाओं से रहित शीतल समाचित हो जाओ, जैसे पूर्ण चन्द्र शीतल होता है, हे रामजी! तामस व्यवहार करने वाले मूढों अज्ञानियों से कोई मेल जोल नहीं रखना चाहिये, जो मैंने तुम्हें सात्विक जन कहे हैं, उनके सेवन से बुद्धि अन्तिम जन्मवती हो जाती है,यदि तामसीजन भी उनके संपर्क में रहें तो वे भी सद्बुद्धि हो जाते हैं, और जिस जिस जाति में जीव उत्पन्न होता है, उस उस जाति के गुण दोष से अवश्य संयुक्त हो जाता है, पूर्व का जो कोई भाव होता है वह जाति के वश से जाता रहता है, और जिस जाति में वह जन्मता है, उस जाति के गुण को जीतने का पुरुषार्थ करता है, तब यत्न से पूर्व के स्वभाव को जीत लेता है, जैसे धैर्यवान् शूरवीर शत्रु को जीत लेता है, यदि इसका पूर्व संस्कार मलिन हो तो धैर्य के साथ मलिन बुद्धि का उद्धार करे जैसे मूर्ख पशु किसी गर्त में गिरकर फँस जाय तो उसको तत्काल निकाल लिया जाता है, ऐसे मलिन संस्कार वाली बुद्धि को उद्धृत करना चाहिये, हे रामजी! जो रजोगुणी या तमोगुणी जातियाँ हैं, वे भी जन्म कर्म के प्रताप से पवित्र संस्कार हो जाने पर सात्विकर हो सकती हैं, इस पुरुष के अन्दर आत्मरूप चिन्ता मणि है उसकी कृपा से यह जैसा चाहे बन सकता है, अतः पुरुषार्थ करके अपना उद्धार करना चाहिये, पुरुषार्थ से और विचार से यह मनुष्य बड़ी से बड़ी उत्पत्ति कर सकता है और तो क्या अति दुर्लभ मोक्ष को भी पा सकता है, जिस समय यह मुक्ति के लिये यत्न करता है वह इसका अन्तिम जन्म होता है, आगे फिर जन्म नहीं पाता, पुरुषार्थ ऐसी उत्तम

वस्तु है कि अशुभ जातियों के कर्म भी निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा पदार्थ पृथ्वी, आकाश, देवलोक में कोई नहीं, जिसको पुरुष पुरुषार्थ से न पा सके। हे रामजी! तुम तो बड़े गुण सम्पन्न हो, धैर्यवान् तथा वैराग्यवान् हो, परम विचार शील हो, उस परमपद की प्राप्ति में पूर्ण समर्थ हो, तुम्हारे इस क्रम को जो कोई अन्य जीव भी हरण करेगा वह भी अति दुर्लभ परम पद को प्राप्त होगा। अब तुम्हारा अन्तिम जन्म है, तुम परम विवेकवान् हो, तुम्हारे अन्तःकरण की निर्मलता इतनी आकर्षक है कि समस्तादि वहाँ खिंचे हुए चले आये हैं, उनसे तुम्हारी विचित्र शोभा हो रही है, मिथ्या संसार का तो आपके अन्दर निरन्तर अभाव हो चुका है, ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र ब्रह्ममयी हो रही है, तुम्हारे स्वरूप स्थित होने से तुम्हें अन्दर बाहिर वही अपना सत् चित् आनन्द स्वरूप ही अनुभूत हो रहा है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे महारामायणे चतुर्थ स्थितिप्रकरणे
मोक्षोपायवर्णनं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ।।६२।।

इति स्थिति प्रकरणं समाप्तम् ।

परमात्मने नमः ।

अथ श्रीयोगवासिष्ठे

पञ्चम मुपशम प्रकरणं प्रारभ्यते ।।५।।

प्रथमः सर्गः १

पूर्वदिन वर्णनम् ।

वाल्मीकिजी बोले–हे साधो! अब स्थिति प्रकरण के अनन्तर उपशम–प्रकरण कहता हूँ, जिसके जानने से निर्वाणता प्राप्त करोगे, जब इस प्रकार वसिष्ठजी ने कहा, तब समस्त सभा सुशोभित हुई, जैसे शरत्काल के आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं, वसिष्ठजी के वचन भी परमानन्द के कारण हैं। ऐसे पवित्र वचन सुनकर और उनके अर्थको हृदयमें धारण कर सब सभासद मौन हो गये, जैसे कमल सुचारु रूप से पंक्तिबद्ध करके रक्खें हों, इस प्रकार सभा के लोग और राजा अपने अपने स्थान पर विराजमान हुए और स्त्रियाँ, जो झरोखों में बैठी थीं, उनकी महाविलास की चंचलता शान्त हो गयी और घंटी यंत्र के चलने से घर में जो शब्द हो रहा था, वह भी बंद हो गया, सिर पर चमर डुलानेवाले सेवक गण भी मूर्तिवत् हो गये। राजा से लेकर सामान्य सभासदों तक सभी लोग कथा की ओर दत्त चित्त हुए। कथा भी अति विचित्र है, ज्ञान विज्ञान भरी है, सभी लोग उसके विचार में ही मग्न हो गये, रामजी परम प्रसन्न हुए, जैसे प्रातःकाल कमल विकसित होता है, इस प्रकार उनका हृदय कमल परमालोकित तथा विकसित हुआ, जैसे सूर्योदय से सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, इस प्रकार वसिष्ठजी की ज्ञान

प्रकाशमयी वाणी से महाराजा दशरथ परम प्रसन्न हुए, इस प्रकार गद्गद हुए कि जैसे मेघ के बरसने से मोर प्रसन्न होता है, सभी श्रोताओं के मन मर्कटों ने अपनी स्वाभाविक चंचलता का परित्याग किया और अन्य किसी प्रकार के विषयान्तर चिन्तन से शून्य होकर ध्यानस्थ हो गये। मंत्री लोग स्वरूपस्थित होकर श्रवण करने लगे, चन्द्रकला के समान शान्ति बरसाने वाली आत्मकला प्रकाशित हुई। लक्ष्मण अपने लक्ष स्वरूप को देखने लगे। उन्होंने वसिष्ठजी के गम्भीर ज्ञानोपदेश को अपनी निर्मल मति से अति स्वच्छता से ग्रहण किया। शत्रुओं के दलन करनेवाले शत्रुघ्नजी का हृदय वसिष्ठजी के वचनामृत का पान करके परमप्रसन्न हुआ, जैसे पूर्ण चन्द्रमा शान्तरूप होता है, इस प्रकार मन्त्री लोग आनन्दपूर्ण हुए, सबके मन शीतल हुये, हृदय प्रफुल्लित हो गये। सारी सभा के मन कमल, सूर्योदय के समय पर विकसित हुए। कमलों के समान विकसित हुए हैं, सभा में विराजमान हुए विद्वान ब्राह्मणों के चित्तरूप रत्न अपनी निर्मलता से चमकने लगे। तब मध्याह्न का समय हुआ, बाजे बजने लगे, बड़े बड़े विलक्षण वादित्रों के मधुर शब्द होने लगे, भेरी आदि बाजों के तीव्र शब्द से मुनीश्वरों का शब्द आच्छादित हो गया, जैसे मेघ के गरजने से कोकिला का शब्द छिप जाता है, इस प्रकार शब्द होने पर मुनिवर वसिष्ठजी तूष्णीं (मौन) हो गये। जब यह बाजों का शब्द शान्त हुआ तब वसिष्ठजी रामजी से कहने लगे, हे रामजी! जो कुछ मुझे आज कहना था, वह कह चुका हूँ अब और कल कहूँगा, तब सब सभा के लोग अपने अपने स्थान को गये, तब वसिष्ठजी ने राजा से लेकर रामजी आदिक सबको घर जाने की आज्ञा दी, तब सबने श्री मुनीश्वर वसिष्ठजी को नमस्कार किया और नभचारी, बनचारी, जलचारी आदि सब श्रोताओं को विदा किया। सब अपने अपने स्थान पर चले गये दिन की सुनी कथा को विचारते हुए गये और अपने काम को भी सँभाला।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे पूर्वदिन वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः २

उपदेशानुसार वर्णनम् ।

वाल्मीकि मुनि बोले—हे भरद्वाज! इस प्रकार वे श्रोता लोग अपने अपने स्थानों पर जा पहुँचे और वहाँ जाकर वे सब लोग अपना अपना समयोचित कार्य करने लगे, उनमें बड़े बड़े शूरवीर अति सुन्दर चन्द्रमा के समान कान्तिवाले राजकुमार थे, इधर श्रीवसिष्ठ मुनि, राजा तथा राघव मुनिजन ब्राह्मण लोग भी अपने अपने स्नान सन्ध्या आदि कार्यों में संलग्न हुए, स्नान करने के लिये अति सुन्दर कमलों से भरे स्वच्छ जल से पूर्ण सरोवर थे, वहाँ सब लोगों ने स्नान करके गौ, स्वर्ण, अर्थ, पृथ्वी, वस्त्र, भोजन पानपात्र आदिक वस्तुओं का दान किया। देवस्थान सुवर्ण और रत्नों से जड़े हुए थे, सब लोगों ने राजा सहित वहाँ आकर देवताओं का पूजन किया। किसी ने विष्णु का, किसी ने शंकर का, किसी ने सूर्य आदि पूजन किया, पूजन करके, पुत्र, पौत्र, सुहृद, मित्र और बन्धुजन सहित भोजन किया। भोजन अति स्निग्ध रुचिकर और स्वादिष्ट था। तदनन्तर दिनार्ध बीतने पर समयोचित्त क्रिया अपने सबंधियों सहित सम्पन्न की, जब सायंकाल में सूर्यास्त हुआ तब सायंकाल क़ी विधि सम्पन्न की। अर्घमर्षण, गायत्रीजप पाठ आदि पूर्ण किये, इसके अनन्तर मुनीश्वरों की मधुर कथाएं कही सुनीं। तदनन्तर रात्रि के आ जाने पर परिचारिका स्त्रियों ने रामजी आदिकों की शय्याएं बिछाईं, सब अपनी शय्या पर विराजमान हो गये। एक रामचन्द्रजी को छोड़कर अन्य जितने भी श्रोता लोग थे सबको रात्रि एक मुहूर्त व्यतीत हुई, अर्थात् अन्य सब गाढ निद्रा में मग्न हो गये और रामजी बैठकर वसिष्ठजी के वचनों के कठिन अंशों का विचार करते रहे, वसिष्ठजी के वचन अति गंभीर सारगर्भित था, विचारणीय है, उनका रामजी इस प्रकार विचार करने लगे जैसे हाथी का बालकर किसी वन में कुछ भोजन समेट लाता है और

फिर उस का स्मरण करे। इस प्रकार रामजी विचारने लगे कि जिसका नाम संसार है उसमें भ्रमण का पात्र कौन है? और नाना प्रकार के जो भूत जात हैं वे कहां से आये हैं और कहाँ जाते हैं और मन का स्वरूप क्या है? शान्ति कैसे होती है, यह माया कहां से उठी है और कैसे निवृत्त होती है, निवृत्त होने पर विशेषता क्या होती है और नाश किसका होता है, अनन्तरूप विस्तृत आत्मा में अहंकार का होना कैसे है और मन के क्षय होने में मुनीश्वर ने क्या कहा है और इन्द्रियों के जीतने के विषय में क्या कहा है, आत्म के पाने में क्या युक्ति वसिष्ठजी ने कही है? जीव चित्त और माया सब ही एक रूप हैं। विस्ताररूप संसार सब इनसे ही रचा है, वह असत्तरूप है, इनने ही संसार को बाँध रक्खा है, उसी से जीव दुःख पाते हैं, जैसे तेंदुए ने हाथी को बाँधा था और वह कष्ट पाता था, ऐसे ही जीव कष्ट पाते हैं, उस दुःख को नाश करने की अवधि क्या है, भोगों की आसक्ति से मेरी बुद्धि अत्यन्त मोहित हो गयी है, उस भोगमयी बुद्धि को मैं भोगों से पृथक कैसे करूँ, क्योंकि भोगों के त्याग करने की तो मुझमें सामर्थ्य नहीं है और भोगों के त्याग के बिना भी तो बड़ी आपत्ति है, इस आपत्ति को दूर करने की भी अपने अन्दर शक्ति नहीं है, महान् आश्चर्य है, हमें बहुत कष्ट प्राप्त हुआ है, जैसे जल और दूध में हंस जल को अलग और दूध को अलग कर देता है ऐसे ही बुद्धि को भोगों से अलग कर देना आवश्यक है, परन्तु हम बड़े कष्ट में हैं कि हमसे ऐसा नहीं हो रहा, आत्मपद की प्राप्ति मन के जीतने से होती है, वेद शास्त्र भी यही कहते हैं, कि मन पर विजय प्राप्त करो और गुरुवर के वचनों से भ्रम नष्ट हो जाता है, जैसे बालक को परछाईं में बैताल भासता है और उस भ्रम को जैसे बुद्धिमान् पुरुष दूर करता है, ऐसे मनरूप भ्रम को गुरु दूर करते हैं, वह कौन समय होगा कि मुझे शान्ति मिलेगी और मेरा संसार भ्रम नष्ट होगा, जैसे युवती स्त्री भर्ता को पाकर सुख से विश्राम करती है ऐसे मेरी बुद्धि आत्मा की प्राप्ति से कब विश्रामवती होगी? और मेरे नाना प्रकार के संसार के आरंभ कब शान्त

होंगे। कब मैं आदि अंत से रहित पद पर विश्रान्ति प्राप्त करूँगा, मेरा मन कब परम पावन होगा, मैं पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान कब सब कलाओं से सम्पन्न हूँगा, स्वच्छ शीतल प्रकाशरूप पद पर कब स्थित पाऊंगा और कब जगत् को देखकर हसूंगा, कब मलिन संकल्पों को त्यागकर आत्मपद में स्थित पाऊंगा, कब मैं मन को संकल्प विकल्प से रहित शान्त देखूँगा, जैसे तरंग से रहित नदी शान्त दीखती है, माया जल से पूर्ण तृष्णा तरंगों से व्याकुल संसार समुद्र को जो रागद्वेष रूप भयंकर मकरों से भरा पड़ा है, त्यागकर बीजज्वर रहूँगा। मैं कब उपशम सिद्धपद को पाऊँगा, जिस पद को बुद्धिमानों ने मूढता का नाश करके पाया है, मैं कब निर्दोष तथा समदर्शी बनूँगा? मेरा अज्ञानरूप ताप कब नाश होगा, जिससे मेरे सम्पूर्ण अंग तपा करते हैं, सब धातु क्षोभरूप हो गये हैं, उससे बहुत बड़ा ज्वर हो गयाहै, इन सब दोषों से कब शान्ति मिलेगी, जैसे वायु से रहित स्थान पर रक्खा हुआ दीपक शान्तरूप प्रकाशित होता है, मैं कब इन्द्रियों के दुःख को लीला से शान्त देख सकूंगा। इस दुर्गन्धरूप देह से मैं कब नाशरूप देखूंगा, यह अहं त्व आदिक मिथ्या भ्रम उठा हुआ है इसको मैं कब नाशरूप देखूंगा, हमें वह आत्मसुख कब प्राप्त होगा, जिसको पाकर इन्द्रादिकों का सुख ऐश्वर्य मन्दार आदि वृक्षों की सुगन्धि और नाना प्रकार के भोग तृणवत् भासते हैं। वीतराग मुनीश्वर ने हमको ज्ञान की निर्मल दृष्टि कही है, उसको पाकर मन परम शान्त होता है और यह संसार तो दुःखरूप है, हे मन! तू किस पद को पाकर निश्चिंत हुआ है, माता पिता पुत्रादि जो सम्बन्धी हैं उनका मैं पुनः संगी नहीं होना चाहता, भोगी मनुष्य ही इनका साथी हो सकता है, हे दुबुद्धि! यदि तू मेरी भगिनी है तो भाई जानकर मेरा काम शीघ्र ही पूरा कर, जिससे हम तुम दोनों दुःख से मुक्त हो जायँ। मुनिवर के वचनों का विचार करने से हमारी आपत्ति नाश होगी और परम पद मिलेगा, जिससे परम शान्ति प्राप्त होगी, हे बुद्धि! तू वसिष्ठजी के वचनों को यथावत् स्मरण कर कि उन्होंने क्या कहा है, तदनन्तर उत्पत्ति प्रकरण कहा है कि संसार की उत्पत्ति किस क्रम से हुई है, तदनन्तर स्थिति प्रकरण कहा है कि ईश्वर से ही जगत् की स्थिति है, इसका

नाना प्रकार के दृष्टान्तों से निरूपण किया है और जितने प्रकरण कहे हैं सब ज्ञान विज्ञान पूर्ण हैं, हे बुद्धि! जिस प्रकार वसिष्ठजी ने कहा है, ऐसे ही तू स्मरण कर कि अनेक बार किया जाने पर भी विचार बुद्धि में निश्चिंत न हो वह निष्फल होता है, बुद्धि में अनुसन्धान करने से विचार सफल होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे उपदेशानुसार वर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ।।२।।

तृतीयः सर्गः ३

सभास्थानवर्णनम् ।

वाल्मीकिजी बोले–हे भरद्वाज! जब इस प्रकार बड़े उदारात्मा रामजी ने विचार में रात बिताई, जैसे सूर्य के आने की इच्छा में कमल रात बिताता है, दिसाओं में अभी सामान्य सा अन्धकार शेष था, परन्तु लीला भी दिखाई दे रही थी, आकाश में कोई कोई तारा दीखता था, राजद्वार में प्रभातकाल के बाजे बज रहे थे, उस समय चन्द्रमा के समान मुख वाले श्रीरामचन्द्रजी उठे, प्रातःकाल की स्नान सन्ध्याविधि से निश्चित होकर, कुछ पुरुषों के साथ लिये हुए वसिष्ठजी के आश्रम पर पहुँचे, महर्षि वसिष्ठ महाराज उस समय आत्मपरायण हुए एकान्त में समाधिस्थ थे, उनको इस प्रकार समाधि दशा में देखकर श्रीरामजी ने दूर ही से प्रणाम किया, प्रणामानन्तर कुछ आगे जाकर हाथ जोड़कर वसिष्ठजी के सामने खड़े हो गये, अब सूर्य भगवान् का प्रकाश प्रसाद सर्वत्र फैल जाने के कारण समयानुसार कर्मचेष्टा कर्मचारियों द्वारा प्रारंभ हो गयी। राजा, राजकुमार, ऋषि, ब्राह्मण, आदि सब लोग वसिष्ठ महर्षि के आश्रम पर आ पंहुचे, जैसे ब्रह्मलोक में देवता आते हैं, इस प्रकार से आये हुये लोगों से वसिष्ठजी का आश्रम भर गया। हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, चार प्रकार की सेना आदि के वहाँ जमा हो जाने से वह स्थान भर गया और सुशोभित होने लगा। इतने में देखा गया कि वसिष्ठजी ने समाधि खोली, तब सब लोग आ आकर प्रणाम चरण

वन्दना करने लगे, मुनि महाराज भी सबको यथायोग्य कह कर उठे और विश्वामित्र को साथ लेकर सबसे आगे होकर चले, बाहिर निकल कर रथ पर सवार हुए, जैसे कमलज ब्रह्मा पद्म पर बैठें, ऐसे रथ पर चढकर राजा दशरथ के घर की ओर चले, उनके साथ सेना भी पीछे थी। जैसे ब्रह्माजी देवताओं से वेष्टित हुए इन्द्रपुरी को आते हैं, ऐसे वसिष्ठजी दशरथ के घर आये, उस अति विस्तृत परम रमणीय सभा में प्रवेश किया जैसे हंस वेष्टित राजहंस कमलों में जा प्रवेश करे, तब राजा दशरथ ने जो कि बड़े सिंहासन पर बैठे थे, अति आदर सहित आगे आकर परम नम्रता से चरणों पर नमस्कार किया वसिष्ठजी उठकर सबके आगे होने से अत्यन्त शोभा पाने लगे, वसिष्ठजी से लेकर और भी बहुत से ऋषि मुनि, ब्राह्मण आये और महाराज दशरथजी से लेकर अन्य राजा लोक, मंत्री, बन्दीगण लोग तथा रामजी से लेकर अन्य राजपुत्र मंडलेश्वर जगत् के अधिष्ठाता और मालव आदि सब भृत्य सेवक लोग भी वहां आये और सब यथा योग्य आसनों पर बैठते गये, सबके यथा स्थान विराजमान हो जाने पर सबकी दृष्टि वसिष्ठजी की ओर चली गयी, भाट बन्दीजन स्तुति करने लगे, सब लोक जयकार पुकारते थे, अब सर्वत्र मौन छा गया और भली प्रकार सूर्योदय भी हो गया, किरणों ने झरोखों द्वारा अन्दर प्रवेश किया, कमल विकसित हुए, फूलों से वह स्थान भर गया, महा सुगन्धि फैल गयी और स्त्रियाँ झरोखों में आकर बैठने लगीं, सब मौन साधे हुए थीं। किसी की चंचल वृत्ति नहीं थी, चमर करनेवाली दासियाँ मौन रहकर चरम डुला रही थीं, वसिष्ठजी की अति सुन्दर मधुरवाणी अति कोमल तथा रसभरी जानकर सब लोग आपस में उनकी प्रशंसा करते थे। इस महान् सत्संग में आकाश मार्ग से राजर्षि, सिद्ध, विद्याधर और मुनिलोग आये, सबने वसिष्ठजी को प्रणाम किया और यथा योग्य आसनों पर बैठ गये। सत्संग में विघ्न न हो, इस भाव से वे लोग गंभीरता से मौन ही रहे, मुख से कुछ न बोले, अगर चन्दनादि सुगन्धि ने उस स्थान को अति आकर्षक बना दिया, पुष्परस लोभी भ्रमर भी मानों वहां

सत्संग का आनन्द लेने को घूम रहे हैं, सभा में विराजमान हुए राजाओं तथा राजकुमारों के शरीरों में चमकते हुए भूषणों की मणियों पर पड़ती हुई सूर्य किरणें विलक्षण प्रकाश कर रही हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सभास्थानं वर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ।।३।।

चतुर्थः सर्गः ४

राघवप्रश्नवर्णनम् ।

वाल्मीकि मुनि बोले–ऐसे बोधरूप मेघ गर्जना के समान गम्भीर वचन, जिनमें अति सुन्दर पद विन्यास है, दशरथ ने वसिष्ठजी से कहे, हे भगवन्! कल का जो दिन व्यतीत हुआ है, उसमें आपने हमको कहा था कि शान्त चित्त हो जाइये क्योंकि तुम्हारा शरीर तृप्तता से अति कृश जैसा हो गया है, इस निमित्त आप से कहते हैं कि हे मुनीश्वर! आपके कहे आनन्द वचन साक्षात् अमृत वर्षा है, उनसे हम परमानन्दित हुए हैं, आपके प्रकाशमय वचनों से हमारा समस्त हृदयान्धकार लुप्त हो गया है, जैसे तापत्रय दग्ध हमारा हृदय इस अमृत को पीकर परमशान्त हो गया है, जैसे चन्द्रमा की किरणों से संताप और अन्धकार दोनों का नाश होता है उसी प्रकार आपके वचनामृत से हम तप्तता से रहित हुए हैं और अज्ञानरूप तम भी हमारा दूर हुआ है। आपके अमृत वचन अपूर्व रस देते हैं, जैसे जैसे इनको ग्रहण करें, ऐसे ऐसे विशेष आनन्द रस आता है, अमृत की वर्षा करके शोक सन्ताप को मिटा देते हैं, आपके वचन प्रकाशमय रत्न हैं, इससे अज्ञान अन्धकार निर्मूल हो जाता है, सन्तजन कल्पवृक्ष हैं उनमें यह वचनरूप अमरफल सेवन कर्ता को तत्काल अमर कर देते हैं, हे मुनिवर! तृष्णा और लोभ आदिक जो विकार हैं, वह आपके वचनौषधि के श्रवणरूप सेवन से तत्काल नाश हो जाते हैं। इसलिए आपके वचनों से इस प्रकार निष्पाप हुए हैं कि जैसे शरत्काल का पवन मेघ को नष्ट करता है, आत्मदर्शन के लिये आपने हमको दिव्य दृष्टि

देनेवाला यह अति अद्भुत वचनरूप अञ्जन दिया है, जिससे हम नेत्रवान् हुए हैं, जैसे जन्मान्ध नेत्र पाकर नेत्रवान् होता है, इसी प्रकार हम दिव्यनेत्रों से कृतार्थ हुए हैं, वाल्मीकि मुनि बोले–इस प्रकार वसिष्ठजी को कहकर महाराजा दशरथ ने रामजी की ओर मुख किया और कहा, हे रामजी! जो समय सत्पुरुषों के संग में बीतता है, वही सफल है और जो समय बिना सत्संग चला जाता है वह व्यर्थ और पापरूप है, हे कमलनयन रामजी! श्रीमुनि महाराज से कुछ और प्रश्न करो, जिससे यह फिर उपदेश करें, क्योंकि यह हमारा परम कल्याण चाहने और करने वाले हैं। वाल्मीकि मुनि बोले– जब इस प्रकार राजा दशरथ ने कहा–तब रामजी की ओर मुख करके उदार आत्मा भगवान् वसिष्ठ बोले–हे राघव! तुम अपने कुल रूप आकाश में चन्द्रमा हो, मैंने जो वचन कहे थे वे क्या तुम्हारे स्मरण में हैं? और क्या उनका अर्थ भी तुम समझते हो? क्या तुमने पूर्वापर का विचार किया है? हे महाबोधवान् महाबाहो! अज्ञानरूप शत्रु के नाश कर्ता! सात्विक, राजस, तामस गुणों के भेद की उत्पत्ति विचित्ररूप है, वह मैंने कही है, वह तुम्हारे चित्त में है क्या? सर्व भी वही है, असर्व भी वही है, सत्य भी वही है, असत्य भी वही है, सदा शान्त अद्वैतरूप है। यह परमात्मदेव का विस्तृतरूप स्मरण है क्या? जिस प्रकार विश्व ईश्वर से उदय हुआ है, वह स्मरण है क्या? यह देववाणी है, इसका पात्र शुद्ध चित्त है, अशुद्ध नहीं, हे सत्यबुद्धि रामजी! अविद्या जो विस्तृत रूप भासती है, उसका रूप स्मरण है क्या? अर्थ से शून्य क्षणभंगुर है, सम्यक् दर्शन से रहित निर्जीव है, वह जो लवण के विचार द्वारा मैंने प्रतिपादन किया है, वह भली भांन्ति स्मरण है क्या? वाक्यों का समूह मैंने तुझको कहा है, उनको रात्रि में विचार कर हृदय में धारण किया करता है, तब बड़ा फल प्राप्त होता है और जो अज्ञान करके अर्थ का विस्मरण करता है तो फल को नहीं पाता, हे रामजी! तुम तो इन वचनों के पात्र हो, यह वचन परम उदार है, वह उसके हृदय में फलीभूत होते है, जैसे उत्तम बांस में मोती फलीभूत होते

हैं, अन्य में उत्पन्न नहीं होते ऐसे जो विवेकी उदार आत्मचित्त पुरुष हैं, उनके हृदय में यह वचन फलीभूत होते हैं। वाल्मीकिजी बोले—इस प्रकार जब कमलासन ब्रह्माजी के पुत्र वसिष्ठजी ने कहा तब महा ओजस्वी परमगम्भीर रामजी अवकाश पाकर बोले—हे भगवन्! सर्वधर्मों के वेत्ता आपने परम उदारता से जो वचन कहे हैं, उनसे मैं बोधवान् हुआ हूँ और आपका कथन ही यथार्थ है, हे भगवन्! मैं रात को सोया नहीं आपके ही उक्त वाक्यों के विचार में मैंने रात्रि व्यतीत की है, हे प्रभो! आप तो हृदय के अज्ञानरूप अन्धकार को नाश करने के लिये ज्ञानरूप सूर्य विचरते हो, हे भगवन्! आपने जो गत दिनों में परम आनन्ददायक प्रकाशरूप वचन कहे थे, वे मैंने भली भाँति अपने हृदय में धारण किए हैं, आपके वह वचन अति पवित्र और परमरमणीय हैं, जैसे समुद्र से बड़े बड़े उत्तम रत्नों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार आपके हृदय सागर से अनुपम ज्ञानरत्नों की उत्पत्ति होती है, जिससे मुमुक्ष जीवों का परमकल्याण होता है, ऐसा कौन भाग्यहीन पुरुष है जो आपके इन मुक्ति मन्त्ररूप वचनों से अपने आपको कृतार्थ न करना चाहता हो, अपने कल्याण के लिये प्रत्येक मनुष्य आपकी आज्ञा को शिरोधार्य मानता है, हे मुनीश्वर! आपकी कृपा से मेरे सब संशय निवृत हुये हैं, जैसे शरत्काल में बादल तथा वाष्प आदि के नष्ट हो जाने से आकाश निर्मल भासता है, ऐसे ही आपकी कृपा से मैं नितान्त निर्मल चित्त हुआ हूँ, यह संसार आपातरमणीय है, जब तक पदार्थों का अभाव नहीं होता तब तक सुखदायक प्रतीत होता है जब विषय पदार्थ इंन्द्रियों से दूर होते हैं, तब दुःखदायक हो जाता है, और आपके वचन कैसे हैं? कि जिनका अति सुगम मधुर आरम्भ है, मध्य में तत्वार्थ का विश्लेषण है, और परिणाम में सिद्धान्त निष्पादन है, ऐसे अति उत्तम पद के देनेवाले आपके वचन परमदुर्लभ हैं, हमें पूर्ण विश्वास और दृढ निश्चय हैं कि आपके वचनामृत का हमको परम आनन्दरूप फल प्राप्त होगा। सर्व शास्त्रों में जो पुण्यरूप जल है, आपका हृदय उसका समुद्र है, अब मैं निष्पाप हुआ हूँ। मुझे उपदेश कीजिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे राघवप्रश्न वर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

पंचमः सर्गः ५

प्रथमोपदेश वर्णनम् ।

वष्ठिजी बोले—हे सुन्दर मूर्ति रामजी! यह उत्तम सिद्धान्त जो उपशम प्रकरण है वह सुनो। तुम्हारे कल्याण के निमित्त कहा जाता है, यह संसार बहुत दीर्घरूप है, इसको राजसी और तामसी जीवों ने चला रखा है, जैसे दृढ स्तंभ के आश्रय गृह होता है ऐसे राजसी जीवों के आश्रित यह मायामय संसार है और जो आप जैसे सत्वस्थित हैं, वह वीर पुरुष हैं, वैराग्य विवेकादिगुणों से सम्पन्न हैं, वे लोग इस संसार माया का विनोद रूप से विनायत्न के त्याग कर सकते हैं, जो बुद्धिमान् सात्विक पुरुष जगे हुए हैं और राजस सात्विक है, वे भी उत्तम पुरुष हैं, वे पुरुष जगत् के पौर्वापर्य्य को विचारते हैं, सत्पुरुषों का संग और सच्छास्त्रों का विचार करते हैं, उनके निर्दिष्ट आचार पर चलते हैं, ऐसा करने से बुद्धि ईश्वर दर्शन योग्य बनती है, और दीपकवत् ज्ञान प्रकाश उत्पन्न होता है, हे रामजी! जब तक अपने विचार से अपना स्वरूप पहिचानने की सामर्थ्य नहीं, तब तक ज्ञान नहीं होता, जो उत्तम कुल निष्पाप सात्विक राजस जीव हैं, उनको विचार उत्पन्न होता है, उस विचार से अपने आपको प्राप्त करता है वह दीर्घदर्शी है संसार के जो नाना प्रकार के आरंभ हैं, उनको विचारता है, और विचार द्वारा आत्मपद को पाता है, परमानंद सुख में प्राप्त होता है, इसलिये तुम इसी संसार को विचारो, कि सत्य क्या है और असत्य क्या है, ऐसे विचार से असत्य का त्याग करो, और सत्य का आश्रय करो, जो पदार्थ आदि में नहीं और अन्त में न हो, उसके मध्य में भी असत्य जानिये, जो आदि अन्त में एकरस है, उसको सत्य जानिये, उससे इतर कुछ नहीं जो आदि अन्त में नाश रूप है, उसमें जिसको प्रीति है, और उसके राग से रंजित है वह मूढ है पशु है, उसको विवेक का रंग नहीं लगता मन ही

उपजता है, मन ही बढ़ता है, सम्यक् ज्ञान के उदय होने से मन निर्वाण हो जाता है, मन रूप संसार है, और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है, रामजी बोले—हे मुनीश्वर! जो कुछ आपने कहा मैंने जान लिया, कि यह संसार सर्वभावनाओं में मन रूप है, जरा मरण आदि विकारों का पात्र भी मन ही है, इसके तरने का उपाय निश्चय पूर्वक कहिये, जिससे इसको परास्त किया जा सके, हम सब रघुवंशियों के हृदयान्धकार को दूर करने के लिये आप ज्ञानरूप सूर्य हो, वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! इस जीव का पहिला कर्तव्य है, विचार पूर्वक वैराग्य धारण, सत्संग और सच्छास्त्रों के विचार से मन को निर्मल करना, जब मन को निर्मल करेगा, तब सुजनता सम्पन्न होगी, तब इसको वैराग्य उत्पन्न होगा, वैराग्य होने पर ज्ञानवान् गुरु के पास जायेगा जब वे उपदेश करेंगे, तब ध्यान अर्चन से क्रमानुसार परम पद को प्राप्त होगा, जब इसको निर्मल विचार उत्पन्न होता है, तब इसको अपने आपका साक्षात्कार होता है, जैसे पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र बिंब अपने आपको स्वयं देखता है, ऐसे यह देखता है, जब तक विचार का आश्रय नहीं लिया तब तक संसार में तृणवत् घूमता रहता है, विचार करने से वस्तु का यथावत् ज्ञान होता है, तब सब दुःख मिट जाते हैं जैसे सौम्य (अचल) जल के नीचे बालुका बैठ जाती है, ऐसे ही उसकी पीड़ा मिट जाती है, फिर उत्पन्न नहीं होती, जैसे स्वर्ण और राख मिली हुई है, तब तक सुनार संशय में रहता है, जब सुवर्ण और राख भिन्न हो जाती है, तब संशय रहित स्वर्ण को प्रत्यक्ष देखता है, तब निःसंशय हो जाता है। ऐसे अज्ञान से जीवों को मोह उत्पन्न हुआ है, देह इन्द्रिय के साथ फैला हुआ संशय में रहता है, जब विचार कर भिन्न भिन्न जाने तब मोह नष्ट हो जाते हैं, और संशय से रहित शुद्ध अविनाशीरूप आत्मा को देखता है, विचार करने से मोह का अवसर नहीं रहता, जैसे गँवार मनुष्य चिन्तामणि का मूल्य नहीं जान सकता, जब उसको ज्ञान प्राप्त हो तब ठीक ठीक जानता है, तब ही शान्ति को प्राप्त होता है, ऐसे ही जीव जब तक आत्म तत्व को नहीं जानता, तब तक दुःखभोगी होता है, और जब यथावत् जानता है, तब शुद्ध शान्ति को प्राप्त होता है, हे रामजी!

देह के संग से मिश्रित भासता है, वास्तव से मिश्रित नहीं हुआ, इसलिये शीघ्र ही स्वरूप स्थिति प्राप्त करो, निर्मल आत्मा का देह से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं, जैसे सुवर्ण कीच में लिप्त भासता है तो भी सुवर्ण को कीच का लेप नहीं लगता, सुवर्ण निर्लेप रहता है, ऐसे जीव को देह के साथ सम्बन्ध कुछ नहीं, निर्लेप रहता है, आत्मा भिन्न है, देह भिन्न है, जैसे जल और कमल भिन्न रहते हैं, मैं हाथ उठाकर पुकार कर कह रहा हूँ, मेरे कथन को कोई नहीं मानता कि—संलक्प से रहित होना परम कल्याण है, अन्तःकरण में यही भावना क्यों नहीं करते? जब तक स्वरूप का प्रमाद है तब तक इसके हृदय से संसार का अन्धकार किसी प्रकार दूर नहीं होता, चन्द्रमा का उदय हो अग्नि प्रज्वलित हो, द्वादश सूर्यों का एक समय में ही उदय हो जायँ, तो भी हृदय का अज्ञान्धकार किंचिन्मात्र भी दूर नहीं हो सकता, जब स्वरूप को जानकर आत्मा स्थित प्राप्त हो, तब हृदय का अन्धकार नष्ट होगा। जैसे सूर्योदय से जगत् का अन्धकार नाश होता है, ऐसे ही आत्म साक्षात्कार से हृदयान्धकार दूर होगा। जब तक आत्म पद का बोध नहीं हुआ, और मन भोगों में अशक्त है, तब तक संसार समुद्र में गोते खाने होंगे। कभी दुःख का अन्त न होगा, अतः ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये जैसे आकाश में धूल भासती है, परन्तु आकाश से धूलिका कुछ सम्बन्ध नहीं, जैसे जल में कमल भासता है, परन्तु जल से स्पर्श नहीं करता, सदा निर्लेप रहता है, ऐसे आत्मा देह के साथ मिश्रित भासता है, परन्तु देह के साथ आत्मा का कुछ स्पर्श नहीं, सदा विलक्षण रहता है, जैसे सुवर्ण की चमल से अलिप्त रहता है, देह जड़ है, आत्मा उससे भिन्न है, सुख दुःख का अभिमान आत्मा में भासता है, वह भ्रम मात्र असत्यरूप है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा असत्यरूप है, जैसे आकाश में नीलता भासती है, वह असत्यरूप है, ऐसे आत्मा में सुख दुःखादि असत्यरूप हैं, सुख दुःख देह को होता है, सर्वातीत आत्मा में सुख दुःख का अभाव है, यह अज्ञान से कल्पित है, देह का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता इसलिये सुख दुःख आत्मा में कोई नहीं, न किसी को कुछ सुख है, न दुःख है, सर्व आत्ममय शान्तरूप है, और यह जो

विस्तृतरूप जगत् दृष्टि आता है, वह मायामय है, जैसे जल में तरंग और आकाश में तरवरे भासते हैं, ऐसे आत्मा में यत्न भासता है, वह आत्मा ही है न एक है, न दो हैं सर्व आभासामात्र है, मिथ्या दृष्टि आकार भासता है, जैसे मणिका प्रकाश मणि से भिन्न नहीं, और अपनी छाया दृष्टि आती है, ऐसे आत्मा का प्रकाशरूप जगत् भासता है, वह सब ब्रह्मरूप है, मैं और हूँ, यह जगत् और है, इस भ्रम को त्याग करो, विस्तृतरूप जो ब्रह्म घनसत्ता है, उसमें और कल्पना कोई नहीं, जैसे जल में तरंग कुछ इतर वस्तु नहीं, जल रूप ही है, ऐसे सर्वरूप आत्मा है, वह एकरूप है, उसमें द्वितीय कल्पना कोई नहीं, जैसे अग्नि में बर्फ के कण नहीं होते, ऐसे ब्रह्म में दूसरी वस्तु नहीं, अतः अपने स्वरूप की आप ही भावना करो कि मैं चिन्मात्र हूँ, जगज्जाल सब मेरा ही स्वरूप है, मैं ही विस्तृत रूप हूँ जो कुछ है वह देव ही है, न शोक है, न मोह है, न जन्म है, न देह है, ऐसा जानकर विगत ज्वर हो जाओ, अपने स्वरूप में स्थित हो, तुम्हारी बुद्धि स्थिर है, तुम शान्तरूप, श्रेष्ठ मणिवत् निर्मल हो, ऐसा जानकर विगतज्वर हो जाओ, हे राघव! तुम निर्द्वंद हो, नित्य स्वरूप में स्थित निर्योग क्षोभ, आत्मवान् विशोक होकर स्थित रहो, सत्यसंकल्प धैर्यवान् यथा प्राप्त में सन्तुष्ट विगतज्वर हो जाओ, तुम वीतराग निर्यत्न, निर्मल वीतक्लमष हो, न दो, न लो, ग्रहण त्याग से रहित शान्तरूप होकर रहो, जो विश्व से अतीत पद है, उसको प्राप्त करके पाने योग्य पद को पाकर परिपूर्ण समुद्रवत् अक्षोभरूप, सन्ताप से रहित विचरो, हे रामजी! संकल्प जाल से मुक्त, मायामल से रहित, अपने आप से तृप्त, विगतज्वर हो आत्मवेत्ता का शरीर अनन्त है, आदि अन्त से रहित, पर्वत के शिखरवत् विगतज्वर रहो, हे रामजी! तुम अपने आपसे उदार हो, और अपने ही आनन्द से आनन्दी हो, जैसे समुद्र अपने आनन्द से आनन्दवान् है, अथवा जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने आनन्द से आनन्दवान् है, ऐसे तुम आनन्दवान् हो, यह जो प्रपंच रचना भासती है, असत्य है, जो ज्ञानवान् हैं, वे असत्य जानकर इसकी ओर नहीं जाते,

तुम ज्ञानवान् हो, असत्य कल्पना त्यागकर दुःख से रहित हो जाइये, नित्य उदित शान्तरूप, शुभगुणसंयुक्त उपदेश द्वारा चक्रवर्ती होकर पृथ्वी का राज्य और प्रजा का पालन करो, समदर्शीरूप से विचरो, बाह्यशुभ चेष्टा यथाशास्त्र करो, और राज्य की मर्यादा स्थिर रखनी अन्तःकरण से निर्लेप रहना, न त्याग से न ग्रहण से प्रयोजन रखना, ग्रहण त्याग में सदा समबुद्धि रक्खो और समता भाव से राज्य करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रथमोपदेशो नाम पंचमः सर्गः ॥५॥

षष्ठः सर्गः ६

क्रमोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! सब काम करते हुए भी जिस पुरुष के मन से वासना नष्ट हो गयी है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी मुक्त है, हमारे मत में बन्धन का कारण वासना है, जिसकी वासना क्षीण हुई है वह मुक्त स्वरूप है, और जिसकी वासना पदार्थों में सत्यरूप से बनी हुई है वही बन्धन में है, कई पुरुष अपने पुरुषार्थ के आश्रय से कर्तव्य भी करते हैं और उसमें प्रेमप्रवृत्ति रखते हैं, वे अपनी वासना से स्वर्ग पाते हैं, बाद में स्वर्ग को छोड़कर नरक दुःख भोगते हैं, वे अपनी वासना से बँधे हुए, पशुआदि तथा स्थावर योनियों को प्राप्त होते हैं, और कोई आत्मवेता पुण्य पुरुष मन की दशा पर विचार करते हुए तृष्णारूप बन्धन को काटकर निर्मल आत्मपद को प्राप्त होते हैं, और कोई पुरुष पूर्वजन्म को भोगकर इस जन्म में मुक्त हुए हैं, वे राजस सात्विक होते हैं, जिनका यह जन्म अन्त का होता है, वे क्रम करके परिपूर्ण पद को प्राप्त होते हैं, जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा क्रम से पूर्णिमा का होता है, और सर्व काल से पूर्ण होता है, जैसे वर्षाकाल में कंटक वृक्ष की मंजरी बढ़ जाती है, ऐसे उनकी सौभाग्यलक्ष्मी बढ़ती जाती है, हे रामजी! जिनका यह जन्म अन्त का होता है, उनमें वेदोक्त गुण आकर प्रवेश करते हैं, जैसे उत्तम

बाँस में मोती उत्पन्न होते हैं, ऐसे सात्विक राजस पुरुषों में शुभ गुण उत्पन्न होते हैं, मैत्री, सौम्यता, मुक्तता, ज्ञातव्यता, आर्यता आदि गुण प्रवेश करते हैं, सब जीवों पर दया करने का नाम मैत्री है, हृदय में सदा ममता भाव, और क्षोभ रहित अन्तःकरण का नाम मुक्तता है, प्रसन्न रहना सौम्यता है, यथा–शास्त्र विचार करने को आर्यता कहा है, ज्ञान का नाम ज्ञातव्यता है, जैसे राजा के अन्तःपुर में श्रेष्ठ अंगना प्रवेश करती है, ऐसी ही उस अन्तिम जन्म वाले सात्विक महात्मा के हृदय में मैत्री आदि गुण आते हैं, ऐसा पुरुष सब कार्य करता है, परन्तु उसके हृदय में लाभ अलाभ के कारण से राग द्वेष नहीं उत्पन्न होते, वह सर्वदा सम रहता है, न तोषवान् होता है न शोकवान् होता है, जैसे सूर्य के उदय होने से तम नष्ट हो जाता है, ऐसे ही आत्मभाव से राग द्वेष नष्ट हो जाते हैं, सर्वगुण सिद्ध होते हैं, जैसे शरत्काल का आकाश शुद्ध होता है, ऐसे वह कोमल सुन्दर होता है, और उसका आचार मधुर होता है, सब जीव उसके आचार की वाच्छा करते हैं, और उसको देखकर मोहित हो जाते हैं, जैसे मधुवंसी की ध्वनि से मृग मोहित हो जाता है, ऐसे उसको देखकर विस्मय होता है, जैसे मेघ ध्वनि से बगले आ जाते हैं, ऐसे उस पुरुष में सब गुण प्रवेश करते हैं, गुणों से पूर्ण होकर गुरु की शरण में जाता है, तब वह विवेक का उपदेश करता है उस विवेक से परम पद में स्थिर होता है, हे रामजी! जो वैराग्य और विवेक से सम्पन्न चित्त है वह आत्म देव को देखता है, उसको दुःख स्पर्श नहीं करते, यथार्थ एक आत्मरूप को देखता है, तुम विचार का आश्रय लेकर मन को जगाओ, क्योंकि यह विवेकवान् पुरुष विचार द्वारा अन्तःकरण में सूक्ष्मता के साथ शान्त चित्त होकर मनन करता है, जिनका यह अन्तिम जन्म होता है वे पुरुष इस सोये हुए मनोमृग को जगाते हैं वे महागुणवान् इस गुणहीन मन को प्रबुद्ध करते हैं, गुणों के भंडार गुरुओं का सेवन करके निर्मल बुद्धि से चित्त रत्न को विचारकर अपने अन्तःकरण में आत्म साक्षात्कार करते हुए वे पुरुष परम गति को प्राप्त करते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे क्रमोपदेशवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

सप्तमः सर्गः ७

क्रमसूचना वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह तुमको क्रम कहा है जो कि सभी देह धारियों के लिये समान है, हे कमल नयन! इसमें यह विशेषता है जो तुम्हें सुनायी जाती है, इस संसार में उत्पन्न हुए देहधारियों के मोक्ष के लिये दो ही उत्तम क्रम हैं, उनमें से एक तो यह है कि गुरूपदिष्ट अनुष्ठान से शनैः शनैः एक जन्म से अथवा जन्मों से जो सिद्धिदायक कहा है, दूसरा क्रम है अपने ही परिश्रम से ज्ञान की योग्यात प्राप्त हो जाने पर जो पके फल के गिरने के समान स्वयं उत्पन्न होता है, इस पर एक पूर्व वृत्तान्त तुम्हे कहा जाता है उसे श्रवण कीजिये, वह महापुरुषों का वृत्तान्त है, जिनके पूर्व कमलरूप बन्धन शुभाशुभ समूह नष्ट हुए हैं, वे अन्तिम जन्मवाले आकाश से गिरे फल के समान अकस्मात् प्राप्त हुए, विवेक फल का भोग करते हैं। उनका निर्मल क्रम सुनो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे क्रमसूचना वर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ।।७।।

अष्टमः सर्गः ८

सिद्धगीतावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले— हे रामजी! समस्त आपत्तियाँ जिसकी नष्ट हो गयी हैं और जो सर्व सम्पत्तियों का भंडार है ऐसा एक जनक नाम विदेह महीपति हुआ, वह परम धैर्यवान् अर्थिजनों का कल्पद्रुम मित्ररूप कमलों का विकासक सूर्य, बन्धुरूप पुष्पों का वसन्त स्त्रियों का कामदेव विप्ररूप कुमुदों का चन्द्रमा विपत्तिरूप अन्धकार का नाशक सूर्य, सौजन्य रत्नों का सागर मानों पृथ्वी पर सूर्य भगवान् अथवा विष्णु उतर आये हों ऐसे महाराजा जनक एक समय मनोविनोदार्थ अपने बाग में गये, वहां

कोकिलाएं मधुर ध्वनि कर रही हैं, विचित्र पुष्पों तथा मधुर फलों से वह आराम अति रमणीय प्रतीत हो रहा है, महाराज इन्द्र जिस प्रकार नन्दन बन में प्रवेश करते हैं, इस प्रकार राजा जनक बाग में प्रविष्ट हुए, पुष्पों की सुगन्धि से सम्पूर्ण बाग का वायु मलयानिल को तिरस्कृत कर रहा है, वहाँ राजा के साथ जो अनुचर थे, उनको छोड़कर राजा अकेला ही कुंजों में विचरने लगा, वहाँ एक वृक्षों के झुण्ड की ओर से एकान्तवास करने वाले पर्वत कंदराओं में विचरनेवाले सिद्धों की अपने प्रसंग से कही हुई आत्मभावनारूप गीताएं सुनायी पड़ी, प्रथम सिद्ध ने कहा–द्रष्टा और दृश्य के मिलाप में जो बुद्धि में निश्चित आनन्द होता है, वह इष्ट के संयोग का और अनिष्ट के वियोग का आनन्द चित्त में दृढ होता है, और वह आनन्द आत्मतत्त्व से उदय होता है, उस निस्पंदन तत्त्व की हम उपासना करते हैं, द्वितीय सिद्ध ने कहा– द्रष्टा दर्शन और दृश्य को वासना सहित त्यागकर, जो दर्शन से प्रथम प्रकाशरूप है, जिसके प्रकाश से तीनों प्रकाशित हैं, उस आत्मा की उपासना करते हैं, तृतीय सिद्ध ने कहा– जो निराभास निर्मलरूप है, आभास और मनन के भाव का अभाव है, जिसमें द्वितीय कल्पना का अभाव है, अद्वैत रूप है, उसकी हम उपासना करते हैं, चतुर्थ सिद्ध बोले–जो दोनों के मध्य में है, अस्ति नास्ति दोनों के पक्षों से रहित, प्रकाशरूपसत्ता है, सूर्यादिक को भी प्रकाशित करता है, उस आत्मा की हम उपासना करते हैं, पंचम सिद्ध बोले– जो ईश्वर सकार हकार हुआ है, अर्थात् सकार जिसके आदि में और हकार जिसके अन्त में है ऐसा जो 'सोऽहं' परमात्मा है वह अनन्तात्मा सर्व जीवों के हृदय में निरन्तर अहंरूप होकर उच्चरित होता है, उस आत्मा की हम उपासना करते हैं, छठे सिद्धजी बोले–हृदय में स्थित जो ईश्वर है, उसको त्यागकर जो अन्यत्र देव के पाने का यत्न करते हैं वे पुरुष हाथ में आई हुई कौस्तुभ मणि को त्यागकर अन्य रत्नों की इच्छा करते हैं, सप्तमसिद्ध बोले– जब मनुष्य सब आशाओं को त्यागता है तब सफल होता है, आशारूप विषवल्ली मल सहित नष्ट हो जाती है, अर्थात् जन्म और मृत्यु के आदिके दुःख तो नष्ट हो जाते हैं,

फिर उत्पन्न नहीं होते, तो पदार्थों को विरसरूप जानते हैं और फिर उनमें आशा रखते हैं, वे दुर्बुद्धि गर्दभ हैं मनुष्य नहीं, जहाँ जहाँ विषयों की ओर दृष्टि उठे उसको विवेक से. नष्ट करो, जब इस प्रकार शुद्ध आचरण करेगा तब समभाव को प्राप्त होगा। उससे मन आत्मपद रूप उपशम को प्राप्त होगा, उपशम को ही नहीं, अक्षय विनाशी पद को प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सिद्धगीतावर्णनं अष्टमः सर्गः ॥८॥

नवमः सर्गः ९

जनक विचार वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार सिद्धों की गीता सुनकर राजा ऐसे विषाद को प्राप्त हुआ जैसे संग्राम में कायर विषाद पाता है, सेना समेत घर में आया सेवक, नौकर आदि लोग एक ओर किनारे खड़े रहे, उनको त्यागकर ऊपर चौखंडी पर झरोखों में जा बैठा जैसे तट के वृक्षों को नदी का प्रवाह स्पर्श करता है, ऐसे उनके मार्ग को स्पर्श करता ऊपर जा बैठा, एक मंदिर के ऊपर गया, जैसे उदयाचल पर चढ़ता है, ऐसे ऊपर चढ़कर संसार की गति को इधर उधर देखने लगा, और विलाप करने लगा बड़ा कष्ट है कि मैं भी संसार में लोगों के समान आस्था बाँध रहा हूँ यह जीव तो सब जडरूप हैं, चेतन कोई नहीं, जैसे अन्यजीव पाषाणरूप हैं ऐसे मैं भी उनमें पाषाण हो रहा हूँ, काल अनन्त हैं, इसके कुछ अंश में मेरा जीवन है। इस जीवन में मैं आस्था बाँध रहा हूँ, मुझको धिक्कार है, जो मैं अधम चेतन हूँ, यह राज्य और जीवन सब क्षण भंगुर है, यह सुख दुःख रूप है, इनसे रहित मैं किस प्रकार स्थित हो पाऊँ, जैसे बुद्धिमान् पुरुष स्थित होते हैं, जो आदि अन्त में तुच्छ रूप हैं, मध्य में जीवन् पेलवरूप है, इसमें मैंने क्या मिथ्या आस्था बांधी है, जैसे बालक चित्र के चंद्रमा को देखकर चन्द्रमा मानकर आस्था बाँधे, ऐसे यह

प्रपंच रचना इन्द्रजाल की बाजी की नाईं है, बड़ा कष्ट है कि इसमें मैं क्या मोहित हुआ हूँ, जो वस्तु उचित रमणीय उदार और अकृत्रिम है, वह इस संसार में किंचित् भी नहीं मेरी बुद्धि क्यों नष्ट हुई है? जो पदार्थ दूर हो, और उसको पाने का मेरे मन में यत्न हो, तो वह निकट ही है, यह निर्णय करो अथवा अर्थाकार जो संसार के पदार्थ हैं, उनकी आस्था का मैं त्याग करता हूँ, यह जो लोक हैं सब आगमा पायी हैं, उदय होते और मिट जाते हैं, जल के तरंगी नाईं सब पदार्थ क्षणभंगुर हैं, जितने सुख दृष्टि आते हैं वे दुःख से मिश्रित हैं, उनमें मैंने क्या आस्था बांधी है? सुख कदाचित् दिन, पक्ष, मास, वर्षादिक से आते हैं, और दुःख बार बार आते हैं मैं किस जीने से सुख की आस्था बाँधू जो बड़े बड़े हुए हैं वे नष्ट हो गये हैं, यहाँ स्थिर कोई नहीं रह सकता, पुनः पुनः विचार कर देखता हूँ, मैंने भली भान्ति जाना है कि इस जगत् में सत्य पदार्थ कोई नहीं सब नाशरूप हैं, ऐसा कौन पदार्थ है, जिसमें आस्था बांधूं! जो अब बड़े ऐश्वर्यवान् विराजते हैं, वे कुछ दिनों बाद ही नीचे गिर जाते हैं, हे चित्त! बड़ा खेद है, तुममे किस बडाई में आस्था बाँधी है ऊँचे पद पर स्थित हुआ भी मैं नीचे गिरा हूँ, और बडा कष्ट है, कि मैं आत्मा हूँ, और नाश को प्राप्त हुआ हूँ, किस कारण से अकस्मात् मुझको मोह आया है मेरी बुद्धि को इसने उपहत किया है, जैसे सूर्य के आगे मेघ आते हैं, और सूर्य नहीं भासता, ऐसे ही मोह से आवृत आत्मा नहीं भासता, भोगों और बांधवों से मेरा क्या है, इनमें मैं क्यो मोहित हुआ हूँ। जैसे बालक परछाईं से भय पाता है ऐसे देहाभिमान से मनुष्य आप ही बंधन में आता है, देह में अहंकार जरा मरण आदि विकार का कारण होता है, इसलिये मेरा इससे क्या प्रयोजन है, यह सब पदार्थ क्षोभ का कारण है यह वैसे के वैसे रहते हैं, इनमें न मुझको ममता है न संग है, यह सब असत्यरूप है, संसार के सुख विषरूप हैं, इसमें आस्था करनी मिथ्या है, जो बड़े बड़े ऐश्वर्यवान् हुए हैं, बड़े पराक्रमी गुणवान हुए हैं, वे सब परिवार सहित मृत्यु मुख में चले गये हैं, तो वर्तमान में क्या धैर्य करना है, कहां यह धन और राज्य कहाँ उस ब्रह्म का जगत्, कई पुरुषों की पंक्तियाँ बीत गयी

हैं, हमको उसमें क्या विश्वास है, देवताओं के नायक अनेकों इन्द्र नष्ट हो गये हैं, जैसे जल में बुदबुद उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, तो मैं क्यों इस संसार में आस्था बाँधकर जिऊँ। सत्पुरुष मुझको हँसेंगे, कई ब्रह्म हो गये हैं, कई पर्वत हो गये हैं, कई धूलिकणों के समान राजा हो गये हैं, मुझको इस जीवन में क्या धैर्य है, संसार रूप रात्रि है, उसमें देहरूप शून्य दृष्टि स्वप्न है, उस भ्रमरूप में जो आस्था बाँधी है, इस लिये मुझे धिक्कार है, यह वह और मैं इत्यादिक भ्रम आत्मा में मिथ्या कल्पना उठी है, अज्ञानियों की नाईं मैं स्थित हुआ हूँ, अहंकार रूप पिसाच द्वारा क्षण क्षण में आयुर्बल व्यतीत होता है, देखते हुए भी नहीं दीखता, काल की गति सूक्ष्म है काल सबको पाँव तले लाकर रोंद डालता है, सदाशिव और विष्णु को जिसने खेलने का गेंद बना रक्खा है, ऐसा काल जो सबको भोजन कर जाता है, तो मुझको जीने में क्या आस्था बांधनी है, जितने भी पदार्थ हैं, वे निरंतर नाश होते हैं, कोई दिन, कोइ पक्ष, कोई वर्ष से नाश हो जाता है और जो अविनाशी वस्तु है, वह अब तक नहीं देखी बरसों बीत गये हैं, जीवों की जो चितरूप नदी है, उसमें भोगों के तृष्णारूप तरंग उछलते हैं, शांत कदाचित् नहीं होते, जैसे वायु से नदी में तरंग उछलते हैं, वह ममता से रहित हो जाते हैं, ऐसे जिनके चित्त में भोगों की अभिलाषा है उनको अतुच्छ पद दृष्टि नहीं आते, कष्ट को प्राप्त होते हैं, दुःख से दुःखान्तर को प्राप्त होते हैं, अब तक मैं वैराग्य को प्राप्त नहीं हुआ, अतः मुझको धिक्कार है, यह अन्तःकरण ऐसा नीच है, कि इसने कल्याणरूप जानकर जिस जिस वस्तु में मैंने आस्था बाँधी है, वह वह नष्टं होती दीखती हैं, यह क्या उत्तमता है कि जिससें मैंने आस्था बाँधी है, वह शरीर कैसा है? अस्थि मांस से बना है, आदि अन्त युक्त इसका आकार है, मध्य में कुछ रमणीय भासता है, सब अपवित्र पदार्थों से रचा गया है, विनाशरूप है, स्पर्श करने के योग्य नहीं इसके साथ मुझको क्या प्रयोजन है, जिस जिस पदार्थ के साथ लोग आस्था बांधते हैं, उस उसमें दुःख ही दुःख देखता हूँ, और यह जीव ऐसे जड़ मूढ हैं कि सदा इसी में लगे रहते हैं, आशापाश से जकड़े रहते हैं, कल मुझे यह मिलेगा परसों

वह मिलेगा, प्रतिदिन पाप करते हैं और प्रतिदिन दुःख पाते हैं, तो भी त्याग नहीं करते, ऐसे मूढ है, बालक अवस्था परम मूढता भरी होती ही है, यौवन में कामादि विकार परम विघ्नरूप हैं, शेष जो वृद्धावस्था है उसमें चित्त दुःखी होता है, निर्बल शरीर से कुछ नहीं बन पड़ता, यह जड जीव परमार्थ साधन कब करेगा, यह संसार और इस संसार के पदार्थ सब आगमापायी विरस हैं, विषय दिशा से दूषित हैं, अर्थात् यह एक भाव में नहीं रहते, सर्वजगत् असार रूप है, सत्यबुद्धि से रहित है असत्यरूप है, सार पदार्थ इसमें कोई नहीं, राजसूय और अश्वमेघ आदि यज्ञ जब करते हैं तब महा कल्प के किसी अंशकाल में स्वर्ग को पाते हैं, अधिक तो नहीं भोगते जो सौ अश्वमेघ यज्ञ करता है वह इन्द्र होता है जो एक दिन ब्रह्मा का होता है, उसमें चतुर्दश इन्द्रराज्य भोगकर नष्ट हो जाते हैं। जब सहस्र चोकडी युगों की व्यतीत होती है तब ब्रह्मा का एक दिन होता है ऐसे तीस दिनोंका एक मास द्वादश मासका एक वर्ष ऐसे सौ वर्ष ब्रह्मा का आयुर्बल है, उस आयुर्बल को भोगकर ब्रह्मा अन्तर्ध्यान हो जाता है, उसका नाम महाप्रलय है, उस महाप्रलय के अन्त में इसने स्वर्ग भोग किया, तो असार सुख की क्या आस्था योग्य है, ऐसा सुख ऊर्ध्व स्वर्ग में कोई नहीं न पृथ्वी में है, न पाताल में है, जो सुख आपदा दुःख के संग मिश्रित न हो ऐसा कहाँ है सर्वलोक आपद्युक्त हैं और सब दुःखों का मूल चित्त है, वह शरीररूप सुख में सर्पवत् रहता है, आधि व्याधि तथा अन्य अनेक दुःखरूप विष को देता है, यह किसी प्रकार निवृत्त हो तो सुख प्राप्ति हो, इस चित्त द्वारा जीवों की उत्तरोत्तर अधोगति हो रही है, ऐसा कोई विरला ही सतपुरुष होगा जिसके अन्दर भोग तृष्णारूप विष से भरा चित्त रूप सर्प न हो, ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं, यह जगत् के पदार्थ एक ओर से सत्य असत्य और दूसरी ओर से देखो तो असत्य प्रतीत होते हैं, रमणीय प्रतीत होने वाले पदार्थ वास्तव में अरमणीय है, जो सुख रूप है, उनका ही दूसरा रूप दुःख है, जिस पदार्थ का आश्रय ले वही दुःख से

रहित है, सुन्दरी स्त्रियाँ हैं, जिनके नील कमल से नयन हैं, हास्य विलास और भूषणों से अंलकृत हैं, उन्हें देखकर मुझे हँसी आती है, कि यह तो अस्थिमांस की पुतलियाँ हैं, क्षणमात्र इनकी स्थिति है, जिन पुरुषों के निमेष में जगत् होता है, और उन्मेष में जगत् का अभाव हो जाता है, वह भी नष्ट हो गये तो हमारे जैसों की क्या कथा है, जो पदार्थ रमणीय भासते हैं, वही अरमणीय हो जाते हैं, और फिर अस्थिर भी होते हैं, अर्थात् नाशवान् हैं, ऐसे पदार्थों की इच्छा करनी और चिन्ता करनी क्या है, वृथा है, नाना प्रकार की सम्पत्तियों के पीछे ही विपत्तियाँ छिपी रहती हैं, यह जगत् क्या है, जब मनुष्य सम्पत्ति में चित्त को लगाता है तो वही विपत्तिरूप हो जाती है, बड़ी आपत्ति के आने पर जिनके मन में क्षोभ नहीं आता, वे शान्तरूप हैं, तब उनके लिये वह आपत्ति सम्पतिरूप है, इससे यही सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ मन के फुरने से मात्र से है, मन की वृत्ति अकस्मात् क्षण भंगुररूप जगत् की ओर इनकी स्थित हुई हैं, अज्ञान से अहं सः इदं कल्पना की गयी है, उसमें त्याग और ग्रहण की भावना मिथ्या है, क्षीणरूप संसार में आदि अन्त संयुक्त सुख है, अर्थात् वह सुखनश्वर है, जो सुख जानकर इसकी ओर दौडता है, उसे दुःख मिलता है, जैसे पतंग दीपक शिखा को सुखरूप जानकर उसकी ओर दौडता है, तो दग्ध हो जाता है, ऐसे ही सांसारिक सुख को ग्रहण करने वाले तृष्णा से दग्ध होते हैं, नरक की अग्नि में से दग्ध होना अच्छा है, परन्तु क्षणभंगुर संसार के सुखों की तृष्णा से अति दुःख होता है, दुःख की सीमा है, सारांश यह कि भोगों की तृष्णा से अधिक दुःख अन्य कोई, जो लोग इस संसार समुद्र में गिरते हैं वे सुख नहीं पाते, संसार में दुःख स्वाभाविक है, और सुख दुःख के साथ मिश्रित है, मैं भी अज्ञानी के समान काष्ठलोष्ठ सा स्थित हो रहा हूँ, बड़ा खेद है अज्ञानी की नाईं शमदमादिक सुख को त्यागकर क्षणभंगुर संसार के सुख के निमित्त यत्न करता हूँ, जैसे बर्फ से अग्नि नहीं उपज सकती, ऐसे संसार से सुख नहीं मिलता, जितने जीव हैं जड धर्मात्मक हैं, संसार एक वृक्ष है, उस संसार रूप वृक्ष का मूल मन है, उसके संकल्परूप जल से विस्तार को प्राप्त हुआ है, संकल्प के उपशम

हुए नष्ट हो जाता है, अतः जिस प्रकार यह नष्ट हो वही उपाय करूँगा, संसार में भोग देखने मात्र सुन्दर भासता है, अन्दर से दुःखरूप है, और मन मर्कटवत् चंचलरूप है, उससे यह रचना रची गयी है, जब तक वस्तुतः इसको जाना नहीं, तब तक चंचल है, जब विचार से जान लिया जाता है तब पदार्थों की रमणीयता सहित मन का अभाव हो जाता है, अतः मैं नाशरूप पदार्थ में नहीं रमता, संसार की वृत्ति कैसी है? अनेक फांसियों से मिश्रित है, उसमें गिरते हैं उछलते हैं, शान्त कदाचित् नहीं होते, ऐसी संसार की वृत्ति मैंने चिरकाल तक भोगी है, अब मैं भोग से रहित होकर ब्रह्म ही होता हूँ। संसार में बार बार जन्म मरण होता है, शोक की भी प्राप्ति होती है, अब संसार की वृत्ति से रहित हुआ शोक से रहित होता हूँ, अब मैं प्रबुद्ध और प्रसन्न हुआ हूँ, मैंने अपने चोर को आप ही देख लिया, जिसका नाम मन है इसी को मारूँगा इस मन ने मुझको चिर पर्यन्त मारा है, इतने काल तक मेरा मनरूप मोती अवेध रहा था अब मैंने इसको वेधा है, अर्थात् पहिले यह आत्मविचार से रहित था, अब इसको आत्मविचार में जोड़ा है, आत्मज्ञान के योग्य है, मनरूप एक बर्फ का कण था, वह जड़ता को प्राप्त हुआ था, अब विवेकरूप सूर्य से गल गया है, अब मैं अक्षय शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ, साधुरूप सिद्धों ने अनेक प्रकार के वचनों से मुझे जगाया है, मुझे आत्मपद प्राप्त हुआ है, अब मैं आत्मरूप चिन्तामणि को पाकर परमानन्द से एकान्तसुखी हो जाऊँगा। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, ऐसे निर्मलरूप में स्थित हूँगा, मनरूप रिपु ने मुझे भ्रम में डाल रक्खा था, मैंने विवेक से उस भ्रम का नाश किया है, मैं उपशम को प्राप्त हुआ हूँ, हे विवेक! तुझको नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे जनकविचारो नाम नवमः सर्गः ।।९।।

दशमः सर्गः १०

जनकनिश्चय वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! राजा इस प्रकार चिन्तन कर रहा था, तब दासी उसके पास आयी, जैसे सूर्य के आगे अरुण आकर खड़ा हो, इस प्रकार आकर प्रतीहारी खड़ी हो गयी बोली–हे देव! अब उठिये तैयार हो जाइये, दिन के स्नानादिक आचार से निवृत्त हो जाइये, स्नानशाला में पुष्प, केसर, गंगाजल आदि के कलश लेकर स्त्रियाँ प्रतीक्षा कर रही हैं, स्नान का समय है देव! पूजा की सब सामग्री जुटा दी है, रत्न, औषधि ले आये हैं, हाथों में पवित्र धारण किये हुए ब्राह्मण लोग बैठे हैं, स्नान करके अघमर्षण जप कर रहे हैं, आपके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हाथों में चमर लिये सुन्दरी कान्ताएं तुम्हारी सेवा के लिये खड़ी हैं, भोजनशाला में भोजन सिद्ध हो रहा है, अतः शीघ्र उठो, जो कार्य करो, जैसा काल होता है, बड़े पुरुष उसके अनुसार कर्म करते हैं, हे रामजी! जब इस प्रकार दासी ने कहा तब राजा चिन्तन करने लगा कि संसार की जो विचित्र स्थिति है यह क्या है, राज्यसुख से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, यह क्षणभंगुर है, इस सम्पूर्ण मिथ्या आडम्बर को त्यागकर मैं एकान्त में जाकर बैठता हूँ, जैसे समुद्र तरंगों से रहित शांतरूप होता है ऐसे शान्तरूप हो जाऊँगा, इन नाना प्रकार के राजभोगों और क्रियाओं से तृप्त हुआ हूँ, सब कर्मों को त्यागकर केवल सुख में अब स्थित हो जाऊँगा। मेरा चित्त भोगों से चंचल था, भोग तो भ्रमरूप हैं, इससे शान्ति नहीं होती, तृष्णा बढ़ती ही जाती है, जैसे जल के ऊपर सेवाल बढ़ती जाती है, और जल को आच्छादन कर लेती है, ऐसे ही तृष्णा आच्छादित कर लेती है, अब मैं इसका त्याग करता हूँ, हे चित्त! तू जहां जहां गिरा है और जो जो भोग भोगे हैं, वे सब मिथ्या हैं, तृप्ति किसी में न हुई अतः मैं भ्रमरूप भोगों से निवृत्त हो जाऊँगा, तब परम सुखी हूंगा। उचित अनुचित भोग अधिक मात्रा में बार बार भोगे हैं। परन्तु तृप्ति

किसी से नहीं हुई इसलिये हे चित्त! इनको त्यागकर परम पद का आश्रम लो जैसे बालक एक वस्तु को त्यागकर अन्य को ग्रहण करता है, ऐसे ही तू भी कर, जब इन तुच्छ भोगों को त्यागकर परम पद का आश्रय लोगे तब आनन्द दायिनी तृप्त मिलेगी। उसको पाकर फिर संसारी न बनोगे, हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन कर जनक तूष्णीं (चूप) हो गया मन की चंचलता को त्यागकर सौम्य आकार से चुप बैठ गया, जैसे मूर्ति लिखी होती है ऐसे हो गया, और प्रतीहारी भी भयभीत सी होकर पुनः कुछ न कह सकी, कि कहीं राजा अप्रसन्न न हो जाय। तदनन्तर मन की समता के लिये राजा फिर चिन्तन करने लगा, कि मुझको ग्रहण और त्याग के निमित्त यत्न करने की क्या आवश्यकता है, किसको मैं साधूं किस वस्तु में धैर्य धारण करूँ, सब पदार्थ नाश रूप हैं, मुझे करने न करने से क्या लाभ हानि है, मैं ग्रहण त्याग किसका करूँ जो कुछ कर्तत्य है वह शरीर करता है, निर्मल अचलरूप चेतन है, वह न करता है न भोगता है, इसलिये मुझे कुछ कर्तव्य नहीं, यदि त्याग करूंगा तो शरीर करने से रहित होगा, और यदि करूंगा तो भी शरीर करेगा, मुझे क्या प्रयोजन है, अतः करने न करने में मुझे कोई लाभ हानि नहीं इसलिये मैं यथा प्राप्त में विचरता हूँ, अप्राप्त की मैं इच्छा नहीं करता, और प्राप्त का त्याग नहीं करता, अब स्वरूप में स्थित होकर स्वस्थ हूंगा, जो कुछ प्राप्त कर्म है वही करता है, न कुछ मुझे करने में लाभ है न करने में दोष है, जो क्रिया हो वह हो, करूँ अथवा न करूँ, युक्त हो अथवा अयुक्त हो, मुझे ग्रहण त्याग करने योग्य वस्तु कुछ नहीं, अतः जो कुछ प्राप्त करने योग्य कर्म है वही करूँ, कर्म करना शरीर प्रकृति से होता है आत्मा को तो कर्तव्य कुछ नहीं, अतः मैं इस विषय में निःसंग हो रहूंगा। यदि निस्पंद चेष्टा हो तो क्या सिद्ध हुआ और क्या किया जो कि मन कामना से रहित स्थित विगतज्वर हुआ, अर्थात् यदि हृदय में राग द्वेष मलिनता न उत्पन्न हुई तो देह से अनिष्ट विषय की प्राप्ति में तुलना रहेगी, यदि देह के साथ मिलकर मन कर्म करता है तब कर्ता भोक्ता है, इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेषवान् होता है, जब मन का मनन उपशम हुआ तब कर्तव्य में भी

अकर्तव्य है, जैसा निश्चय अन्दर दृढ होता है, वही रूप पुरुष का होता है, जिसके हृदय में अंह कृति नहीं, और बाह्य कर्म चेष्टा करता है, तो भी उसने कुछ नहीं किया और जिसके हृदय में अहंकृति (अभिमान्) है वह बाहिर से अकर्ता मालूम होने पर भी अनेक कर्म करता है, इसलिये जैसा निश्चय अन्दर दृढ होता है, ऐसा ही फल पुरुष को प्राप्त होता है जो बाहिर से करता भी है परन्तु अन्दर कर्तव्य का अभिमान नहीं तो वह धैर्यवान् पुरुष अनामय पद को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे जनकनिश्चय वर्णनं नाम दशमः सर्गः ।।१०।।

एकादशः सर्गः ११

चित्तानुशासन वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन करके यथा प्राप्त जो क्रियाएँ हैं उनके करने के लिये उठ खड़ा हुआ, इष्ट अनिष्ट की वासनाओं का चित्त से त्याग किया, यथा प्राप्त करता हुआ जगत् में सुषुप्त की नाईं जैसे पुरुष सुषुप्तरूप होता है, ऐसे वह जाग्रत् में हो रहा है और दिन में उनके आचार को करता था, दिन को यथा शास्त्र क्रिया में विचरे, रात्रि को लीला करके ध्यान में स्थित होता, मन को समरस करता था, रात्रि के क्षीण होने पर चित्त को इस प्रकार प्रबोधित करता, कि हे चंचलचित्त! परमानन्दरूप जो आत्मा है, वह तुम्हें सुखदायक नहीं भासता, और जो यह मिथ्या संसार है इसके सुख की इच्छा करता है, जब तेरी इच्छा शान्त हो जायेगी, तब तू सार सुख आत्मपद को प्राप्त होगा, ज्यों ज्यों तू लीला से संकल्प उठाता है, ऐसे संसार जाल का विस्तार बढ़ता जाता है, इस दुःखरूप संसार से तुझको क्या प्रयोजन है! अरे मूर्ख चित्त! जैसे जैसे संकल्प इच्छा करता है ऐसे ऐसे संसार का दुःख बढ़ता जाता है, जैसे जल सींचने से वृक्ष की शाखाएं बढ़ती है, ऐसे ऐसे संसार सुख से अधिक दुःख प्राप्त होता है, ऐसे दुःख रूप भोगों की इच्छा

क्यों करता है! यह संसार चित्त जाल से उत्पन्न हुआ है, जब तू इसका त्याग करेगा तब दुःख मिट जायगा, स्फुरण का नाम दुःख है, उसके मिटने से कोई दुःख न रहेगा, यह संसार महा चंचल है, देखने मात्र सुन्दर है वास्तव से कुछ नहीं, यदि कुछ तुझको इस संसार प्राप्त हो तब इसका आश्रय ले, यह तो क्षणभंगुर है, और दुःख की कान है इसलिये इसकी आस्था त्याग और आत्म तत्व का आश्रय ले शुद्ध निर्मल होकर जगत् में विचर, तब तुझको दुःख स्पर्श न करेगा, जगत् स्थित हो अथवा शान्त हो, इसके हृदय अस्त की वासना से इसके गुण अवगुण में आसक्त मत हो, जो अविद्यमान् असत्य रूप हो उसकी आस्था करनी वृथा है। यह असत्य रूप है, और तू सत्य रूप है, असत्य और सत्य का सम्बन्ध कैसे हो क्या मृत्यु और जीवन का सम्बन्ध कभी हुआ है? यदि तुम कहो चेतन तत्व दृश्य रूप है, तो दोनों सत्यस्वरूप हैं, तो सदा विस्तृतरूप आत्मा ही हुआ, हर्ष विषाद किसका करता है, अतः तुम मूढ मत हो, समुद्र के समान अक्षोभ रूप अपने आप में स्थित हो, संसार की भावना त्याग कर मान मोहरूप मल का भी त्यागकर! संसार की इच्छा दुःख का कारण है, इसको त्यागकर आत्मपद में स्थित हो, तब परिपूर्ण पद को प्राप्त होगा, इसलिये यत्न करके उसका आश्रय लेकर चंचलता को त्याग।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तानुशासनं नाम एकादशः सर्गः ।।११।।

द्वादशः सर्गः १२

प्राज्ञमहिमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार विचार कर राजा ने सब कार्य किये। आनन्दवृत्ति में उसका मन प्रबोध हुआ, मोह को नहीं प्राप्त हुआ, इष्ट में हर्षवान् न होता था और अनिष्टमें शोकवान् न होता केवल सम स्वच्छ अपने स्वरूप में स्थित हुआ, जगत् में विचरता था

परन्तु वास्तव में न कुछ ग्रहण करता न त्याग करता था, केवल बीतशोक होकर सन्तापसे रहित वर्तमानमें कार्य करता था तब कोई कल्पना उसके हृदय करती, ऐसे मलिनता से रहित अपने स्वरूप के अनुसन्धान से सम्यक् ज्ञान अनन्त प्रकाश में मन निश्चयता को प्राप्त किया, मन की जो कोई संकल्पवृत्ति थी, वह नष्ट हो गयी, महा प्रकाशरूप चेतन अनामय आत्मा हृदय में प्रकाशित हुआ, जैसे आकाश में सूर्य प्रकाशित होता है ऐसे अनंत आत्मा प्रकट हुआ। सम्पूर्ण पदार्थ उसमें प्रतिबिंबित दीखते हैं, जैसे शुद्ध मणि में प्रतिबिंब भासता है, ऐसे सर्व पदार्थ अपने स्वरूप में आत्म भूत देखने लगा, इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों की प्राप्ति में हर्ष शोक मिट गया, सर्वदा समान होकर प्रकृत व्यवहार करता हुआ राजा जनक इस प्रकार विचरने लगा, हे रामजी! जनक को दृढता से ज्ञान हुआ, इस कारण से तत्ववेत्ता होकर उसने विदेह नगर का राज्य किया, जीवों के पालन में राजा जनक को कभी हर्ष शोक नहीं प्राप्त हुआ सदा सन्ताप से रहित रहे, राज्य सम्बन्धी किसी प्रकार का कार्य उदय हो अथवा अस्त हो जावे, परन्तु किसी प्रकर की हानि लाभ में राजा जनक हर्ष शोक नहीं प्राप्त होता था, कार्य करता दृष्टि आता है परन्तु हृदय से कुछ नहीं करता, हे रामजी! इसी प्रकार तुम भी सब कार्य करो परन्तु निरन्तर आत्मस्वरूप में स्थित रहो, तुम जीवन्मुक्त हो, राजा जनक की सब पदार्थ भावना अस्त हो गयी है, सुषुप्ति के समान वृत्ति हुई है, भविष्य की इच्छा नहीं करता, और अतीत की चिन्ता नहीं, जो वर्तमान कार्य प्राप्त हो उसको यथा शास्त्र करता है, अपने विचार के वश से पाने योग्य पद को पा लिया, और कुछ इच्छा नहीं है, हे रामजी! जब तक यह (मनुष्य) आत्मपद को प्राप्त नहीं होता, तब तक इसके हृदय में अपना पुरुषार्थरूप विचार नहीं उत्पन्न होता, जब अपने आप द्वारा अपना विचाररूप पुरुषार्थ जगे तब सब सुख दुःख मिट जायँ और परम संपत् को प्राप्त हो ऐसा पद शास्त्रार्थ और पुण्य कार्य से नहीं प्राप्त होता जैसा पद अपने हृदय में विचार करने से प्राप्त होता है, वह पद निर्मल और स्वच्छ है,

हृदय की तत्परता को निवृत्त करता है, बुद्धि विचाररूप प्रकाश से हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है, और किसी उपाय से नष्ट नहीं होता, जो महान् आपत्तिरूप दुःख तरने को कठिन होता है जो बुद्धि से तरना सुगम होता है, जैसे जहाज से समुद्र को पार कर जाता है जो बुद्धि से रहित मूर्ख हैं, उनकी थोड़ी आपत्ति भी बड़ा दुःख देती है, जैसा थोड़ा पवन भी तृण को बहुर घुमाता है। बुद्धिमानों को बड़ी आपत्ति भी दुःख नहीं देती, जैसे बड़ा वायु भी पर्वत को नहीं चला सकता, इसी कारण से प्रथम चाहिये कि यह पुरुष सत्पुरुषों का संग और सच्छास्त्रों का विचार करे, और बुद्धि को बढ़ावे, जब बुद्धि सत्य मार्ग की ओर बढ़ेगी, तब इसको परम बोध प्राप्त होगा जैसे जल के सींचने और रक्षा करने से फूल से फल प्राप्त होता है, ऐसे हीं जब बुद्धि सत्यमार्ग की ओर दौडती है तब इसको परमानन्द प्राप्त होता है, जैसे शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा पूर्णिमा को बहुत प्रकाश पाता है, जैसे जीव संसार के लिये यत्न करते हैं इसी प्रकार यदि सत्यमार्ग के लिये करें तो दुःख से मुक्त हो जायँ, और परम संपत्ति के भंडार को प्राप्त करें, संसाररूप वृक्ष है, बुद्धि की मूढता उसका बीज है, अतः मूढता से रहित होना महान् लाभ है, स्वर्ग पाताल राज्य आदिक जो कुछ पदार्थों की प्राप्ति होती है, वह अपने बोधरूप भंडार से प्राप्त होती है, संसाररूप समुद्र है, उसके तरने के लिये बुद्धिरूप जहाज है, और तपतीर्थ आदि शुभ आचार करके जहाज बहाता है, बोधरूप पुष्पलता है, उसको बढ़ाने को दैवी संपद् जल है, उसी के बढ़ने से सुन्दर फल प्राप्त होता है, जो पुरुष बोध से रहित है और बल में तथा ऐश्वर्य में उसने वृद्धि की है, उसको तुच्छ विषय नाश कर देते हैं, जैसे बल से रहित सिंह को गीदड हरिण भी जीत लेते हैं, इसलिये जो कुछ भी प्राप्त होता दीखता है अपने यत्न से होता है, बोधरूप चिन्तामणि, हृदय में स्थित है, उससे विवेकरूप फल प्राप्त होता है, जैसे कल्पलता से जो चिंतन करे वही प्राप्त होता है, ऐसे सब फल बोध से प्राप्त होता है, जैसे जानने वाला महासमुद्र से पार कर देता है, अन जान नहीं पार उतार सकता, ऐसे सम्यक् बोध संसार समुद्र से पार कर देता है, और असम्यग्बोध

जडता में डालता है, जो अल्पसी बुद्धि भी सत्य मार्ग की ओर होती है, तब वह बड़े संकट को दूर कर देती है, जैसे छोटी बेडी भी नदी से पार उतार सकती है, हे रामजी! जो पुरुष बोधवान् है उसको संसार के दुःख बेध नहीं सकते, जैसे लोक आदि का जिसने कवच पहिना हुआ हो, उसको बाण नहीं बेध सकते, बुद्धि से यह पुरुष सर्वात्म पद को प्राप्त कर सकता है, जिस पद के पाने से हर्ष, विषाद, संपत्ति आपत्ति कोई नहीं रहती, अहंकाररूप मेघ है, वह आत्मरूप सूर्य के आगे आया है, माया मलिनता जडरूप है, इस कारण से आत्मरूप सूर्य नहीं भासता, बोधरूप वायु से जब यह दूर हो तब ज्यों का त्यों भासता है, जैसे कृषिकार पहिले हल आदि से पृथ्वी को शुद्ध करता है, तदनन्तर बीज बोता है, तब जल सींचता है, और नाशक वस्तुओं से उसकी रक्षा करते हैं, तब फल को प्राप्त होता है, ऐसे ही जब आर्जवादि गुणों से बुद्धि निर्मल होती है, और शास्त्र का बीजरूप उपदेश मिलता है, और अभ्यास वैराग्य से यत्न करता है तब परम पद की प्राप्ति होती है, वह अतुल पद है, उसके समान और कोई नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्राज्ञमहिमवर्णनंनाम द्वादशः सर्गः ।।१२।।

त्रयोदशः सर्गः १३

मनोनिर्वाण–वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार जनक के समान अपने आपसे अपने आपको विचारकर जो कार्य विदित वेद्य पुरुषों (ज्ञानवानों) ने किया है, उसी प्रकार तुम भी निर्विघ्न हो जाओं, जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, जिनका यह अन्त का जन्म है, वे राजस सत्त्विक पुरुष आप ही परम पद को प्राप्त करते हैं, जब तक अपने आप से आत्मदेव प्रसन्न नहीं होते, तब तक इन्द्रियरूप शत्रुओं को जीतने का यत्न करो,

जब आत्मदेव प्रसन्न होंगे, तो स्वयं परमात्म साक्षात्कार होगा, वह सर्वगत परमात्मा ईश्वरों का ईश्वर है, वह आप ही स्वयं प्रकाश दीखता है और सब दोष दृष्टि क्षीण हो जाती है, मोहरूपबीज की मुट्ठी भर भर जो बोया करता था, नाना प्रकार की आपत्तिरूप वर्षा से महामोह की बड़ी सी जो बेल उत्पन्न हुई होती है वह सब नष्ट हो जाती है, जब परमात्मा का साक्षात्कार होता है तब भ्रान्ति दृष्टि नहीं आती, हे रामजी! तुम आत्मबोध से स्वरूपस्थित हो जाओ, और जनक के समान कार्यों का आरंभ करो, ब्रह्मलक्षवान् होकर जगत् में विचरों, तब तुमको खेद कुछ न होगा, जब नित्य आत्मविचार होता है, तब परपंदेव आप ही प्रसन्न होता है, उसका साक्षात्कार होने से चंचलरूप संसारी जन को देखकर जनक की नाईं हँसेगा, हे रामजी! संसार के भय से जो जीव भीत हुए है, उससे रक्षा पाने के लिये अपना ही पुरुषार्थ समर्थ है, देव से कर्म से अथवा धन बाँधवों से रक्षा नहीं होती, जो पुरुष देव पर निश्चय रक्खें हैं, और आप कर्म शास्त्रविरुद्ध करते हैं, संकल्प विकल्प में तत्पर होते हैं, वे मध्यबुद्धि हैं तुम उस मार्ग पर मत जाओ उससे बुद्धिनाश होता है, तुम परम विवेक का आश्रय पकड़ो और अपने आपको स्वयं देखो, वैराग्यवान शुद्धबुद्धि से संसार समुद्र को तर जाता है, यह मैंने तुम्हें जनक का वृत्तान्त कहा है, जैसे आकाश से फल गिर पड़े ऐसे उसको सिद्धों के विचार से ज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह विचार ज्ञानरूप वृक्ष की मंजरी है, जैसे अपने विचार से राजा जनक को आत्मबोध हुआ है, ऐसे तुमको भी प्राप्त होगा, सूर्यमुखी कमल सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है, ऐसे ही इस विचार से हृदय प्रफुल्लित हो जायगा, मन का मनन भाव शान्त होगा, जैसे बर्फ का कण सूर्य से तप्त होकर गल जाता है, जब अहं त्वं आदिक रात्रि विचाररूप सूर्य से क्षीण हो जायगी, तब परमात्मा का प्रकाश साक्षात् होगा और भेद कल्पना नष्ट हो जायगी, अनन्त ब्रह्माण्ड में जो व्यापक आत्मतत्त्व है, वह प्रकाशित होगा, जैसे जनक के अपने विचार से अहंकार वासना का त्याग किया है, ऐसे तुम भी विचार करके अहंकार

वासना का त्यगा करो, अहंकाररूप मेघ जब नष्ट होगा, और चिदाकाश निर्मल होगा, तब आत्मरूप सूर्य प्रकाशित होगा, जब तक अहंकार मेघ का आवरण है, तब तक आत्मसूर्य नहीं भासता, विचाररूप वायु से जब अहंकाररूप मेघ का नाश हो जायगा, तब प्रकटरूप से भासेगा। हे रामजी! ऐसी धारणा करो कि न मैं हूँ, न कोई और है, न नास्ति है न अस्ति है, जब ऐसी भावना दृढ़ होगी तब मन शान्त हो जायेगा, हेयोपदेय बुद्धि जो इष्ट पदार्थों में होती है, उसमें न डूबेगा, इष्ट अनिष्ट के ग्रहण त्याग में भावना होती है, यह मन का रूप है, और यही बन्धन का कारण है, इससे इतर बन्धन कोई नहीं, इसलिये तुम इंद्रियों के इष्ट अनिष्ट में हेयोपदेय बुद्धि मत करो, दोनों के त्याग से जो शेष रहे उसमें स्थित हो, जिसको हेयोपदेय बुद्धि क्षीण नहीं होती, इष्ट अनिष्ट भावना उसकी जाती है, जब तक हेयोपदय बुद्धि क्षीण नहीं होती तब तक समता भाव नहीं उपजता, जैसे मेघ के नष्ट हुए बिना चन्द्रमा की चाँदनी नहीं भासती, ऐसे जब तक पदार्थों मे इष्ट अनिष्ट बुद्धि है, और मन लोलुप होता है तब तक समता उदय नहीं होती, जब तक युक्त अयुक्त लाभ अलाभ इच्छा नहीं मिटती तब तक शुद्ध समता और निरसता नहीं उपजती। एक जो ब्रह्म तत्त्व निरामयरूप नानातत्वसे रहित है, उसमें युक्त क्या और अयुक्त क्या है, जब तक इच्छा अनिच्छा वांछित अवांछित यह दोनों बातें स्थित हैं, तब तक सौम्यता अचलभाव नहीं होता, और जो हेयोपदेय बुद्धि से रहित ज्ञानवान् है, उस पुरुष को यह शक्ति प्राप्त होती है, जैसे राजा के अंतःपुर में पटरानी स्थित होती है, ऐसे वह कौन शक्ति है, एक तो भोगों में निरसता, देहाभिमान से रहित निर्भयता, नित्यता, समता, आत्मदृष्टि, ज्ञाननिष्ठा, सर्वेच्छा रहित होना, निरहंकारता, अपने आप को सदा अकर्ता जानना, इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्तता, निर्विकल्पता, सदा आनन्द स्वरूप रहना, धैर्य से सदा एक रस रहना, स्वरूप से इतरवृत्ति न फुरे, सब जीवों से मैत्री भाव, और सत्यबुद्धि निश्चयात्मक रूप से तुष्टता, और मुदिता तथा मृदु भाषणता,

इतनी शक्ति हेयोपादय राहित्य में आकर प्राप्त होती है, हे रामजी! संसार के पदार्थों की ओर जो चित्त दौड़ता है, उसको वैराग्य से वापिस करे, अर्थात् इन्द्रियों के प्रत्याहार से विषयोन्मुख मन को पुनः आत्मा में ही लाकर वश में करे। जैसे जल वेग को सेतु द्वारा रोका जाता है, ऐसे ही मन को जगत् से निवारित करके आत्मपद में ही लगावे, ऐसा करने से आत्मभाव प्रकाशित होता है, इसलिये अन्तःकरण से सब वासनाओं का त्याग करो, और बाहिर से सब काम करते जाओ, चलो, फिरो, श्वास लो, सब प्रकार की चेष्टाएँ करो, सर्वदा सब प्रकार की वासनाएँ त्यागो, संसार समुद्र है, जिसमें वासनारूप जल है, इस विचाररूप शिला पर बुद्धि को तीक्ष्ण करो, और इस जाल को काटो, तब संसार से मुक्ति पाओगे, संसार वृक्ष है, इसका मूल (बीज) मन है, इस बात को स्मरण रखते हुए धैर्यवान् बनो, तब आधिव्याधि रूप दुःखों से मुक्ति पाओगे। मन से मन को काटो, जो बीती है उसका स्मरण मत करो, भविष्य की चिन्ता मत करो, क्योंकि असत्यरूप है, वर्तमान को भी असत्य जानकर उसमें विचरो, जब मन से संसार का विस्मरण होगा तब मन में फिर न फुरेगा, मन में असत्य भाव जानकर चलो, उठो, बैठो, उछलो, कूदो अर्थात् सब चेष्टाएँ करो, परन्तु अन्दर से सब असत्यरूप जानो, तब खेद न होगा, अहं ममरूप मल का त्याग करके यथा प्राप्त में विचरो, परन्तु अन्दर से उसमें आस्थान हो, जैसे आकाश का सब पदार्थों में परंतु स्पर्श किसी के साथ नहीं, इसी प्रकार बाह्य कर्म करो परन्तु मन से किसी के साथ बान्धे न जाओ, तुम चेतन रूप अजन्मा महेश्वर पुरुष हो, तुमसे भिन्न कुछ नहीं सब में व्याप्त हो रहे हो, जिन पुरुषों को सदा यही निश्चय रहता है, और अपने स्वरूप से जिनको संसार के पदार्थ विचलित नहीं कर सकते, जिनकी संसार में आसक्त भावना है, और स्वरूप से भूले हुए हैं, उनको संसार के पदार्थों से विकार उत्पन्न होता है, तथा हर्ष शोक भय व्याकुल होते हैं, और जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे राग द्वेष से रहित हैं, उनको लोह स्वर्ण पाषाण एक समान है, उन्होंने संसार वासना का त्याग किया है, इसी का नाम मुक्ति है, हे

रामजी! जिस पुरुष की स्वरूप में स्थिति हुई है, और सुख दुःख में समता है, वह जो कुछ करता है, भोगता है, देता है, लेता है, सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, यथा प्राप्त कार्य में वर्तता हैं, उसके अन्तःकरण में इष्ट अनिष्ट की भावना नहीं फुरती किसी कार्य में राग द्वेष के दोष से नहीं डूबता, जिसको यह सदा निश्चय रहता है, कि सब कुछ चिदाकाश रूप है, और जो भोगों के मनन से रहित है, वह समता भाव को प्राप्त होता है, हे रामजी! मन जड़ रूप है, आत्मा चेतन रूप है, उस चेतन की सत्ता से पदार्थों को ग्रहण करता है, इसमें अपनी सत्यता कुछ नहीं, जैसे सिंह से मारे हुए पशु को खाने के लिये बिल्ली भी जाती हैं, उसमें उसका बल कुछ नहीं लगा ऐसे ही चेतन के बल से मन दृश्य का आश्रय करता है, मन आप असत्य रूप है, चेतन की सत्ता पाकर जीता है, और संसार के चिन्तन में समर्थ होता है। प्रमाद करके चिन्ता द्वारा दुःख पाता है, यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि मन जड़ है, चेतन रूप दीपक से प्रकाशित होता है, चेत न सत्ता से रहित सब वस्तुएं समान हैं, आत्मसत्ता से रहित उठने को भी समर्थ नहीं होता। आत्मसत्ता को भुलाकर जो कुछ करता है, उस फुरने को बुद्धिमान् कलना कहते हैं, जब वही कलना शुद्ध चेतन रूप अपने आपको जानती है तब आत्मभाव को प्राप्त होते हैं, प्रमाद से रहित आत्मरूप हैं, चित्तकला जब चेत्य दृश्य से स्फुरण होती है उसका नाम तब सनातन ब्रह्म होता है और जब चैत्य के साथ मिलती है तब उसका नाम कलना होता है, स्वरूप से इतर कुछ नहीं, केवल ब्रह्मतत्व स्थित है, उसमें भ्रान्ति से मन आदि भासते हैं, जब चेतन सत्ता दृश्य के सम्मुख होती है तब वही कलनारूप होती है, अपने स्वरूप विस्मरण करने और संकल्प की और दौडने से कलना कहाती है, अपने आपको परिछिन्न जानती है, इससे परिछिन्न हो जाती है, हेयोपादेव धर्मिणी होती है, हे रामजी! चित्तसत्ता अपने ही फुरने से जड़ता को प्राप्त हुई है, जब तक विचार से जगायी न जाय, तब तक स्वरूप में जगती नहीं, इसी कारण सत्य शास्त्रों के विचार और वैराग्य से इन्द्रियों के निग्रह करके अपनी कलना को आप जगाओ,

सब जीवों की जो कलना है वह विज्ञान और शम करके जगाने से ब्रह्मतत्व को प्राप्त होती है, इससे इतर मार्ग द्वारा भ्रान्ति रहती है मोहरूप मदिरा से जो पुरुष उन्मत्त हुआ है वह विषयरूप गर्त (गड्ढे) में गिरता है, आत्मबोध से सोयी हुई कलना को नहीं जगाता, अप्रबुद्ध ही रहता है, वह चित्त कलना जड़ रहती है, यदि भासती है तो भी असत्यरूप है, ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं, जो संकल्प से कल्पित न हो, इसलिये तू अजडधर्मा हो, कलना जड़ उपलब्ध रूपिणी है, परमार्थ सत्ता से विकासवान् होती है, जैसे सूर्य से कमल विकसित होता है, जैसे पाषाण मूर्ति को कहें तू नृत्य कर तब वह नहीं करती क्योंकि जडरूप हैं, ऐसे देह में जो कलना है, वह चेतन कार्य करने को समर्थन नहीं, जैसे मूर्तिमें लिखा राजा युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता और मूर्ति का चन्द्रमा औषधि की पुष्ट नहीं कर सकता, जैसे कलना जड़रूप है कार्य करने को समर्थ नहीं होती, जैसे निरवयव अंगनामें आलिंगन नहीं होता जैसे संकल्प रचे आकाश के वन की छाया के नीचे कोई नहीं बैठ सकता, मृग तृष्णा के जल से कोई तृप्त नहीं होता, ऐसे जड़रूप क्रिया करने को समर्थ नहीं होता, जैसे सूर्य की धूप से मृगतृष्णा की नदी भासती है ऐसे चित्तकलना के फुरने से जगत् भातसा है, शरीर में स्पंद शक्ति भासती है वह प्राणशक्ति है, प्राणों से बोलता चलता बैठता है, ज्ञानरूप संवित् जो आत्मतत्व है उससे इतर कुछ नहीं, जब संकल्प कला फुरती है, तब अहं त्वं इत्यादिक कलना से वही रूप हो जाता है, जब आत्मा और प्राण का फुरना इकट्ठा आता है अर्थात् प्राणों के साथ चेतन् संवित् मिलता है तब उसका नाम जीव होता है, बुद्धि, चित्त, मन सब उसके नाम हैं। सब संज्ञायें अज्ञान से कल्पित होती हैं, अज्ञानी को जैसा भासा है, उसको है, और परमार्थ से कुछ हुआ नहीं, न मन है, न बुद्धि है, न शरीर है, केवल आत्मामात्र अपने आप में स्थित है, अपरद्वैत कुछ हुआ नहीं, सब जगत् आत्मरूप है, कालक्रिया सब आत्मरूप है, आकाश से भी निर्मल है, अस्ति नास्ति सब वही रूप है, द्वितीय फुरणे से रहित है, इस कारण से है और

नहीं, ऐसा स्थित है, और सर्वरूप से सत्य है, आत्मा सब पदों से रहित है, इस कारण से असत्य की नाईं है अनुभवरूप है, इसलिये सत्य है, सर्वकलना से रहित केवल अनुभवरूप है, ऐसे अनुभव का जहां ज्ञान होता है, वहां, मन क्षीण हो जाता है, जैसे जहां सूर्य का प्रकाश होता है, वहां अन्धकार क्षीण हो जाता है, और जब आत्मसत्ता में संवित् करके इच्छा फुरती है, वह संकल्प के सम्मुख हुई थोडी सी भी विस्मृत हो जाती है, तब चित्तकला को आत्मस्वरूप विस्मरण हो जाता है, जन्मों की चेष्टा से जगत् स्मरण हो आता है, परम पुरुष को संकल्प के साथ तन्मय होने से चित्तनाम कहाता है, और जब चित्तकला संकल्प से रहित होती है तब मोक्षरूप होती है, चित्तकला फुरने का नाम चित्त और मन कहते हैं, और दूसरी वस्तु कोई नहीं, एकता मात्र ही चित्त का रूप है, सम्पूर्ण संसार का बीज मन है संकल्प के सम्मुख होकर चेतन संवित् का नाम होता है, निर्विकल्प जो चित्तसत्ता है वह जब संकल्प करके मलिन होती है तब उसको कलना कहते हैं, वही मन घटादिक की नाईं परिच्छिन्न भेद को प्राप्त होता है, तब क्रिया शक्ति जो प्राण उसके साथ और ज्ञान शक्ति के साथ मिलती है, तब उस संयोग का नाम संकल्प विकल्प का कर्ता मन होता है, वही जगत् का बीज है, उसके लीन करने के दो उपाय हैं, एक तत्व का ज्ञान, दूसरा प्राणों का रोकना, जब प्राण शक्ति का निरोध करता है, तब मन भी लीन हो जाता है, और सत्य शास्त्रों द्वारा ब्रह्मतत्व का ज्ञान होता है तो भी लीन हो जाता है, प्राण किसका नाम है और मन किसका नाम है, यह सुनो, हृदय कोशसे निकलता है और बाहिर जाता है और फिर बाहिर से अन्दर आता है, वह प्राण है, शरीर बैठा है और वासना से देश देशान्तर में घूमता है, इसका नाम मन होता है, इसको वैराग्य और योगाभ्यास द्वारा वासना से रहित करना और प्राण वायु को स्थित करना यह दोनों उपाय हैं, हे रामजी! जब तत्वज्ञान होता है तब मन स्थिर हो जाता है, क्योंकि प्राण और चित्तकला का आपस में वियोग होता है, और जब प्राणस्थित होता है तब मन स्थित हो जाता है, क्योंकि

प्राणस्थित हुए चेतन कला के साथ नहीं मिलते, तब मन भी स्थित हो जाता है, मन का रूप चेतन कला और प्राण फुरना बिना नहीं रहता ऐसा भी हो कि, पाषाण (पत्थर) को स्वाद लेने की शक्ति हो जाय, तो पाषाण को अपनी सत्ताशक्ति कुछ नहीं, ऐसे मन को भी अपनी सत्ताशक्ति कुछ नहीं, चेतन सत्ता और प्राणों बिना कुछ हो, स्पंदरूप जो शक्ति है, वह प्राणों की है वह चलरूप जडात्मक हैं, आत्मसत्ता चेतन रूप है, अपने आपमें स्थित है, चेतनशक्ति और स्पन्दशक्ति का सम्बन्ध होने से मन उत्पन्न हुआ है, वह मन का उत्पन्न होना भी मिथ्या है, इसीका नाम मिथ्याज्ञान है, हे रामजी! मैंने तुझको अविद्या परम अज्ञानरूप संसाररूप विष देनेवाली कही है, चित्तशक्ति और स्पन्दशक्ति का सम्बन्ध संकल्प करके कल्पित है, यदि तू संकल्प न उठावे मन संज्ञा न रहेगी, क्षीण हो जायेगी, इसलिये संसार भ्रम से भयभीत मत हो, और जब स्पन्दरूप प्राण को चित्तसत्ता चेतती है, तब चेतन से मन चित्तरूप को प्राप्त हो जाता है। अपने फुरणे से दुःख को प्राप्त होता है, जैसे बालक अपनी परछाईं में बेताल की कल्पना से भयभीत होता है, ऐसे अखण्ड मण्डल का जो चेतन सत्ता है वह सर्व गत है, उसका सम्बन्ध किसके साथ हो, अखण्ड शक्ति–उन्निद्ररूप, आत्मा के इकट्ठा करने को कोई समर्थ नहीं, इसी कारण से सम्बन्ध का अभाव है, जो सम्बन्ध नहीं तो मिलना किससे हो, मिलापन हुआ तो मन की सिद्धता क्या कहें? चित्त और स्पन्द की एकता को मन कहते हैं, और मन वस्तु नहीं, जैसे रथ, घोड़ा, हस्ती, प्यादा, इनके बिना सेना का और रूपकुछ नहीं निकलता, ऐसे चित्तस्पंद बिना मन का रूप और कुछ नहीं, इसलिये इस दुष्ट मन के समान तीनों लोकों में कोई नहीं, जब सम्यग् ज्ञान हो तब मृतरूप मन नष्ट हो जाता है, इसलिये मिथ्या अनर्थ का कारण जो चित्त है इसको मत अपनाओ अर्थात् संकल्प का त्याग करो, हे रामजी! मन का उपजना मिथ्या है परमार्थ से नहीं, संकल्प का नाम मन है, इस कारण से कुछ है नहीं, जैसे मृगतृष्णा नदी मिथ्या भासती है, ऐसे मन मिथ्या है, हृदयरूप मरुस्थल है और

चेतनरूप सूर्य है, वहाँ मनरूपी मृग तृष्णा है, इसका जल भासता है, जब सम्यग् ज्ञान होता है, तब इसका अभाव हो जाता है, मन जडता से निःस्वरूप है, सर्वदा मृतकरूप है, इस मृतक ने सब लोगों को मृतक बनाया है, यह बड़ा आश्चर्य है, अंग भी कोई नहीं, देह भी नहीं, न आधार है, न आधेय है, वह जगत् को भक्षण करता है, अनहोते जाल में लोगों को फंसाया है, जो सामग्री से रहित बल तेज विभूति, हस्ती पदाति रहित लोगों को मारता है, मानों कमल के मारने से मस्तक फट जाता है, जो जड़ मूक अधम हैं, वे पुरुष ऐसा मानते हैं कि हम बाँधे हुए हैं, मानों पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों से चलते हैं, जो वीर पुरुष हैं, वे उसका हनन करते हैं, जो अविद्यामान मन है उसने मिथ्या हो जगत् को हत किया है, संकल्प से उदित हुआ है, ऐसा दुष्ट है किसी ने इसको देखा तुझको उसकी शक्ति कही है, वह तो बड़ा आश्चर्यरूप विस्तृतरूप चंचल असत्‌रूप चित्त से मैं विस्मित हुआ हूँ जो मूर्ख है सर्व आपत्तियों का पात्र है, जो मन नहीं है, उससे इतने दुःख को प्राप्त हुआ है बहुत कष्ट है, सब मन से दुःखित हैं, सारी सृष्टि दुःख पाती चली जाती है, मैं यह जानता हूँ कि सब जगत् मूढरूप है क्योंकि उस मन से नाश पा रहा है जो स्वयं कोई वस्तु ही नहीं जैसे कोई चन्द्रमा की किरणों से जल रहा हो, जल के तरंगों के शस्त्रों से टुकडे टुकडे किया गया हो, कमल से चीर दिया गया हो, दृष्टिरूप शस्त्र से वेधा गया हो कि जो संकल्परूप मन से मारा गया है, जो वास्तव से कोई वस्तु नहीं। मिथ्या कल्पना से इस नीच मन ने लोगों का हनन किया है, अतः मूर्ख है, मूर्ख हमारे उपदेश योग्य नहीं, उपदेश का अधिकारी जिज्ञासु है, जिसको स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ संसार से उपरत हुआ है, और मोक्ष की इच्छा रखता है, तथा पदार्थ का ज्ञाता है, वह उपदेश करने योग्य है, जो पूर्ण ज्ञानवान् हैं, उनको उपदेश नहीं बनता और अज्ञानी मूर्ख को भी नहीं बनता, मूर्ख कैसा है वीणा की ध्वनि सुनकर भयवान् होता है, नींद में सोये हुए बान्धव को मृत जानकर उससे भय मानता है, स्वप्न में हस्ती को देखकर भय पाता है, भागता है,

इस मन ने अज्ञानियों को वश में किया है, भोगों के तुच्छ सुख के लिये जीव अनेक यत्न करते हैं और दुःख पाते हैं, हृदय में स्थित जो अपना स्वरूप है, उसको नहीं देख सकते, प्रमाद से अनेक कष्ट पाते हैं। अज्ञानी जीव मिथ्या ही मोहित होते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे मनोनिर्वाण वर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ।।१३।।

चतुर्दशः सर्गः १४

चित्त चैतन्यरूपवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! संसार समुद्र है, इसमें राग द्वेष रूप बड़े कल्लोल उठते हैं, उनमें वे पुरुष बह जाते हैं जो मन को मूढ जड़रूप नहीं जानते, उनको उदार आत्मफल प्राप्त नहीं होता, यह विवेक विचार की बातें मैंने तुझसे कही हैं, आप इनके योग्य हैं, जिन मूर्खों में मन को जीतने की सामर्थ्य नहीं है, उनको यह शोभा नहीं, देती, जो इन वचनों को ग्रहण नहीं कर सकते उनको कहने से क्या प्रयोजन है, जैसे जन्मान्ध को सुन्दर मंजरी वन दिखाना निष्फल होता है, क्योंकि वह देख नहीं सकता, ऐसे ही विवेक की बातों का उनको उपदेश करना निष्फल होता है, जो मन को जीत नहीं सकते। जो इन्द्रिय लोलुप पुरुष हैं उनको आत्मबोध का उपदेश करना कुछ लाभदायक नहीं होता, जैसे–जिसका शरीर कुष्ठ से गल गया हो, उसको नाना प्रकार की सुगन्धि का उपचार सुखदायक नहीं होता, ऐसे ही मूढ़ को आत्मबोध का उपदेश सुखदायक नहीं बैठता। जिसकी इन्द्रिय व्याकुल है विपर्ययरूप में हैं, और जो मदिरा से उन्मत्त है उसको धर्म के निर्णय में साक्षी करना कोई प्रमाण नहीं करता, ऐसा कुबुद्धि कौन है, जो शमशान में शव की मूर्ति को पाकर उससे चर्चा विचार करे तथा प्रश्नोत्तर करे, अपने हृदयरूप बिल में मूक

जड़रूप मन सर्पवत् स्थित है, जो उसको निकाल दे वह पुरुष है, और जो उसको नहीं जीत सकता उस दुर्बुद्धि को उपदेश करना व्यर्थ है, हे रामजी–मन महा तुच्छ है, जो वस्तु कुछ न हो, उसके जीवन में कठिनता हो, जैसे स्वप्न नगर निकट होता है, और चिर पर्यन्त स्थायी है, जगकर देखे तो कुछ नहीं पाता, ऐसे मन को विचार कर देखे तो कुछ भी नहीं जिस पुरुष ने अपने मन को नहीं जीता, वह दुर्बुद्धि है, वह अमृत को त्यागकर विष पान करता है, और विष की मूर्च्छा से मर जाता है, और जो ज्ञानी है, वह सदा आत्मा ही देखता है, इंद्रिय अपने अपने धर्म में विचरते हैं, प्राण की स्पंद शक्ति है और ज्ञानशक्ति परमात्मा की है, इंद्रियों को अपनी शक्ति है, जीव किससे बन्धन में आता है, वास्तव से सर्व शक्ति सर्वात्मा है, उससे भिन्न कुछ नहीं, यह मन क्या है, जिसने सर्व जगत् को नीचे किया है। हे रामजी! मूढ़ों को देखकर मैं दया करता हूँ कि मूढ क्यों दुःख पाते हैं, दुःखदायक कौन है, जिससे तपते हैं, जैसे ऊष्ट्र कंटक के वृक्षों की परम्परा को प्राप्त होता है, ऐसे मूढ़ प्रमाद करके दुःखों की परम्परा को पाते हैं, वे दुर्बुद्धि देह को पाकर मर जाते हैं, जैसे समुद्र में बुद्बुद उत्पन्न होकर मिट जाते हैं, उनका शोक करना क्या है, वे तो तुच्छ हैं, पशु से नीचे हैं, तुम देखो जो दशों दिशाओं में पशु आदिक होते हैं और मरते हैं, उनका शोक कौन करता है, मच्छरादिक जीव नष्ट हो जाते हैं, कई जलचर जल में दूसरे जीवों को खा जाते हैं, उन पर विलाप कौन करता है, छोटे जीवों को बड़े जीव भक्षण करते हैं, आकाश में कई पक्षियों की मृत्यु होती है, उनका कौन शोक करता है, अनेक जीव नष्ट होते हैं, उनका विलाप कौन करता है, ऐसे अबके जो हैं, उनका विलाप करना नहीं, क्योंकि किसी ने स्थिर नहीं रहना, सब नाशरूप हैं और तुच्छ हैं और निरंतर नष्ट होते रहते हैं और सबका प्रतियोगी काल है, अनेक जीवों का भोजन कर जाता है, यूका आदि जीवों को मच्छर और मक्षिका आदि जीव खा जाते हैं, मक्षिका, मच्छरादिकों को दादुर खाते हैं, दादुर को सर्प, सर्पों को नकुल (न्योले), न्योलों को बिल्ले, बिल्ले को

कूकर, कूकरों को बघाड़, बघाड़ को सिंह, सिंह को शरभ, शरभ को मेघ की गर्जना नष्ट करती है, मेघ को वायु, वायु को पर्वत, पर्वत को इन्द्र का वज्र, इन्द्र के वज्र को सुदर्शन चक्र जीत लेता है, वह चक्र विष्णुजी का होता है, विष्णु भी अवतार धारण करता है, सुख दुःख जरा मरण संयुक्त होता है, जीवों से बड़ी देह को धारण करता है, विद्यारूप है, तो भी यूकालिक्षा आदिक शरीर में लगती हैं, वह रुधिर पान करती हैं, इस प्रकार निरंतर भूत जाति को काल जीर्ण करता है और परस्पर जीव जीवों को खा जाते हैं और निरंतर नाना प्रकार के भूतजात दशों दिशाओं में उपजते हैं। जैसे जल में मत्स्य कच्छप आदिक होते हैं, पृथ्वी में कीट आदि उत्पन्न होते हैं, अन्तरिक्ष में पक्षी आदिक, वनबीथी में सिंहादिक मृग उपजते हैं। स्थावर में पिपीलिका दर्दुर कीटादि उत्पन्न होते हैं और विष्ठा में कृमि उत्पन्न होते हैं; नाना प्रकार के जीव गण इस प्रकार निरंतर उपजते हैं और मिट जाते हैं, कोई हर्षवान् कोई शोकवान् होते हैं कोई रुदन करते हैं, सुख और दुःख मानते हैं, पापी पाप मे दुःख से निरंतर मर रहे हैं और सृष्टि में उपजते नाश होते हैं, जैसे वृक्ष से पत्ते उपजते हैं, ऐसे भूत उपजकर नाश हो जाते हैं, उनकी गिनती कुछ नहीं, जो बोधवान् पुरुष हैं, वह स्वय अपने आपको संसार समुद्र से दया करके पार कर देते हैं। हे रामजी! और जितने जीव हैं, वे पशुवत् हैं, मूर्खों और पशुओं में कुछ भेद नहीं, उनको हमारी कथा का उपदेश नहीं, वे पशुधर्मा इस वाणी के योग्य नहीं, देखने मात्र मनुष्य हैं किन्तु मनुष्य का अर्थ उनसे सिद्ध कुछ नहीं होता, जैसे उजाड़ वन में ठूँठ वृक्ष होता है, वह छाया फल से रहित किसी को विश्राम दायक नहीं होता, ऐसे मूढ़ जीवों से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता, जैसे जेवरी गले में डालकर पशु को जहाँ खैंचो वहाँ चला जाता है, ऐसे मूढ़ चित्त द्वारा खींचे जाते हैं जिधर चित्त खींचता है वहां चले जाते हैं। मूढ़ चित्तपशु विषयरूप कीच में फँस जाते हैं, उससे बड़ी आपत्ति को प्राप्त करते हैं, उन मूढ़ों को आपत्ति में देखकर पाषाण भी रुदन करते हैं, जिन मूर्खों ने अपने चित्त को नहीं जीता,

अनेक दुःख प्राप्त होते हैं और जिन्होंने चित्त को बन्धन से निकाला है, वे सम्पत्तिवाले हैं, उनके सब दुःख मिट जाते हैं, संसार में फिर नहीं उत्पन्न होते, अपने चित्त को जीते बिना दुःख नाश नहीं होता और यदि चित्त अजेय होता है तो परमसुख की प्राप्ति न होती और चित्त को जीतने के लिये बुद्धिमान् भी प्रवृत्त न होते। क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष मनोजय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं, इसलिये यह निश्चित बात है कि चित्त वश होता है, मनरूप भ्रम के नाश होने पर आत्मसुख प्राप्त होता है, हे रामजी! मन भी कुछ है नहीं, मिथ्याभ्रम से कल्पित है, जैसे बालक को अपनी परछाईं में बेताल बुद्धि हो जाती है, उससे भयभीत होता है, ऐसे भ्रमरूप मन से नाश मानते हैं, जब तक आत्मसत्ता का विस्मरण होता है तब तक मूढ़ता है और हृदय में मनरूप सर्प विराजता है, जब अपने विवेकरूप गरुड का उदय हो तब वह नष्ट हो जाता है, अब तुम जगे हो, यथावत् जानते हो, हे शत्रुनाशक रामजी! अपने संकल्प से चित्त बढ़ता-है,उस संकल्प का शीघ्र ही त्याग करो, तब चित्त शान्त होगा। यदि तुम दृश्य का आश्रय करोगे तो बन्धन होगा और अहंकार आदिक दृश्य का त्याग करोगे तो अचित्त मोक्षवान् हो जाओगे। यह गुणों का सम्बन्ध मैंने तुमसे कहा है कि दृश्य का आश्रय करना बन्धन है। इससे रहित होना मोक्ष है, आगे जैसी इच्छा हो ऐसा करो, इस प्रकार ध्यान करो कि न मैं हूँ न यह जगत् है, केवल अचलरूप हूँ। ऐसे निःसंकल्प होने से आनन्द चिदाकाश हृदय में आकर प्रकाशित होगा, आत्मा और जगत् में जो विभाग कलना आकर उदय हुई है, वह मल है, इस द्वैत भाग का त्याग करने से जो पीछे शेष रहेगा, उसमें स्थित हो जाइये, आत्मा और जगत् का अन्तर क्या है? द्रष्टा और दृश्य का अन्तर जो दर्शन है, अनुभव सत्ता है। सर्वदा उसी की भावना करो, स्वाद और अस्वाद लेनेवाले का त्याग करो, उनके मध्य जो स्वादरूप है, उसमें स्थित हो, वह आत्मतत्व है, उसमें तन्मय हो जाओ, अनुभव जो द्रष्टा है और दृश्य है, उसके मध्य में जो निरालंब साक्षीरूप आत्मा है, उसमें स्थित हो, हे रामजी! भव जो है, संसार वह

भाव अभावरूप है, उसकी भावना का त्याग करो, भावरूप आत्मा की भावना करो, वह अपना स्वरूप है, प्रपंच दृश्य का त्याग करने से जो वस्तु अपना स्वरूप है, वही होगा। जो परमानन्द स्वरूप है और चित्त भाव को प्राप्त होना अनन्त दुःख है, चित्तरूप संकल्प बंधन है, उस बंधन को अपने स्वरूप के ज्ञान युक्त बल से काटो, तब मुक्ति होगी। जब आत्मा का त्यागकर जगत् में गिरता है, तब नाना प्रकार के संकल्प विकल्प दुःखों में प्राप्त होता है, यह सब कुछ आत्मा है, आत्मा से इतर कुछ नहीं, जब यह ज्ञान उदय हुआ, तब चैत्य चित्त चेतन तीनों का अभाव हो जावेगा। मैं आत्मा नहीं जीव हूँ, इसका नाम चित्त है, इससे अनेक दुःख पाने पड़ते हैं और जब यह निश्चय हुआ कि मैं आत्मा हूँ, जीव नहीं वह सत्य है और कुछ नहीं इसी का नाम चित्त उपशम है, जब यह निश्चय हुआ कि सब आत्मतत्व है, आत्मा से इतर कुछ नहीं, तब चित्त शान्त हो जाता है। इसमें संशय कुछ नहीं। इस प्रकार आत्मबोधक करके मन नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्य के उदय से तम नष्ट हो जाता है वह मन ऐसे शरीरों के अन्दर स्थित है, जब तक होता है तब तक बड़ा जीव को भय होता है। यह जो परमार्थ योग मैंने तुझको कहा है,इससे मन को काट डालो, जब मन का त्याग किया तब भय भी न रहेगा। यह चित्त भ्रममात्र उदय हुआ है। यह चित्तरूप वैताल है। सम्यक् ज्ञानरूप मंत्र से इसका अभाव हो जाता है, हे बलवानों में श्रेष्ठ निष्पाप रामजी! जब तेरे हृदयरूप गृह में से चित्तरूप वैताल निकल जायेगा, तब तू दुःख मुक्त होगा, भय उद्वेग कुछ न व्यापेगा, अब तू मेरे वचनों से विरागी हुआ है, मनरूप मन को जीत लिया है, इस विचार विवेक से चित्त नष्ट (शान्त) हो जाता है, निर्दुःख आत्मपद को प्राप्त होता है, सब ईषणाओं का त्यागकर शान्तरूप स्थित हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशम प्रकरणे चित्तचैतन्यरूप वर्णनं
नाम चतुर्दशः सर्गः ।।१४।।

पंचदशः सर्गः १५

तृष्णावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार तू देख कि चित्त आप विचित्ररूप है, संसार बीज कणिका है और जीवरूप पक्षी के बन्धन का जाल है, जब चित्त संवित् आत्मसत्ता को त्यागता है, तब दृश्य भाव को प्राप्त होता है, तब चित्त उपजता है, कलनारूप मल को धारण करता है, वह चित्त बढ़कर मोह उपजाता है, उससे संसार का कारण होता है, तब तृष्णारूप विषवेल फूलती है, उससे मूर्छित हो जाता है, आत्मपद की ओर सावधान नहीं होता, ज्यों ज्यों उदय होती है, त्यों त्यों मोह को बढ़ाती है, तृष्णारूप श्यामरात्रि है, अनन्त अन्धकार को देती है परमार्थ सत्ता को आवृत्त करती है, प्रलयकाल को अग्निवत् जलाती है, उससे समर्थ कोई नहीं होता। सबको व्याकुल करती है, तृष्णा तीक्ष्ण खड्ग की धारा है, देखने मात्र कोमल शीतल सुन्दर है, स्पर्श करने से नाश कर डारती है, अनेक संकट देती है, जो बड़े असाध्य दुःख हैं, जिनकी प्राप्ति बड़े पापों से होती है, वह संकट तृष्णारूप फूलों के फल हैं, तृष्णा रूपिणी कूकरी है, वह दुर्गन्धादियुक्त चित्तशरीररूप घर में रहती है, क्षण में बड़े हुलास को प्राप्त होती है, क्षण में शून्यरूप हो जाती है, जो पुरुष बड़ा ऐश्वर्यवान् है, वह तृष्णा उत्पन्न होने के समय दीन हो जाता है और जो देखने से निर्धन कृपण भासता है और अन्दर तृष्णा रहित है, तब वह बड़ा ऐश्वर्यवान् होता है, जिसके हृदय रूप बिल में तृष्णारूप सर्पिणी नहीं बैठी उसके प्राण और शरीर सुरक्षित हैं, उसका हृदय शान्तरूप होता है, निश्चित् रूप से जान, कि जहाँ तृष्णारूप कालरात्रि का अभाव हुआ है, वहाँ पुण्य आय बढ़ते हैं, जैसे शुक्लपक्ष का चन्द्रमा बढ़ता है, हे रामजी! जिस पुरुषरूप वृक्ष का तृष्णारूप घुन ने भोजन किया उसकी पुण्यरूप हरयाबल नहीं रहती, प्रफुल्लित नहीं होती, तृष्णा नदी है, उसमें अनन्त कल्लोल आवर्त उठते हैं, जीव खेलनेवाली पुतलियाँ हैं,

तृष्णा उनको घुमाती है सब शरीरों के अन्दर तृष्णारूप धागा है, उससे सब पिरोये हुए हैं, तृष्णोंसे मोहित हुए कष्ट पाते हैं और समझते नहीं। जैसे तृणसे आच्छादित गर्त होता है, उस पर पड़ी किसी खाने की वस्तु के लिये, हरिण शावक उस पर जाता है तो गर्त में गिर जाता है, हे रामजी! और कोई इस प्रकार इसका कलेजा नहीं काट सकता जैसी यह डाकिनी तृष्णा, इसका उत्साह बल नाश करने वाली है, तृष्णारूप अमंगल इन जीवों के हृदय में स्थित होकर नीचता का प्रसार करता है, तृष्णा के कारण विष्णुभगवान् को भी छोटा (बौना) बनना पड़ा। तृष्णा से जीव दुःख चक्र में घूमते हैं, जैसे सूर्य अपना कर्तव्य समझकर आकाश में चक्रवत् घूमता है, ऐसे तृष्णारूप धागे में बंधे जीव घूमते हैं, तृष्णारूप सर्पिणी महाविष से पूर्ण होती है, सबको दुःखदायक है, अतः इसका दूर से त्याग करो, पवन जो चलता है, वह तृष्णा से चलता है, पर्वत तृष्णा से स्थिर हैं, पृथ्वी तृष्णा से जगत् को धारण करती है। त्रिलोकी तृष्णा से वेष्टित है, सब लोग तृष्णा से बँधे हुए हैं। जेवरी (रस्सी) से बँधा हुआ छूटता है, परन्तु तृष्णा से बँधा हुआ नहीं छूटता, तृष्णावान् कभी मुक्त नहीं होता, तृष्णा से रहित मुक्त होता है। इस कारण हे राघव! तुम तृष्णा का त्याग करो, सब जगत् मन के संकल्प में है, उस संकल्प से रहित हो जाओ, मन भी कोई अन्य वस्तु नहीं, युक्ति से निर्णय करके देखो, संकल्प प्रमाद का नाम मन है। जब इसका नाश हो तब तृष्णा का भी नाश हो, अहं, त्वं, इदं, इत्यादि चिन्तन मत करो, यह महामोह मय दृष्टि है, इसको त्यागकर एक अद्वैत आत्मा की भावना करो, आत्मा में जो आत्मभाव है, वह दुःख में कारण है, इसके त्यागने से ज्ञानवानों में प्रसिद्ध हो जाओगे, अहंभाव की जो अपवित्र भावना है, उसको अपने स्वरूप शलाका की भावना से काट डालो, यह भावना भूमि का पंचक है, वहाँ संसार का अभाव है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णावर्णनं नाम पंचदशः सर्गः ॥१५॥

षोडशः सर्गः १६

तृष्णा चिकित्सापदेशवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे मुनीश्वर! यह तुम्हारे वचन गंभीर तोल से रहित हैं, तुम कहते हो अहंकार तृष्णा मत करो, यदि अहंकार को त्यागेगा तो यह चेष्टा कैसे होगी? देह का भी त्याग हो जायेगा, जैसे वृक्ष स्तंभ के आश्रय होते हैं, स्तंभ ने ही वृक्ष को धारण किया है। स्तंभ का नाश होने पर वृक्ष नहीं रहता, ऐसे देह को अहंकार ने धारण कर रखा है, उससे रहित देह भी गिर जायेगा, इसलिये मैं अहंकार को त्याग कर कैसे जीता रहूँगा? यह तत्वार्थ मुझे भली भाँति समझाओ, कहने वालों में सर्वश्रेष्ठ हो, वसिष्ठजी बोले— हे कमल नयन रामजी! सब ज्ञानवानों ने वासना का त्याग किया है, वह दो प्रकार का है, एक का नाम ध्येय त्याग, दूसरे का नाम नेय त्याग है, मैं यह हूँ, पदार्थरूप मैं इनसे जीता हूँ, इनके बिना मैं नहीं जीता और मेरे विना यह भी कुछ नहीं यह जो आभ्यन्तर निश्चय है, इसको त्यागकर मैंने विचार किया है, न मैं पदार्थ हूँ न मेरे पदार्थ है, ऐसी भावना करने वाले जो पुरुष हैं, उनका अन्तःकरण आत्मप्रकाश से शीतल हो जाता है, जो कुछ क्रिया करते हैं, वह लीला मात्र है, जिस पुरुष ने निश्चय से वासना का त्याग किया है, वह पुरुष सब क्रियाओं में सर्वात्म भाव की ही भावना रखता है, उसका कर्म उसके बन्धन का कारण नहीं बनता, जिसके अन्दर सर्व वासना का त्याग है और बाह्य इन्द्रियों से चेष्टा करता है वह पुरुष जीवनमुक्त कहाता है, उसने वासनाओं का त्याग किया है, उस वासना का त्याग नाम ध्येय वासना का त्याग और जिस पुरुष ने मन संयुक्त देह वासना का त्याग किया है और उस वासना का भी त्याग किया है, वह नेय वासना का त्याग है, नेय वासना के त्याग से विदेह मुक्त कहाता है, जिस पुरुष ने अहंकार देह अभिमान का त्याग किया है,

संसार की वासना लीलामात्र से त्याग कर दी है, स्वरूप में स्थित होकर क्रिया भी करता है, वह जीवन्मुक्त कहाता है। जिसकी सब वासनाएं नाश हुई हैं, अन्दर बाहिर की चेष्टा से जो रहित हुआ है, अर्थात् जिसने अन्दर संकल्प और बाहिर की क्रिया त्यागी है, उसका नाम नेय त्याग विदेह मुक्त जान, जिसने ध्येय वासना का त्याग किया है, लीला से कर्ता स्थित है, वह जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष जनकवत् है और जिसने नेय वासना को त्यागा है और उपशमरूप हो गया है, वह विदेह मुक्त होकर परम तत्व में स्थित है, परस्पर जिसको कहते हैं वही होता है, हे राघव! यह दोनों त्यागी शमपद में स्थित हुए ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं। विगत सन्ताप उत्तम पुरुष दोनों मुक्त स्वरूप हैं, निर्मल पद में स्थित होते हैं, एक का देह स्फुरण रूप होता है, दूसरे का अस्फुर होता है। देह युक्तरूप देह में स्थित होता है, क्रिया करता सन्ताप से रहित जीवन्मुक्त ज्ञान को धारण करता है, दूसरे देह को त्यागकर विदेह पद में स्थित होता है, उसके साथ वासना और देह दोनों नहीं भासते, इसलिये विदेह मुक्त कहाता है, जीवन्मुक्त के अन्दर वासना का त्याग है, बाह्य क्रिया करता है, जैसे समय के सुख दुःख आकर प्राप्त होते हैं, ऐसे निरन्तर राग द्वेष से रहित प्रवर्तता है, सुख में हर्ष नहीं, दुःख में शोक नहीं, वह जीवन्मुक्त कहाता है, जिस पुरुष ने संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थों की इच्छा त्यागी है, वह हर काम में सुषुप्ति की नाईं अचलवृत्ति है। वह जीवन्मुक्त कहाता है, हेयोपादेय मैं और मेरा सब कलना जिसके अन्दर क्षीण हो गयी है, वह जीवन्मुक्त कहाता है। उसकी वृत्ति सम्पूर्ण पदार्थों आदि की ओर से सुषुप्ति समान मानी गयी है और चित्त जिसका सदा जाग्रत है, कलना क्रिया संयुक्त भी दृष्टि आता है, परन्तु अन्तःकरण से आकाशवत् निर्मल है, वह जीवन्मुक्त पूजने योग्य है।

वाल्मीकिजी बोले—इस प्रकार जब वसिष्ठजी ने कहा, उस समय भगवान् सूर्य अस्त हुए, सभासद लोग परस्पर नमस्कार करके उठकर

स्नान के लिये चल दिये, और रात बिताकर सूर्य की किरणों के साथ साथ फिर नमस्कार करते हुए अपने अपने आसनों पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णाचिकित्सापदेशोनाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः १७

तृष्णोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जो पुरुष विदेहमुक्त है वह हमारी वाणी का विषय नहीं, इसलिये जीवन्मुक्त का लक्षण सुनो, जो कुछ प्रकृत कर्म है, उसको करता है, परन्तु तृष्णा और अहंकार से रहित है, निरहंकार होकर विचरता है, वह जीवन्मुक्त है, बाहर जो दृष्ट पदार्थ हैं, उनमें जिसकी दृढ़ भावना है, तृष्णा से सदा इच्छा करता रहता है, वह संसार के दृढ़ बन्धनों से बद्ध कहाता है और जिसने निश्चय करके अन्दर से संकल्प का त्याग किया है और बाहिर से सब व्यवहार करता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है, जो बाह्य जगत् में बड़े आरंभ करता है, इच्छावान् दृष्टि आता है और हृदय में सब अर्थों की वासना तृष्णा से रहित है, वह मुक्त कहाता है, जिस पुरुष की भोग तृष्णा मिट गयी है, वर्तमान में निरन्तर विचरता है, वह निर्दुःख निष्कलंक कहाता है, हे महाबुद्धिमन्! जिसके अंतर इदं अहं का निश्चय है, उसको धारण कर संसार की भावना करता है, उसको तृष्णारूप सांकल बँधा कलंकित जानो, इसलिये तुम मैं और मेरा सत्य और असत्य बुद्धि तथा संसार के पदार्थों का त्याग करो। सर्वदा परम उदार पद में स्थित हो, सत्य असत्य की कल्पना को त्यागकर बन्धनमुक्त समुद्रवत् अक्षोभचित्त होकर स्थित हो जाओ। न तुम पदार्थ जाल हो, न यह तुम्हारे हैं, सब असत्यरूप जानकर इनका विकल्प त्यागो, यह जगत् भ्रान्तिमात्र है, इसकी तृष्णा भी भ्रान्ति मात्र है। इनसे रहित आकाश की नाईं सन्मात्र तू सत्यस्वरूप

है और तृष्णा मिथ्यारूप है। तेरा और इसका क्या साथ है? हे रामजी! चार प्रकार का निश्चय जीव को होता है, वह बड़े विस्तार और आकार को प्राप्त होता है। चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीर में आत्मबुद्धि है और माता पिता से उत्पन्न हुआ है, यह निश्चय बन्धन का रूप है। असम्यक् दर्शन भ्रान्ति से होता है और द्वितीय निश्चय यह है कि सब भावपदार्थों से अतीत हूँ, बाल के अग्र से भी सूक्ष्म हूँ, साक्षीभूत सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म हूँ। यह निश्चय भी शान्तिरूप मोक्ष को उपजाता है और जितना जगज्जाल है सब पदार्थों में ही हूँ, आत्मरूप अविनाशी हूँ, यह तीसरा निश्चय है, वह भी मोक्षदायक है और चौथा निश्चय यह है कि मैं भी असत्य और जगत् भी असत्य है, इनसे रहित आत्मा आकाश की नाईं सन्मात्र है, यह भी मोक्ष का कारण है, हे रामजी! यह चार प्रकार का निश्चय मैंने तुझको कहा है, उसमें प्रथम निश्चय बन्धन का कारण है और तीनों मोक्ष के कारण हैं, वह शुद्ध भावना से उपजे हैं, जो प्रथम निश्चयवान् है वह तृष्णारूप सुगन्धि से संसार में भ्रमता है और तीन भावनाएँ शुद्ध जीवन्मुक्त विलासी पुरुष की हैं, जिसको यह निश्चय कि सर्वजगत् में आत्मस्वरूप हूँ, तृष्णा और रागद्वेष उसको फिर दुःख नहीं देते, अधः ऊर्ध्व, मध्य, मैं आत्मा ही व्याप्त हुआ हूँ, सब मैं ही हूँ, मुझसे इतर कुछ नहीं, जिसके अन्दर यह निश्चय है, वह संसार के बन्धनों में बद्ध नहीं होता। शून्य, प्रकृति, माया, ब्रह्मा, शिव, पुरुष, ईश्वर सब उसके नाम हैं, वह विज्ञानस्वरूप एक आत्मा है, सदा, सर्वदा, एक अद्वैत मैं आत्म हूँ, अपरद्वैत भ्रम चित्त में नहीं, सदा विद्यमान सत्ता व्यापकरूप हूँ, ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त जितना जगज्जाल है, वह सब परिपूर्ण आत्मतत्व विद्यमान हूँ, जैसे समुद्र में तरंग बुद्बुदे सर्व जलरूप हैं, ऐसे सर्व जगज्जाल आत्मस्वरूप ही है। सत्य स्वरूप आत्मा से इतर द्वैत कुछ वस्तु नहीं, जैसे समुद्र से इतर बुदबुदे तरंग कुछ नहीं, जैसे स्वर्ण से इतर भूषण कुछ नहीं, ऐसे आत्म सत्ता से कोई पदार्थ भिन्न नहीं, द्वैत और अद्वैत जो जगत् रचना में भेद है, वह परमात्म पुरुष की स्फुरण शक्ति है,

वही द्वैत और अद्वैतरूप होकर भासती है। यह अपना है, यह अपर का है, यह भेद सर्वदा सब में रहता है और पदार्थों के उपजने मिटने में सुख दुःख भासता है, उनको मत ग्रहण करो, भावरूप जो अद्वैत आत्मसत्ता है, उसी का आश्रय पकड़ो, भ्रम द्वैत को त्यागकर अद्वैतपूर्णसत्ता बनो, संसार के जो कुछ भेद भासते हैं, उनको ग्रहण मत करो। यह भूमिका की भावना जो भेदरूप है, उसे दुःखदायी जानो, जैसे अंधा हाथी नदी में गिरता है, फिर उछलता है, ऐस तुम पदार्थों में मत गिरो, तुम पूर्ण स्वरूप हो। महात्मापुरुष को रागद्वेष का कुछ संभव नहीं होता, सर्वगत आत्मा एक अद्वैत निरंतर उदयरूप सर्व व्यापक है, एक और द्वैत से रहित भी है और सर्व रूप भी वही है, निष्किंचनरूप भी वही है, न मैं हूँ, न यह जगत् है, सब अविद्यारूप है, ऐसा चिंतन करो और इसका त्याग करो, अथवा ऐसा समझो कि ज्ञानस्वरूप सत्य असत्य सब मैं ही हूँ, तुम्हारा स्वरूप आनन्दरूप, सर्वका प्रकाशक, अजर, अमर, निर्विकार, निष्क्रिय निराकार, परम अमृतरूप है, फिर कैसा है, जो निष्कलंक, जीवशक्ति का जीवनरूप है, सर्व कलना से रहित कारण का कारण है, निरंतर उद्योत ईश्वर विस्तृत रूप है, अनुभव स्वरूप सब अनुभव का बीज है, अपना आप आत्मपद उचित स्वरूप ब्रह्म मैं और मेरा भाव से रहित है, इसलिये अहं और इदं कलना को त्यागकर अपने अंदर यह निश्चय करो और यथाप्राप्त क्रिया करो, तुम अहंकार से रहित शान्तरूप हो जाओ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णोपदेशवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः १८

जीवन्मुक्तवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जिनका हृदय युक्त स्वरूप है ऐसे जो महात्मा पुरुष हैं, उनका यह स्वभाव है कि असम्यक् दृष्टि देहाभिमान से नहीं रहते, लीला से जगत् कार्य में विचरते हैं, और जीवन्मुक्त शान्त स्वरूप हैं, जगत् की गति आदि अन्त मध्य में विरसरूप है और नाशरूप है। वह उसे देखकर अविचल रहता है, सर्व प्रकार से अपना प्रकृत कार्य करता है, उसका ध्येय है वासना त्याग। उसका अवलम्बन किये स्थित है, उसको किसी बात में उद्वेग नहीं, सबका भला करनेवाला, ज्ञानरूप बगीचे में रहता है, सर्वातीत पद पर स्थित हुआ पूर्ण चन्द्रमा के समान शीतल अन्तःकरण वाला है न उसे शोक है न हर्ष है, उसे संसार में कोई दुःख नहीं, सर्व शत्रुओं के मध्य में स्थित हुआ युद्ध करे अथवा दया करता दृष्टि आवे बड़े भयानक कर्म करता देखा जाय तो भी जीवन्मुक्त है, संसार में दुःखी नहीं रहता, सदा आनन्दरूप रहता है, न किसी पदार्थमें आनन्दवान् होता है न किसी में कष्टवान् होता है। न किसी पदार्थ की इच्छा करता है न शोक करता है, मौन में स्थित हुआ यथाप्राप्त कार्य करता है, कोई कुछ पूछता है तो यथाक्रम ज्यों का त्यों कहता है और पूछे बिना मूक जड़ वृक्षवत् हो रहता है, इच्छा अनिच्छा से संसार में दुःखी नहीं होता, सबके साथ हित से बोलता है, वाणी कोमल और उचित होती है, यज्ञादिक कार्य भी करता है। परन्तु संसार कार्य में डूबता नहीं, हे रामजी! जीवन्मुक्त पुरुष युक्त अयुक्त नाना प्रकार की उग्रदशा युक्त जगत् की वृत्ति को जानता है, हस्तामलवत् जानता है, परन्तु परमपद को आरूढ होकर जगत् की गति को देखता रहता है, अपना अन्तःकरण शीतल और जीवों को तप्त देखता है, स्वरूप से कुछ द्वैत नहीं देखता है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से उसकी महिमा कही है, हे राघव! जिन्होंने चित्त

जीता है और परमात्मा देखा है, उन महात्मा पुरुषों की स्वभाववृत्ति मैंने तुझको कही है और जो मूढ हैं जिनने अपना चित्त नहीं जीता, भोगों के कीच में जो मग्न हैं, ऐसे गर्दभों के जो लक्षण हैं वह हमारे कहने में नहीं आते, उनको उन्मत्त कहना चाहिये, उन्मत्त इस प्रकार हैं, महा नरक की ज्वाला स्त्री है और वे उष्णनरक अग्नि के बंधन हैं, उससे जलते हैं, नाना प्रकार के अर्थों (प्रयोजनों) के लिये अनर्थ उत्पन्न करते हैं, भोगों की दीनता अनर्थरूप है, उससे उनके चित्त हत हुए हैं, संसार के आरंभ से दुःखी होते हैं, जो नाना प्रकार के कर्म करते हैं, उनके फल हृदय में धारण करते हैं तदनुसार सुख दुःख भोगते हैं, ऐसे जो भोगलम्पट हैं, उनके लक्षण हम कहने को समर्थ नहीं, हे रामजी! जो ज्ञानवान् पुरुष की पूर्व दृष्टि कही है, तुम उसी का आश्रय करो, हृदय से ध्येय वासना को त्यागो, जीवन्मुक्त होकर जगत् में विचरो, अन्तःकरण से सम्पूर्ण इच्छाओं को त्यागकर वीतराग और वासनाओं से निर्मुक्त हो जाओ, बाह्य आचार को यथावत् चलाते हुए लोगों में विचरो, सब प्रकार की दशा अवस्था का विचार करते हुए अतुच्छ पद का आश्रय ग्रहण करो, अन्दर से पूर्व वैराग्य और बाह्य अर्थात् लोकों में जगत् मर्यादा के अनुसार चलो, बाह्यरूप में गर्मी दिखाते हुए भी अन्दर से शीतल रहो, बाहिर से सर्व कार्यारंभ में लग जाओ परन्तु हृदय से सर्वारंभ विवर्जित बने रहो, बाहिर से कार्यों के कर्ता बनो और अन्दर से अकर्ता बने रहो, हे रामजी! अब तुम ज्ञानवान् हुए हो, सब पदार्थों की भावना का अभाव हुआ है, जैसी इच्छा है ऐसा करो, यदि इन्द्रियों का इष्ट पदार्थ हो तो कृत्रिम हर्षवान् होना और दुःख आकर प्राप्त हो तो शोक करना, कृत्रिम क्रिया का आरंभ करना और हृदय में सार भूति रहना बाह्य और कृत्रिम का एक ही अर्थ है, अन्दर से त्यागी और बाहिर कर्ता होकर जगत् में विचरो। बाह्य क्रिया करो अन्दर से अहंकार से रहित आकाशवत् निर्मल रहो, कार्य कलना से रहित होकर जगत् में विचरो, आशापास से मुक्त होकर इष्ट अनिष्ट में समभाव रखते हुए तथा बाहिर से काम करते हुए

लोकों में विचरो। इस चेतन पुरुष को न वास्तव में बन्ध है न मोक्ष है, यह बन्ध मोक्ष तथा संसार का व्यवहार इन्द्रजालवत् मिथ्या है, सब जगत् भ्रान्तिमात्र है, प्रमाद करके जगत् भासता है, जैसे तीक्ष्ण धूप से मरुस्थल में जल भासता है, ऐसे ही अज्ञान से जगत् भासता है, आत्मा बन्धन रहित सर्वव्यापक रूप है, उस सर्वात्मा को बन्ध कैसे हो जो बद्ध नहीं तो मुक्त कैसे कहूँ? आत्मतत्व के अज्ञान से जगत् भासता है, तत्व लेने से लीन हो जाता है, जैसे जेवरी के अज्ञान से सर्प भासता है और जेवरी के जान लेने से सर्प लीन हो जाता है, हे रामजी! तुम तो ज्ञानवान् हुए हो, सूक्ष्म बुद्धि हो, निरहंकार हो, तब आकाश की नाईं निर्मल स्थिर रहो, तू असत्यरूप है तो सम्पूर्ण मित्र भ्राता ऐसे ही हैं। उनकी ममता को त्याग करके जब आप कुछ न हुआ तो भावना किसकी करेगा और यदि तू सत्य स्वरूप है तो अत्यन्त सत्य आत्मा की भावना कर, दृश्य जगत् की भावना से रहित हो, यह जो जगत् में अहं मम भोग वासना है, वह प्रमाद से भासती है, अहं मम बांधवों का शुभ आदिक जो जगज्जाल भासता है, वह आत्मा का संयोग इनके साथ कुछ नहीं, इनसे तू क्यों शोकवान् होता है, तू आत्मतत्व की ऐसी भावना कर तेरा सम्बन्ध किसी के साथ नहीं, यह प्रपंच भ्रममात्र है, जो निराकार अजन्मा पुरुष हो, उसको बाँधव पुत्र दुःख सुख का क्रम कैसे हो, स्वतः अजन्मा निराकार निर्विकार है, तेरा सम्बन्ध किसी से नहीं, इनका शोक तू क्यों करता है? शोक करने का स्थान वह होता है जो नाशरूप हो, वह न जन्मता है न मरता है। यदि जन्म मरण भी मानिये तो आत्मा उसको सत्ता देनेवाला है, इस शरीर के आगे भी हो और शरीर के पीछे भी हो, आगे जो तुम्हारे बान्धव बड़े बुद्धिमान् सात्विक गुणवान् व्यतीत हुए हैं, उनका शोक क्यों नहीं करते हो। जैसे वे थे, ऐसे यह भी हैं, जो पहिले थे वे अब भी हैं। तू शान्तरूप है, अतः मोह क्यों प्राप्त होता है, जो सत्यस्वरूप है, उसका न कोई शत्रु है न नाश होता है, इसलिये तुझे शोक करना योग्य नहीं, जो तू ऐसा मानता है, अब मैं हूँ, आगे न हूँगा तो भी वृथा शोक क्यों करता है, तेरा संशय नष्ट हुआ है, दुःखी क्यों होता है ? अपनी प्रकृतिं में हर्ष शोक से रहित

होकर विचर संसार के सुख दुःख में समभाव से रहना ही चातुर्य है, परमात्मा सर्वत्र व्यापक रूप से स्थित है, उससे इतर कुछ नहीं, तू आत्मा आनन्द स्वच्छ आकाशवत् विस्तृत रूप है और नित्य शुद्ध प्रकाशरूप है, जगत् के पदार्थों के लिये क्यों शरीर को सुखाता है, सर्व पदार्थ जात में एक ही आत्मा व्यापक है, जैसे मोतियों की माला में एक सूत्र (धागा) व्यापक होता है, ऐसे आत्मा अनुस्यूत है। ज्ञानवानों को सदा ऐसा ही भासता है और अज्ञानी को ऐसा नहीं भासता अतः ज्ञानवान् बनकर सुखी हो जाओ, यह जो संसरण रूप संसाररूप संसार भासता है, प्रमाद से सारभूत हो गया है और तू ज्ञानवान् शान्त बुद्धि है दृश्य भ्रममात्र संसार का क्या रूप है? भ्रम और स्वप्नमात्र से इतर कुछ नहीं। स्वप्न में क्या क्रम और क्या वस्तु है? सब मिथ्या ही है, ऐसे यह संसार है, सर्वशक्त जो सर्वात्मा है, उसमें जो भ्रममात्र शक्ति है, उससे यह संसार माया उठी है। वह असत्य है, वास्तव से पूछो तो केवल ज्ञान स्वरूप एक आत्म सत्ता ही स्थित है, जैसे सूर्य प्रकाशित होता है उसको न किसी से बैर है न किसी से स्नेह है, सर्वत्र सर्वदा सर्वरूप ईश्वर है, उस सत्ता का आभास संवेदन स्फूर्ति है, इससे नानारूप जगत् भासता है, कई भिन्न भिन्नरूप निरन्तर ही उत्पन्न होते हैं, जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होते हैं, ऐसे देह धारी जैसी वासना करता है, उसके अनुसार जगत् में विचरते हैं, उपजते हैं और चक्र की नाईं घूमते हैं, स्वर्ग में स्थित जो जीव हैं, वह नरक को जाते हैं और जो नरक में स्थित हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं, योनि से योन्यन्तर और द्वीप से द्वीपान्तर को प्राप्त होते हैं। अज्ञान से धैर्यवान् कृपणता को प्राप्त होता है और कृपण धैर्य को प्राप्त होता है, इस प्रकार भूत उछलते हैं और गिरते हैं। अज्ञान से अनेक भ्रम पाते हैं, आत्मसत्ता एकरूप स्थित है, स्थिर स्वच्छ अपने आप में अचल है, दुःख भ्रम उसमें कोई नहीं पाता, जैसे अग्नि में बर्फ की कणिका नहीं प्राप्त हो सकती, ऐसे जो आत्मसत्ता में स्थित हैं, उनको दुःख क्लेश कोई नहीं होता, उसका हृदय शीतल रहता है। वह आत्मसत्ता की बड़ाई है, संसार में यही अवस्था है, जो बड़े बड़े

ऐश्वर्य से सम्पन्न भाग्यवान् दृष्टि आते थे, वे कुछ दिन पीछे ही नष्ट होते देखे हैं, तू और मैं इत्यादिक भावना आत्मा में मिथ्या भ्रम से भासती है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे ये बांधव हैं, यह अन्य है, यह मैं हूँ, इत्यादिक मिथ्या दृष्टि है, वह अब तेरी नष्ट हुई है, संसार की जो विचार दृष्टि है, जिससे जीव नष्ट होते हैं, उसको मल से काटकर तुम जगत् में क्रिया करो, जैसे ज्ञानवान् जीवन्मुक्त संसार में विचरते हैं, ऐसे विचरो, भार वाहक की नाईं भ्रम में न वर्तना, जहाँ नाश करनेवाली वासना उठे वहाँ यह विचार करो कि यह पदार्थ मिथ्या है, तब वासना शान्त हो जायेगी, यह बंध है, यह मोक्ष है, यह पदार्थ नित्य है, इत्यादिक गणना लघुचित्त वृत्ति में उठती है, उदारचित्त में नहीं उठती, उदारचित्त जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनके आचार को विचारते हुए देह दृष्टि नष्ट हो जायेगी, ऐसे विचार कि जहाँ मैं नहीं, वह पदार्थ कोई नहीं, सब मैं ही हूँ, ऐसा पदार्थ कोई जो मेरा नहीं सब मेरा ही है,ऐसा विचार करने से तेरी देहदृष्टि नष्ट हो जायेगी। ऐसा जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वह संसार के किस पदार्थ से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, और किसी पदार्थ का अभाव होने से आतुर भी नहीं होता, यह चिदाकाशरूप सबको सत्य स्थित रूप देखता है, आकाश की नाईं आत्मा को व्यापक देखता है, भाई बान्धव भूतजात को अत्यन्त असत्यरूप देखता है, नाना प्रकार के अनेक जन्मों में भ्रम से अनेक बाँधव हो गये हैं, वास्तव से त्रिलोक और बांधव में भी बांधव वही है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तवर्णनं नाम अष्टादशः सर्गः ।।१८।।

एकोनविंशतितमः सर्गः १९

पावनबोधवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रसंग पर एक पुरातन भाइयों का इतिहास है। बड़े भाई ने छोटे भाई को सुनाया है। एक मुनीश्वर के दो

पुत्र थे, यह बांधव है यह अन्य है, इसी प्रसंग पर कथा है, बन्धनों को दूर करनेवाली है, पवित्र है, आश्चर्य रूप है, वह तुम श्रवण करो, हे रामजी! इसी जम्पूद्वीप मे किसी स्थान पर महेन्द्र नाम का एक पर्वत है, वहाँ कल्पवृक्ष है, उसकी छाया के नीचे देवता किन्नर आकर विश्राम करते हैं, उस पर्वत के शिखर बहुत ऊपर को गये हैं। ब्रह्मलोकपर्यन्त पहुँचे हैं, उस पर देवता सामगायन करते हैं। किसी ओर जल से भरे मेघ विचरते हैं, कहीं पुष्पों से भरी लताएँ हैं, कहीं जल के झरने बहते हैं, कंदराओं से टकराकर उछलते हैं, मानों समुद्र के तरंग गाते हैं, कहीं पक्षी शब्द करते हैं, कहीं कंदराओं में सिंह गर्जते हैं, कहीं कल्पवृक्ष कहीं कदम्बवृक्ष हैं, कहीं अप्सरागण विचर रहे हैं, गंगा का प्रवाह चला जा रहा है, किसी स्थान में अतिसुन्दर रत्न मणियों की रमणीयता है, वहाँ गंगा के तट पर स्नान करने के लिये मुनीश्वर विराज रहे हैं उस सुरम्य तट की शोभा को वहाँ के सुन्दर वृक्ष तथा स्वर्णकमल और भी अधिकाधिक बढ़ा रहे हैं, वहाँ महातपस्वी ज्ञानवान् उदार बुद्धि मुनिदीर्घतपा हुए हैं, मानों तपस्या की साक्षात् मूर्ति है, वह मुनि महाराज अपनी अर्द्धांगिनी के सहित गंगा तट पर निवास करते थे, उनके दो पुत्र थे, एक का नाम था पुण्य और दूसरे का नाम पावन, दोनों ही अतिसुन्दर चन्द्रमा के समान प्रकाशयुक्त तेजस्वी थे। जब कुछ समय व्यतीत हुआ, तब उनका पुण्य नाम का पुत्र ज्ञानवान् हुआ और पावन अर्ध प्रबुद्ध था, जैसे संध्या की पूर्वअवस्था में कमल अर्धोन्मीलित होता है, ऐसे वह पुण्य गुणों में पावन से अधिक हो गया और पावन लोलुप अवस्था में रहा। जब काल चक्र को घूमते हुए कुछ वर्ष व्यतीत हुए, तब मुनिवर दीर्घतपाजी का शरीर जरा जर्जरित हो गया, शरीर की क्षणभंगुर अवस्था देखकर मुनिवर ने देह की ओर से वैराग्य धारण कर लिया, अर्थात् उनको विदेह होने की इच्छा हुई, तब दीर्घतपा की पुर्यष्टका ने कलनारूप शरीर को त्याग दिया, जैसे सर्प कंचुकी का त्याग करता है, ऐसे पर्वत की कन्दरा के आश्रम में उन्होंने शरीर का त्याग किया, शरीर को त्यागकर रागद्वेष से रहित पद

पर स्थित हुआ, जैसे धूप आकाश में जाकर स्थित होता है, ऐसे चिदाकाश में स्थित हुआ, तब मुनीश्वर की स्त्री ने भर्ता का प्राणहीन शरीर देखा, जैसे डंडी से कमल पुष्प कटा हुआ हो इस प्रकार उसने चित्त के बिना शरीर को देखा, बहुत समय तक इसने योग किया था, इसलिये अपने शरीर को योग द्वारा छोड़ने लगी। प्राण और पवन को वशकर शरीर को त्याग दिया। जैसे भँवरा कमलिनी को त्यागे ऐसे त्यागकर भर्ता के पद को प्राप्त हुई, जैसे आकाश से चन्द्रमा अस्त होता है और उसकी प्रभा उसके पीछे अदृश्य हो जाती है, इसी प्रकार दीर्घतपा की स्त्री दीर्घतपा के पीछे अदृश्य हो गयी, तब दोनों विदेह मुक्त हुए तब पुण्य जो बड़ा पुत्र था, उसका दैहिक कर्म करने लगा और पावन माता पिता से रहित होकर दुःख पाने लगा। शोक से उसका चित्त परम व्याकुल हुआ और वह वनकुंजों में घूमने लगा, माता पिता की और्ध्वदेहिक क्रिया कर देने के बाद पुण्य वहाँ आया जहाँ पावन शोक से विलाप कर रहा था। भाई को शोकाकुल देखकर बोला—हे भाई! शोक क्यों करता है? वर्षाकाल के मेघ की नाईं तेरे अश्रुओं का प्रवाह चल रहा है, ऐसे रुदन करता है, हे बुद्धिमान्! किसका शोक करता है, तेरे माता पिता तो आत्मपद को प्राप्त हुए हैं। जो मोक्ष पद है, वही सर्वजीवों का स्थान है और ज्ञानवान् का स्वरूप है। यद्यपि सबका अपना आप स्वरूप एक ही है तो भी ज्ञानवान् को इस प्रकार भासता है और अज्ञानी को ऐसा नहीं भासता, वे ज्ञानवान् थे, अपने स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, उनका शोक किस लिये करते हो? तुमने यह क्या भावना बाँधी है, जो शोक संसार में मोक्षदायक है वह तो तू करता नहीं और जो शोक करने योग्य नहीं वह करता है, न वह तेरी माता थी न वह तेरा पिता था न तू उनका पुत्र था। तेरे कई माता पिता हो गये हैं और कई पुत्र हो गये हैं, असंख्य बार तू इनका पुत्र हुआ है और असख्य पुत्र उनके उत्पन्न हुए जैसे नदी अनेक तरंगों को उत्पन्न करती है ऐसे तेरे अनेक माता पिता हुए हैं

और तू उनका पुत्र हो होकर मरा है, जैसे वृक्ष में पत्र फूल फल लगते हैं और नष्ट हो जाते हैं, ऐसे तेरे पुत्र मित्र और बाँधवों के समूह जन्म जन्म कर बीत गये हैं, जैसे ऋतु ऋतु में बड़े वृक्षों की शाखाओं में फल लगते हैं और नष्ट हो जाते हैं, ऐसे जन्म होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, तू माता पिता के स्नेहवश शोक क्यों करता है? और जो तेरे हजारों माता पिता होकर बीत गये हैं उनका शोक क्यों नहीं करता, यदि तू इस जन्म के बाँधवों का शोक करता है, तो उनका भी शोक कर, हे महाभाग! जो प्रपंच तुझको दृष्टि आता है, यह जाग्रत भ्रम है, परमार्थ से न कोई जगत् है न कोई मित्र है, न कोई बांधव है, जैसे मरुस्थल में बड़ी नदी भासती है, परन्तु उसमें से जल की एक बूंद भी नहीं प्राप्त हो सकती, ऐसे वास्तव से जगत् कुछ नहीं। जो बड़े लक्ष्मीवान् मुझको भासते हैं, छत्र चामरों से शोभा पा रहे हैं, यह लक्ष्मी चंचल स्वरूप है, कुछ दिनों तक समाप्त हो जाती है, हे पुत्र! तू विचार करके परमार्थ दृष्टि से देख, न तू है न जगत् है, यह दृश्य भ्रांतिरूप है, इसको अन्दर से त्याग, इस माया दृष्टि से बारबार उपजता है और नाश पाता है, यह जगत् अपने संकल्प से उपजा (उत्पन्न हुआ) हैं, इसमें सत् पदार्थ कोई नहीं, अज्ञानरूप मरुस्थल है, उसमें जगत्रूप नदी है, उससे शुभ अशुभरूप तरंग उत्पन्न होते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे पावनबोध
वर्णनम् नाम एकोनविंशतित्तमः सर्गः ।।१९।।

विंशतितमः सर्गः २०

पावनबोध वर्णनम् ।

पुण्य बोला–हे भाई! कई माताएं कई पिता हो होकर मिट गये हैं, जैसे वायु से धूल के कण उड़ते हैं, ऐसे बांधव हैं, न कोई मित्र है, न कोई शत्रु है, सम्पूर्ण जगत् भ्रान्ति रूप है, उसमें जैसी भावना फुरती है ऐसी

ही हो भासती है, बांधव मित्र पुत्र आदिकों में जो स्नेह होता है, वह मोह से कल्पित है। अपने मन से माता पिता आदि संज्ञाओं की कल्पना की गई है, प्रपंच में जैसी संज्ञाओं की कल्पना करता है ऐसी हो भासती है, जहाँ बांधव की भावना होती है वहाँ बांधव भासता है, जहाँ और की भावना होता है वहाँ वहाँ और हो भासता है और यदि अमृत में विष की भावना होती है तो अमृत भी विष होता जाता है, यह नहीं कि अमृत में विष है, भावनारूप भासता है, ऐसे न कोई बांधव है, न कोई शत्रु है, सर्वदा विद्यमान् एक सर्वगत सर्वात्मा पुरुष स्थित है, उसमें अपनी और की कल्पना कोई नहीं और जितने देहधारी आदिक हैं, वह रक्तमासादि समूह से रचे हैं, उसमें अहंसत्ता है, वह कौन है? अंहकार और चित्त बुद्धि मन कौन है? परमार्थ दृष्टि से यह तो कुछ नहीं, विचार करने से न तू है न मैं हूँ, पुण्य और पावन दोनों मिथ्या ज्ञान से भासते हैं। एक अनन्त चिदाकाश आत्मसत्ता सर्वदा है, उसमें तेरी माता कौन है और पिता कौन है, सब कुछ मिथ्या भ्रम से भासता है। वास्तव से कुछ नहीं। शरीर से देख तो जितने शरोर हैं सब पंचतत्वों से रचे हुए, जड़रूप है, उनमें जो चेतन है वह तो एकरूप है उसमें अपना और पराया कौन है, इस भ्रम दृष्टि को त्याग करके तत्व का विचारकर, मिथ्या भावना करके माता पिता के निमित्त क्यों शोकवान् हुआ? जो सम्यक् दृष्टि का आश्रय लेकर उस स्नेह का शोक करता है तो और जन्मों के तेरे बांधव मित्र हैं, उनका शोक क्यों नहीं करता? अनेक कमलोंवाले तालाब में हस्ती आकर विचर रहा था, वहाँ तू हस्ती का पुत्र था, उन हस्ती बांधवों का शोक क्यों नहीं करता? बड़े वन में तुम वृक्ष बने थे, तेरे साथ फल पत्र हुए थे, अनेक वृक्ष तेरे बान्धव थे, उनका शोक क्यों नहीं करता? फिर नदी और तालाब में मत्स्य बने थे, जो तेरे मत्स्य जाति के बान्धव थे, उनका शोक क्यों नहीं करता? और दशार्ण देश में तुम काक तथा बानर हुए, द्रशार्ण देश में तू राजपुत्र हुआ, फिर वन का काक हुआ, बंग देश में तू हाथी बना था, विराज देश में तू गदर्भ हुआ था, सावल देश में तू सर्प हुआ और वृक्ष

हुआ, वंगदेश में गृध्र हुआ, मालव देश के पर्वत पर पुष्पलता हुआ, मंदराचल पर्वत पर गीदड़ हुआ, कोशल देश में तू ब्राह्मण हुआ, पुनः वंगदेश में तीतर हुआ, तुषार देश में घोड़ा हुआ, फिर कीट योनियों में अनेकों बार उत्पन्न हुआ, फिर एक नीच ग्राम में बछड़ा हुआ, पंचदश मास वहां रहा, उसके बाद एक वन के तालाब में कमल पुष्प का भ्रमर हुआ, वही तू मेरा भाई है, इत्यादि अनेक जन्म तुमने पाये हैं। जम्बद्वीप में तू अनेक बार उत्पन्न हुआ, हे भाई! इस प्रकार वासना पूर्वक वृत्तान्त मैंने कहा है, जैसी वासना हुई है वैसा ही तुमने जन्म पाया है, मैं निर्मल सुक्ष्म बुद्धि से देखता हूँ कि ज्ञान के अभाव से ही तुमने अनेक जन्म पाये हैं, उन जन्मों को जानकर किस किस बांधव का शोक करेगा और किससे स्नेह करेगा, जैसे वह बांधव थे ऐसे यह भी जान ले और मेरे भी अनेक बांधव हुए हैं, जिन जिन में जन्म पाये हैं और जो बीत गये हैं, वे सब मेरे स्मरण में आते हैं और अब मुझको अद्वैत ज्ञान हुआ है, हे भाई! त्रिगत देश में मैं तोता हुआ था, तालाब के किनारे पर हंस हुआ हूँ। पक्षियों में काक हुआ, उसके बाद बेल हुआ हूँ, वंगदेश में वृक्ष हुआ हूँ, इस वन पर्वत पर बड़ा ऊष्ट्र बनकर विचरता रहा हूँ, पौंड्रदेश में राजा हुआ हूँ, सह्याचल की कन्दरा में गीदड़ हुआ हूँ, वहां तू मेरा बड़ा भाई था, वहां मैं मृग होकर दस वर्ष रहा फिर पांच मास मृग होकर रहा, तब भी तेरा भाई होकर रहा। अब मैं तेरा बड़ा भ्राता हूँ, इस प्रकार ज्ञान से रहित वासना क्रम के अनुसार प्राप्त हुए जन्मों में घूमते रहे हैं। मैंने तुम्हें सब कुछ सुना दिया है, क्योंकि सब कुछ मेरे स्मरण में आता है, इस प्रकार जगज्जाल की स्थिति मैंने तुझको कही है, तेरे मेरे अनेक जन्मों के माता पिता भाई मित्र हुए हैं, उनके शोक तू क्यों नहीं करता? यह संसार दुःख सुखरूप अप्रमाण भ्रमरूप है, इस कारण सबको वासना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो, सब प्रपंच भ्रान्ति रूप है, इसकी वासना त्यागो, जब अहंकार वासना का त्याग करेगा, तब उस पद को प्राप्त होगा, जहाँ ज्ञानवान् प्राप्त होते हैं, इसलिये हे भाई! यह जो जीवनभाव है, जन्म, मरण,

ऊपर जाना, फिर गिरना, यह जो व्यवहार है, इसमें बुद्धिमान् शोकवान् नहीं होता, दुःख निवृत्ति के लिये अपने स्वरूप का स्मरण करते हैं, वह स्वरूप भाव अभाव से रहित जरा मरण से रहित नित्य शुद्ध परमानन्द है, तू उसका स्मरण कर। मूढ़ मत हो, तुझको न सुख है न दुःख है, न जन्म है न मरण है, न माता है, न पिता है, तू एक अद्वैतरूप आत्मा है और किसी के साथ सम्बन्ध नहीं क्योंकि इतर कुछ नहीं, हे साधो! यह जो नाना प्रकार का संसार विषय संयुक्त यंत्र है, अज्ञानरूप नट इसको ग्रहण करता है इष्ट अनिष्ट से बँधा हुआ होता है, जो आत्मदशा पुरुष हैं, उनको कुछ क्रिया स्पर्श नहीं करती है, केवल सुखरूप है, और जो अज्ञानी है वह देह इन्द्रियों के गुणों से तद्रूप हो जाता है, इष्ट अनिष्ट से सुख दुःख का भोक्ता होता है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे देखने हारे साक्षीभूत होते हैं, करते हुए भी अकर्तारूप हैं, जैसे दीपक प्रकाशरूप होकर रात्रि को सब जगत् के अर्थ सिद्ध करता है, और अपनी इच्छा से रहित है, इसलिये अकर्ता है, इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष रहित है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब आ पड़ता है, परन्तु दर्पण भले बुरे रंग से रंजित नहीं होता, सब इच्छाओं से और भय कलना से रहित स्वच्छ आत्मसत्ता सदा प्रफुल्लित रूप है, पुत्र कलत्र बांधवों के स्नेह से जिसका हृदय खाली है, सब इच्छाओं और अहंता ममता से रहित अपने स्वरूप में सन्तुष्टवान् होता है, इसलिये मिथ्या देहादिकों की भावना को त्यागकर अपने नित्य शुद्ध शान्त परमानन्द स्वरूप में भी तू स्थित हो, तू परब्रह्म रूप है और अति निर्मलरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे पावनबोधो नाम विंशत्तितमः सर्गः ।।२०।।

एकविंशतितमः सर्गः २१

तृष्णाचिकित्सोपदेश वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार पुण्य ने पावन को बोध उपदेश किया, तब पावन बोध को प्राप्त हुआ, जैसे प्रातःकाल पृथ्वी प्रकाशवती होती है और तम नष्ट हो जाता है, ऐसे पावन को बोध प्राप्त हुआ। तब दोनों ज्ञानवान् भव जलधि पारगामी होकर वन में विचरने लगे, निरिच्छ आनन्दरूप चिरकाल पर्यन्त विचरकर दोनों विदेहमुक्त निर्वाण पद को प्राप्त हुए। जैसे तेल से रहित दीपक हो जाता है, ऐसे ही प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर विदेहमुक्त हुए, हे रामजी! इस प्रकार तुम भी जानो, जैसे वह मित्र बान्धव धनादि के स्नेह से रहित होकर विचरें, ऐसे तुम भी स्नेह रहित होकर विचरो। जैसे उन्होंने विचार किया ऐसा तुम भी करो। इस मिथ्यारूप संसार में मनुष्य किसकी इच्छा करे और किसका त्याग करे, ऐसा विचार कर अनन्त इच्छा और तृष्णा का त्याग करना, यह औषध है। इच्छा तृष्णा का पालन करना औषध नहीं, क्योंकि जो पालन करने से कभी पूरी नहीं होती, जितना कुछ जगत् है चित्त से उत्पन्न हुआ है, चित्त के नष्ट होने से संसार दुःख नष्ट हो जाता है, जैसे काष्ठ को पाकर आग बढ़ती जाती है और काष्ठ से रहित शान्त हो जाती है, ऐसे ही चित्त के चिन्तन से जगत् विस्तार को पाता है और चिन्तन रहित होने से शान्त हो जाता है, हे रामजी! ध्येयवासनावान् त्यागरूप रथ पर आरूढ होकर स्थित हो और करुणा, दया, उदारता के साथ लोगों में विचरो, इष्टानिष्ट प्राप्ति में रागद्वेष से रहित रहो। यह तुम्हें ब्राह्मीस्थिति कही है, अपने निष्काम निर्दोष स्वरूप का साक्षात्कार करके पुनः मोह को नहीं प्राप्त होता। इसका एक ही परम सुहृद विवेक है, बुद्धि ही साथिन है, जिसके पास विवेक और बुद्धि है, वह बहुत बड़ा व्यवहार करने पर भी मोह में नहीं पड़ेगा। इसलिये यदि तुम विवेक

और बुद्धि को साथ लेकर जगत् में विचरोगे तो संकट दुःख से मोहित न होना पड़ेगा। नाना प्रकार के दुःख संकट तथा स्नेह आदि विकार समुद्र है, उसके तरने के लिये धैर्यरूप बेड़ा है और कोई उपाय नहीं, दृश्य जगत् से वैराग्य और सच्छास्त्रों का विचार तथा उत्तम गुणों के संग्रह का अभ्यास, आदि साधनों की प्राप्ति करना ही धैर्य है, ऐसा करने से आत्मपद की प्राप्ति होती है, वह आत्मपद त्रिलोकी के ऐश्वर्यरूप रत्नों का भंडार है, जो कुछ त्रिलोकी के ऐश्वर्य से भी नहीं प्राप्त होता, वही वैराग्य विचार अभ्यास तथा महान् गुणों से चित्त के धारण करने से प्राप्त होता है। तब तक यह पुरुष जगत् कोष में उत्पन्न होता है जब तक मन तृष्णा रूप ताप से रहित नहीं, तब तक कष्ट है। जब तक आत्मविवेक से मन पूर्ण होता है, तब सर्वजगत् अमृतरूप भासता है, जैसे जूता पहिनने से सारी पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई ही हो जाती है, इसी प्रकार इच्छा तृष्णा के त्यागने से पूर्ण पद की प्राप्ति हो ही जाती है। जैसे शरत्काल का आकाश मेघ से रहित निर्मल होता है, ऐसे इच्छा से रहित पुरुष निर्मल होता है, जिन पुरुषों के हृदय में आशा फुरती है, उसके वश हो जाने पर शून्य चित्त हो जाता है, जैसे अगस्त्य मुनि ने समुद्र को पान किया तब समुद्र जल से रहित शून्य हो गया, ऐसे आत्मजल से रहित चित्त समुद्रवत् शून्य हो जाता है, जिस पुरुष के चित्तरूपी वृक्ष पर तृष्णारूप चंचल मर्कटी रहती है उसको स्थिर नहीं होने देती, सदा क्षुब्ध करती है और जिसका चित्त तृष्णा से रहित है, उस पुरुष को तीनों जगत् कमल की डोडी का नाईं हो जाते हैं और योजनों के समूह गोपदवत् सुगम हो जाते हैं और महाकल्प अर्ध निमेषवत् होता है, हे रामजी! ऐसा शीतल चन्द्रमा और हिमालय पर्वत भी नहीं, ऐसा शीतल केले का वृक्ष और चन्दन भी नहीं, जैसा शीतल चित्त तृष्णा से रहित होता है, पूर्णिमा का चन्द्रमा और क्षीर समुद्र भी ऐसा सुन्दर नहीं होता तथा लक्ष्मी का मुख भी ऐसा नहीं होता, जैसा सुन्दर इच्छा से रहित मन सुशोभित होता है, जैसे चन्द्रमा की प्रभा को मेघ आच्छादित कर लेता है और जैसे शुद्ध

स्थान को अपवित्र लेपन मलिन करता है, ऐसे अहंतारूप पिशाचिनी पुरुषों को मलिन करती है, चित्तरूपी वृक्ष की बड़ी बड़ी शाखाएं दिशा विदिशाओं में फैल रही हैं, वे आशारूप हैं, जब विवेकरूप कुल्हाड़े से इसको काटे तब अचित्त पद की प्राप्ति हो और जिनकी अनेक शाखाएं हैं, उनको जब काटे तब चित्त एकरूपता से स्थित हो जाता है और धैर्य बढ़ता है। चित्त के नाश हो जाने पर धैर्य से पुरुष अनामय पद को प्राप्त करता है, हे रामजी! उत्तम हृदय क्षेत्र है, उसमें जब चित्त की स्थिति होती है, तब आशारूप दृश्य को नहीं उपजने देती, ब्रह्मरूप शेष रहता है, जब तुम्हारा चित्त वृत्ति से रहित अचित्तरूप हो तब विस्तृतरूप मोक्ष पद प्राप्त होता है, चित्त उलूक पक्षी है, तृष्णा उसकी स्त्री है, ऐसा पक्षी जहां विचरता है, वहाँ अमंगल फैलाता है, जहाँ उलूक पक्षी विचरते हैं, वहाँ उजाड़ होती है, विवेकवान् चित्त वृत्ति से रहित हुए हैं, इसलिये तुम भी चित्तवृत्ति से रहित हो जाओ, ऐसे होकर विचरोगे तो अचिन्त्यपद की प्राप्ति होगी, जैसी जैसी वृत्ति फुरती है ऐसा ऐसा ही रूप जीव का हो जाता है, इस कारण से चित्त उपशम के लिये तुम यही वृत्ति धारण कर, जिससे आत्मपद की प्राप्ति हो, हे महात्मा पुरुष! जिसके चित्त से संसार के पदार्थों की इच्छा ईषणा शान्त हुई और जो भाव अभाव से जिसका चित्त मुक्त हुआ है, वह उत्तम पद को पाता है और जिसका चित्त आशारूप फांसी से बँधा है, वह मुक्त कैसे हो, आशावान् कभी मुक्त नहीं होता किन्तु सदा बन्धन में रहता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे तृष्णाचिकित्सोपदेशो
वर्णनं नाम एकविंशतितमः सर्गः ॥२१॥

द्वाविंशतितमः सर्गः २२

विरोचनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जो मैंने तुम्हें उपदेश किया है उसे विचारो, हे रघुकुल आकाश के चन्द्रमा! बलि समान मेरे वचनों को बुद्धि पूर्वक विचारकर निर्मल ज्ञान प्राप्त करो। रामजी बोले–हे सर्वधर्मों के वेत्ता भगवन्! आपकी कृपा से जानने योग्य तत्व और पाने योग्य पद पा लिया है, स्वरूप साक्षात्कार से निर्मल पद में विश्राम प्राप्त किया है, भ्रमरूप मेघ से रहित शरत्काल के आकाशवत् निर्मल पद में विश्राम प्राप्त किया है, भ्रमरूप मेघ से रहित शरत्काल के आकाशवत् निर्मल चित्त हुआ हूँ, मोहरूप अहंकार नष्ट हो चुका है, ज्ञानामृत से पूर्ण हृदय पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान शीतल हुआ है, संशयरूप मेघ नष्ट हो चुका है, संशयरूप मेघ नष्ट हो चुका है परन्तु आपके वचनामृत का पान करता हुआ हृदय तृप्त नहीं होता, जिस प्रकार बलि को विज्ञान बुद्धि भेद हुआ था, मेरे बोध की वृद्धि के लिये मुझे पूर्ण रूप से कहो, नम्र शिष्य के लिये कहते हुए महापुरुष खेद नहीं मानते, अतः भली प्रकार कहने की कृपा कीजिये। वसिष्ठजी बोले–हे राघव ! बलि का उत्तम वृत्तान्त हम तुमको कहते हैं, सुनो! उससे तुम्हें विशेष ज्ञान लाभ होगा, इस जगत् की किसी एक दिशा में पाताल नाम का प्रसिद्ध स्थान है, इस लोक के नीचे पृथ्वी में स्थित है, उस पाताल में बलि राजा रहता था। वह स्थान क्षीर सागर के समान सुन्दर है, कहीं महासुन्दरी नागकन्या विराज रही हैं, कहीं विषधर–सर्प हैं, जिसके सहस्रों सिर हैं, कहीं दैत्यपुत्र दीखते हैं, कहीं कट कट शब्द होते हैं, कहीं सुन्दर सुख के स्थान हैं, कहीं जीवों के परस्परा समूह नरकों में जलते हैं, कहीं दुर्गन्ध के स्थान हैं, सप्त पाताल हैं, सब में जीव हैं, कहीं रत्नों से जड़े हुए अतिमनोहर स्थान हैं कहीं देवता और दैत्य जिनके चरणों को शीश पर धरते हैं, ऐसे भगवान् कपिलदेव बैठे हैं, कहीं सुगंधित रत्नों का बाग है, ऐसे पाताल में महाप्रतापी दानव श्रेष्ठ

विरोचन का पुत्र राजा बलि हुआ। सब देवता विद्याधर और किन्नर जिसने लीलामात्र से जीते हैं और त्रैलोक्य अपने वश में किया है। सभी लोग सेवक भाव रखते हैं, देवताओं का राजा इन्द्र उसके चरणों की सेवा चाहता है और त्रिलोकी में जो जाति जाति के रत्न हैं, वे सब उसके पास विद्यमान रहते हैं, सब शरीरों की रक्षा करने वाला विष्णु जिसका द्वारपाल है और ऐरावत हस्ती जिसके गंडस्थल से मद झरता है, उसकी वाणी सुनकर भयभीत होता है, जैसे मोर की वाणी सुनकर साँप डरता है, ऐसा उसका तेज है, जैसे सप्त समुद्रों का जल कुहिड क्षीर शोष लेता है, जैसे प्रलयकाल के बारहों सूर्यों के समुद्र सूखने लगता है और ऐसे यज्ञ करे जिसके क्षीर घृत की आहुतियों का धुआँ मेघ बनकर पर्वतों पर विराजे और जिसकी दृढ दृष्टि से देखने पर कुलाचल पर्वत नम्रीभूत हो जावे, जैसे फलों से पूर्ण लता नमती है, ऐसे और लीला करके भुवन को विस्तार सहित जीता है, त्रिलोकी को जीतकर दश कोटि वर्ष पर्यन्त राजा बलि ने राज्य किया, तब एक दिन राजा बलि सुमेरु के शिखर जैसे ऊँचे झरोखे में जाकर बैठा, राजा बलि ने अनेक युग समूह व्यतीत होते देखे हैं, देवता दैत्य उपजते और मिटते जिसने अनेक बार देखे हैं, त्रिलोकी के भोग भोगे हैं, उन भोगों से उद्वेग प्राप्त हुआ, तब ऊँचे झरोखे में बैठा हुआ अकेला ही संसार की स्थिति पर विचार करने लगा कि इस बड़े चक्रवर्ती राज्य से मुझे क्या प्रयोजन है? यद्यपि त्रिलोकी का राज्य बड़ा है, तो भी क्या आश्चर्य है? इसमें बहुत देर तक भोग भोगता रहा हूँ, परन्तु शान्ति नहीं मिली, यह भोग आपात रमणीय हैं, उत्पन्न होकर फिर नष्ट हो जाते हैं, भोगों से सुख शान्ति तो नहीं मिली परन्तु बार बार मैं वही कर्म व्यवहार करता हूँ, फिर वही दिन रात फिर वही काम करना, उसमें लज्जा नहीं आती, फिर वही स्त्री, फिर वही व्यवहार, उसमें लज्जा नहीं आती, फिर वही भोजन करना, पुष्पों की शय्या पर शयन करना, इत्यादि काम बड़ों के लिये लज्जा का कारण है या क्या है? एक व्यवहार को जो कई बार किया जा चुका है, बार बार करना

शर्म की बात है, एक बार किसी व्यवहार से तृप्त होकर जो फिर उसी तर्प यानी बार बार किया जाता है। बुद्धिमानों को पराजित करने वाला लज्जा जनक काम है, जीवों के चित्त में वृथा संकल्प विकल्प उठते हैं। जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होते हैं, ऐसे संकल्प इच्छा जाल उठते हैं और मिटते हैं। वह उन्मत्त की नाईं जीवों की चेष्टा है। यह तो हंसी के योग्य बालकों की लीला है, मूर्खता से अनर्थों को फैलाती है। इसमें कोई अच्छी बात हमें नहीं दीखती, इसमें भोगों से इतर कोई कार्य नहीं, जो कुछ इससे रमणीय और अविनाशी हो उसका चिन्तन करो, ऐसा विचार कर कहने लगा। दैत्यों का राजा बलि अपने मन में जगत् को नाशवान् जानकर उसी क्षण स्मरण करने लगा, कि मैंने भगवान् विरोचन से पूछा था मेरा पिता विरोचन आत्मतत्व का ज्ञाता था, जिससे लोकों का आदि अन्त न था अर्थात् सब लोकों में गमन किया था, उससे मैंने प्रश्न किया था, हे भगवन्! महात्मन् जहाँ सर्वदुःखों का और सर्वसुखों का अन्त हो जाता है और सर्व भ्रम शान्त हो जाता है, वह कौन सा स्थान है, मुझे कहिये, जहां मन का मोह नाश हो जाता है और सब इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, रागद्वेष से रहित जिसमें सर्वदा विश्रामवान् होता है, फिर क्षोभ नहीं रहता, हे तात! वह कौन सा पद है, जिसके पाने से और कुछ पाना नहीं रहता और जिसको देखने से देखना शेष नहीं रहता, यद्यपि जगत् के भोग पदार्थ अत्यधिक हैं परन्तु सुखदायक नहीं भासते, क्योंकि पीछे से इनके द्वारा क्षोभ होता है। योगीश्वरों के मन भी मोह से गिर पड़ते हैं। हे तात! जो सुख सुन्दर विस्तीर्ण आनन्द से युक्त है वह मुझसे कहिये। उसमें स्थित होकर मैं सदा विश्राम पाऊँगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे विरोचन वर्णनं नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ।।२२।।

त्रयोविंशतितमः सर्गः २३

बलि वृत्तान्त विरोचन गाथा वर्णनम् ।

विरोचन बोले—हे पुत्र! एक अति विस्तीर्ण विपुल देश है, उसमें सहस्रों त्रिलोकियाँ भासती हैं और जहां न समुद्र है न जलधारा है, न पर्वत है, न वन है, न तीर्थ है, न नदियाँ हैं, न तालाब हैं, न पृथ्वी है, न आकाश है, न नन्दन वन है, न पवन है न अग्नि है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है, न लोक हैं, न देवता हैं, न दैत्य हैं न यक्ष हैं, न राक्षस हैं, न कमलों की शोभा है, न काष्ठ तृण भूत हैं, न चर न अचर, न जल, न अग्नि, न दिशाएँ हैं, न ऊर्ध्व है, न अधः है, न मध्य है, न प्रकाश है, न तम है, न अहं है, न विष्णु, इन्द्र, रुद्रादिक हैं, वह एकही है, महान् है, नाना प्रकार के प्रकाश को धारण करनेहारा है और सबका कर्ता सर्व व्यापक है तथा सर्वरूप है, वह तूष्णीं भाव से स्थित है, उसने सर्व मंत्रियों सहित एक मन्त्री संकल्प किया है। वह मन्त्री जो न बने उसको शीघ्र ही बना लेता है, जो बने उसको न बनाने में भी समर्थ है, केवल राजा के अर्थ सर्वकार्य का कर्ता है, यद्यपि आप जड़ अज्ञ है, तो भी राजा के बल से जानता है और कार्य करताहै, यही सब कार्य करता है, उसका जो महीपति राजा है वह एकता मे केवल अपने आप में स्थित है, बलि ने कहा—हे प्रभो! आधि व्याधि तथा दुःखों से रहित जो प्रकाशवान् है, वह देश कौन सा है? उसकी प्राप्ति किस साधन से होती है? और आगे उसको किसने प्राप्त किया है? और ऐसा मन्त्री कौन है? और महाबली राजा कौन है? जिसको हमने भी नहीं जीता, हे देव! यह जो अपूर्व आख्यान तुमने कहा है आगे नहीं सुना था। मेरे हृदय आकाश में संशयरूप बादल उत्पन्न हुआ है, उसको अपने वचनरूप पवन से निवृत्त करो। विरोचन बोला—हे पुत्र! वह मन्त्री महाबलवान् है, लाखों की संख्या में इकट्ठे हुए देवताओं और असुरों से भी वह नहीं जीता जा सकता, वह इन्द्र नहीं, यम नहीं,

कुबेर नहीं। न देवता, न असुर, किसी से भी नहीं जीता जा सकता है, उस पर चलाये हुए सब शस्त्र कुंठित हो जाते हैं। वह मन्त्री अस्त्रों शस्त्रों से वश में नहीं हो सकता, बड़े बड़े युद्धों से नहीं जीता जा सकता, देवता दैत्य सबको उसने वश में किया है, विष्णु पर्यन्त देवता हिरण्यकशिपु आदि असुर पछाड़ दिये हैं, जैसे प्रलयकाल का पवन सुमेरु के कल्पवृक्ष को गिरा देता है, जिसने नारायण से लेकर सब देवता वश में किये हैं, जैसे आकाश का बटलोई में निवास हो जाता है, त्रिलोकी को वश करके चक्रवर्ती राजा की नाई स्थित है, देवासुर संग्राम जो कि बार बार होता रहता है, उसका ही सामान्य सा खेल है, वह मन्त्री यदि जीता जा सकता है तो उसी प्रभु से सुखपूर्वक जीता जा सकता है, अन्यथा वह महान् पर्वत के समान है उस प्रभु को ही जब उस मंत्री के जीतने की इच्छा पैदा होती है, तब वह बिना यत्न के जीता जा सकता है, यदि उस त्रिलोकी के बड़े बड़े बलवानों से भी महाबलवान् मल्ल को जीतने की तुम्हें इच्छा है तो बड़े पराक्रमी हो। उस सूर्य के उदय होने पर त्रिलोकीरूप कमलाकर का विकास होता है और अस्त होने पर निमीलन होता है, यदि मोहरहित विवेकवती बुद्धि से उसको जीतने में समर्थ हो तो बड़े धैर्यवान् हो। उसको जीत लेने पर न जीते हुए लोक भी परास्त हो जाते हैं और उसको न जीत सकने पर बहुत समय पहिले के जीते हुए भी न जीते हुए के समान हो जाते हैं। अतः उस अनन्त सत्ता की सिद्धि के लिये और शाश्वत सुख की प्राप्ति के वास्ते कष्ट पाकर भी उसको जीतने का यत्न कर। सुर असुर यक्ष मनुष्य और महासर्प किन्नरों समेत अति बली हैं तो भी वह सब ओर से यत्न बिना वश में आते हैं इसलिये उसको वश कर।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिवृत्तान्त विरोचन गाथा वर्णनं नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः ।।२३।।

चतुर्विंशतितमः सर्गः २४

बल्युपाख्याने चित्तचिकित्सोपदेश वर्णनम् ।

बलि ने कहा–हे भगवन्! किस उपाय से उसे जीते और ऐसा महावीर्यवान् मन्त्री कौन है और राजा कौन है? यह वृत्तान्त मुझे पूर्णरूप से शीघ्र कहने की कृपा करें कि मैं उस उपाय को आंरभ करूँ। विरोचन ने कहा–बेटा! वह मंत्री यद्यपि अजेय है, तो भी उसके सुगमता से जीतने का उपाय तुम्हें कहता हूँ जिससे वह जीता जा सके, हे बेटा! उसको यदि युक्ती से पकड़ा जाय तो क्षण भर में वश में आ जाता है और बिना युक्ति के यह सर्प के समान काटता है, जो लोग इसको बालक जानकर लाड प्यार करते हुए युक्ति से अपने वश में कर सकते हैं वे उस राजा के दर्शन से परमपद को प्राप्त करते हैं और उस महीपति के देख लेने पर तो वह मंत्री वश में हो ही जाता है, उस मंत्री को वश करने से फिर राजा का दर्शन होता है, जब तक राजा को न देखा हो तब तक मंत्री वश में नहीं होता और जब तक मंत्री को वश नहीं किया तब तक राजा का दर्शन नहीं होता, राजा को देखे बिना मंत्री को जीतना कठिन है। इसलिये दोनों का इकट्ठा अभ्यास करके राजा का दर्शन और मंत्री का जीतना पुरुष प्रयत्न से शनैः शनैः प्रयत्न द्वारा होगा। दोनों के संपादन से पुरुष कल्याण पाता है, जब तू अभ्यास करेगा तब उस देश को प्राप्त होगा। यह अभ्यास का फल है। हे दैत्यराज! जब उसको पायेगा तब तुम्हें किंचित् भी शोक न रहेगा, सब प्रकार से शान्त हो जायेगा। नित्य प्रफुल्लित प्रसन्न रहेगा, जो साधुजन हैं, वे सर्व संशयों से रहित उस देश में स्थित रहते हैं, हे पुत्र! सुनो! वह देश तुझको प्रकट रूप से कहता हूँ, देशनाम मोक्ष का है, जहां सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। उस देश का राजा है भगवान् आत्मा, जो सब पदों से अतीत है, उस महाराज ने मन को मंत्री बनाया है, वह मन परिणाम को पाकर सब ओर से विश्वरूप हुआ

है, जैसे मट्टी का गोला घटभाव को प्राप्त हुआ है, जैसे धूम बादलरूप धारण करता है, ऐसे मन से विश्वरूप धारण किया है, उस मन को जीतने से विश्व पर विजय पाकर सुखी होता है, मन को जीतना कठिन है, परन्तु युक्ति से वश होता है, बलि ने कहा—हे भगवन्! उस मन को वश करने की युक्ति कहो, जिससे दारुण मन को जीत सकूं। विरोचन बोला—हे पुत्र! शब्द स्पर्शरूप रसगन्ध जो विषय हैं, इनकी प्रतिमा जो रस है उनकी सर्वदा सर्व ओर से आस्था त्यागनी चाहिये, अर्थात् इन्हें नाशवान् भ्रमरूप जानना। यह मन के जीतने की परम युक्ति है, मनरूप हस्ती, विषयरूप रस के मद से मस्त है, युक्ति से उसका दमन किया जा सकता है, युक्ति कठिन है, दुःख से प्राप्त होती है, परन्तु अपने अभ्यास से मिलती है। क्रमपूर्वक अभ्यास करने से विषयों से सर्वथा विरक्ति प्राप्त हो जाती है, जैसे रसवान् पृथ्वी से लता उत्पन्न हो जाती है, ऐसे जो शठ जीव हैं वे इनकी वांछा करते हैं, परन्तु अभ्यास बिना नहीं प्राप्त होती। अभ्यासी को यह युक्ति ज्ञात होती है, इसलिये अभ्यास सहित युक्ति का आश्रय करो। जब तक इन विषयों से पुरुष को वैराग्य नहीं होता, तब तक संसाररूप अटवी (जंगल) के दुःखों में भ्रमता है, विषय विरक्ति बिना अभ्यास के किसी को नहीं मिलती, जैसे किसी पुरुष को देशान्तर को जाना हो तो वह मार्ग में चलेगा तो पहुँचेगा, चले बिना नहीं पहुँच सकता, ऐसे जब पुरुष आत्मध्यान के निरन्तर अभ्यास से यत्न करता है तब विषयों की ओर खींच नहीं रहती। अभ्यास से विषयेषणा निर्मूल ही नाश हो जाती है। अभ्यास से निरन्तर सिंचन करते रहने से लता बड़ी हो जाती है, ऐसे ही पुरुषार्थ से सब कार्यों को प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं होता। यह निश्चित है जो काम आपसे आप किया जाये उसका फल अवश्य होता है। लोग उसको दैव कहते हैं जो कि अवश्य होता है, उसकी नीति दूर नहीं होती। उसे ही दैव कहिये, नीति कहिये, जो अपने पुरुषार्थ का फल पाता है, जैसे मरुस्थल में भ्रम से जल भासता है, सम्यग् ज्ञान से भ्रम निवृत्त हो जाता है, उस दैव और नीति को अपने पुरुषार्थ से

जीतो। जैसा पुरुषार्थ करके संकल्प दृढ करता है, ऐसा ही मालूम पड़ता है, जैसे आकाश को नीलता ग्रहण करती है, वह नीलता कुछ है नहीं, ऐसे सुखदुःख देनेवाला अपर कोई नहीं, जैसा संकल्प करता है ऐसा होकर भासता है और जैसी नीति होती है ऐसा संकल्प करता है वही नीति के साथ मिलकर कभी कर्म करता है, इससे इस जगत् कोश में जीव शरीर धारण कर फिरता है, जैसे आकाश में पवन फिरता है, कभी नीति से और कभी नीति से रहित फिरता है, ऐसे दोनों सीढियाँ मन में होती है। आकाशरूप मन में नीति अनीतिरूप वायु फुरता है, इस कारण से जब तक मन है तब तक नीति है और दैव है। मन से रहित न नीति है न दैव है। मन के अस्त होने पर जो रहता है वह ऐसे ही है जीव पुरुष से पुरुषार्थ द्वारा जैसा संकल्प इस लोक में दृढ होता है–वह कदाचित् अन्यथा नहीं होता, हे पुत्र! अपने पुरुषार्थ बिना यहां कुछ सिद्ध नहीं होता, इसलिये परम पुरुषार्थ करके विषयों से विरक्ति प्राप्त करो। जब तक विरक्तता नहीं उत्पन्न होती तब तक परम सुखदायिनी संसारभय नाशिनी मोक्षपदवी नहीं मिलती। जब तक विषयों में प्रीति है, जो कि मोह का कारण है, तब तक संसार दशा मनोवृत्ति को स्थिर नहीं रहने देती, दुःख देती है, अभ्यास किये बिना निवृत्त नहीं होती, बलि ने कहा–हे सर्व असुरों के ईश्वर! भोगों से वैराग्य चित्त में कैसे स्थिर होता है, विरोचन ने कहा–हे पुत्र! जैसे शरत्काल में महालता में फूल से फल परिपक्व होता है, ऐसे आत्मद्रष्टा पुरुष को भोगों से विरक्तता प्रकट होती है। आत्मसाक्षात्कार से विषय प्रीति निवृत्त हो जाती है, जैसे कमलों के उदर में सुन्दर शोभा स्थित होती है, ऐसे बीजलक्ष्मी स्थित होती है। अतः सूक्ष्मबुद्धि विचारवेत्ता ने आत्मदेव को देखकर विषयों की प्रीति की है। इसको सब ओर से निवृत्त करो। सब से प्रथम यह काम करो कि अपना कार्यक्रम बनाओ। प्रत्येक काम को समय नियत करो, नियत समय पर सच्छास्त्रों का विचार करो, वैराग्य भावनाओं को दृढ़ किये हुए गुरुमुख से आत्मतत्व प्रतिपादक उपदेश सुनो, ऐसा करने से मनुष्य ज्ञान कथा के

योग्य होता है। क्रमशः निर्मल भावों को ग्रहण करने के लिये निरन्तर अभ्यास करने से शनैः शनैः उत्तम पद की भावना उदय होने लगती है। शास्त्रों के अर्थ विचार में चित्त को बार बार लगाने से परमात्मा के विषय में ज्ञान होने लग जाता है। जिससे कर्मों के पाश से छूट जाता है। जैस चन्द्रमा के उदय होने से चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होने लगती है ऐसे वह पूर्वोक्त पुरुष शीतल होकर विराजता है। परमात्मा के ध्यान व दर्शन से तृष्णा दूर होती है और तृष्णा के त्याग से आत्मदर्शन होता है, जैसे नौका को मल्लाह ले जाता है और नौका मल्लाह को ले जाती है, ऐसे परमात्मा का दर्शन होता है और भोगों का त्याग होता है, इससे जो परब्रह्म में अनन्त विश्रान्ति उदय होती हैं, वह मोक्षरूप आनन्द का उदय होता है, उसका अभाव कदाचित् नहीं होता, वह आनन्द जीवों को आत्मविश्रान्ति बिना नहीं प्राप्त होता, न तप से, न दान से, न तीर्थों से होता है, जब आत्म स्वभाव का दर्शन होता है, तब भोगों से विरक्ति उत्पन्न होती है, वह आत्मस्वभाव का दर्शन अपने प्रयत्न बिना और किसी युक्ति से प्राप्त नहीं होता, हे पुत्र! भोगों का त्याग करते हुए परमार्थ दर्शन के लिये यत्न करना, तब ब्रह्मपद को विश्रान्ति और परमानन्दरूप मोक्ष प्राप्त होता है। ब्रह्मा से लेकर काष्ठ पर्यन्त इस जगत् में ऐसा आनन्द कोई नहीं पाता, जैसा मनुष्य परमात्मा में स्थित होने से पाता है, इसलिये पुरुषार्थ करो। दैव का त्याग करो इस मार्ग में बाधा डालने वाले भोग हैं, बुद्धिमान् लोग उनकी निन्दा करते हैं, जब भोगों की निन्दा दृढ़ होती है तब विचार उत्पन्न होता है, जैसे वर्षाकाल के चले पर सब दिशाएं (शरत्काल के कारण) निर्मल हो जाती हैं, भोगोंकी से विचार और विचार से भोगों की निन्दा यह परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, जैसे समुद्र की अग्नि से धूम उदय होता है, वह बादलरूप होकर बरसने से समुद्र को पूर्ण करता है, जैसे मित्र परस्पर कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिये पहिले तो दैव का अनादर करो, पुरुष प्रयत्न से दांतों से दांतों का निष्पीडन करते हुए भोगों की प्रीति का त्याग करो। पुरुषार्थ से अनुकूलता उत्पन्न करो, अपना सर्वस्व

मन बुद्धि से भगवदर्पण करो, भोगों से निसंग होकर उनका घृणित प्रचार करो, तब विचार उत्पन्न होगा, उस समय शास्त्रज्ञान का संग्रह करो तब परमपद की प्राप्ति होगी। हे दैत्यराज! समय पाकर जब तुम विषयों से विरक्त चित्त हो जाओगे तब विचार वश से परमपद की प्राप्ति होगी, अपने आपमें (जो पावनपद है) भली प्रकार विश्राम पायेगा। फिर कल्पना दुःख में न गिरेगा। देशाचार के कर्म से अल्पधन उत्पादन करना तदनन्तर भोग निन्दा करते हुए सत्संग लगाने से वैराग्य और विचार होने के कारण तुझे आत्मलाभ होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपाख्याने चित्तचिकित्सोपदेशो नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ।।२४।।

पंचविंशतितमः सर्गः २५

बलिचिन्ता सिद्धान्तोपदेश वर्णनम् ।

बलिमहाराज बोले—इस प्रकार मुझ को पूर्व पिता ने कहा था, अब मैं स्मृति दृष्टि से प्रसन्न हुआ हूँ तथा भोगों से विरक्ति हुई है, अमृत के समान शीतल शमसुख को प्राप्त हुआ हूँ। मनुष्य को पुनः पुनः आशा उत्पन्न होती है पुनः पुनः धन को एकत्र करता है। बार बार स्त्री की इच्छा करता है। अब मैं विभव की स्थिति देखकर खिन्न हुआ हूँ, अहो! आनन्द का विषय है, शम कितनी रम्य और अन्तः शीतल अवस्था है, सब दुःख सुख दृष्टियाँ शम में शान्त हो जाती हैं, मैं अपूर्व शम सुख अनुभव कर रहा हूँ, अहा! अन्तःकरण में इतनी शीतलता है कि मानो मुझे किसी ने चन्द्र मण्डल में बिठा दिया हो। ऐश्वर्य विभूति के उपार्जन निरन्तर क्षोभ बना ही रहता है। इस आडम्बर से अलग रहने पर ही हृदय क्षोभरहित होगा, यह सब मन के खेल हैं। मैंने इस शमावस्था से पहिले स्त्री के शरीर पर आसक्त होकर उसके अंग से अंग और मांस से मांस मिलाकर जो सम्पीडन किया, वह सब मोह की करतूत थी, मुझे

उस पर अत्यन्त खेद है। पूर्वकाल में स्त्री से मुझे अत्यधिक मोह था। मुझे स्त्री में आसक्ति अधिक होने का अत्यन्त खेद है। मैंने जो कुछ देखने योग्य था देख लिया है, जो कुछ भोगने योग्य था, भोग लिया, भोगों में बार बार पड़कर भी मनुष्य उनकी असारता को नहीं पहिचानता। इन भोगों ने सब भूत जात को वश में कर रखा है, इनमें कोई विचित्रता नहीं है। बार बार वही जगत् के पदार्थ हैं, इसलिये अपनी बुद्धि से सब कुछ त्यागकर पूर्ण समुद्रवत् अपने आप में स्वच्छरूप से स्थित होता हूँ। पाताल में पृथ्वी में, स्वर्ग में स्त्रियाँ और रत्न पन्नगादिक सार हैं, वह भी तुच्छ हैं, समय पाकर काल सबको ग्रस लेता है, इतने समय तक मैं बालकथा, जो मन के रचे हुए तुच्छ पदार्थों की इच्छा से अनुचित कर्म करता था, महान् कष्ट है। मैंने बहुत समय तक अनर्थ में अर्थ बुद्धि कर रखी थी, अज्ञान से मदान्ध हो रहा था, जैसे बालक कूकरी को साथ रखता है, चञ्चल तृष्णा इस जगत् में क्या नहीं किया, जो काम पश्चातापबढ़ाने वाले हैं, वही मैंने किये हैं। अब पूर्व की तुच्छ चिन्ता से मुझे क्या लाभ है, वर्तमान समय के पुरुषार्थ और उपाय से सफलता होगी, जैसे समुद्र मंथन से अमृत प्रकट हुआ, ऐसे ही अपरिमित रूप आत्मा की भावना से अब सर्वथा सुखी होगा। मैं कौन हूँ इस आत्मा के दर्शन की युक्ति गुरु से पूछूँगा, अज्ञान के नाश के लिये शुक्र भगवान् का चिन्तन करता हूँ, जो कि प्रसन्न होकर उपदेश करेंगे। उससे अनन्त विभव अपने आपसे स्थित होगा, निष्काम पुरूषों का उपदेश मेरे हृदय में फलेगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिचिन्ता सिद्धान्तोपदेशो नाम षड्विंशतितमः सर्गः ॥२५॥

षड़विंशतितमः सर्गः २६

बल्युपदेश वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार चिंतन करके बलि नेत्र बंद करके शुक्रजी का ध्यान करने लगा, शुक्र महाराज कैसे हैं कि जिनका आकाश में मंदिर है और जो सर्वत्र पूर्ण चिन्मात्र तत्व के ध्यान में मग्न हैं, ऐसे भार्गव का बलि ने आवाहन रूप ध्यान किया, तब शुक्रजी भी जान गये कि हमारे शिष्य बलि ने हमारा चिन्तन किया है, इसलिये चिदात्मस्वरूप भार्गव अपने देह को वहाँ ले आये, जहाँ रत्ननिर्मित झरोखों में बलि बैठा था, परम उज्ज्वल प्रभारूप गुरुवर को आये देख बलि उठ खड़े हुए और बड़ी प्रसन्नता के साथ अर्घ्यपाद्य पुष्पों द्वारा चरण वन्दन किया, रत्नों का अर्घ्य देकर उच्च सिंहासन पर बैठाकर बोला—हे भगवन्! आपकी कृपा से मेरे हृदय में जो प्रभा उठती है, वह स्थिर होकर मुझको प्रश्न करने में प्रेरणा करती है, जैसे सूर्य प्रभा जीवों को कार्य में जोड़ती है—अब मैं भोगों से विरक्त हुआ हूँ, भोग मोह के देनेवाले हैं, मैं तत्वज्ञान की इच्छा रखता हूँ, जिससे महामोह निवृत्त हो जाता है। इस ब्रह्माण्ड में स्थिर वस्तु कौन है और उसका कितना प्रमाण है, इंद्र क्या है? और अहं क्या है? मैं कौन हूँ, तुम कौन हो और यह लोक क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर कृपा करके कहो, शुक्रजी बोले—दैत्यराज! बहुत कहने से क्या है, मैं शीघ्र जाना चाहता हूँ, इसलिये तुम्हे संक्षेप से कहता हूँ सुन! चेतन तत्व विस्तृत रूप है, इदं यह सर्व चेतनमात्र है और चेतन ही प्रमाण है, तू भी चेतन स्वरूप है, मैं भी चेतन हूँ, यह लोक भी चेतन स्वरूप है यह सबका सार है, इस निश्चय को अन्दर दृढ कर धारण करेगा तब निर्मल निश्चयात्मक बुद्धि से अपने को आपसे देखेगा और उससे विश्रान्तिमान् होगा; हे रामजी! जब तू कल्याणमूर्ति है, तब इसी कहने से सब सिद्धान्त को प्राप्त होगा। सबका सार चिदात्मा है, उसको

पायेगा और जो कल्याणमूर्ति नहीं तो फिर कहना भी व्यर्थ होता है। भस्म में आहुति देने के समान है, चेतन का चेत्यकला से सम्बन्ध होना ही बन्धन है। उससे जो मुक्त है वह मुक्त है और आत्मतत्व चेतनस्वरूप चेत्यकलना से रहित है। यह सर्व सिद्धान्त का संग्रह है, हे राजन्! इस निश्चय को धारण करके निर्मल बुद्धि से अपने आपको देखो, यह आत्मपद की प्राप्ति है। अब मैं आकाश को जाता हूँ। सप्तऋषियों के साथ किसी देवता के सम्बन्ध में काम है, उसके लिये जाता हूँ, जब तक यह देह है, तब तक मुक्तबुद्धि को यथा प्राप्त कार्य त्यागना कभी योग्य नहीं। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! ऐसा कहकर बड़े वेग के साथ शुक्रजी महाराज आकाश को चले, जैसे समुद्र से तरंग उठकर लीन हो जाय, ऐसे शुक्रजी अन्तर्धान हो गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपदेशवर्णनम्
नाम षड्विंशतित्तमः सर्गः ।।२६।।

सप्तविंशतितमः सर्गः २७

बलि विश्रान्ति वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! भृगुपुत्र देवता और दैत्य दोनों के पूजने योग्य हैं, उनके चले जाने पर महाबलवान् बलि मन में सोचने लगा कि भगवान् शुक्रजी क्या कह गये हैं? त्रिलोकी चिन्मात्र रूप है, मैं भी चेतन रूप हूँ, दिशायें भी चेतनरूप हैं। परमार्थ से आदि जो चेतन सत्स्वरूप है, उससे भिन्न कुछ नहीं, यह सूर्य है इसमें चेतन न हो तो सूर्य का सूर्यत्व भाव न भासे, और यह जो भूमि है इसको चेतन न चेते तो भूमिका भूमित्व भाव ही न रहे। यह दशों दिशायें है, इनको यदि चेतन न चेते तो इनका दिशात्वभाव ही न हो, पर्वत में पर्वतता भी चेतन बिना नहीं, यह

जगत् में जगत् भाव आकाश में आकाशता, शरीर लक्षण कोई चेतन बिना नहीं पाया जाता, इंद्रिय भी चेतन हैं, मन भी चेतन है, अन्दर बाहिर चेतन है, चिदात्मा अहं त्वं भावरूप होकर स्थित है, मैं चेतन हूँ, सब इन्द्रियों से विषयों का स्पर्श मैं करता हूँ और कदाचित् कुछ किया नहीं, काष्ठ लोष्ठ तुल्य शरीर के साथ मेरा क्या है? सम्पूर्ण जगत् मैं चेतन आत्मा हूँ, आकाश में मैं एक आत्मा हूँ, सूर्य में भी मैं हूँ और भूत पंजर में भी चैतन्य आत्मा मैं हूँ, आत्मा एक अद्वैत चेतन है, द्वैतकलना नहीं। यदि इस लोक में द्वैत असंभव है तो शत्रु कौन है और मित्र किसे कहा जाय, जिस शरीर का नाम बली है उसका शीश काटा तो आत्मा का क्या काटा? सब लोगों में आत्मा पूर्ण है, जब चित्त दुःख को चेतता है तब दुःखी होता है, चेतन से रहित दुःख नहीं पाता। इस कारण से जो दुःखदायक भाव अभाव पदार्थ भासते हैं, वे सब चेतन आत्मरूप हैं, चेतन तत्व से भिन्न कुछ नहीं हैं। सब ओर से आत्मा पूर्ण है, आत्मा से इतर जगत् का कुछ व्यवहार नहीं, न कोई दुःख है, न कोई रोग है, न मन है, न मन की वृत्ति है, एक शुद्ध चेतनमात्र आत्मतत्व है और विकल्प कलना कोई नहीं, सब ओर से चेतन स्वरूप व्यापक है, नित्य आनन्द अद्वैतरूप विकल्पना कोई नहीं, सबसे अतीत हूँ। अंशीभाव से रहित चेतनसत्ता हूँ और चेतन आदिक नाम से भी रहित हूँ, मेरे चेतनादिक नाम भी व्यवहार के लिये कल्पना किये हैं, जो चेतन आत्मा की स्फुरण शक्ति है वही विस्तार से जगत्रूप होकर भासती है। द्रष्टा दर्शन से मुक्त केवल अद्वैतरूप है, प्रकाश प्रकाशक भाव से रहित निराभास हूँ, द्रष्टा परमेश्वररूप हूँ, न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, मैं केवल द्रष्टा निरामयरूप हूँ। कलना कलंक से रहित हूँ, इनसे परे हूँ और यह स्वरूप भी मैं हूँ, यह मेरे में आभास मात्र है, मैं उदित नित्यरूप हूँ, आभास से भी रहित मैं एक प्रकाशरूप हूँ, स्वरूप करके मेरा जो चित्त है, दृश्य के राग से रहित मैं मुक्तरूप है, जो प्रत्यक्ष चेतन मेरा स्वरूप है उसको नमस्कार है, युक्ति

अयुक्ति सबका प्रकाशरूप मैं हूँ, मुझको नमस्कार है, चित्त से रहित मैं चेतन हूँ, सब ओर से शान्तरूप हूँ, फुरणे से रहित भली प्रकार शान्त जो मैं संवित्मात्र विस्ताररूप हूँ, आकाश की नाईं मैं अनन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म हूँ, दुःख सुख से मुक्त हूँ, संवेदन से रहित असंवेदनरूप हूँ, चेत्य से रहित चेतन हूँ, जगत के भाव अभाव पदार्थ मुझको छेद नहीं सकते, अथवा यह जगत् के पदार्थ छेदते हैं, वह भी मुझसे भिन्न नहीं। छेद मैं हूँ, छेदनहारा भी मैं हूँ, जो स्वभावभूत वस्तु से वस्तु ग्रहण होती है, अथवा नहीं होती, तो भी किससे किसका नाश हो, मैं सर्वदा सर्वप्रकार सर्वशक्तिरूप हूँ। संकल्प विकल्प से अब क्या है? मैं एक ही चेतन अजड़रूप होकर प्रकाशित होता हूँ, जितने जगज्जाल हैं वह सब मैं ही हूँ, मुझसे इतर कुछ नहीं, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब राजा बलि ने इस प्रकार चिन्तन किया तो तत्ववेत्ता हो गया। ओंकार की अर्धमात्रा तुरीयापद की भावना से ध्यान में स्थित हुआ, उसके भली प्रकार संकल्प शान्त हो गये हैं, सब कलना चित्त चेत्य से रहित निःसंग होकर स्थित हुआ, फिर कैसा हुआ कि ध्याता ध्यान और ध्येय से रहित हुआ, मन से सब वासनाएं नष्ट हो गयीं, जैसे वायु से रहित अचलरूप दीपक प्रकाशित होता है, ऐसे बलि शान्तरूप पद को प्राप्त हुआ, मन शान्त हो गया, रत्नों के झरोखें में बैठे हुए बहुत समय बीता, जैसे स्तंभ में पुतली हो, ऐसे समग्र ईषणाओं से रहित समाधि स्थित रहा, सब क्षोभ दुःख और विघ्नादि से रहित निर्मूल चित्त शरत्काल के आकाशवत् हो रहा था।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बलि विश्रान्ति वर्णनं
नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ।।२७।।

अष्टाविंशतितमः सर्गः २८

बलिविज्ञानप्राप्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब इस प्रकार दैत्यराज को समाधि स्थित हुए कुछ काल बीता, तब बान्धव मित्र मन्त्री और सेवक उसको देखने के लिये चले कि राजा बलि को क्या हो गया, ऐसा विचारकर किवाड़ खोलकर ऊपर जा चढ़े, डिंभादि धीर मन्त्री और कुमुदादि मण्डलेश्वर, सुरआदिराजा, वृत्तआदिसेनापति, हयग्रीवादिक सैनिक, चाक्राजादि बांधव, लड्डूकादि सहृद् और वल्लकादि प्रीतिकारी ऊपर चले गये, यक्ष विद्याधर और नाग एक ओर हो खड़े हैं, रम्भा और तिलोत्तमा आदिक अप्सराएं हाथों में चमर लिये खड़ी हैं, नदियाँ, समुद्र पर्वत आदिक मूर्ति धारणकर स्थित हुए हैं। सब ने हाथों में रत्न आदि भेंटें ली हुई हैं, प्रणाम करना चाहते हैं, त्रिलोकी के उदरवर्ती जो भी थे वे आकर स्थित हुए और राजा बलि ध्यान में स्थित था, मानों चित्रलिखित है, पर्वतवत् स्थित है, उसको देखकर दैत्यलोगों ने प्रणाम किया, कई देखकर शोक करने लगे, कई आश्चर्यवान् हुए, कई प्रसन्न हुए, कई भयभीत हुए, तब मन्त्री लोग विचार करने लगे कि राजा की यह क्या दशा हो गयी है, तब राजा के लिये भार्गव शुक्रजी का चिन्तन करने लगा तब चिन्तन करने से महातेजस्वी भार्गव झरोखे में आ पहुंचे जैसे गन्धर्व नगर देखने में आते हैं, ऐसे आये उसको देखकर दैत्यगण ने उसकी विधिपूर्वक पूजा की और गुरुवर को बडे सिंहासन पर विराजमान किया, बलि को ध्यान स्थित देखकर शुक्रजी अतिप्रसन्न हुए, कि जो मैंने उपदेश किया है, उसमें विश्राम पाया है, यह बहुत आनन्द की बात है कि बलि ने विचार करके परमपद पा लिया है, अब इसका भ्रम नष्ट हो गया है, अब इस पर भगवान् की कृपा हुई है, अपने स्वरूप में इसने विश्राम प्राप्त किया है, जो सब दुःखों से रहित पद है उसमें स्थित हुआ,

इसका सब चिन्ता भ्रम क्षीण हो गया, मोहरूप कुहिड का नाश हुआ, अब इसको मत जगाओ, यह आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ है, इसके सब यत्न क्लेश दूर हो गये हैं, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार नष्ट हो जाता है, अब मैं इसको जगाता नहीं, यह आप ही देर के बाद जगेगा, क्योंकि प्रारब्ध अंकुर इसका रहता है, यह उठकर अपना राज्यकार्य करेगा, दिव्यसहस्र वर्ष तक यह जगेगा, अब तुम इसको मत जगाओ, अपना राजकार्य जाकर करो। वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब इस प्रकार शुक्रजी ने कहा तब सुनकर सूखे वृक्ष की मंजरी जैसा हो गया, शुक्रजी अन्तर्धान हो गये, और दैत्य अपने राजा विरोचन की सभा में जाकर अपने अपने व्यवहार में लग गये और जो खेचर भूचर पातालवासी थे, वे अपने अपने स्थान को गये, देवतां, दिशाएं पर्वत, समुद्र, नाग, किन्नर, गन्धर्व सब अपने व्यवहार में जा लगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बलिविज्ञान प्राप्तिर्नाम अष्टाविंशःसर्गः ।।२८।।

एकोनत्रिंशः सर्गः ।।२९।।

बल्युपाख्यान समाप्ति वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब दिव्य सहस्र वर्ष व्यतीत हुए तब दैत्यराज समाधि से उतरा, नौवत नक्कारे बजने लगे, देवता दैत्य जय जय ध्वनि करने लगे, नगर निवासी परम प्रसन्न हुए, जैसे सूर्य के उदय से कमल खिलते हैं, ऐसे सब लोगों के मुखकमल खिल गये, अर्थात् आनन्दित हुए, जब तक दैत्य नहीं आये तब तक राजा विचार करता रहा कि बड़ा आश्चर्य है, जो कि परम पद की ऐसी रमणीय शांतरूप शीतल पदवी है, उसमें स्थित होकर मुझे परम विश्राम मिला है, इसलिये फिर उसी पद का आश्रय लूं, उसी में स्थित हो जाउँ, राज्य विभूति से मेरा क्या प्रयोजन है! ऐसा आनन्द शीतल चन्द्रमा के मंडल में नहीं मिलता, जैसा

अनुभव में स्थित होने से पाता है, हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन करके फिर समाधि करने लगा, तब दैत्यसेना, मंत्री, भृत्य, बांधव आ गये। जैसे चन्द्रमा को मेघ घेर लेता है ऐसे घेर करके दैत्य लोग प्रणाम करने लगे, पर्वत समान महान् आकारवान् राजाबलि मन में विचारने लगे कि मुझे त्यागने योग्य क्या है और ग्रहण करने योग्य क्या है? त्याग किसका करना होता है, जो अनिष्ट तथा दुःखदायक हो, और ग्रहण किसका किया जाता है? जो आगे न हो, वह आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं, उसमें ग्रहण त्याग किसका करूँ, और मोक्ष की इच्छा भी मैं किस कारण से करूँ क्योंकि जो बन्ध होता है तो उसके मोक्ष की इच्छा की जाती है, यदि बंध नहीं तो मोक्ष की इच्छा कैसे हो, यह बन्ध और मोक्ष बालक की क्रीड़ा कही है, न बन्ध है न मोक्ष है, यह कल्पना मूढ़ता में है यह मूढ़ता मेरी नष्ट हो गयी है, अब मुझको ध्यान विलास से क्या प्रयोजन है, और ध्यान से क्या है, अब मुझको न परमतत्त्व की इच्छा है न कुछ ध्यान से प्रयोजन है, अर्थात् न विदेह मुक्ति की इच्छा है न जगत् में रहने की इच्छा है, न मैं मरता हूँ, न जीता हूँ, सत्य हूँ, न असत्य हूँ, न सम हूँ, न विषम हूँ, न कोई मेरा है न कोई अन्य है, अद्वैतरूप मैं एक आत्मा हूँ मुझको नमस्कार है, इस राजक्रिया में मैं स्थित हूँ, तो भी आत्मपद में स्थित हूँ, सदाशीतल हूँ, ध्यान दिशा से मुझको सिद्धता नहीं, न राजकार्य विभूति से कुछ सिद्ध होता है, जय अजय, न मैं कुछ हूँ, न मेरा कुछ है, इसलिये राजकार्य से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, मैं आकाशवत् होकर रहता हूँ। यदि मैं न कुछ करूँगा न राज्य करूँगा, तो भी मेरा कार्य कुछ सिद्ध नहीं होता, इसलिये जो कुछ प्रकृत आचार है, उसी को मैं करूँ। बंधन का कारण अज्ञान है, मेरा अज्ञान नष्ट हुआ है, कोई क्रिया मुझ को बन्धनरूप नहीं, इसलिये प्रकृत आचार को करूँ, हे रामजी! इस प्रकार निर्णय करके बलि ने दैत्यों की ओर देखा, तब देवता और दैत्य सबने सिर झुकाकर प्रणाम किया, तब दृष्टि से उनकी प्रणाम बन्धना अंगीकार की, जैसे पवन पुष्पों की सुगन्धि लेता है, तब राजा बलि ने ध्येयवासना को मन से त्याग

किया और राज्य कार्य करने लगा। बहुत भोग भोगे, अन्त में भोगों को विरस जानकर उसका मन विरस हुआ, विचार से तृष्णा का नाश हो गया, मन शान्त हुआ, हेयोपादेय की चेष्टा नाना प्रकार से बलि ने देखी, पदार्थों के भाव अभाव में मन शान्ति को न प्राप्त हुआ। अब भोगों की अभिलाषा त्यागकर आत्माराम हुआ, नित्य स्वरूप स्थित पाताल कोटर में विराजता है, हे रामजी! इस बलि ने जगत् का इन्द्र होना है और समस्त जगत् का कार्य करना है, अनेक वर्ष बलि आज्ञा चलायेगा, परन्तु इंद्रपद को पाकर प्रसन्न न होगा और अपने ऐश्वर्य पद के गिरने से खेदवान् भी न होगा, सब पदार्थों और विभूति के उदय अस्त में अमर होगा, आकाश की नाईं दोनों में संग रहित निर्मल रहेगा। यह बलि की विज्ञान प्राप्ति का क्रम वृत्तान्त कहा है, इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी स्थित हो, बलि की अपने विवेकसे नित्यतृप्त आत्मनिश्चयको धारण करो कि सर्व मैं हूँ, इस निश्चय से निर्द्वन्द्व पद प्राप्त होगा। अपने पुरुषार्थ से बलि की नाईं निश्चय धारण कर परम पद को प्राप्त होगा। हे रामजी! दस करोड़ वर्ष तीनों लोक का राज्य बलि ने किया, अन्त में वैराग्यवान् हुआ, ऐसे तू भी भोगों से विरक्त हो, यह भोग तुच्छ है, इनको त्यागकर परमपद में प्राप्त हो, यह जो दृश्य प्रपंच नाना प्रकार के विकार संयुक्त भासता है, वह न कोई तेरा है, न किसी का है, जैसे पर्वत और शिला में बड़ा भेद है, ऐसे जिस पुरुष का मन संसार की ओर दौड़ता है, वह मन की वृत्ति में डूबता है, जब तू मन को हृदय कोटर में रोकेगा तब सब जगत् का प्रकाश होगा। तू आत्मस्वरूप है, तो अपना क्या और पराया क्या यह मिथ्या कल्पना है, तू सबका आदि पुरुषोत्तम है, तू ही साकार पदार्थ है, तू ही सब ओर पूर्ण है, सब जगत् में चेतनरूप है, स्थावर जंगम् जगत् सब तुझसे पिरोया है, जैसे सूत से मन के पिरोये है, नित्य शुद्ध उदित बोध स्वरूप है, भ्रान्ति से रहित है, जन्म आदि सब रोगों के नाश के लिये आत्म विचार से बलात्कार द्वारा भोगों का त्याग करके सर्वभोक्ता हो जा। तू केवल स्वरूप जगत् का नाथ है, चैतन्य सूर्य प्रकाशरूप

सर्वदास्थित है, सर्वजगत् तेरे प्रकाश से प्रकाशित है, सुख दुःख की कल्पना तुझ में कोई नहीं, तू शुद्ध सर्वात्मा सर्व प्रकाशक है, इष्ट अनिष्ट के त्याग से निरन्तर सत्यता उदय होती है, उस सत्यता को हृदय में धारण करने से जन्म मरण भी नहीं होता। जिस जिस पदार्थ में मन लगे उस उससे निकालकर आत्मतत्व में जोड़ जब इस प्रकार तू दृढ अभ्यास करेगा, तब मन, जो कि उन्मत्त हस्ती है, बाधा जायेगा। तब तू सर्व सिद्धान्त के परम सार को तू प्राप्त होगा, हे रामजी! तू मूढों का नाईं मत बन, मूढजीव सब चेष्टा मिथ्या ही करता है, मिथ्या चेष्टा से जिनकी बुद्धि नष्ट हुई है और जो अविद्यारूप धूर्त के हाथों में बिके हैं, इनके समान मत बनो। यह जगत् अणुमात्र भी कुछ नहीं, बड़ा विस्तार रूप जो दृष्टि आता है, वह निर्णय करके देखा है, जो मूढता करके भासा है, दृढ़ता परमदुःख रूप है, इससे अधिक दुःख कोई नहीं, आत्मरूप सूर्य के आगे आवरण कर्ता अज्ञानरूप मेघ है, उसको विवेकरूप पवन से नाश करो, तब आत्मा का साक्षात्कार होगा, परन्तु होगा वैराग्य और अभ्यास से। आत्मविचार के अभ्यास और विषयों से वैराग्य के बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। आत्मविचार से पुरुषार्थ से, आत्मा की प्रसन्नता होती है, बुद्धि की निर्मलता से तथा ज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है, इसलिये संकल्प विकल्प से रहित होकर चेतन तत्व में स्थित हो, विस्तृत व्यापक रूप जो आत्मतत्व है, उसकी स्थिति मेरे वचनों से ग्रहण करने से तुम्हारे सब संकल्प लीन हो गये हैं। संवेदन रूप भ्रम शान्त हुआ है, संसार कौतुक रूप कुहिड़ तेरा नष्ट हो गया है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे बल्युपाख्यानसमाप्तिवर्णनं
नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

त्रिंशः सर्गः ३०

हिरण्यकशिपुवधवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! अब तुम विज्ञान प्राप्ति के कारण और क्रम सुनो, जैसे दैत्य प्रह्लाद को आत्मसिद्धि मिली थी, ऐसे तुम भी प्राप्त करो। पाताल कोटर में एक हिरण्यकशिपु दैत्य था, जिसके भय से देवता इन्द्रसहित भाग गये थे। जिसका विष्णु समान पराक्रम था और सम्पूर्ण जगत् के भोग उसने अपने हाथ में कर रक्खे थे। सब देवता दैत्यों को वश करके जगत् का कार्य करता था, वह दैत्यों का ईश्वर तो था। तीनों भुवनों का ईश्वर हुआ, समय पाकर पुत्रों को उत्पन्न किया, जैसे बसन्त ऋतु अंकुर को उत्पन्न करती है, वह बड़ा ऐश्वर्यवान् और बलवान् होकर प्रसिद्ध हुआ, सूर्य के समान उसका भी प्रकाश दिशाओं में व्याप्त हुआ। चिरकाल तक उसने आकाश को भी वश में कर लिया। उसके बड़े बेटे का नाम प्रह्लाद था, उसके सब पुत्रों मे प्रह्लाद बहुत बुद्धिमान्, तेजस्वी और गुणवान् था, उस पुत्र से हिरण्यकशिपु की बहुत शोभा हुई जैसे सुन्दर पुष्पलताओं के विकसित होने से बसन्त की अधिक शोभा होती है, उस दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने अपने वश में आये हुए लोगों को दुखाना आरम्भ कर दिया जैसे प्रलयकाल का सूर्य तप तप कर संसार को जलाता है, इसी प्रकार यह भी सबको तपाने लगा। इस दुष्ट ने जब देवताओं को अति दुःख दिया तब देवता विष्णु की शरण गये। वहां जाकर अति नम्रता और सद्भावना से भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम करके प्रार्थना की, कि हे प्रभो! हिरण्यकशिपु बड़ा दुष्ट है, इसने हमें अतिकष्ट पहुँचाया है, इसका नाश किजीये और हमारी रक्षा कीजिये। बारंबार दुःख पाने से महापुरुष भी क्रुद्ध हो जाते हैं, हे रामजी! जब इस प्रकार देवताओं ने प्रार्थना की तब विष्णुदेव बोले–अब तुम जाओ, मैं उसको पुत्र के कारण से मारूगा, इतना कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। हिरण्यकशिपु अपनी इच्छा के अनुसार प्रह्लाद को शिक्षा देता था

परन्तु प्रह्लाद नहीं मानता था। बहुत प्रकार से डर दिखलाकर ताडना करके और दुर्वचन कहकर भी प्रह्लाद को वह अपने अनुकूल न बना सका। प्रह्लाद हरि भजन में मग्न रहता था। तब वह दैत्यराज हाथ में तलवार लेकर कहने लगा–अरे दुष्ट! तू मेरा कहा नहीं मानता, बता तेरा ईश्वर कहां है जिसका तू भजन करता है, तब प्रह्लाद ने कहा–ईश्वर सर्व व्यापक है, दैत्यराज ने कहा–यदि सर्वव्यापक है तो इस स्तंभ में कहां है? यदि है तो दिखा, न दिखा सका तो मेरे हाथों से मारा जायेगा। तब सर्व व्यापक भगवान् स्तंभ में से भासने लगे, महान् भयंकर शब्द होने के बाद उस स्तंभ को तोड़कर महा भयानक उग्ररूप से भगवान् प्रकट हुए, उस नृसिंह रूप की विकरालता और भयंकरता विचित्र थी, प्रलयकाल की अग्नि के समान मुख से श्वास निकलता था, ब्रह्माण्ड को चूर्ण कर देनेवाली विकट भुजायें थी, कोपाग्नि प्रलयकाल की अग्नि को भी परास्त करती थी, सूर्य से भी अधिक प्रकाशवाले भगवान् नरसिंह ने कोप के आवेश से हिरण्यकशिपु को पकड़कर तीखे नखों से फाड़कर रख दिया। दैत्यों के सब स्थान जल गये, दैत्यों के अनेकों समूह मारे गये, कई भाग गये, पाताल में जा छिपे, दिशाविदिशाओं की ओर दौड़ गये, जैसे वायु से मच्छर उड़ जाते हैं, इस प्रकार दैत्य भाग गये। सब स्थान प्रलयकाल के समान खाली हो गये। मानों अकाल प्रलय आया है, दैत्यों का नाश करके भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। कुछ दैत्य बांधव सेवक थे वह प्रह्लाद के पास आये, उनके मुख म्लान हो रहे थे जैसे जल से रहित कमल म्लान होता है, भाई बांधव मिलकर प्रह्लाद को समझाने लगे, प्रह्लाद ने मिलकर पिता की मृत्यु पर शोक प्रकट किया और सब कर्म किये, दैत्यों ने भी शोक प्रकट किया, जैसे जला वृक्ष सूख जाता है इस प्रकार शोक से सुखकर दैत्य लोग चित्र से दिखाई देने लगे, हिरण्यकशिपु के बिना वे लोग महादुःखी हुए।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे हिरण्यकशिपुवधवर्णनं नाम त्रिंशः सर्गः ।।३०।।

एकत्रिंशः सर्गः ३१

प्रह्लाद विज्ञान वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब हिरण्यकशिपु के मारने से दैत्य बहुत दुःखी हुए तब प्रह्लाद ने विचार करने लगा। तदनन्तर पाताल कोटर में चिन्तामग्न बैठे हुए सब दैत्यों को प्रह्लाद ने कहा–अब अपनी रक्षा के लिये कौन सा उपाय किया जाय, हमारे दैत्यों का नाश करने वाला विष्णु तो महाबली है, जिसके नख ही तीक्ष्ण खड्ग का काम करते हैं, जैसे सिंह मृगों का शिकार करते है, ऐसे वह हमको मारता है, पाताल कोटर में दैत्य किसी समय भी शान्तिपूर्वक नहीं रह सकते, जब कुछ भी दैत्य बढ़ते हैं तो विष्णु आकर मार जाता है, जैसे कमलों पर पर्वत आ पड़े हों ऐसे चूर्ण कर देता है, जैसे जल में तरंग उपज कर नाश हो जाते हैं, इसी प्रकार बड़े बड़े दैत्य उत्पन्न हो होकर नाश हो रहे हैं, इस प्रकार अन्दर बाहिर हमें कष्ट देता है, हमारा शत्रु बड़ा दृढ है और अपूर्व बलशाली है, हमारी सब सम्पत्ति नाश हो चुकी है, जो देवता हमारे माता पिता द्वारा मारे पीटे लूटे जाते थे वे अब हमें मार पीट रहे हैं और लूट रहे हैं, उनका बल हमसे अधिक हो गया है, वे लोग हमारी स्त्रियों को वश कर ले गये हैं, जैसे मृग को व्याध ले जाता है, हमारी लक्ष्मी धन सम्पत् सब कुछ उनके पास चला गया है, हम दीन हो रहे हैं, जैसे जल बिना कमल कुम्हला जाता है, इस प्रकार हम बांधवों के नाश से हो गये हैं, हमारे घरों में धूल उड़ती है, जो स्थान हमारे सुख सामान्य से भरे रहते थे, वे अब शून्य पड़े हैं, जो कल्पवृक्ष हमारे यहां लगे रहते थे वे अब नन्दनवन की शोभा बढा रहे हैं। हमारे सुन्दर स्थान नरसिंहजी ने सब जला दिये हैं, किसी समय दैत्य देवताओं की स्त्रियों के मुख देखते थे अब देवता दैत्यों की स्त्रियों के मुख देखते हैं, जो दैत्य स्त्रियां सुख से अपने स्थान पर बैठती थीं वे अब देवताओं की स्त्रियों के सिर पर चमर

डुलाती हैं और हास्य विलास करती हैं। यह महान् कष्ट है कि हमको आपत्ति ने दीन कर दिया है, हे दैत्यों! इस समय जब कि हमको अपनी रक्षा का और कोई उपाय दृष्टि नहीं आता तो हमें अवश्य उस विष्णु की शरण में जाना चाहिये, तब हम सुखी हो सकते हैं। विष्णु कैसा है, कि जिसके भुजारूप वृक्षों की छाया में देवता विश्राम करते हैं, विष्णु के प्रताप से उन्हें किंचित् भी क्लेश नहीं होता, जैसे हिमालय पर्वत कभी गर्म नहीं होता, ऐसे जो पुरुष विष्णु की शरण में जाता है वह भी संताप नहीं पाता, इसलिये हम भी उसी की शरण को प्राप्त हों। तुम देखते हो कि जो देवस्त्रियाँ, असुरों की स्त्रियों का पूजन करती थीं वे अब अपनी पूजा कराने लगी हैं। हमारी दैत्यस्त्रियों के मुखकमल म्लान हो गये हैं, जैसे बर्फ की वर्षा से कमल सूख जाता है, ऐसे हमारे मंडप टूटे गये हैं। नीलमणियों के स्तंभ गिर पड़े हैं, दैत्य सेना जो आपदा के समुद्र में डूबती थी, उसकी रक्षा के लिये हमारे पिता समर्थ थे, कभी डूबने नहीं देते थे, जैसे क्षीर समुद्र में मदंराचल को कच्छप रूप ने डूबने न दिया, ऐसे हमारे पिता तथा पितादि बड़े बड़े जो अन्य बली रक्षा करने वाले थे, उन सबको विष्णु ने चूर्ण कर दिया, जैसे प्रलयकाल का पवन पर्वतों को चूर्ण करता है, ऐसे मधुसूदन की गति अति विषम है, दैत्यों की दंडरूप भुजाओं को काटने का कुठार है, उसी सहायता से इन्द्रादिक देवता दैत्यसेना को जीतने मारने लगे हैं, जैसे बालक को बानर मारे, इन पुंडरीकाक्ष विष्णु भगवान् को जीतना कठिन है, यदि यह शस्त्ररहित हों तो भी हमारे शस्त्र इनको काट नहीं सकते, महापराक्रमी हैं, वह पर्वतों से युद्ध करनेवाले परम अभ्यासी हमारे पिता महाबलीने त्रिलोकी का राज्य और सब देवता अपने वश में किये हुये थे, उसको जिसने मार डाला उसको हमारे मारने में क्या यत्न है? इनको जीतना कठिन ही नहीं असंभव हैं। इसलिये मैं तुम्हें एक उपाय कहता हूँ उसके करने से विष्णु अवश्य वश में आ जायँगे, वह उपाय यह है कि विष्णु सर्वात्मा है, सबका प्रकाशक और सबका कारण है, उसकी हम शरण ग्रहण करते हैं उसके बिना हमारी गति आश्रय कोई

नहीं, हे दैत्यों! उससे अधिक इस त्रिलोकी में कोई नहीं, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कर्ता वही देवता है, उसके ध्यान में लगो, एक निमेष भी उसके ध्यान से नहीं उतरो, मैं भी उसके ध्यान में प्रविष्ट होता हूँ, वह नारायण अजन्मा पुरुष है, मैं सदा उसके परायण हूँ, सब प्रकार नारायण मैं हूँ, 'ओं नमो नारायणाय' यह मंत्र सब अर्थों का कर्ता है। इस मंत्र का ध्यान जप करते हुए हमारे हृदय में अवश्य ही स्फुरण रूप से आगमन होगा, भगवान् हरि कैसे हैं? सबके आत्मा हैं, पृथ्वी भी हरि है, आकाश भी हरि है, सबकी आत्मा हरि है। अविष्णु होकर जो विष्णु की पूजा करते हैं, वे पूजा का फल नहीं पाते, जो विष्णु होकर विष्णु की पूजा करते हैं, वे परमोत्तम फल पाते हैं, इसलिये मैं विष्णुरूप होकर स्थित हुआ हूँ, मैं अनन्त आत्मा आकाश हूँ। गरुड़ पर आरुढ हूँ और सुवर्ण के भूषण धारण किये हूँ। मेरे हस्तरूप वृक्ष से सब जीव रूप पक्षी विश्राम पाते हैं, यह मेरे पार्षद हैं, सुन्दर चमर हाथों में लिये हैं। यह क्षीर समुद्र से उत्पन्न है, त्रिलोकी रूप वृक्ष की यह मंजरी है, महाधवल है, मन को हरनेवाली है, यह मेरी माया है, जिसने अनन्त जगज्जाल निरन्तर उत्पन्न और प्रलय किये हैं, यह इन्द्रजाल की विलासनी है, यह मेरे पार्षद में जो शक्ति है, जिसने लीला से त्रिलोकी खंड वश में किया है, जैसे कल्प वृक्षलता फूलती है, ऐसे मेरे पार्षद में फूलती है, शीत उष्ण यह दो मेरे नेत्र हैं, सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करते हैं, चन्द्र और सूर्य इनके नाम हैं, यह मेरा नील कमलवत् देह है, महासुन्दर श्याम मेघवत् है, महाप्रकाशरूप है, यह मेरे हाथों में पांचजन्य शंख है, जिसकी स्फुरण रूप ध्वनि है, यह क्षीर समुद्र से निकला है, यह नाभिकमल है, जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है और इसमें निवास करता है, जैसे भ्रमर कमल में निवास करता है, ऐसे यह मेरे हाथ में कौमोद की गदा है, सुमेरु के शिखरवत् रत्नों की बनी हुई है, दैत्य दानवों का नाश करने वाली है, ज्वाला के पुञ्जवत् जिसका तेज है, यह मेरे हाथों में महाप्रकाश रूप सुदर्शन चक्र साधुओं को सुख देने वाला है, यह मेरे हाथों

में अग्नि के समूह वाला कुठार है, यह दैत्य रूप वृक्षों का काटने वाला है और साधुओं को आनन्द दायक है। यह मेरे हाथ में शार्ङ्ग धनुष है, महाप्रकाश युत जिसकी ध्वनि है, यह मेरे पीतवर्ण वस्त्र हैं, यह वैजयन्तीमाला है, यह कौस्तुभ मणि मेरे कंठ में है, ऐसा मैं विष्णु देव हूँ, अनन्त जगत् की उत्पत्ति लय हो गयी है। सबके धारण करने वाला मैं हूँ, कई दिन बीत गये हैं, कई होंगे, यह पृथ्वी मेरे चरण हैं, आकाश मेरा शीश है, तीनों लोक मेरा वपु है, दशों दिशाएं मेरा वक्षस्थल हैं, मैं साक्षात् विष्णु हूँ। नील मेघवत् मेरी कान्ति है, गरुड पर आरूढ, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारी मैं हूँ, दुष्टचित्त लोग हमको देखकर भाग जाते हैं, यह सुन्दर शीतल चन्द्रमा की नाईं मेरी कान्ति है। पीतवस्त्र, श्यामवदन गदाधारी हूँ। लक्ष्मी मेरे वक्षस्थल में है, अच्युत रूप विष्णु मैं हूँ। वह कौन है जो मेरे से विरोध करने को समर्थ हो। मैं त्रिलोकी को जलाने में समर्थ हूँ, जो मेरे साथ युद्ध करने को संमुख हो वह स्वयं अपने नाश का कारण है, जैसे अग्नि में पतंग जल मरते हैं, ऐसे मेरा तेज है, जिसकी दीप्ति को कम करने में कोई समर्थ नहीं, मैं विष्णु ईश्वर हूँ। ब्रह्मा इन्द्र यमादिक नित्य मेरी स्तुति करते हैं और तृण, काष्ठ, स्थावर, जंगम जितना यह जगज्जाल है, सबके अन्दर व्यापक रूप हूँ, त्रिलोकी में मैं प्रकाश रूप हूँ, अजन्मा हूँ, भय को नाश कर्ता हूँ, ऐसा मेरा स्वरूप है, उसको मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादविज्ञानवर्णनं नाम एकत्रिंशः सर्गः ।।३१।।

द्वात्रिंशः सर्गः ३२
विविधव्यतिरेकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार प्रह्लाद अपना नारायण स्वरूप बनाकर चिन्तन करने लगा, फिर पूजन के लिये वैष्णवों का चिन्तन

किया, मन में विष्णु भगवान् की दूसरी मूर्ति की कल्पना की, जो कि प्राण पवन सम्पन्न, गरुडारूढ़ धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारो शक्तियों सहित, हाथों में शंख चक्र गदा पद्मधारी विष्णु भगवान् श्याम अंग चार भुजाएँ, शार्ङ्ग धनुष हाथ में लिये महा प्रकाश रूप भगवान् विष्णु की मनोहर मंगल मूर्ति का परिवार सहित भली प्रकार पूजन किया। प्रह्लाद ने भगवान् कमलाधर को रत्नों का अर्घ्य दिया और चन्दन के लेप धूप दीप और नाना प्रकार के विचित्र भूषणों से मंदार कल्पवृक्ष तथा कमलों के विचित्र पुष्पों से रत्नमणियों के गुच्छों से तथा पिस्ता खर्जूर बादाम आदि मेवों से और भक्ष्य भोज्य चोष्य लेह्य आदि चार प्रकार के भोजन से नाना प्रकार के वस्त्रों और भूषणों से पूजन किया, पूजनान्तर अपना आप विष्णु के अर्पण किया। इस प्रकार प्रतिदिन श्रद्धा प्रेम भरे भावों से पूजन करने के कारण प्रह्लाद परम भक्त हुआ। जिस प्रकार यह पूजन किया, इसी प्रकार अन्तःपुर में भी मन की एकाग्रता और प्रेम भक्ति भरे हृदय से पूजन किया। प्रह्लाद की देखा देखी और भी दैत्य मानसी पूजा करने लगे। प्रह्लाद ने उन सबको पूजा का प्रकार समझाकर सिखा दिया। उस पुर में सब दैत्य वैष्णव हो गये। कल्याण मूर्ति विष्णु भक्त हो गये, जैसा राजा होता है ऐसी प्रजा होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, तब यह बात देवलोक में जाकर प्रकट हुई कि दैत्यों ने विष्णु से द्वेष छोड़ दिया है और उनके भक्त हुए हैं, तब देवताओं ने बहुत आश्चर्य माना, इन्द्रादि देवगण सोचने लगे कि यह क्या हुआ? दैत्यों ने विष्णु की भक्ति ग्रहण की है, इनको मिली कैसे? दैत्य कहाँ और विष्णु भक्त कहाँ? ऐसे आश्चर्यवान् होकर दैत्यों की बात कहने के लिये विष्णुजी के पास क्षीरसमुद्र में गये और कहा कि यह क्या बात? हे भगवन्! यह क्या माया पसारी है, जो दैत्य सदा विरोध करते थे, वे तुम्हारे साथ तन्मय हो रहे हैं, कहाँ वह दुर्वृत्ति पर्वतों को चूर्ण करनेहारे दैत्य और कहाँ तुम्हारी भक्ति जो अनेकों जन्मों में भी दुर्लभ है, हे जनार्दन! तेरी भक्ति

कहाँ? और उनकी वृत्ति कहाँ, यह तो अपूर्व बात हुई है दैत्य और विष्णु भक्ति कहाँ? जैसे समय बिना पुष्पों की माला नहीं शोभा पाती, ऐसे पात्र बिना तुम्हारी भक्ति शोभा नहीं पाती। यह हमको सुखदायक प्रतीत नहीं होती, जैसा जैसा कोई होता है ऐसे स्थान में शोभा पाता है, जैसे कांच मे महामणि शोभित नहीं होती, ऐसे ही दैत्यों में तुम्हारी भक्ति शोभा नहीं देती, जिसमें जैसा गुण होता है ऐसा ही उसका स्थान होता है, जो वस्तु जिस स्थान के योग्य हो उसको वहीं रखना चाहिये, अन्यथा कर देने से दुःखदायक होता है। कमलिनी जल में शोभा पाती है, स्थल में नहीं, ऐसे ही कहाँ वह नीच कर्म करने वाले भयानक पापी और कहाँ तेरी आश्चर्य भक्ति, इस लिये आपकी भक्ति दैत्यों में शोभा नहीं पाती। हम इस बात को सहन नहीं कर सकते कि दैत्य लोग विष्णु भक्ति प्राप्त करें।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे विविधव्यतिरको नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः ३३

प्रह्लादष्टकानन्तरं नारायणागमनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार देवता कहने लगे तब माधव आकर ऐसी गंभीर वाणी से बोले—जैसे मेघ मोर को कहे। श्री भगवान् ने कहा—हे देवगण! तुम किसी प्रकार का शोक मत करो, प्रह्लाद मेरा भक्त है, शत्रुओं का नाश कर्ता है, उसका यह जन्म अन्तिम है, जब वह मुक्त होगा, उसका पुर्नजन्म न होगा। हे देवगण! यदि गुणवान् गुणों को त्यागकर दोष ग्रहण करें तो यह काम अनर्थरूप होता है और यदि प्रथम तो गुणों से रहित निर्गुण हो और वह दोषों को त्यागकर गुण ग्रहण करे, शास्त्र मार्ग में विचरे तो वह सुखदायक होता

है, प्रह्लाद की विचित्र चेष्टा तुमको सुखदायक होगी, अब तुम लोग अपने स्थानों को जाओ प्रह्लाद मेरा भक्त है। वसिष्ठजी बोले—हे रामजी इस प्रकार कहकर भगवान् क्षीर समुद्र में अन्तर्धान हो गये। देवता नमस्कार करके अपने स्थान को चले गये और उन्होंने प्रह्लाद के साथ द्वेष भाव छोड़ दिया। बड़ो का चित्त निर्द्वेष हुए देखकर अन्य लोगों के मन भी शान्त हुए, प्रह्लाद प्रतिदिन अपने घर में जनार्दन की मनसा वाचा कर्मणा भक्ति करने लगा। समय पाकर दैत्यों में भक्ति बहुत हो गयी, दैत्य लोग विषय भोग से विरक्त होकर परम विवेकवान् हुए, उन्हें अब सुख साधनों को देखकर आनन्द नहीं किन्तु घृणा होने लगी। अब उन्हें सुन्दरी रमणियों में वह प्रेम नहीं उपजता, जैसे मृग तृष्णा नदी को जानने वाले मृग उसे रमणीय देखकर प्रसन्न नहीं होते, ऐसे ही उन्हें अब दृश्य में प्रीति नहीं उपजती। वह भोगों को रोग कहते हैं, उनमें उनका चित्त अब रागवान् नहीं रहा। परन्तु मुक्ति देनेवाला जो आत्मबोध है, वह उनको अभी नहीं हुआ, मुक्ति सुख के पास पहुँच रहे हैं, परन्तु उन्हें अभी आत्मज्ञान की प्राप्ति न हुई, ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता, भोगों से विरक्त हैं और ईश्वर भक्ति में अनुरक्त हैं, प्रह्लाद की प्रगाढ़ भक्ति पर रीझकर भगवान् श्यामसूर्ति विष्णुदेव पाताल में प्रह्लाद के पूजागृह में प्रकट हुए। भगवान् के प्रकट होते देखकर प्रह्लाद ने बड़ी प्रसन्नता से विशेष पूजा प्रारम्भ की और प्रेम से गद्गद होकर बोले—हे ईश्वर! त्रिलोकी में सुन्दर मूर्ति, सबको धारण करने वाले सम्पूर्ण कलंक मिटानेवाले प्रकाशरूप अशरणों के शरण अजन्मा, अच्युत मैं आपकी शरण हूँ, हे नीलोत्पल कमलों के पर्वत शरत्काल के निरुपम श्यामरूप असंगचित्! मैं तुम्हारी शरण हूँ, हे निमर्लरूप! केले के समान कोमल अंगोंवाले! श्वेतकमल की नाईं श्वेत शंख हाथ में है और नाभि कमल में भ्रमररूप स्थित है। वेदोच्चारण रूप गुनगुनाहट भौंरे के गूंजने सा बोल रहा हूँ, हृदयकमल में विराजनेवाले जल के ईश्वररूप! मैं तुम्हारी शरण

हूँ। हे श्वेतमुख तारागणवत् प्रकाशरूप हैं, हंसतामुख चन्द्रमा के मंडलवत् हैं, हृदयरूप मणि सबका प्रकाशक है, शरत्काल के आकाशवत् निर्मलरूप मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे त्रिभुवन कमलिनियों के प्रकाशक चन्द्रमा! मोहरूप अन्धकार के नाशकर्ता सूर्य! अजड! चिदात्मा! सम्पूर्ण जगत् के कष्ट हरनेवाले! मैं तुम्हारी शरण हूँ, हे नूतन विकसितरूप कमल पुष्प भुषिताङ्ग! स्वर्णवत् पीताम्बरधारिन् महासुन्दर स्वरूप! मैं तुम्हारी शरण हूँ, हे ईश्वर! लीला से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति नाश करने वाले, परमशक्ति शंकरयोगिवत् दृढ़देह मैं तेरी शरण हूँ। हे दामिनीवत् प्रकाशरूप सबको संहारकर जल में बालक रूपधारी वट के नीचे शयन करने हारे मैं तेरी शरण में हूँ। देवतारूप कमलोंके प्रकाश करनेहारे मैं तेरी शरणमें हूँ, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार अनेक गुणों से पूर्ण आठ श्लोक प्रह्लाद ने भगवान् की स्तुति में कहे तब नीलोत्पल वर्ण परमात्मदेव प्रसन्न होकर अपने परम प्रिय अनन्य भक्त प्रह्लाद से इस प्रकार बोले–

इति श्रीयोगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणे उ० प्रह्लादाष्टकानन्तरं
नारायणागमनवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ।।३३।।

चतुस्त्रिंशः सर्गः ३४
प्रह्लादोपदेशवर्णनम् ।

श्री भगवान् बोल–हे गुणनिधि दैत्यकुल के शिरोमणि! अपनी इच्छानुसार जो चाहो मांगो, जन्म मृत्यु के दुःख की शांति चाहते हो तो वही कहो, प्रह्लाद ने कहा–हे सर्व संकल्पों के फलदायक! समस्त जगत् में व्याप्तरूप! जो वस्तु संसार में अति दुर्लभ है वह मुझे शीघ्र कहो और दो। भगवान् बोले–सकल भ्रमों के नाश करने वाले ब्रह्मज्ञान से ही विश्रान्ति होती है, उसके लिये आत्मविवेक चाहिये। आत्मविवेक तुम्हें

होगा, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार दैत्यन्द्र को कहकर विष्णुभगवान् अन्तर्धान हो गये, समुद्र से गुरगुर करते तरंग उठते और गुप्त हो जाते, ऐसे विष्णुजी को देखकर प्रह्लाद ने पुष्पाजंलि दी, पूजा करके श्रेष्ठ आसन बिछाया, उस पर आप पद्मासन धारण किये बैठे, विधिपूर्वक उत्तम शास्त्रों का पाठ करने लगे, पाठ करके चिन्तन किया कि मुझे विष्णु भगवान् ने क्या कहा है, यह कहा था कि तुझको विवेक होगा। संसार समुद्र के तरने के लिये शीघ्र ही विचार करूँ, इस संसार आडम्बर में कौन हूँ जो बोलता हूँ, स्थित हूँ, यह जन्तु तो मैं नहीं, यह असत्य उपजा है, जड़रूप पवन से स्फुरण होता हूँ वह मैं कैसे हूँ, यह देह भी मैं नहीं हूँ, क्षण क्षण में काल में लीन होता है। यह जड़ रूप है, यह श्रवण सुनते हैं शब्द शून्य से उत्पन्न हुआ है, वह भी मैं नहीं, त्वक् इन्द्रिय भी मैं नहीं, इसका क्षण क्षण में विनाश स्वभाव है, प्राप्त हुआ न हुआ, यह इष्ट है यह अनिष्ट है, यह आप जड़ है, इसका ज्ञाता चेतन तत्व है, चेतन के प्रमाद से यह विषय उपलब्ध होते हैं, इसलिये में त्वक् इन्द्रिय नहीं, यह स्पर्श विषय जड़ात्मक है और यह चंचलरूप जिह्वा इन्द्रिय तुच्छ है, इसके अग्रभाग में रस ग्रहण करने की शक्ति है, रस भी आत्मसत्ता से उपलब्ध होता है, आप जड़ है, इसलिये यह जड़रूप जिह्वा और रस में भेद नहीं और यह जो दृश्य के दर्शन में ही मस्त विनाशरूप नेत्र है वह मैं नहीं और न मैं इनका विषयरूप हूँ। यह जड़ है और यह जो नासिका पृथ्वी का अंश है वह केवल आत्मा के आधार हैं और आप जड़ है, इसका ज्ञाता चेतन है इसलिये न मैं नासिका हूँ न गंध हूँ, मैं अहं मम से रहित हूँ, मन के मनन से रहित शान्तरूप हूँ और यह पाँच इन्द्रियें मुझमें नहीं, मैं शुद्ध चेतनरूप हूँ, कलना कलंक से रहित हूँ, मैं चित्त से रहित चिन्मात्र हूँ, सबका प्रकाशक सबके अन्दर बाहिर व्यापक हूँ, निःसंकल्प निर्मल शान्तरूप हूँ, आश्चर्य है अब मुझको अपना स्वरूप स्मरण आता है, प्रकाशरूप चेतन अनुभव अद्वैत अपने अनुभव चेतन करके स्थित हूँ, सूर्य घट पटादिक सब पदार्थों में प्रकाशित होता है, जैसे उत्तम तेज दीपक से

भासे ऐसे चेतन अनुभव से, इन्द्रियों की वृत्ति स्फुरणरूप होती है, जैसे तेज से चिनगारे स्फुरणरूप होते हैं, ऐसे सर्वज्ञ अनुभव सत्ता से मन की मननरूप शक्ति फुरती है, जैसे सूर्य के तेज से मृगतृष्णा की नदी मरुस्थल में फुरती है, ऐसे अनुभव सत्ता से पदार्थ भासते हैं, जैसे दीपक में शुक्लादिरंग भासते हैं। ऐसे यह पदार्थों में अहं आदिक पदार्थ भासते हैं, जाग्रतवत् सब पदार्थों का प्रकाशक है, सबको अनुभव करके भासता है। सबके अन्दर आत्मभाव करके स्थित है, जैसे बीज में अंकुर स्थित होता है, ऐसे चेतनरूप दीपक से प्रकाश से विकल्प रूप पदार्थों की शक्ति भासती है, उष्णरूप सूर्य है और शीतलरूप चन्द्रमा है, घनरूप पर्वत है, द्रवतारूप जल हैं, इस प्रकार अनुभव सत्ता से पदार्थ प्रकट होते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाश से घट पटादिक होते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, इन सबके कारणरूप जगत् में स्थित हैं और इनका कारण अनुभव तत्व है, आदि अंत से रहित है और सब कारणों के कारण है, जैसे बर्फ से शीतलता उपजती है, ऐसे अनुभव से जगत् उदय होता है। चित्त, चैत्य, दृश्य दर्शन कलना से रहित सत्ता प्रकाशरूप आत्मा मेरा मुझको नमस्कार है। इसमें सब भूतों की उत्पत्ति स्थिति होकर फिर लय होती है, वह निर्विकल्प चेतन सर्व का आश्रयरूप आत्मा है, जो इस चित्त से अन्तःकल्पित्‌रूप हो जाता है, आत्मा से रहित सत्य भी असत्य हो जाता है, जो चेतन संवित् में कल्पितरूप होता है, वह पदार्थ अपने स्वरूप को पाता है कि यह ऐसे है और जो चित्तसंवित् में कल्पितरूप नहीं होता, वह सत्य भी असत्यरूप हो जाता है, यह घट पटादि पदार्थ का समूह भासता है, वह विस्तृत रूप चिदाकाश दर्पण में प्रतिबिंबित होता है, वह अनुभव सत्ता सर्व भूतों का आदर्शरूप है, जिनका चित्त नष्ट हो जाता है, उन संत पुरुषों को ऐसे दृढ भाव प्राप्त है, परमआकाशरूप आत्मा में अभ्यास से तन्मय हो जाता है, अनुभव सत्ता पदार्थों के वृद्ध होने से वृद्ध नहीं होती है और नष्ट होने से नष्ट नहीं होती, पदार्थों के भाव अभाव में सत्ता सामान्य ज्यों की त्यों है जैसे सूर्य के प्रतिबिंब में घट सत्य हो अथवा असत्य हो सूर्य ज्यों का त्यों हैं, संसाररूप

नाना प्रकार की विचित्र रचना है, वह ऐसे आत्मा में स्थित है, जैसे विचित्र गुच्छोंवाले वृक्षों की पंक्ति की विचित्र रचना पर्वत पर स्थित होती है, ऐसे संसाररूप दृश्य नाना प्रकार की मंजरियों को धारण करने वाला आत्मसत्ता वृक्ष है, जितने भूतगण त्रिलोक के उदर में बर्तते हैं, वह आत्मा के साथ अभिन्नरूप हैं, ब्रह्मा से लेकर तृणतक का प्रकाशक आत्मा है, यह अनुभव सत्ता आदि अन्त से रहित है, सब रूप जिसका आकार है, स्थावर जंगम सब जगत् भूतजात अन्तर अनुभव रूप स्थित है। वह एक अनुभव आत्मा मैं हूँ, द्रष्टा दर्शन दृश्य सर्वरूप आत्मा मैं हूँ, सहस्र नेत्र सहस्र हस्त मेरे हैं, मैं चिदाकाश रूप हूँ। सूर्य देह से आकाश में विचरता हूँ पवन देह से मैं बहता हूँ, वायु वाहन पर आरूढ हूँ और मैं विष्णुरूप होकर शंख चक्र गदा पद्म धारी हूँ। सर्व सौभाग्य देखनेवाला हूँ, सब दैत्यों का नाशक मैं ही हूँ, नाभिकमल से उत्पन्न हुआ पद्मासन से निर्विकल्प समाधिस्थ ब्रह्मा मैं हूँ, मन वृत्ति रूप को प्राप्त हुआ, मैंने ही त्रिनेत्र आकार लिया है, गौरी मेरी अर्धाङ्गिनी है, सृष्टि के सब अंगों का संहार करता हूँ, जैसे कोई अपने अंगों को संकुचित कर लेता है ऐसे मैं संहार करता हूँ, त्रिलोकी रूप नगरीकी मैं इन्द्र रूप होकर उसका पालन करता हूँ और कर्मों के अनुसार जैसा कोई तप करे ऐसा फल देता हूँ। तृण वल्ली में फलों के गुच्छों में रस रूप होकर स्थित हूँ। मैं ही उत्पत्तिकर्ता हूँ, मैं ही चेतनरूप हूँ, जगदाडम्बर लीला के निमित्त विस्तार रूप मैंने ही किया है, जैसे मृत्तिका के खिलौने बालक रच लेता है, ऐसे और मुझमें सर्व कर्म अर्पण कर देने से शान्ति को प्राप्त होता है, मुझ से रहित कुछ वस्तु नहीं, सत्ता स्वरूप मैं आदर्श हूँ। सब पदार्थ मुझमें प्रतिबिंबित होते हैं, तब यह असत्यरूप भी सत्य सत्य प्रतीत होता है, इसलिये मुझसे भिन्न भिन्न कुछ नहीं, पुष्पों में सुगंधि मैं हूँ, पत्रों में सुन्दरता छबि मैं हूँ, पुरुष में अनुभव मैं हूं, स्थावर जंगमरूप जो जगत् दृष्टि आता है सब मैं हूँ, अग्नि में उष्णता बर्फ में शीतलता मैं हूँ, जैसे काष्ठ में अग्नि है ऐसे सब में स्थित हूँ, सब पदार्थोंमे मैं परमात्मा व्यापक हूँ। सबको अपनी इच्छा से उपजाता हूँ, जैसे

दूध में घृत शक्ति, जल में रस शक्ति, सूर्य में प्रकाश शक्ति है, ऐसे चेतन स्वरूप मैं सब पदार्थों में स्थित हूँ, त्रिकाल का जगत् मुझमें स्थित है, वह मैं चित्त के उपचार फुरने से रहित शुद्ध स्वरूप हूँ, सबका भरण पोषण करने वाला हूँ, मैं ही विराट् राजा होकर स्थित हुआ हूँ, त्रिलोकी का राज्य मुझको अपूर्व प्राप्त हुआ है, कैसा राज्य है! शस्त्रों बिना देव के दल बिना, निरिच्छित विस्तृत राज्य प्राप्ति है, महान् आश्चर्य है, मैं बड़ा विस्तृत रूप हूँ, मैं अपने आप में समाता नहीं, जैसे कल्पान्त के वायु से उछला समुद्र आप में नहीं समाता, ऐसे मैं अनन्तरूप आत्मा अपनी इच्छा से आप प्रकाशित होता हूँ। जैसे क्षीरसमुद्र अपनी उज्ज्वलता से शोभा पाता है, ऐसे मैं अपने आप से सुशोभित हूँ। यह जगत् रूप मटकी अति अल्परूप है, जैसे जल में हस्ती नहीं समाता, ऐसे मैं अपने आप में विस्तृतरूप से जगत् में नहीं समाता। कोटि ब्रह्माण्ड में व्यापक हूँ, ब्रह्मलोक से पर जो तत्वों का अन्त आता है उससे भी पर मैं अनन्तरूप हूँ, यह मैं हूँ, यह मैं नहीं, यह मुझमें निर्बलता थी, वह तुच्छ रूप है, मैं तो आदि अन्त से रहित चेतन आकाश हूँ। मेरे में परिच्छिन्नता मिथ्या भासती थी। मैं तू यह वह आदिक मिथ्या भ्रम है। देह क्या पर क्या और अपर क्या, मैं तो सर्व व्यापक चेतन हूँ, तत्व हूँ, मेरे पितामह बुद्धिहीन थे जो ऐसे ऐश्वर्य को त्यागकर तुच्छ ऐश्वर्य आसक्त हुए, कहां यह महादृष्टि सर्व का कर्ता ब्रह्मवपु और कहां वह संसार भ्रम का राज्य दुःखदायक अनित्यरूप सुखभोग! अनंत सुख परम उपशम स्वभाव शुद्ध चेतन दृष्टि अब मुझमें हुई है। सब भाव पदार्थों में चैत्य से रहित मैं चेतन आत्मस्थित हूँ, अब मुझको नमस्कार है। मेरी जय हुई है, जीर्णरूप संसार भ्रम से निकला हूँ। पाने योग्य आत्मपद प्राप्त किया है, जीवन सार्थक हुआ, ऐसा परमोत्तम शमराज्य प्राप्त होने पर संसार के चक्रवर्ती पद को अधम जानता है, वृथा ही निरन्तर बोधरूप परमानन्द को त्यागकर दुःखदायक व्यवहार में रमते हैं। काष्ठ जल मट्टी संयुक्त पृथ्वी को पाकर जो फूले हुए हैं वे भूले हुए हैं। यह द्रव्य ऐश्वर्य अविद्यारूप है और अविद्या

से उपजा है और अविद्यारूप ही इसका बढ़ना है, इसमें गुण क्या है। जिसके निमित्त यत्न करते हैं, इस जगत् रूप मढ़ी में हिरण्यकशिपु ने कितने वर्ष राज्यसुख भोगा था, परन्तु उसको उपशम प्राप्त नहीं हुआ, उसने एक जगत् का राज्य सुख भोगा था, सौ जगत् के राज्य सुख में भी शान्ति नहीं प्राप्त होती। उसमें कुछ स्वाद नहीं, वह समता रूप आनन्द उसे कभी नहीं प्राप्त होता, जब उस आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये यत्न होगा तब उसकी प्राप्ति होगी, अन्यथा कभी नहीं। जिस पुरुष को महान् ऐश्वर्य और इन्द्रियों के सर्व सुख प्राप्त हुए हों, परन्तु वह समता सुख से रहित है, तब जानियें कि उसको कुछ ऐश्वर्य सुख प्राप्त नहीं हुआ और जिसको कुछ ऐश्वर्य सुख प्राप्त नहीं हुआ परन्तु वह समता सुख संयुक्त है तो जान लीजिये कि उसको सब कुछ प्राप्त हुआ है। परम अमृत से वह सम्पन्न है, उसको अखण्ड आत्मसुख मिला है, वह परम सुख को प्राप्त हुआ है, वह आनन्दरूप है और जो अखंडरूप को त्यागकर परिच्छिन्नता को प्राप्त है, वह मूढ है और जो पंडित ज्ञानवान् हैं, वह परिच्छिन्नता में प्रीति नहीं करता, जैसे ऊँट दूसरे पदार्थों को त्यागकर कंटकों के पास दौड़ता है और पशु नहीं जाता। मूढ़ के बिना कौन ऐसा अज्ञानी है जो आत्मसुखको त्यागकर जले हुए राज्यसुख में रमता है, अमृत को त्यागकर कौन कंटक नीम का पान करता है, मेरे पूर्वज मूढ़ थे, जो इस परम अमृत को त्यागकर असार राज्य में प्रीतिमान् हुए, कहां पुष्पफल मनोहर नन्दनवन भूमि और कहां जले हुए मरुस्थल की कठोर पृथ्वी, ऐसेही कहां यह परम शान्तरूप बोध दृष्टि और कहां यह भोगों में सत्य बुद्धि? इसलिये त्रिलोकी भर में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी मैं इच्छा करूँ। सब चेतन स्वरूप है, अनुभवकर्ता चेतन सत्व स्वच्छ, समभाव, निर्विकार है, सर्वदा सब में सब ओर से स्थित है, जैसे है ऐसे पाया जाता है, ज्ञानवान् को प्रत्यक्ष है, सूर्य में प्रकाश शक्ति है, चन्द्रमा में अमृत स्रवण की शक्ति है, इन्द्र में त्रैलोक्य पालन की शक्ति है। ब्रह्मा में महाशक्ति है, सब ओर से पूर्ण लक्ष्मी शक्ति विष्णुजी की है, बलवत् शक्ति पवन में है, दाहक शक्ति अग्नि में है, रस

शक्ति जल में है और मौन सहित महातप की सिद्धता और विद्या शक्ति बृहस्पति में है। देवताओं में विमानों पर आरूढ होकर आकाशमार्ग से गमन करने की शक्ति है, पर्वतों में स्थिरता शक्ति, वसन्तऋतु में पुष्प शक्ति, सर्वकाल में मेघों की शान्ति शक्ति, यक्षों में ममत्व शक्ति, आकाश में निर्लेपता शक्ति, बर्फ में शीतलता शक्ति, ज्येष्ठ आषाढ में तपने की शक्ति है, इत्यादि देशकाल क्रिया रूप नाना प्रकार के आकार विकार त्रिकाल के उदर में स्थित हैं, वह सब शक्ति स्वच्छ निर्विकार चेतन की है, कलनारूप कलंक से रहित है, वही इस प्रकार हो भासता है, वह आत्मतत्व समता से प्रत्येक पदार्थ में व्यापक हो रहा है, जैसे सूर्य का प्रकाश सब ओर से समान उदय होता है, ऐसे सब देश पदार्थों का भंडार सबका आश्रयभूत है, त्रिकाल उसमें कल्पित रूप होते है, जैसा अनुभव उसमें होता है, ऐसा तत्काल हो भासता है, जैसे जैसे चेतनतत्व में देशकाल क्रिया द्रव्य का फुरना होता है, ऐसा ऐसा हो भासता है, आत्मा में त्रिकाल सम प्रतिभा स्फुरण हुई है, उसमें फिर अनन्तकाल की प्रतिभा हुई है। जब त्रिकाल का अनुभव होता है तब सब ही सम भासता है, भाव पदार्थों में जो पदार्थ हैं वह ईश्वर के हैं, उन भाव पदार्थों को त्यागकर अभाव की भावना करनी, उससे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, संतुष्टता प्राप्त होती है। इसलिये त्रिकाल को मत देखो, वह बन्धनरूप है, त्रिकाल से रहित जो चेतन तत्व है, उसको देखने से, विभाग कल्पना काल का अभाव एक शम आत्मा शेष रहता है, उसको वाणी वश नहीं कर सकती, असत्य की नाईं जो निरन्तर स्थित है, उसकी प्राप्ति होती है, अनामय सिद्धान्त है, जो शून्यवादी की नाईं स्थित होता है, निष्किंचन आत्मा ब्रह्म होती है अथवा सर्वरूप परम उपशम में लीन होती है और जिसका अन्तःकरण मलिन है, संकल्प से असम्यग् दर्शी है। उसको ज्यों का त्यों नहीं भासता, जगत् भासता है और जिनकी इच्छा सात्विक हुई है, परम पद का अभ्यास करते हैं, उनको आत्मसाक्षात्कार होता है और जो जगत् के किसी पदार्थ की इच्छा करते हैं और किसी का त्याग किया चाहते हैं,

हेयोपादेयरूप पाश में बन्धे हुए हैं, वे परमपद के पाने में समर्थ नहीं होते, जैसे बन्धन में पड़ा हुआ पक्षी आकाश मार्ग में उड़ने को समर्थ नहीं, इसी प्रकार जो पुरुष संकल्प जाल में फँसे हैं, वे मोह में गिर पड़ते हैं, जैसे अन्धा गिर पड़ता है, विषय गर्त में गिरे हुए वे लोग अच्युत पदवी को प्राप्त नहीं होते, मेरे पूर्वज अज्ञानी थे, कितनी बार पृथ्वी पर हो होकर लीन हो गये परन्तु परम तत्व को न जान पाये, भोगों की वाञ्छा जो कि दुःखरूप है, अज्ञानी लोग कहते हैं, उसके कारण भाव अभाव रूप अन्धकूप में गिरकर नष्ट हो जाते हैं, जिसमें राग द्वेष का भाव विद्यमान है, वह बन्धन में है, जैसे पृथ्वी में कीट मग्न होते हैं, वह जीव उनके तुल्य है और मृग तृष्णारूप जगत् के पदार्थों में जिनकी ग्रहण त्याग की बुद्धि शान्त हुई है, वे पुरुष जीते हैं, अन्य सब मृतक तुल्य हैं, निर्मल अविच्छिन्न चन्द्रवत् चैतन्य शीतलता कहाँ? और ग्रीष्म काल कलंक युक्त चित्त की अवस्था कहाँ? अब मेरी आत्मा को नमस्कार है, कैसा आत्मा है, जो अविच्छिन्न प्रकाश है, प्रकाश और तम दोनों का प्रकाशरूप है, हे चिदात्मदेव! मुझे चिर काल से प्राप्त हुए हो, परमानन्द हुआ है, जो कि विकल्परूप समुद्र से मेरा उद्धार किया है, जो तू है वह मैं हूँ, मैं हूँ, वह तू है, तुझको नमस्कार है, अनन्त शिव आत्म तत्व का चन्द्रमा संकल्प विकल्प कला के नष्ट होने पर वह निर्मल सदा उदितरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ।।३४।।

पंचत्रिंशः सर्गः ३५

आत्मलाभचिन्तनवर्णनम् ।

प्रह्लादजी बोले—ओं यह एकाक्षर ब्रह्म मैं हूँ, निर्विकार हूँ, जो कुछ जगत् है आत्मरूप है, सत्य असत्य से अतीत है, चेतन स्वरूप है, सब जीवों के अन्तर है, सूर्यादि का प्रकाश दीपक है, अग्नि आदि का उष्ण कर्ता यही है, चन्द्रमा में शीतलता और अमृतस्रवण आत्मा से ही है,

इन्द्रियों के भोगों का भोक्ता अनुभव रूप यही है। राजा के सामने बैठा हुआ भी जो नहीं बैठा हुआ, खड़ा हुआ भी कभी खड़ा नहीं हुआ, चलता हुआ भी कभी नहीं चलता, व्यवहार करता हूँ, सदा शान्तरूप हूँ, कर्ता हुआ भी कर्तृत्व के कारण किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, तीनों कालों में सम रूप हूँ, सर्वदा सर्व अवस्था में पदार्थों के उपजने और मिटने में सदा ज्यों का त्यों हूँ, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सर्व जगदावृत्त आत्मतत्व स्थित है, पवन जो कि स्पन्द रूप है, उससे भी मैं अति सूक्ष्म स्पंद रूप हूँ, पर्वत जैसे अचल पदार्थ से भी मैं अचल हूँ, आकाश से भी अति निर्लेप हूँ, मन को भी आत्मा चलाती है, जैसे पत्तों को पवन चलाता है, इन्द्रियों को आत्मा घुमाता है, जैसे असवार घोड़े को घुमाता है, अर्थात् मन इन्द्रियादिको को भी मैं ही सचेष्ट करता हूँ और समर्थ चक्रवर्ती राजा की नाईं भोग भोगता हूँ और अपने ऐश्वर्य से आप ही शोभा पाता है, संसार रूप समुद्र में जरा–मरण रूप जल है, उसको पार करनेवाली आत्मा है, सबसे सुलभ है, अपने आप से जाना जाता है, बांधव की नाईं प्राप्त होता है, शरीररूपी कमलों के छिद्र हैं, उन सबका भ्रमर है, खैंचे बुलाये बिना सुलभ प्राप्त होता है, जो इसको किंचिन्मात्र भी बुलाता है तब उसी क्षण में संमुख होता है; इसमें कोई संकल्प विकल्प नहीं, निष्कलंक, परम संपत्तिवान् सदा स्वस्थरूप है, रस दायक पदार्थों में जैसे रस है, स्वाद है, जैसे पुष्प में सुगन्धि है, जैसे तिलों में तेल है, ऐसे परमात्म देव देहों में स्थित है, तो भी अविचार वश से जाना नहीं जाता, जैसे चिरकाल से आया हुआ बांधव अपने आगे आकर खड़ा होता है, परन्तु पहिचाना नहीं जाता। ऐसे जब विचार उदय होता है, तब ऐसे आत्मा परमेश्वर को जान लेता है, जैसे किसी समय प्रियतम बान्धव के पाने से आनन्द उदय होता है, सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं, जितनी भी दुष्ट चेष्टा हो, नहीं रहती। चारों तरफ से सब प्रकार के पाश बंधन कट जाते हैं, सब शत्रुओं का नाश हो जाता है, आशाओं का स्फुरण बन्द हो जाता है, जैसे पर्वत को चूहा तोड़

नहीं सकता, उस पर परमात्मदेव को देखने से सब कुछ देखा जैसा हो जाता है और उनके गुण श्रवण से सब कुछ सुना जैसा हो जाता है, उसके स्पर्श किये से सबका स्पर्श हो जाता है, उसकी स्थिति से सर्व जगत् स्थित भासता है, यह जाग्रत है, संसार की ओर से स्वप्न है, उसी जाग्रत से अज्ञान नष्ट हो जाता है, जितनी आपत्ति है उसका कष्ट दूर होता है, आत्मा के प्राप्त होने पर आत्ममय हो जाता है, वह विस्तृतरूप आत्मा दीपकवत् साक्षीभूत होता है, जगत् की स्थिति में भोगों में राग नहीं रहा, सब ओर आत्मतत्व भासता है, अन्त शांत रूप सबको अनुभव करनेवाला सब देहों में मैं स्थित हूँ, जैसे मिर्च में तीक्ष्णता स्थित है, ऐसे सब जगत् के अन्दर बाहर व्याप्त हो रहा हूँ, जितने जगत् के पदार्थ भासते हैं, सब में ईश्वर रूप सत्ता सामान्य स्थित है, आकाश में शून्यतारूप वायु में स्पन्दता रूप, तेज में प्रकाशरूप, जल में रस, पृथ्वी में कठोरता, चन्द्रमा में शीतलता है, ऐसे सब जगत् अनुस्यूत एक आत्मतत्व ही व्याप्त हो रहा है, जैसे बर्फ में श्वेतता, पुष्पों में गंध होती है, ऐसे ही सब देहों में आत्मा व्यापक है, जैसे सर्वगत काल है, सर्वव्यापक आकाश है, ऐसे सब जगत् आत्मा व्यापक है, जैसे राजा की प्रभुता सर्वत्र होती है, मुझसे भिन्न और कलना कोई नहीं, जैसे धूलि के कण आकाश को स्पर्श नहीं कर सकते और कमलों को जल स्पर्श नहीं कर सकता, जैसे पाषाण को स्फुरण भ्रम स्पर्श नहीं करता, ऐसे मेरे साथ किसी का सम्बन्ध नहीं स्पर्श करता। सुख दुःख का सम्बन्ध देह को होता है, यदि देह चिरकाल तक रहे अथवा अभी नष्ट हो, तो मुझको लाभ हानि कुछ नहीं, जैसे दीपक की प्रभा संसार में रस्सी से बान्धी नहीं जाती, ऐसे आत्मा किसी से ढका नहीं जाता, सर्वथा बन्धन रहित है, जैसे आकाश किसी से बाँधा नहीं जाता और मन किसी से रोका नहीं जाता, ऐसे परमात्मा का देह इंद्रिय का सम्बन्ध वास्तव से नहीं होता। यदि शरीर शत खंड हो जाय तो भी आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे घट फूटने से दूध आदिक पदार्थ नहीं रहता, परन्तु आकाश कहीं नहीं जाता, ज्यों का त्यों रहता है, ऐसे

देह के नाश होने से प्राण निकल जाता है, आत्मा का कुछ नाश नहीं होता ओर पिशाच की नाईं उदय होकर भासता है। मन है नाम जिसका इस मन से जगत् भासा है, उसमें जड शरीर के नाश निश्चय हुआ है, हमारा क्या नाश होता है! दुःख सुख से वासना जिसके मन से नाश होती है, वह भोगों से निवृत्त सुख सम्पन्न होता है, अज्ञान से भोगों में प्रवृत्त दुःख पाता है, यह महान् आश्चर्य है, आत्मा के अज्ञान से मूढ़ दुःख पाते हैं, अब मैंने आत्मतत्व को देखा है, उससे मेरा भ्रम शान्त हो गया है, कुछ भी किसीसे मुझको क्षोभ नहीं, न कुछ भोगों के ग्रहण करने की इच्छा है, न त्याग की वांछा है, जो जाये वह जाये, जो आये वह आये, न मुझको देहादिक सुख की अपेक्षा है, न दुःख निवृत्ति की आकांक्षा है, सुख दुःख आते रहें, मैं एक रस चिदानन्द स्वरूप हूं, देह में वासना करने से नाना प्रकार की वासना उपजती है वह देह भ्रम मेरा नष्ट हो गया है, यह वासना नहीं फुरती, इतने काल पर्यन्त मुझको अज्ञान रूप शत्रु ने कष्ट में डाल रक्खा था, अब मैंने आपको जाना है, अब इसको मैं चूर्ण करता हूं, इस शरीररूप वृक्ष में अहंकाररूप पिशाच था, उसको मैंने परम बोधरूप मंत्र से दूर किया है, इस शरीररूप वृक्ष से अज्ञानरूप पिशाच नष्ट हुआ है, इससे मैं पवित्र हुआ हूं, प्रफुल्लित वृक्षवत् शोभा पाता हूं। मेरी मोहरूप दृष्टि शान्त हुई है, दुःख सब नष्ट हुए हैं, मुझे विवेकरूप धन प्राप्त हुआ है, अब मैं परम ईश्वररूप होकर स्थित हुआ हूं, जो कुछ जानने योग्य होता है वह जाना है और जो कुछ देखने योग्य था वह देखा है, मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ, जिसको पाने से कुछ पाने योग्य नहीं रहता मुझे आत्म साक्षात्कार हुआ है। अनेक रस विषयरूप सर्प मुझको त्याग गये हैं, मोहरूप कुहिड़ का नाश हुआ है, इच्छारूप मृगतृष्णा शान्त हो गयी है, रागद्वेष धूलि से रहित सब ओर से निर्मल हुआ हूं, उपशमरूप वृक्ष से शीतल हुआ हूं, सब ओर से विस्तृत रूप को प्राप्त हुआ हूं, सर्वथा उचित परम परमार्थरूप उस परमात्म देव को ज्ञान प्राप्त हुआ हूं, अब प्रकट रूप से देखा है कि अहंकार अधोगति का कारण

है इसलिये उसका त्याग किया है, अहंकारवश से आत्मस्वरूप की विस्मृति हुई थी, अब साक्षात्कार हुआ है, इन्द्रियरूप गर्त में मैं गिरा था, रागद्वेषरूप सर्पों से दुःख पाता और मृत्यु को प्राप्त होकर अनेक स्थानों में रहा, सुख को पाने की आशा में डूबा, वासनारूप जाल में फंसा, दुःखरूप दावाग्नि में जला, आशारूप फांसी से बंधा हुआ कई बार जन्ममरण को प्रांप्त हुआ था, अहंकार के वश होने पर ही जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे—रात को पिशाच दिखाई और अधीर कर दे, ऐसे ही मुझको अहंकार ने किया था, अब हे परमात्मरूप! आपने विष्णुरूप धारण करके मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा करते हुए, विवेक का उपदेश किया है और जगाया है, हे देव! ईश्वर! तुम्हारे बोध से अंहकार रूप राक्षस का नाश हुआ है, हे विभो! उसको मैं नहीं देखता, जैसे दीपक से तम नहीं भासता, अहंकार रूप यक्ष था और मन में वासना थी वह सब नष्ट हुए हैं अब मैं नहीं जानता कि कहां गये, जैसे दीपक निर्वाण होता है, तब नहीं जाना जा सकता कि प्रकाश कहां गया? हे ईश्वर! तुम्हारे दर्शन से मेरा अहं भाव नष्ट हुआ है, ऐसे सूर्य के उदय होने से चोर का भय मिट जाता है, ऐसे देहरूप रात्रि में अहंकार रूप पिशाच उठा था, वह अब नष्ट हो चुका है, अब मैं परम स्वस्थ हुआ हूं, जैसे वानरहित वृक्ष स्वस्थ होता है, ऐसे परम निर्वाण पद को प्राप्त हुआ हूँ, शम शान्त बोध में जगा हूं, बहुत देर के बाद चोरों से अब छूटा हूं, मेरा हृदय शीतल हुआ है, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो गयी है, जैसे जल से पर्वत की तपश मिट जाती है और वर्षा से शीतलता प्राप्त होती है, ऐसे विवेकरूप वर्षा से अहंकाररूप तप्तता दूर हो गयी है, अब मोह कहां? और दुःख कहां? आशारूप स्वर्ग कहां? और नरक कहां? बध और मोक्ष कहां? अहंकार के होने से सब पदार्थ भासते हैं, अहंकार के न रहने से इस बात का अभाव हो जाता है जैसे दीवार पर मूर्ति लिखी जाती है, आकाश पर नहीं लिखी जाती, ऐसे अहंकार संयुक्त जो चेतन है वह नहीं शोभा पाता, सुख दुःखादिक का पात्र होता है, जैसे मलिन वस्त्र पर केसर का रंग नहीं

शोभा पाता, ऐसे उसमें (साहंकार चेतन में) ज्ञान शोभा नहीं देता, जब अहंकार रूप मेघ का अभाव हो तब तृष्णारूप कुहिड का भी अभाव हो जाता है, शरत्काल के आकाशवत् स्वच्छ चित्त रहता है निरहंकारता जल है, जिसमें मैं आनन्दमय सरोवर हूं, और प्रसन्नता रूप कमलों से सुशोभित हूं, हे आत्मन्! तुमको नमस्कार है, आत्मरूप समुद्र है उस में इन्द्रिय रूप नक्र (तंदुए) और बडवाग्नि यह दोनों नहीं हैं, उस मुझ आत्म समुद्र को नमस्कार है, जिस पर से अहंकार रूप मेघ उड़ गये हैं, और जहां दावाग्नि के शान्त होने से तपस का नाम कहीं ऐसा आत्मानन्द रूप पर्वत है, ऐसे आनन्द के आश्रय स्थान पर मैंने विश्राम पाया है, हे देव! तुझको नमस्कार है, विकसित आनन्द रूप कमलों से शान्त हुए चित्तरूप तरंगोवाला मानस सरोवर आत्मा मैं हूं, मुझको नमस्कार है, हृदयरूप कमलों से भरे मानस सरोवर पर विश्राम करनेवाले संवित् पंखधारी आत्मरूप हंस! तुझको नमस्कार है, काल कलना से रहित निष्कलंक सद उदित रूप सब ओर से पूर्ण शान्त आत्मन्! तुझको नमस्कार है, सदा उदित शीतल हृदय तमोहर्ता सर्व व्यापक मैं हूं, परन्तु अज्ञान से अदृष्ट हुआ था, उस चेतन सूर्य को नमस्कार है, मन के मनन से जो उत्पन्न हुए थे, वे अब शान्त हुए हैं, मन को मन से अहं को अहं से काटने पर जो शेष रहे वह मैं हूं, मेरी जय हो, भाव रूप दृश्य पदार्थों को आत्मभाव से काटने पर तृष्णा को अतृष्णा द्वारा कटवाने पर अनात्म वस्तु को आत्मविचार द्वारा नष्ट करके ज्ञान से ज्ञेय को प्राप्त कर मैं अब निरहंकार पद को प्राप्त हुआ हूं, भाव अभाव क्रियाएं नष्ट हो गयी हैं, मैं अब केवल स्वरूप स्थित हूं, निर्भय निरहंकार निर्मल निस्पंद शुद्धात्मा हूं, मेरा शरीर जीव की नाईं स्थित है, लीला से मन ने अहंकार को जीता है, परम उपशम को प्राप्त हुआ हूं, मुझको परम शान्ति प्राप्त हुई है, मोहरूप वेताल शान्त हुआ है, अहंकार रूप राक्षस नष्ट हुआ है, वासना रूप कुत्सित भूमिका से मुक्त विगतज्वर हुआ हूं, तृष्णा रूप जेवरी (रस्सी) की गांठों से देह पिंजरासा बना था, उसमें अहंकार पक्षी फंसा

था, वह तृष्णारूप जेवरी विवेक शस्त्र से काटी है, अब पता नहीं शरीर रूप पिंजरे से अहंकार पक्षी कहाँ निकल गया अहंकार पक्षी अज्ञान वृक्ष पर रहता था पता नहीं कहाँ गया, दुराशारूप दुर्मति और भोगरूप भस्म ने दृष्टि दूषित कर दी थी और वासना से हम मर चुके थे, इतने समय तक हम चित्त की भूमिका में मिथ्या अहंकार को प्राप्त हुए थे अब मैं उत्पन्न हुआ हूं, और आज ही मेरी बड़ी शोभा बढ़ी है, अहंकार रूप महामेघ था वह अब नष्ट हुआ है उसमें तृष्णा रूप समता थी वह नष्ट हुई है, निर्मल आकाशवत् शोभा पाता हूं, अब मैंने आत्मा को देखा है, स्वरूप को प्राप्त हुआ हूं, अनुभव रूप सदा प्राप्त है, प्रभुता के आगे अज्ञान अल्प रूप है, कैसा है, निस्पंद गति मनन रूप इच्छा से रहित निरिच्छित, निरहंकार, जिससे रजनी रूप राग दूर हुआ है और विगतज्वर कौतुक से रहित, तथा मन जिससे शान्त हुआ है, जिससे दीर्घ दुःख देनेवाली महा आपत्तियाँ क्षीण हुई हैं, ऐसा अद्वैत महेश्वर चित्त से रहित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे आत्मलाभचिन्तनं नाम
पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः ३६

प्रह्लादोपाख्यानेसंस्तववर्णनम् ।

प्रह्लाद बोले– हे महात्मा पुरुष! तुझको नमस्कार है, तू आत्मा है, सर्वपद से अतीत है, चिरकालानन्तर मुझे स्मृति हुई है, परम कल्याण हुआ है, आपकी प्राप्ति हुई, हे, भगवन्! आपको देखकर सब ओर से नमस्कार करता हूं, मैं अन्तःकरण से तुम्हें आलिङ्गन करूंगा, त्रिलोकी में तुमसे अन्य ऐसा बांधव कोई नहीं है, तुम्हीं सर्वाधिक सुखदायी हो, सबके संहार कर्ता भी हो, और सबकी रक्षा भी तुम्हीं करते हो, देने लेने वाले

तुम्हीं हो, अब तुम क्या करोगे कहां जाओगे? आपने अपनी सत्ता से विश्व को पूर्ण किया है, स्वयं विश्वरूप हो, अब सब ओर से तुम्हें देखता हूं, तू ही नित्य रूप सर्वत्र है, तुझमें और मुझमें अनेक जन्मों का अन्तर पडा था, अब कल्याण हुआ जब कि आपको देखा, है, तू अत्यन्त निकट है, और परम बांधवरूप है, तुझको नमस्कार है कृत कृत्य स्वरूप सबका कर्ता हर्ता है, संसार तेरा नृत्य है, नित्य निर्मल स्वरूप तुझको नमस्कार है, शंख, चक्र, गदा, पद्म के धारण करने वाले तुझको नमस्कार है, अर्ध चन्द्रमा के धारण करने वाले सदाशिव रूप तुझको नमस्कार है सहस्र नेत्र इन्द्र तुझको नमस्कार है, पद्मजन्मा ब्रह्मा, सब देव विद्या का सम्बन्ध तू ही है, तुझमें भेद कुछ नहीं तो तुम्हारे हमारे में भेद कैसे हो? जैसे समुद्र और तरंगों का संयोग अभेद है, ऐसा तेरा और मेरा संयोग अभेद है, तू ही अनंत विचित्र रूप है, भाव अभाव रूप जगत् के धारण करनेवाली नीति है, जगत् की मर्यादा को धारण करती है, हे द्रष्टारूप! तुझको नमस्कार है, हे सर्वज्ञ सर्व स्वभावरूप आत्मदेव! जन्म जन्म प्रति मैं बहुत दुःखमार्ग से विचरा हूँ, तेरी माया से बहुत देर तक दग्ध हुआ हूँ, हे देवेश! देश और लोक मैंने अनन्त देखे हैं, दृष्टान्त द्रष्टा भी अनेक देखे हैं, परन्तु किसी से तृप्त न हुआ। जगत् को जिस ओर देखूँ, उसी ओर से काष्ठ तृण पाषाण जल मृत्ति का आकाश दृष्टि आता था, अब तुझ बिना कुछ और दृष्टि नहीं आता, वांछा किसकी करूँ? अब तुझको देखा है, उपलब्ध स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ, तुझको नमस्कार है, नेत्रों की श्यामता में जो पुतलियों के रूप में स्थित है और रूप को देखता है, साक्षीभूत वह अन्तर क्यों नहीं देखता हैं, जो त्वचा में स्पर्श करता है, शीत उष्णादिक को जानता है, ऐसा सब अंगों में व्यापक अनुभव कर्ता है, जैसे तिलों में तेल व्यापक होता है, उसको अनुभव कोई नहीं करता, जो शब्द श्रवण इन्द्रिय के अन्तर ग्रहण करता है, उस शब्द शक्ति को जानने वाली सत्ता है, जिसमें शब्द शक्ति का विचार होता है, जिससे रोमांच हो जाता है, वह सत्ता दूर कैसे हो?

जो जिह्वा के अग्रभाग में रस स्वाद को ग्रहण करता है, उस रस का अनुभव करनेवाली जो सत्ता है, वह दूर कैसे हो? नासिका में जो घ्राण शक्ति है, जिससे गन्ध आती है, उसको अनुभव करनेवाली अलेप सत्ता है, वह सम्मुख कैसे न हो? वेद वेदान्त सप्त सिद्धान्त, पुराण, गीता से जानने योग्य ज्ञेय आत्मा है, उसको जबसे जाना तब विश्राम कैसे न हो? परावर परमात्मा पुरुष है, जिन भोगों की मैं तृष्णा करता था, वह भोग रमणीय विद्यमान होते हैं, तो भी तुम्हारे दर्शन से रस नहीं देते, हे स्वच्छरूप निर्मल प्रकाश! तू सूर्य भाव होकर प्रकट हुआ है और तेरी सत्ता से चन्द्रमा शीतल हुआ है, तेरी सत्ता से पृथ्वी स्थित है, तेरी सत्ता से देवता आकाश मार्ग पर विचरते हैं, तेरी सत्ता से आकाश में आकाशभाव है। मेरी अहंता तुम्हारे अन्दर तत्व को प्राप्त हुई है, तेरे और मेरे में भेद कुछ नहीं तुझको मुझको नमस्कार है, मैं सम, स्वच्छ, साक्षीरूप, निर्विकार, देश, काल वस्तु परिच्छेद से रहित हूँ। मन जब क्षोभ को प्राप्त होता है, तब इन्द्रियों की वृत्ति स्फुरण रूप होती है, प्राण अपान शक्ति जब उल्लास को प्राप्त होती हैं, तब देहरूप यंत्र बहता है, कैसा यंत्र है? चर्म अस्थि आदि जिसके साथ लकड़ियाँ और जेवरी है, इन्द्रियरूप घोड़े हैं। मनरूप सारथी चलाने वाला है, उस देहरूप रथ में मैं चेतन रूप देही स्थित हूँ, परन्तु मैं किसी में आस्था नहीं करता, देह रहे अथवा गिरे, मुझको इच्छा कुछ नहीं, मैं अब आत्मलाभ को प्राप्त हुआ हूँ। चिरकाल से उपशम की प्राप्ति हुई है, जैसे कल्प के अन्त में जगत् शान्ति को प्राप्त होता है, ऐसे दीर्घ संसार मार्ग में चिरकाल भ्रमण करता हुआ अब विश्राम को प्राप्त हुआ हूँ, जैसे कल्प के अन्त में वायु चलता चलता रह जाता है, हे सर्वरूप परमात्मा तुझको नमस्कार है, जो तुझे और मुझे इस प्रकार जानते हैं, हे देव! सम्पूर्ण जगज्जाल जो विस्तृत रूप है, उसको तुमने कदाचित् स्पर्श नहीं किया, तुम्हारी विजय है, जैसे पुष्पों में गन्ध होती है, तिलों में तेल रहता है, ऐसे तुम सब देहों में रहते हो। तुम सर्व जगत् के प्रकाशक दीप हो, उत्पत्ति प्रलय कर्ता और सदा

अकर्ता रूप तेरी जय है, तेरे परमाणु चिदणु हैं, उनमें यह विस्तार रूप जगत् स्थित है, जैसे बट बीज में वृक्ष होता है, परम्परा चलती है, एकसे दूसरा होता है, ऐसे चिद्अणु में जगत् है, जैसे आकाश में एक बादर से अनेक आकार दृष्टि आते हैं, ऐसे चित्तकला फुरने से अनेक पदार्थ भ्रमरूप भासते हैं, इस संसार के जो क्षण भंगुररूप पदार्थ हैं, उनकी अभावना करने से अब भाव अभाव से रहित भाव को देखता हूँ, यह निश्चय हुआ है। मान मद क्रोध और कलुषता कठोरता आदिक विकारों में महापुरुष नहीं डूबते और नीच जन इन दोषों गुणों में डूबते हैं। इससे पहिले जो मेरी महादुरात्मा नीच अवस्था थी उसका स्मरण करके हँसता हूँ कि मैं कौन था और क्या जानता था, हे मेरे आत्मदेव! मैं उस पद को प्राप्त हुआ था, जहाँ चिन्तारूप अग्नि की लपटें थीं, जहाँ दग्ध हुए जीर्ण संसार के आरंभ थे, अब देहरूप नगर में स्फाररूप मनोरथ की जय हो, अब दुःख ग्रहण नहीं कर सकते, जहाँ दुष्ट इन्द्रियरूप घोड़े जोते थे और मनरूप हस्ती जाता था, अब भोगरूप शत्रु को चारों ओर से भक्षण किया है और निष्कंटक राजा चक्रवर्ती हुआ हूँ, तू परम सूर्य है, परम आकाश में तेरा मार्ग है, उदय अस्त से रहित तू नित्य प्रकाशरूप है, सबके अन्दर बाहिर तू प्रकाशित हो रहा है, अब भोगों को लीलारूप देखता हूँ, जैसे अकामी कामिनी को देखने पर इच्छा रहित होता है, ऐसे तू ग्रहण करता है, नेत्र रूप झरोंखों में बैठकर तू रूप विषय को ग्रहण करता है। अपनी शक्ति से इसी प्रकार सब इन्द्रियों में वही रूप धारण कर तू शब्द स्पर्शरूप रस गंध विषय को ग्रहण करता है। ब्रह्मकोटर में जो देश है, उनमें प्राण अपान शक्ति से तू ही विचरता है, आता है जाता है, ब्रह्मपुरी में जाता है, फिर आता है, सब जगत् देहों में तू विचरता है, देहरूप पुष्पों में तू सुगन्धि है, देहरूप चन्द्रमा में तू अमृत है, देहरूप वृक्ष में तू रस है, देहरूप बर्फ में तू शीतलता है, चिन्मय स्वरूप है, दूध में घृत है, काष्ठ में तू अग्नि है, स्वादों में तू उत्तम स्वाद है, तेज में तू प्रकाश है, सर्व अर्थ कर्ता पूर्ण तू ही है, सर्व जगत् का प्रकाशक तू ही है, वायु में स्पंद तू ही है, प्रकाश में तू प्रकाश है,

बुद्धि में बुद्धित्व और मन में मनस्त्व तू ही है, सब पदार्थों का सिद्ध कर्ता तू दीपक है, लीन हो जाने पर जाना नहीं जाता कि कहां गया। किसी और ठौर जाकर प्रकाश करता है, जितने संसार में पदार्थ अहं त्वं आदि शब्द हैं, वे ऐसे हैं जैसे स्वर्ण में भूषण होते हैं, वह अपनी लीला के लिये किये हैं, तू आप ही प्रसन्न होता है, जैसे मन्द वायु से खंड खंड हो जानेसे बादल के हस्ती आदि आकार भासते हैं, ऐसे तू भौतिक दृष्टि से भिन्न भिन्न रूप भासता है, हे देव! ब्रह्माण्डरूप मोती हैं, उनमें तू निरिच्छित व्यापक है और भूतरूप अन्नों का तू खेत है, चेतनरूप रस से बढ़ाने वाला है और तू अस्त की नाईं स्थित है, अर्थात् यह इन्द्रियों के विषयों से रहित अव्यक्त रूप है और सब पदार्थों का प्रकाश है जो पदार्थ शोभा संयुक्त विद्यमान होते हैं और तुम्हारी अवस्था वहां नहीं हो तब वह अस्त होता है, जैसे सुंदर स्त्री भूषणों सहित अन्धे के आगे खड़ी हो, तो वह अस्त भूत होती है, ऐसे विद्यमान पदार्थ हो और तेरी कल्पना में न आवें तो अस्त हो जाता है, जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिंब होता है, उसको देखकर अपनी सुन्दरता बिना प्रसन्न कोई नहीं प्रसन्न होता, हे आत्मदेव! तेरे बिना देह त्रुटित हो जाता है, काष्ठ लोष्ठवत् होता है, जब पुर्यष्टक शरीर से अदृष्ट होता है, तब सुख दुःखादिक क्रम नष्ट हो जाता है, किसी का ज्ञान नहीं होता, जैसे तम में कोई पदार्थ दृष्टि नहीं आता। तेरे देखने से सुख दुःख आदिक स्थित होते हैं, जैसे सूर्य की दृष्टि से प्रातःकाल शुक्ल वर्ण से प्रकाश आता है, जब अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, तब अज्ञान रूप सब विकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, तब पदार्थ ज्यों का त्यों भासता है, ऐसे ही अज्ञान के नाश हो जाने पर आत्मा ज्यों का त्यों भासता है, यह जो मनोरूप तू है, तेरे उत्पन्न होने से सुख दुःख उत्पन्न होता है, तेरे अभाव होने पर सब नष्ट हो जाता है, स्वरूप से तू अनामय रूप है, क्षणभंगुर देह में जो मन ने आस्था की है, वह महासूक्ष्म अणु निमेष के लक्ष भाग जैसा सूक्ष्म है, सुख दुःखादिक की

भावना करके अनीश्वरता को प्राप्त हुआ है, तेरे प्रमाद से स्फुरण रूप होता है, और तेरे देखने से सब लीन हो जाता है, यह जो पुर्य्यटक तेरा रूप है, उसके देखने से क्षण में पदार्थ भास आते हैं, जैसे नेत्रों के खोलने से रूप भास आता है, और अन्तर्धान मन के मरने से सब नष्ट हो जाता है, फिर किसी से ग्रहण नहीं होता, जो वस्तु क्षणभंगुर है, उससे कार्य सिद्ध नहीं होता जैसे बिजली के प्रकाश से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, ऐसे अन्तर्धान होने से देह में कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता, जो उत्पन्न होकर तत्काल नष्ट हो जाता है, उससे कार्य क्या सिद्ध हो, देहादिक जड नाशवान् हैं, और जो सबको प्रकाशित करता है, सदा निर्विकार सचिदानन्दरूप है, सुख दुःखादिक अज्ञानी के चित्त को स्पर्श करते हैं, और जिसका चित्त उपशम को प्राप्त हुआ है, उसको स्पर्श नहीं करते! हे देव! यह जो सुख दुःख आदिक अविवेक के आश्रय हैं वह अविवेक नष्ट हो गया है, तू निरीह निराकार है, सत् असत् से परे भैरवरूप परमात्मन्! तेरी सदा जय हो! तू सर्व शास्त्रों का आस्पद है, तेरे जात अजात रूप की सदा जय हो, तेरे नाश रूप की तेरे अविनाश रूप की जय हो! तेरे भावरूप की तेरे अभावरूप की जय हो, तुझको नमस्कार है, हे निर्दोष! तुझमें स्थित होने से मेरे रागद्वेष मिट गये हैं, अब बन्ध कहां? और मोक्ष कहां? आपत्ति कहां सम्पत्ति कहां? भाव कहां? अभाव कहां? सब विकार शांत हुए हैं, शम समाधि में स्थित हुआ हूं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपाख्याने संस्तवर्णनम् नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥३६॥

सप्तत्रिंशः सर्गः ३७

दैत्यपुरी प्रभंजनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार चिंतन करके महा धैर्यवान् प्रह्लाद निर्विकार समाधि में स्थित हुआ, जैसे मूर्तिका पर्वत हो ऐसे अपने पद पर स्थित हुआ, जब बहुत समय तक अपने घर के भवन में सुमेरु समान ऐसी समाधि में स्थित हुआ, तब दैत्येश्वर उसको जगाने लगे, परन्तु प्रह्लाद न जगा, जैसे समय बिना बीज अंकुर नहीं लेता, ऐसे पांच हजार वर्ष समाधि में व्यतीत हुए, और शरीर उसी प्रकार पुष्ट रहा, दैत्यों के नगर में शान्ति हो गयी, परमानन्द आत्मा को प्राप्त हुआ, निरानन्द जो प्रकाश है वह प्रकाशमात्र रह गया और कलना सब मिट गयी, इतना समय जब बीता तब रसातल मण्डल में राजभय दूर हो गया, छोटे को बड़ा खाने लगा, हिरण्यकशिपु की मृत्यु हुई, उसका पुत्र समाधिस्थ था, अन्य कोई राजा नहीं था, दैत्य मंडल की दशा विपरीत होने लगी, निर्वलों को बलवान् मारने लगे, तब अनेक मल्ल मिलकर प्रह्लाद को जगाने लगे, तो भी वह न जगा, जैसे सूर्यमुखी कमल को रात्रि में भ्रमर गुंजार करें, तो भी नही खिलता, मूंदा रहता है, ऐसे ही प्रह्लाद न जगे दैत्यों में उद्वेग छा गया, जैसे मूर्ति का लिखा सूर्य प्रकाश रहित होता है, ऐसे ही राज्य का प्रबन्ध निस्तेज हुआ, जहां जहां किसी को सुखदायक स्थन मन में भासा वहां वहां जाने लगे। पाताल मंडल राजा से हीन हुआ, मर्यादा सब बिगड़ गई, सब लोग चिन्ता मग्न हो गये स्त्रियां पुरुष रोदन करने लगे, लूटमार होने लगी शोक आंतक छा गया, प्रबन्धकर्ता कोई न रहा, अनके उपद्रव होने लगे, दिशाओं के मुख अग्निरूप हो गये। एक दूसरे को व्यर्थ ही कष्ट देने लगा, बांधव मानों नष्ट हो गये सब परस्पर शत्रु ही दिखाई देने लगे, कभी कभी देवता आकर किसी निर्बल

दैत्य को बांधकर ले जाते, दैत्यलोग लक्ष्मीहीन होने लगे, पाताल मंडल उजाड़ सा प्रतीत होने लगा, दैत्य पुर में अनीति अकांड उपद्रव होने लगे, जैसे कल्प के अन्त में जीव दुःख पाते हैं, इसी प्रकार दैत्य लोग दुःख पाने लगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे दैत्यपुरीप्रभंजनवर्णनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥३७॥

अष्टत्रिंशः सर्गः ३८

भगवच्चित्तविवेकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार जब दैत्यपुरी की दशा हुई तब सम्पूर्ण जगत् जाल का पालन हारा जो विष्णुदेव है क्षीर समुद्र में शेषनाग की शय्या पर शयन करनेवाला जो चतुर्मास वर्षाकाल की निद्रा से जगा हुआ बुद्धि नेत्रों से जगत् की मर्यादा को विचारने लगा, तब देखा कि पाताल में प्रह्लाद दैत्य पद्मासन बांधे समाधि में स्थित हुआ है, तब शंखचक्र गदा पद्म हाथों में धारण करने वाले, सब देहों में व्यापक श्रीविष्णुदेव क्षीरसागर में शयन कर रहे थे, जो अब चातुर्मास्य में जगे और बुद्धिरूप नेत्रों से विचारने लगे, तब विचार में देखा कि पाताल में प्रह्लाद दैत्य पद्मासन बाँधकर समाधि स्थित हुए हैं, बडे कष्ट की बात है, कि यदि सृष्टि दैत्यों से रहित हो गयी तब देवता जीतने की इच्छा से रहित होकर आत्मपद में स्थित हो जायँगे, जब देवता दैत्यों का विरोध रहता है, तब विजय के लिये याचना करते हैं, कि दैत्य नष्ट हों, तब सब देवता निर्द्वन्द्व होकर परम पद को प्राप्त होंगे, जैसे रस से रहित बल्ली सूख जाती है, ऐसे अभिमान इच्छा से रहित देवता जगत् की ओर से सुख से आत्मपद को प्राप्त करेंगे, जब देवताओं के समूह शान्ति को प्राप्त हुए, तब पृथ्वी में यज्ञ तप आदिक जो उत्तम क्रियाएं हैं सब निष्फल हो

जायँगी, न कोई करेगा न किसी को प्राप्त होगा, जब पृथ्वी लोक से शुभक्रिया नष्ट हुई तब लोक भी नष्ट हो जायँगे अकांड प्रलय प्रसंग होगा, सब मर्यादा क्रम जगत् का नष्ट हो जायेगा, जैसे धूप से बर्फ नष्ट होती है, ऐसे जगत् क्रम सब नष्ट होगा, इसके नष्ट होने से भी मुझे कुछ नहीं, परन्तु मैंने अपनी लीला रची है, वह सब नष्ट हो जायेंगे, तब मैं भी इस शरीर को त्याग कर परम पद में स्थित हो जाऊँगा, अकांड ही जगत् उपशम को प्राप्त होगा, इसलिये इसमें मुझे कल्याण प्रतीत नहीं होता, यदि दैत्यों के उद्वेग से रहित देवता भी शान्त हो जायेंगे, तप क्रिया नष्ट हो जायगी, जीव दुःखी होकर नष्ट हो जायेंगे, इसलिये मैं जगत् कर्म स्थापन करूं, जो परमेश्वर की नीति इसी प्रकार है, अब रसताल को जाऊं, और जगत् की मर्यादा ज्यों की त्यों स्थापन करूं, यदि प्रह्लाद से इतर को मैं पाताल का राजा करूं तो वह देवताओं का शत्रु होगा, अतः ऐसा न करूँ, प्रह्लाद का अन्तिम जन्म है, परम पावन देह है, कल्पपर्यन्त रहेगा, यह ईश्वर की नीति है, वह ज्यों की त्यों है, इसलिये मैं जाकर दैत्येन्द्र प्रह्लाद को जगाऊं, जो जगकर जीवन्मुक्त हुआ दैत्यों का राज्य करे, जैसे मणि मल से रहित प्रतिबिंब को ग्रहण करती है ऐसे प्रह्लाद भी इच्छा से रहित होकर राज्य प्रवृत्ति करे, इस प्रकार सृष्टि देवता दैत्यों से युक्त रहेगी और परस्पर इनका द्वेष न होगा, मेरी क्रीड़ा इच्छा लीला होगी। यद्यपि सृष्टि का होना न होना मुझको तुल्य है, तो भी कुछ नीति है, वह जैसे स्थित है वैसे ही रहे, जो वस्तु भाव में तुल्य हो, नाश में और स्थिति में उसका प्रयत्न करना कुबुद्धि है, वह जैसे आकाश के हनन का यत्न किया जाय ऐसे है, अतः मैं पाताल को जाऊं और प्रह्लाद को जगाऊँ। जगत् की मर्यादा स्थापन करूं जो नीति है, उसको अपनी लीला से प्रतिपादित करूं, दैत्यपुरी में प्राप्त होकर उसको जगाऊं और उसको अपने प्रकृत आचार में लगा आऊँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे भगवच्चित्तविवेको नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ।।३८।।

एकोनचत्वारिंशः सर्गः ३९

नारायणवचनोपन्यासयोगवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन कर सर्वात्मा विष्णुदेव परिवार सहित क्षीरसागर से चले, जैसे मेघ घटा इकट्ठी होकर चल रही हो, इस प्रकार प्रह्लाद के नगर में आ पहुँचे नगर क्या है मानों दूसरा इन्द्रलोक है, मंदिर में प्रह्लाद को विष्णु भगवान् ने देखा जो निकट दैत्य थे वे भगवान् को दूर से ही देखकर भाग गये, जैसे सूर्य को देखकर उलूक आदि भागते हैं, जो मुख्य दैत्य थे उनके साथ भगवान् ने दैत्य पुरी में प्रवेश किया, जैसे तारागण सहित चन्द्र आकाश में प्रवेश करता है, ऐसे विष्णुदेव गरुड़ पर आरूढ़ हुए, लक्ष्मी साथ साथ चमर कर रही थी और अनेकों ऋषि देवता भी आकर सम्मिलित हुए थे, भगवान् विष्णु महाराज ने प्रह्लाद के घर में प्रवेश किया और बोले–हे महात्मन्! उठो! जगो! जगो! यूं कहकर पाञ्चजन्य शंख बजाया, उसका महान् शब्द हुआ और फिर उसको प्रह्लाद के कानों से लगाया, जैसे प्रलय काल के मेघों का महान् शब्द होता है, उसकी भी वैसी ही ध्वनि थी। ऐसे बड़े शब्द को सुनकर दैत्य भयभीत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। दैत्येन्द्र को शनैः शनैः जगाया गया, जैसे कटक मंजरी मेघ से प्रफुल्लित होती है, ऐसे विष्णुजी ने जगाया, प्राण शक्ति जो ब्रह्मरन्ध्र में थी, विष्णुजी ने वहां से उठाई, तब शरीर में प्रवेश कर गयी, जैसे सूर्य के उदय से सूर्य की प्रभा वन में प्रवेश कर जाती है, ऐसे नवद्वारों में उसने प्रवेश किया, तब प्राणरूप दर्पण में चित् संवित् प्रतिबिंबित होकर चैतन्य युक्त हुई और मन भाव को प्राप्त हुई, जैसे प्रातःकाल कमल खिलते हैं, ऐसे नेत्र प्रफुल्लित हुए, प्राण और अपान नाड़ियों में छिद्रों के मार्ग से विचरने लगे, जैसे वायु से कमल फुरित होते हैं ऐसे मन और प्राण शक्ति से अंग स्फुरण होने लगा और जगो जगो शब्द जो भगवान् कहते थे,

उनसे वह जगा और जान लिया कि मुझको विष्णु भगवान् ने जगाया है, जैसे मेघ का शब्द सुनकर मोर प्रसन्न होता है, इस प्रकार प्रसन्न हुआ। मन में दृढ स्मृति उदित हुई, तब त्रैलोक्य स्वामी भगवान् विष्णु बोले—जैसे पहिले ब्रह्मा को कहा था, ऐसे प्रह्लाद को कहा, हे साधो! तू अपनी महालक्ष्मी का स्मरण कर कि तू कौन है? समय बिना देह के त्यागने की इच्छा क्यों की थी, ग्रहण त्याग के संकल्प से रहित जो पुरुष हैं उनको भाव अभाव के होने में क्या लाभ हानि है? उठो और अपना आचार विहार संभालो। तेरा शरीर कल्प पर्यन्त रहेगा, नष्ट न होगा, यह नीति को ज्यों की त्यों जानते हैं, हे आनन्दित! तू जीवन्मुक्त हुआ राज्य में स्थित हो। क्षीण मन गत उद्वेग कल्प पर्यन्त तेरा देह रहेगा। कल्प के अन्त में तू शरीर त्याग कर, अपनी महिमा में स्थित होगा, जैसे घट के फूटने से घटाकाश मठाकाश को प्राप्त हो जाता है। अब तुम निर्मल दृष्टि हुए हो, जीवन्मुक्त हो, हे साधो! द्वादश सूर्य तो नहीं उदय हुए, जो प्रलयकाल में तपते हैं, अब तू क्यों शरीर त्यागता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभी ऐसे कोई भी लक्षण नहीं प्रतीत हो रहे जिनसे महाप्रलय होने की आशंका की जाय। अभी सब काम काज यथावत् नियमित रूप से चल रहे हैं। फिर तुम क्यों शरीर का त्याग करना चाहते हो, हे साधो! प्रलयकाल का कोई चिह्न नहीं, प्रलयकाल में बारह सूर्य तपते हैं, अभी वह उन्मत्त पवन तो चला नहीं, जो त्रिलोकी की भस्म उड़ाने वाला है और जिसके धक्कों से देवताओं के विमान गिरते हैं, सब लोगों के शरीर सूखी वृक्ष मंजरी के समान अभी नहीं हुए। अभी पुष्कर मेघ की गर्जना नहीं हुई। वह बिजली अभी जगत् में नहीं चमकी, तू क्यों व्यर्थ शरीर त्यागता है? अभी पर्वत आपस में युद्ध से नहीं टकराये, अभी मैंने भूतों की शक्ति को खींच नहीं लिया, अभी मैं लोक में विचरता हूँ, अर्थात् यह मैं हूँ, यह पर्वत है, यह भूत प्राणी है, यह जगत् है यह आकाश है तू देह को मत त्याग, देह को धारण किये रख, हे साधो! जो जीव अज्ञानयोग से शिथिल हुआ है, अर्थात् यह जो देह में आत्माभिमान् है

इसके कारण जो मैं और मम के दुःखों से व्याकुल रहता है और दुःखों से जीर्ण होता है, उसको मरणा शोभा देता है कि मैं कृश हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, अनात्म अभिमान की दृढ़ता है, यह भावना जिसके अन्दर है उसका मरणा ठीक है, क्योंकि उसे तृष्णा जलाती है। हृदय में संसार भावना जीर्ण करती है, जैसे पुराने घर को चूहा जीर्ण करता है, जिसके मोह भरे मलिन मन में दिन रात अनेकों कुसंकल्प किसी शस्त्र द्वारा किये गये घाव की जलन के समान जलाते रहते हैं, उसे मरणा चाहिये, जिसकी सम्पूर्ण आयु दोषसंग्रह में बीती है जिसने न तो सांसारिक धन का उपार्जन किया, न परमार्थ द्रव्य का, किन्तु केवल दोनों का महान् अपव्यय ही किया, स्वयं तो दुःखी हुआ परन्तु जिसके जीवन से अनेकों अन्य जीवों को घोर कष्ट मिला है, वह सर्व तो भ्रष्ट सर्वस्व नष्ट करता हुआ पछताता हुआ मरणा चाहे तो संगत है, परन्तु तुम ऐसा क्यों करते हो? जो पुरुष अपने शरीर में आधिव्याधि दुःखों से जलता है और काम क्रोध रूप सर्प जिसके अन्दर फुंकार रहे हों, जिसका देह रूप सूखा वृक्ष निष्फल है और चित्त चंचल है, ऐसे देह के त्यागने को लोक में मरना कहते हैं, स्वरूप से नाश किसी का नहीं होता, क्या ज्ञानी का क्या अज्ञानी का? हे साधो! जिसकी बुद्धि आत्मतत्व के अवलोकनान्तर नहीं होती, ऐसा जो यथार्थ दर्शी ज्ञानवान् है जिसका हृदय शीतल रागद्वेष से रहित हुआ है और दृश्य वर्ग को साक्षीभूत होकर देखता है, उसका जीना श्रेष्ठ है, जो पुरुष सम्यग् ज्ञान से हेयोपादेय से रहित है, चेतन तत्व में तद्रूप चित्त हुआ है और जिसने संकल्पमल से रहित चित्त को आत्मपद में जोड़ा है, जिस पुरुष को जगत् के पदार्थ इष्ट अनिष्ट समान भासते हैं, शांतचित्त हुआ लीलावत् जगत् के कार्य को करता है, ऐसा जो वासना रहित पुरुष है, जो कि इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष नहीं करता और जिसे ग्रहण त्याग की बुद्धि उदय नहीं होती और जिसका नाम श्रवण करने अथवा देखने से दूसरों को आनन्द उत्पन्न होता है, उसका जीना शोभा पाता है, जिसके उदय होने पर जीवों के हृदय कमल प्रफुल्लित

होते हैं, उसका चिरंजीव होना शोभा पाता है, वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सफल प्रकाशित हो रहा है, नीच शोभा नहीं पाते।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादोपाख्याने नारायणवचनोपन्यासयोगो नाम एकोन चत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

चत्वारिंशः सर्गः ४०

प्रह्लादबोधवर्णनम् ।

श्री भगवान् बोले—हे साधो! यह जो सचेष्ट काया दृष्टि आती है यही जीना कहा जाता है और इस देह का त्याग कर अन्य देह में चले जाना मरना कहलाता है। हे बुद्धिमन्! अब तुम इन दोनों पक्षों से मुक्त हो, तुम्हारे लिये जीना क्या और मरना क्या? दोनों भ्रममात्र हैं, इस अर्थ को दिखाने के लिये मैंने तुझको जीना मरना कहा है, क्योंकि गुणवानों का जीना श्रेष्ठ है और मूढ़ों का मरना श्रेष्ठ है और तू न जीता है न मरेगा, देह के होते हुए भी तू विदेह है, आकाश के समान असंग है, जैसे आकाश में वायु नित्य चलता है, परन्तु आकाश उससे निर्लेप रहता है, ऐसे तू देह में निर्लेप रहेगा, देह इन्द्रिय और मन आदिक की क्रियाएं सब तुझसे होती है, सबका कर्ता सत्ता देने वाला तू ही है और स्वरूप से सदा अकर्ता है, जैसे वृक्ष की ऊंचाई का कारण आकाश है, ऐसे तुझमें कर्तव्य है, तू अब जगा है, वस्तुतत्व को अब तुमने यथावत् जान लिया है, तू अस्ति नास्ति सबका आत्मा है, यह परिच्छिन्न देह अज्ञानी का निश्चय है, यह केवल दुःखों का कारण है और तू सर्व प्रकार सर्वात्मा चेतन प्रकाश है, तेरी बुद्धि आत्मपारायण है, तुझको देह अदेह क्या, ग्रहण क्या और त्याग क्या? जो तत्वदर्शी पुरुष हैं उनका भाव पदार्थ उदय हो अथवा लीन हो, प्रलयकाल का पवन चले तो भी विचलित नहीं कर सकता, भाव अभाव से उसका मन रहित है, जैसे पर्वत के ऊपर पर्वत पड़े

और चूर्ण हो जाय और कल्प की अग्नि में जलने लगे, तो भी ज्ञानवान् अपने आपमें स्थित है, विचलित नहीं होता, सब भूतस्थित हों अथवा सब इकट्ठे नष्ट हो जायँ, वह सदा अपने आप में स्थित है, इस देह के नाश होने पर नाश नहीं होता, विरोधी होने से प्राप्त नहीं होता, इस देह में स्थित जो आत्मा परमेश्वर है, वह मैं ही हूँ। अनात्म भ्रम की यहां गति नहीं है अर्थात् वह नष्ट हो चुका है, ग्रहण त्यागरूप मिथ्या कल्पना उदय नहीं होती, जो विवेकी तत्ववेत्ता है, उसका संकल्प भ्रम नष्ट हो जाता है कि मैं यह हूँ, यह करूँगा, यह त्याग किया है, यह ग्रहण किया है, इत्यादिक भ्रम नष्ट हो जाते हैं, जो प्रबुद्ध पुरुष है वह सब क्रिया करता हुआ भी अकर्ता पदको प्राप्त होता है, सब अर्थोंमें अकर्ता अभोक्ता रहता है, जगत् के किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, जब कर्तृत्व भोक्तृत्व शान्त हुआ, तब आत्मपद शेष रहता है, इस निश्चय की हुई दृढता को बुद्धिमान् मुक्ति कहते हैं, जो प्रबुद्ध पुरुष हैं वे चिन्मात्र स्वरूप हैं, सबको अपने वश करके स्थित हैं, ग्रहण किसका करें और त्याग किसका करें, ग्राह्य और ग्राहक शब्दभाव अविद्या है, देह इन्द्रियों से होता है, ग्रहण करना क्या और त्याग करना क्या? जब ग्राह्य ग्राहक भाव हृदय से दूर हुआ, तो वही मुक्ति है। इसको ऐसी स्थिति आकर उदय होती है जो परमार्थ सत्ता में सदा स्थित रहता है, वह पुरुषों में पुरुषोत्तम सुषुप्ति की नाईं स्थित है, उसके अङ्गों की चेष्टा से बोध को प्राप्त हुई है। परम विश्रान्तिमान् निर्वासनिक पुरुषों की वासना भी जगत् में स्थित दृष्टि आती है, अर्ध सुषुप्ति की नाईं चेष्टा करता है, सब जगत् में आत्मा देखता है, आत्म विषयिणी बुद्धि से सुख में हर्षवान् नहीं होता, दुःख में शोकवान् नहीं होता, एक रस आत्मपद में स्थित रहता है, नित्य प्रबुद्ध पुरुष कार्य भाव को ग्रहण करता है, जैसे इच्छा रहित दर्पण प्रतिबिंब को ग्रहण करता है, ऐसे भली बुरी भावना उसको स्पर्श नहीं करती, जिनको आत्मपद में जाग्रत है और संसार की ओर से सोये हैं, वे पुरुष सुषुप्तिरूप हैं, जैसे बालक पालने में सोया हुआ स्वाभाविक अंग हिलाता है, ऐसे

उनका हृदय सुषुप्तिरूप है और व्यवहार करते हैं, हे पुत्र! तू अजात परम पद को प्राप्त हुआ है, गुणवान् हुआ है, तू इस देह से ब्रह्मा का एक दिन (आयु) भोगेगा, अर्थात् तुम्हारी आयु ब्रह्मा के एक दिन प्रमाण है जो कि एक हजार वर्ष का होता है, इस राजलक्ष्मी को भोगकर तू अच्युत परम पद को प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादबोधो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥४०॥

एकचत्वारिंशः सर्गः ४१

प्रह्लादाभिषेकवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जगत्‌रूप रत्नों का डिब्बा अद्भुत दर्शन है, जब विष्णुदेव ने शीतल वाणी से इस प्रकार कहा, तब प्रह्लाद नेत्र खोलकर धैर्य से कोमल वचनों से कहने लगा–मैंने मन में मनन करके बाहिर चर्मदृष्टि से भली भांति देखा है कि अपना आप अर्थात् आत्मा ही परमेश्वरूप है, सर्व संकल्प से रहित आकाशवत् निर्मल है, अब मुझको न शोक है न मोह है, न वैराग्य से देह त्याग की चिन्ता है, जो कुछ भयदायक कार्य होता है आत्मविस्मृति में होता है। आत्मा के विद्यमान होते शोक कहाँ और नाश कहाँ, देह रूप संसार कहाँ और संसार की स्थिति कहाँ? भय कहाँ और अभयता कहाँ? मैं यथेच्छ अपने आप में स्थित हूँ, इस प्रकार निर्मल विस्तृत रूप पावन सत्ता में स्थित हूँ, संसार की भावना को त्यागकर विरक्त हुआ हूँ, जो अप्रबुद्ध मूढ़ हैं उनकी बुद्धि में हर्षशोक चिन्ता विकार सदा रहते हैं और देह भाव में सुख मानते हैं, अभाव में दुःखी होते हैं, यह चिन्तारूप विष मूढों को प्रभाव दिखाता है। यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है, इस प्रकार से मूर्खों के ही चित्त की वृत्ति डोलती है, पंडितो की नहीं, मैं भिन्न हूँ, वह भिन्न है, यह अज्ञान के कारण से अंध वासना है, शुद्ध बुद्धि की

विद्यामानता में यह नहीं रहती, जैसे सूर्य की किरणों से रात्रि दूर रहती है, ऐसे यह वासना दूर रहती है, इसका त्याग कीजिये, इसे ग्रहण कीजिये, यह मिथ्या चित्त का भ्रम है, जो कि उन्मत्त अज्ञानी के अन्दर होता है। ज्ञानवान् के अन्दर यह भ्रम उदित नहीं होता, हे कमलनयन! यह सब तुम्ही हो, विस्तृत रूप हो, यहाँ हेयोपादेय द्वैत भाव कल्पना कहाँ है? यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञान रूप सत्ता का आभास है। सत्य असत्य रूप जगत् में ग्रहण त्याग किसका करे? केवल अपने स्वभाव से द्रष्टा और दृश्य का विचार किया है, उसमें मैं पहिले क्षीण विश्रान्तिमान् हुआ था, अब भाव अभाव जगत् के पदार्थों से मुक्त हुआ हूँ, हेयोपादेय से रहित आत्मतत्व मुझको भासता है, सम भाव को प्राप्त हुआ हूँ। अब मुझको संशय कुछ नहीं रहा, जो कुछ करता हूँ, आत्मा से करता हूँ, त्रिलोकी में जब तक तू पूजने योग्य है, जब तक यह (मन) उन्मत्त नहीं हुआ, पूजन करता हूँ, आदर सहित तुम ग्रहण करो, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! दैत्यराज ने इस प्रकार से कहकर क्षीर समुद्र में शयन करनेवाले विष्णु भगवान् की सुमेरु की मणियों से पूजा की और तदनन्तर शंख, चक्र, गदा, पद्म सहित शस्त्रों का पूजन किया, बाद गरुडजी की पूजा की, देवताओं विद्याधरों की पूजा की। इस प्रकार भगवान् का परिवार सहित पूजन किया, तदनन्तर आत्मस्वरूप की और बह्म विष्णु देव की मूर्ति का पूजन किया, तब लक्ष्मीपति कहने लगे–हे दैत्येश्वर! तुम उठकर सिंहासन पर बैठो, मैं अपने हाथों से तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, पांचजन्य शंख बजाता हूँ, उसका शब्द सुनकर सब सिद्ध देवता आकर तेरा मंगल करेंगे। वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार विष्णु भगवान् ने दैत्य को सिंहासन पर बैठाया, जैसे सुमेरु पर मेघ आकर बैठते हैं, क्षीर सागर तथा गंगा आदि सब नदियों (तीर्थों) का जल मंगवाया गया और भगवान् ने फिर अपना पंचजन्य शंख बजाया, उसके शब्द सुनकर सब सिद्ध गण, ऋषि, ब्राह्मण, विद्याधर, देवता और

मुनियों के समूह आ पहुँचे, सर्वात्मा परमात्मा दैत्य राज काज के संवार लिये सबको खींच लाये, पवन गण देव गण सब स्तुति करने लगे, प्रह्लाद को इस प्रकार अभिषेक करा कर मधुसूदन ने कहा, हे निष्पाप! जब तक सुमेरु के धारण करने हारी पृथ्वी है, जब तक सूर्य चन्द्र मंडल हैं, तब तक अखंडित गुण सम्पन्न राज्य कर! इष्ट अनिष्ट में सम बुद्धि, वीतराग क्रोध से रहित होकर भोग और राज्य की रक्षा कर, तुझे सम्पूर्ण भूमिका प्राप्त हुई है, इस प्रकार अपने अधिकार पर स्थित हुए अन्य राज्यगणों के साथ हर्ष शोक से तथा हेयोपादेय से रहित हुआ व्यवहार कर देश काल क्रिया कार्य जैसे प्राप्त हो ऐसे ही स्थित हो उद्वेग से रहित होकर भोगों को भोग तुमने संसार स्थिति सब देखी है और सब कुछ जानते हो, मैं तुम्हें क्या उपदेश करूं, तू रागद्वेष से रहित होकर राज्य भोग। अब दैत्यों का रुधिर धरणी पर नहीं पड़ेगा, अर्थात् देवताओं से विरोध न होगा। आज से देवता और दैत्यों का संग्राम बंद हुआ, जैसे मंदराचल से रहित क्षीर समुद्र शान्तिमान् हुआ, ऐसे सब जगत् स्वस्थ रहेगा। तेरे हृदय से मोहरूप तम दूर हुआ है, सदा प्रकाश स्वरूप की लक्ष्मी हुई है, राज्यलक्ष्मी से अनन्त विलास भोगते हुए आत्मपद में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादभिषेको नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ।।४१।।

द्विचत्वारिंशः सर्गः ४२

प्रह्लादव्यवस्था वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार कहकर पुंडरीकाक्ष विष्णु परिवार संयुक्त चले, मानों दूसरी संसारकी रचना द्वैव्य मंदिर में चली हैं, उसके पीछे प्रह्लाद ने पुष्पांजलि दी, क्रम से क्षीरसागर को प्राप्त हुए, देवताओं को विदा करके आप शेषनाग के आसन पर विराजमान हुए, जैसे श्वेत कमल पर भ्रमर बैठे, इस प्रकार बैठ कर इन्द्र को सब देवताओं में बैठाया और पाताल लोक में दैत्येश्वर को आसनासीन किया। तब आप

सृष्टि की चिन्ता से छूटकर विगतज्वर हुए क्योंकि देवता और दैत्यों के विरोध की चिन्ता रहती थी, वह दूर हो गयी है, हे रामजी! यह दृष्टि सम्पूर्ण अज्ञान मल के नाश करनेवाली है, जो प्रह्लाद के बोध की प्राप्ति की अवस्था मैंने तुम्हें कही है वह चन्द्रमण्डल के समान शीतल है, जो मनुष्य लोक में बड़ा पापी हो और इसको विचारे, वह कौन है जो परम पद को न प्राप्त हो, हे रामजी! अज्ञानरूप पाप इसके विचार से नष्ट हो जाता है, पापों के कारण अज्ञान का नाश करनेवाला यह विचार है, अतः विचार का कभी त्याग न करो, यह जो प्रह्लाद की सिद्धता का वर्णन किया है, इसका विचार मनुष्य के अनेक जन्मों के पाप नाश करता है, इसमें कुछ संशय नहीं, रामजी बोले–हे भगवन्! प्रह्लाद का मन तो परमपद में परिणत हो गया था, पांचजन्य शब्द से उसे कैसे जगाया? वसिष्ठजी बोले–हे निष्पाप रामजी! लोक में मुक्ति दो प्रकार की है, एक सदेह और एक विदेह, उनका भिन्न भिन्न विभाग सुनो, जिसकी बुद्धि देहादिकों से असंसक्त है, ग्रहण त्याग की जिसमें ईषणा नहीं, निरहंकार हुआ चेष्टा करता है, उसको तुम सदेह मुक्ति जानो, देहादि का नाश होकर पुनर्जन्म न हो इसको विदेह मुक्ति जान, उस पद को प्राप्त होता है जो अदृश्य रूप है, अज्ञानी की वासना कच्चे बीज की नाईं है, जन्म रूप अंकुर को पैदा करती है, ज्ञानवान् की वासना भुने बीज की नाईं जन्म रूप अंकुर से रहित होती है और विदेह मुक्त की वासना का अंकुर दृष्टि नहीं आता। जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में शुद्ध वासना होती है, पावन रूप परम उदारता सत्ता मात्र नित्य आत्मध्यान में है और संसार की ओर से सुषुप्ति की नाईं शान्त रूप है, सहस्र वर्ष का अन्त हो जाय और शुद्ध वासना का बीज हृदय में हो, वो वह पुरुष समाधि से जगेगा, वह जीवन्मुक्त है, अतः प्रह्लाद के अंतःशुद्ध वासना थी, इसलिये पांचजन्य शंख के शब्द से जगा और विष्णु सब भूतों की आत्मा है, जैसे जिसकी इच्छा फुरती है, ऐसे ही तत्काल होती है, सर्वज्ञ सबका कारण है, जब विष्णु ने चिन्ता की तब प्रह्लाद जगा, आप अकारण है, कोई इसका

कारण नहीं, यह सब भूतों का कारण है, सृष्टि की स्थिति के लिये आत्मदेव ने यह शरीर धारण किया है। आत्मा के देखने से माधव विष्णु का दर्शन होता है और विष्णु की आराधना से शीघ्र ही आत्मा के दर्शन होते हैं, आत्मा को देखने के लिये तुम भी इसी दृष्टि का आश्रय करो, तू विराटरूप है, इसी दृष्टि से शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी, जो निरंतर आत्मपद है, वर्षाकाल की नदीवत् संसार असार बादर है, विचाररूप सूर्य के देखे बिना जड़ता दिखाता है, विष्णुरूप आत्मा की प्रसन्नता से बुद्धिमान् को यह भास्वर रूप माया नहीं बेधती, जैसे यक्ष माया यक्ष मंत्र वाले को नहीं बेध सकती, ऐसे आत्मा की इच्छा से यह संसार माया धनता को प्राप्त होती है और आत्मा की इच्छा से निवृत्त होती है, यह संसार माया ईश्वर की इच्छा से बढ़ती है, जैसे आग की लपटें वायु से बढ़ती हैं और वायु से नष्ट होती हैं ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लाद व्यवस्था वर्णनं नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः ४३

प्रह्लादविश्रान्ति वर्णनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! सर्व धर्मों के वेत्ता! तुम्हारे वचन परम शुद्ध कल्याण स्वरूप हैं, इनको सुनकर मैं आनन्दवान् हुआ हूँ, जैसे चन्द्रमा की किरणों से औषधि पुष्ट होती है, ऐसे तुम्हारे वचनामृत श्रोता के ज्ञानबल को पुष्ट करता है, आपके वचन परम कोमल हैं, हे गुरुवर! आपने कहा–सब कार्य अपने पुरुष प्रयत्न से सिद्ध होते हैं, यदि ऐसी बात है तो प्रह्लाद को माधव के वरदान के बिना कुछ भी क्यों न जान पड़ा, जब विष्णु ने वर दिया, तब ज्ञान प्राप्त हुआ, वसिष्ठजी बोले–हे राघव! जो कुछ प्रह्लाद को प्राप्त हुआ है, वह महात्मा पुरुषों

को अपने अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ है, पुरुषार्थ के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जैसे तिलों और तेल में भेद कुछ नहीं ऐसे आत्मा और विष्णु में कुछ भेद नहीं, जो विष्णु है व आत्मा है जो आत्मा है वह विष्णु हैं, विष्णु और आत्मा दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, जैसे विटप और पादप दोनों एक वृक्ष के नाम हैं, ऐसे प्रह्लाद से पहिले अपने प्रमबल को विष्णु भक्ति में जोड़ा। उस आत्मशक्ति से जुडी हुई परमात्मशक्ति से उसे स्वयमेव वर प्राप्त हुआ, उसही आपही विचार द्वारा अपने मन को जीता, वह अपने आपमें आत्मशक्ति से स्वयं जगता है, अथवा इसी बात को ऐसे भी कह सकते हैं कि विष्णु भक्ति से जगता है, हे रामजी! चिरपर्यन्त आराधना करने से महाप्रतापवान् हुआ, विचारहीन मनुष्य को ज्ञान देने के लिये विष्णु समर्थ नहीं, आत्मा के साक्षात्कार में मुख्य कारण अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न हुआ विचार ही है और वर आदि गौण कारण हैं, इसलिये तुम मुख्य कारण का आश्रय पकड़ो, पहिले पांचों इन्द्रियों को वश करो, चित्त को आत्मविचार में जोड़ो, जो कुछ किसी को कदाचित् प्राप्त होता है, वह अपने पुरुषार्थ से होता है, पुरुषार्थ विना नहीं होता, अपने पुरुषार्थ से इन्द्रिय पर्वतों का उल्लंघन करके संसार सागर को तर जाओं। तब परमपद की प्राप्ति हो, यदि पुरुषप्रयत्न बिना जनार्दन दर्शन देता हो तो मृग पक्षिगणों का दर्शन देकर उद्धार क्यों नहीं कर जाता? यदि गुरु पुरुषयत्न बिना उद्धार करते हों तो अज्ञानी अविचारी ऊँट बैल आदि पशुओं का उद्धार क्यों नहीं कर जाते, इसलिये बुद्धिमान् पुरुष न विष्णु से न गुरु से, न किसी अन्य से उद्धार पाने की इच्छा करते हैं, अपने मन के स्वस्थ किये बिना परमसिद्धता की प्राप्ति महात्मापुरुष नहीं जानते, वैराग्य और अभ्यास से जिन पुरुषों ने इन्द्रियरूप शत्रुओं का वश में कर लिया है, वे अपने आप द्वारा उसको पाते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं दीखता, हे रामजी! स्वयं अपनी आराधना करो। आप अपनी पूजा अर्चना करो अपने आपको स्वयं देखो,

स्वयं अपने आपमें स्थित हो, जो पुरुष अल्पज्ञ शास्त्रविचारमूढ़ हैं उनके लिये वैष्णवादि मार्ग कल्पित किये गये हैं यह गौण पूजा का क्रम अज्ञ अवशेन्द्रिय पुरुषों के लिये किया गया है, जिन लोगों ने इन्द्रियों को वश में किया है, उनको भेदपूजा से क्या प्रयोजन है, विचार उपशम के बिना विष्णु भक्ति सिद्ध नहीं होती, जब विचार उपयुक्त हुआ तब अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं, इसलिये विचारयुक्त होकर आत्मा की आराधना करो, जिसकी सिद्धता से तू सिद्ध होगा उसको सिद्ध नहीं किया, जिस पुरुष ने आत्मकल्याण नहीं किया वह पुरुष नहीं गर्दभ है जो आदमी बाह्य विष्णुमूर्ति के आगे प्रार्थना करते हैं, वे आदमी अपने हृदय में विराजमान विष्णुभगवान् को क्यों प्रणाम नहीं करते, हृदय गुहा में जो चेतन तत्वस्थित है वह ईश्वर का मुख्य सनातन वपु है, शंख, चक्र, गदा, पद्म जिसके हाथों में हैं वह आत्मा का गौण वपु है, जो मुख्य को त्यागकर गौण के पीछे दौड़ते हैं वे विद्यमान अमृत को त्यागकर उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, जिसको साधन से पाना है, हे रामजी! मनरूप हाथी को जिस पुरुष ने आत्मविवेक से वश में नहीं किया, उस अविवेकी चित्त को रागद्वेष ठहरने नहीं देते, शंख, चक्र, गदा, पद्म जिसके हाथों में है, उस ईश्वर की जो अर्चना करते हैं, वे बडे कष्ट से पूजन करते हैं। उनका चित्त समय पाकर निर्मल हुए भाव अभ्यास वैराग्य को प्राप्त होता है और नित्य अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है, तब आत्मफल को प्राप्त होता है, चित्त निर्मल हुए बिना आत्मफल को प्राप्त नहीं होता, जब चित्त निर्मल हुआ तब वैराग्य अभ्यासवान् होकर आत्मफल का भागी होता है, जैसे बीज आरोपित किया हुआ समय से फल देता है ऐसे क्रम से फल प्राप्ति होती है, हे रामजी! विष्णु पूजा का जो क्रम है वह भी निमित्तमात्र मधुसुदन ने वर कहे हैं, अमित प्रकाशवाले आत्मतत्व की प्राप्ति तो अभ्यास क्रम से होती है, सबसे उत्तम परम सम्पद् का अर्थ है। आत्मसाक्षात्कार तथा पूर्णानुभूति जिसकी मनोनिग्रह से ही प्राप्ति होती है, मन का निग्रह करना बीज है, वह चेतनरूप क्षेत्र से प्रफुल्लित होकर

फलदायक होता है। सम्पूर्ण पृथ्वी की निधि और सम्पूर्ण शिला बड़ी बड़ी मणि की हों, तो भी मन मन के निग्रह समान नहीं, जैसी दुःख नाशक महान् शक्ति मन का निग्रह है ऐसी अन्य कोई नहीं, तब तक यह जीव अनेक जन्म पाता है, जब तक उपशम को प्राप्त नहीं हुआ। मन रूप मत्स्य संसार समुद्र में घूमता है, हे रामजी! ब्रह्मा विष्णु महेश को चिरकाल पर्यन्त पूजता रहे परन्तु मन उपशम और विचार संयुक्त न हुआ हो तो देवता कृपालु होने पर भी संसार समुद्र से पार नहीं कर सकते। यह जो भासुर आकार जगत् के पदार्थ भासते हैं, उनको इन्द्रियों से त्याग किया जाये तब जन्म के अभाव का कारण जाना जा सकता है, विषयों के चिंतन से रहित होकर आत्मतत्व की प्राप्ति के लिये निग्रहीत मन से निरन्तर अभ्यास करे तब सर्व दुःखों से रहित परमानन्द स्वरूप आत्मसुख की प्राप्ति होती है। उस आत्मतत्व में स्थिति प्राप्त करो जो सत्तामात्र तत्व है, सबका साररूप है, उस स्वाद लेकर मनो नदी के पार को प्राप्त हो जाओ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे प्रह्लादविश्रान्तिवर्णनं
नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ४४

गाधिबोधोपाख्यानेगाधिविनाशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह जो संसाररूप नाम वाली माया है वह अनन्त है, किसी प्रकार इसका पार नहीं पाया जा सकता, परन्तु जब मन वश में हो तब यह निवृत्त हो जाती है, अन्यथा निवृत्त नहीं होती, जितना जगत् देखने सुनने में आता है, सब माया मात्र है, मायारूप जगत् के भ्रम से भासता है, इस पर तुम एक पूर्व का इतिहास सुनो, हे रामजी! इस पृथ्वी पर कोसल नामक एक देश है, उस देश की संसार में

बडी महिमा है क्योंकि वह देश रत्नाकर है, रत्नों से भरा हुआ है जैसे सुमेरु पर्वत रत्नों से पूर्ण है ऐसे ही वह पुरुषरत्नों से पूर्ण है, वहां एक गाधि नाम ब्राह्मण जो कि परम तपस्वी वेद वेत्ता और बाल्यावस्था से ही वैराग्यवान् था निवास करता था, वैराग्यादि गुणो से उसकी अनन्य शोभा थी, जैसे प्रकाश से मकान सुशोभित होता है–ऐसे ही उसकी भी शोभा थी। एक समय का प्रसंग है कि वह ब्रह्मर्षि किसी कार्य विशेष के उद्देश से तप करने को बन में गया, वहां उसने एक कमलों से भरा हुआ तालाब देखा, उसमें कंठ पर्यन्त जल में स्थित होकर तप करने लगा अपना उद्देश मन में रखकर विष्णु के ध्यान में खड़ा खड़ा ही मग्न हो गया, आठ महीने दिन रात ज़ल में खडा रहा, उसके दृढ तप को देखकर विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर वहीं आ पहुंचे जहां कि वह तप कर रहा था, जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ की तपी पृथ्वी पर मेघ आता है, ऐसे आकर विष्णु भगवान् कहने लगे, हे ब्राह्मण! जल से बाहिर आओ और मनोभिलषित वर मांगो, तब गाधि ने कहा हे भगवन्! असंख्य जीवों के असंख्य हृदय कमलों में आप भ्रमर हैं और त्रिलोकी रूप कमलों के तालाब हो, ऐसे सर्व समर्थ तुम परमात्मा को मेरा नमस्कार है, हे भगवन्! मुझको यह इच्छा है कि आपकी यह जो आश्चर्यरूप जो माया है जिससे यह जगत् रचा गया है इसी प्रकार मैं इसको देखूं, हे रामजी! जब इस प्रकार गाधि ब्राह्मण ने कहा तब भगवान् विष्णु बोले– हे ब्राह्मण! माया को देखेगा और देखकर त्याग देगा, ऐसा कहकर विष्णु अन्तर्धान हो गये, तब ब्राह्मण वर पाकर आनन्दवान् हुआ और जल से निकला, जैसे निर्धन पुरुष धन पाकर आनन्दवान् होता है ऐसे ब्राह्मण वर पाकर प्रसन्न हुआ और उठते बैठते उसी वर के विचार में रहने लगा, कि मैं माया कब देखूंगा, तब एक समय उसी तालाब में स्नान करने लगा, डुबकी लगाई, उस समय मन में अघमर्षण मंत्र का जप कर रहा था, उस मंत्र का जप करते हुए भी चित्त विपरीत होकर निकल गया, तब उसको मंत्र भूल गया और उसने अपने आपको अपने घर में स्थित देखा, कुछ समय के बाद उसने अपने आपको मृत देखा कि मैं मर गया हूं और सब कुटुम्ब के लोग

रुदन करते हैं शरीर की कान्ति जाती रही, जैसे टूटे कमलों की शोभा जाती रहती है, ऐसे शोभा शून्य शरीर हुआ जैसे पवन के अचल होने पर वृक्ष अचल हो जाता है, ऐसे प्राणों के निकल जाने से शरीर अचल हो गया है, ओष्ठ फैल जाने से विरूप हो गये हैं, मानों अपने जीवन पर हंसते हैं, माता गाधि को पकड़े हुए बैठी हैं सब परिवार के लोग इकट्ठे हुए हैं, जैसे वृक्ष पर पक्षी इकट्ठे होते हैं, जैसे बांध के टूट जाने पर जल चलता हैं, ऐसे रुदन कर रहे हैं, तब बांधव लोगों ने कहा अब यह अमंगल रूप हैं इसको जलाना चाहिये इतना कहकर जलाने को ले चले, विधिपूर्वक चित्ता में रखकर जला दिया गया और घर में आकर क्रियाकर्म किया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधोपाख्याने गाधिविनाशवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ४५

गाधिबोधोपाख्यानेचाण्डालीवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! तदन्तर वह ब्राह्मण देशान्तर में जाकर चाण्डाल बना, उस देश में चाण्डालों का एक ग्राम था, उसने अपने आपको एक चाण्डाली के गर्भ में देखा, कि मैं यहाँ आ पड़ा हूं, जैसे श्वान की विष्ठा में कृमि होता है, इस प्रकार उसने अपने आपको वहां प्रविष्ठ हुआ देखा, तब समय पाकर गर्भ से बाहिर निकला, जैसे पका फल वृक्ष से गिरता है, ऐसे श्याम मूर्ति चांडाली के पेट से सुन्दर बालक के रूप में बाहिर आया, चांडाली की इसके साथ विशेष प्रीति हुई, बढ़ता जाने लगा, जैसे छोटा वृक्ष बढ़ जाता है, ऐसे द्वादश वर्ष का हुआ, षोडश वर्ष का हुआ, तब कुत्तों को साथ लेकर वन में जाने लगा, मृगों को मारता, बहुत स्थानों में विचरता, इसी प्रकार युवा हुआ तो विवाहित भी हुआ,

यौवन अवस्था भी व्यतीत हुई, बहुत बड़ा कुटुम्बी हुआ, पुत्र पौत्र बहुत हुए, तदनन्तर वृद्ध हुआ, शरीर जर्जरित हुआ तृण कुटी बनाकर बाहिर जाकर रहने लगा, जैसे मुनिजन रहते हैं, वहां दुर्भिक्ष पड़ा, इसके बांधव क्षुधा से मरने लगे, तब वहां से अकेला ही निकला, बहुत स्थानों को लांघता गया, एक कीर नाम के देश में जा पहुंचा, उस देश का राजा मर गया था, मंत्रियों ने उस राजा के बडे हस्ती को इसलिये छोडा हुआ था कि जिसको यह स्वीकार करे उसको राजा बना लिया जाय! तब वह हाथी चला आ रहा था, यह भी सामने था इसको देखकर उसने जब निकट आया तो शीघ्र ही अपने शुंडादंड से उठाकर इसको अपने शिर पर बैठा लिया, तब नक्कारे तुरहियाँ आदि बाजे बजने लगे, उस बडे शब्द से मालूम पड़ने लगा, जैसे प्रलय के मेघ गर्जते हैं और भाट आदि स्तुति पाठक लोग स्तुति करने लगे, हाथी पर बैठने से इसके मुख की शोभा और भी अधिक हो गयी, तब सेना सहित राजा शोभित हुआ, जैसे तारागण में चन्द्रमा शोभा पाता है इस प्रकार सुशोभित हुआ, अन्तःपुर में जाकर रानियों में स्थित हुआ, सब ओर से रानियां तथा परिचारिकायें आकर इसके समीप आ विराजीं। इसको उन सबने स्नान कराके नाना प्रकार के हीरे मोती जड़े भूषण और सुन्दर वस्त्र पहिराये, वस्त्र भूषणों से अलंकृत होने पर तो इसकी अनुपम शोभा हुई, सारांश यह कि राजा बनकर राज्य करने लगे, सब स्थान और सर्वत्र देश में इसकी आज्ञा चलने लगी। सब लोग इससे भय मानने लगे अर्थात् राजा का जैसा प्रभाव होना चाहिये वह इसका कल्पनातीत सम्पन्न हुआ, किसी प्रकार की ऊनता अवशिष्ट न रही, यह परम तेजस्वी राजा होकर विचरने लगा, जैसे वन में सिंह विचरता है, इस प्रकार इसने चिरपर्यन्त राज्य किया, हाथी पर आरुढ़ होकर शिकार खेलने निकलता था, सब देशों पर इसकी आज्ञा का प्रभाव छा गया था और यह महाराजा गवल नाम से प्रख्यात हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधोपाख्याने
चाण्डालीवर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ।।४५।।

षट्चत्वारिंशः सर्गः ४६

राजप्रध्वंसवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! इस प्रकार लक्ष्मी को पाकर आनन्दवान् हुआ, पूर्णिमा के चन्द्र समान प्रकाशित होकर सुशोभित हुआ और आठ वर्ष पर्यन्त राज्य किया, तब एक समय भूषण वस्त्रों को धारण किये बैठा था कि मन में संकल्प उठा कि मुझे वस्त्र भूषण के पहिरने से क्या प्रयोजन सिद्धि है और इनकी सुन्दरता क्या है? मैं तो राजाधिराज अपने तेज से तेजस्वी तथा सुशोभित हूं, हे रामजी! ऐसा विचार करके उसने भूषण वस्त्र उतार डाले, शुद्ध श्याम मूर्ति होकर स्थित हुआ, जैसे प्रातःकाल के समय तारागण से रहित श्याम आकाश होता है, ऐसे होकर फिर अपनी उस चांडाल अवस्था के वस्त्र धारण किये, अकेला ही निकलकर बाहिर ड्योढ़ी में जाकर खड़ा हुआ, तब उस देश के चाण्डाल, जिनको यह दुर्भिक्ष के कारण छोड़ आता था, बहुत से उसी मार्ग से आ निकले, उनमें एक चाण्डाल हाथ मे तंत्री लिये आया था उसने राजा को पहचाना, तब वह राजा के सम्मुख आया, मानों श्याम पर्वत चला आता है, कहने लगा, ऐ भाई! इतना समय तुम कहां थे, हमें छोड़कर यहां आकर सुख भोगने लगे! हे भाई! यहां राजा ने तुमको सुखी किया होगा, क्योंकि तू गाना अच्छा जानता है और गाना राजा को प्यारा होता है। तू कोयल के समान मधुर गाता है, इस कारण से प्रसन्न होकर धन दिया होगा, अथवा किसी और धनी ने प्रसन्न होकर तुझको धन और मकान दिया होगा, हे रामजी! इस प्रकार वह चांडाल मुख से कहता और भुजा पसारता हुआ इसकी ओर चला आता था और यह हाथों और आँखों के इशारों से उसको समझाता था कि चुप रहो, मुख से कुंछ मत कहो, परन्तु वह चांडाल कुछ समझता नहीं था, सामने चला आता था, ज्यों ज्यों वह चला आता था, राजा की कान्ति घटती जाती थी, जैसे गेंडे से मारे हुए

कमलों की कान्ति घट जाती है और ऊपर झरोखों में सहेलियाँ देखती थीं, उन्होंने देखकर विचार किया कि राजा चांडाल है, ऐसे विचार कर महाशोकाकुल हुईं और कहने लगीं कि हमें बड़ा पाप लगा जो कि हमने इसके साथ स्पर्श किया है, भोजन किया है और साथ विचरी हैं, ऐसी शोक व्याकुला हुईं कि सबकी कान्ति नष्ट हुई जैसे बर्फ पड़ने से कमल कान्ति नहीं रहती जैसे वन में आग लग जाने से वृक्षों की शोभा नष्ट हो जाती है, ऐसे उनकी कान्ति भी जाती रही, शोकार्त होकर कष्ट पाने लगीं और सब नगरवासी भी सुनकर शोकवान हुए और हाय हाय शब्द करने लगे, तब वह राजा अपने अन्तःपुर में आया, जितने कुछ लोग वहां थे वे उसको देखकर भागे, कोई पास नहीं आया, जैसे पर्वत को आग लगे तो वहां के मृग पक्षी भाग जाते हैं, ऐसे ही चांडाल राजा के पास कोई नहीं आता था, मन्त्री सेवक स्त्रियाँ सब दूर भाग जाते थे, तब उस स्थान पर जो पढ़े लिखे बुद्धिमान् लोग थे उन लोगों से विचार किया कि बड़ा अनर्थ हुआ है, इतने समय से हम चाण्डाल राजा के ही द्वारा जीवित रहे हैं, खाना भी यहां, पीना भी यहां, अब हम क्या करें, हमें बड़ा पाप लगा है, इस पाप का और प्रायश्चित नहीं है, हम सब चितायें बनाकर अग्नि में प्रवेश करके जल मरेंगे, तब यह पाप निवृत्त होगा, हे रामजी! जब यह विचार ब्राह्मण क्षत्रिय लोगों ने किया, तब उसके अनन्तर चिता बनाकर जलने लगे, पुत्र कलत्र बांधवों को छोड़कर अग्नि में प्रवेश करते थे। जैसे दीपक में पतंग प्रवेश करे, ऐसे जलते थे और जैसे आकाश में तारे दृष्टि आते हैं, ऐसे अनेकों चिताओं का चमत्कार भी दीखता था और धुएं से अंधकार हो रहा था, कई मनुष्य धर्मात्मा अपनी इच्छा से नहीं चले तब उनको अन्य पुरुष ले जाकर जलाते थे, तब चांडाल राजा विचार करने लगा कि मेरे एक के निमित्त इतने नगरवासी जलते हैं जीना भी उसका श्रेष्ठ है जिससे शोभा उत्पन्न हो, जिस जीने से पाप उत्पन्न हो उससे मरना श्रेष्ठ है, हे रामजी! ऐसा विचार कर कर उस राजा ने भी चिता बनाई और जैसे दीपक में पतंग

प्रवेश करें ऐसे राजा ने भी चिता में प्रवेश किया, जब अग्नि का तेज शरीर को लगा, तब गाधिका वह शरीर जिससे तालाब में डुबकी लगाई थी कांपने लगा, तब शिर पानी से बाहिर निकाला, परन्तु सावधान हुआ। वाल्मीकिजी बोले–इस प्रकार जब वसिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त हुआ, सब सभा परस्पर नमस्कार करके स्नान के लिये गयी, रात्रि समाप्त होने पर सूर्य की किरणों के साथ फिर सब अपने अपने स्थान पर आकर बैठ गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधोपाख्याने राजप्रध्वंस वर्णन नाम षटचत्वारिंश सर्गः ।।४६।।

सप्तचत्वारिंशः सर्गः ।।४७।।

प्रत्यक्षावलोकनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इतना भ्रम उसने दो मुहूर्त में देखा, अर्धघटी पर्यन्त बोध कुछ न हुआ, उसके बाद बोधवान् हुआ और उस संसार भ्रम से रहित हुआ, बाहिर निकलकर विचार करने लगा कि मुझको कुछ भ्रम जैसा हुआ। कहाँ था वह मेरा घर में मरना और चांडाल के घर में जन्म लेना, कुटुम्ब में रहना और राज्य करना, बड़ा भ्रम मुझको हुआ है, हे रामजी! ऐसा विचार करके उसने सन्ध्या वन्दनादि कर्म किया। इस भ्रम को बार बार स्मरण करके आश्चर्यवान् होता था परन्तु ऐसा न जान सका कि यह सब कुछ भगवान् का वर पाकर मैंने माया देखी। जब कुछ समय बीता तब एक ब्राह्मण दुर्बल जैसा भूखा और थका हुआ इसके आश्रम पर आया, मानों ब्रह्मा के आश्रम पर दुर्वासा ऋषि आया हो, तब गाधि ने उस ब्राह्मण ऋषि को अन्दर आदर सहित बिठाया और फल पुष्प इकट्ठे करके उसके आगे रक्खे, जैसे वसन्त में वृक्ष फलों फूलों से पूर्ण होता है ऐसे उसको पूर्ण किया और कुछ दिन वहां रहा। दोनों संध्यादिक कर्म और मन्त्र जप इकट्ठे बैठकर करते थे,

रात को पत्रों की शय्या बनाकर शयन करते थे। एक रात की बात है कि शय्या पर बैठे बातचीत कर रहे थे तब प्रसंगवश गाधि ने पूछा कि हे ब्राह्मण! तेरा शरीर कृश जैसा और थका हुआ क्यों है? हे रामजी! जब इस प्रकार गाधि ने ब्राह्मण से पूछा तब उसने कहा, हे साधो! जो कुछ तुमने पूछा है वह मैं कहता हूँ, हम सत्यवादी हैं, जैसे वृत्तान्त हुआ है ऐसा तू सुन! एक समय मैं देशान्तर में फिरता फिरता उत्तर दिशा में गया, वहां एक कीर देश है, उसमें चला गया, वहां रहने लगा, वहां के गृहस्थ भले प्रकार सेवा करते थे। उनके उत्तम भोजन और सुन्दर वस्त्र से मैं प्रसन्न होता था। रसास्वादन करने मे मेरा चित्त मोह में पड़ गया तब एक दिन मेरे मुख से यह शब्द निकले कि यहाँ के लोग बड़े श्रद्धावान् और दयावान् हैं, तब जो लोग पास बैठे थे कहने लगे हे साधो! आगे यहां दया धर्म बहुत था अब कुछ घट गया है, तब मैंने पूछा कि क्यों घटा है, कहो! तब उसने कहा, इस देश का राजा मर गया था, उसके बाद एक चांडाल राजा हुआ था, पहिले किसीने न जाना, आठ वर्ष तक वह राज करता रहा, जब उसकी बात प्रकट हुई कि चांडाल है, तब देश के रहनेवाले जो ब्राह्मण क्षत्रिय थे, वे चिताएं बनाकर जल मरे थे, बाद में राजा भी जल मरा और भी अनेक जीव जल मरे थे, ऐसा पाप इस देश में हुआ, इस कारण से दया धर्म कुछ घट गया है, हे ब्राह्मण! जब इस प्रकार नगरवासियों से सुना तब मैं बहुत शोकवान् हुआ और वहां से चला कि हाय! हाय! मैं बड़े पापी देश में रहा हूँ, ऐसा विचारकर मैं प्रयागादितीर्थों पर चला, तीर्थ यात्रा करके कृच्छ और चान्द्रायण व्रत किये, कृष्णपक्ष में एक एक ग्रास घटाता गया, अमावस्या के दिन निराहार रहा फिर जब शुक्लपक्ष आया मैंने एक ग्रास बढ़ाया, पूर्णिमा के चन्द्रमा की कला के साथ बढ़ाता और कला के साथ घटाता था, इस प्रकार मैंने तीन कृच्छ्र चान्द्रायण किये हैं, वहां से चला, तेरे आश्रम पर व्रत खोला है, हे साधो! इस निमित्त मेरा शरीर कृश और निर्बल हुआ है, हे रामजी! जब इस प्रकार ब्राह्मण ने कहा तब गाधि विस्मय को

प्राप्त हुआ कि जो मैं जानता था कि मुझको भ्रम सा हो गया है, वह इसने प्रत्यक्ष बात कह दी है, ऐसा विचारकर पूछा, उसने ऐसा ही कहा, तब सुनकर आश्चर्यवान् हुआ, जब रात्रि व्यतीत हुई, सूर्य उदय हुआ, तब संध्या आदिक कर्म किया, वह अतीत रमता रहा, तब अकेला होकर विचारने लगा कि मैंने कैसा भ्रम देखा है और ब्राह्मण ने सत्य रूप से देखा, वह कैसे हो गया? इसलिये अब उस देश को चलकर देखूं जहाँ मैं चांडाल शरीर हुआ, हे रामजी! इस प्रकार विचारकर मनोराज्य के भ्रम को देखने गाधि ब्राह्मण चला, चलता चलता उस देश में जा प्राप्त हुआ, जैसे ऊंट कंटकों को ढूंढ़ता कटको के वन में चला जाता है, ऐसे यह चाण्डाल के स्थान को प्राप्त हुआ, तब चांडाल का स्थान देखा, जंहाँ अपना स्थान था वहां गया, उसको देखा, अपने खेती लगाने की भूमि देखी, बाड़ी कुछ खड़ी है कुछ गिर गयी है और पशुओं के चमड़े और अस्थियों को जिनको अपने हाथों से वहाँ फेंक आया था, प्रत्यक्ष देखा, देखकर आश्चर्यवान् हुआ, हे देव! यह क्या आश्चर्य है, चित्त के भ्रम को मैंने प्रत्यक्ष देखा है, जो बाल्य काल के क्रीडा स्थान थे, वह देखे और भोजन के स्थान मद्यपान के स्थान और पात्र थे तथा अन्य खान पान के जो विशेष स्थान थे उन सबको देखा और महान् वैराग्य को प्राप्त हुआ और ग्रामवासी मनुष्यों से पूछा, यह देखें क्या कहते हैं, हे साधो! यहाँ एक चाण्डाल था, काले से भारी शरीर वाला, क्या कुछ तुम्हें भी स्मरण है, हे रामजी! जब इस प्रकार ब्राह्मण ने पूछा तब ग्रामवासी कहने लगे, हे ब्राह्मण देवता! यहाँ एक कंटज नाम चांडाल था, क्रम से बड़ा हुआ, तब उसका विवाह हुआ, बेटा बेटी परिवार सहित बड़ा कुटुम्बी वृद्ध हुआ, वह दैव योग से अकेला ही निकला, जाता जाता कीर देश में गया, वहां के राजा की मृत्यु हो गयी थी, वह राज्य इसको मिल गया, वहां आठ वर्ष तक राज्य करता रहा, तब नगरवासियों ने सुना कि यह चांडाल है, तब बहुत शोकवान हुए और चिताएं बना बना कर जल मरे। इस प्रकार सुनकर गाधि बहुत आश्चर्यवान् हुआ, एकसे सुनकर और से

पूछा, वह भी इसी प्रकार कहे, ऐसे बार बार लोगों से पूछता था, एक माह तक वहां रहा, बाद में आगे चला।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधोपाख्याने प्रत्यक्षावलोकन वर्णनं नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥४७॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः ४८

मायामहत्ववर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! फिर वह नदियों पहाड़ों और हिमालय पर्वत की उत्तर दिशा में घूमता हुआ कीर देश में जा पहुँचा, उन स्थानों के प्रति उसे जितनी जानकारी की इच्छा थी, प्राप्त की, जहां सुन्दर स्त्रियाँ थी, जहाँ चमर डुलाये जाते थे, उन सब स्थानों को प्रत्यक्ष देखा, नगर वासियों से फिर पूछा कि यहां कोई चांडाल राजा भी हुआ है? कुछ स्मरण हो तो मुझे सुनाओ, हे रामजी! तब नगर वासियों ने कहा हे साधो! यहां का राजा मर गया था और मंत्रियों ने हाथी छोड़ा था और कहा हुआ था कि जो मनुष्य हस्ती के सम्मुख आवे उसको राजा बनाना, जब हाथी चला तब उसके सम्मुख चांडाल आ निकला, तब हाथी ने चांडाल को सिर पर बैठा लिया, उस समय और विचार किसी ने नहीं किया, उसको राजतिलक किया गया, आठ वर्ष पर्यन्त राजा राज्य करता रहा, तदनन्तर जब उसके बान्धव आये और उसके साथ चर्चा करने लगे तब सहेलियों ने ऊपर से देखा कि यह चांडाल है, ऐसा देखकर उन्होंने उसका त्याग किया, ऐसा हो जाने पर जो विचारवान् लोग उसके साथ चेष्टा स्पर्श भाषण आदि करते थे, चिताएं बना बनाकर जल मरे, वह राजा भी अपने को धिक्कार कर जल मरा, आठ वर्ष पर्यन्त वह राज्य करता रहा और उसको बारह वर्ष मरे हुए व्यतीत हो गये। हे रामजी! इस प्रकार सुनकर गाधि ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य प्राप्त हुआ,

कि कहां मैं जल में स्थित था और कहां ऐसी अवस्था देखी, ऐसा विचार कर ही रहा था कि इतने में पूर्व का वृतान्त स्मरण आया कि यह आश्चर्य भगवान् की माया है, मैंने वर मांगा था, इस माया से इतना भ्रम देखा है, यह आश्चर्य है कि यहाँ दो मुहूर्त हैं और वहाँ से मुझे इतना काल भासा है, स्वप्न भ्रम के समान है और सत्य रूप से स्थित हुआ है, यह बड़ा आश्चर्य है, इसलिये संशय निवृत्त करने के वास्ते विष्णु भगवान् का ध्यान करूँ जिनकी माया से मैंने इतना भ्रम देखा है और कोई संशय को निवारण करने में समर्थ नहीं, हे रामजी! इस प्रकार विचार कर गाधि ब्राह्मण फिर पहाड़ की कन्दरा में जाकर तप करने लगा। एक अंजलि जलपान करता और भोजन कुछ न करता था, इस प्रकार उसने ड़ेढ वर्ष पर्यन्त तप किया, तब त्रिलोकीनाथ विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष हुए और कहा—हे ब्राह्मण! मेरी माया देख, जो जगत् जाल को रचने वाली है, अब और क्या इच्छा करता है? हे रामजी! जब विष्णु भगवान् ने ऐसे कहा तब जैसे मेघ को देखकर पपिहा बोलता है, इस प्रकार ब्राह्मण बोला—हे भगवन्! तेरी माया तो मैंने देखी, परन्तु एक संशय मुझको है कि यह स्वप्न भ्रम की नाईं मैंने देखा, इसमें काल की विषमता कैसे हुई, जो यहां दो मुहूर्त व्यतीत हुए हैं और वहां चिरकाल पर्यन्त भ्रमता रहा हूँ और उन असत्य पदार्थों को जाग्रत में प्रत्यक्ष कैसे देखे? श्री भगवान् बोले—हे ब्राह्मण! और कुछ नहीं, तेरे चित्त का ही भ्रम है जिसके चित्त में तत्व की अदृष्टता उसको यह चित्तभ्रम होता है और वह क्या भ्रम था, जितना कुछ जगत् प्रत्यक्ष दीखता है वह भी तेरे मन में स्थित है; बाहिर पृथ्वी आदिक तत्व कोई नहीं, सब तेरे अन्दर स्थित है, जैसे बीज के अन्दर फूल फल पत्र हैं, ऐसे पृथ्वी जल तेज वायु आकाश जितना कुछ पांच भौतिक है, वह सब विस्तार चित्त में स्थित है, जैसे वृक्ष का विस्तार बीज में दृष्टि नहीं आता, जब बीजा हुआ अंकुरित (प्रस्फुटित) होता है तब विस्तार दृष्टि आता है, ऐसे जब चित्त ज्ञान में लीन होता है तब जगत् नहीं भासता और जब स्पंद रूप होता है, तब बड़े विस्तार से जगत् भासता है, हे ब्राह्मण! जितना जगत् दीखता है वह

सब चित्त का भ्रम है, जैसे एक कुलाल घटादिक वासना उत्पन्न करता है, ऐसे एक ही चित्त अनेक भ्रमरूप पदार्थों को उत्पन्न करता है और जो चित्त वासना से रहित है उससे भ्रमरूप पदार्थ कोई नहीं उपजता, इसलिये चित्त को स्थित कर। हे ब्राह्मण! इस चित्त में कोटि ब्रह्माण्ड स्थित है, जो तुझको चाण्डाल अवस्था का अनुभव हुआ है तो इसमें क्या आश्चर्य है? तू कहता है कि मैंने बड़ी आश्चर्य रूप माया देखी है, उसको ही माया कहता है, अब जो तुझको विद्यमान भासता है वह सब ही माया है, जो तुझको अपने घर में अनुभव हुआ था और चांडाल के घर में जन्म लिया था, कुटुम्बी हुआ और राज्य किया, चिता में जला, अतिथि ब्राह्मण को मिला, जाकर सब स्थान देखे, वह भी माया थी, जैसे इतने भ्रम तुमने माया से देखे यह पसारा भी सब माया है, हे साधो! जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं और जैसे मदिरा पान करने वाले को सब पदार्थ घूमते हुए प्रतीत होते हैं, ऐसे यह जगत् भी भ्रम से भासता है, जैसे नाव पर चढ़े हुए को तट के वृक्ष घूमते दीखते हैं, ऐसे यह जगत् भी भ्रममात्र भासता है, चित्त के स्थित करने से जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं होता, जैसे पत्र फूल फल शाखा काटने से वृक्ष का नाश नहीं होता। जब मूल से काटा जाय तो नाश हो जाता है, ऐसे ही जब जगद् भ्रम के मूल कारण चित्त का नाश हो तब सम्पूर्ण भ्रम निवृत्त हो जाता है, वह चित्त का नाश होना क्या है? जो चित्त की चेत्यता दृश्य की ओर दौड़ती है वही जगत् का बीज है, जब यही चैत्यता दृश्य की ओर फुरने से रहित हो, तब जगत् भ्रम भी मिट जाये और जगत् सकी ओर का स्फुरण तब मिटे जब जगत् को माया मात्र जाने, हे साधो! यह सब जगत् माया मात्र है, कोई पदार्थ सत्य नहीं, जैसे वह भ्रम तुझको माया मात्र भासा है, ऐसे यह भी सब माया मात्र जान। अतः इस भ्रम को त्यागकर अपना जो ब्राह्मण कर्म है, इसमें जाकर स्थिति करो, हे रामजी! इस प्रकार कहकर विष्णु देव उठ खड़े हुए तब गाधि और अपर ऋषीश्वर जो वहां थे, उन्होंने विष्णु की पूजा की, पूजा स्वीकार करके

विष्णु भगवान् क्षीर सागर को चले गये, तब ब्राह्मण फिर उसी भ्रम को देखने चला। कीर देश में गया, उनको देखकर आश्चर्यवान् होता, विष्णु कैसे है मायामय कहाते है, यह जो मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ, जो कुछ भ्रम से देखा था वही प्रत्यक्ष देखता हूँ, ऐसा विचार कर फिर कहने लगा कि इस संशय को दूर करने के लिये कोई समय नहीं, अतः फिर विष्णु का आराधन करने लगा। हे रामजी! इस प्रकार विचार कर गाधि फिर पहाड़ की कन्दरा में जाकर तप करने लगा, तप से थोड़े समय में ही विष्णु भगवान् प्रसन्न होकर आ गये, जैसे मेघ मोर को कहे, ऐसे ब्राह्मण को भगवान् कहने लगे—हे ब्राह्मण! अब क्या चाहता हैं? तब गाधि ने कहा—हे भगवन्! तुम कहते हो सब भ्रममात्र है, यह तो प्रत्यक्ष भासता है, जो भ्रम होता है वह प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और मैंने वह स्थान देखे हैं, थोड़े काल से बहुत काल देखने का मुझको संशय है, वह दूर कीजिये। हे रामजी! जब इस प्रकार गाधि ने कहा तब भगवान् बोले—हे ब्राह्मण! जो कुछ तुझको भासता है सब माया मात्र है और जिस प्रकार तुझको भासता है वह सब माया मात्र है और जिस प्रकार यह तुझको अनुभव हुआ है, वह सुन, हे ब्राह्मण! वह कंटज नाम चांडाल एक चांडाल के घर में उत्पन्न हुआ था, फिर क्रम से बड़ा हुआ और कुटुम्बी हुआ, तब वहां दुर्भिक्ष पड़ा तब उस देश को त्यागकर कीर देश का राजा हुआ, लोगों ने सुना तो सब आग में जल मरे और वहां चांडाल स्वयं भी आग में जल मरा, वह कटञ्ज चांडाल और था, यह अवस्था उसकी हुई थी, वही प्रतिभा तुझको फुरी है, जैसी अवस्था उसकी हुई थी, वही बुद्धि तुझमें स्फुरित हुई है, इस कारण से तुमने जान लिया कि यह अवस्था मैंने देखी है, हे साधो! अकस्मात् ऐसे भी होता है जो और की प्रतिभा और को स्फुरित होती है, कहीं अन्यथा भी होतीं है, कहीं एक जैसी भी होती है, इस भ्रम का अन्त लेना नहीं आता यह चित्त के स्फुरण से होता है, जब चित्त आत्मपद में स्थित होता है, तब जगद्भ्रम मिट जाता है और काल की विषमता होती है, जैसे जाग्रत की दो घड़ी में अनेक वर्षों

का स्वप्न देखता है, ऐसे इसको जानो, सब चित्त का भ्रम है, तू इस भ्रम को न देख, चित्त को स्थिर करके अपना ब्राह्मणत्व का आचार कर। हे रामजी! ऐसा कहकर विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये, परन्तु ब्राह्मण का संशय दूर न हुआ। वह मन में ऐसा विचारता था कि और की प्रतिभा मुझको कैसे हुई है, यह तो मैंने प्रत्यक्ष और जाकर देखी है, यह और की बात कैसे हो, जो आंखों से देखी नहीं होती, उसका अनुभव नहीं होता और मैंने तो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, ऐसे ऐसे विचारकर फिर वह स्थान देखे और आश्चर्यवान् होये, पुनः विचार करने लगा कि यह मुझको बड़ा संशय है, इसको दूर करने का उपाय भगवान् से पूछूँ, हे रामजी! ऐसा चिन्तन कर तप करने लगा, जब पहाड़ की कन्दरा में बैठ कर तप करते हुए को कुछ काल बीता तो भगवान् ने प्रकट होकर फिर कहा–हे ब्राह्मण! अब तेरी क्या इच्छा है? विष्णु भगवान् के इस कथन पर ब्राह्मण बोला, हे भगवन्! तुम कहते हो यह और की प्रतिभा तुझको फुर आई है और मुझको अपनी होकर भासती है और काल की विषमता भासती है, यह संशय जिस प्रकार मेरे चित्त से दूर हो वह उपाय कहो और प्रयोजन मेरा कुछ नहीं, यह भ्रम निवृत्त करो, श्री भगवान् बोले–हे ब्राह्मण! यह जगत् सब मेरी माया से रचा गया है, उसमें मैं तुझको सत्य क्या कहूँ और असत्य क्या कहूँ? जो कुछ तुझको भासता है, सब माया मात्र है, वह चित्त के भ्रम से भासता है और उस चांडाल की अवस्था हुई है, वह तेरे चित्त में भास आई है, जैसे एक जेवरी में किसी को सर्प भासे, इसी प्रकार औरों को भी जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे ही प्रतिभा तुझको भास आई है और काल का रूप आकार कुछ नहीं, काल भी तुझको एक पदार्थ की नाईं फुर आया है, चित्त में पदार्थ काल से ही भासते हैं और काल पदार्थों से भासता है, अन्योन्य घट पट जो भासता है, वह स्वप्न की नाईं है, जैसे जाग्रत के एक मुहूर्त में स्वप्न का अनन्त काल का अनुभव होता है, यह चित्त का स्फुरण जैसे जैसे फुरता है, ऐसे ऐसे हो भासता है, रोगी को थोड़ा काल भी बहुत हो भासता है और भोगी को

बहुत काल भी थोड़ा भासता है, हे साधो! जो नहीं भोगा होता उसको अनुभव होता है, जैसे त्रिकालदर्शी को भविष्य वृत्तान्त भी वर्तमान की नाईं भासता है, ऐसे तुझको अनुभव हुआ है और एक ऐसा भी होता है कि प्रत्यक्ष अनुभव किया विस्मरण हो जाता है, यह सब मायारूप चित्त का भ्रम है, जब तक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं हुआ, तब तक अनेक भ्रम भासते हैं, जब चित्त में स्थित होता है तब भ्रम मिट जाता है, केवल एक अद्वैत तत्व ही भासता है, जैसे सम्यक् मन्त्र के पाठ से गढ़े का मेघ नष्ट हो जाता है, असम्यक् मन्त्र से नाश नहीं होता, ऐसे ही तेरा चित्त अब तक वश नहीं हुआ, चित्त को आत्मपद के साथ जोड़ने से सब भ्रम निवृत्त हो जायेगा और अहं, त्वं आदिक जो कुछ शब्द हैं, अज्ञानी के चित्त में दृढ होते हैं, ज्ञानवान् इनमें नहीं फँसता, हे साधो! जितना कुछ जगत् है, अज्ञान से भासता है, आत्मज्ञान होने पर नाश हो जाता हो जैसे जल में तुम्बी नहीं डूबती, ऐसे अहं त्वं आदिक शब्दों में ज्ञानी नहीं डूबता, सब शब्द चित्त में वर्तते हैं, वह ज्ञानी का चित्त अचित्तपद को प्राप्त हुआ है, इसलिये तू दश वर्ष तप कर, तब तेरा हृदय शुद्ध होगा। जब तेरा हृदय शुद्ध होगा तब संकल्प से रहित आत्मपद तुझको प्राप्त होगा, जब आत्मपद प्राप्त हुआ तब सब संशय जगद्भ्रम मिट जायेगा, ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधोपाख्याने
मायामहत्त्ववर्णनम् नामष्टचत्वारिंशः सर्गः ।।४८।।

एकोनपञ्चाशः सर्गः ४९

गाधिबोधप्राप्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जब त्रिलोकी पति विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये, तब गाधि ब्राह्मण मन में इस प्रकार विचार रखकर एकान्त में जाकर तप करने लगा कि राग द्वेष से रहित हो जाउँ, मन के संसरण को उसने स्थिर किया, दश वर्ष तक मन को समाधि में अटल अचल रक्खा, जब ऐसा परम तप किया तब उसको पुनः शुद्ध चिदानन्द आत्माका साक्षात्कार हुआ, तब शान्तिमान् होकर विचरने लगा, जितने भी राग द्वेष आदि विकार हैं उनसे रहित परम शान्ति को प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे गाधिबोधवर्णनम् नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥४९॥

पञ्चाशः सर्गः ५०

राघवसेवनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! यह गाधिका आख्यान तुझे माया की विषमता समझाने के लिये कहा है, परमात्मा की ऐसी माया है, मोह को देने वाली है, विस्तृत रूप है, दुर्गम है, जो आत्मतत्व से भूला है, उसको आश्चर्यरूप भ्रम दिखाती है, तू देख कि दो मुहूर्त कहां और इतना काल कहां? और जो चांडाल और राजभ्रम को वर्षों पर्यन्त देखता रहा, भ्रम से वासना और प्रत्यक्ष देखना, यह सब माया की विषमता है, वह असत्यरूप भ्रम है, वह दृढ होकर प्रसिद्ध भासा, तभी तो परमात्मा की माया आश्चर्यरूप है, जब तक बोध नहीं होता तब तक अनेक भ्रम को दिखाती है। रामजी बोले–हे भगवन्! यह माया संसारचक्र है, इसका बड़ा तीक्ष्ण वेग है और सब अंगों को छेदने वाला है, जिससे इस चक्र को

व्यर्थ किया जा सके और इस भ्रम को छुटकारा मिले वह उपाय बतलाइये, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह जो मायामय संसारचक्र है, उसका नाभिस्थान चित्त है, जब चित्त वश में हो, तब इस चक्र का वेग रोका जा सकता है और किसी प्रकार रोका नहीं जाता, हे रामजी! इस बात को तुम भली भांति जानते हो, हे निष्पाप! जब चक्र की नाभि को रोकता है, तब चक्र स्थित हो जाता है, रोके बिना स्थित नहीं होता, संसाररूपी चक्र की चित्त रूप नाभि को रोकता है तब चक्र स्थित हो जाता है, रोके बिना स्थित नहीं होता। जब चित्त को स्थिर करेगा तब जगत्भ्रम निवृत्त होगा और जब चित्तस्थित होता है, तब परब्रह्म को प्राप्त होता है और करने योग्य कार्य की समाप्ति हो जाती है, पाने योग्य पा लिया होता है, शेष कुछ नहीं रहता है, इसलिये जितने भी जप तप तीर्थ ध्यान दान आदि उपाय हैं, उन सबको त्यागकर चित्त के स्थित करने का उपाय करो। संतों का संग और ब्रह्मविद्याशास्त्र का विचार इन उपायों से चित्त आत्मपद में स्थित होगा, जो कुछ संतों और शास्त्रों ने किया है, उसका बार बार अभ्यास करना, संसार मृगतृष्णा के जल और स्वप्नवत् जानकर इससे वैराग्य करना, इन दोनों उपायों से चित्त स्थित होगा, आत्मपद की प्राप्ति होगी, हे रामजी! बोलने बात करने का निषेध नहीं, बोले, लेने देने का व्यवहार करें, परन्तु चित्त में आसक्ति न हो रागद्वेष न हों, इनका साक्षी जानने वाला, जो अनुभव आकाश है, उसकी ओर वृत्ति हो, युद्ध जैसा कठिन काम भी यदि करना पड़े तो आनन्द से करो मन अपने ठिकाने पर हो, अर्थात् स्वरूप स्थिति यथावत् बनी रहे। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह इन्द्रियों के पांचों विषय अंगीकार करे परन्तु इनके जानने वाले साक्षी में स्थित हो, वही चिदाकाश तेरा अपना स्वरूप है, जब उसका अभ्यास निरन्तर किया जाय तब चित्त स्थित होता है तथा आत्मपद की प्राप्ति होती है, हे रामजी! जब तक चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता, तब तक जगद्भ्रम निवृत्त नहीं होता। इस चित्त के संयोग से चेतन का नाम जीव है, जैसे घट

के संयोग से आकाश को घटाकाश कहते हैं, जब घट टूट जावे तब महाकाश ही रहेगा, ऐसे जब चित्त का नाश होगा तब यह जीव चिदाकाश ही होगा और यह जगत् भी चित्त में स्थित है, चित्त का अभाव होने से जगद्भ्रम शान्त हो जायेगा, हे रामजी! जब तक चित्त है तब तक संसार भी है, जैसे जब तक मेघ है तब तक बूँदें भी हैं, जब मेघ नष्ट हो जाता है तब बूँदें भी नहीं रहतीं और जैसे जब तक चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं, तब तक चन्द्रमा के मंडल में तुषार है, ऐसे जब तक चित्त है, तब तक संसार भ्रम है, जैसे मांस का श्मशान होता है, वहाँ पक्षी भी होते हैं, और इकट्ठे नहीं होते, ऐसे जहां चित्त है वहां राग द्वेष आदि विकार भी होते हैं और जहां चित्त का अभाव है, वहां विकार का अभाव है, हे रामजी! जैसे पिशाच आदि की चेष्टा रात्रि में होती है, दिन में नहीं होती, ऐसे रागद्वेष भय इच्छा, आदिक विकार चित्त में होते हैं, जहां चित्त भी नहीं वहां विकार भी नहीं, जैसे अग्नि बिना उष्णता नहीं होती और बर्फ बिना शीतलता नहीं होती, सूर्य के बिना प्रकाश नहीं होता, जल बिना तरंग नहीं होता, ऐसे चित्त के बिना जगद्भ्रम नहीं होता, हे रामजी! शान्ति भी इसी का नाम है और शिवता भी वही है, सर्वज्ञता भी वही है, जो चित्त नष्ट हो तो आत्मा भी वही है, तृप्तता भी वही है और चित्त यदि नष्ट नहीं हुआ वहां इतने पदों में से कोई भी नहीं हैं, हे रामजी! चित्त से रहित जो चैतन्य है वह चैतन्य कहाता है और अमरशक्ति है, सब कलना से रहित है, जब तक इसको बोध नहीं, तब तक नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं, जब वस्तु का बोध हुआ तब एक अद्वैत एक आत्मसत्ता भासती है, हे रामजी! ज्ञान संवित् की ओर वृत्ति रखना, जगत् की ओर नहीं रखना, जाग्रत की ओर नहीं जाना जो अन्तर को जानेवाली साक्षी सत्ता है, उसकी ओर वृत्ति रखना, यह चित्त को स्थित करने का परम उपाय है जो संतों का संग सत् शास्त्रों का निर्णय किया-अर्थ है, जब इसका अभ्यास हो तब चित्त नष्ट हो जाये यदि अभ्यास पहिले से ही हो तो भी संतों का संग और सच्छास्त्रों के श्रवण से

उन्नति करे तो सहज ही चमत्कार लाभ होगा, मन को मन के द्वारा मन्थन करने से ज्ञानरूप अग्नि निकलेगी, वह आशा रूप सब पाशों को भस्म कर डालेगी। जब तक चित्त आत्मपद से विमुख है, तब तक संसार भ्रम को देखता है, जब आत्मपद में स्थित होता है, तब सब क्षोभ मिट जाता है, जब मुझको आत्म पद का साक्षात्कार होगा, तब कालकूट विष भी अमृत समान हो जायेगा, विष का नाशक स्वभाव न रहेगा, और यह जब अपने स्वभाव में स्थित होता है, तब संसार का कारण मोह मिट जाता है और जब निर्मल निरंश आत्म संवित् से गिरता है, तब संसार का कारण मोह आकर प्राप्त होता है और जब निरंश निर्मल आत्म संवित् में स्थित है, संसार समुद्र को तर कर ममता रूप क्रीडा करके तथा यह मेरा है, इस भावना से चित्त कठिन हो जाता है, चित्त विष का वृक्ष है, देहरूप भूमि पर लगा है, संकल्प विकल्प इसके टास हैं, दुर्वासना रूप पत्र हैं और सुख दुःख आधि व्याधि मृत्युरूप इसके फल हैं, अहंकार रूप कर्म जल हैं, उससे सींचने से बढता है, काम भोगरूप पुष्प हैं, चिन्तारूप बडी सी वल्ली है, जब विचार और वैराग्य रूप कुठार से इसको काटे तब शान्ति प्राप्त हो अन्यथा नहीं, हे रामजी! चित्तरूप एक हस्ती हैं, शरीररूप तालाब में प्रविष्ट हुआ है, उसने शुभ वासना रूप जल को मलिन कर डारा है, धर्म, संतोष, वैराग्य रूप कमलों को तोड़ डाला है, उसका यथाकथचित् नाश कर हे रामजी! चित्त रूप कौआ है, जैसे कौआ अपवित्र वस्तुओं का भोजन करता है, सर्वदा काँ काँ करता है, ऐसे चित्त देह रूप अपवित्र स्थान में बैठता है और सदा भोगों के पीछे दौड़ता है, उनका रस ग्रहण करता है, मौन होकर नहीं बैठता, दुर्वासनाओं के कारण इसका रंग कौव्वे के समान काला है, जैसे काक का एक ही नेत्र होता है, ऐसे चित्त एक विषय की ओर दौड़ता है, ऐसे अमंगल रूप काक को विचार के बाण से मारे तो परम सुखी होगा, यह चित्त मांस के लिये आकाश में दूर दूर तक घूमने वाले चील पक्षी के समान है, भोगरूप मांस के लिये चारों ओर घूमता है और अमंगल रूप चील जहाँ भी जाय वहां विभुति का अभाव हो जाता है, वह मांस की ओर ऊंचा होकर देखता है

नम्र नहीं होता, ऐसे चित्त रूप ईल (चील) शरीर रूप स्थान में बैठता है इससे आत्मज्ञान रूप विभूति का अभाव हो जाता है, भोगरूप मांस को देखकर गिरता है और अभिमान रूप ग्रीवा को ऊंची रखता है, ऐसा जो चित्त असंगलरूप ईल है उसको जब नाश करे तब शान्तिमान् होगा, जैसे पिशाच आकर किसी में प्रवेश करता है, वह खेदवान् होता है, चिल्लाता है, ऐसे ही मनुष्य को चित्त एक पिशाच लगा है और तृष्णारूप पिशाचिनी के साथ शब्द करता है, उसको निकालो, आत्मा से इतर जो अभिमान करता है, ऐसा चित्तरूप पिशाच है, उसको वैराग्य मंत्र से दूर करो, तब स्वभाव सत्ता को प्राप्त होगे, यह चित्तरूप वानर है, महाचंचल है, सदा भटकता रहता है, स्थिर कभी नहीं रहता, कभी किसी कभी किसी वस्तु में घूमता है, जैसे वानर जिस वृक्ष पर बैठता है उसको अचल नहीं रहने देता, इसी प्रकार यह मनुष्य को स्थिर नहीं रहने देता, हे रामजी! चित्तरूप जेवरी से सारा जगत् बँधा हुआ है, कर्ता, कर्म, क्रिया रूपी बड़ी कठिन गांठें लगी हुई हैं, जैसे एक धागे में अनेक मनके पिरोये होते हैं, ऐसे ही एक चित्त से सब देह धारी बँधे हुए हैं। उस जेवरी को असंग शस्त्र से काटो, तब सुख पाओगे, हे रामजी! चित्त एक अजगर सर्प है, भोगों की तृष्णा विष है, वह विष इसमें भरा हुआ है, इस अजगर ने अपने विषाक्त फूत्कार से बड़े बड़े लोक जलायें हैं, शम दम धैर्यरूप कमलों को भी जलाकर भस्म कर दिया है, इस दुष्ट को मारने के लिये कोई समर्थ नहीं है, यदि कोई है तो विचाररूप गरुड है। विचाररूप गरुड उत्पन्न हो तो वह इसको जीत सकता है, अथवा अन्य जितने भी बलवान् हैं उनमें तत्ववेत्ता उत्तम हैं, उनके आगे सब लघु हो जाते हैं, क्योंकि उन पुरुषों को संसार के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं, उनका चित्त सत्यपद को प्राप्त हुआ है, इसलिये चित्त को स्थिर करो, तब वर्तमानकाल भी भविष्यत् काल की नाईं हो जायेगा, जैसे भविष्यत्काल का राग द्वेष स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार वर्तमान काल का राग द्वेष स्पर्श न करेगा, हे रामजी! आत्मा परम आनन्दरूप है उसके पाने से विष भी

अमृतसमान हो जाता है, जिस पुरुष की आत्मपद में स्थिति हुई है, वह सब से उत्तम है, जैसे मेरु पर्वत के निकट हाथी तुच्छ भासता है, ऐसे उसके निकट त्रिलोकी के पदार्थ सब तुच्छ भासते हैं और वह दिव्य तेज को प्राप्त होता है, जिस को सूर्य नहीं प्रकाश कर सकता, परम प्रकाशरूप सब कलना से रहित अद्वैत तत्व है, हे रामजी! उस आत्मतत्व में स्थिति प्राप्त करो, जिस पुरुष ने ऐसे स्वरूप को पाया है, उसने सब कुछ पाया है और जिसने स्वरूप को नहीं पाया उसने कुछ नहीं पाया, हमें ज्ञानवानों को देखकर लज्जा आनी चाहिये कि हम भी वैसे ही मनुष्य हैं परन्तु ज्ञान से विमुख हैं, हम कितने भी बलवान् क्यों न हो परन्तु ज्ञान विमुख होने से गर्दभवत् हैं, बड़े ऐश्वर्य सम्पन्न लोग भी यदि ज्ञानहीन हैं, आत्मपद से विमुख हैं उनको तू विष्ठा के कीट से भी नीच जान, जीवन उनका ही श्रेष्ठ है, जो आत्मपद के निमित्त यत्न करते हैं और जीवन उनका वृथा है जो संसार के निमित्त यत्न करते हैं, देखने मात्र को चेतन है, परन्तु शव के समान है और जो तत्ववेत्ता हुए हैं वे अपने प्रकाश से प्रकाशित हैं और जिनको शरीर में अभिमान है, वे मृतक समान हैं, हे रामजी! इस जीव को चित्त ने दीन किया है, ज्यों ज्यों चित्त बड़ा होता है, त्यों त्यों इसको दुःख होता है और जिसका चित्त क्षीण हुआ है, उसको कल्याण की प्राप्ति हुई है, जब अनात्म में आत्म भाव दृढ होता है और भोगों की तृष्णा होती है, तब चित्त बड़ा हो जाता है और आत्मपद से दूर पड़ता है, जैसे बड़े मेघ के आवरण से सूर्य नहीं भासता, ऐसे अनात्माभिमान से आत्मा नहीं भासती और जब भोगों की तृष्णा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त क्षीण हो जाता है, जैसे वसन्तऋतु के चले जाने से पत्र कृश हो जाते हैं, ऐसे ही भोग वासना के अभाव से चित्त कृश हो जाता है, हे रामजी! चित्त एक सर्प है, दुर्वासनारूप दुर्गन्ध और भोगरूप वायु से शरीर में दृढ आस्थारूप मृत्तिका का स्थान बनाकर बड़ा हो जाता है, उन पदार्थों से जब बड़ा हुआ तब मोह रूप विष से इसको मारता है, हे रामजी! ऐसे दुष्ट चित्तरूपी सर्प को जब मारे तब कल्याण हो, देहमें जो आत्माभिमान हो गया

है और भोगों की तृष्णा फुरती है, मोहरूप विष चढ गया है, जब विचाररूप गरुड मंत्र का चिन्तन करे तब विष उतरे और उपाय विष उतारने का कोई नहीं, हे रामजी! अनात्मा में आत्माभिमान और पुत्र द्वारा आदिक में ममत्व इन दोषों से चित्त बड़ा हो जाता है। अहंकार रूप विकार से नष्ट करे, जब चित्तरूप सर्प नष्ट हुआ तब आत्मरूप निधि की प्राप्ति होगी, हे रामजी! यह चित्त शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता और आग से जलता नहीं, न और किसी उपाय से नाश होता है, हे रामजी! यह चित्त गढ़े का मेघ है, बड़ा दुःख दायक है और भोग तृष्णारूपी बिजली इसमें चमकती है, जहां वर्षा होती है, वहां बोधरूप क्षेत्र और शम दमरूप कमलों का नाश होता है, जब विचाररूप मंत्र हो तब शान्त हो सकती है, हे रामजी! चित्त की जो चपलता है, उसको असंकल्प से त्यागो, जैसे ब्रह्मास्त्र से ब्रह्मास्त्र कटता है, ऐसे मनसे मन को काटो, अर्थात् अन्तर्मुख हो जाओ। जब तेरा चित्तरूपी वानर स्थित हो तब शरीररूप वृक्ष क्षोभ से रहित होगा, हे रामजी! शुद्ध बोध से मन को जीतो, यह जगत् तृष्णा से भी तुच्छ है, इसका पार प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे राघवसेवनवर्णनं नाम पंचाशः सर्गः ।।५०।।

एक पंचाशः सर्गः ५१

उद्दालकविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह जो मन की वृत्ति है, इष्ट अनिष्ट को ग्रहण करती है और खड्ग की धारावत् तीक्ष्ण है, इसमें तू प्रेम मत कर, इसको मिथ्या जानकर त्याग दे, हे रामजी! बोधरूप वल्ली शुभ क्षेत्र और शुभ काल को प्राप्त हुई है, इसको विवेक रूप जल से सींचो, तब परम पद की प्राप्ति होगी, हे रामजी! जब तक शरीर मलिनता को प्राप्त नहीं हुआ और जब तक पृथ्वी पर नहीं गिरा, तब तक बुद्धि को उदार करके संसार से मुक्त हो जाओ, मैंने जो कुछ तुम्हें वचन कहे हैं,

उनको भली प्रकार दृढ़ अभ्यास से जानना चाहिये, ऐसा करने से दृश्य भ्रम निवृत्त हो जायेगा, हे रामजी! यह पांच भौतिक शरीर जो तुझे भासता है, यह तेरा रूप नहीं, तू शुद्ध चेतन रूप है, शुद्ध बोध से विचार करके अनात्मरूप पांच भौतिक देहाभिमान को त्याग दो। रामजी बोले—हे भगवन्! किस प्रकार और किस क्रम से इसका अभिमान त्याग करके उद्दालक सुखी हुआ है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! पूर्व समय में जिस प्रकार उद्दालक पंच भूतों का विचार करके परम पद को प्राप्त हुआ है, उसको सुनो। हे रामजी! जगत् एक जीर्ण घर है, इसके वायव्य कोण में एक देश है, वहां बहुत पर्वत और तमालादि वृक्ष हैं और महामणियों के स्थान भी हैं, ऐसे गंधमादन पर्वत पर एक स्थान था, उस स्थान में एक उद्दालक नाम ब्राह्मण था। वह परम बुद्धिमान् माननीय विद्वान् था, परन्तु अर्ध प्रबुद्ध था, क्योंकि परमपद्र उसने न पाया था, उस ब्राह्मण ने युवा अवस्था के पूर्व ही शुभेच्छा से यम नियम तप का शास्त्रानुसार साधन किया, तब उसके चित्त में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जिसके पा लेने से कुछ भी पाने योग्य शेष न रहे और जिस पद में विश्राम पाने से पुनः शोक न हो और जिसको प्राप्त करके जन्म बन्धन न रहे उस ऐसे पद की प्राप्ति मुझे कब होगी और कब मैं मन के मनन भाव को त्यागकर विश्रान्तिमान् हो सकूंगा, जैसे मेघ भ्रमण को त्याग करके पहाड़ के शिखर पर विश्रान्ति करता है। और मेरे चित्त की दृश्यरूप वासना कब मिटेगी। जैसे तरंगों से रहित समुद्र शांतिमान् होता है, ऐसे मन के संकल्प विकल्प से रहित शांतिमान् हूँगा और कब तक मैं तृष्णारूप नदी को बोधरूप नाव और सत्संगरूप मल्लाह से पार करूँगा और चित्त रूप हस्ती को जो अभिमान रूप मद से उन्मत्त है, कब विवेकरूप सिंह द्वारा मारूँगा? और ज्ञान सूर्य से अज्ञानान्धकार को कब नाश करूँगा, जिससे मेरा चित्तरूप घू घू जगत् से अन्ध हो जाये, हे देव! सब आरम्भों को त्यागकर मैं कब अलेप अकर्ता हो जाऊँगा, जैसे जल में कमल अलेप रहता है, ऐसे मुझको कर्म स्पर्श न करेंगे और परमार्थ रूप भासुर वपु मेरा कब उदय होगा, जिससे मैं जगत् की गति को हसूँगा,

और अन्तस्त्रोत को प्राप्त करूँगा, वह समय कब हो, जब मैं विराट् आत्मा पूर्णबोध की नाईं हो जाऊँ। जन्म जन्म का अन्ध मैं कब ज्ञाननेत्र प्राप्त करूँगा, जिससे मैं उस परमपद का दर्शन कर सकूँ और वह समय कब होगा जब मेरा चित्तरूप मेघ वासनारूप वायु से रहित आत्मरूप सुमेरु पर स्थित होकर शांतिमान् हो सकेगा, अज्ञान दशा कब जायेगी, ज्ञान दशा कब प्राप्त होगी, अब वह समय कब होगा, जब मन को व प्रकृति को देखकर मैं हसूँगा और वह समय कब होगा। जब जगत् के कर्म बालक की मिथ्या चेष्टावत् जानूँगा और जगत् मुझको सुषुप्ति की नाईं हो जायेगा और वह समय कब होगा कि पत्थर की शिलावत् मुझे निर्विकल्प समाधि प्राप्त होगी और शरीररूप वृक्ष पर पक्षी नीड़ (घर) बनायेंगे। निश्शंक होकर छाती पर आकर बैठा करेंगे, हे देव! वह समय कब होगा, जब इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति से मेरी मनोवृत्ति विचलित न हुआ करेगी और मैं विराट की नाईं सर्वात्मा हो जाऊँगा और वह समय कब आयेगा कि मेरा सम असम आकार शान्त हो जायेगा और मैं सब अर्थों से निरिच्छरूप हो जाऊँगा और कब मैं उपशम को प्राप्त हो जाऊँगा, जैसे मन्दराचल से रहित क्षीरसमुद्र शान्तिमान् होता है, कब मैं अपना चेतन वपु पाकर शरीर को अशरीरवत् देखूँगा और कब मेरी पूर्ण चिन्मात्र वृत्ति होगी और कब मेरी बाहर अन्दर सब कलना शान्त होगी और संपूर्ण चिन्मात्र ही मुझे भान होगा और मैं ईषणा और ग्रहण त्याग से रहित कब संतोष को प्राप्त करूँगा। स्वप्रकाश में स्थित होकर संसार रूप नदी के जरामरणरूप तरंगों से रहित कब हो जाऊँगा और कब अपने स्वभाव में स्थिति प्राप्त होगी, हे रामजी! ऐसे विचारकर उद्दालक चित्त को ध्यान में जोड़ने लगा, परन्तु चित्त रूप वानर दृश्य की ओर निकल जाता, स्थित न होता, वह फिर ध्यान में जोड़े, चित्त फिर भोगों की ओर निकल जाये, जैसे वानर ठहरता नहीं, ऐसे ही चित्त नहीं ठहरता था। बाह्य विषयों को त्यागकर चित्त को अन्तर्मुख किया तब तो भी विषयों का चिंतन करने लगा, निर्विकल्प होता नहीं, जब रोक रक्खें तो सुषुप्ति में लीन हो जाता है। सुषुप्ति और लय जो निद्रा है, उसी में

चित्त रहता है, तब वहां से उठकर अन्य स्थान को चला, जैसे सूर्य सुमेरु की प्रदक्षिणा को चलता है, तब गन्धमादन पर्वत की एक कन्दरा में जा बैठा, वह पर्वत पुष्पों फलों से भरा हुआ पशु पक्षी मृगों से रहित एकान्त स्थान है, जो देवताओं को भी देखना कठिन है और अत्यन्त प्रकाश भी नहीं और अत्यन्त तम भी नहीं, न अत्यन्त उष्ण है, न शीत है, जैसे मधुर कार्तिक होता है, निर्भय एकान्त स्थान, जैसे मोक्षपदवी निर्भय एकान्तरूप होती है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकविचारवर्णनंम नामैकपंचाशः सर्गः ॥५१॥

द्विपंचाशः सर्गः ५२

उद्दालकविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! उस पर्वत पर कुटी बनाई, वहां कमल तथा तमाल पत्रों का आसन रचकर तदुपरि मृगछाला बिछाकर बैठ गया। सब कामनाओं का त्याग किया, जैसे ब्रह्माजी जगत् उत्पादन करके छोड़ देते हैं, ऐसे ही सब कलनाओं को त्याग कर पद्मासन बाँधा और विचार करने लगा, अरे मूर्ख मन! तू कहां जाता है, यह संसार माया मात्र है, इतना समय तू जगत् में भटकता रहता है जैसे कहीं तुझको शान्ति प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि तू वृथा दौड़ता रहता है, हे मूर्ख मन! उपशम को छोड़कर भोगों की ओर दौड़ता है तो अमृत को त्यागकर विष का बीज बोता है, यह तेरी सब चेष्टायें दुःखों के निमित्त हैं, जैसे घुराण अपना घर बनाकर आप ही को बन्धन में डालती है, ऐसे तू अपने आपको अपने संकल्प से बन्धन में डाल रहा है, अब तू संकल्प के संसर्ग को त्यागकर आत्मपद में स्थिति प्राप्त कर, ताकि तुझे शान्ति प्राप्त हो, हे मन! जिह्वा से मिलकर जो तू शब्द करता है, वह दर्दुर (मेंढक) के शब्दवत् व्यर्थ है, जब श्रवणों में मिलकर श्रवण करता है तब शुभाशुभवाक्य ग्रहण करके मृग के समान नष्ट होता है और त्वचा से

मिलकर जो तू स्पर्श की इच्छा करता है तो हस्ती की नाईं बन्धन में आता है और रसना के स्वाद की जो इच्छा करता है तो मछली की नाईं नाश को प्राप्त होता है और गंध लेने की इच्छा करता है तो भँवरे की नाईं नाश होता है, जैसे भँवरा सुगंधि के निमित्त फूल में फँस मरता है, ऐसे तू भी फंसकर मरेगा और यदि सुन्दर स्त्रियों की इच्छा करता है तो पतंग के समान जल मरेगा। हे मूर्ख मन! जो एक एक इन्द्रिय का स्वाद लेते हैं, उनको महाकष्ट पाना पड़ता है, तू तो पांच विषयों का सेवन करने वाला है, तेरा नाश क्यों न होगा, इसलिये तू इनकी इच्छा का त्यागकर, जिससे तुझे शान्ति प्राप्त होगी। यदि इन भोगों की इच्छा को न त्यागेगा तो मैं तेरा ही त्याग कर दूँगा, तू तो मिथ्या असत्यरूप है, तुझसे मेरा क्या प्रयोजन है? विचार करके मैं तेरा त्याग करता हूँ, हे मूर्ख मन! जो तू देह में अहं अहं करता है, वह तेरा अहं किस पदार्थ में है, अंगुष्ठ से लेकर मस्तक पर्यन्त अहं वस्तु कुछ नहीं, यह शरीर तो अस्थि मांस और रक्त का थैला है, यह तो अहं रूप है नहीं और श्वास वायुरूप है और पोल आकाशरूप है, यह पंचतत्वों का जो शरीर बना है, उसमें अहंरूप वस्तु तो कुछ भी नहीं है, हे मूर्ख मन! तू अहं क्यों करता है, यह जो तू कहता है, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं स्वाद लेता हूँ, मैं इनके इष्ट अनिष्ट में द्वेष कर जलता हूँ, वह वृथा कष्ट पाता है, रूप को नेत्र ग्रहण करता है, वह नेत्र रूप से उत्पन्न हुआ है, तेज का अंश नेत्र में स्थित है, वह अपने विषय को ग्रहण करता है, इनके साथ मिलकर तू क्यों सन्ताप पा रहा है और शब्द आकाश से उत्पन्न हुआ है, आकाश का अंश श्रवण में स्थित है, वह अपने गुण शब्द को ग्रहण करता है, इसके साथ मिलकर तू क्यों रागद्वेषवान् होता है, स्पर्श इन्द्रिय वायु से उत्पन्न हुआ है, वायु का अंश त्वचा में स्थित है, वही स्पर्श को ग्रहण करता है, उससे मिलकर तू क्यों रागद्वेष से जलता है और रसना इन्द्रिय जल से उत्पन्न हुआ है, जल का अंश जिह्वा है, अग्रभाग में स्थित है, वही रस को ग्रहण करता है, इसके साथ मिलकर तू वृथा क्यों सन्ताप पाता है

और घ्राण इन्द्रिय गन्ध से उत्पन्न हुआ है, वह पृथ्वी का अंश है जो घ्राण में स्थित है, गन्ध को ग्रहण करना उसी का काम है, उससे मिलकर वृथा तू क्यों रागद्वेषवान् होता है, हे मूर्खमन्! इन्द्रिय तो अपने अपने विषय को ग्रहण करते हैं, तू इनमें क्यों अभिमान कर्ता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं रस लेता हूँ, यह इन्द्रिय तो सब अपना अपना विषय ग्रहण करती हैं और के विषय को ग्रहण नहीं करतीं, जैसे नेत्र देखते हैं, श्रवण नहीं करते, कान सुनते हैं, देखते नहीं, इत्यादिक सब इन्द्रिय अपना अपना धर्म किसी को देते भी नहीं, और लेते भी नहीं, अपने धर्म में स्थित हैं और विषय को ग्रहण कर इनको रागद्वेष कुछ नहीं होता और इनको ग्रहण करने की वासना भी कुछ नहीं, तू ऐसा मूर्ख है कि औरों के धर्म अपने मानकर रागद्वेष से जलता है, जो तू भी रागद्वेष से रहित होकर चेष्टा करे तो तुझको दुःख कुछ नहीं, जो वासना सहित कर्म करता है, वही बन्धन का कारण होता है, वासना बिना दुःख कुछ नहीं और तू मूर्ख है, जो विचार कर नहीं देखता, इसलिये मैं तेरा त्याग करता हूँ, तेरे साथ मिलकर मैं बहुत दुःख पाता हूँ, तेरे साथ मिलकर मैं तुच्छ हुआ हूँ, अब तेरे साथ मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, मैं तो निर्विकल्प शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ, जैसे महाकाश घट से मिलकर घटाकाश हो जाता है, ऐसे तेरे साथ मिलकर मैं तुच्छ हो गया हूँ, इस कारण से मैं तेरा संग त्यागकर परम चिदाकाश को प्राप्त होऊँगा, मैं निर्विकार हूँ, अहं त्वं की कल्पना से रहित हूँ, तू क्यों अहं, त्वं कर्ता है, शरीर में व्यर्थ अहं करने वाला और कोई नहीं, एक तू चोर है अब मैंने तुझे पकड़कर तेरा त्याग किया है, तू तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ है, मिथ्या असत्यरूप है, जैसे बालक अपनी परछाई में वेताल जानकर आप ही भयाकुल होता है, ऐसे तुमने सबको दुःखी किया है, जब तुम्हारा नाश होगा तब आनन्द होगा, तेरे उत्पन्न होने से महादुःख है, जैसे कोई ऊंचे पर्वत से गिरकर कुएं में जा पड़े और कष्टवान् हो, ऐसे तेरे संग से मैं आत्मपद से गिरा,

देह अभिमानरूप गर्त में पड़े हुए रागद्वेष निरन्तर दुःख पाया, अब तुझको त्यागकर मैं निरहंकार पद को प्राप्त हुआ हूँ। जिस पद में न प्रकाश है, न तम है, न एक है, न दो हैं, न बड़ा है न छोटा है, अहं त्वं आदि से रहित अचेत्य चिन्मात्र है, जरा मृत्यु राग द्वेष, भय सब तेरे संयोग से होते हैं, अब तेरे वियोग से मैं निर्विकार शुद्ध पद को प्राप्त होता हूँ, हे मन! तेरा होना दुःख का कारण है, जब तू निर्वाण होगा तब मैं ब्रह्मरूप हो जाऊँगा, तेरे संग से मैं तुच्छ हुआ हूँ, जब तू निवृत्त हुआ तब मैं शुद्ध हुआ, जैसे मेघ के होने से आकाश मलिन भासता है, वर्षा के चले जाने पर शुद्ध निर्मल आकाश होता है, ऐसे तेरे निवृत्त हो जाने से आत्मा निर्लेप अपने आप भासती है, हे चित्त! यह जो देह इन्द्रियादि पदार्थ हैं वे भिन्न हैं, इनमें अहं वस्तु कुछ नहीं, इनको एक तुमने ही इकट्ठा किया है, जैसे एक धागा अनेक मनकों को इकट्ठे कर देता है, ऐसे सबको इकट्ठा करके तू अहं अहं करता है और तू मिथ्या रागद्वेष करता है, इसलिये शीघ्र ही सब इन्द्रियों को लेकर निर्वाण हो जाओ, जिससे तुम्हारी जय हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकविचारो नाम द्विपंचाशः सर्गः ।।५२।।

त्रिपंचाशः सर्गः ५३

उद्दालकविश्रान्तिवर्णनम् ।

उद्दालक मुनिजी बोले– आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है और स्थूल से स्थूल है, शुद्ध निर्विकार शान्तरूप है, वह मैं हूँ, अचैत्य चिन्मात्र हूँ, मुझ में कोई विकार नहीं, जितने जन्म मरण आदि विकार भासते हैं, वे आत्मा में चित्त के कल्पना किये हैं, आत्मा को कुछ नहीं कह सकते, जन्म उसका कहा जाता है जो पहिले न हो और बाद में उत्पन्न हो, आत्मा तो स्वतः सिद्ध है, तो जन्म कैसे कहें। मृत्यु उसको कहते हैं जो बाद में नहीं, आत्मा

तो सदा स्थित है, अतः सब विकारों से रहित है, तो फिर मृत्यु प्रध्वंसमात्र कैसे कहा जाये, देह के आदि मध्य अन्त तीनों काल सिद्ध हैं, आत्मा सब विकारों से रहित है, चित्त के संयोग से विकार सहित भासता है। हे चित्त! तेरे संयोग से मैं इतने भ्रम को प्राप्त हुआ था और शरीर में व्यर्थ अहं अहं होता है, जाना नहीं जाता कि कौन है, शरीर तो रक्त मांस का पिंड है, इन्द्रिय मन आदिक मन जड़ है, अहं करनेवाला कौन है, जब अहं होता है, तब भाव अभाव पदार्थ को ग्रहण करता है, जहां अहं का अभाव है वहां भाव अभाव कैसे हो? अहंकार झूठ है, इन्द्रिय अपने अपने विषय को ग्रहण करते हैं और मन आदिक भी अपने स्वभाव में स्थित हैं, यह अहं करनेवाला मालूम नहीं पड़ता कि कौन है, अहं का कुछ रूप नहीं मिलता, इसलिये निश्चय हुआ कि सब पदार्थ झूठ हैं, अहंकार पदार्थ ग्रहण करने वाला भी झूठ है, जितने पदार्थ हैं, वे अहंकार से होते हैं। मैं क्यों इसके साथ मिलकर देह इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष करूँ, इसका और मेरा संयोग तो कुछ नहीं, मैं तो आत्मा अद्वैत निर्लेप हूँ, संयोग किससे हो, भाव रूप वस्तु ब्रह्म है, वह मैं हूँ, मेरा संयोग किस से हो, यह तो है नहीं सब असत्यरूप है और जो कहिये कदाचित् देहादिक हैं तो भी संयोग नहीं बनता। परस्पर भिन्न वस्तु का संयोग कैसे हो, यह बड़ा आश्चर्य है कि सबका अहं करने वाला कौन था। यह मिथ्या अहंकार अज्ञान करके दुःखदायक था, जैसे अज्ञान से बालक को वेताल भासकर दुःख देता है, ऐसे अविचार से दुःख होता है, जैसे पहाड़ पर बादल स्थित होता है तो पहाड़ बादल नहीं होता और बादल पहाड नहीं होता, ऐसे आत्मा अनात्मा नहीं होती और अनात्मा आत्मा नहीं होती, जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है, जैसे जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे अहंकार अहंकार आत्मा में भासता है, विचार करने पर अहंकार कुछ नहीं निकलता। जहां अहंकार होता है वहां दुःख भी आ स्थित होता है, जैसे जहां मेघ होता है, वहां बिजली भी होती है। ऐसे जहां अहंकार होता है, वहां शरीररूपी वृक्ष की मंजरी बढ़ती है, जैसे

गरुड के विद्यमान होने से सर्प नहीं रहता, ऐसे आत्मविचार के विद्यमान होते अहंकार नहीं रहता, इसलिये चित्तादिक सब झूंठ हैं, अज्ञान से भासते हैं, इनसे रचा हुआ जगत् सत्य कैसे हो? यह जगत् अकारण है, अतः मिथ्या भ्रम से भासता है, जैसे भ्रान्ति से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है, जैसे नाव में बैठे हुए तट के वृक्ष चलते हैं, जैसे गन्धर्व नगर भासता है, जब चित्त नष्ट हो तब सब भ्रम का अभाव हो जाता है, देह में जो अभिमान है सब दुःखों का कारण है, जब तक विचार उत्पन्न नहीं होता तब तक भासता है, जैसे बर्फ की पुतली तब तक होती है जब तक उसे सूर्य का तेज नहीं लगा। जब सूर्य का तेज लगा तब बर्फ की पुतली गल जाती है, जैसे चक्राकार घूमने से बालक को पृथ्वी घूमती भासती है, ऐसे ही चित्त के भ्रम से यह जगत् भासता है और विचार उत्पन्न होने से अहंकार गल जाता है, हे मन! तेरे साथ मिलने से बड़ा दुःख होता है और तुझसे रहित मैंने अपने आपको देखा है। अब तू सब इन्द्रियों सहित निर्वाण होकर आत्म विचार द्वारा आत्माग्नि में स्थित हो जिससे तेरा सब मल जल जाये और तू शुद्ध निर्मल हो जाय, इस देह के साथ जो तेरा मिलाप है, वह दुख के लिये है, मनका और देहका अंदर से आपस में शत्रुभाव है, बाहिर से स्नेह भासता है, अन्दर यह परस्पर नाश करने की इच्छा करते हैं, दुःख होता है तो मन इसके नाश की इच्छा करता है और देह कहता है कभी नाश हो जाय तो मुझे कोई दुःख न रहे, क्योंकि इसका मिलना ही दुःख का कारण है, हे मूर्ख मन! देह को तेरे संग से दुःख होता है, स्वतः कोई नहीं मन में देह का अभिमान न हो तो भी दुःख कोई नहीं, इनके संयोग से दुःख होता है, वियोग से कुछ दुःख नहीं होता, ऐसे मन और देह में वियोग कुछ नहीं, जैसे जहां अंगारे की वर्षा होती है, वहां बुद्धिमान् नहीं रहते, ऐसे ही इनमें मिलकर रहना हमको योग्य नहीं, हे मूर्ख मन! जितना दुःख तुझको होता है वह देह के मेल मिलाप से होता है, इसके साथ तू किस निमित्त मिलता है और सुख की प्राप्ति का

अनुभव करता है, इसके मिलने से तुझको दुःख ही होता है, परन्तु ऐसा मूर्ख है कि बार बार देह की ओर दौड़ता है, तू सुख समझता है और होता है तेरा नाश, जैसे पतंग दीप को सुखरूप जानकर मिलने की इच्छा करता है और जल मरता है, जैसे मछली मांस की इच्छा करती है तो मत्स्यवेधन (कंडी) में फँसकर मरती है, ऐसे तू देह की इच्छा करता है और नाश को प्राप्त होता है, इसलिये इसका अभिमान त्याग दे, तुझे शान्ति प्राप्त होगी। देह कुछ वस्तु नहीं, मन ही का विकार है, पंच तत्वों का बना देह है, वह कुछ वस्तु नहीं, सब मन की रचना है, सब मन के स्फुरण का निर्माण है, अतः फुरने को छोड़कर आत्मपद में स्थित हो जाओ कि तुम्हें शान्ति प्राप्त हो और मैं तो सबसे अतीत शुद्ध चिदानंद स्वरूप हूँ, मेरे पास न कोई मन है, न इंद्रिय है, मैं अद्वैतरूप हूँ, जैसे राजा के समीप कोई नहीं होता, ऐसे मेरे पास मन इंद्रिय कोई नहीं, मैं शुद्ध आत्मतत्व हूँ, भोगों के साथ मेरा क्या प्रयोजन है? कि इनसे मिलकर दीनता को प्राप्त करूँ, मेरा इनके साथ कोई प्रयोजन नहीं, चिर पर्यन्त रहें, अथवा अब ही नष्ट हो जायँ, इनका नाश होने से मेरा नाश नहीं होता और रहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इनसे अपने आप को भिन्न जाना है, जैसे तिलों से तेल निकाल लिया जाय तो फिर उनमें मिलाया नहीं जा सकता, दूधसे मक्खन निकाल लिया जाय तो फिर नहीं मिलता, ऐसेही जब विचार द्वारा जब अपना आप इनसे निकाल लिया गया तो फिर इनके साथ नहीं मिलता, मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, सब जगत् मेरे आश्रय है, सब में मैं एक ही अनुस्यूत व्याप्त हूँ। अब इस स्वरूप में स्थित हूँ, वसिष्ठ महर्षि बोले–हे रामजी! इस प्रकार विचार कर उद्दालक ऋषि ने वृत्ति को विषयों से निवृत्त करके पद्मासन बाँधा और प्रणव की उपासना करने लगा, प्राणायाम करके मात्रा का ध्यान किया, अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार शिव, अर्धमात्र तुरीया, इनकी क्रम से उपासना करने लगा। आकाश की ध्वनि के साथ रेचक किया, उससे सब प्राणवायु अंदर से निकल गया अन्दर शून्य और शुद्ध हुआ, जैसे अगस्त्य

मुनि ने, समुद्र को शून्य किया था। आकाश से ऐसी ध्वनि निकली जो ब्रह्मा विष्णुपर्यन्त चली गयी और देह अभिमान को त्यागकर पुर्यष्टका को सुषुम्ना के मार्ग में प्राप्त किया, जैसे पक्षी आलय को त्यागकर आकाश मार्ग को उड़ता है, ऐसे उद्दालक ने पुर्यष्टका को ब्रह्मरन्ध्र में स्थित किया। जब तक चित्त सुख से रहा तब तक स्थित रहा, क्योंकि हठ करने से दुःख होता है, इसी कारण से जब तक अनायास रहा तब तक स्थित रहा, जब थका तब पुर्यष्टक का वायु अधः से आया। तब उकार विष्णुरूप की ध्वनि और ध्यान के साथ कुंभक किया, तब प्राणवायु को आधार चक्र में रोका न नीचे जाये न ऊपर को गमन करे, उससे प्राण संकट में पड़ गये, उससे अग्नि निकली, उस अग्नि से इसका पाप पुण्यरूप शरीर जल गया, उसमें जब तक सुख से रह सका तब तक स्थित रहा, क्योंकि हठ योग दुःखदायक है, इस कारण से जब तक अनायास रहा तब तक स्थित रहा, तदनन्तर मकार की ध्वनि से रुद्र का ध्यान करके पूरक प्राणायाम किया,पूरक प्राणायाम से सब स्थान वायु से पूर्ण किये, ऊर्ध्व को चित्तकला प्राप्त हुई जिसका स्पर्श महाशीतल है, जैसा चन्द्रमंडल शीतल है, उससे अमृत की वर्षा होती है, उससे यह औरों को भी पवित्र करने वाला बना है, जैसे धुआं आकाश को जाता है और जल को पाकर औरों को शीतल करनेवाला होता है, ऐसे इसका शरीर औरों को पवित्र करनेवाला हुआ, जैसे–मंदराचल से क्षीरसमुद्र मथा गया, उससे कल्पवृक्ष निकला, ऐसे इसके शरीर में प्राणवायु स्थित हुआ, इसने पद्मासन बांधकर इंद्रियों को रोका औण जैसे हस्ती बंधनों से बँधता है, ऐसे इन्द्रियों को रोका, अर्ध मात्रा जो तुरीयापद है, उसके दर्शन के लिये यत्न करने लगा। नेत्र आधे मूंद लिये और बाह्य विषयों का त्याग किया; इन्द्रियों को भी त्यागकर प्राण अपान को मूल चक्र में रोका, उससे नौ (९) ही द्वार रोके गये, जैसे बालक के खेलने का पानी चोर होता है, उसके मुँदने से चलता पानी सब छिद्रों से रोका जाता है ऐसे ही मूल चक्र के रोकने से नव ही द्वार रोके गये, इस प्रकार चित्त को रोका, जब

मनरूप चंचल मृग दौड़े तब वैराग्य और अभ्यासे के बल से वापिस ले आया, जैसे बांध से पानी का वेग रुकता है, ऐसे चित्त को स्थित किया, तब अन्तःकरण की जो सात्विक वृत्ति है, उसको त्यागकर स्थित हुआ, तब मन की वृत्ति जो है निद्रारूप जड़ता उसमें मन मूर्छित हो गया, जैसे सूर्य बादलों में हो वैसे ही निद्रा में लीन हुआ, तब राजस तामस का प्रवाह पुनः फुरने लगा, उसको आत्मविवेक से निवृत्त किया जैसे प्रकाश से तम निवृत्त किया जाता है, ऐसे इसने विकल्परूप तम को निवृत्त किया, विवेक के बल से चित्तकला में लगाया, उसका चित्त वृत्ति के साथ साक्षात्कार किया, यहां प्रकाशवान् और शान्तिरूप उसमें एकक्षण चित्त स्थिर रहा, पुनः बाहिर निकल गया, जैसे बाँध को तोड़कर जल निकल जाता है, ऐसे निकल गया। पुनः अभ्यास के बल से आत्मकला में लगाया, तब उस परमपद शान्त आत्म पद में चित्त की वृत्ति स्थित हुई। वहां परमआनन्द अमृत में मग्न हुई, जो अशब्द आनन्द परिणाम से रहित है, उसमें स्थित हुआ, जिस पद में देवता ऋषीवर स्थित हैं, जिस पद में ब्रह्मा विष्णु रुद्र स्थित हैं, उस पद में उद्दालक स्थित हुआ। हे रामजी! जो एक क्षण भी उसमें स्थित हुआ है और जो वर्ष पर्यन्त स्थित हुआ है, वे दोनों तुल्य हैं, जिसको उस पद का अनुभव हुआ है, वह भोगों की इच्छा नहीं करता, जैसे जिसने स्वर्ग का नन्दनवन देखा है, वह करंजुए का वन देखने की इच्छा नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् भोगों की वांछा नहीं करता, उसको शोक कदा चित् नहीं उपजता, जैसे जिसको राज्य प्राप्त हुआ है, वह हीनता को प्राप्त नहीं होता, ऐसे जिसने आत्मपद में स्थिति पाई है, उसके अन्दर विषयों की तृष्णा और शोक उत्पन्न नहीं होता, हे रामजी! इस प्रकार उद्दालक स्थित था, तब सिद्ध गन्धर्व विद्याधरों के समूह उसके समीप आये, वे लोग परम तेजस्वी चन्द्रवदन और नम्र स्वभाव थे, उन्होंने आकर नमस्कार किया और कहा–हे भगवन्! स्वर्ग को चलो और दिव्य भोग भोगो, आपने बड़ी तपस्या की है, धर्म अर्थ और पुण्य का सार काम है, काम का सार स्त्रियाँ हैं, वे तुम्हारे भोगने के

लिये हैं, कैसी स्त्रियाँ हैं, विद्याधरियां, देवमूर्तियाँ स्वर्ग भी जिनसे शोभा पाता है जैसे वसन्त ऋतु की मंजरियों और पुष्पों से पृथ्वी शोभा पाती है, इसलिये आप विमारूढ होकर स्वर्ग को चलें, बहुत काल पर्यन्त भोग भोगो, हे रामजी! जब सिद्धों ने इस प्रकार कहा तब उद्दालक ने उनका अतिथि जानकर निरादर न किया, यथा योग्य पूजा करके कहा–हे सिद्धो! आपको नमस्कार है, आप अपने स्थान पर जायें। उनकी सिद्धता पर आसक्त न हुआ, क्योंकि वह परमानन्द में स्थित था और विषय सुख को तुच्छ जानता था, जैसे अमृत पीनेवाला विष की इच्छा नहीं करता, ऐसे उद्दालक ने विषयों की ओर से निस्पृहता दिखाई, तब सिद्धों ने कुछ दिन वहां निवास किया और उसकी पूजा करते रहे, तदनन्तर चले गये। उद्दालक महर्षि परमपद में स्थित हुए और अपने प्रकृत व्यवहार को करने लगा, मेरु पर्वत तथा मन्दराचल आदि पर्वतों पर विचरने लगा, कहीं कंदरा में ध्यान लगाकर बैठता, कहीं एक दो दिन बैठा रहे, कहीं बरसों बीत जायँ, कहीं समाधि लग जाती, कहीं समाधि से उतरता। हे रामजी! चित्त तत्वज्ञ अभ्यास करके महाचेतन तत्व को प्राप्त होता है, वह परम तेजस्वी उपशम को प्राप्त होकर परमपद पर विराजता है। उसका चित्त नितान्त शान्त हो जाता है और वह जन्ममरण के पाश को छिन्न भिन्न कर देता है, उसका देह भ्रम क्षीण हो चुका है, वह ज्ञानवान् पुरुष शरत्काल के आकाशवत् निर्मल हृदय होता है, इस प्रकार महर्षि उद्दालकजी का शरीर परम उत्कृष्ट तथा प्रकाशरूप हो गया। वह मुनिवर परम शान्ति को प्राप्त हुआ, सामान्य सत्ता में स्थित हो विचरने लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालक विश्रान्तिवर्णनं
नाम त्रिपंचाशः सर्गः ।।५३।।

चतुष्पंचाशः सर्गः ५४

उद्दालकनिर्वाणवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे आत्मरूप ज्ञान दिन के प्रकाश कर्ता सूर्य! हे संशय रूप तृण के भस्म करनेवाले अग्निदेव! हे अज्ञान सन्ताप के नाशक शान्तिदाता चन्द्रदेव! हे ईश्वर! हे श्री वसिष्ठ महिर्षि! सत्ता सामान्य का रूप क्या है! वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना करके जब चित्त क्षीण हो जाय, उसमें जो शेष रहे वह सत्ता सामान्य है, जब चित्त से रहित आत्मसत्ता हो, जिसमें चित्त लीन हो जाय तब सत्ता सामान्य उदय हो आवे जो असत्य की नाईं स्थित है, वह सत्ता सामान्य है, हे रामजी! जब सब इन्द्रिय प्रपंच शान्त हो जाय और शुद्ध बोध रहे। अन्दर बाहिर का व्यवधान मिट जाय सब जगत् एक रूप हो जाय, समाधि और उत्थान एक जैसा हो, ऐसी दशा की जो प्राप्ति है वह सत्ता सामान्य है, जो देह के होते ही विदेह रूप है, उसको तुरीयातीत पद कहते हैं, समाधि में स्थित हो तो भी केवल रूप है, उत्थान हो तो भी केवल रूप है, अज्ञानी को समाधि उत्थान तुल्य नहीं होता, क्योंकि ज्ञान से उत्पन्न समाधि उसको प्राप्त नहीं हुई जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, हमारे जैसे जिनको ज्ञानदृष्टि प्राप्त हुई है, नारद देवर्षि, ब्रह्मा, विष्णु रुद्रादिक और भी ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे सत्ता सामान्य में स्थित हैं, उनको समाधि और उत्थान में तुल्यता है, जैसे आकाश में पवन का चलना और ठहरना समान है, जैसे पृथ्वी में जल स्थित है और अग्नि में उष्णता स्थित है, ऐसे सत्ता सामान्य में स्थित है, उस पद में स्थित होकर उद्दालक जी विचार करते थे। जब तक जगत् कोटर में विचरने की इच्छा थी तब तक ऐसे विचरते रहे, जब विदेह मुक्त होने की इच्छा हुई, तब पर्वत कन्दरा में पत्तों का आसन बनाकर पद्मासन बांधा, बाह्य इन्द्रियों विषयों का त्याग किया, संकल्प विकल्पों का नितान्त त्याग किया, प्राणवायु को योग की

समस्त प्राणरोधक क्रिया द्वारा भली भांति रोका, अन्दर बाहिर नीचे ऊपर आदि सब ओर से सब प्रकार के भाव विकल्प को त्यागकर वृत्ति को आत्मतत्व में स्थिर किया तब उनकी चित्तवृत्ति शुद्धचिन्मात्र में जाकर अचल हुई। शरीर रोमांचित हुआ, उस व्युत्थान का भी त्याग किया, तब सत्ता सामान्य होकर विश्वंभर पद को प्राप्त हुआ जो परम विश्रान्ति अनादि आनन्द सुन्दररूप है, उस पद को प्राप्त हुआ होता है ऐसे मन क्षीण हुआ, तब शरीर पुतली की नाईं हो गया, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल पद को प्राप्त हुआ, जिससे चित्त उत्पन्न हुआ था, उसमें जाकर लीन हो गया जैसे सूर्य की किरणों द्वारा, वृक्ष में रस होता है और सूर्य ही खैंच लेते हैं जैसे समुद्र में तरंग उत्पन्न होकर उसी ही में लीन होते हैं, ऐसे चित्त लीन हो गया और संकल्प संपूर्ण उपाधि विलास से रहित हुआ, उस आनन्दपद को प्राप्त हुआ, जिसमें इन्द्रादिकों का आनन्द तुच्छ भासता है, ऐसा विश्व भर आनन्द जो उत्तम पुरुषों द्वारा सेवन करने योग्य है महर्षि उद्दालकजी को प्राप्त हुआ, महर्षि उद्दालक तपः प्रभाव से अद्वैत अशब्द सत्ता सामान्य पद में स्थित हुए, जो परम सुख शान्ति का नित्य स्रोत है, कुछ ही समय के बाद उनका पांच भौतिक अनित्य शरीर शान्त हो गया, जैसे रस सूखने से वृक्ष गिर पड़ता है, सूर्य की किरणों से सूखा हुआ शरीर वीणा के समान हो गया, जैसे वीणा बजती है और उसका शब्द प्रकट होता है वैसे ही उस शरीर में प्रविष्ट हुई वायु के बाहिर निकलने पर शब्द होता था, कुछ समय के अनन्तर वहां देवांगनाएं तथा अश्विनी कुमारों की शक्ति आदि आदि आईं, जिनका अग्निदेव के समान महान् प्रकाश था, ऐसे देव देवियों ने जिनकी देवता भी पूजा करते हैं वहां आकर सखियों सहित गले में सुन्दर पुष्पमाला पहिरायी और उनकी विधिपूर्वक पूजा करके उनके आगे नृत्य करने लगीं और विविध लीला करके शोभा पाने लगीं, हे रामजी! महर्षि उद्दालक के ब्रह्ममय चित्त में कलना रहित विवेक वल्ली प्रकट हुई जिस पर आत्मानन्द रूप फल लगा, जिसके हृदय में ऐसे दिव्य पुष्पों की

सुगन्धि स्थित हो, वह भी समस्त भ्रम को तर जाता है, जिसको ऐसा विवेक प्राप्त हो, वह क्यों न समस्त भ्रमों से मुक्त हो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे उद्दालकनिर्वाणवर्णनं नाम चतुष्पंचाशः सर्गः ।।५४।।

पंचपंचाशः सर्गः ५५

ध्यानविचारवर्णनं ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार उद्दालक ऋषीश्वर आत्मपद को प्राप्त हुए, हे कमलनयन! कर्तव्य यही है कि गुरु और शास्त्र के वचनों को अंगीकार करके जगद्भ्रम से मुक्ति प्राप्त करो और आत्माभ्यास से शान्ति पद को प्राप्त करो। पहिले गुरु और शास्त्रों के वचनों को समझो, उससे विषय भूत अर्थ के अभ्यास में बुद्धि को लगाइये, इस प्रकार जब होगा तब ही परमपद की प्राप्ति होगी, बिना साधन आत्मधन नहीं मिलता। रामजी बोले–हे भूत भविष्य के ईश्वर! एक ज्ञानवान् पुरुष समाधि में स्थित होता है, तदनंतर जगत् व्यवहार में विचरता है और एक समाधि में स्थित होता है, जगत् का व्यवहार नहीं करता। उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! पहिले तुम समाधि का लक्षण सुनो कि समाधि किसे कहते हैं और व्युत्थान किसको कहते हैं? यह गुणों का समूह अहंकार से लेकर तत्वगुणात्मक है, जो इनको अनात्मरूप देखता है और अपने आपको केवल इनका साक्षी चेतन जानता है और स्वाभाविक जिसका चित्त शीतल है उसको समाधि कहते हैं, जो मैत्री करुणा आदि गुणों से युक्त है और जिसका मन आत्मविषय से ही शांति प्राप्त करता है उसको समाधि कहते हैं, हे रामजी! जिसको ऐसा निश्चय होता है कि मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ और दृश्य के सम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसे निश्चय से जिसका अन्तःकरण

शीतल होता है, वह चाहे वन में रहे अथवा घर में रहे, दोनों स्थान उसके लिये तुल्य हैं और वह दोनों पुरुषतुल्य हैं, जो अन्तःकरण (स्वाभाविक ही किसी का शीतल होता है) शीतल हो वह बड़े भारी अनन्त तप का फल है। हे रामजी! जो इंद्रियों को शम न करके बैठा है और मन से जगत् के पदार्थों का चिन्तन करता है उसकी समाधि मिथ्या है, वह उन्मत्त की नाईं नृत्य करता है और जिसको वासना कोई नहीं और मन में व्यवहार करता है उसको बुद्धिमान् की समाधि के तुल्यजान, कोई ज्ञानी व्यवहार करता है, कोई ज्ञानवान् व्यवहार को त्यागकर वन में समाधि में स्थित हो बैठता है, वे दोनों निश्चय से परमपद को प्राप्त होते हैं, इसमें संशय नहीं करना, ज्ञानवान् निर्वाह के लिये पुरुषार्थ करता भी दृष्टि आता है तो भी अकर्ता भी है और जो अज्ञानी कर्ता भी नहीं, परन्तु वासना करके कर्तव्य भाव को प्राप्त होता है, जैसे कोई पुरुष कथा श्रवण को बैठा है और मन किसी दूसरे स्थान पर चला गया है तो समझ लो कि वह न तो सुन रहा है न वहां बैठा है, ऐसे ज्ञानवान् का चित्त आत्मपद की ओर लगा है, इसलिये वह कर्ता भी नहीं कर्ता, उसको कर्तृत्व का अभिमान कुछ नहीं होता और घन वासना सहित अज्ञानी सो गया, उसको स्वप्न आया उसने अपने आपको पर्वत पर से एक गर्त में गिरते देखा, अति कष्ट का अनुभव हुआ, इस कारण से जहाँ वासना है वहां क्षोभ भी होता है, जहां वासना कुछ नहीं वहां शान्ति है, हे रामजी! जिसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं और निश्चित रूप से अपने आपको अकर्ता जानता है, उसको केवली भाव से समाधिस्थ जानो और जिसमें कर्तृत्व अभिमान है और समाधि में बैठा है तो भी उसका व्युत्थान नहीं जानो हे रामजी! चित्त को चलाने का कारण स्मृति है। स्मृति जगत् को लेकर समाधि में बैठे तो भी चित्त वासना के द्वारा विस्तार को पाता है, ऐसे मनमें जो स्मृति वासनाकी होती है, उससे चित्त विस्तार को पाता है, और यदि जगत्की वासना मनसे जाती रही हो

अर्थात् जब जगत् का सद्भाव निवृत्त हो जाता है तब चित्त अचल हो जाता है। हे रामजी! जिस चित्त से वासना नष्ट होती है, उसको अचला स्थिति कहते हैं, वह ध्यान में केवलीभाव से स्थित होता है और जिसके चित्त में सदा वासना फुरती है, उसको सदा क्षोभ होता है, इसलिये निर्वासनिक होकर परम पद को प्राप्त करो। हे रामजी! जिस चित्त में वासना गंध होती है, वहां कर्तृत्व का अभिमान फुरता है, उससे सदा दुःखी होता है। वासना के क्षीण होने से मुक्त होता है, जिस पुरुष के चित्त से जगत् की आस्था निवृत्त हुई है और बीत शोक हुआ है, वह स्वस्थात्मा है उसको समाधि कहते हैं, हे रामजी! जिसके अन्दर से संसार का रागद्वेष मिट गया है और शान्ति को प्राप्त हुआ है, उसको सदिव्य समाधि कहते हैं। इसलिये चित्त में जो पदार्थ भावना है उसको त्याग कर अपने स्वभाव में स्थित हो, तब घर में रहो, चाहे वन में जाओ, दोनों तुम्हें तुल्य हैं, हे रामजी! जो गृह में स्थित हैं और जिनका चित्त समाहित है, अहंकार दोष से रहित हैं, उनको कुटुम्ब और जनसमूह भी वन के समान है। ज्ञानवान् को गृह वन तुल्य है, देहाभिमानी अज्ञानी मनुष्य तो चाहे वन में जाकर समाधि लगाकर बैठा हो, विषयों की ओर मनोवृत्ति होने के कारण उसे घर में ही जानना चाहिये। हे रामजी! चित्त के उत्थान में स्वरूप से गिरा हुआ मनुष्य जगत् भ्रम को देखता है और जब चित्त निर्वाणपद आत्मा में स्थित होता है, तब उपशम होता है, हे रामजी! जो पुरुषभाव आत्मा को सब पदार्थों से अतीत जानता है। वह समाहित चित्त कहाता है और जिसको जाग्रत जगत् स्वप्नवत् भासता है, वह समाहित चित्त कहाता है, वह पुरुष उनके समूह में रहता है तो भी उसका सम्बन्ध किसी के साथ नहीं, जैसे कोई पुरुष राजमार्ग में चला जाता है, वहां किसी मार्ग के पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे उस पुरुष का अभिमान किसी में नहीं फुरता, जिस पुरुष का चित्त अन्तर्मुख हुआ है, वह सोये अथवा बैठे, अथवा चले देखे नगर ग्राम सब उसको महावन रूप भासता है, सब जगत् उसको आकाशरूप भासता है, जिस

पुरुष को आत्मा में प्रीति हुई है, उसको अन्तर्मुख कहते हैं, जिसका अन्दर आत्मज्ञान से शीतल हुआ है, उसको सब जगत् शीतल रूप भासता है, जब तक जीता है विगतज्वर होकर जीता है और जिसका अन्दर तृष्णा से जलता है उसको सारे जगत् में आग लगी सी भासती है। हे रामजी! यह सब जगत् इसक चित्त में स्थित है, जैसी भावना चित्त में होती है उसके अनुसार जगत् भासता है, स्वर्ग, पृथ्वी, लोक, पाताल, वायु, नदियाँ, आकाश देशकाल जितना जगत् है वह सब अन्तःकरण में है, वही बाहिर विस्तार के रूप से भासता है, जैसे वट के बीज में वट का विस्तार होता है, ऐसे चित्त में जगत् का विस्तार होता है और बाहिर जो सूर्य आदिक भासता है, वह भी चित्त के अन्दर स्थित है, जैसे फूल खिलता है, उसके अन्दर की सुगंधि बाहिर भासती है और वास्तव से कुछ अन्दर है न बाहिर है, जैसा किंचन होता है, वैसा ही चेत्यता से फुरता है, ऐसे वही सत्ता जगद्रूप होकर भासती है, जगत् सब आत्मारूप है और न कोई सत्य है न असत्य है। एक आत्मसत्ता ज्यों की त्यों स्थित है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, उनको सदा ऐसा ही भासता है, हे रामजी! जिसके अन्दर शान्ति है, उसको सब जगत् शान्तिरूप है, जिसका अन्तःकरण देहाभिमान में स्थित है, वह नाशरूप होता है और भय को प्राप्त होता है, उसको किसी और से शान्ति प्राप्त नहीं होती। स्वर्ग, पृथ्वीलोक, पाताल, वायु, आकाश, पर्वत, नदियां, देश, काल सब को प्रलय काल की अग्नि से जलता देखता है, जिसके अंदर ताप हो उसको सब जगत् तपता भासता है, आत्मज्ञानी को शान्तरूप भासता है, जैसे अन्धे को जगत् अन्धकारमय प्रतीत होता है, नेत्रवान् को प्रकाशयुक्त दीखता है, हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मपद में प्रतीति हुई है और इन्द्रियों के साथ कर्म भी करता है, परन्तु हर्ष शोक के वश नहीं होता, वह समाहित चित्त कहाता है, जो पुरुष सबको आत्मरूप देखता है, चित्त से कुछ चिन्तन नहीं करता और भविष्यत् की इच्छा नहीं करता, वर्तमान में रागद्वेष से रहित होकर विचरता है वह समाहित चित्त

कहाता है, हे रामजी! जो पुरुष जगत् की पूर्वा पर गति को देखकर हँसता है और शम पद में स्थित होता है। किसी में ममता नहीं करता वह समाहित चित्त कहाता है और जो पुरुष अहं ममता से रहित है और जगत् की विभाग कलना से रहित है, चेतन अचेतन भाव जिसको नहीं फुरता, वह पुरुष सत्य है और आकाश की नाईं स्वच्छ निर्मल है। राग द्वेष तथा क्रोधादि विकारों से अस्पृश्य रहता है और सब भूतों को अपने समान देखता है, पर द्रव्य पर दृष्टि नहीं करता। स्वभाव से ही वह ऐसा करता है कोई अन्य भयान्तर से यह उसका त्याग नहीं करता, वह अहंकार से रहित होता है, जगत् के सत्य भाव को देखता है न असत्य भाव को देखता है, न ज्ञान को देखता है, न अज्ञान को देखता है, न जड़ देखता है न चेतन देखता है, केवल अद्वैत तत्व देखता है, वह महाशान्त पद में स्थित है वह उठ कर खड़ा रहे अथवा बैठा रहे, उदय हो अथवा अस्त हो, बड़े भोगों में रहे या वतन में जा बैठे, मद्यपान से उन्मत्त होकर नाचे, चाहे बड़े पवित्र तीर्थों पर जाकर निवास करे, कंदरा में बैठे। शरीर को अगर चन्दन का लेप करे, चाहे कीच मलकर उसी में लोटे देह अब ही गिरे यह कल्पपर्यन्त बना रहे। उस पुरुष को कलंक स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे सुवर्ण को कीच का दोष नहीं दूषित कर सकता, इसी प्रकार ज्ञानवान् को कर्तृत्व का दोष नहीं लग सकता है, हे रामजी! परमार्थ मार्ग में अहंता ही कलंक है, वह महापुरुष अहंकार से रहित है, जैसे सीपी को रूपे का आभास स्पर्श नहीं करता ऐसे ज्ञानवान् को क्रिया स्पर्श नहीं करती। हे रामजी! यह अहंता से ही हीन होता है, जब अहंता इसको फुरती है तब अनेक प्रकार के दुःख सुख देखता है, जन्मपरम्परा को देखता है और डरता है, जैसे किसी को रस्सी में सर्प भासे और वह डरे, इस प्रकार भय पाता है, जब भली भांति दीपक के प्रकाश से देखे तब सर्प भयनिवृत्त होता है, ऐसे ही अहंता से यह दुःख पाता है, अहन्ता के शान्त होते होते शान्तिमान् होता है। हे रामजी! ज्ञानवान् जो कुछ कर्म करता है, खाता पीता लेता देता, हवन करता है, उसमें अहंता का अभिमान

नहीं करता, इसलिये करने में उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और जो नहीं करता, उसमें कुछ अभिमान नहीं, इसलिये करने से उसकी हानि कुछ नहीं होती, अपने स्वभाव में स्थित है, जगत् को द्वैत भाव से नहीं देखता, सर्वात्मभाव से देखता है, इसलिये उसे कर्म स्पर्श नहीं करता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे ध्यानविचारवर्णनं नाम पंचपञ्चाशः सर्गः ।।५५।।

षट्पंचाशः सर्गः ५६

भेदनिरासवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! चित्त आदिक जो जगत् है वह वास्तव में आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, आत्मारूप मरिच है उसमें अहंता रूप तीक्ष्णता है तो उससे भिन्न नहीं, जैसे इक्षु से मधुरता भिन्न नहीं, ऐसे आत्मा से जगत् भिन्न नहीं, जैसे पत्र पुष्प फल शाखाएं आदि वृक्ष से भिन्न नहीं होते, ऐसे आत्मा से जगत् भिन्न नहीं, जैसे पत्थर में कठोरता है, ऐसे आत्मा में जगत् है, जैसे पर्वत में जड़ता होती है, ऐसे आत्मा में अहंता होती है, जैसे जल में द्रवता होती है ऐसे आत्मा में अहन्ता होती है, जैसे फूल फल शाखा सब वृक्ष से भिन्न नहीं, ऐसे अहन्तादिक आत्मा से अभिन्न होते हैं, जैसे अग्नि में उष्णता और बरफ में शीतलता होती है, सूर्य में जैसे प्रकाश होता है गुड़ में मधुरता होती है, ऐसे आत्मा में जगत् होता है, हे रामजी! जैसे मणि में प्रकाश होता है, ऐसे आत्मा में अहन्ता होती है, जैसे जल से तरंग भिन्न नहीं होता, ऐसे आत्मा से अहन्ता आदिक भिन्न नहीं होते, जितना भी यह जगत् भासता है, आत्मतत्व का प्रकाश है, वह आत्मा अनन्त है, सब में पूर्ण है, एक ही ईश्वर भाव में स्थित है, महाघनशिला की नाईं स्थित है, उससे भिन्न कुछ नहीं, जैसे आकाश अपने भाव में स्थित है, ऐसे सत्य केवल आत्मा में स्थित है, अपने आपसे निर्वेद है

और वेदना भी उससे भिन्न कुछ नहीं, जैसे जल ही तरंगरूप हो भासता है और ऐसे आत्मा वेदनरूप हो भासता है, जैसे जल में द्रवता भासती है और पवन में चलना भासता है, ऐसे ज्ञानरूप आत्मा में अहन्तारूप देश, काल, जगत् भासता है, हे रामजी! जीवों का जीवन ज्ञान से होता है और आत्मसत्ता का जीवन चेतन से होता है, ऐसे चिन्मात्र और जीवों में किंचित् भी कुछ भेद कुछ नहीं, जैसे ज्ञान चेतन सत्ता और जीव में भेद नहीं, ऐसे ज्ञाता और जगत् में कुछ भेद नहीं, एक ही अखण्ड सत्ता ज्यों की त्यों स्थित है, हे रामजी! सर्व सत्ता एक अज अनादि और आदि अन्त मध्य से रहित प्रकाशरूप है, चिन्मात्र अद्वैत तत्व अपने आप में स्थित है, अशब्द है, उसमें वाणी प्रवेश नहीं कर सकती और जितने कुछ वाक्य हैं, वे उसके बतलाने के लिये कहे हैं, वास्तव से द्वैत वस्तु कुछ नहीं, एक आत्मतत्व को अपने हृदय में धारण करके रहो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे भेदनिरासवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ।।५६।।

सप्तपंचाशः सर्गः ५७

सुरघवृत्तान्तमांडव्योपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! एक प्राचीन इतिहास है जो कि ऋषीश्वरों का कहा हुआ है, उसको सुनो–क्रान्त देश के राजा का नाम सुरघ था, उसका बहुत विस्मापक इतिहास सुनिये हे रामजी! उत्तर दिशा की कुछ भूमि में विशेष गुण हैं, उसमें ऐसी सुगन्धि है कि मानों कपूर से लिपी हुई हो, मानों सदाशिव के हंस आकर स्थित हुए हैं, हिमालय के शिखर पर कैलास पर्वत है, वह सब पर्वतों से उत्तम है और उज्ज्वल श्वेत है, वह रुद्र के रहने का स्थान है, वहां कल्पवृक्ष है और गंगा का प्रवाह चलता है, कमलों से सुशोभित सुन्दर

तालाब हैं, जिनमें विचित्र मृग पक्षियों के दर्शन हो उस हिमालय के (नीचे) अधस्तल भाग में क्रान्त (क्रान्त देश के निवासी) रहते हैं, उनकी जटाएं स्वर्ण की सी हैं, जैसे वृक्ष के मूल में पिपीलिकाएं रहती हैं, ऐसे पर्वत के आश्रय क्रान्त देश के जीव रहते हैं, उस क्रान्त देश का राजा सुरघ था, वह राजा यशस्वी तपस्वी तेजस्वी और प्रतापवान् था। उसमें बड़ी विशेषता यह थी कि अहंकार नहीं था, किन्तु वैराग्य था, बुद्धिमता में वह बृहस्पति था, कवित्व में शुक्राचार्य। राजाओं में इन्द्र और धनवानों में मानों कुबेर था, अर्थात् वह सर्वथा सुयोग्य राजा था, प्रजा पालन में परमदक्ष था, जो लोग भले मार्ग पर चलते थे उनकी रक्षा करता और जो खोटे कर्म पाप चोरी आदिक करें उनको कड़ा दंड देता था, अपने प्रत्येक राजकार्य को रागद्वेष से रहित होकर पूरा करता था, एक समय अपने स्थान में बैठा था कि विचार उत्पन्न हुआ और उसकी बुद्धि संशय में पड़कर डोल गयी, महान् अनर्थ है कि मैं जीवों को कष्ट देता हूँ, मैं तो चाहता हूँ इन्हें धन दूँ परन्तु कष्ट न दूँ, जैसे तेली तिलों को पेरता है ऐसे मैं पापियों को कष्ट देता हूँ और दुष्टों को दंड दिये बिना राज्य भी नहीं चलता, जब दंड देता हूँ, तब दुःख पाते हैं, मैं क्या करूँ, दोनों प्रकारों से कष्ट है, हे रामजी! इस प्रकार राजा ऐसे ही विचारों में नित्य पड़ा रहने लगा, एक दिन उसके यहां, मांडव्यमुनि आये, जैसे इन्द्र के घर नारदजी आये हों, ऐसा जानकर राजा ने भली भांति इनकी पूजा की और संशय वृक्ष को काटने के लिये जो कुल्हाड़े हैं ऐसे ऋषिवर से अपनी संशय निवृत्ति के लिये पूछने लगा, हे सर्वधर्मज्ञ मैं आपके आने से परम प्रसन्न हुआ हूँ जैसे वसन्तऋतु से पृथ्वी प्रफुल्लित होती है, ऐसे प्रफुल्लित हुआ हूँ कि अब मेरी गणना भी पुण्यवानों में होगी, क्योंकि आप मेरे घर में आये हैं, जैसे भगवान् श्री सूर्यदेव के उदय से प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार मैं आज आपके दर्शन से प्रसन्न हुआ हूँ, हे भगवन्! मुझको एक संशय है उसको आप दूर कर सकते हैं यह मेरा दृढ़ विश्वास है। सूर्य के उदय होने पर प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है कोई एक स्थान के

लिये नहीं होता, इसीप्रकार आप सर्वज्ञ हैं, आपके आगे मैं संशयमें नहीं रहता, अवश्य दूर होगा, जो कोई महापुरुषों का संग करते हैं, उनकी संशय निवृत्ति न हो तो और किसकी होगी। संशय परम दुःखों का कारण है, इसलिये आप मेरे संशय की निवृत्ति करायें, संशय यह है कि जो कोई दुष्ट कर्म करता है उसको मैं दंड देता हूँ और जब उसको दुःख होता है तो मुझे दया आती है, जैसे सिंह के नख हस्ती को खैंचते हैं, ऐसे यह संशय मुझको खैंचता है, इसलिये वह उपाय करो जिससे मुझे समता प्राप्त हो, जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र सम होती हैं, ऐसे इष्ट अनिष्ट में सम हो जाऊँ, ऐसी युक्ति कृपा करके कहो, मांडव्य ऋषि बोले–राजन्! यह तो सुगम काम है और अपने अधीन है, आप ही से सिद्ध होता है और अपने ही घर में है, हे राजन्! सब दोष मन में उठते हैं और तुच्छ हैं विचार करने से निवृत्त हो जाते हैं, जैसे शरत्काल के आने से कुहिड़ नष्ट हो जाती है, ऐसे विचार करने से मनभाव नष्ट होगा, वह विचार इस प्रकार है कि मैं कौन हूँ और इंद्रिय क्या है और जगत् क्या है, जन्ममरण किसको कहते हैं? इस विचार से जब तू अपने स्वभाव में स्थित होगा, तब तुझको हर्ष, शोक और क्रोध, राग द्वेष विचलित न कर सकेंगे, जैसे वायु से पर्वत विचलित नहीं होते, ऐसे तू भी अचल रहेगा, हे राजन्! जब आत्मबोध होगा, तब मन अपने मनोभाव को त्याग देगा। तू अचल संताप से रहित अपने स्वरूप को प्राप्त होगा, जैसे तरंग भाव मिटने पर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही तू अचल होगा, मनोधर्म भी रहेगा, परंतु बीच में से अज्ञान नष्ट हो जायेगा, आत्मसत्ताभाव होगा, जैसे काल वही रहता है परंतु ऋतु और हो जाता है, ऐसे ही मन वही होगा परंतु स्वभाव और हो जायेगा और तेरे प्रजाजन तथा सेवक भी साधु पुरुष बन जायँगे, तेरी आज्ञानुसार चलेंगे और तुझे देखकर प्रसन्न होंगे। हे राजन्! जब विवेकरूप दीपक से आत्मरूप मणि प्राप्त करेगा तब तेरी बड़ाई सुमेरु समुद्र और आकाश से भी अधिक होगी, जब तुझे विवेक से आत्म महत्व का प्रकाश होगा, तब तू संसार की तुच्छता में न डूबेगा, जैसे गोपद के

जल में हस्ती नहीं डूबता, ऐसे तू रागद्वेष में न डूबेगा, जिसके देह में अभिमान है और चित्त में वासना है, वे तुच्छ संसार की वृत्ति में डूबते हैं, इसलिये जितना कुछ अनात्म भाव दृश्य है उसका त्यागकर पीछे जो शेष रहे वह परम तत्व आत्मा है। हे राजन्! जो कुछ सत्य वस्तु है, उसको हृदय में रख और जो असत्य है उसका त्याग कर, जैसे तब तक सुनार धोता है, जब तक स्वर्ण नहीं निकलता, जब स्वर्ण निकल जाता है तब धोने का त्याग कर देता है, ऐसे ही तब तक आत्म विचार कर्तव्य है, जब तक आत्माका साक्षात्कार नहीं हुआ, जब तक आत्मतत्व का साक्षात्कार होता है, तब विचार के साथ प्रयोजन नहीं रहता। हे राजन्! सब में सब प्रकार सब काल, सर्वात्मभाव से अथवा समस्त दृश्य भाव को त्यागकर जो शेष रहेगा वह तुझको भासेगा। जब तक सर्व दृश्य का त्याग न करेगा, जब तक आत्मपद का लाभ न. होगा सर्व दृश्यके त्याग से आत्मपद भासेगा, हे राजन्! किसी वस्तु के पाने का यत्न करता है तो और का त्याग करने से ही वह वस्तु प्राप्त होगी, जब अपना सारा यत्न एक ही ओर लगता है तब उस पद की प्राप्ति होगी, अतः आत्मपद पाने के लिये सब दृश्य का त्यागकर सबके त्याग करने से जो शेष रहे, वह परम पद है। हे राजन्! सबका त्याग कर देने के बाद जो सत्ता अधिष्ठान रहेगा वह तुझको आत्मभाव से प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघवृत्तान्तमांडव्योपदेशो नाम सप्तपंचाशः सर्गः ।।५७।।

अष्टपंञ्चाशः सर्गः ५८

सुरघवृत्तान्तवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार कहकर मांडव्य मुनि अपने स्थान को चले गये, तब सुरघ राजा एकान्त में बैठकर विचार करने लगा कि मैं कौन हूँ? न मैं सुमेरु हूँ, न मेरा सुमेरु है, न मैं जगत् हूँ, न मेरा जगत् है, न मैं पृथ्वी हूँ, न मेरी पृथ्वी है, न मैं क्रान्त मंडल हूँ, न मेरा क्रान्त मंडल है, क्योंकि जो अपने भाव में स्थित है, मेरे भाव से तो यह स्थित नहीं, यदि मैं न हूँ तो भी यह जगत् ज्यों के त्यों स्थित हैं, तो मेरे कैसे हों और मैं इनका कैसे हूँ, न मैं नगर हूँ न मेरा नगर है। हाथी, घोड़ा, मंदिर, धन, स्त्री, पुत्र आदिक जितने पदार्थ हैं, वे न मेरे हैं, न मैं उनका हूँ, उनमें असक्त होना वृथा है, उनमें मेरा सम्बन्ध कुछ नहीं, यह जितने भोगों के साधन हैं, न मैं हूँ, न यह मेरे हैं, सेवक, भृत्य, कलत्र सब अपने भाव से सिद्ध हैं, मेरा इनके साथ सम्बन्ध कुछ नहीं, न मैं राजा हूँ, न मेरा राज्य है, मैं एक शरीर मात्र हूँ, इनमें मैं ममत्व करता हूँ वह वृथा है और शरीर में जो मैं अहंता करता हूँ, यह भी वृथा हैं, क्योंकि जो हाथ पाँव रूप शरीर है वह भिन्न है, न यह मैं हूँ, न यह मेरे हैं, इनमें मेरा सम्बन्ध कुछ नहीं, रक्त मांस, अस्थि आदि रूप हैं, वह मैं नहीं, यह जड़ हैं, मैं चेतन हूं, इनका मेरा सम्बन्ध कैसे हो, जैसे जलका स्पर्श कमलको कुछ नहीं, ऐसे इनका स्पर्श मुझको नहीं, न मैं कर्म इन्द्रिय हूँ, न मेरे कर्मेन्द्रिय हैं, यह जड़ हैं, मैं चैतन्य हूँ, न मैं ज्ञानेन्द्रिय हूँ, न मेरे ज्ञानेन्द्रिय इनसे परे मन है वह भी मैं नहीं, मन बुद्धि, चित्त अहंकार यह सब अनात्मरूप हैं, मेरा इनके साथ अविद्या से सम्बन्ध है, भ्रान्ति करके मैं इनको अपना स्वरूप जानता था। यह सब भूतों का कार्य है, इनके पीछे चेतन जीव है, वह चेतन दृश्य को चेतने वाला है, वह चेतन चेतना मैं नहीं, इन सबसे शेष अचेत्य चिन्मात्र है, वह सत्ता मेरा स्वरूप है, परम कल्याण हुआ जो कि मुझे अपने आपकी प्राप्ति हुई, अत्यन्त आश्चर्य की बात थी कि इतना समय पहिले

मैं वृथा ही शरीरादि को अपना आप जानकर शोक मोह से व्याकुल होता रहा, मैं तो एक निर्विकल्प चेतन हूँ और अनन्त आत्मा हूँ, सर्वत्र व्याप्त हूँ, ब्रह्मरूप आत्मा हूँ, इन्द्रियों से लेकर जितने भी भूतगण हैं, सबका आत्मा हूँ, यह भगवान् आत्मा सबके अन्दर व्याप्त है, जैसे सबके अन्तर तत्व होते हैं, ऐसे यह चेतन रूप सब भावों को भर रहा है और सब भोगों में व्याप्त हो रहा है, भैरव और उदय अस्तभाव आदि विकारों से रहित है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सबका आत्मा यही है सब प्रकाशों को प्रकाशित करनेवाला दीपक है वह धागा यही है जिसमें अनन्त संसाररूप मोती पिरोये हुए हैं, सबका कारण कार्य यही है और आकार से रहित है, शरीरादिक सब इसकी सत्ता से उपलब्ध होते हैं। शरीर रूप रथ इसी से चलता है और वास्तव से शरीरादिक कुछ वस्तु नहीं, यह जगत् चित्तरूप नट का नृत्य लीलारूप है, चित्त में जगत् फुरता है, वस्तुतः और वस्तु कुछ नहीं, महान् कष्ट है मैं वृथा संग्रह असंग्रह की चिन्ता करता था, यह गुणों का प्रवाह है, इसमें मैं क्यों शोकवान् होता था? बड़ा आश्चर्य है कि मुझको असत्य भ्रम सत्य दीखता था, अब मैं निश्चय करके सम प्रबोध हुआ हूँ, मेरी दुर्दृष्टि दूर हो गयी, दृष्टि की भी जो अलक्ष्य दृष्टि है उसको मैंने देख लिया है और जो कुछ पाने योग्य था, पा लिया है, अचेत्यचिन्मात्र तत्व को प्राप्त हुआ हूं, जितना दृश्य है, उनको मैंने स्वरूप से देखा है और अहं मम मेरा नष्ट हुआ है, मैं चिदानन्द पूर्ण आत्मा हूँ, नित्य शुद्ध अनंत आत्मा अपने आप में स्थित हूँ, ग्रहण क्या और त्याग क्या? यह क्लेश कोई नहीं, न कोई दुःख है न सुख है, सब ब्रह्म है और दूसरी वस्तु कुछ नहीं, राग किसका करूँ और द्वेष किसका करूँ? मैं मिथ्या मूढ़ता को प्राप्त होकर दुःखी होता था, अब परम कल्याण हुआ, मैं अमूढ़ होकर स्वरूप में स्थित हुआ हूँ, ऐसे आत्मा के साक्षात्कार बिना दुःखी था, इसके देखते अब किसका शोक करूँ? कहाँ स्थित हो जाउँ? यह सब जगत् आत्मा के प्रकाश से है और सब आत्मारूप है, मैं अब सम्यक् ज्ञानवान हुआ हूँ, मेरा मुझको नमस्कार है। मैं अनन्त आत्मा

हूँ, अनुभव रूप हूँ, भ्रम से रहित निष्कलंक सब इच्छा से रहित सुषुप्ति की नाईं शान्त रूप हूँ, अचेत्य चिन्मात्र हूँ, सदा अपने आप में स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघवृत्तान्तवर्णनम् नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥५८॥

एकोनषष्टितमः सर्गः ५९

सुरघवृत्तान्तसमाप्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! कीर जो स्वर्णरूप देश है, उसका राजा परमानन्द को प्राप्त हुआ, इस प्रकार विचार से अभ्यास से ब्रह्मरूप हुआ, जैसे गाधिका पुत्र विश्वामित्र तपस्या करके उसी शरीर के साथ क्षत्रिय से ब्राह्मण हुआ, ऐसे राजा सुरघ अभ्यास करके ब्रह्मबोधवान् ब्रह्मरूप हुआ और अनेक राज्य कार्य किये, जैसे सूर्य इष्ट अनिष्ट में सम है, विगत ज्वर होकर समय व्यतीत करता है, ऐसे ही उसने राग द्वेष से रहित होकर राज्य कार्य किया। जैसे जल ऊंची नीची जगह आने पर भी अपने जल भाव को नहीं त्यागता, सम रहता है, ऐसे राजा ने हर्ष शोक से रहित होकर राज्य कार्य किया और स्वभाव को त्याग न किया। आत्म विचार के बल से उसकी वृत्ति सुषुप्ति की नाईं हो गयी। उसको संसार भाव का स्फुरण होता ही न था, जैसे वायु से रहित दीपक प्रकाशित होता है, ऐसे शुद्ध प्रकाशरूप को प्राप्त हुआ, हे रामजी! दया करता भी दृष्टि आता परंतु उसकी दृष्टि में कुछ दया नहीं और दया से रहित भी औरों को दृष्टि आता परंतु उसकी दृष्टि में निर्दयता नहीं, न सुख न दुःख, न अर्थ न अनर्थ सब पदार्थों में सम एक भाव आत्मा को देखता था और अंदर से पूर्ण चन्द्रसम शीतल रहता था, उसने जगत् को आत्मा का किंचन रूप जाना, उसके सुख दुःख के भाव शांत हो गये, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार नष्ट हो जाता है, ऐसे सुख दुःख नष्ट हो गये, प्रत्येक

व्यवहार करता परन्तु राग द्वेष का स्पर्शमात्र भी उसे न होता था, जैसे पत्थर में फुरना नहीं फुरता, ऐसे उसको कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभिमान न फुरा, सब कर्तव्य करता हुआ भी निस्संग रहा, जैसे जल में कमल अलेप रहता है, ऐसे राज्य में निर्लेप होकर जीवन्मुक्त हुआ। बहुत काल व्यतीत करता रहा, तदनन्तर शरीर का त्याग किया, जैसे बरफ का कण सूर्य के तेज से जलमय हो जाता है ऐसे शरीर अपने भाव को त्यागकर आत्मतत्व में लीन हो गया, जैसे नदी समुद्र में लीन हो जाती है, फिर नहीं भासती, ऐसे सुरघ अपने भाव को त्यागकर उज्ज्वल भाव को प्राप्त हुआ, कलनारूप मल को त्यागकर निर्मल ब्रह्मरूप हुआ, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, ऐसे निर्मल चिदानन्द ज्योतिर्भाव को प्राप्त हुआ, जैसे घट फूटने से घटाकाश महाकाश हो जाता है, ऐसे पूर्ण ब्रह्म चिदानन्द तत्व हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशम प्रकरणे सुरघवृत्तान्त समाप्ति
नामैकोनषष्टितमः सर्गः ।।५८।।

षष्टितमः सर्गः ६०

सुरघपरघसमागमवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! तुम भी इसी दृष्टि का आश्रय लेकर विचारो, तब सब भय मिट जायेगा, जैसे घोर अन्धकार में बालक भय पाता है, जब दीपक का प्रकाश होता है तब निर्भय होता है ऐसे संसाररूप घोर अन्धकार में आया हुआ पुरुष दुःख पाता है, जब ज्ञानरूप दीपक उदय हो तो तब निर्भय हो जाता है, हे रामजी! जब आत्मविचार में कुछ भी चित्त विश्राम पाता है तब उस विश्राम के आश्रय से संसार निकल जाता है, हे रामजी! यह पावन दृष्टि मैंने तुझको कही है, यदि

कोई किसी गर्त में गिरता हुआ तृणलता वृक्ष आदि का आश्रय मिलने पर उस विपत्ति से निकल जाता है तो इसके आश्रय से क्यों न निकलेगा, इसको चित्त में विचार परस्पर मिल कर उदाहरण के साथ अभ्यास द्वारा नित्य एक समाधि में स्थित हो और पृथ्वी के भूषण होकर लोकों में विचरो, रामजी बोले—हे मुनीश्वर! एक समाधि किसे कहते हैं और कैसे की जाती है, कहने की कृपा कीजिये, मेरा चित्त चंचल है, मैं इसकी स्थिति चाहता हूँ, जैसे वायु से मोर का पुच्छ काँपता है, ऐसे ही मेरा चित्त हिलता है, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब सुरघ प्रबुद्ध हुआ था, तब उसका संवाद पर्णाद राजर्षि से हुआ था, महान अद्भुत समाधि है, उसको सुनकर विचार करे तो तू समाधिमान् होगा, जो इन दोनों ने मिलकर परस्पर जो चर्चा की है, उसे सुन, हे रामजी! पारश देश का राजा महावीर्यवान् था, उसका नाम परघ था, वह सुरघ का मित्र था, जैसे नन्दन वन में कामदेव और वसन्त का ऋतु का मित्र भाव होता है ऐसा ही सुरघ और परघ का मित्र भाव था, एक समय की बात है कि परघ के देश में बिना प्रलय काल के ही प्रलय काल सा कष्ट हो गया, उससे सब जीव दुःख पाने लगे, प्रजा के जीवों की पाप बुद्धि ही फल देने लगी। महान् दुर्भिक्ष पड़ा, लड़ाईयाँ झगड़े भी उत्पन्न हो गये, कई लोग भूख से मरे कई आपस के झगड़ों से मौतें हुई। प्रजा के लोग बहुत दुःखी हुए, राजा ने प्रजा को दुःखी तो देखा परन्तु उसका दुःख दूर करने में समर्थ न हुआ, इसलिये उसने प्रजा का और कुटुम्ब का त्याग किया, जैसे वन को आग लग जाने से पक्षी त्याग जाते हैं और ग्राम को अग्नि भय होने से वहाँ के निवासी उसे छोड़ जाते हैं। तब एक पडाड़ की कन्दरा में जाकर तप करने लगा, उसने ऐसा कठोर तप किया जैसे जिनेन्द्र ने किया था, उस कन्दरा में फल तो मिलते नहीं थे, इसलिये राजा (पर्ण) पान खाता था, पत्ते को पर्ण कहते हैं, इसलिये उसका नाम पर्णाद हो गया था, तप उसका यही था कि वह अपनी चित्त वृत्ति को आत्मपद में जोड़ता

था, उसने सहस्र वर्ष पर्यन्त तप किया। तब अभ्यास की अधिकता से चित्त के स्थित हो जाने पर केवल ज्ञान स्वरूप आत्मतत्व निर्मल हृदय में प्रकाशित हुआ। सब सन्ताप मिट गया। राग द्वेष से रहित निष्क्रिय आत्मदर्शी जीवन्मुक्त होकर विचरने लगा, शुद्ध निर्मल हुआ त्रिलोकी में घूमने लगा, कभी सिद्धों के स्थानों पर जाता, जैसे सरोवर में कमलों के निकट भँवरा हंसों से जाकर मिलता है, ऐसे राजा सिद्धों के साथ जा मिले। इस प्रकार घूमता घूमता कीर देश में राजा सुरघ के राज्य में जा पहुँचा, तब सुरघ अपने पूर्व मित्र को देखकर खड़ा हो गया, दोनों परस्पर कण्ठ मिले और बड़े प्रेमभाव के साथ; एक ही आसन पर दोनों चन्द्र सूर्य जैसे बैठ गये और आपस में कुशल पूछने लगे, पहिले परघ ने कहा—मित्रवर! आपके दर्शन से परमानन्द का अनुभव हुआ, जैसे कोई चन्द्रमण्डल में जाकर आनन्दवान् हुआ हो, इसी प्रकार मुझे उस आनन्द की अनुभूति हुई है, वियोग लम्बा हो जाने पर प्रीति बढ़ जाती है, जैसे वृक्ष को ऊपर से काटने पर फिर वह अधिक फैलता फलता है ऐसे ही प्रीति बढ़ती है, हे साधो! अब मैं भी ज्ञानवान् हुआ और तू भी मांडव्यमुनि और आत्मा के प्रसाद से ज्ञान को प्राप्त हुआ है, हे राजन्! मेरा अभीष्ट प्रश्न है कि अब दुःखों से क्यों मुक्त हुआ है और विश्राम को क्यों प्राप्त हुआ है? आत्मपद पाने की बड़ाई बहुत बड़ी चीज है उसकी प्राप्ति तुम्हें क्यों हुई, तुम परम कल्याणवान् आत्माराम कैसे हुए? तुम राग द्वेष के मल से रहित क्यों हुए, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है ऐसे निर्मल क्यों हुए और सब कार्यों को करते हुए सम भाव में क्यों रहते हो और आधिव्याधि और सब ताप तेरे क्यों दूर हुए हैं और तुम्हारी प्रजा भी विगत्ज्वर क्यों हुई है और धन माल तथा राज्य में कुशल क्यों है? जैसे चन्द्रमा की किरणों से शीतलता फैलती है इसी प्रकार दशों दिशाओं में तुम्हारा यश क्यों फैल रहा है और तुम्हारा यश ग्रामवासी लोग खेतों में क्यों गाते हैं? हे राजन्! प्रजासेवक पुत्र कलत्र सब आधि व्याधियों से रहित क्यों है और आपात रमणीय विषयों में

अब तुम्हारी प्रीति क्यों नहीं है, हे राजन्! तृष्णारूप सर्पिणी तुझको क्यों नहीं डसती, हे राजन्! तुम्हारी हमारी मित्रता हुई थी परन्तु समय बीतने पर तुम कहाँ रहा हम कहाँ रहे, अब फिर आकर मिले हैं, महान् आश्चर्य है, ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती, सुख के अनन्तर दुःख और दुःख के अनन्तर सुख हो जाता है, संसार की दशा आगमापायी है, संयोग से वियोग हो गया था और फिर वियोगका संयोग होता है, ऐसे तुम्हारा हमारा संयोग वियोग हो गया था फ़िर वियोग से संयोग हो गया, महान् आश्चर्य है, ईश्वर की नीति अद्‌भुत रूप है, सुरग ने कहा–हे देव! परमात्मा की नीति को जाना नहीं जा सकता, वह महा गंभीर विस्मापक और अद्‌भुत रूप है, हमारा तुम्हारा वियोग हुआ था तब देखो कितनी दूर जा पड़े। तुम कहाँ और हम कहाँ? पुनः आकर इकट्ठे हो गये, भगवन्नीति आश्चर्यरूप है, तुमने मुझे जो कुशल पूछा वह तो तुम्हारे पुण्यपवित्र आगमन से ही कुशल हो गया है, क्योंकि मैं तुम्हारे आने के प्रताप से ही मैं परमपावन हुआ हूँ, तुम्हारे दर्शन से सब पाप नष्ट हो जाते हैं, आज हमें पुण्यों का फल मिला है जो आपके दर्शन हुए हैं, हे भगवन्! सन्तों का आना मधुर है अमृत की नाईं है, जैसे झरने से अमृत निकलता हो इसी प्रकार तुम्हारे वचनों से परमार्थ रूप अमृत झरता है, दर्शन से भी अमृतपान का आनन्द प्राप्त होता है, जिसको पाकर जीव निर्भयता को प्राप्त होते हैं, ऐसे संतों का मिलना परम पद के तुल्य है, हम परम निर्मलता को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघपरघ समागम वर्णनं नाम षष्ठितमः सर्गः ॥६१॥

एकषष्टितमः सर्गः ६१

समाधिनिश्चय वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जब इस प्रकार पूर्व वृत्तान्त कहा तब पुनः परघ बोला—हे राजन्! जो कर्म इस जगज्जाल में समाहित चित्त होकर किये जाते हैं वे सुख रूप होते हैं, अब संकल्प से रहित जो परम विश्राम और परम उपशम में समाधि है, इसमें क्या स्थित हुआ है? सुरघ ने कहा—हे भगवन्! तुम ही कहो कि सब संकल्पों से रहित परम उपशम समाधि किसको कहते हैं और यदि मुझसे पूछते हो तो सुनो, जो ज्ञानवान् महात्मा पुरुष हैं, वे मौन रहें अथवा व्यवहार करें वे असमाहित चित्त कभी नहीं होते, हे साधो! जिनका चित्त नित्य प्रबुद्ध है, जगत् के कार्य भी करते हैं और आत्मतत्व में स्थित हैं, तो वे सर्वदा समाधि में स्थित हैं और जो नरपद्मासन बाँधकर बैठते हैं, ब्रह्म अंजली हाथ में रखते हैं, परन्तु चित्त आत्मपद में स्थित नहीं होता और विश्रान्ति नहीं पाता। उसको समाधि कहाँ? वह समाधि नहीं कहाती। हे भगवन्! परमार्थ तत्व बोध है, वह आशारूप तृणों को जलाने वाली अग्नि है, ऐसे निराशा रूप जो समाधि है वही समाधि है, तूष्णीं (चुप) होनेका नाम समाधि नहीं, हे साधो! जिसका चित्त समाहित और नित्य तृप्त है, सदा शांत रूप है और यथा भूतार्थ अर्थात् यथार्थ ज्यों का त्यों ज्ञान हुआ है और उसी में निश्चय है, वह समाधि कहाती है, तूष्णीं होने का नाम समाधि नहीं है, जिसके हृदय में संसार रूप सत्यता का क्षोभ नहीं, निरहंकार है और जिसका अनुदय में ही उदय है, वह पुरुष समाधिस्थ कहाता है, ऐसा जो बुद्धिमान् है वह मेरु से भी अधिक अर्थात् परमपद रूप मेरु शिखर स्थित महात्मा इस भौम जड़ोच्च मेरु से भी अधिक ऊँचा है, वह मेरुता दुष्प्राय होने से ही उच्चता में अधिक कही गयी है। हे साधो! जो पुरुष अपने निश्चित रूप में स्थित है और ग्रहण त्याग से जिसकी बुद्धि

निवृत्त हो गयी है, जिसे पूर्ण आत्मतत्व ही भासता है, व्यवहार भी करता दृष्टि आता है, तो भी उसकी अत्यन्त समाधि हो जाती है, क्षण क्षण बढ़ती जाती है, निवृत्त नहीं होती जैसे अमृत पान करने से अमृत की तृष्णा बढ़ती जाती है, ऐसे एक क्षण की समाधि बढ़ती जाती है, जैसे सूर्य के उदय होने पर सब किसी को दिन भासता है, ऐसे ज्ञानवान् को सब आत्मतत्व भासता है, इतर कदाचित् नहीं भासता, जैसे नदी का प्रवाह रोका नहीं जा सकता ऐसे ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि किसी से रोकी नहीं जा सकती, जैसे काल की गति काल को एक क्षण भी विस्मृत नहीं होती, ऐसे ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि विस्मरण रूप नहीं होती, जैसे चलते ठहरते पवन को अपना पवन भाव विस्मृत नहीं होता ऐसे ज्ञानवान् को चिन्मात्र तत्व का विस्मरण नहीं होता, जैसे सत् शब्द के बिना कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् को चिन्मात्र तत्व आत्मा बिना बिना कोई पदार्थ नहीं भासता जिस ओर ज्ञानवान् की दृष्टि जाती है, वहां अपना आप भास्ता है, जैसे दर्पणों के मंदिर में सब ओर अपना सुख भासता है, ऐसे ज्ञानवान् को सब ओर अपना आप ही भासता है, जैसे उष्णता बिना अग्नि नहीं, शीतलता बिना बर्फ नहीं, श्यामता बिना काजर नहीं पाया जाता, ऐसे आत्म बिना जगत् नहीं भासता, हे साधो! जिसे आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं भासता, उसका उत्थान कैसे हो? सर्वदा मैं बोधरूप हूँ और सर्वदा निर्मल हूँ, सर्वदा सर्वात्मा समाहित चित्त हूँ, इसलिये उत्थान मुझको कदाचित् नहीं आत्मा से भिन्न मुझे कुछ नहीं भासता, सर्व प्रकार से आत्मतत्व मुझको भासता है, हे साधो! आत्मतत्व सदा जानने योग्य है, सर्वदा प्रकार से आत्मतत्व स्थित है, पुनः समाधि और उत्थान कैसे हो, जिसको कार्य कारण में विभाग कलना नहीं फुरती और आत्मतत्व में स्थित है, उसको समाहित असमाहित क्या कहें? समाधि और उत्थान का वास्तव भेद कुछ नहीं,

मिथ्या है, आत्मतत्व सदा अपने आप में स्थित है, द्वैत भेद कुछ नहीं तो समाहित असमाहित, क्या कहिये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे समाधिनिश्चयवर्णनं नामैकषष्टितमः सर्गः ।।६१।।

द्विषष्टितम् सर्गः ६२
सुरघपरघनिश्चियवर्णनम् ।

सुरघ ने कहा–हे राजन्! निश्चित रूप से अब तुम जगे हो और परमपद को प्राप्त हो, तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णिमा के चन्द्र समान शीतल हुआ है और मुख मंडल परम शोभा सम्पन्न हुआ है, ब्रह्म लक्ष्मी से तथा परमानन्द से हृदय पूर्ण प्रतीत हो रहा है, तुम्हारा विशाल गाम्भीर्य तथा स्निग्ध माधुर्य प्रकट भास रहा है और शरत्काल के आकाशवत् निर्मल अन्तःकरण स्पष्ट प्रतीत होता है, हृदयाकाश आच्छादक और ज्ञान का आवरक परम रिपु अहंकार तो निर्मूल हो चुका है, हे राजन्! अब तुझको सर्वत्र निर्भयता सत्य स्वाराज्य परम स्वास्थ्य सर्वथा संतुष्टता और परमानन्द पद में अचल स्थिति प्राप्त है, किसी वस्तु में राग द्वेष का लेश नहीं, सर्वथा वीतराग होकर विराजते हो, तुमने सार असार को भले प्रकार जान लिया है, असार संसार समुद्र से पार हुए हो, महाबोध को यथावत् तुमने प्राप्त किया है, उस चेतन सत्ता में तुमने अखंड स्थिति प्राप्त की है, तुमने भाव अभावरूप दोनों पदार्थों को ठीक ठीक जाना है, जगत् के सम असम पदार्थों से मुक्त हुए हो, तुम्हारा इष्ट अनिष्ट ग्रहण त्याग सब निवृत्त हुआ है, तुम मुदित शान्ताशय हुए हो, राग द्वेष तृष्णा रूप मेघों से रहित निर्मल आकाश सम स्वच्छ हुए हो, अपने आप में

परम तृप्त हो, कुछ इच्छा शेष नहीं, सुरघ ने कहा, हे मुनिवर! इस जगत् में ग्रहण करने योग्य वस्तु कोई नहीं, जितने दृश्य पदार्थ हैं सब आभासरूप हैं किसको ग्रहण करें, यदि यह कहा जाय कि ग्रहण करने योग्य नहीं तो त्याग किया जाय तो आभासरूप पदार्थों का त्याग भी करें तो क्या करें और ग्रहण करें तो क्या? क्योंकि है नहीं, सब तुच्छ अतुच्छ पदार्थ हैं, जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है उस जलाभास का कौनसा अंग ग्रहण किया जाय और कौनसा त्याग किया जाये, ऐसे यह जगत् भी है, हे मुनीश्वर! जगत् के एक तुच्छ पदार्थ हैं एक अतुच्छ हैं, थोड़े काल में नष्ट हो जाने वाले तुच्छ हैं और जो चिरकाल पर्यन्त रहते हैं वे अतुच्छ हैं, परन्तु दोनों काल से उत्पन्न हुए हैं, अब मैंने अकाल स्वरूप को देखा है, तब दोनों तुल्य हो गये हैं पुनः इच्छा किसकी करूँ, जो है कुछ नहीं हे मुनीश्वर! जो रमणीय जानकर किन्हीं पदार्थों की इच्छा करते हैं, त्रिलोकी भर में रमणीय पदार्थ कोई नहीं, सब तुच्छ नाशरूप हैं, जगत् में जीवों को जो बड़े पदार्थ भासते हैं, अविचार से भासते हैं, शब्द स्पर्श रूप रस गंध जितने इन्द्रियों के विषय हैं सब असाररूप हैं, स्त्री को बहुत बड़ी वस्तु समझा जाता है, वह देखने मात्र सुन्दर है, रक्त मांस विष्ठा मूत्र का थैला बना हुआ है, इसमें सार कुछ नहीं और पर्वत बड़े पदार्थ हैं, वह पत्थर हैं शिलाएं हैं, समुद्र है वह पानी है, वनस्पति काष्ठ पत्र हैं, जो कुछ अन्य भी इस प्रकार के अनेक पदार्थ हैं, सब निस्सार आपात रमणीय है, विचार बिना सुन्दर भासते हैं, इनकी जो लोग इच्छा करते हैं वे अपने आपको दुःखी बनाने के लिये करते हैं, जैसे पतंग दीपक की इच्छा करता है, वह अपने नाश के लिये करता है, जैसे हरिण नाद श्रवण की इच्छा करता है वह नाश को प्राप्त होता है ऐसे जो विषयों की तृष्णा करते हैं, वे अपने नाश के लिये करते हैं, इसलिये विचारहीन अज्ञानी पदार्थ को रमणीय जानकर अपने नाश के लिये इच्छा करता है, समदर्शी ज्ञानवान् पुरुष अरमणीय जानकर जगत् के पदार्थों की इच्छा नहीं करते, जैसे सूर्य उदय होने पर अन्धकार का

अभाव होता है, इसलिये जब पदार्थों का राग उठ गया है तब तृष्णा किसमें रहे, हे साधो! रागद्वेष इच्छा ग्रहण त्याग जितने विकार हैं, उन सब से रहित शुद्ध आत्मतत्व में स्थित हो जाओ, बहुत कहने से क्या है, जिस पुरुष के मन से वासना नष्ट हो गयी है, वह उपशमवान् कल्याणमूर्ति परमपद को प्राप्त हुआ है और संसार समुद्र को पार कर गया है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सुरघपरघनिश्चय
वर्णनं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ।।६२।।

त्रिषष्टितमः सर्गः ६३

कारणोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार सुरघ और परघ जगत् को भ्रमरूप विचारने लगे, विचार करके परस्पर गुरुभाव जानकर पूज नमस्कार पूर्वक चले गये, हे रामजी! इसका परस्पर संवाद तुझे सुनाया है, यह परमबोध का कारण है, इस विचार के क्रम से बोध की प्राप्ति होती है, तीक्ष्ण बोध से जब विचार करेगा तब अहंकाररूप बादल का अभाव हो जायेगा और शुद्ध हृदयाकाश में आत्मसूर्य प्रकाशित होगा, इसलिये यदि परमपद पाने की इच्छा है तो अहंकाररूप बादल के अभाव का यत्न करो, आत्मा सत्य है, परमानन्दरूप सम्पत्ति है, चिदाकाश है, उसमें स्थिति प्राप्त करेगा, हे रामजी! जो पुरुष नित्य अन्तमुखी अध्यात्ममय है और नित्य चिदानन्द में चित्त को जोड़ता है, वह सदा सुखी है, उसको शोक कदाचित् नहीं होता, जो पुरुष आत्मपद में स्थित हुआ है, वह बहुत बड़ा व्यवहार करे और रागद्वेष सहित दृष्टि आवे तो भी उसको कुछ कलंक प्राप्त नहीं होता, जैसे कमल जल में दृष्टि आता है

तो भी ऊँचा रहता है, जल उसको स्पर्श नहीं करता। जल में पड़ा रहने या डूब जाने पर भी कमल जलस्पृष्ट नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् को व्यवहार का रागद्वेष, विचार परिपक्व हो जाने और तत्वज्ञ होने के कारण स्पर्श नहीं करता। हे रामजी! जिसका अन्तर मन शान्त हुआ है, उसको संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थ विचलित नहीं कर सकते, जैसे सिंह को मृग दुःख नहीं दे सकता, ऐसे ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थ दुःख नहीं दे सकते, जिस पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त हुआ है, उसको विषयों की तृष्णा नहीं होती, विषयों के निमित्त दीन कदाचित् नहीं होता। जैसे जो पुरुष नन्दनवन में स्थित हुआ है वह करीर वृक्ष की इच्छा नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् जगत् के पदार्थ की इच्छा नहीं करता, हे रामजी! जिस पुरुष ने जगत् को अविद्यारूप जानकर त्याग किया है, उसके चित्त को जगत् के पदार्थ दुःख नहीं दे सकते, जैसे विरक्तिचित्त पुरुष की स्त्री मर जाये, तब उसको दुःख नहीं होता, ज्ञानवान् के चित्त में भोगों की दीनता नहीं उपजती, जैसे नन्दनवन में कंटक का वृक्ष नहीं उपजता, जिस पुरुष को आत्मबोध हुआ है और संसार का कारण मोह निवृत्त हुआ है, वह जगत् के कार्य कर्ता दृष्टि आता है परन्तु उसको कर्तृत्व स्पर्श नहीं करता, जैसे आकाश में अन्धकार दृष्टि आता है परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर पाता, हे रामजी! अविद्या की निवृत्ति का कारण विद्या है और किसी उपाय से निवृत्त नहीं होती, अविचार का नाम अविद्या है, जैसे प्रकाश बिना तम निवृत्त नहीं होता, ऐसे विचार बिना अविद्या निवृत्त नहीं होती, विचार का नाम विद्या है, जब अविद्या नष्ट होगी तब विषय भोग स्वाद न देंगे। आत्मानन्द से प्रसन्नता रहेगी, हे रामजी! ज्ञानवान् को विचार से इन्द्रियों के व्यवहार अन्ध नहीं कर सकते, जैसे जल में मछली रहती है, उसको जल अन्ध नहीं कर सकता और आप अन्ध रहता है, ऐसे ज्ञानवान् व्यवहार में अन्ध नहीं होता और जीव अन्ध हो जाते हैं, जब ज्ञानरूप सूर्य उदय होता है, तब अज्ञानरूप रात्रि निवृत्त हो जाती है, चित्त परमानन्द प्राप्त करता है और रागद्वेषरूप निशाचरों का

नाश हो जाता है, पुनः मोह की प्राप्ति नहीं होती, जिसके हृदयाकाश में आत्मज्ञानरूप सूर्योदय हुआ है उसका जन्म और कुल सफल होता है, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा अपने अमृत को पाकर अपने आप में शीतल होता है, ऐसे जो पुरुष आत्मचिन्तन में अभ्यास करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है, हे रामजी! बुद्धि भी वही है, श्रेष्ठ दिन भी वही और मृत्यु भी वही है और शास्त्र भी वही है जिससे संसार वैराग्य उत्पन्न हो और आत्मतत्व का चिन्तन पैदा हो जब आत्मपद को पाता है तब इसका सब क्लेश मिट जाता है और जिसको आत्मचिन्तन में रुचि नहीं वह भाग्यहीन है, चिरकाल तक कष्ट पायेगा, जन्मरूप जंगल का वृक्ष होगा, हे रामजी! जीवरूप बैल है, अनेक आशा रूप फांसियों में बन्धा है और जरारूप पत्थरीले मार्ग द्वारा जर्जर शरीर होता है, भोगरूप गर्त में गिरा है, कर्मरूप भार को लिये जन्मरूप जंगल में भटकता हुआ कर्म कीचड़ में फँसा हुआ राग द्वेष रूप मच्छरों से दुःखी होता है, स्नेहरूप रथ को पकड़ खैंचता है और स्त्री पुत्रादिकों के ममता कीचड़में धँसा हुआ परम दुःखका अनुभव करता है, ऊपरसे अज्ञान जनित तापत्रयसे लगातार जलता है, सन्तजन तथा सत् शास्त्ररूप छाया की प्राप्ति इसे नहीं होती, हे रामजी! इस प्रकार यह जीवरूप बैल निकलने का यत्न नहीं करता परन्तु परम दुःख में पड़ा है, जब तत्व का अवलोकन करे तब चित्त भ्रम नष्ट हो, हे रामजी! संसाररूप समुद्र को तरने का उपाय सुनो, महात्मा सन्तजन मल्लाह हैं, उनकी युक्ति जहाज है, ऐसा मेल बड़े पुण्योंसे कहीं मिल जाय तो बेड़ा पार हो जाता है और कोई उपाय नहीं, यही परम उपाय है, जिस देशमें सन्तजनरूप वृक्ष नहीं, जिनकी सफलवती छाया फलवती होती है, वह देश मरुस्थल है, वहां एक दिन भी नहीं रहना चाहिये। हे रामजी! सन्तजन कैसे वृक्ष हैं, जिनके स्निग्ध शीतल वचन पत्र हैं, उनका प्रसन्न होना ही सुन्दर पुष्प हैं और उनका निश्चय उपदेश रूप फल है, जब यह पुरुष उनके निकट जाय, तब महामोह रूप तप्तता से छूटेगा और शान्ति को प्राप्त होगा और उनको पाकर तृप्त होगा और

फलों के प्रताप से सब दुःखों से मुक्त होगा, हे रामजी! अपना आप ही मित्र है और अपना आप ही शत्रु है, अपने आपको जन्मरूप कीचड़ में न डारे, देह में अहं मानकर जो विषयों की तृष्णा करता है, वह अपने आपका नाश करता है और जो देह भाव को त्यागकर आत्माभ्यास करता है तब अपना आप उद्धार करता है, वह अपना आप ही मित्र है और जो अपने आपको संसार समुद्र में डालता है, वह अपना आप ही शत्रु है, हे रामजी! पहिले यह विचार कर देखे कि जगत् क्या है और कैसे उत्पन्न हुआ तथा कैसे निवृत्त होगा और मैं कौन हूँ और सत्य क्या है, ऐसे विचार कर जो सत्य है उसका अंगीकार करे और जो असत्य है उसका त्याग करे, हे रामजी! न इसका धन कल्याण करता है न मित्र बांधव, न शास्त्र कल्याण करते हैं, अपना उद्धार आप ही करता है, इसलिये अपने मन के साथ मित्रता करे, दृढ वैराग्य और अभ्यास करे, तब संसार के कष्ट से छूटे, जब वैराग्य और अभ्यास से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो तब संसार समुद्र से तर जाता है, हे रामजी! जीवरूप हस्ती है जन्मरूप गर्त में गिरा हुआ है, तृष्णा अहंकार रूप जंजीरों से बँधा है, कामना रूप मद से उन्मत्त है, जब उनसे छूटे तब मुक्त हो, हे रामजी! हृदयरूपी नेत्रों में अनात्माभिमान रूप मल रक्त हो गया है, जब विचार रूप औषध से उसको दूर करें तो आत्मरूप सूर्य का दर्शन हो, हे रामजी! और कोई उपाय न करे तो एक उपाय करें कि देह को काष्ठ लोष्टवत् जानकर इसका अभिमान त्यागें। जब अहं अभिमानरूप बादल नष्ट होगा, तब स्वयमेव आत्म रूप सूर्य प्रकाशित होगा, वह परमानन्द का स्वरूप है, सुषुप्ति से मौन अंकुर है केवल अद्वैत तत्व है, वाणी से कहा नहीं जाता। अनुभवसे आपही जाना जाता है, हे रामजी! सब जगत् अनन्त आत्मा है, जब चित्त का दृढ़ परिणाम उसमें हो तब स्थावर जंगमरूप जगत् में वही दिव्य भासेगा और वासनाएं सब निवृत्त हो जायेगी, केवल परमानन्द आत्मतत्व अनुभव से दिखाई देगा, वह स्वरूप पूर्ण अद्वैत है और सब जगत् को त्यागकर उसके पाने का यत्न करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे कारणोपदेशवर्णनं
नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥६३॥

चतुःषष्टितमः सर्गः ६४

भासविलासवृत्तान्तवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! मन से मन को काटो और अहंममभाव को त्यागो, जब तक मन नष्ट नहीं होता, तब तक जगत् के दुःख निवृत्त नहीं होते, जैसे मूर्ति का सूर्य मूर्ति के नष्ट हुए बिना अस्त नहीं होता, जब मूर्ति नष्ट हो तब सूर्य का आकार दूर हो जाय, ऐसे ही जब मन नष्ट होगा, तब संसार के दुःख दूर हो जायेंगे, अन्यथा नहीं होते। हे राम! जैसे प्रलयकाल में अनन्त दुःख होते हैं, ऐसे मन के होने से अनन्त दुःख होते हैं, जैसे मेघ के बरसने से नदी बढ़ती जाती है, इसी प्रकार मन के जगने से आपत्ति बढ़ती जाती है, इसी पर मुनीश्वर पुरातन इतिहास कहते हैं, वह परस्पर सुहृदों का है, तुम श्रवण करो, हे रामजी! सह्याचल पर्वतों में बड़ा पर्वत है, उसके ऊपर पुष्प बहुत हैं और विविध प्रकार के वृक्ष हैं, सुन्दर झरनों से निर्मल शीतल जल बहता है, मुक्ताओं के स्थान हैं, स्वर्ण के शिखर हैं, कहीं देवताओं के स्थान हैं, पक्षियों का कलरव अतीत प्रिय लगता है, अधोभाग में क्रान्त रहते हैं, ऊपर सिद्ध देवता विद्याधर लोग हैं, पीठ में मनुष्यों की बस्ती है, नाग लोग भी नीचे के भाग में रहते हैं, मानों सारे जगत् का घर यही है, उसके उत्तर में सुन्दर तालाब है, फूलों से पौधे लदे हुए हैं, अति सुन्दर रचना है, स्वर्ग से बढ़कर दृश्य है, वहां अत्रि नाम ऋषीश्वर रहते थे। साधुजनों को इनसे शान्ति मिलती थी, उनके आश्रम के पास दो तपस्वी आकर रहे, जैसे आकाश में बृहस्पति और शुक्र आये हों, ऐसे वह दोनों आकर रहे, उन दोनों के घर महासुन्दर दो पुत्र उत्पन्न हुए, दोनों कमलों के समान कोमल थे। एक का नाम भास और दूसरे का नाम विलास पड़ा, दोनों क्रम से बड़े हुए, जैसे अंगुली के दोनों पर्व हैं, अर्थात् जैसे पर्व बढ़ते हैं, इस प्रकार बढ़ने लगे, जैसे जैसे वह दोनों बढ़ते जाते थे, ऐसे ही परस्पर प्रीति भी बढ़ती थी।

दोनों इस प्रकार इकट्ठे ही रहते कि जैसे तिल और तैल इकट्ठे रहते हैं, जैसे फूल और सुगन्धि इकट्ठे रहते हैं, जैसे स्त्री पुरुष की परस्पर प्रीति होती है, ऐसे उनकी प्रीति बढ़ी। देखने को तो वे दो मूर्तियाँ दीखती थीं, परन्तु मानों एक ही है, स्नानादिक क्रिया भी उनकी एक ही समान थी। मानसी क्रिया भी एक सी थी, दोनों महासुन्दर प्रकाशवान् और आकर्षक शरीरवाले थे, मानों चन्द्र सूर्य हैं। कुछ समय बीतने पर उनके माता पिता शरीर छोड़कर स्वर्ग सिधार गये, उनके वियोग से दोनों शोकवान् हुए, जैसे कमल की कान्ति जल बिना जाती रहे, इसी प्रकार उनके मुख की कान्ति कुम्हिलाय गयी, मृत्यु के अनन्तर उनकी सब क्रिया पूर्ण की। माता पिता के गुण और प्रेम को स्मरण करके बहुत शोक विलाप किया और इस प्रकार शोक से उनका शरीर कृश हो गया।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे भासविलासवृत्तान्तवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥६४॥

पंचषष्टितमः सर्गः ६५

अनित्यताप्रकरणम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जैसे उजाड़ वन का वृक्ष जल के बिना सूख जाता है, ऐसे उनका शरीर सूख गया, तब दोनों विगतज्वर होकर विचरने लगे, जैसे यूथ (समूह) से बिछुरा हुआ हरिण शोकवान् होता है, ऐसे आपस में बिछुर गये तथा शोक को प्राप्त हुए, अकेले अकेले फिरने लगे, उनको निर्मल ज्ञान प्राप्त न था, कुछ समय बीतने पर वे फिर आकर मिले, तब विलास कहने लगा—हे भाई! हृदय को आनन्द देनेवाले, अमृत के समुद्र जीवन रूप वृक्ष का फल सुख है तो क्या तुम इतने समय तक सुख से रहे हो? तेरा मेरा वियोग हो गया था, उस समय तुमने क्या काम किया? तुमने कुछ चित्त निर्मल किया है? क्या

तुम्हें आत्मपद प्राप्ति हुई है? क्या तुम्हारी बुद्धि शोक से रहित हुई है? क्या तुम्हें विद्या का फल मिला है? क्या तुम अब सकुशल हो? भास बोला–हे साधो! आपके दर्शन हुए इसलिये इस समय तो हम सकुशल हैं, परन्तु संसार में कहो तो कुशल कहां है? जब तक ज्ञेय परमात्मतत्व को प्राप्त नहीं किया, तब तक चित्तभूमि का क्षीण नहीं हुई, जब तक संसार समुद्र को नहीं तर सके, तब तक कुशल कहाँ? जब तक चित्त से दुःख निवृत्त नहीं हुआ, तब तक चित्त की भूमिका नष्ट नहीं होती, जब तक चित्त क्षेत्र में आशारूप वल्ली बढ़ती जाती है, जब तक आत्मविचार द्वारा वह काटी नहीं गयी, तब तक कुशल कहां? हे साधो! संसार रूप विषूचि का रोग है, आत्मज्ञान रूप औषध के बिना दूर नहीं होता, सब जीव नित्य वही किया करते हैं जिससे दुःख की प्राप्ति हो, इसलिये सुख का मुख नहीं देख सकते। देहरूप एक वृक्ष है उसमें वाल अवस्था पत्र हैं, यौवन रूप पुष्प हैं, वृद्धावस्था रूप फल हैं, इस प्रकार का यह देह वृक्ष बार बार मृत्यु के मुख में जाता है, उत्पन्न होता है, नाश होता है, इसी रूप में इसका समय बीतता है, हे साधो! चित्त हस्ती है, यह वैराग्य लोहश्रृँखला के बिना तृष्णारूप हस्तिनी के पीछे दूर से दूर चला जाता है, जैसे इल्ल (गीध) पक्षी मांस की ओर चला जाता है, इसी प्रकार चित्त विषयों की ओर दौड़ता हैं, आत्मरूप चिन्तामणि की प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करता, देहरूप कूप में गिरा है, उसमें भोगरूप सर्प हैं, आशारूप कंटक है, तृष्णारूप जल में दुःख पाता है, नाना प्रकार के रागोत्पादक भाव हैं और जिसमें तृष्णारूप चंचलता है ऐसे चैत्य दृश्य मग्न है, चित्तरूप एक ध्वजा है, काल रूप चंचलता वायु से भासती है, चित्त समुद्र है और चिन्तारूप उसमें घुमर घेर है, जीवरूप तिनका उसमें आकर कष्ट पाता है, बुद्धि रूपिणी पक्षिणी वासनारूप जाल में कष्ट पाती है। एक क्षण भी इसको विश्राम नहीं, हे भाई! यह चित्तरूप कमल है, उसको रागद्वेषरूप हस्ती से चूर्ण करता है कि यह मेरा सुहृद है, मेरा शत्रु है, अहं मम इसको मारता है, शुद्ध आत्मरूप को त्यागकर देहादिक अनात्मरूप में अहंभाव

करता है और दीनता को प्राप्त होता है, देहाभिमान करके जन्ममरण के दुःखों को देखता है, जब देहाभिमान का त्याग करे तब कुशल हो अन्यथा कुशल नहीं हो सकता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे अनित्यताप्रकरण नाम पंचषष्टितमः सर्गः ॥६५॥

षट् षष्टितमः सर्गः ६६

अंतरासंगविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार उसने परस्पर कुशल प्रश्न किये, जब कुछ समय बीता तब उनको अभ्यास के बल से निर्मल ज्ञानतत्व प्राप्त हुआ, इसलिये हे रामजी! ज्ञान को छोड़कर कल्याण प्राप्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं, वह दोनों ज्ञान ही से तो मोक्ष को प्राप्त हुए, जिसका चित्त आशारूप फाँसी से बँधा हुआ है, यह संसार समुद्र को पार करने में समर्थ नहीं, इसलिये जीव संसार समुद्र में गोता खाता है और ज्ञानवान् शीघ्र ही तर जाता है, जैसे गोपद पार करने में सुगम होता है, जिस पक्षी के पक्ष (पंख) टूटे हों वह समुद्र को पार करने में समर्थ नहीं होता, बीच ही में गिरकर गोते खाता है और गरुड़ पंखों से शीघ्र ही पार हो जाता है, ऐसे जिन पुरुषों के वैराग्य और अभ्यास का पंख टूटे हैं, वे संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते और जिन पुरुषों के वैराग्य और अभ्यासरूप पंख हैं, ऐसे ज्ञानवान् शीघ्र ही तर जाते हैं, हे रामजी! जो देह से अतीत महात्मा पुरुष चिन्मात्र में स्थित हुए हैं, वह ऊंचे होकर देखते हैं और अपने देह को देखकर हँसते हैं जैसे सूर्य जनता को देखकर हंसता है अर्थात् जगत् की क्रिया से निर्लेप रहता है, जैसे रथ के टूटने से रथवाही को कुछ खेद नहीं होता, ऐसे देह के दुःख से ज्ञानवान् को खेद नहीं पहुँचता और मन के क्षोभ से भी आत्मतत्व में कुछ क्षोभ नहीं होता, जैसे तरंग पर धूर पड़ती है, उससे समुद्र को कुछ लेप नहीं होता, ऐसे मन के दुःख से आत्मा को क्षोभ नहीं होता, जैसे जल और

और काष्ठ एक स्थान पर रहते हैं परन्तु सम्बन्ध कुछ नहीं, जैसे जल और बेड़ी संघट्ट होता है तो जल कण उठते हैं, ऐसे देह और आत्मा के संयोग से चित्त वृत्ति फुरती है हे रामजी! इसको जो भी दुःख होता है, वह संग से होता है, जहां अहं मम अभिमान होता है, वहाँ दुःख भी होता है और जहाँ अहं मम का अभिमान नहीं वहाँ दुःख भी कुछ नहीं, मछली को जल में अहं होता है, उसके वियोग से कष्ट पाती है, ऐसे जिस पुरुष को देह में अहंमम भाव है, वह बड़ा कष्ट पाता है और जिसके देह में अभिमान नहीं उसको दुःख भी कुछ नहीं, हे रामजी! ज्यों ज्यों मन से संसर्गता निवृत्त होती है, त्यों त्यों भोग प्रभाव कष्ट नहीं देते, जैसे जल और पत्थर को कष्ट नहीं होता, जैसे दर्पण में पर्वत का प्रतिबिम्ब होता है, वहाँ दर्पण को प्रतिबिंब का संग नहीं होता और कष्ट भी नहीं होता ऐसे जब देह से संसर्गभाव निकल जाय तब कष्ट कोई नहीं होता, जैसे दर्पण को कुछ नहीं होता ऐसे आत्मा और जगत् की क्रिया है, हे रामजी! सर्वथा संवित् मात्र आत्मतत्व स्थित है वह शुद्ध है, द्वैत शब्द के फुरने से रहित है, जो उसमें स्थित है, उसको द्वैत शब्द नहीं फुरता और जो अज्ञानी है उसको द्वैत कलना उठती है, हे रामजी! यह सब जीव अदुःखरूप है, परन्तु अज्ञान भ्रम से अपने आपको दुःखी जानते हैं, जैसे उत्थान से चोर भावना अविचार होती है ऐसे आत्मा में दुःख की भावना अविचार से होती है, यह पुरुष अशब्दरूप है, परन्तु कलना के वश से आपको सम्बन्धी जानता है, जैसे स्वप्न में अंगना बन्धन करती है, जैसे स्थान में वेताल भासता है भय दिलाता है, ऐसे अपनी कल्पना से बद्ध होता है, हे रामजी! देह और आत्मा का सम्बन्ध असत्य है, जैसे जल और बेड़ी का सम्बन्ध असत्य है, जब जल का अभाव हो, तब बेड़ी को कुछ चिन्ता नहीं होती और बेड़ी का अभाव होने पर जल को कुछ चिन्ता नहीं होती। असत्य सम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और देह का सम्बन्ध

असत्य है, जब ऐसा जानकर अन्दर के संग से रहित हो तब देह का दुःख कुछ नहीं लगता है, देह के दुःख में आपको दुःखी मानना, देह में अहंभावना करने से आत्मा दुःखी होती है, जब देह में अभिमान को त्याग दे तब सुखी होता है, ऐसे बुद्धिमान् कहते हैं, जैसे जल और पत्थर इकट्ठे रहते हैं, परन्तु अन्दर संग का अभाव है, इस कारण दुःख नहीं लगता, ऐसे ही अन्दर से संगरहित होने पर देह इन्द्रियों के होते हुए भी दुःख का स्पर्श कुछ नहीं हो सकता, हे रामजी! जिसको देह में आत्माभिमान है उसको जन्ममरण सुख दुःखरूप संसार है, जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है ऐसे देहाभिमान से सुख दुःखरूप संसार उत्पन्न होता है, और संसार समुद्र में डूबता है, जो अंतर संग से रहित होता है वह संसार समुद्र के पार पहुँचता है, हे रामजी! जिसके अन्दर देहाभिमान है उसके चित्तरूप वृक्ष में अनेकों मोहरूप शाखाएं उत्पन्न होती हैं और जो अन्दर के संगर से रहित है, उसका मोह लीन हो जाता है, वह चित्तलीन कहाता है, जिसका चित्त देहादिकों में बँधा हुआ, उसको नाना प्रकार का भ्रमरूप जगत् भासता है और जिसका चित्त देहादिकों में बँधा नहीं वह एक आत्मभाव को देखता है, जैसे टूटी आरसी में अनेक प्रतिबिंब भासते हैं और सारी एक ही प्रति बिंब को ग्रहण करती है, ऐसे संशयित चित्त में नाना प्रकार का जगत् भासता है और शुद्ध चित्त में एक आत्मा भासता है, हे रामजी! जो पुरुष व्यवहार करते हैं और संग से रहित हैं, ऐसे जो निर्मल पुरुष हैं वे संसार से मुक्त हैं और जो सर्व व्यवहार को त्याग चुका है और तप भी करता है और अन्दर चित्त आसक्त है वह बन्धन में है। और जो अन्तर संग से रहित है वह मुक्त है और किसी पदार्थ में यदि रागी है वह बद्ध है, बद्ध और मुक्त का इतना ही भेद हैं, अन्दर से असंग नर सर्व कार्य कर्ता भी अकर्ता है, जैसे नट स्वांग धारण करने पर भी अलेप है और अन्दर के अभिमान सहित है वह कुछ नहीं करता तो भी करता है, जैसे सब व्यवहार छोडकर सोता है और स्वप्न में अनेक सुख

दुःख भोगता है। ऐसे वह सब कुछ करता है, चित्त के करने से करता है और चित्त के अकरने से अकरता है शरीर से करना करना नहीं और शरीर से अकरना वह अकरना नहीं, असंसक्त पुरुष ब्रह्म हत्या करता है तो उसको पाप नहीं लगता और अश्वमेध यज्ञ करे तो कुछ पुण्य नहीं होता जिसके चित्त से सर्व प्रकार की आसक्ति दूर हो गयी वह पुरुष मुक्त स्वरूप है और धन्य धन्य है और जिसका चित्त आसक्त है वह बद्ध है दुःखी है, अनासक्त पुरुष आकाश तुल्य निर्मल है, समभाव एक अद्वैत आत्म तत्व में स्थित है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे अन्तरासंग
विचारो नाम षट्षष्टितमः सर्गः ।।६६।।

सप्तषष्टितमः सर्गः ६७

संसक्तविचारवर्णनम् ।

रामजी बोले! हे भगवन्! संग किसको कहते हैं और संग बन्धनों से मुक्त किसे कहते हैं और बन्धरूप संग किसको कहते हैं और मोक्षरूप संग किसे कहतें हैं और किस उपाय से मुक्त होता है, वह कहो, वसिष्ठजी बोले–देह और देही को जो विभाग है, उसका त्याग करके और उसके साथ जो मिलकर करता है और देह मात्र में अपने आपका विश्वास करता है कि इतना मात्र ही मैं हूँ, इसको संग और बन्ध कहते हैं, हे रामजी! आत्मतत्व अनंत है और देहमात्र में अहंभावना करके अपने आपको इतना मात्र ही पुरुष जानता है इसमें अभिमान करता है सुख की इच्छा करता है इसको संग और बंध कहते हैं और जिसको यह निश्चय हुआ है कि सब आत्मा ही है किसकी इच्छा करूं, किसका त्याग करूं इस

असंगता से जीवनमुक्त कहाता है, अथवा न मैं हूँ न यह जगत् है सर्वभाव अभाव को त्यागकर अद्वैत सत्ता में स्थित होता है, इसका नाम जीवनमुक्त है, न कर्मों के त्याग की इच्छा है न करने की इच्छा है और अंदर से कर्तृव्यभाव नहीं है, इस संग का जिसने त्याग किया है, वह असंग कहाता है, हे रामजी! जिसको आत्मतत्व में निश्चय है और राग द्वेष हर्ष शोक के वश नहीं होता वह असंसर्ग कहाता है, और सब कर्मों के फल का जिसने त्याग किया है, कि मैं कुछ नहीं करता, ऐसे मन से त्यागी है वह असंसर्ग कहाता है, उसको कोई कर्म बांध नहीं सकता, सर्व सम्पत्ति उसके पास होती है और जो संसक्त पुरुष कर्तृत्वभोक्तृत्व के अभिमान सहित है उसको अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं, जैसे कोई गर्त में गिर पड़े उसमें कंटकों के वृक्ष हों उनसे कष्ट पाता है, ऐसे ही संसक्त पुरुष कष्ट पाता है, हे रामजी! संग के वश से विस्तृत दुःख की परम्परा पैदा होती है, जैसे गर्त के वृक्ष के साथ कंटक उत्पन्न हों, हे रामजी! जैसे नासिका में रस्सी डालकर ऊँट बैल गर्दभ भार उठाये फिरते हैं और मार खाते हैं, ऐसे संयुक्त पुरुष आशारूप फांसी के साथ बन्धे हुए दुःख पाते हैं, वही संसक्तताका फल ऊट आदि बनकर भोगते हैं, जलमें रहते हैं, सर्दी गर्मीसे कष्टभागी होते हैं, कुल्हाड़ों से काट कर संसक्तता का फल वृक्ष भोगते हैं, पृथ्वी के छिद्रों में कीट बनकर अंगपीड़ा से कष्ट पाते हैं, वह संसक्तता का फल है, अन्नादि के रूप में पृथ्वी में बीजे जाते हैं, शस्त्रों से काटे जाते हैं, पुनः पुनः बीजने और काटे जाने का कष्ट पाते हैं, वह संसक्तता का फल भोगते हैं, इस प्रकार अनेक योनियों में जन्म पाते हैं, वह संसक्त हैं, हरे तृणों को हरिण खाता है और वधिक इसको बाण से मारता है और कष्टवान् होता है, जो जीव तुझको दृष्टि आते हैं, वे इस प्रकार संसक्तता से बँधे हैं। वह संसक्तता भी दो प्रकार की है, एक बद्ध करने योग्य है एक वन्दन करने योग्य है, जो मूढ़ जीव हैं और जो तत्ववेत्ता हैं, वे वन्दन करने योग्य हैं, हे रामजी! आत्मतत्व से जो गिरा है और देहादिक में अभिमानी हुआ है, वह मूढ़ है, संसार में जन्म मरण को प्राप्त होता है,

और जिसको आत्मतत्व का ज्ञान हुआ है और निष्ठा है वह वन्दनीय हैं, उसको जन्म मरण रूप संसार नहीं होता। शंख चक्र गदा पद्म जिसके हाथ में है और आत्मतत्व में निश्चय है, आत्मतत्व में संसक्त है और तीन लोक की पालना करता है, वह वन्दना करने योग्य है और जो निरालम्ब सूर्य आकाश में विचरता है और सदा स्वरूपनिष्ठ है, वह वन्दना करने योग्य है और जो महाप्रलय पर्यन्त जगत् को उत्पन्न करता है और सदा शिवस्वरूप में ससक्त है, ब्रह्मारूप होकर विराजता है, वह वन्दना करने योग्य हैं और जो लीला से स्त्री को अर्धाङ्ग रखता है, उसके प्रेमरूप बन्धन से बँधा है और विभूति (भस्म) धारण किये है, सदा स्वरूप में संसक्त है, शंकर वपु धारण किये स्थित है वह वन्दन करने योग्य है, इससे सिद्ध देवता विद्याधर लोक पाल जिनकी संसक्ति स्वरूप में है वे मुक्त स्वरूप हैं और वन्दन करने योग्य हैं और जो देहादिक में संसक्त है, वह बद्ध है जन्म जरा मृत्यु को पाता है और कष्टवान् होता है, हे रामजी! जिसके शरीर में अभिमान है और बाहिर से उदार भी दृष्टि आते हैं, परन्तु जब भोगों को देखते हैं तब इस प्रकार गिरते हैं जैसे मांस को देखकर आकाश से (इल्ल) गीध गिरते हैं, कई मनुष्य लोक में रहते है, वे बन्धे हुए हैं कई देवतारूप धारण किये स्वर्ग में रहते हैं, कई मनुष्य लोक में रहते हैं कई सर्प आदिक पाताल में रहते हैं, तीनों लोक में भटकते फिरते हैं जैसे गूलर में मच्छर रहते हैं वैसे ब्रह्मांड में संसक्त जीव रहते हैं और मिट जाते हैं, कालरूप बालक का जीव रूप गेंद है, कभी उसको अधः को उछालता है कभी ऊर्ध्व को उछालता है, हे रामजी! जितना जगत् है वह सब असत्यरूप है मन रूपी चितेरेने संगरूप के साथ शून्य आकाश में देहादिक जगत् लिखा है, वह सब आत्मरूप है, जैसे समुद्र में तरंग उपजते हैं और मिटते हैं, ऐसे जीव ब्रह्माण्ड में उपजते और मिट जाते हैं, जिनका मन देहादिक में संसक्त है वे तृणारूप अग्नि से तृण की नाईं जलते हैं। हे रामजी! जो ससंक्त हैं, उनके शरीर पाने की कुछ संख्या नहीं, मेरु के शिखर से लेकर चरणों पर्यन्त गंगा का प्रवाह

चले, तरंगो सहित उसके मोतियोंवत् जो लव कण हैं, उनके गिनने की संख्या हो, परन्तु संसक्त पुरुष के शरीरों की गणना नहीं हो सके, जितनी भी आपत्तियाँ हैं, वे उनको प्राप्त होती हैं, जैसे समुद्र में सब नदियाँ आकर मिलती हैं, ऐसे सब आपत्तियाँ उसको प्राप्त होती हैं, जो देहाभिमानी सदा विषयों का सेवन करता है, वह रौरव काल सूत्रादि जो नरक हैं उनकी अग्नि की लकडियां बनकर जलेगा, कष्ट पायेगा। जितने भी दुःख देने वाले स्थान हैं वे सब संसक्त जीवों को प्राप्त होंगे और जो पुरुष असंग चित्त हैं, उन पुरुषों को सब विभूति पदार्थ प्राप्त होंगे जैसे वर्षाकाल में नदियाँ जल से पूर्ण होती हैं, जैसे मानसरोवर में सब हंस आकर निवास करते हैं, ऐसे असंसक्त चित्त पुरुष को सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं और जिस पुरुष का देहाभिमान बढ़ जाता है, उसे विषरूप समझो। जिसका देहाभिमान घट जाता है, उसको अमृत रूप जान लो, विष ज्यों ज्यों बढ़ता है त्यों त्यों मारता है और अमृत ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों अमर करता है, हे रामजी! जो पुरुष देहाभिनाम का त्यागकर स्वरूप में संसक्त होता है, वह सुखी होता है और जिसको अन्तर दृश्य का संग हैं, संसक्ति रूप अंगार उसके अंगों को जलायेगा और जिसके अन्दर संग नहीं वह असंग रूप अमृत से सुखी होगा और चन्द्रमा समान शीतलता जो कि मुक्ति रूप है उसका अनुभव करेगा। उसके अविद्या रूप विषूचिका का रोग सदा के लिये निवृत्त हो जाता है और वह शान्ति रूप होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशम प्रकरणे संसक्त
विचारोनाम सप्तष्टितमः सर्गः ॥६७॥

अष्टषष्टितमः सर्गः ६८

शान्तसमाचारयोगोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह जो मैंने तुझको उपदेश किया है, विचार करके इसका अभ्यास करो, कि सर्वकाल सर्व स्थान सब कर्मों को करता हुआ जैसे कि चित्त की देहादिक में संसक्ति न हो, इस प्रकार केवल आत्मतत्व में स्थिति प्राप्त करो हे रामजी! न संसक्ति में चित्त न हो न चेष्टा में चित्त हो, न किसी वस्तु में (उसे सत्य जानकर) चित्त हो, न आकाश में न अधः में न ऊर्ध्व में, न दिशा में, न बाहिर, न अन्दर, चित्त हो, न प्राणों में उर में न तालु में न भौंह के मध्य में, न नासिका में न जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में, न तम में, न प्रकाश में, न श्यामवर्ण, न रक्त पीत, न श्वेत , न स्थिर में, न चलमें न आदिमें, न अन्तमें, न मध्यमें, न दूरमें, न निकटमें, न किसी पदार्थ में, न चित्तादि अन्तःकरण में, न शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध में, न कलना अकलनामें चित्त को लगावो, सब ओर से चित्त को निवृत्तकर चेतन तत्व में विश्राम कर कुछ द्वैत को लेकर चेतन तत्व का आश्रय न कर, हे रामजी! जब सबसे निराश-हुआ और आत्मतत्व में स्थित हुआ, तब विगतर संग होगा, जीवका जीव तत्व चलता रहेगा, केवल चिदात्मा होकर स्थित होगा, सब व्यवहार करे अथवा न करे, करते भी अकर्ता होगा, अथवा इसका भी त्यागकर केवल चिदानन्द शान्त रूप जो तत्व है उसमें स्थित हो, अद्वैत रूप तत्व स्वाभाविक भासेगा, जैसे बादलोंके दूर होनेपर सूर्य दर्शन स्वाभाविक हो जाता है, ऐसे फुरने से रहित चेतन तत्व भास आयेगा, जैसे स्वाभाविक प्रकाशरूप होने से चिन्तामणि भास आती है, ऐसे स्वाभाविक प्रकाश रूप आत्मा भास आयेगा, पुनः जो कुछ क्रिया करेगा वह फलदायक न होगा, जैसे कमल को जल स्पर्श नहीं करता, ऐसे तुझको क्रिया स्पर्श न करेगी, और आत्मगत चित्त निर्वाण रूप होगा, क्रियाकर्ता भी अकर्ता रहेगा।

इति श्रीयोगवसिष्ठे उपशमप्रकरणे शांत समाचारयोगोपदेशो नाम अष्टषष्टितमः सर्गः ।।६८।।

एकोनसप्ततितमः सर्गः ६९

संसक्तचिकित्सावर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जो असंसक्त पुरुष हैं, वें ध्यान करें, अथवा व्यवहार करें, सदा ध्यान में स्थित हैं और शोक से रहित हैं, जैसे बाहिर से क्षोभवान् दृष्टि आता है, परन्तु अन्दर सर्व कलना से रहित है, वह पूर्ण लक्ष्मी से शोभा पाता है, हे रामजी! जिस पुरुष का चित्त चैत्य से रहित अचल चित्त है, वह विगतर ज्वर है, उसको कुछ दुःख स्पर्श नहीं करता, जैसे जल कमलों को स्पर्श नहीं करता, किन्तु वह औरों को भी निर्मल करता है, जैसे निर्मली मलीन जल को निर्मल करती है, ऐसे वह जनता को निर्मल करता है और जो आत्मतत्व में लीन है, वह क्षोभवान् भी दृष्टि आता है परन्तु वह क्षुब्ध कदाचित् नहीं, जैसे सूर्य का प्रतिबिंब क्षोभवान् दृष्टि आता है, परन्तु सूर्य को क्षोभ कदाचित् नहीं, ऐसे ज्ञानवान् का चित्त क्षुब्ध दृष्टि आता है, तो भी उसको क्षोभ कदाचित् नहीं, हे रामजी! आत्माराम जो पुरुष है वह बाहिर से मोरपुच्छवत् चंचल भी दृष्टि आता है, परन्तु वह अन्दर से सुमेरु समान अचल है, जिनका चित्त आत्मपद में स्थित हुआ है, उनको सुख दुःख अपने वश में नहीं कर सकते, जैसे स्फटिक को प्रतिबिंब का रंग नहीं चढ़ता, ऐसे ज्ञानवान् को सुख दुःख का रंग नहीं चढ़ता,जिस पुरुष को परावर ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ है, उसका चित्त रागद्वेष से रंजित नहीं होता, जैसे आकाश में बादल दृष्टि आते हैं परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं करते, ऐसे ही ज्ञानवान् के चित्त को राग द्वेष स्पर्श नहीं करते, जो आत्मध्यानी है, जिसको परम बोध का साक्षात्कार हुआ है, और कलना से मुक्त हुआ है, वह पुरुष असंसक्त कहाता है, हे रामजी! जो आत्माराम पुरुष है, उसकी आत्मज्ञान के अभ्यास से संसक्तता निवृत्त हो जाती है, अन्यथा संसक्ति निवृत्त नहीं होती, जब चित्त परिणाम आत्मा की ओर होगा जैसे चन्द्रमा परिणाम के वश से अमावास्या को सूर्य रूप हो जाता है, ऐसे चित्त दृढ़

परिणाम के वश से आत्मरूप हो जाता है, जब चित्त चैत्यभावसे हीन होता है, तब क्षीण चित्त कहाता है, और शान्त कलना कहाता है, तब जाग्रत् इसको सुषुप्ति रूप हो जाता है, उस अवस्था में जो कुछ क्रिया कहाता है, उससे फल का आरम्भ नहीं होता, क्योंकि निरहंकार हो जाताहै, जैसे यंत्री की पुतली अहंकार से रहित चेष्टा करती है और संवेदन से रहित है, उसको कोई दुःख नहीं होता, ऐसे निरहंकार निःसंवेदन पुरुष निर्दुःख और निर्लेप कहाता है, हे रामजी! इष्ट अनिष्ट भाव अभावरूप जगत् चित्त में होता है, जब चित्त आत्मभाव को प्राप्त हुआ तब किससे किसको बन्धन हो, सर्व आत्मतत्व ही तो है, जैसे नट सर्व स्वांग को धारण करता है और अपना अभिमान किसी में नहीं होता, ऐसे सुषुप्ति बोध पुरुष जगत् की क्रिया करता है और बद्ध नहीं होता, जीवन्मुक्त होकर स्थित होता है, हे रामजी! सुषुप्ति बोध को आश्रय करके जगत् की क्रिया करो, क्रिया, कर्म, कर्ता, त्रिपुटी की भावना से रहित होकर रहो, तब तुमको दुःख कुछ न होगा। न आदान में न त्याग में अभिमान होगा, यथा प्राप्त में स्थिति होगी, जो सुषुप्ति बोध में स्थित है वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता, ऐसा निश्चय धारण कर जैसे इच्छा हो वैसे करो, हे रामजी! ज्ञानवान् की चेष्टा बालकवत् होती है, जैसे बालक अभिमान से रहित झूलने में अंगों को हिलाता है, ऐसे ज्ञानवान् अभिमान से रहित काम करता है, फल का स्पर्श नहीं होता जब चित्त अचित्तरूप हो जाता है, तब जाग्रत् जगत् सुषुप्तिरूप हो जाता है और जो कुछ क्रिया करता है वह स्पर्श नहीं करती, हे रामजी! इसको जब जगत् से सुषुप्ति दशा प्राप्त होती है तब इसका अन्तर शील हो जाता है, रागद्वेष कुछ नहीं फुरतें, आत्मानन्द से पूर्ण होता है जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभा पाता है ऐसे वह सुशोभित होता है, जो सुषुप्ति बोध में स्थित है, वह महा तेजस्वी वीर होता है, आत्मानंद से पूर्ण चन्द्रमा की नाईं हो जाता है, हे रामजी! जो पुरुष सुषुप्ति अवस्था में स्थित है, वह संसार के किसी क्षोभ से विचलित नहीं

होता, जैसे पर्वत सर्वकाल में क्षुब्ध नहीं होता, जैसे भूकम्प से सब वृक्षादिक विचलित होते हैं, अस्ताचल नहीं कांपता, ऐसे ज्ञानवान् अचल रहता है, जैसे पर्वत सर्व काल सम रहता है और वृक्ष उत्पन्न हो होकर गिर पड़ते हैं, पर्वत ज्यों का त्यों रहता है, ऐसे ज्ञानवान् अनेक प्रकार की क्रिया में सम रहता है, हे रामजी! ऐसी सुषुप्ति दशा अभ्यास योग से मिलती है, जब यह दशा प्राप्त होती है, तब इसको तत्व वेत्ता तुरीयापद कहते हैं, वह परमानन्द रूप है, उसमें सब दुःख नाश हो जाते हैं, असंसक्त हो जाता है मन का मनन भाव निवृत्त हो जाता है, तब ज्ञानवान् को परम सुख उदय होता है, उससे परमानन्द द्वारा परिपूर्ण हो जाता है, इस संसार रचना को लीलारूप देखता है, सर्व शोक से रहित निर्भय होता है, संसारभ्रम दूर हो जाता है, जब तुरीयापद में प्राप्त हुआ, तब संसारमें पुनः नहीं गिरता, जो यत्नवान् पुरुष परम पावन पद में स्थित हुआ हो वह संसार की अवस्था को देखकर हंसते हैं, जैसे पहाड पर बैठा पुरुष नगर को जलता देखकर हंसता है ऐसे ज्ञानवान् आत्मानन्द को पाकर संसार के कार्यों में दुःख जानकर हंसते हैं, हे रामजी! जो तुरीयापद में स्थित है वह अविनाशी होता है और आनन्दरूप आनन्द कलना से आनन्द कलना है, जब ऐसे तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है, तब जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होता है, अभिमान आदिक कलना से रहित परम ज्योति में लीन होता है जैसे लवण की गोली समुद्र में जलरूप हो जाती है ऐसे वह आत्मरूप हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे संसक्तचिकित्सावर्णनं नामैकोनसप्ततितमः सर्गः ॥६९॥

सप्ततितमः सर्गः ७०

संसारयोगोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! जब तक तुरीयापद में स्थित होता है, तब तक केवल जीवन्मुक्त होता है इसके अनन्तर विदेह मुक्त तुरीयातीत है, वह वाणी का विषय नहीं, जैसे आकाश को कोई भुजाओं से नहीं पकड़ सकता ऐसे तुरीयातीत वाणी का विषय नहीं, तुरीयातीत पद से विश्रान्ति भी दूर है, विदेह मुक्त कर पाता है, अब तुम कुछ काल ऐसी सुषुप्ति अवस्था में स्थित हो, इसके बाद परमानन्द पद में स्थित होना, हे रामजी! तुरीयावस्था में जो स्थित हुआ है, वह निर्द्वद्वभाव को प्राप्त हुआ है, जब तू सुषुप्ति अवस्थामें स्थित होगा, तब जगत्के कार्य भी करता रहेगा, सदा पूर्ण रहेगा, उदय अस्त के भाव को कदाचित् प्राप्त न होगा, जैसे मूर्ति का लिखा चन्द्रमा उदय अस्त को नहीं प्राप्त होता, ऐसे तू उदय अस्त भाव को प्राप्त न होगा हे रामजी! इस शरीर को अपना आप जानकर रागद्वेष से जलता है, जिस पदार्थ का सन्निवेश होता है उसके नष्ट हो जाता है, जैसे मृत्तिका का अन्वय घट में होता है घट का नाश हुए मृत्तिका का नाश न हो ऐसे भ्रम को मत अंगी करो, तू सदा ज्यों का त्यों है तेरा सन्निवेश तो इसमें कुछ नहीं हुआ, इसलिये ज्ञानवान् देह का नाश होने पर शोकवान् नहीं होता और देह के स्थित हुए सुखी भी नहीं होता, क्योंकि देह के साथ सम्बन्ध कुछ नहीं, जो तत्वदर्शी पुरुष है, वह यथा प्राप्त में निर्दोष होकर विचरता है, अभिमानादिक विकारों से रहित निर्मल आकाशवत् है, जैसे शरत् काल की रात्रि में स्थित चन्द्रमा से आकाश निर्मल होता है, ऐसे वृत्ति विकारोंसे रहित मन से आत्मपद में स्थित होता है, संसार की ओर नहीं गिरता, जैसे योग मंत्र तपः सिद्धि सम्पन्न मनुष्य आकाश में उड़ता जाता है, वह पुरुष पृथ्वी पर नहीं गिरता, हे रामजी! तू भी अपने प्रकृति भाव में स्थित होकर यथा प्राप्त

क्रिया को करता निर्द्वन्द्व हो और तू भी अब स्वरूप का ज्ञाता हुआ है परम पद में जगा है, अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ है, पृथ्वी में विशोक हुआ विचर, इच्छा अनिच्छा को त्यागकर शीतल, तप्त, प्रकाश, अन्धकार और मेघ से रहित शरत्काल के आकाशवत् निर्मल सुशोभित होगा। हे रामजी! यह जगत् चिदानन्द स्वरूप है और यदि अन्त से रहित है, अहं त्वं आदिक भ्रम से रहित उसमें स्थित हो, आत्मा केवल अव्यक्त चिन्तन से रहित है, उसका शरीर के साथ सम्बन्ध कैसे हो! आत्मा आदि नाम भी व्यवहार के लिये कल्पना किये गये हैं, नाम रूप भेद भय से रहित अशब्द पद है, वही जगत्रूप होकर स्थित हुआ है, जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं, जैसे जल तरंगरूप हो भासता है, वह तरंग जल से कुछ भिन्न वस्तु नहीं, आत्मा से भिन्न जगत् कुछ नहीं, जैसे समुद्र सब जलरूप है, जल से इतर कुछ त्तहीं। ऐसे सब जगत् आत्मरूप है, भिन्न कुछ नहीं, जैसे जल और तरंग में भेद नहीं, पट और तन्तु में भेद नहीं, ऐसे ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं, हे रामजी! द्वैत कुछ वस्तु है नहीं परन्तु मैं तुम्हारे उपदेश के लिये द्वैत को अंगीकार करके कहता हूँ, यह जो शरीर है, इसके साथ तेरा सम्बन्ध कुछ नहीं, जैसे धूप और छाया का सम्बन्ध नहीं होता, प्रकाश और तम इकट्ठे नहीं होते, ऐसे आत्मा और देह का सम्बन्ध नही, देह जड़ और मलित है, दृश्य और असत्य है, आत्मा निर्मल चेतन है और सत्य है, उसका देह के साथ सम्बन्ध कैसे हो? जैसे शीत और उष्ण का परस्पर विरोध है ऐसे आत्मा और देह का सम्बन्ध नहीं, जैसे वन को आग लगने से जीव जन्तु जलते हैं, ऐसे भ्रम दृश्यरूप देह में अहंभाव करके जलते हैं हे रामजी! जैसे दावाग्नि में कुबुद्धि जल बुद्धि करे, ऐसे अज्ञानी देह में आत्मबुद्धि करते हैं, जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणों में जल भासता है, ऐसे आत्मा में देह भाव रखते हैं, हे रामजी! चिदात्मा निर्मल सत्य और स्वयं प्रकाश है और देह मलिन है, अस्थि मांस रक्तमय है, इसके साथ आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो? आत्मा में देह का अभाव है, केवल एक अद्वैत तत्व अपने आपमें स्थित है, उसमें द्वैत

भ्रम कैसे हो? हे रामजी! स्वरूप से न कोई बद्ध है न मुक्त है, सर्वत्र एक सत्ता आत्मतत्व स्थित है, अंदर बाहिर सर्वत्र वही है, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं मूढ़ हूं, इस मिथ्या दृष्टि को त्याग अपने आपको केवल आत्मरूप जानकर स्थित हो, यह दृश्य परम दुःख देने वाला है, इसमें दुःख प्राप्त होगा, जैसे तृण और पहाड़ की एकता नहीं होती, पट और पत्थर की एकता नहीं होती, ऐसे आत्मा और शरीर की एकता नहीं होती, जैसे तम और प्रकाश का संयोग नहीं होता, ऐसे देह और आत्मा का संयोग नहीं हो सकता और दोनों तुल्यभी नहीं होते, जैसे शीत और उष्णकी एकता नहीं होती, जैसे जड और चेतन की एकता नहीं होती, ऐसे शरीर और आत्मा की एकता नहीं होती, हे रामजी! शरीर जो बोलता है वायु के बल से चलता बोलता है, आठ स्थानों में वायु के बल से अक्षरों का उच्चारण होता है, उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, होंठ, तालु, यही आठ स्थान हैं, क ख ग घ इन चारों का उच्चारण कण्ठ में होता है, च छ ज झ इन चारों का तालुस्थान में उच्चारण होता है, ट ठ ड ढ इन वर्णों का मूर्द्धनि (शिर में) उच्चारण होता है, त थ द ध इनका दान्तों में उच्चारण होता है, प फ ब भ इनका होंठों में उच्चारण होता है, ञ म ङ ण न पांचों का नासिका और कंठ में उच्चारण होता है, जिह्वा में जिह्वा मूलीयका उच्चारण होता है, जिस पद का आदि हकार हो हृदय से उच्चारण होता है, आठों स्थानों में इन वर्गों का वायु से उच्चारण होता है, जैसे वांसुरी वायु से शब्द करती है, ऐसे यह पांच तत्वों से शब्द होता है, इसमें आत्माभिमान करना कि मैं कर्ता हूँ महा मूर्खता है और नेत्रादिक इन्द्रिय भी वायु से चेष्टा करते हैं, इसलिये इस भ्रम को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो जाओ, आत्मा आकाशवत् सब में पूर्ण है, जैसे आकाश सर्वत्र पूर्ण है, परन्तु जहाँ आदर्श होता है, वहाँ प्रतिबिंब होकर भासता है, ऐसे आत्मा सर्वत्र पूर्ण है, परन्तु जहाँ चित्त होता है, वहाँ भासता है, हे ,रामजी! जहाँ वासना से चित्तरूप पक्षी जाता है, वहाँ आत्मा को अनुभव होता भासता है कि

मैं यहाँ हूँ, जैसे जहां पुष्प होता है वहां सुगन्धि भी होती है, ऐसे जहां चित्त होता है वहा अहंभाव भी होता है जैसे आकाश सर्वत्र है परन्तु जहां प्रतिबिंब होता है वहां भासता है, जैसे जल सर्व पृथ्वी में है परन्तु वहां भासता है जहाँ जहाँ खोदा जाता है, ऐसे आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है परन्तु वहाँ भासता है, जहाँ चित्त है, जैसे सूर्य का प्रतिबिंब सब ठौर है परन्तु जहाँ आदर्श अथवा जल है वहां भासता है, ऐसे आत्मा सर्वत्र पूर्ण है परन्तु चित्त के अहंभाव से भासता है, आत्मा का प्रतिबिंब चित्त ही में भासता है वह चित्त आत्मा की सत्ता से जगत् रचना को फैलाता है, जैसे सूर्य की किरणें धूप को फैलाती हैं, हे रामजी! भूतों का कारण अन्तःकरण ही है और आत्मतत्व तो अतीत ही है, आदिकारण नहीं है और वास्तव से अकारण है, जगत् तो सत् भासता है, अविचार से भासता है, उसकी निवृत्ति का उपाय आत्मज्ञान है, हे रामजी! संसार का कारण अन्तःकरण है, असम्यग्ज्ञान से सत्यरूप भासता है जैसे मरुस्थल में असंस्यक् ज्ञान करके जल भासता है, जब यथार्थ ज्ञान होता है, तब जगत् का कारण चित्त नष्ट हो जाता है, जैसे दीपक के प्रकाश से अन्धकार नाश हो जाता है, ऐसे आत्मज्ञान से चित्त नष्ट हो जाता है, संसार का कारण अपना ही चित्त है, इसका नाम जीव, अन्तःकरण, मन है, रामजी बोले–हे महान् आनन्द के देनेवाले! इतनी संज्ञाएं चित्त की कैसे हुई? वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! सर्वभावरूप एक परमात्म तत्व है, जैसे समुद्र, नदियाँ, तरंग आदि संज्ञाओं को एक जल ही धारण करता है, ऐसे चित्तादिक अनेक संज्ञाओं को आत्मा धारण करती है और सदा एकरूप है, संवेदन के फुरने से अनेक रूप धारण करता है, जैसे एक जल, तरंग, बुद्बुद, जल चक्र, कहीं स्थिर आदि अनेक संज्ञाओं को धारण करता है परन्तु सब जल रूप हैं, ऐसे सर्व शक्ति आत्मा सर्व शरीरों में सर्वरूप होता है, जब स्पन्द कलना दूर होती है, तब शुद्ध स्वरूप हों भासता है

और जहा अज्ञान संसरण को अंगीकार करता है तब वहां वही अनन्तात्मा जीव कहाता है, जैसे सिंह पिंजरे में फंसता है ऐसे यह जीवरूप होता है, हे रामजी! जहां अहंभाव फुरता है, वहां जीव कहाता है और जो निश्चय वृत्ति से फुरता है उसको बुद्धि कहते हैं, संकल्प विकल्प से मन कहाता है, चिन्तन करने से चित्त कहाता है, प्रकृतभाव से प्रकृति कहाता है, हे रामजी! प्रकृतिरूप जो पदार्थ है वह जड़ कहाता है जो चेतन वह जीव कहाता है और जड़ जो दृश्य भाव से संवित् भाग है, अजड़ जो जीव अहं द्रष्टाभाव से सिद्ध होता है, इनके जो मध्य में है वह परमात्मतत्व है, वह नानारूप हो भासता है, यह रूप जीव का बृहदारण्यक उपनिषद् में तथा अन्य वेदान्त ग्रन्थों में कहा है, इससे इतर संज्ञाशास्त्रकारों ने कल्पना से कही है, वह वृथा ही कल्पना की है, जब तक अहंभाव से चित्त संसरण करता है, तब तक जगद्‌भ्रम होता है, जैसे जब तक सूर्य है तब तक प्रकाश होता है, जब सूर्य अस्त होता है तब प्रकाश जाता रहता है, ऐसे जब चित्त का तब जगत् भ्रम जाता रहता है, देह में आत्मबुद्धि करनी महामूर्खता है, क्योंकि यह अधः ऊर्ध्व संयोग है, आत्मा का ऐसा संयोग हो तो देह के नाश हुए आत्मा भी नाश हो जाय, देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे वृक्ष के पत्तों का नाश होने से वृक्ष का नाश नहीं होता, ऐसे शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे घट का नाश हुए घटाकाश का नाश नहीं होता, ऐसे शरीर का नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे पुराने वस्त्रों को त्यागकर पुरुष नूतन वस्त्र धारण करता है, ऐसे आत्मा पुरातन शरीर को त्यागकर नूतन शरीर को अंगीकार करता है, इसको मूर्ख मनुष्य मृत्यु कहते हैं, शरीर का नाश हुए आत्मा का किंचिन्मात्र भी नाश नहीं होता, हे रामजी! जिसका चित्त निर्वासनिक हुआ है उसका शरीर जब छूटता है तब उसका चित्त चित्ताकाश में लीन हो जाता है और जिसका चित्त वासना सहित है वह एक शरीर को छोड़कर और शरीर को पाता है तो भी शरीर का नाश नहीं होता, जो देह के नाश से

अपना नाश मानता है वह मूर्ख है, जैसे स्थान में अज्ञान से वैताल भासता है, ऐसे अज्ञान से आत्मा में मृत्यु भासता है और यदि चित्त का नाश हो जाय कि चित्त पुनः फुरे ही तब तो जानो कि परमानन्द हुआ और जो शरीर का नाश हुए आत्मा का नाश कहते हैं वे मूढ़ हैं, मिथ्या कहते हैं, जैसे कोई देश से देशान्तर को जाता है, तो उसका अभाव नहीं होता, ऐसे शरीर का त्यागकर और शरीर को प्राप्त होता है, आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे जल में तरंग उठता है फिर छिप जाता है और कहीं जाकर फिर वहीं निकलता है, ऐसे आत्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर धारण करती है, जैसे पक्षी उड़ता दूर चला जाता है तब दृष्टि नहीं आता परन्तु नाश नहीं होता, ऐसे शरीर के नाश हुए आत्मा और ठौर प्रकट होती है नाश नहीं होती, हे रामजी! वासना के वश से यह जीव एक शरीर को त्यागकर अन्य शरीर को जाकर प्राप्त होता है, इसी प्रकार वासना के अनुसार जीव फिरता है, वासना रूप जेवरी के साथ बँधा हुआ जीवरूप वानर शरीररूप स्थानों में भटकता फिरता है, हे रामजी! जीव वासनारूप रस्सी के साथ बँधा हुआ कभी ऊर्ध्वलोक में कभी मनुष्य लोक में घटी यंत्र की नाईं घूमता है, हे रामजी! जीव को हृदय में जो वासना होती है, उससे जरा मृत्यु जन्म आदि दुःखों को पाता है और कर्मों की गठडी उठाये फिरता है कभी स्वर्ग को जाता है, कभी पाताल को जाता कभी मध्य के लोकों में-जाता है, कदाचित् शान्ति को नहीं प्राप्त होता, इसलिये हे रामजी! अविद्यारूप संसार को भ्रम रूप जान कर इसकी वासना त्यागो और अपने स्वरूप में स्थिति प्राप्त करो, वाल्मीकि मुनिजी बोले—इस प्रकार जब वसिष्ठजी ने कहा तब सूर्य अस्त हुआ, सब सभा स्नान के निमित्त उठी, परस्पर नमस्कार करके अपने अपने स्थान को गये, रात बिताकर सूर्य की किरणों के साथ फिर आकर बैठ गये।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे संसार योगोपदेशोनाम सप्ततितमः सर्गः ॥७०॥

एक सप्ततितमः सर्गः ७१

मोक्षस्वरूपोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! आत्मा देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होती और नाश होने पर नाश नहीं होती, तू निष्कलंक आत्मा है, तेरे देह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे कुंज में पुष्प फल होते हैं, जैसे घट में घटाकाश होता है, वह परस्पर भिन्न रूप होता है, एक का नाश हुए दूसरे का नाश नहीं होता, ऐसे देह का नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता और जो देह के नाश में अपना नाश मानता है, वह मूर्ख है जड़ है, हे रामजी! जैसे रथ और रस्सियाँ और घोड़े का स्नेह से रहित संयोग होता है, ऐसे शरीर चित्त और इन्द्रियों का संयोग है, हे रामजी! रथ के टूटने से रथ के वायु की हानि नहीं होती, ऐसे देह इन्द्रियों के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे पृथ्वी पहाड के ऊपर जल के प्रवाह का संयोग होता है और वियोग भी होता है, तो एक के नाश हुए दूसरे का नाश नहीं होता ऐसे देह इन्द्रिय का संयोग है, इनके नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता, जैसे स्थाणु में वेताल भासता है और भयवान् होता है ऐसे देह में अहंभाव करने से रागद्वेष सुख दुःख प्राप्त होता है, जैसे एक काष्ठ की अनेक पुतलियाँ होती हैं, वे काष्ठ से इतर कुछ नहीं, ऐसे ही जितने शरीर हैं पंच भूतों के हैं, इतर कुछ वस्तु नहीं, पुनः यह पंचभूतों का शरीर पंचभूतों में लीन होता है, उसको मृत हुआ कहते हैं, यह आश्चर्य है जो प्रत्यक्ष पंचभूतों का शरीर है, उसमें आत्मभावना करने वाले श्वान हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी शोक करते हैं, इसीलिये मूर्ख हैं, हे रामजी! न कोई पुरुष है न कोई स्त्री है, इनके लिये यह लोग रुदन करते हैं, जैसे—मृत्तिका के खिलौने हाथी घोड़ा आदि की विचित्र रचना होती है, उनकी प्राप्ति अप्राप्ति में अज्ञानी बालक तुष्टिमान् और खेदवान् होते हैं, ऐसे ही अज्ञानी पांचभौतिक रचना देखकर प्राप्ति अप्राप्ति में रागद्वेष करता है, ज्ञानवान् को सब भूत भ्रान्तिमात्र भासते हैं, जैसे माटी

के पुरुष आपस में मिलें तो उनको रागद्वेष कुछ नहीं होता, ऐसे बुद्धि, इन्द्रिय मन आत्मा का मिलाप है, उसमें तुझको रागद्वेष कुछ नहीं होता, जैसे पाषाण की पुतलियाँ मिलती हैं, उनको स्नेह बन्धन कुछ नहीं होता, ऐसे देह इंद्रिय प्राण आत्मा आपस में स्नेह बुद्धि से रहित है, इसलिये तू स्नेह से रहित हो, शोक क्यों करता है, जैसे तृण और जल के तरंग का संयोग होता है, तृण इधर उधर जाता है, जल को कुछ हर्ष शोक नहीं होता, ऐसे देह भूत आत्मा का योग है, इनको संयोग और वियोग का सुख दुःख कुछ नहीं होता, आत्मा और अनात्मा देह इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि आदिक विलक्षण भाव हैं। परस्पर इनके क्षय और उदय में हर्ष शोक कुछ नहीं परन्तु चित्त के उदय से अनात्मधर्म आत्मा में प्रबिबिंबित भासता है, इसलिये तुम तत्व बोध को विचार करके, चित्त को त्याग अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ, जैसे जल तरंगभाव को त्यागकर अपने स्थित स्वभाव को प्राप्त होता है, ऐसे तू अपने अक्षोभ भाव को प्राप्त होगा, तब भौतिक देह से आपको भिन्न जानेगा जैसे वायुमण्डल को प्राप्त हुआ देहादिक जीव पृथ्वी मंडल देखता है ऐसे तू आत्मपद में स्थित हुआ, देहादिक भूतों को देखेगा। हे रामजी! तुम देहादिक भूतों को देख त्यागकर अतीत अजन्मा पुरुष होकर रहो, तब तुम परम प्रकाश को पाओगे, जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य के उदय हुए परम प्रकाश को प्राप्त होता है ऐसे जब बोध से द्रष्टादर्शन दृश्यभाव तेरा जाता रहेगा। तू अपने भाव को ज्यों का त्यों का त्यों जानता है और मद्य भाव को स्मरण करता है, ऐसे का त्यों जानेगा, जैसे मद्य से क्षीण हो जाता है, मद्य के उतरने पर अपने आपको ज्यों का त्यों जानता है और मद्य भाव को स्मरण करता है, ऐसे स्मरण करेगा आत्मतत्व का जो स्पन्द (फुरना) हुआ है उसका नाम चित्त है, वह अवस्तुरूप है, जैसे समुद्र में तरंग भाव उदय होता है, वह कुछ वस्तु नहीं, ऐसे चित्तादिक कुछ वस्तु नहीं, भ्रान्तिरूप है, इस प्रकार जानकर महाबुद्धिमान् वीतराग निष्पाप पुरुष जीवन्मुक्त हुए हैं, महाशीत पद की प्राप्ति में विचरते हैं, जैसे रत्नमणि की किंचन नाना

प्रकार की लहरी होती है, वह मनन कलना से रहित चमत्कार है, ऐसे मनुष्यों में जो ज्ञानवान् उत्तम पुरुष हैं, उनका व्यवहार कलना से रहित होता है, जैसे कूप से प्रतिबिंब पड़ता है, जैसे आकाश में धूल उड़ती भासती है, आकाश मलिनता को प्राप्त नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् पुरुष अपने व्यवहार में कर्तृत्व के अभिमान को नहीं प्राप्त होता जैसे मेघ के आने जाने से समुद्र को रागद्वेष नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् पुरुष को भोगों के आने जाने में रागद्वेष नहीं होता, हे रामजी! जिस मन में जगत् के किसी पदार्थ की मन वासना नहीं फुरती, उस चित्त में जो फुरना भासता है उसको विलास स्वरूप जान, उसको बन्धन का कारण कुछ नहीं होता और जिस चित्त में अहं त्वं आदि जगत् की भावना है परन्तु अन्दर से उसको सत्यता बुद्धि है, इससे वह दृश्य द्रष्टा और दर्शन सम्बन्ध तीनों कालों संयुक्त जगत् को विस्तारेगा, जो कुछ दृश्य है वह असत्यरूप है और जो सत्य है वह एक अव्यक्तरूप है, उसको आश्चर्यरूप जानकर अलिप्त हो, तब हर्ष शोक को स्थान नहीं मिलता, जितना कुछ जगत् दृश्य भासता है सब असत्यरूप है जो सत्य है वह सदा ज्यों का त्यों है असत्यरूप दृश्य के लिये तू क्यों वृथा मोह को प्राप्त होता है? असम्यक् दर्शन को त्यागकर सम्यक्‌दर्शी बन। हे कमल नयन रामजी! जो सम्यक् दर्शी है वह मोह को प्राप्त नहीं होता हे रामजी! दृश्य दर्शन के सम्बन्ध में मध्य में जो संवित् है, वह अनुभव गोचर है उस संवित् को आश्रित होकर जो दृश्य दर्शन से मुक्त है, वह संसार समुद्र तर जायेगा, यह सुषुप्तिरूप अवस्था हैं इसको प्राप्त हुआ पुरुष परम प्रकाश को पाता है, इसी को मुक्त कहते हैं। जो दृश्य दर्शन से मुक्त बुद्धि है वह मुक्त कहाता है, जो दृश्य दर्शन के साथ बँधा है वह बद्ध है अन्य सबका अनुभव करने वाला आत्मा है, वह न स्थूल है न अणु है, न प्रत्यक्ष है न अप्रत्यक्ष है न चेतन है न जड़ है, न सत्य है न असत्य है, न अहं है न त्वं है, न एक है न अनेक है, न निकट है न दूर है, न अस्ति है, न नास्ति है, न प्राप्त है न अप्राप्त है, न सर्व है असर्व है, न पदार्थ है न अपदार्थ है, न पांचभौतिक है

न अपांच भौतिक है, जितना दृश्य है, मन सहित षट् इन्द्रियों से भाव को प्राप्त होता है, जो इनसे अतीत है वह इनका विषय नहीं, वह विषय कैसे हो, निष्किंचनरूप है और यह भी सब वही रूप है, ज्यों का त्यों जानने से सब आत्मरूप है, जगत् अनात्मरूप कुछ नहीं सम्यक् ज्ञान से ऐसा भासता है, यह जो कठिनरूप पृथ्वी भासती है, द्रवतारूप जल भासता है, स्पन्दरूप जल वायु, उष्णता रूप अग्नि, अवकाशरूप आकाश भासता है, सब आत्मरूप है, जो कुछ वस्तु अवस्तु रूप जगत् भासता है आत्मसत्ता से इतर कुछ नहीं, आत्मा से जगत् को मानना उन्मत्त चेष्टा है, मूर्ख मानते हैं, महात्मा पुरुष को काल कलनारूप जगत् सब आत्मरूप है। कल्प के आदि से लेकर अन्त पर्यन्त सब आत्मा का चमत्कार है, इतर कुछ नहीं, ऐसा जानकर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो और संसार समुद्र से पार हो जाओ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे मोक्षस्वरूपोपदेशो नामैकसप्ततितमः सर्गः ।।७१।।

द्विसप्ततितमः सर्गः ७२

आत्मविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह जो मैंने तुम्हें द्वैत त्याग के विचार की दृष्टि कही है, इसमें आत्मपुरुषों को आत्मस्वभाव की प्रप्ति होती है, जैसे बुद्धिमान् उपासकों को अभ्यास से चिन्तामणि प्राप्त होती है, इसके अनन्तर अन्य परम दृष्टि के विषय में भी सुन, जिस दृष्टि से अचल आत्मरूप को देखता है कि मैं ही आकाश हूँ, मैं ही दिशा हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, अधः ऊर्ध्व मैं ही हूँ, देवता दैत्य मैं ही हूँ, प्रकाश, तप मेघ पर्वत मैं ही हूँ, हे रामजी! सर्व जगत् आत्मा ही है, तो अहं और त्वं से भिन्न और एक अनेक कैसे हो? ऐसा निश्चय जिसके अन्दर होता है उसको सब जगत् आत्मरूप भासता है, वह पुरुष हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता, जो सब

जगत् मनोमात्र है, तो अपना और पराया क्या कहें? ज्ञानवान् को आत्मा से इतर कुछ नहीं भासता इसीलिये हर्षशोक को प्राप्त नहीं होता, हे रामजी! अहंकार भी तीन प्रकार के हैं, दो प्रकार के सात्विक निर्मल हैं, तत्वज्ञान से प्रवृत्ति हो, मोक्षदायक परमार्थरूप है और तीसरा संसार को दिखाता है, एक अहं है जो तुझको कहा है, सब मैं कहूँ मुझसे अन्य कुछ नहीं और दूसरा यह जो परम अणु जो सूक्ष्म से अति सूक्ष्म है, साक्षिभूत अव्यक्तरूप है, यह दोनों मोक्षदायक हैं और तीसरा यह जो आपको नखशिख पर्यन्त देहरूप जानना, वह दुःखदायक संसार का कारण है, शान्तिसुख का कारण नहीं अथवा इन तीनों को त्यागकर स्थित हो, यह सर्वसिद्धान्त का कारण है, जैसे तुम्हारी इच्छा हो, करो। आत्मा सब से अतीत है और सबसे पर है (उत्कृष्ट है) अपनी सत्ता से जगत् पूर्ण कर रहा है और प्रकाशरूप वही है, अपने अनुभव से सदा वस्तु उदयरूप है और किसी प्रमाण का विषय नहीं, अनुमादिक और सत्यवाद से परे है, सर्वकाल सर्व को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है और यह जो दृश्य जगत् है सब आत्मा भगवान् है और दृश्य दर्शन सत् असत् सूक्ष्म स्थूल सबसे आत्मा रहित है और वही सर्वरूप है, सबकी वाणी कहने भी वही आता है और किसी के कहने में भी नहीं आता, जो नानात्व भासता है, वह भी उससे अन्य कुछ नहीं। आत्मादिक संज्ञाएं भी शास्त्रों ने उपदेश के लिये कल्पना की हैं, सर्वत्र तीनों काल में स्थित हैं, सर्वशक्ति की उसमें कल्पना की गयी है, सूक्ष्मभाव से भी वही है, स्थूलरूप भाव से भी वही है, वह सर्वत्र व्यापक है और अपने फुरने से जीवरूप होकर भासता है, फुरणे से रहित द्वैत कलना मिट जाती है, जैसे आकाश में जब पवन फुरता है तब उष्णशीत हो भासता है, ऐसे फुरणे से जीवादिक भासता है और आत्मा चेतन सर्वत्र व्यापकरूप है और कभी किसी भाव को प्राप्त नहीं हुआ, जैसे पदार्थ अपने अपने भाव में स्थित हैं, वैसे ही परमेश्वर आत्मा अपने स्वभाव में स्थित है, परन्तु इसका भासना पुर्यष्टका में होता है, जैसे वायु बिना धूल नहीं उड़ती, जैसे अंधेरे में

प्रकाश के बिना कोई वस्तु नहीं भासती, ऐसे पुर्यष्टका बिना आत्मा नहीं भासता, पुर्यष्टका में प्रतिबिंब भासता है, जैसे सूर्य के उदय हुए सब जीवों का व्यवहार होता है और सूर्य के अस्त हुए लीन होता है और सूर्य दोनों में अलेप है, ऐसे आत्मा सबका प्रकाशक और निर्लेप है, शरीरों के व्यवहार होने में और इष्टता में ज्यों का त्यों है, न उपजता है, न विनाश होता है, न इच्छा करता है न त्यागता है, न मुक्त है, न बद्ध है, सर्वदा सर्वप्रकार आत्मा ज्यों का त्यों एकरूप है, उसके अज्ञान से जीव अनात्म भाव को पाता है, जैसे जेवरी (रस्सी) में सर्प भासता है और केवल दुःखों का कारण होता है, आत्मा आदि अन्त से रहित अज अविनाशी है, अपने आप से इतर कुछ नहीं हुआ, इसीलिये कामना से शून्य देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित है, इस कारण बद्ध नहीं यदि बद्ध नहीं तो वह मुक्त कैसे हो, सर्व कलना से रहित ऐसा आत्मा सबका अपना आप है, अविचार से मूढ़जन रोते हैं, इसलिये मैंने जो तुम्हें उपदेश किया है, इसको आदि से लेकर अन्तपर्यन्त भले प्रकार से विचार करके देख। इस युक्ति से शोक का त्याग कर, मूर्खों के समान शोक को प्राप्त होना तुम्हें शोभा नहीं देता, हे सुमते! बन्धमोक्ष की कल्पना का त्याग कर, न बन्ध की इच्छा कर न मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा कर, यंत्र की पुतलीवत् अभिमान से रहित चेष्टाकर, इसका नाम आत्ममौन है, हे रामजी! मोक्ष नाम का कोई पदार्थ आकाश में स्थित नहीं न कोई पाताल में स्थित है, न भूमिलोक में स्थित है, चित्त का निर्मल होना मोक्ष है, जो अनात्मा के साथ अपने आपको मिलाना, उसमें आत्माभिमान करना यह मैल है, इसका त्याग करना और शुद्ध आत्मा में चित्त को लगाना। इसका नाम मोक्ष है, जब चित्तवृत्ति में गुणजनित क्षोभ न हो और सम्यक् आत्मज्ञान हो, तत्वदर्शी उसको मोक्ष कहते हैं, हे रामजी! जब तक आत्मबोध नहीं होता, तब तक यह दीन दुःखी रहता है, जब आत्मा को निर्मल बोध होता है, तब दुःखों से मुक्त होता है, इसीलिये और उपायों को त्यागकर भक्ति के आश्रित होकर मोक्ष की इच्छा कर, जब अभ्यास

के नैरन्तर्य से इस बोध की प्राप्तिसम्यक् हो गयी तब चित्त में मोक्ष की भी इच्छा न रहेगी, हे रामजी! जीव के मोक्ष का और उपाय कोई नहीं, आत्मबोध को पाकर सुखी होगा, जब चित्त अचित्त होता है, तब सब जगद्भ्रम मिट जाता है और जगत् कुछ दूसरी वस्तु नहीं, अद्वैत आत्मतत्व है, जो वही है तो बन्ध किसको कहें और मोक्ष किसको कहें, बन्धमोक्ष की कल्पना तुच्छ है, इसको त्याग कर चक्रवर्ती होकर पृथ्वी का पालन कर। तुझको कर्तृत्व का कुछ स्पर्श न होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे आत्मविचारो
नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ।।७२।।

त्रिसप्ततितमः सर्गः ७३

निरास्पदमौनविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इसके साथ संकल्प से जगत् उपजा है, अज्ञान से अपने आपको शरीर जानता है, अपना संकल्प उत्पन्न करके अपना स्वरूप जानता है, जैसे कोई सुन्दर पुरुष हो, उसको देखे बिना कुरूप जाने, ऐसे आत्मा के साक्षात्कार बिना देह को आत्मरूप जानता है कि मैं देह हूँ, ज्यों ज्यों आत्मा का प्रमाद होता है त्यों त्यों देह में अधिक अभिमान होता है, जैसे ज्यों ज्यों मद्यपान करता है त्यों त्यों उन्मत्त होता है, हे रामजी! यह जो नाना प्रकार का दृश्य भासता है, अज्ञान से भासता है, जैसे सूर्य की किरणों से मरुस्थल में जल भासता है, ऐसे असम्यक् ज्ञान करके आत्मा में जगत् भासता है, एक कलना के फुरने से मन बुद्धि, चित्त अहंकार, इंद्रिय देह भासते हैं, एक फुरणे की इतनी संज्ञाएं हैं, जैसे एक जल की अनेक संज्ञाए होती हैं, ऐसे एक फुरणे की अनेक संज्ञाएं हुई हैं। जो चित्त है वह अहंकार है, जो अहंकार है वही मन है, जो मन है वही बुद्धि है, इनमें भेद कुछ नहीं, जैसे बर्फ और शुक्लता

और शीतलता में भेद कुछ नहीं, ऐसे मन बुद्धि आदिक में कुछ भेद नहीं, एक के नाश हुए दोनों का नाश हो जाता है, अतः मन में जो कुछ कलना है, उसको त्यागकर मोक्ष की इच्छा का भी त्याग करके बंधन वृत्ति को भी त्याग! हे रामजी! वैराग्य और विवेक के अभ्यास से मन को निर्मल करो, अब मन निर्मल हुआ तब मन का मनन भाव नष्ट हो जाएगा, जब यह स्फुरण होता है कि मैं मुक्त हो जाऊं तब मन भी जाग उठता है और मन के जगने से मनन भी हो आता है, मनन हुआ तब अपने साथ शरीर भी भास आता है और अनेक दुःख भी भास आते हैं, हे रामजी! आत्मतत्व सर्व से अतीत है और सर्व रूप भी वही है, तब कौन बद्ध है कौन मुक्त है, आत्मा सर्वक्रिया से अतीत है और क्रिया भी इस प्रकार होती है, जैसे वायु के हिलने से वृक्ष के पत्र फूल हिलते हैं ऐसे प्राणों के फुरने से हाथ पाव आदि इंद्रिय चेष्टा करते हैं, हे रामजी! जो चित्त शक्ति है वह सर्व व्यापी सूक्ष्म है और अचल है, न आप ही चलती है न और किसी की प्रेरी हुई चलती है, सदास्थितिरूप है, जैसे मेरु पर्वत न आप ही चलता है न वायु से चलाया चलता है ऐसे चित्तशक्ति अचल है, हे रामजी! जितने भी पदार्थ भासते हैं वे आत्मरूप दर्पण में प्रतिबिंबित भासते हैं, जैसे सब पदार्थों को दीपक प्रकाशित करता है, ऐसे सब पदार्थों को आत्मा प्रकाशित करती है और सब पदार्थों का एक आत्मा अनुस्यूत प्रकाशित होती है, अहं त्वं आदिक कलना से रहित होता है, जहां अहं त्वं आदि कलना नहीं फुरती, वहां सुख दुःख भी नहीं फुरता जैसे वृक्षों से और पहाडों से अहं त्वं शब्द नहीं फुरते, ऐसे आत्मा में नहीं फुरते, इसलिये ज्ञानवान् में कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं फुरते, हे रामजी! आत्मा निरहंकार और निराकार है, उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे हो? अज्ञान से आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व भासता है, जैसे मरुस्थल में जल भासता है, हे रामजी! अज्ञानरूप मदिरा पीकर मन रूप मृग मत्त हुआ है, इस कारण से सत् असत् का विचार नहीं कर सकता जैसे मृग तृष्णा की नदी असत् भी सत् भासती है, मृग उसको सत् जानकर पीने के लिये दौड़ता

है, ऐसे यह जीव अरूप संसार को सरूप जानकर दौड़ता है, जब आत्मसत्ता का सम्यक् बोध होता है, तब यह अविद्या नाश हो जाती है, जैसे ब्राह्मणों के मध्य में चाण्डाली आ बैठे और जब ब्राह्मण उसको पहिचान लें कि यह चांडाली है, तब छिप जाती है, ऐसे जब अविद्या को जाना कि यह अविद्या है, तब नष्ट हो जाती है, हे रामजी! जब अविद्या को ज्यों की त्यों जान लिया तब अविद्या रूप जगत् मन को खींच नहीं सकता, जैसे मृगतृष्णा की नदी को जब जान लिया, तब तृष्णा होने पर भी मन को वह भ्रमरूप जल नहीं खींच सकता, हे रामजी! जब परमार्थ सत्ता का बोध होता है तब मूल से वासना नष्ट हो जाती है, जैसे दीपक के उदय से अंधकार नष्ट हो जाता है, ऐसे आत्मज्ञान से अविद्या वासना सहित नष्ट हो जाती है, हे रामजी! अविद्या अविचार से सिद्ध है, जब सच्छास्त्रों की युक्ति से इसको विचार प्राप्त होता है तब अविद्या नाश हो जाती है, जैसे बर्फ का कण धूप से गल जाता है और जलमय हो जाता है, ऐसे ही विचार से अज्ञान का नाश हो जाता है, हे रामजी! देह जड़ है, आत्मा सदा चेतन रूप है, देह जड़ के निमित्त भोगों की इच्छा करना बड़ी मूर्खता है, जो ज्ञानवान् पुरुष हैं, वे इस बन्धन को तोड़ देते हैं, हे रामजी! आशारूप पाश को हृदय से काटो, जब आशारूप आवरण दूर हुआ, तब पूर्णिमा के चन्द्रमा समान शीतल अन्तःकरण हो जायेगा, यह पुरुष तीन तापों से मुक्त शीतल हो जाता है, जैसे पर्वत होकर आग लगे उस पर महती वर्षा हो, तब तप्तता से मुक्त हुआ शान्तिमान् होता है, हे रामजी! जैसे सिंह पिंजरे को तोड़कर निकलता है, ऐसे ज्ञानवान पुरुष भोगवासना के बन्धन को तोड़ डालता है, हे रामजी! आत्मा के साक्षात्कार हुए परमानन्द की प्राप्त होता है, जैसे रंक को त्रिलोकी का राज्य मिलने से आनन्द की प्राप्ति हो ऐसे ज्ञानवान् को आनन्द प्राप्त होता है, परम निर्मल लक्ष्मी से शोभा पाता है, जब इसके आकाशरूप हृदय से मैल निकल जाता है तब शरत्काल के निर्मल आकाश के समान शोभा पाता है, हे रामजी! ज्ञानवान् पुरुष अपने आप में नहीं समाता,

जैसे महाकल्प का समुद्र नहीं समाता और जैसे मेघ जल को त्यागकर मौन हो जाता है, ऐसे ज्ञानवान् आशा को त्यागकर आत्ममौन हो जाता है, जैसे अग्नि लकड़ी को जलाकर धूम से रहित हुआ आत्मपद में निर्वाण हो जाता है, जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है ऐसे चित्त निर्वाण हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है, जैसे अमृतपान करने से पुरुष आनन्दवान् होता है, ऐसे परमानन्द से पूर्ण अपने आप में प्रकाशित होता है, जैसे वायु से रहित स्थान में दीपक प्रकाशित होता है, जैसे शुद्ध मणि अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है, ऐसे ज्ञानवान् स्वयं प्रकाश है, मैं सर्वात्मा हूँ, सर्वगत हूँ, ईश्वर हूँ, सर्वाकार हूँ, निराकार हूँ, केवल चिदानन्द आत्मा हूँ, सदा अपने आप में स्थित हूँ, हे रामजी! ऐसे ज्ञानी अपने आपको जानता है और जो पूर्व दिन व्यतीत हुए हैं उन पर हंसता है, मैं तो अनन्त आत्मा हूँ, माया के भ्रम से अपने आपको कर्ता मानता था, हे रामजी! ऐसा जानकर राग द्वेष से रहित परम शान्ति को प्राप्त होता है उसके ताप सब निवृत्त हो जाते हैं और सदा आत्मा में प्रीति रहती है, चित्त सब ओर से पूर्ण हो जाता है और सबको करने हारा होता है, कामरूप चक्र से मुक्त होता है, जन्मों के बन्धन काट डालता है, रागद्वेषादि द्वन्दों और सर्व प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है, अविद्यारूप संसार समुद्र को पार कर जाता है, उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त होता है, अर्थात् परमपद को पा लेता है, पुनः संसार के जन्म मरण को नहीं प्राप्त होता और उसके कर्मों का अन्त हो जाता है, हे रामजी! ज्ञानवान् की क्रिया को देखकर और वांच्छा करते हैं या नहीं परन्तु औरों की क्रिया को देखकर ज्ञानवान् किसी की वांच्छा नहीं करता और सबको आनन्दवान् करता है, आप किसी से आनन्दवान् नहीं होता, न किसी को देता है, न किसी से लेता है, न किसी की निन्दा करता है न स्तुति करता है, न किसी उत्तम पदार्थ को पाकर प्रसन्न होता है, न अनिष्ट को पाकर दुःखी होता है। हर्ष शोक से रहित है, सर्वकर्म फलत्यागी है, सर्वोपाधि रहित है, कर्तृत्व भोक्तृत्व से अपने आपको न्यारा मानता है, ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त है, हे रामजी! जब तुम सर्वेच्छाओं को त्याकर मौनावलतम्बन कर लो जैसे मेघ निर्जल होकर

मौन हो जाता है, कामी पुरुष को कंठ से लगाई हुई कामिनी उतना आनन्द नहीं देती जितना आनन्द वासनाओं से मुक्त पुरुष को प्राप्त होता है, पुष्पों की भरी वाटिकाओं से वसन्त ऋतु की इतनी शोभा नहीं होती जितनी परम उदार बुद्धि आत्मज्ञान के भंडार उस महात्मा की शोभा होती है जो उक्त लक्षण सम्पन्न मौन धारण किये विराजमान हैं, हिमालय पर प्राप्त होकर भी इतना शीतल नहीं होता जैसा कि निर्वासन मनुष्य का मन शीतल होता है, मोतियों मालाओं के धारण करने और कदली वन में पहुँचने पर भी उस सुख का अनुभव नहीं होता जो सुख वासना से रहित मनुष्य को प्राप्त है, चन्द्रमा के स्पर्श से वह तप्तता नहीं मिट सकती क्योंकि चन्द्रमा तो बाहिर की तप्तता मिटाता है, अन्तः तृप्तता को नहीं मिटा सकता। निर्वासन पुरुष का अन्तःकरण परम शान्त और आनन्द स्रोत हो रहा है, हे रामजी! ऐसा सुख स्वर्ग में नहीं मिलता, जैसा सुख वासनाओं से रहित पुरुष को मिलता है, वासना से रहित पुरुष जिस सुख का अनुभव करता है, उस सुख के आगे त्रिलोकी के सुख तृण तुल्य हैं हे रामजी! आशारूप कंरजुए का वृक्ष है, उसके काटनेवाला उपशमरूप कुल्हाड़ा है, जो पुरुष निर्वासनिक हुआ है, उसको सब पृथ्वी गोपद के समान तुच्छ भासती है और मेरु पर्वत एक टूटे वृक्ष के समान भासता है और दिशा छोटी से अति छोटी प्रतीत होती है, क्योंकि वह उत्तम पद को प्राप्त हुआ है, त्रिलोकी की विभूति को तृण के समान तुच्छ देखता है, जो पुरुष निर्वासनिक हुआ है, वह जगत् को देखकर हँसता है, उसे कदाचित् जगत् के पदार्थों की कल्पना नहीं फुरती, जगत् को तृणवत् जानकर त्याग दिया है और सदा आत्मतत्व में स्थित है, उसको किसकी उपमा दें? उस पुरुष की उदय अस्त अहं त्वं आदिक कलनाएं नष्ट हो चुकी हैं, केवल आत्मभाव को प्राप्त हुआ है, उस ईश्वर आत्मा को कौन तोल माप सके। यदि दूसरा उसके सामने हो तो तोले मापे। हे रामजी! वह पुरुष सब संकटों के अन्त को प्राप्त हुआ है। हे रामजी! यह जगत् मिथ्या भ्रमरूप है, जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा

भ्रम से भासता है, जैसे भ्रम से मरुस्थल में नदी भासती है, जैसे मद्यपान से नगर घूमता दृष्टि आता है, ऐसे यह मिथ्या जगत् भ्रम से भासता है, उसकी आशा मत करो, आप बुद्धिमान् हो, पंडित हो, अज्ञानियों के समान मोह को क्यों प्राप्त होते हो, यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह अज्ञान से भासता है, इस कलना को चित्त से दूर कर, यह वास्तव कुछ नहीं, सब जगत् आत्मरूप है, नानात्व कुछ है नहीं, जो सम्यक् दर्शी पुरुष है, वह जगत् को एकरूप जानकर धैर्यवान् रहता है, खेद को कदाचित् नहीं प्राप्त होता है, हे रामजी! जो पुरुष वासना रहित हुआ है और आत्मविचार से आत्मपद को प्राप्त हुआ है उसको देखकर मोहनी माया भी भाग जाती है, निकट नहीं आती, जैसे सिंह के निकट मृग नहीं आता, ऐसे ज्ञानवान् के पास माया नहीं आती। सुन्दर स्त्रियाँ, मणि कांचन आदि धन और पत्थर काष्ठ यह सब कुछ यह ज्ञानवान् को तुल्य भासता है, भोगों से उसे सुख नहीं प्रतीत होता और कष्ट से कष्ट नहीं होता, ज्यों का त्यों रहता है, जैसे पर्वत वायु से विचलित नहीं होता, ऐसे वह पुरुष सुख दुःख से विचलित नहीं होता, सुन्दर बाल स्त्री आदि उसके चित्त को खींच नहीं सकते और काम देव के चलाये हुए बाण उस पर टूक टूक हो जाते हैं, रागद्वेष उसको हिला नहीं सकते, वह अपने आपको सदा निराकार, अद्वैत, निष्क्रिय, निर्गुण जानता है और सुन्दर भवन तालाब, पुष्प वाटिकाएं लता कुंज, तथा अन्य विषय भोगों के समान और दुःखदायी व्यवहार आदि उसके लिये सब तुल्य हैं, रागद्वेष को उत्पन्न नहीं कर सकते, जैसे पर्वत पर ऋतु अनुसार मीठे और कटु फल होते हैं, उसको किसी से रागद्वेष नहीं होता, अकस्मात् जो भोग आकर प्राप्त हो, भोगता है, परन्तु हर्ष शोकवान् नहीं होता, हे रामजी! यथार्थ दर्शी इष्ट अनिष्ट में विचलित नहीं होता, जैसे वसन्त के आने जाने में पर्वत सुख दुःख को प्राप्त नहीं होता, कर्म इन्द्रियों से कर्म करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता, परन्तु अन्दर देह में चित्त आसक्त है, वह मग्न हो डूबता है, जैसे शुद्धमणि कीचड़ में दृष्टि आती है तो भी उसको कलंक

कुछ नहीं और जो बीच से खोटी है वह बाहिर से उज्ज्वल भी भासती है तो भी सकलंक है, ऐसे जो चित्त से आसक्त है, वह आसक्त है, जो चित्त भाव से आसक्त नहीं वह आसक्त नहीं, हे रामजी! आत्मसत्ता सदा प्रकाशरूप है और नित्य शुद्ध परम आनन्द स्वरूप है, जिस पुरुष को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है, उसको विस्मरण नहीं होता, हे रामजी! जिसका शरीर से अहं भाव उठ गया है, इन्द्रियों से कर्म करता है, तो करता भी नहीं करता और जो देह में अहं भाव है तो न करता हुआ भी करता है, जैसे किसी बांधव चिरकाल से मिला पुनः विस्मरण नहीं होता, ऐसे अपना स्वरूप जिसने जाना है, उसको विस्मरण नहीं होता, हे रामजी! जिनको शुद्ध स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है, उनको भ्रान्तिरूप जगत् नहीं भासता जैसे जेवरी में सर्प भासता है जब भ्रम निवृत्त हुआ तब ज्यों की त्यों जेवरी भासती है, सर्प नहीं भासता है, जैसे मरुस्थल में जल बुद्धि निवृत्त हुई, पुनः जल बुद्धि नहीं होती, ऐसे आत्मा के जानने से देह भाव नहीं होता, जैसे पहाड़ से नदी उतरती है वह फिर पहाड़ पर नहीं चढ़ती, जैसे स्वर्ण का खोट अग्नि से जला हुआ फिर खोट नहीं होता, कीचड़ में डारिये तो भी खोटा नहीं होता, ऐसे जब हृदय की चिद्ग्रन्थि टूटी तब गुणों के व्यवहार में भी गांठ नहीं पड़ती, अर्थात् बद्ध नहीं होता, जैसे वृक्ष से टूटा फल नहीं लगता ऐसे जिसका देहाभिमान टूटा है, वह फिर नहीं होता और स्वरूप में ही अभिमान होता है, जैसे लोह के हथोड़े से परका चूर्ण किया, तब पुनः नहीं फुरता, जिस पुरुष ने अविद्या को जाना है, वह फिर उसकी संगति नहीं करता, जैसे जिस ब्राह्मण ने चांडालों की सभा जान ली हो वह फिर उनकी संगति नहीं करता, ऐसे जब आत्म विचार से मन को चूर्ण किया तब फिर नहीं फुरता, जैसे जिस पुरुष ने अविद्यारूप जगत् को जाना है, वह फिर जगत् के पदार्थों में आसक्त नहीं होता, हे रामजी! विष यदि मधुर जल के साथ मिला हो उसको जब ज़ब तक जाना नहीं, तब तक पीता है, जब जान लेता है तो फिर नहीं पीता, ऐसे ही संसार को जब तक ज्यों का त्यों

नहीं जाना, तब तक इसके पदार्थों की इच्छा करता है, जब जाना कि माया मात्र है, तब इसकी इच्छा नहीं करता, हे रामजी! सुन्दर स्त्रियाँ जो नाना प्रकार के वस्त्रों भूषणों सहित दृष्टि आती हैं, इनको जानता है कि यह असत् मांस रुधिर आदि की पुतलियाँ बनी हैं और कुछ नहीं, ऐसा जानकर जो उनकी इच्छा का त्याग करता है वह निवृत्त हो जाता है, जैसे मूर्ति पर रंग नील पीत श्याम लिखे होते हैं, ऐसे उनके वस्त्र और केश हैं, हे रामजी! जिस पुरुष को आत्मा का साक्षात्कार होता है, उसको अवस्तु में वस्तु बुद्धि नहीं होती, अवस्तु में वस्तु बुद्धि तब होती है, जब वस्तु का विस्मरण होता है, वह तो ज्ञानवान् को सदा स्वरूप का स्मरण है, उसको अवस्तु में वस्तु बुद्धि कैसे हो, जिसको आत्म बुद्धि हुई है, उसको विस्मरण नहीं होता, जैसे जिस पुरुष ने किसी के पास गुड़ रक्खा हो और वह खा जाय तो उसको दंड आदि हो सकेगा परन्तु उसके रस को दूर नहीं किया जा सकता, ऐसे जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है उसको दूर करने का सामर्थ्य किसी में नहीं, हे रामजी! जैसे परव्यसनी नारी होती है, किसी पुरुष के साथ उसका चित्त लग जाता है तब वह घर का काम भी करती है, परन्तु चित्त उसका सदा उसमें लगा रहता है, ऐसे ज्ञानवान् क्रिया करता है, परन्तु उसका चित्त सदा आत्मपद में रहता है, जैसे परव्यसनी नारी को अपना भर्ता दंड भी करता है, तों भी स्पर्श का सुख उसके हृदय से दूर नहीं हो सकता, ऐसे ही जिसको आत्मानुभव हुआ, उसको कोई दूर नहीं कर सकता, देवता दैत्य दूर नहीं कर सकते, तो और की बात ही क्या है, ज्ञानवान् पुरुष के आत्मानुभव के बड़े बड़े सुख व दुःख भी विचलित नहीं कर सकते, वह करता हुआ भी अकर्ता हुआ है, जैसे परव्यसनी नारी पर पुरुष के संयोग से दुःख पाती है, परन्तु इसको स्पर्श के सुख का अनुभव हुआ है, उसने संकल्प से अपने अनुभव को अखण्ड कर लिया है, अर्थात् उसको दुःख नहीं भासता, ऐसे जिसको आत्मसुख प्राप्त हुआ है, उसको अन्य दुःख सुख कुछ नहीं भासता, हे रामजी! सम्यग् ज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट हुई है, वह दुःखों को नहीं देखता, उसके अंग काटे जाने पर भी उसको दुःख नहीं

होता, शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। उसके सुख दुःख नष्ट हो गये हैं, उसका सदा आत्मपद में निश्चय रहता है संकटवान् भी दृष्टि आता है परन्तु उसको कोई संकट नहीं वन में रहे अथवा घर में रहे, व्यवहार करे अथवा समाधि करे, वह सदा ज्यों का त्यों रहता है, उसको खेद कष्ट किसी प्रकार नहीं होता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे निरास्पद मौन विचारो नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ।।७३।।

चतुःसप्ततितमः सर्गः ७४

मुक्तामुक्तविचार वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! राजा जनक राज्य व्यवहार करता रहा, परन्तु आत्मपद में स्थित था, इससे उसको दोष न लगा, सदा विगत ज्वर ही रहा और तेरा प्रपितामह जो राजा दिलीप था वह भी सब आरंभों को करता रहा, परन्तु अन्तर रागद्वेष को न प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्त होकर चिरपर्यन्त पृथ्वी का राज्य करता रहा और राजा अपने नाना प्रकार के व्यवहार युद्ध तथा अन्य राज्य सम्बन्धी महान् कार्य किये, परन्तु सदा जीवन्मुक्त स्वभाव में स्थित रहा, राजा मान्धाता ने अनेकों बार युद्ध किये, परन्तु उनकी परमपद में स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही, कभी मोहवश नहीं हुए, राजा बलि पताल में स्थित हुआ। महात्याग के साथ राज्य व्यवहार करते रहे, स्वरूप ज्ञान के प्रभाव से वे जीवन्मुक्त होकर विचरे और नभश्वर दैत्यों का राजा विविध युद्ध कार्यों में रहा, देवताओं के साथ उसका सदा विरोध रहा परन्तु ज्ञान के बल से हृदय में द्वैत का स्पर्शमात्र भी न था तो फिर वहां क्षोभ कैसे हो सके? इन्द्र के युद्ध में वृत्रासुर मरा परन्तु सदा शीतल कदाचित् क्षोभ को प्राप्त न हुआ, दैत्यों के राजा प्रह्लाद ने पाताल में राज्य किया, परन्तु उसके हृदय में कभी क्षोभ उत्पन्न न हुआ, हे रामजी! शम्बर नामक दैत्य ने

अपनी सृष्टि रचना की, उसमें वह बद्ध नहीं हुआ, सदा शाम्बरी माया फैलाता रहा परन्तु बद्ध न हुआ, माया के साथ मायावीरूप होकर स्थित रहा, हे रामजी! यह संसार शाम्बरी माया रूप है उसका शाम्बरी भाव त्याग करके स्वरूप स्थित रहे, देखो—विष्णुभगवान् सदा दैत्यों को मारते रहते हैं, युद्ध करते रहने पर भी युद्ध में अलिप्त हैं और इसलिये सुखी हैं जीवन्मुक्त हैं, मूसल नामक दैत्य ने भगवान् विष्णु से युद्ध करके शरीर छोड़ा, परन्तु उसका अन्दर से देह के साथ सम्बन्ध न था, उसका रण से जीवन्मुक्त हुआ, पुनः शरीर ग्रहण न करना पड़ा, हे रामजी! सब देवताओं का मुख अग्नि है, यह यज्ञ लक्ष्मी को चिरपर्यन्त भोगता है परन्तु ज्ञानवान् है, इससे क्षोभवान् नहीं होता, सदा शीतल रहता है और देवता सदा चन्द्रमा की किरणों से अमृत पान करते हैं, परन्तु चन्द्रमा को कुछ क्षोभ नहीं होता, देव गुरु बृहस्पति भी देवताओं के निमित्त नाना प्रकार के कर्म करता है, परन्तु रागद्वेष को नहीं प्राप्त होता, तभी तो जीवन्मुक्त है, हे रामजी! दैत्यों के गुरु शुक्रजी दैत्यों के लिये सदा यत्न करता रहता है और लोभी की नाई अर्थ चिन्तन करता रहता है, परन्तु जीवन्मुक्त है, अन्तःकरण से सदा शान्त रहता है कदाचित् खेद को नहीं प्राप्त होता, पवन प्राणियों के अंगों को घुमाता रहता है, चेष्टा करता है, खेदको प्राप्त नहीं होता, अतः जीवन्मुक्त है, ब्रह्मा सदा लोकों को उत्पन्न करता है और प्रलय पर्यन्त इसकी क्रिया में रहता है, परन्तु स्वरूप का साक्षात्कार है इसलिये जीवन्मुक्त है। विष्णु भगवान् युद्धादिक द्वन्दों में रहते हैं, जरा मृत्यु आदि भाव को प्राप्त होते है, परन्तु सदा मुक्तस्वरूप है और सदा शिव नेत्र है, अर्धांगधारी रहा है परन्तु हृदय में संसक्त नहीं, इससे जीवन्मुक्त है और गौरी मोतियों की माला कंठ में पहिरती है और त्रिनेत्र को सदा मालावत् कंठ के साथ रखती है परन्तु अन्दर से शीतल रहती हैं, इसलिये जीवन्मुक्त है, स्वामिकार्तिक दैत्यों के साथ युद्ध करते रहे परन्तु ज्ञानरूप रत्नों के समुद्र थे, अन्दर से शीतल रहा, सदाशिव का भृंगीगण अपना रक्त मांस सदा माता को देता था

परन्तु धैर्य में रहा, खेद को प्राप्त न हुआ, नाना प्रकार की क्रिया करता रहा परन्तु जीवन्मुक्त है, इसीलिये सदा सुखी है, नारदमुनि सदा मुक्त स्वभाव है, जगत् के क्रिया जाल में उलझा रहता है, परन्तु क्षोभ को प्राप्त नहीं हुआ, अतः जीवन्मुक्त है और जीवन्मुक्त मुनि विश्वामित्र वेदोक्त कर्म परायण जीवन्मुक्त हैं, सूर्य भगवान् दिन का निर्माण अर्थात् प्रकाश करते हैं, भ्रमण करते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त हैं और यमराज सदा जीवों को दण्ड देता है जो कि क्षोभ का काम है परन्तु यम जीवन्मुक्त है, व्यवहार में शीतल है, कई मूढ़शिलावत् हो रहे हैं, कई परम बोधवान् वन में जाकर स्थित हुए हैं, जैसे भृगु–भारद्वाज, विश्वामित्र जनक मांधाता आदि महापुरुष चिरकाल पर्यन्त राज्य संचालन करते रहे हैं। कई आकाश में बड़े कान्तिधारी बनकर बृहस्पति, चन्द्रमा, शुक्र, सप्तर्षि आदि स्थित हुए हैं कई स्वर्ग में अग्निवायु कुवेरादि रूप में स्थित हुए हैं, कई जीवन्मुक्त पातालादि स्थानों में प्रह्लादादि के रूप में स्थित हुए हैं, कई देवतारूप धारण कर आकाश में स्थित हैं, कई मनुष्य रूप धारण कर मनुष्यलोक में स्थित हैं, कई तिर्यग् योनियों में स्थित हैं, उनको सर्वथा सर्व प्रकार सर्व में सर्वात्मारूप भासता है, इतर कुछ नहीं। नाना प्रकार का व्यवहार है, वह भी अद्वैत से किया है, हे रामजी! दिव्य विष्णु, कर्ता, धाता, जीव, सर्व ईश्वर और शिव आदिक सब आत्मा के नाम हैं और वस्तुरूप में जो अवस्तु है और अवस्तु में जो वस्तु है, वह अवस्तु से वस्तु तब निकलती है जब युक्ति होती है और वस्तु से अवस्तु भी युक्ति से दूर होती है, जैसे अवस्तुरूप रेत है उससे स्वर्ण युक्ति से निकलता है और वस्तुरूप सोने से मैल युक्ति से दूर होता है। ऐसे अवस्तुरूप देहादिकों में वस्तुरूप आत्मा शास्त्र की युक्ति से प्राप्त होता है और वस्तुरूप आत्मा से दृश्यरूप अवस्तु भी शास्त्रों की युक्ति से दूर होता है, हे रामजी! जो पाप के भय से भय करता है, वह जब धर्म में प्रविष्ट होता है, तब निर्भय होता है, ऐसे दुःखों के भय से जीव आत्मपद की ओर प्रवृत्त होता है, तब भावना के वश से असत् से सत् को पाता है,

ध्यान और योग भी शून्य हैं, परन्तु यत्न के बल से उससे सत् को पाता है, ध्यान और योग भ शून्य हैं, परन्तु यत्न के बल से उससे सत् को पाता है और जो असत् है, वह उदय होकर सत् भासा है, जैसे बाजीगर की बाजी से शशे के सिंग भास आते हैं, ऐसे आत्मा में असत्‌रूप जो जगत् वह अज्ञान से दृढ़ हो भासता है, परन्तु कल्प के अन्त में यह भी नष्ट हो जाता है, हे रामजी! यह जो सूर्य चन्द्रमा, इन्द्रादिक हैं, इनके नाम भिन्न रहेंगे और बड़े सुमेरु आदि पर्वत और समुद्रादिक सब नाश हो जायेंगे, जितने भाव पदार्थ तुझको भासते हैं उत्तम मध्य कनिष्ठ, वह सब नाश हो जायेंगे। सब माया मात्र है कोई नहीं रहेगा, इस प्रकार विचार करके इनके भाव अभाव में हर्ष शोक मत कर और समता भाव को प्राप्त हो हे रामजी! जो असत् है वह सत् की नाईं भासता है और जो सत् है वह असत् की नाईं भासता है, इसलिये यथार्थ विचार करके सत्‌रूप आत्मपद में स्थित हो और असत्‌रूप जगत् की आस्था का त्याग कर समताभाव को ग्रहण करो, इस लोक में जो अविवेक मार्ग में विचरता है वह मुक्त नहीं होता। इस प्रकार कोटि जीव संसार समुद्र में डूबते हैं और जो विवेक में प्रविष्ट हुआ है, वह मुक्त होता है, हें रामजी! जिसका मन क्षय हुआ है, उसको मुक्तरूप जानो और जिसका मन क्षय नहीं हुआ है वह बन्धन में है, इसलिये जिसको सर्व दुःखों से मुक्ति की इच्छा है, वह आत्मविचार करे उसके सब दुःख नाश हो जायेंगे, हे रामजी! दुःखों का मूल चित्त है, जब तक चित्त है तब तक दुःख है, जब चित्त नष्ट हो जाता है तब सब दुःख मिट जाते हैं, हे रामजी! जब आत्मज्ञान होता है, तब चित्त का अभाव हो जाता है और सब दुःख मिट जाते हैं और राग इच्छा भय आदि दोष भाग जाते हैं, केवल शान्तरूप होता है जनकादिक जो जीवन्मुक्त हुए हैं, वे महा बोधवान् पुरुष नीराग और निःसंदेह होकर व्यवहार भी करते रहे हैं, परन्तु सदा शान्त शीतल चित्त रहते थे। इसलिये तुम भी विवेक से चित्त से लीन करो और जीवन्मुक्त होकर विचरो, हे रामजी! मुक्ति भी दो प्रकार की हैं, एक जीवन्मुक्ति है, एक

विदेहमुक्ति है, जो पुरुष सब पदार्थों में असंसक्त है और मन शान्त भाव को प्राप्त हुआ है वह मुक्त कहाता है और जिस पुरुष का सर्व पदार्थ संबन्धी स्नेह ज्ञान से नष्ट हुआ है और व्यवहार करता दृष्टि आता है तो भी शीतल चित्त है, वह जीवन्मुक्त कहाता है, जो पुरुष सर्व भाव अभाव पदार्थों को त्यागकर केवल अद्वैत तत्व को प्राप्त हुआ है और शरीरादि क्रिया कोई दृष्टि नहीं आती, वह विदेह मुक्त कहाता है और जो तीसरा है, जिसका स्नेह पदार्थों से दूर हुआ नहीं, वह बद्ध कहा जाता है, मुक्ति के अर्थ भी यत्न करता है तब युक्ति पूर्वक यत्न करता है, तब दुस्तर भी सुगम हो जाता है और जो युक्ति से रहित यत्न करता है, उसके लिये गोपद भी समुद्र हो जाता है, हे रामजी! जिन्होंने आत्मविचार किया है, उनको विस्तृत जगत् समुद्र गोपद हो जाता है और अज्ञानी को गोपद भी दुस्तर हो जाता है, कोई इष्ट अनिष्ट अल्प भी आकर प्राप्त होता है, उसमें डूब जाता है, निकल नहीं सकता। उसको गोपद भी समुद्र है और ज्ञानी को महा विभूति एश्वर्य भी प्राप्त हो अथवा उसके विपरीत हो, अर्थात् हानि हो तो भी उसमें रागद्वेष करके नहीं डूबता, हे रामजी! जिसको कुछ प्राप्त होता है अपने प्रयस्न के बल से होता है, जो कोई बड़ा बना है वह प्रयत्नरूप वृक्ष के फल से हुआ है, आत्मपद की प्राप्ति भी इसी प्रयत्न वृक्ष का फल है, इसलिये और उपाय त्यागकर आत्मपद की प्राप्ति का यत्न करो

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे मुक्तामुक्त विचारो
नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ।।७४।।

पंच सप्ततितमःसर्गः ७५

संसारसागरयोगोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जितना जगत् जगज्जाल है सब आत्मब्रह्म का आभास रूप है, अज्ञान से स्थिर प्रतीत हो रहा है, विवेक

से शान्त हो जाता है, ब्रह्मरूप समुद्र में जगत्रूप आवर्त फुरते हैं, उनकी संख्या कोई नहीं कर सकता, आत्मरूप सूर्य के जगत्रूप त्रसरेणु हैं, हे रामजी! असम्यक् दर्शन जगत् की स्थिति का कारण है और सम्यग् दर्शन से शान्त हो जाता है, जैसे मरुस्थल में असम्यक् दर्शन से जल भासता है, सम्यग् दृष्टि से अभाव हो जाता है, हे रामजी! संसाररूप समुद्र अपार और घोररूप है, शास्त्र युक्त और अभ्यास के बिना इसका तरना कठिन है, मोह रूप जल से पूर्ण है और मृत्यु का आवर्त है, पुण्यरूप जल है और बड़वाग्नि इसके अंगों में नरक समान है और तृष्णारूप धूमन घेर है, इंद्रिय तथा मन उसमें मछंलियाँ हैं, क्रोधरूप सर्प है, जीवरूप नदियाँ हैं, वे प्रवेश करती हैं, जन्म मरणरूप वृत्त चक्र हैं, इनको जो तर जाता है, वह पुरुष है और स्त्रियाँ जो सुन्दर लगती हैं बल शालिनियाँ हैं, क्योंकि नेत्र जिनके कमल समान पहाड़ों को भी खेंचने में समर्थ हैं, मोतियों के समान उनके दांत हैं, अत्यन्त कोमल अधर पल्लव है, इत्यादि सुन्दर अंग महा दुःख देनेवाले हैं, बड़वाग्नि के समान हैं, जो इनको तर जाता है, वही पुरुष है, हे रामजी! जो मनुष्य जहाज और मल्लाह के होते भी इस विघ्नसागर को नहीं तर सकते उनको धिक्कार है, जहाज और मल्लाह के कौन हैं? सुनो! मनुष्य शरीर में कुछ विचार सहित बुद्धि है, वह जहाज है और ज्ञानवान् मल्लाह है, इनको पाकर जो संसार समुद्र को नहीं तरते उन्हें धिक्कार है,ऐसे संसार समुद्रको ग्रहण कर जो मर गया है वही पुरुष है, हे रामजी! जिस पुरुष ने बुद्धि को आत्मविचार में लगाया है, वह तर जाता है, अन्यथा नहीं तर सकता, जिसको आत्माभ्यास दृढ हुआ है, वह तरने को समर्थ होता है, हे रामजी! प्रथम आर्जव हो, तदनन्तर ज्ञानवान् पुरुषों के साथ विचार किया जाये विचारवती बुद्धि से संसार समुद्र को देखो, जब तुमने इसको ज्यों का त्यों जाना, तब तुम विलास क्रीड़ा करने योग्य हो जाओगे हे रामजी! तुम तो भगवान् हो अतः ज्ञान सहित विचार से संसार समुद्र को तर जाओ। तुम युवा हो, तुम्हारे पीछे तुम्हारे स्वभाव को विचार

कर अन्य जन भी संसार समुद्र को तर जावेंगे जो पुरुष इस शुभ मार्ग को त्यागकर विषय मार्ग का अवलम्बन करते हैं, समझ लो कि वे संसार समुद्र में डूबे हैं, हे रामजी! यह जो विषय भोग हैं, विषरूप हैं, जो इनको सेवन करेगा उसका नाश होगा, परन्तु जिसको ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसको यह ऐसे दुःख नहीं दे सकते जैसे गरुड़ मंत्र जाननेवालों को सर्प दुःख नहीं दे सकते जिसका परिणाम शुद्ध हुआ है, वह विभूति मान है, बल वीर्य तेज यह तीनों तत्वों के साक्षात्कार से चढ़ आते हैं, जैसे वसन्तऋतु के आने पर रस फल फूल सब सुन्दर हो आते हैं, हे रामजी! यदि ज्ञान की धर्मलक्ष्मी प्राप्त हुई तो वह अमृततुल्य है, शीतल शुद्ध समप्रकाश रूप है, लक्ष्मी को पाकर विदितवेद्य स्थित हो रहते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे संसारयोगोपदेशवर्णनम्
नाम पंञ्चसप्ततिमः सर्गः ।।७५।।

षट्सप्ततितमः सर्गः ७६

जीवन्मुक्तवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे मुनीश्वर! संक्षेप में तत्ववेत्ता के लक्षण फिर से कहो, जिनको तत्व का चमत्कार हुआ है, उनकी उदार वाणी से वृत्ति कहो, ऐसे कौन हैं जो तुम्हारे वचन सुन कर तृप्त हों? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जीवन्मुक्त के लक्षण मैंने तुमको आगे बहुत कहे हैं, फिर सुनो! हे महाबाहो! संसार को ज्ञानवान् सुषुप्ति की नाईं जानता है और सब ईषणाएं उसकी नष्ट हो गयी हैं, वह सब जगत् को आत्मरूप देखता है केवल भाव को प्राप्त होता है और संसार सुषुप्तिरूप हो जाता है, आत्मानन्द में मग्न रहता है। देता है, परन्तु अपनी जानकारी में किसी

को नहीं देता और लोक दृष्टि से प्रत्यक्ष हाथों हाथ ग्रहण करता है, परन्तु अपनी दृष्टि से कुछ नहीं लेता, ऐसा जो आत्मदर्शी उदारात्मा ज्ञानवान् है वह यंत्र की पुतलीवत् चेष्टा करता है, जैसे यंत्र की पुतली अभिमान से रहित चेष्टा करती है, ऐसे ज्ञानवान् अभिमान से रहित चेष्टा करता है, देखता है, हँसता है, लेता है, देता है, परन्तु अन्दर से सदा शीतल बुद्धि रहता है, भविष्य का कुछ विचार नहीं करता और भूत का चिन्तन नहीं करता तथा वर्तमान में स्थिति नहीं करता, सर्वकार्यों में अकर्ता है, संसार की ओर से सो रहा है, आत्मा की ओर से जाग्रत है अन्दर से सबका त्याग किया है, बाह्यरूप में सब काम करता है, अन्दर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं बाहिर जैसे प्रकृत आचार आकार प्राप्त होता है, अभिमान से रहित ऐसे करता है, द्वेष किसी से नहीं करता, सुख दुःख में पवन की नाईं होता है, भ्रम को त्यागकर सब कार्य कर्मों को करता है, उदासी की नाईं न किसी की वांछा है, न किसी में खेदवान् है, बाहिर से सब कुछ करता दृष्टि आता है, परन्तु अन्दर से सदा असंग है, हे रामजी! भोक्ता में भोक्ता है, अभोक्ता में अभोक्ता है, मूर्खों में मूर्खवत् स्थित है, बालक में बालकवत् स्थित है, वृद्ध में वृद्धवत्, धैर्यवान् में धैर्यवान्वत् स्थित है, सुख में सुखी दुःख में धैर्यवान् है और सदा पुण्यकर्ता बुद्धिमान् है, सदा प्रसन्न मधुरवाणी संयुक्त है और अन्दर से सदा तृप्त है, उसकी दीनता निवृत्त हुई है, सर्वथा कोमल स्वभाव है, चन्द्रमा की नाईं शीतल है, पूर्ण शुभ कर्म करने में कुछ अर्थ नहीं, अशुभ में कुछ पाप नहीं, ग्रहण में ग्रहण नहीं त्याग में न त्याग है, न बद्ध है न मुक्त है, न आकाश में कार्य है न पाताल में कार्य है, यथा वस्तु यथा दृष्ट आत्मा को देखता है, द्वैत भाव उसको कुछ नहीं फुरता और बन्ध की मुक्ति के लिये कुछ कर्तव्य नहीं, सर्व संदेह सम्यग् ज्ञान से उसके जल गये हैं, जैसे पेटी से मुक्त हुआ पक्षी आकाश में उड़ता है, ऐसे शंका से रहित चित्त उनका आत्मा आकाश को प्राप्त हुआ है, हे रामजी! जिसका मन संसार भ्रम से मुक्त हुआ है और समरस आत्मभाव में स्थित हुआ है,

इसको इष्ट अनिष्ट में कुछ रागद्वेष नहीं होता, आकाश की नाईं सब में सम रहता है, जैसे—झूलने में बालक अभिमान से रहित अंगों को हिलाता है, ऐसे ज्ञानी की चेष्टा अभिमान से रहित होती है, जैसे मद्यपान करनेवाला उन्मत्त हो जाता है, ऐसे आत्मानन्द में ज्ञानी मग्न हो जाता है, द्वैत की संभाल उसको कुछ नहीं। हेयोपादेय बुद्धि से रहित होता है, हे रामजी! सबको सब प्रकार ग्रहण करता है और त्याग भी करता है, परन्तु अन्दर से ग्रहण त्याग कुछ नहीं करता, जैसे बालकों को ग्रहण त्याग की बुद्धि नहीं होती, ऐसे ज्ञानी को नहीं होती, उसको सर्वकार्यों में रागद्वेष नहीं फुरता, जगत् के पदार्थों को न सत् जानकर ग्रहण करता है न असत् जानकर त्याग करता है, सब में एक अनुस्यूत आत्मतत्व देखता है, न इष्ट में सुख बुद्धि करता है न अनिष्ट में दोष बुद्धि करता है, हे रामजी! यदि सूर्य शीतल हो जाय और चन्द्रमा उष्ण हो जाय, अग्नि अधः को दौड़े तो भी ज्ञानी को कुछ आश्चर्य नहीं भासता है, सब चिदात्मा की शक्ति फुरती है, न किसी पर दया न अदया करता है, न लज्जा करता है न अलज्जा करता है, न दीन होता है न उदार होता है, न सुखी होता है न दुःखी होता है, न हर्ष है न उद्वेग है, सर्व विकारों से रहित शुद्ध अपने आप में स्थित है, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, ऐसे निर्मल भाव में स्थित है, जैसे आकाश में अंकुर नहीं उदय होता, ऐसे उसको राग द्वेष नहीं उदय होते, हे रामजी! ऐसा पुरुष सुख दुःख को कैसे ग्रहण करे, उसको जगज्जाल ऐसा भासता है, जैसे जल में तरंग होता है, ऐसा जानकर तू भी अपने स्वभाव में स्थित हो, हे रामजी! स्वप्न में एक निमेष से स्वप्नदृष्टि फुर आती है और क्षण में नष्ट हो जाती है, ऐसे जाग्रत में सृष्टि उपज आती है और लीन हो जाती है, जितनी इच्छा अनिच्छा दुःख सुख शोक और मोह आदि विकार हैं सब मन में फुरते हैं, जहां मन होता है वहाँ विकार भी होता है, जैसे जहां समुद्र होता है वहां तरंग भी होता है, ऐसे जहाँ मन होता है वहां विकार भी होता है, जहां चित्त का अभाव है, वहां विकारों का भी अभाव है,

जब तक चित्त फुरता है, तब तक जगद्भ्रम होता है, जब विचार रूप सूर्य के तेज से मनरूप बर्फ का पुतला गल गया, तब आनन्द हुआ, तब सुख दुःख की दशा शान्त हो जाती है, जब सुख दुःख का अभाव हुआ तब ग्रहण त्याग मिट जाता है, इष्ट अनिष्ट बांछित नष्ट हो जाते हैं, जब यह नष्ट हो जाते हैं, तब शुभ अशुभ भी नहीं रहता, जब शुभ न रहे तब रमणीय अरमणीय भी नष्ट हो जाता है और भोगों की इच्छा भी नष्ट हो जाती है, जब भोगों की इच्छा नष्ट हो जाती है, तब मन भी निराश पद में लीन हो जाता है, हे रामजी! जब मूल सहित मन नष्ट हुआ, तब मन में संसार के संकल्प वे कहां रहे? जैसे तिलों के जल जाने से तेल नहीं रहता, ऐसे मन में संकल्प विकल्प नहीं रहते, तब केवल शान्त आत्मा शेष रहता है, जैसे मंदराचल के क्षोभ के मिट जाने पर क्षीर सागर शान्तिमान् होता है, ऐसे चित्त शान्त होता है, हे रामजी! इसलिये भाव में अभाव की भावना दृढ़ करो और स्वरूप का अभ्यास करो, जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, ऐसे कलना को त्यागकर महात्मा पुरुष निर्मल हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्त वर्णनं नाम षट्सप्ततितमः संर्गः ।।७६।।

सप्तसप्ततितमः सर्गः ७७

जीवन्मुक्तज्ञानबन्धवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जैसे जल में द्रवता से चक्र आवर्त होते हैं, वह असत् ही सत् होकर भासते हैं, ऐसे चित्त के फुरने से असत् जगत् सत् भासता है, जैसे नेत्रों के रोग से आकाश में तरवरे मोर के पुच्छवत् तथा मुक्ता माला हो भासते हैं, वे असत् ही सत् भासते हैं, जैसे चित्त के फुरने से जगत् भासता है, जैसे बादलों के चलने से चन्द्रमा दौड़ता दृष्टि आता है ऐसे चित्त के फुरने से जगत् भासता है, रामजी बोले–हे

भगवन्! जिससे चित्त फुरता है और जिससे फुरने से रहित होता है, वह प्रकार कहो जिससे उपाय करूँ, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जैसे बर्फ में शीतलता होती है और तिलों में तेल होता है और फूलों में सुगन्ध होता है, अग्नि में उष्णता होती है, ऐसे चित्त में फुरना होता है, चित्त और फुरना दोनों एक वस्तु हैं, अभिन्न हैं, दोनों में जब एक नष्ट हो तब दोनों नष्ट हो जाते हैं, जैसे शीतलता और श्वेतता के नाश हुए बर्फ नष्ट हो जाता है, ऐसे एक के नाश हुए दोनों नाश हो जाते हैं चित्त के नाश के दो क्रम हैं, योग और ज्ञान योग कहिये, चित्त की वृत्ति का निरोध करना और ज्ञान कहिये सम्यक् विचारना। राम बोले–हे भगवन् वृत्ति का निरोध किस युक्ति से होता है, प्राण और अपान को कैसे रोका जाता है, जिस योग से अनन्त सुख सम्पदा प्राप्त होती है, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस देह में जो नाड़ियाँ हैं, उनमें प्राण वायु फिरता है, जैसे पृथ्वी पर नदियों का जल फिरता है, वह प्राणवायु एक है, स्पन्द के वश से नाना प्रकार की विचित्र क्रिया को प्राप्त होता है, उससे अपान आदि संज्ञा को पाता है, योगीश्वर कल्पना करते हैं, जैसे पुष्प में सुगन्ध अभेद रूप है, बर्फ में शीतलता अभिन्न है, आधार आधेय एक रूप हैं, ऐसे प्राण और चित्त अभेद रूप हैं, जब अन्दर प्राणवायु फिरता है, तब चित्त कला फुरती है, फुरकर संकल्प के सम्मुख होती है, उसका नाम चित्त कहाता है, जैसे जल द्रवीभूत होता है उसमें तरंग चक्र फुर आते हैं, ऐसे प्राणों से चित्त फुर आता है, चित्त के फुरने का कारण प्राणवायु है, जब प्राणवायु का निरोध होता है, तब निश्चित रूप से मन भी शांन्त होता है, मन के लीन हुए संसार भी लीन हो जाता है, जैसे सूर्य प्रकाश के न रहने पर अर्थात् रात को मनुष्यों का व्यवहार शान्त हो जाता है, रामजी बोले–हे भगवन्! यह जो दिन और रात्रि निरन्तर आगमन करते हैं, देहरूप गृह में प्राणवायु का रोकना किस प्रकार होता है, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! संत जनों का संग और सत् शास्त्रों का विचार और विषयों इन बातों से योग्य अभ्यास होता है, प्रथम जगत् में असत् बुद्धि करनी और अपने वांछित इष्ट देव का ध्यान करना, जब चिरकाल तक ध्यान करता

है, तब एक तत्व का अभ्यास होता है, उससे प्राणों का स्पन्द रोका जाता है, रेचक पूरक कुंभक जो प्राणायाम हैं, जब अखिन्न चित्त होकर उसका अभ्यास करता है और एक ध्यान में मग्न होता है, उससे भी प्राणों का स्पंद रोका जाता है, उकार का उच्चारण करने में ऊर्ध्व की ओर जो उसकी सूक्ष्म ध्वनि होती है, उसका प्रथम शब्द बड़ी ध्वनि से होता है, सूक्ष्म ध्वनि शेष रहती है, उसमें चित्त की वृत्ति को लगाना तब सुषुप्तिरूप अवस्था में वृत्ति तद्रूप हो जाती है, तब प्राणस्पंद रोका जाता है और रेचक प्राणायाम जो करता है, उसके अभ्यास से विस्तृत प्राणवायु से शून्यभाव आकाश में ज़ाकर लीन होता है, तब प्राणस्पंद रोका जाता है और कुंभक से जो प्राणवायु को अभ्यास के बल स्थित करना होता है, तब प्राणवायु को रोका जाता है और तालु के साथ यत्न से जिह्वा को लगाना चाहिये, इस खेचरी मुद्रा से वायु उर्ध्व रन्ध्र को जाता है, तब भी प्राणवायु का स्पन्द रोका जाता है और जो द्वादश अंगुलि पर्यन्त नासिका के अग्र में अपनारूप चन्द्रमा का निर्मल स्थान आकाश में है, उसका ज्यों का त्यों देखना, तो भी प्राणस्पंद रोका जाता है, तालु के द्वादश अंगुलि ऊर्ध्वरन्ध्र का अभ्यास हो, उसके अंत में जब प्राणों को लगावें तब उस संवित् में प्राणों का फुरना नष्ट हो जाता है और जो भवमध्य त्रिपुटी में और प्रकाश को त्याग कर उसमें चेतन कला रहती है, वहां वृत्ति को जोड़े, वृत्ति को जोड़ने से प्राणकला रोकी जाती है और जो सर्व वासना को त्यागकर हृदयाकाश में चेतनसंवित् का ध्यान करे, तो भी चिरकाल के अभ्यास से प्राणस्पंद रोका जाता है, रामजी बोले–हे भगवन्! जगत् के भूतों का हृदय किसको कहते हैं, जिस महाआदर्श में सर्व पदार्थ प्रतिबिंबित हो जाते हैं, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जगत् के भूत के दो हृदय हैं, एक ग्रहण करने योग्य हैं, एक त्यागने योग्य हैं, उसका भेद सुनो–नाभि से जो देह में दस अंगुलि ऊर्ध्व हैं वह त्याग करने योग्य हैं, परिछिन्नभाव करके देह के एक स्थान में स्थित

है और उसमें जो संवित्‌मात्र ज्ञानस्वरूप अनुभव से प्रकाशित है, वह मनुष्य को ग्रहण करने योग्य है, जो अन्दर बाहिर व्याप रहा है और वास्तव में अन्तर बाहिर से भी रहित है, वह प्रधान हृदय है और सब पदार्थों का प्रतिबिंब धारण करनेवाला आदर्श है, सर्व सम्पन्न चित्त का भंडार है, सर्व जीवों का संवित् हृदय है, एक अंग का नाम हृदय नहीं, जैसे जल में एक पुरातन पत्थर पड़ा हो, वह जल नहीं हो जाता, ऐसे संवित् मात्र के निकट संवित् मात्र नहीं होता, यह जड़रूप है, आत्मा चेतन आकाश है, वह यह प्रधान हृदय है, इसलिये बल से संवित् मात्र की ओर चित्त लगाओ, तब प्राणस्पंद भी रोका जायेगा, हे रामजी! यह प्राणों का रोकना मैंने तुझको कहा है और भी शास्त्रों में अनेक प्रकार से कहा है, जिस जिस प्रकार गुरु के मुख से श्रवण किया है, उसी प्रकार अभ्यास करे, तब प्राणों का निरोध होता है, गुरु के उपदेश से अन्यथा सिद्ध नहीं होता, जिसको अभ्यास से निरोध सिद्ध हुआ है, वह कल्याण मूर्ति है, अन्य कल्याणमूर्ति नहीं होता, हे रामजी! अभ्यास करके प्राणायाम होता है और वैराग्य की दृढ़ता से वासनामय होता है, अर्थात् वासना रोकी जाती है, जब दृढ़ अभ्यास करे तब चित्त अचित्त हो जाता है, हे रामजी! भृकुटी के दश अंगुलि पर्यन्त जो वायु जाता है, उसका जब निरन्तर अभ्यास करता है, तब चित्त क्षीण हो जाता है और खेचरी मुद्रा से तालु के साथ जिह्वा लगाकर अभ्यास करे तो भी प्राण रोके जाते हैं। इसके अभ्यास से चित्त की व्याकुलता जाती रहती है, परम उपशम को प्राप्त होता है, यह पुरुष आत्माराम होता है, इसके सब शोक दूर हो जाते हैं, अंतरानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिये तू भी अभ्यास कर, जब प्राणस्पंद मिट जाता है, तब चित्त भी स्थित हो जाता है, जब चित्त स्थित हुआ तब वासना नष्ट हो जाती है, जब वासना नष्ट हो जाती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है, जब तक चित्त वासनाओं से लपेटा हुआ है, तब तक जन्ममरण को देखता है, जब मन वासना से रहित होता है तब मोक्ष होता है, हे रामजी! प्राणवायु को रोककर वासना से रहित हुआ जहाँ

तेरी इच्छा हो वहां विचर, तुझे बन्धन न होगा, जब प्राण फुरता है, तब मन उदय होता है, जब मन उदय हुआ तब संसार भ्रम होता है, जब मन क्षीण होता है तब संसार भ्रम नष्ट हो जाता है, हे रामजी! जब मन से संसार की वासना कलना मिट जाती है, तब अशब्दपद को प्राप्त होता है, उससे यह सब है और जो यह सब है और जिससे न सब है और जो न सब है और जो न सबमें हैं, जिसमें न यह सब है, ऐसा जो निर्गुण तत्व है वह सब कलनाओं के त्याग से प्राप्त होता है, उसको उपमा किसकी दीजै? आत्मा अविनाशी निर्विकल्प निर्गुण है, यह जगत् नाशरूप संकल्प के रचित गुणरूप उसका किस पदार्थ के साथ दृष्टान्त दिया जाये? अर्थात् दूसरा कुछ नहीं, जितने स्वाद हैं उनको स्वाद बनाने वाला वही है और जितने प्रकाश हैं, उनको प्रकाशरूप देनेवाला वही है, सर्व कलना का कलनारूप वही है, जितने भी पदार्थ हैं, सबका अधिष्ठानरूप वही है, वह चित्त और आवरण के दूर होने पर प्राप्त होता है और सब पदार्थों की सीमा वही है, ऐसा जो आत्मरूप शीतल चन्द्रमा है, उसमें जब बुद्धिमान स्थित होता है तब जीवन्मुक्त कहाता हैं और सब इच्छादिक का नाश हो जाता है, अहं त्वं आदिक कल्पना मिट जाती है सब व्यवहार विस्मरण होता है, ऐसा जो मुक्तमन है, वह पुरुषोत्तम होता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे जीवन्मुक्तज्ञानबंधो
नामसप्तसप्ततितमः सर्गः ॥७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः ७८

सम्यग्ज्ञानवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे प्रभो! योग की वह युक्ति जिससे चित्त उपशम होता है आपने कही, अब कृपा करके सम्यग् ज्ञान का लक्षण भी कहिये, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! यह निश्चय है कि आत्मा आनन्दरूप आदि

अन्त से रहित प्रकाशरूप सर्व परमात्मा तत्त्व है, इस निश्चय को बुद्धिमान् सम्यग् ज्ञान कहते हैं और यह जो घट पटादिक पदार्थ हैं सब आत्मरूप हैं, उससे इतर कुछ नहीं, ऐसा जो देखना है, वही सम्यक् देखना है, सर्वात्मा है, नित्य शुद्ध है, परमानन्द स्वरूप है, सदा अपने आप में स्थित है, ऐसा निश्चय सम्यग् ज्ञान है, जो इससे इतर हो वह असम्यग् ज्ञान है, हे रामजी! सम्यग्दर्शी मोक्ष भागी है, असम्यग्दर्शी बंधन में हैं, इसको आत्मा जगद्रूप भासता है, सम्यग्दर्शी को केवल आत्मा भासता है, जैसे जेवरीमें असम्यग्दर्शीको सर्प भासता है, सम्यग्दर्शीको जेवरी भासती है, सर्व संवेदन संकल्प से रहित शुद्ध संवित् परमात्मा है, उसको जो जानता है, वह परमात्मा के जानने वाला बुद्धीश्वर है, इससे इतर अविद्या है, हे रामजी! आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है, उसमें द्वैत कलना कोई नहीं, ऐसा जो यथार्थ दर्शी है, वही सम्यग्दर्शी है, सर्वात्म सत्ता पूर्ण है, भाव अभाव बंध मोक्ष कोई नहीं, न एक है, न द्वैत है, ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है, जो सर्व चिदाकाश है तो बंध किसको कहा जाय और मोक्ष किसको कहा जाय, ऐसा जिनको ज्ञान है उनको ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त काष्ठ पाषाण सब सम भासता है अल्प मात्र भी भेद नहीं भासता, कल्पना के सम्मुख कैसे हो? हे रामजी! वस्तु के आदि अन्त जो अन्यय व्यतिरेक करके आत्मा सिद्ध होता है, अर्थात् यह जो पदार्थ है, वह है तो भी आत्मसत्ता से सिद्ध होता है और पदार्थ का अभाव हो जाता है तो भी आत्मसत्ता शेष रहती है, तू उसी के परायण हो जो अविनाशी है, अनुभव से उसमें स्थित हो, वही अनुभव सत्ता जगद्रूप होकर भासती है, जरा मरण आदिक जो नाना प्रकार के विकार वस्तुरूप भासते हैं, वह वस्तु अपने आप में फुरती है, जैसे जल में द्रवता से नाना प्रकार के तरंग के बुद्बुद् होते हैं, वे जलरूप हैं इतर कुछ नहीं, आत्मतत्व ही अपने आप में स्थित है, जब उसमें स्थित होता है, तब पुनः दीन नहीं होता, जो पुरुष दृढ़ विचारवान् है वह भोगों से विचलित नहीं होता, जैसे मंद पवन से मेरु–विचलित नहीं होता, जो अज्ञानी हैं, विचार से रहित मूढ़ हैं उनको

भोग ग्रस लेते हैं, जैसे जल से रहित मछली को बगला ग्रस लेता है और जिसको सर्व आत्मा ही भासता है, वह सम्यगदर्शी पुरुष कहाता है, वही मुक्तरूप है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सम्यग्ज्ञानवर्णनं
नामष्टासप्ततितमः सर्गः ।।७८।।

एकोनाशीतितमः सर्गः ७९

चित्तोपशमयोगवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यदि विवेकी पुरुष भोगों के निकट आ जाता है तो भी इच्छा नहीं करता, क्योंकि अर्थ बुद्धि ही उसमें कुछ नहीं, जैसे चित्र की लिखी हुई सुन्दर कमलिनी के निकट भ्रमर आ जाता है तो भी इच्छा नहीं करता, ऐसे विवेकी भोगों में अर्थ बुद्धि नहीं करता, हे रामजी! सुख दुःख की प्राप्ति और निवृत्ति में इच्छा तब तक होती है, जब तक देहाभिमान होता है, जब देहाभिमान निवृत्त हुआ तब कुछ इच्छा नहीं होती, हे रामजी! ममता करके दुःख होता है, जब रूप को नेत्र देखते हैं, उसको इष्ट मानकर प्रसन्न होते हैं और अनिष्ट जानकर द्वेष करते हैं, जैसे बेल (बलीवर्द) भार उठाने की चेष्टा करता है, उसको लाभ हानि कुछ नहीं होती, क्योंकि उसमें इसका कोई ममत्व नहीं है जिसको उसमें ममत्व होता है वह लाभ हानि का हर्ष शोक करता है, ऐसे यह ममता करके इन्द्रियों के विषयों में हर्ष शोकवान् होता है, जैसे गधा कहीं दलदल में फँसकर मर जाये और राजा शोक करे कि मेरे नगर का गधा मर गया है। ऐसे यह ममत्व करके इन्द्रियों के विषयों में दुःख पाता है, नहीं तो गर्दभ के नाश से राजा का क्या नाश होता है? हे रामजी! यह इन्द्रिय तो अपने विषयों को ग्रहण करते हैं, इससे जीव संसप्त होता है यह आश्चर्य है और जिन विषयों की यह इच्छा करते हैं,

वे क्षण में नष्ट हो जाते हैं, हे रामजी! जो मार्ग में किसी के साथ स्नेह हो जाता है तो ममत्व से दुःख होता है, तब जो देह में ममत्व करेगा उसको दुःख क्यों न होगा, कैसा भी बुद्धिमान् हो तो संग से बन्धन में पड़ जाता है, अर्थात् इन्द्रियों के विषयों का जब अहंभाव करके ग्रहण करेगा तो उनके नाश होने पर स्वयं भी नाश होगा, जिन नेत्रों का विषयरूप है, वह नेत्र साक्षी होकर रूप को ग्रहण करते हैं और ऐसा मूर्ख है जो औरों के धर्म आप में मान लेता है और उनमें सन्तप्त होता है, जैसे भ्रान्त दृष्टि से आकाश में मोर पुच्छवत् तरवरे भासते हैं और दूसरा चन्द्रमा भासता है, ऐसे मूर्खता करके इन्द्रियों के धर्म अपने में मान लेता है, जैस इन्द्रिय साक्षी होकर विषयों को ग्रहण करती हैं ऐसे चित्त भी अभिमान से रहित होकर साक्षी होकर ग्रहण करे तो रागद्वेष से संतप्त नहीं हो जैसे जल में चक्र तरंग फुरते दृष्टि आते हैं, ऐसे यह इन्द्रियों के रूप विषय और इन्द्रिय फुर आते हैं, आधार आधेय से इनका सम्बन्ध होता है और चित्त इनके साथ मिलकर व्याकुल होता है रूप इन्द्रिय और मन इनका परस्पर असंगभाव है, जैसे मुख और दर्पण और प्रतिबिंब भिन्न भिन्न असंग है, ऐसे यह भिन्न भिन्न असंग है, परन्तु अज्ञान से मिले हुए भासते हैं, जैसे लाख से सोने रूप चीनी का संयोग होता है, ऐसे अज्ञान करके रूप अवलोकन मनसंस्कार का संयोग होता है, जब ज्ञानाग्नि से अज्ञानरूप लाख जल जाये, तब परस्पर भिन्न भिन्न हो जाते हैं, पुनः किसी का दुःख सुख किसी को नहीं लगता, जैसे दो लकड़ी का संयोग लाख होता है, ऐसे अज्ञान से विषय इन्द्रिय मन का संयोग होता है, ज्ञानरूप अग्नि से जब बिछुड़ जाते हैं, तब फिर नहीं मिलते, जैसे भिन्न भिन्न मन के धागे में इकट्ठे होते हैं, ऐसे देह इन्द्रियों में अज्ञान से इकट्ठे होते हैं, जब विचार करके धागा टूट पड़े तब भिन्न भिन्न हो जायें फिर नहीं मिलें, हे रामजी! जिन पुरुषों को आत्मविचार हुआ है, वह ऐसा विचारते हैं कि जो हमको दुःख देनेवाला चित्त था, उस चित्त के नष्ट हुए आनन्द हुआ है, जैसे मंदिर में दुःख देनेवाला पिशाच रहता है, तब दुःख होता है, नहीं तो

मंदिर दुःख नहीं देता, पिशाच दुःख है ऐसे शरीररूप मंदिर में दुःख देनेवाला चित्त है, हे चित्त! तुमने मुझको मिथ्या दुःख दिया था, अब मैंने आपको जाना है, तू आदि भी तुच्छ है अन्त भी तुच्छ है, वर्तमान में भी मिथ्या जीव को दुःख देता है, जैसे मिथ्या परछाई बालक को वेताल होकर दुःख देती है जब तक आत्मस्वरूप को नहीं जाना तब तक तू दुःख देता है, जब आत्मस्वरूप का ज्ञान हुआ तब तू कहीं दृष्टि न आयेगा, तू तो माया मात्र है, अब तुम रहो अथवा जाओ, मैं अब तुमसे मोहित नहीं होता, तू तो मूर्ख जड़ है और मृत है तुम्हारा आकार अविचार से सिद्ध है, अब मैंने पूर्व का स्वरूप पाया है, तू तत्व नहीं, भ्रान्ति मात्र है, जो मूढ़ है वह तुझसे मोहित होता है, विचारवान् मोहित नहीं होता, जैसे दीपक से अन्धकार दृष्टि नहीं आता, ऐसे ज्ञान से तू दृष्टि नहीं आता, हे मूर्ख चित्त! तू बहुत काल इस देह रूप घर में रहा है और तू वेताल रूप है, जैसे अपवित्र स्थान में वेताल रहता है, जहां श्मशानादिक स्थान होते हैं, ऐसे सत्संग से रहित देहरूप गृह श्मशान के सदृश्य सदा अपवित्र है, वहां तेरे रहने का स्थान है और जहां संतों का निवास है, वहां तुम्हारे जैसे स्थान नहीं पा सकते, मेरे शरीररूप घर में सद्विचार सन्तोषादिक सन्त जन आकर स्थित हुए हैं, तेरे वसने का स्थान नहीं, हे चित्त पिशाच! तू पहिले तृष्णारूप पिशाचिनी और काम क्रोधादि गुह्यकों को अपने साथ लेकर बहुत समय तक विचरता रहा, अब विवेक रूप मंत्र से मैंने तुझको निकाला है, तब कल्याण हुआ है, हे चित्त पिशाचरूप! तू प्रमादरूप मद्य को पीकर मत्त हुआ था और चिरपर्यन्त नृत्य करता रहा था, विवेक रूप मंत्र से तुझको निकाला है, अब देहरूप कन्दरा शुद्ध हुई है और शुद्ध भाव पुरुषों ने निवास किया है, जैसे सिंह कन्दरा से निकल जाता है तब मुनिवर आकर निवास करते हैं, ऐसे यहां शुद्ध भावों ने प्रवेश किया है, हे चित्त! मैंने तुम्हें विवेकरूप मित्र द्वारा वश किया है अब तुम्हारा क्या पराक्रम है, तू तब तक दुःख देता था, जब तक विचाररूप मित्र प्राप्त न हुआ था, अब तेरा कुछ बल नहीं चलता, अब मैं केवल महाभाव में स्थित

हूँ, आगे भी तुझको जगाता था, तू स्वतः सर्वरूप है, जैसे कच्चे मंत्र वाला सिंह को जगाता है और आप कष्ट पाता है, ऐसे मैं तुझको जगाकर कष्ट पाता था, अब मैंने आत्मविचार के परिपक्व मंत्र से वश किया है, तब शान्तिमान् हूँ, ममता मान मुझ में कुछ नहीं, मोह अहंकार सब नष्ट हो गया है, इनका कलत्र भी नष्ट हो गया है, मैं निर्मल चेतन आत्मा हूँ, मेरा मुझको नमस्कार है, न मेरे में कोई आशा है न कर्म है, न संसार है, न कर्तृत्व है न मन है, न भोक्तृत्व है, न देह है ऐसा जो निर्गुणरूप आत्मा है, मेरा मुझको नमस्कार है, न कोई आत्मा है, न कोई अनात्मा है, न अहं है, न त्वं है, अपने आप में स्थित हूँ, ऐसा जो मैं आत्मा हूँ, मेरा मुझको नमस्कार है, अविकार हूँ, नित्य हूँ, निराश हूँ, सर्वकार्यों में अनुस्यूत हूँ, अंशांशिभाव से रहित हूँ, ऐसा सर्वात्मा जो में हूँ, मेरा मुझको नमस्कार है, सम हूँ, सर्वगत हूँ, सूक्ष्म हूं, अपने स्वभाव में स्थित हूँ, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, आकाश आदिक जगत् मैं नहीं और मैं ही सर्व पदार्थ होकर भासता हूँ, ऐसा मैं सर्वात्मा हूँ, अब मैं सर्वभाव को प्राप्त हुआ हूँ और मन भाव मुझसे दूर हुआ है, मेरे प्रकाश से विश्व भासता है, अजर अमर अनन्त हूँ, गुणातीत अद्वैत हूँ। मनन जिससे दूर हुआ है, ऐसा जो मैं सुन्दररूप हूँ, कैसा हूँ? जिसमें विश्व की प्रकट है और स्वरूप से अविनाशी हूँ, अनन्त अजर, अमर, गुणातीत ईश्वररूप को नमस्कार है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तोपशमयोगवर्णनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ।।७९।।

अशीतितमः सर्गः ८०

चित्तशांतिप्रतिपादनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार विचार कर तत्व वेत्ता आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानते हैं, तू भी आत्म विचार का आश्रय करके आत्मपद के आश्रय हो, यह जगत् सब आत्मरूप है, ऐसा जानकर चित्त से जगत् की सत्यता को त्यागकर जब ऐसे विचार करे तब चित्त कहां है? बड़ा आश्चर्य है कि जो चित्त वस्तु रूप दिखाई देता था, वह चित्त अविदित माया मात्र असत्‌रूप था जैसे आकाश के फूल कहने मात्र हैं, ऐसे चित्त कहने मात्र है, अविचार से सिद्ध है, जैसे नौका पर बैठे बालक को तट के वृक्ष चलते भासते हैं बुद्धिमान् को चलने में सद्भाव नहीं होता, ऐसे मूर्ख को चित्त सत्ता भासती है और विचारवान् का चित्त नष्ट हो जाता है, जब मूर्खता रूप भ्रम शान्त हुआ तब चित्त कुछ नहीं पाता, जैसे बालक चक्र पर चढ़ा हुआ फिरता है, तो पर्वतादिक भी उसको घूमते भासते हैं, जब चक्र ठहर जाता है, तब पर्वत आदि भी अचल भासते हैं, ऐसे चित्त के ठहरने से द्वैत कुछ नहीं भासता, आगे मुझको द्वैत भासता था, वह चित्त के फुरने से नाना प्रकार की तृष्णा इच्छा उठती थी, अब चित्त के नष्ट हुए इन पदार्थों की भावना नष्ट हुई है, संशय शोक सब मेरे नष्ट हो चुके हैं, अब विगतज्वर स्थित हूँ, जैसा मैं स्थित हूँ, ईषणा कोई नहीं, जब चित्त का चैत्य भाव नष्ट हुआ तब इच्छा आदिक गुण कहां रहे? जैसे प्रकाश नष्ट हुए वर्ण ज्ञान कुछ नहीं रहता, ऐसे चित्त का नाश हुए इच्छा आदिक नहीं रहते, अब चित्त नष्ट हुआ, तृष्णा भी नष्ट हो गयी, मोह का पिंजरा टूट पड़ा, अब मैं निरहंकार हूँ, बोधवान् हूँ, शान्तरूप आत्मा हूँ और नानात्व कुछ नहीं, मैं निराभास आदि अन्त से रहित आनन्द पद को प्राप्त हुआ हूँ, सर्वगत सूक्ष्म आत्मतत्व अपना आप है, उसमें मैं स्थित हूँ, निरन्तर इन विचारों के

साथ अब क्या प्रयोजन है। जब तक मैं आपको देह जानता था, तब तक यह विचार मूर्ख अवस्था में थे। अब मैं अमित निराकार को प्राप्त हुआ हूँ, केवल परमानन्द सच्चिदानन्द को प्राप्त हुआ, किस पद का विचार करूँ, आगे मैं चित्तरूप बेताल को आप ही जगाता था और आप ही दुःखी होता था, अब विचाररूप मंत्र से मैंने इसको नष्ट किया है और निर्णय करके अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ, शान्तात्मा अपने आप में स्थित हूँ, हे रामजी! जिसको यह निश्चय प्राप्त हुआ है, वह निर्द्वंद राग द्वेष से रहित होकर स्थित हुआ है, प्रकृत कर्म करता है मानमद से रहित आनन्द से पूर्ण होता है, जैसे शरत्काल की रात को पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से पूर्ण होता है, ऐसे प्रकृत आचार कार्य कर्ता ज्ञानवान् की आत्मा पूर्ण शान्त हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे चित्तशांन्ति प्रतिपादन वर्णनं
नाम अशीतितमः सर्गः ।।८०।।

एकाशीतितमः सर्गः ८१

वीतवोपाख्याने चित्तानुशासनवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! यह विचार वेद वेदों ने कहा है, पूर्वकाल में मुझको ब्रह्मा ने विन्ध्याचल पर कहा था, इस विचार द्वारा पुरुष परमपद प्राप्त करके संसार से पार हो सकता है अर्थात् जन्म मरण के परम दुःखदायी बन्धन से मुक्त हो जाता है, हे रामजी! इस पर एक और उत्तम दृष्टान्त सुनो, यह दृष्टान्त परम पद की प्राप्ति में परम सहायक है, जिस प्रकार वीतव मुनि विचार करके निःशंक स्थित हुआ है, वह प्रकार सुनो, मुनिवर वीतव परम तेजस्वी थे, उन्हें आधि व्याधियों से इस संसार से वैराग्य हुआ और वह नग्न शरीर होकर पर्वतों की कन्दराओं में विचरने लगे, जैसे सूर्य सुमेरु पर्वत के चारों ओर फिरता है,

इस प्रकार वीतव भी घूमने लगे, उन्हें संसार सम्बन्धी प्रत्येक कार्य दुःख दायक प्रतीत हुआ, इसीलिये वे जगत् की ओर से विरक्त हो गये और उन्हें निर्विकल्प समाधि की इच्छा हुई, अपने सब व्यवहार का त्याग किया, अपनी पहिली सफेद कुटी छोड़ दी और केले के पत्तों की नई बनाई, जैसे भ्रमर कमलों को त्यागकर नील कमल पर जा बैठता है, ऐसे ही श्वेत कुटी को त्यागकर श्याम कुटी में जा बैठा, नीचे कुशासन, उस पर मृग छाला बिछाकर पद्मासन बांधकर बैठ गये। जैसे मेघ जल को त्यागकर बद्ध मौन स्थित होता है, ऐसे और क्रिया को त्यागकर शांति के निमित्त शान्तरूप स्थित है, हाथों को नीचे किया, मुख ऊपर और ग्रीवा को सीधा सुधारकर स्थित हुआ, इन्द्रियों को संयत् रखते हुए मनोवृत्ति को रोका, जैसे सुमेरु की कन्दरा में सूर्य भगवान् का प्रकाश बाहिर से मिट जाता है, ऐसे इन्द्रियों की वृत्ति रोकी हुई बाहिर से मिट जाती है, अन्दर से भी विषय चिन्तन का त्याग किया, इस प्रकार क्रम करके मन को स्थित किया, परन्तु चंचल मन जब निकल जाता था तब उसे कहता था कि बड़ा आश्चर्य है, यह मन महा चंचल है, मैं इसको यत्न से स्थित करता हूँ तो भी निकल जाता है, जैसे सूखा पत्ता तरंग में पड़ा हुआ ठहरता नहीं, ऐसे ही मन एक क्षण भी नहीं ठहरता, प्रतिक्षण इंद्रियों के मार्ग से विषयों की ओर दौड़ता रहता है, जैसे गेंद को ज्यों ज्यों ताड़ना करो, त्यों त्यों उछलता है, ऐसे इस मूर्ख मन को जिस ओर से खींचता हूँ तो रस की ओर निकल जाता है, रस की ओर खींचता हूँ तो शब्द की ओर भागता है, स्थिर कभी नहीं होता, जैसे वानर कभी किसी टास पर कभी किसी टास पर जा बैठता है, इसी प्रकार मूर्ख मन शब्द स्पर्शरूप रस आदि की ओर दौड़ता है, स्थिर नहीं होता इसको ग्रहण करने को पांच स्थान है, वह यही पांचों ज्ञानेन्द्रिय हैं, अरे! मूर्ख मन! तू किसलिये विषयों की ओर दौड़ता है, यह (विषय) तो स्वयं जड़ असत् रूप और भ्रान्तिमात्र है, तुझे इनसे शान्ति कैसे मिलेगी, चपलता से इनकी इच्छा करना अनर्थ का कारण है, ज्यों ज्यों तू इनको ग्रहण करेगा त्यों त्यों

अधिकाधिक दुःखी होगा, विषय भी जड़ है, तू भी जड़ है, जैसे मृगतृष्णा की नदी असत् होती है ऐसे यह असत्‌रूप है, हे मुने! यह तो सब असाररूप है और तू भी इन्द्रियों सहित जड़रूप है, तू कर्तृत्व का अभिमान क्यों करता है? सबका कर्ता चिदानन्द आत्मा भगवान् है और सदा साक्षीभूत है, ऐसे आत्मा साक्षीभूत है, तू क्यों वृथा जल रहा है? जैसे सूर्य सबके कामकाज का साक्षी है, ऐसे आत्मा साक्षी है, जगत् सब भ्रान्तिमात्र है, जैसे अज्ञान से जेवरी में सर्प भासता है ऐसे अज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है, जैसे आकाश और पाताल का सम्बन्ध कुछ नहीं होता, जैसे ब्राह्मण और चाण्डाल का संयोग नहीं होता, जैसे सूर्य और तम का संबन्ध नहीं होता, ऐसे आत्मा और चित्त इन्द्रियों का सबंध कुछ नहीं होता, आत्मा सत्तामात्र है, यह जड़ असत्‌रूप है, इनका सम्बन्ध कैसे हो? आत्मा न्यारा साक्षीभूत है, हे चित्त! तू तो मूर्ख है, विषयरूप भक्ष्य में तू मग्न है, तृप्त कदाचित् नहीं होता, विचार से सिद्ध होता कि तू मिथ्या है, कूकर की चेष्टा करता है, तेरे साथ हमें कुछ प्रयोजन नहीं, रे मूर्ख! तू तो मिथ्या अहं, अहं करता है और तेरी वासना अत्यन्त असद्‌रूप है और जिन पदार्थों की वासना करता है वे भी असत्‌रूप हैं, तुम्हारा और आत्मा का सम्बन्ध कैसे हो, आत्मा चेतनरूप है और तू मिथ्या जडरूप है और यह मैं जानता हूं कि जन्म मरण आदिक विकार और जीवत्वभाव को मैं तुम्हारी ही कृपा से प्राप्त हुआ हूं, मैं तो केवल चेतन परब्रह्म हूं, मिथ्या अहंकार से जीवत्वभाव को प्राप्त हुआ और अपने आपको देहमात्र जाना। मैं तो संवित् मात्र नित्य शुद्ध हूं, आदि अन्त से रहित परमानन्द चिदाकाश अनन्त आत्मा हूं, अब मैं आपही स्वरूप हूं और सद्भाव मुझको कुछ दृष्टि नहीं आता, हे मूर्ख मन! जिन भोगों को तू सुखरूप जानकर उनके पीछे दौड़ता है, वे अविचार सिद्ध हैं, प्रथम तो अमृत की नाईं भासते हैं और पीछे विष बन जाते हैं, वियोग से जलाते हैं और आपको तू कर्ता भोक्ता भी मिथ्या मानता है, तू भी कर्ता भोक्ता नहीं क्योंकि जड़ है, यदि तुम जड़ हुए तो तुम्हारे साथ मित्रभाव

ब्रह्म ही ऐसे भासता है वास्तव में अहं त्वं कल्पना कोई नहीं, हे चित्त! जो आत्मा चेतनरूप है, वह सर्वगत आत्मा है, आत्मा से इतर कुछ नहीं, तो भी तुझको संताप नहीं और अनात्मा जड़ असत् रूप है तो भी तू न रहा, जो कुछ परिच्छिन्न जैसा तू बनता है, वह मिथ्या भ्रम है, आत्मतत्व सर्व व्यापक रूप है, द्वैत कुछ नहीं, सर्व वही है तो भिन्न अहंत्वं की कल्पना कैसे हो? और असत् से कुछ कार्य की सिद्धि संभव नहीं खरगोश के सींग जैसे असत् हैं उनसे कुछ मारने आदिक का कार्य सिद्ध नहीं होता, ऐसे तुम असत् हो तुमसे कर्तृत्व भोक्तृत्व कार्य कैसे हो? और यदि तू कहे मैं सत् असत् चेतन जड़ का मध्यमा हूँ, जैसे तम और प्रकाश का मध्य भाव छाया है, ऐसे सूर्य परमात्मा निरंजन के विद्यमान मंद भावछाया कैसे रह सकती है? इसलिये कर्तृत्व भोक्र्तृत्व तुझको नहीं होता, क्योंकि तू जड़ है, जैसे दात्री पड़ी हो, उससे घास काटने का कार्य स्वयं नहीं हो सकता, जब पुरुष के हाथ की शक्ति होती है तब कार्य होता है, ऐसे तुमसे कुछ कार्य नहीं होता, जब आत्मसत्ता तुमसे मिलती है तब कार्य होता है, तुम क्यों अहंकार करके वृथा संतप्त होते हो, और हे चित्त! यदि तू कहे कि ईश्वर का उपकार है, तो ईश्वर परमात्मा को करने न करने में कुछ प्रयोजन नहीं और सबका कर्ता भी वही है और अकर्ता है जैसे आकाश पोल के कारण सबको अवकाश देने वाला है परन्तु स्पर्श किसी के साथ नहीं करता वैसे परमात्मा सबको सत्ता देनेवाला है और अलेप है, हे मूर्ख मन! तू क्यों भोगों की वांछा करता है, तू तो जड़ असत्‌रूप है, भोग कैसे भागे जायेंगे? और यदि परमात्मा के निमित्त इच्छा करता है तो परमात्मा सदा तृप्त है और इच्छा से रहित है, सब में वही पूर्ण है, दूसरे से रहित एक अद्वैत प्रकाश रूप अपने आप में स्थित है, तुझको किसकी चिन्ता है! अतः वृथा कल्पना को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो जाओ, जहां सब क्लेश शान्त हो जाते हैं औरस यदि तू कहे कि परमात्मा के साथ मेरा कर्तृत्व भोक्तृत्व का सम्बन्ध है तो नहीं बनता, जैसे फूल और पत्थर का सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे परमात्मा के साथ तेरा सम्बन्ध नहीं

कैसे हो और यदि तुम जड़ असत् रूप हो तो कर्ता भोक्ता कैसे हो! और यदि तू चेतन सत्‌रूप है तो भी तुझमें कर्तृत्व भोक्तृत्व संभव नहीं, तू मिथ्या है, मैं प्रत्यक्ष चेतन हूं, तू कर्तृत्व भोक्तृत्व अपने में मिथ्या स्थापना करता है, तू मिथ्या हैं, जब मैं तुझको सिद्ध करता हूं, तब तू होता है, तू निश्‍चितरूप से जड़ हैं; तुझको कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे हो! जैसे पत्थर की शिला नृत्य करने को समर्थ नहीं होती, ऐसे तुझको कर्तृत्व की समर्थता नहीं, तुझमें जो कर्तृत्व है वह मेरी शक्ति है, जैसे दात्री घास तृण आदि को काटती है, वह केवल स्वयं नहीं काटती, पुरुष की शक्ति से काटती है और खड्ग से जो हनन क्रिया होती है वह भी स्वयं नहीं होती, पुरुष की शक्ति है, ऐसे तुम्हारे अन्दर कर्तृत्व भोक्तृत्व मेरी शक्ति से होता है, जैसे पात्र से जलपान करता है, तो पात्र नहीं करता, पीने का काम पुरुष करता है अर्थात् पात्र से पान किया जाता है, ऐसे ही तुम्हारे अन्दर कर्तृत्व भोक्तृत्व मेरी शक्ति करती है, मेरी सत्ता पाकर तुम अपनी चेष्टा में विचरते हो, जैसे सूर्य का प्रकाश पाकर लोक अपनी अपनी चेष्टा करते हैं, ऐसे मेरी शक्ति पाकर तुम्हारी चेष्टा होती है, अज्ञान से तुम जड़ जीते रहते हो, ज्ञान से लीन हो जाते हो, जैसे सूर्य के तेज से बर्फ का पुतला गल जाता है, इसलिये हे चित्त! अब मैंने निश्चय किया है, कि तू मृतकरूप मूढ़ है, परमार्थ से न तू है न इन्द्रिय हैं, जैसे इन्द्रजाल के पदार्थ भासते हैं, वे सब मिथ्या हैं केवल विज्ञानरूप मैं अपने आपमें स्थित निरामय अजर अमर नित्य शुद्ध बोध परमानन्दरूप हूं और मैं ही नानारूप होकर भासता हूं, परमद्वैतभाव को कदाचित् प्राप्त नहीं हुआ, सदा अपने आप में स्थित हूँ, जैसे जल में तरंग बुदबुदे दृष्टि आते हैं, वे सब जल रूप हैं, ऐसे सब पदार्थ मुझमें इतर भासते हैं, वह इतर कुछ नहीं, हे चित्त! तू चिन्मात्र भाव को प्राप्त हो, जब तू चिन्मात्र भाव को प्राप्त होगा तब तेरा भेद भाव कुछ न रहेगा और शोक से रहित होगा, आत्मतत्व सर्व भाव में स्थित सर्वरूप है, जब उसको तू प्राप्त होगा, तब तुझको सब कुछ प्राप्त होगा, न कोई देह है न जगत् है, सर्व ब्रह्म ही है

होता, समानाधिकरण द्रव्य का सम्बन्ध होता है, जैसे जल मृत्तिका सम्बन्ध होता है, जैसे औषधि में चन्द्रमा की सत्ता प्राप्ति होती है, जैसे सूर्य भगवान् की तप्तता से शिला तप जाती है, जैसे बीज अंकुर का सम्बन्ध होता है, जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध होता है, द्रव्य और गुण का सम्बन्ध होता है, जो आकार सहित वस्तु है, उसका कैसे सम्बन्ध बनता है और जो निराकार निर्गुण वस्तु है उसका कैसे सम्बन्ध हो, परमात्मा चेतन है तू जड़ है वह प्रकाश रूप है तू तमस रूप है, वह सत् रूप है तू असत् रूप है, सम्बन्ध किसी के साथ नहीं बनता, तू क्यों वृथा जलता है, तू मनरूप है, परमात्मा सर्व कलना से रहित है, तेज की एकता तेज से होती है और जल की एकता जल के साथ होती है, तू कलंक रूप है, परमात्मा निष्कलंक रूप है, तेरी एकता उसके साथ कैसे हो जिसका अंग कुछ होता है, उसका सम्बन्ध भी होता है, वह सम्बन्ध तीन प्रकार का है, सम, अर्धसम और विलक्षण, इनका सम्बन्ध होता है, जैसे जल के साथ जल की एकता होती है, तेज के साथ तेज की एकता होती है, यह सम है जो तेरा आत्मा के साथ सम सम्बन्ध नहीं, एक अर्ध सम है, जैसे स्त्री और पुरुष के अंग समान होते हैं, परन्तु विलक्षण रूप हैं। तेरा और आत्मा का सम्बन्ध अर्ध सम भी नहीं और कुछ अन्य की नाईं भी तेरा सम्बन्ध नहीं, जैसे जल और दूध का सम्बन्ध होता है, ऐसे भी तेरा नहीं और अत्यन्त जो विलक्षण है उसकी नाईं भी तेरा सम्बन्ध नहीं, जैसे काष्ठ और लाख का पुरुष हाथी घोड़ा आदिक का सम्बन्ध होता है अथवा न्यूनातिन्यून होता है वह भी तेरा नहीं, आधार आधेयवत् भी तेरा सम्बन्ध नहीं, जैसे बीज अंकुर पिता पुत्र आदिक सम्बन्ध होते हैं,ऐसा तेरा और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि जिसके साथ सम्बन्ध होता है, उसके साथ कुछ अंग भी मिलता है, जिसका अंग कोई नहीं मिलता, परस्पर विरोध है, तो उसका सम्बन्ध कैसे कहा जाय, जैसे यह कहना अत्यन्त असंगत है कि शशे के सींग पर अमृत का चन्द्रमा बैठा है अथवा तम और प्रकाश इकट्ठे हैं, जैसे यह नहीं बनता, ऐसे आत्मा के

साथ देह मन इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं बनता क्योंकि आत्मा सर्व कलना से अतीत नित्य शुद्ध अद्वैत प्रकाश रूप है और मन आदिक जड़ असत् मिथ्या तमरूप है, इनका सम्बन्ध नहीं, परस्पर विरोधियों का सम्बन्ध कैसे हो, परमात्मा के अज्ञान से मन इन्द्रिय देहादिक उदय हुए हैं, आत्मा के ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है, फिर सम्बन्ध कैसे हो, हे मन! जितने जगत् हैं सब ब्रह्मास्वरूप हैं, उससे इतर कुछ नहीं, अहं त्वं की कल्पना कोई नहीं, ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है, सब कलना तेरे में थी और तू तब तक था, जब तक स्वरूप का अज्ञान था, जब स्वरूप का ज्ञान हुआ और अज्ञान नष्ट हुआ, तब तू कहाँ है, जैसे रात्रि के अभाव से निशाचरों का अभाव हो जाता है, ऐसे अज्ञान के नाश हुए तेरा भी नाश हो जाता है।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवापाख्यानं चित्तानुशासनं नाम एकाशिशतितमः सर्गः ॥८१॥

द्व्यशीतितमः सर्गः ८२

वीतवोपाख्याने अनुसाशनयोगोपदेश वर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार वीतव मुनीश्वर विंध्याचल की कन्दरा में आसनासीन होकर विचार करने लगा और भी जो कुछ कहा गया है, सुनो—अनात्मा जो देह इंद्रिय मन आदिक हैं, वे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, ज्ञान का उदय होने पर इनका अभाव हो जाता है, हे मन! जैसे सूर्य के उदय हुए तम का अभाव हो जाता है, ऐसे नित्य उदित रूप परमात्मा अनुभव स्वरूप के उदय हुए तुम्हारा अभाव हो जाता है, वासना थी तो आवरण था, जब वासना का अभाव हो जाता है तब आवरण का अभाव भी हो जाता है, जैसे सूर्य मेघ के नष्ट हुए प्रकाशित होता है, ऐसे वासना का अभाव हुए आत्मसत्व प्रकाशित होता है, वासना का मूल अज्ञान है, जब अज्ञान सहित वासना नष्ट हुई, तब

चिदानन्द ब्रह्म प्रकाशित होता है, वासना ही का नाम बन्ध है, वासना की निवृत्ति का नाम मोक्ष है, जब वासना रूप जेवरी कटेगी तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा, जैसे प्रकाश के बिना अंधकार का नाश नहीं होता, ऐसे मन इंद्रिय और देहादिक का आत्मविचार बिना नाश नहीं होता, जब विचार के बल से आत्मपद प्राप्त हो तब मन सहित षड्इन्द्रियों का अभाव हो जाता है, अर्थात् इनका अभिमान नष्ट हो जाता है, इनके धर्म अपने आप में नहीं भासते। जब तक देह इंद्रियों के साथ मिला है तब तक आत्मपद को नहीं पा सकता, इसलिये अपना कल्याणार्थ आत्मपद प्राप्ति का अभ्यास करो जब मन इन्द्रियों के गुणों के साथ अपने आपको मिला जानता है तब तक इसको अपने स्वरूप की विभुता और सिद्धता नहीं भासती। जब आत्मा का साक्षात्कार हो जाय तब रागद्वेषादि विकार नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्य के उदय हुए निशाचरों का अभाव हो जाता है, ऐसे ही आत्मा का साक्षात्कार हुए विकारों का अभाव हो जाता है, जिसके सामने उनका अभाव हो जाता है, उनका उसी आत्मा के साथ सम्बन्ध कैसे हो? जैसे प्रकाश और तम का सम्बन्ध नहीं होता ऐसे सत् असत् का सम्बन्ध नहीं होता, जैसे जीते और मरे का सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे आत्मा अनात्मा का सम्बन्ध नहीं होता, आत्मा सर्व कल्पना से रहित है, मन आदिक सर्वकल्पनारूप हैं, कहां यह मूक जड़ अनात्मरूप और कहां नित्य चेतन प्रकाश निराकार आत्मरूप इनका परस्पर स्पष्ट विरोध है, सम्बन्ध कैसे कहें? यह तो निश्चित रूप से अनर्थ का कारण है, जब तक इनका अभिमान है, तब तक जगत् दुःख रूप है, जब इनका वियोग हो, तब जगत् परमात्मा रूप होता है, जब तक इसको आत्मा का अज्ञान है, तब तक आपको इनमें मिला देखता है, दुःख पाता है, जब आत्मा का ज्ञान हुआ तब अपने साथ इनका संयोग नहीं देखता और यह मैंने निश्चय रूप से जाना है कि इन्द्रियों और मन के संयोग से जगत् भासता है, जब इन्द्रियों का ग्राम (समूह) नष्ट हो जाता है, तब जगत् परमात्मा रूप हो जाता है और मैं जो आत्मा और मन

इंद्रियों को इकट्ठा जानता था, वह प्रमाद प्रमादरूप मद्य के पान से मत्त हुए मन से जानता था, अब आत्मविचार से मन नष्ट हुआ है, तब सुखी हुआ, जो विष को पीकर मूर्छित हो वह तो बनता है, परन्तु पान किये बिना मूर्छित हो वह आश्चर्य है, इसलिये जब अनात्मा का इसके साथ संयोग होता तब सुख दुःख करके राग द्वेष होना भी बनता है, आत्मा तो सुख दुःख का साक्षीभूत है, जैसा उसके आगे अभ्यास होता ऐसा है, ही भासता है, कदाचित् विपर्यय भाव को प्राप्त नहीं होता सुख दुःख में मूर्ख मन राग द्वेषवान् होता है, आत्मा तो सदा साक्षीभूत क्षीणवृत्ति है, उसके साथ इंद्रियों का संयोग कैसे हो? जो संयोग का अभाव सिद्ध हुआ तो आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व कैसे कहा जाय जहां चित्त कलना होती है वहां कर्तृत्व भोक्तृत्व होता है, जहां चित्त कलना का अभाव है, वहां कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव है, ऐसा निष्कलंक आत्मतत्व मैं हूँ, जो न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, न मुझमें बंध है न मोक्ष है, न अहंता है, मैं सर्वात्मा अलेपरूप हूँ हे मन! तू भी मैं हूँ और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांचों तत्व मैं हूँ, इस प्रकार निर्णय करके जिसने धारण किया है वह मोह को प्राप्त नहीं होता, जो अहं अभिमान करनेवाला आत्मा से भिन्न आपको जानता है, तब दुःखी होता है, जब अपने स्वभाव में स्थित होता है, तब परम सुखी होता है, इसलिये जिसको कल्याण की इच्छा हो उसको ज्ञान से एक आत्मपारायण होना चाहिये, जब स्वरूप को त्यागकर संकल्प की ओर दौड़ता है तब बहुत दुःख पाया है, हे चित्त! तू इन्द्रियों सहित जड़रूप पत्थर के समान है, जैसे आकाश में पवन नहीं लगता ऐसे तुम से कर्तृत्व नहीं होता, जब इसको स्वरूप का प्रमाद होता है तब चित्त आदि के साथ आपको मिला जानता है और चित्तादिक आत्मा की सत्ता पाकर चेतन होता है, जैसे अग्नि की सत्ता पाकर लोहा जलाने को समर्थ होता है, ऐसे तुम आत्मा की सत्ता पाकर कर्तृत्व भोक्तृत्व में समर्थ होते हो, जब आत्मविचार करके स्वरूप का साक्षात्कार होता है और अज्ञानवृत्ति निवृत हो जाती है, मन आदिक का वियोग होता है, सर्व कलना से रहित

हुआ तब केवल मोक्षरूप आत्मा होता है, कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभाव हो जाता है, जैसे आकाश में लाली का अभाव है, ऐसे आत्मा में कर्तृत्व का अभाव है, सब जगत् आत्मस्वरूप भासता है जैसे समुद्र तरंग आदिक नाना प्रकार होता है वह सब जलरूप है इतर कुछ नहीं, ऐसे सर्व जगत् आत्मरूप है, आत्मा से इतर कुछ नहीं, वह सच्चिदानन्द आत्मा मैं सदा अपने आप में स्थित हूँ और द्वैत कलना मेरे में कोई नहीं, जैसे समुद्र उष्णता से रहित है, ऐसे परमात्मा सर्व कलना से रहित है, जैसे आकाश में बन नहीं होता, ऐसे परमात्मा में कलना नहीं होती, संवेदन से रहित संवित्मात्र सर्वात्मा है, जब उसका साक्षात्कार होता है, तब अहं त्वं आदि कलना का अभाव हो जाता है, वह अनादि अरूप सर्वगत है, सदा अपने आप में स्थित है, ऐसा जो अद्वैत तत्व है, उस पर द्वैत कलना आरोपण करने को कौन समर्थ होता है, ऐसा कौन है जो आकाश में ऋगवेद को लिखे, नित्य उद्योत सबका सार अद्वैत आत्मा है, उसमें द्वैत कलना का अभाव है, सब में पूर्ण नित्य आनन्दरूप है, ऐसे आत्मा को अब मैं प्राप्त हुआ हूँ, जगत् का सुख दुःख अब नष्ट हुआ है, समशान्तरूप हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे निर्वाणप्रकरणे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्याने अनुशासन योगोपदेशोनामद्विचशीतितमः सर्गः ॥८२॥

त्र्यशीतिमः सर्गः ८३

वीतवोपाख्याने चित्तोपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार मुनिवर वीतव महाराज ने विचार किया, उसको सुनिये कि उन्होंने किस रीति से निर्मल तथा गंभीर बुद्धि द्वारा विचार किया, हे इन्द्रियरूप मन! तुम क्यों अपने विषयों की ओर दौड़ते हो? तुम्हें विषयों से शान्ति नहीं मिलेगी, जैसे मृग मरुस्थल की नदी को देखकर दौड़ता है और शान्तिमान् नहीं होता,

इसलिये तुम विषयों की ओर तृष्णा की दृष्टि रखकर शान्ति नहीं पाओगे, इनकी इच्छा त्यागकर जो सत्य है परमात्मतत्व अविनाशी सर्वावस्थाओं में एकरूप सत्य है, उसको ग्रहण करो, तब तुम्हारे सब दुःख मिट जायँगे, तुम्हारे साथ मैं मिला था तब मैं भी अति दुःख में था, तुम अज्ञान से उत्पन्न हुए हो, जो तुम्हारे साथ मिलता है उसको भी दुःख प्राप्त होता है, जैसे तपी हुई लाख जिसके शरीर से स्पर्श कर जाय उसको जलाती है, ऐसे जिसको तुम्हारा संग हुआ है, वह दुःख को प्राप्त होता है, हे मन! यह जीव जो मरता है वह काल के मुख में जाकर प्रवेश करता है, वह तुम्हारे संग से ही मृत्युमुख में जाता है, तुम्हारा संग न हो तो क्यों पड़े जैसे नदी जल सहित होती है तब समुद्र की ओर चली जाती जल से रहित हो तो क्यों जाय? जैसे मेघ कुहिड़ से सूर्य को ढाँप लेता है, ऐसे ही हे मनरूप मेघ! तुम इच्छारूप कुहिड़ से आत्मरूप सूर्य को आच्छादित कर लेते हो, और उसके अनन्तर दुःख परम्परारूप वर्षा करते हो, हे मन! तेरे अन्दर चिन्ता उठती है, तू मर्कट के समान है, जैसे मर्कट वृक्ष को अचल नहीं रहने देता, हिलाता ही रहता है, ऐसे चित्त देह को स्थिर नहीं होने देता। चित्त पक्षी है, लोभ लज्जा इसके दो पंख हैं और राग द्वेषरूप (चंचु) चोंच है, शरीररूप वृक्ष पर बैठकर उस चोंच से शुभ गुणों को काट काटकर खाता है, चित्तरूप कूकर महानीच है, भोग भावनारूप जो अपवित्र पदार्थ है उसको हृदय में इकट्ठा करता है, ऐसी चेष्टा से कभी खाली नहीं रहता। चित्त उलूक है, अज्ञानरूप रात्रि में विचरता है, चेष्टा करने से प्रसन्न होता है और शब्द करता है जैसे श्मशान में वेताल शब्द करता है, अज्ञानरूप रात्रि के समाप्त होने पर चित्तरूप उलूक का अभाव हो और सम्पत्ति आकर प्रवेश करे, जैसा सूर्य के उदय हुए सूर्यमुखी कमल खिलता है, ऐसे ही संपत्ति प्रफुल्लित होती है जब मोहरूप कुहिड़ और इच्छा रूप धूल हृदयाकाश से निवृत्त हो जाती है, तब निर्मल आकाश प्रकट होता है, हे चित्त! जब तक तू नष्ट नहीं होता तब तक शान्ति नहीं होती और जैसे अकस्मात् मेघ आकर गड़ों की वर्षा करे तब उस मार्ग में चलनेवाले कष्ट पाते हैं ऐसे ही स्वस्थ बैठे हुए

जो चिन्ता आकर उत्पन्न हो जाती है, यह तुम्हारे संयोग से सब कुछ होता है, संकल्प विकल्परूप गड़ों की वर्षा होती है। सन्मार्ग पर चलनेवाला दुःख पाता है जहां चित्त नष्ट होता है, वहां सब आनन्द होता है, शीतलता और मित्रता का पवित्र भाव उत्पन्न होता है, शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, जैसे मेघ के नष्ट हुए सूर्य प्रकाशित होता है, ऐसे ज्ञान के नाश होने पर आत्मा प्रकाशवान् होता है तब उसमें प्रसन्नता, गंभीरता, उदारता और समता होती है जैसे वायु और मंदराचल से रहित समुद्र शांतिमान् होता है, जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभा पाता है, ऐसे अज्ञान का नाश हुए आत्मानन्द पाकर यह शोभा पाता है, हे चित्त! यह स्थावर जंगम जगत् संवित्रूप आकाश में है, इस महत् ब्रह्म को तू भी प्राप्त हो, जो पुरुष आशारूप फांसी को तोड़कर आत्मपद को प्राप्त हुआ है और जिसने संसार का सद्भाव निवृत्त किया है, वह जन्म मरण के बन्धन में नहीं पड़ता, जैसे जला पत्र पुनः हरा नहीं होता, ऐसे नष्ट हुआ चित्त जन्म मरण को नहीं प्राप्त होता, हे चित्त! तू सबको भक्षण करनेवाला है, यदि तू संसार को सत् मानकर उसी की ओर दौड़ेगा तो तेरा कल्याण न होगा, यदि आत्मा की ओर आयेगा तो परम कल्याण होगा जब तू अभाव करके आत्मपद में स्थित होगा तब कल्याणरूप होगा और यदि आकार न त्यागेगा, अपने सत् भाव करेगा तो परम दुःखी होगा, तेरा जीवन मृत्यु के समान है और मृत्यु जीवन के समान है, दोनों पक्षों में जिसको तेरी इच्छा है अंगीकार कर, अगर तू अब ही अपने आपको आत्मपद में निर्वाण करेगा तब परमपद को प्राप्त होगा तथा परमसुखी होगा और न करेगा तो परमदुःखी होगा, आत्मपद का त्याग करेगा तो मूढ़ है, तेरा निर्वाण होना आत्मपद में जीने के निमित्त है और आत्मा से इतर जो तू जीने की इच्छा करता है वह तेरा जीना मिथ्या है अर्थात् तू आदि से मिथ्या है अब भी विचार बिना भ्रम मात्र है, विचार करने से नाश हो जायेगा, जैस सूर्य के प्रकाश बिना अन्धकार होता है, प्रकाश से नाश हो जाता है, ऐसे ही विचार बिना चित्त है, विचार करने

से नाश हो जाता है, इतने समय से मैं अविवेक दुःख पा रहा था, जैसे बालकों को अपने परछाईं में वेताल कल्पना होती है, विचार बिना भय पाते हैं, विचार से निर्भयता प्राप्त होती है, ऐसे ही अब मैं तेरे संग से छूटा। अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ, विवेक से तेरा अभाव हुआ है, इसलिये विवेक को नमस्कार है, हे चित्त! अविवेक से तू मेरा मित्र था, अब बोध से तेरा चित्त भाव नष्ट हुआ है, तू परमेश्वररूप है, अब वासनाएं नष्ट हुई हैं, आगे तुम्हारे अंदर नाना प्रकार की वासनाएं थी, उनसे तू मलिन दुःखरूप था, अब वासनाएं नष्ट हुई हैं तो परमेश्वररूप हुआ है, चित्तस्वभाव तेरे अंदर अज्ञान से उत्पन्न हुआ, दुःखों का कारण था, वह विवेक से लीन हुआ जैसे रात्रि के पदार्थ सूर्य के उदय हुए लीन हो जाते हैं, ऐसे विवेक से चित्त भाव नष्ट हुआ है, वह सिद्धान्त का कारण है, तेरे संग से मैं तुच्छ जैसा हो गया था, अब शास्त्रों की युक्ति से निश्चय हुआ कि न तू आगे था न अब है, न फिर होगा, जब तक मैंने तुम्हें जाना न था, तब तक मेरा सद्भाव था, अब मैंने तुम्हें जान लिया और मैं अपने आपमें स्थित हुआ हूँ, अब मैं परम निर्वाण शान्तरूप हूँ, मेरे सब ताप नष्ट हुए हैं, नित्य शुद्ध चिदानन्द परब्रह्म स्वरूप हूँ, जगत् की सत्य असत्य कलना मेरी नष्ट हुई है, क्योंकि कलना सब चित्त में थी, जब चित्त निर्वाण हो गया तब कलना कहां रही? मैं केवल शुद्ध आत्मा हूँ, प्रतियोगी कोई नहीं, न व्यवच्छेद है, क्योंकि दूसरा कोई नहीं, चित्त की चेतना फुरती है, वह निर्वाण हो गई है, अब मैं स्वस्थ हुआ हूँ, जैसे तरंगों से रहित समुद्र अचल होता है, ऐसे मैं सर्व कलना से रहित बीतराग हूँ, संवेदन से रहित समसत्ता मात्र अपने आप में स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्याने चित्तोपदेशानाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥८३॥

चतुरशीतितमः सर्गः ८४

वीतवमनोज्ञवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार वीतव ने निर्वासनिक होकर निर्णय किया, विंध्याचल की कंदरा में समाधि लगाई, उसने अपनी अन्तःकरण वृत्ति को बाहिर से खींचकर आकाश के समान निर्मल और अचल किया, शिर और ग्रीवा को सम करके चित्त की वृत्ति साक्षीभूत आत्मा में स्थित की। जैसे लकड़ियों को जला कर अग्नि की लपटें शान्त हो जाती हैं, ऐसे प्राण और मनोवृत्ति का स्पंद मिट गया, जैसे शिला में पुतली होती है, ऐस स्थित हो गया, तीन सौ वर्ष समाधिस्थ रहा, जैसे एक घड़ी का समय होता है, इस प्रकार वह समय समाधि में बीत गया, सिर पर बादल बरसते, मण्डलेश्वर आकर शिकार खेलते, रीछों बानरों के शब्द होते, सिंहों की गर्जना और हाथियों की चिंघाडें सुनी जा रही थीं, वन में आग लगती, ओले पड़ते और हवा चलती थी, बड़ी कड़ी धूप भी उन्हें समाधि से नहीं जगा सकी, जैसे पहाड़ में शिला दबी होती है, ऐसे शरीर दब गया, जब तीन सौ वर्ष व्यतीत हुए, तब चित्त फुरा कि शरीर मेरे साथ है परन्तु प्राण नहीं फुरे, तब चित्त के फुरने में आपको कैलास पर्वत पर देखा, कदम्ब वृक्ष के नीचे का स्थान था। सौ वर्ष पर्यन्त मौन होकर जीवन्मुक्त निर्मल आत्मा से विचरा पुनः विद्याधरों में विद्याधर होकर सौ वर्ष पर्यन्त रहा, उसके अनन्तर और पंच युग होकर इन्द्र हुआ, देवता नमस्कारें करते हैं, रामजी बोले—हे भगवन्! देश काल और मन आदिक प्रतिभा अनियत अनियम उसको कैसे भासा? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! चित्त सर्व आत्मारूप है, जैसा जैसा उसमें फुरना होता है, ऐसा ही भासता है, जैसे जैसे देशकाल का फुरना होता है, ऐसे ही अनुभव होता है, हे रामजी! जितना प्रपंच है, वह मनोमात्र है, जैसा फुरना तीव्र होता है, ऐसे अनुभव सत्ता में भासता है, वहां स्थित होता है, जब और भ्रम में गया तो नियम के जैसा होता जाता है, ऐसे ही

जो अज्ञानी होता है उसको वासना के अनुसार नाना प्रकारे का जगत् भासता है और जो ज्ञानवान् होता है, वह सब कुछ आत्मा ही देखता है उसका फुरना भी अफुरना है, वासना भी अवासना है, वीतव मुनीश्वर ने जो देखा वह चित्त के फुरने से देखा, परन्तु वह स्वस्थरूप था उसकी वासना भी अवासना थी, जैसे भुना बीज नहीं उगता, ऐसे वासना अवासना थी, भ्रांति का कारण न था कल्प पर्यन्त चन्द्रधारी सदाशिव के गणरूप में रहकर समस्त विद्याओं का ज्ञाता सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी जीवन्मुक्त होकर विचरा, हे रामजी! जैसा जिसका संस्कार दृढ़ होता है, ऐसा उसको अनुभव होता है, जैसे वीतव ने चित्त को स्पन्दित करके जीवन्मुक्त का अनुभव किया, रामजी बोले–हे भगवन्! यदि ऐसा है तो जीवन्मुक्त की बुद्धि में बन्ध और मोक्ष दोनों हैं, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जीवन्मुक्त को सब ब्रह्मस्वरूप भासता है, बन्ध मोक्ष अवस्था उसमें कहां है, ज्ञानमात्र आकाश में जैसा फुरना होता है ऐसा हो भासता है, हे अंग! यह सब चिंमात्रस्वरूप है और जगत् जो नाना प्रकार भासता है, वास्तव से न जगत् है न अजगत् है, केवल ब्रह्मा स्थित है, जगत् के भूत भविष्य में केवल ब्रह्मसत्ता चिन्मात्र से इतर जो कुछ जगत् भासता है, मन के फुरने से भासता है, जिनको ऐसा ज्ञान नहीं उनको जगत् बज्रसार से दृढ़ हो भासता है और ज्ञानवान् आकाशवत् भासता है, हे रामजी! अज्ञान से मन उत्पन्न हुआ है, उसमें सम्पूर्ण जगत् हुआ है, वास्तव से और कुछ नहीं, जैसे समुद्र में तरंग उल्लास होता है, ऐसे चिदाकाश में आकार भासते हैं, जब चित्त अचित्त हो जाता है, तब द्वैत कुछ नहीं भासता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवमनोज्ञवर्णनं
नाम चतुरशीतितमः सर्गः ।।८४।।

पञ्चाशीतितमः सर्गः ८५

वीतवसमाधियोगोपदेशवर्णनम् ।

रामजी बोले—हे भगवन्! वीतव मुनीश्वर का शरीर जो विंध्याचल पर पड़ा था, पुनः उसकी क्या अवस्था हुई, वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इसके अनन्तर आत्मवेता वीतव मुनीश्वर जो कि तेजोवान् थे, एक समय में शरीर के गुणों को विचारने लगे, कि कई नष्ट हो गये हैं, कई अनष्ट हैं, उन अनष्टों में पृथ्वी में जो दबा पड़ा था, उसको देखने लगा कि उस पर धूलि पड़ी थी, वर्षा में पड़ा रहने से कीचड़ में लथपथ था और उस पर तृण जाल जम गया था, देखकर कहने लगे कि इसमें प्रवेश करूँ परन्तु फिर विचार किया कि यह तो जड़ है, फंसा हुआ है, इसके निकालने को मैं समर्थ नहीं, इसलिये सूर्यमंडल में जाता हूँ, सूर्य सारथी अरुण इसको निकालेगा, अथवा इससे मेरा क्या प्रयोजन है? यह नाश हो जाय यह रहे, मैं इतना यत्न किसलिये करूं, अपने निर्गुण स्वरूप में ही क्यों न स्थित हो जाऊं, देह के साथ मेरा काम क्या है? इस प्रकार कहकर मुनि वीतवजी ने तूष्णीं (मौन, चुप) हो गये, क्षण के अनन्तर ही फिर चिन्तन हुआ कि पृथ्वी में देह से न कुछ त्यागने योग्य है न कुछ ग्रहण करने योग्य। इस कारण से देह का त्यागना रखना समान है, यह शरीर किस निमित्त दबा रहे, कुछ काल इसका प्रारब्ध वेग है, आकाश में सूर्य स्थित है इसमें प्रवेश करूँ, जैसे आदर्श में प्रतिबिंब प्रवेश करता है, ऐसे करूँ और शरीर को सूर्य के सारथी से निकालूं, हे रामजी! ऐसा विचार कर मुनीश्वर पुर्यष्टका रूप से आकाशमार्ग में चढ़े और वायुरूप से सूर्य के अन्दर प्रवेश किया, जैसे शस्त्रपिंड में अग्नि प्रवेश करता है, तब सूर्य देव जान गये कि वीतव मुनीश्वर ने प्रवेश किया है, किस निमित्त आया है, यह भी जान गये क्योंकि सूर्य देव सर्वज्ञ थे, उन्होंने यह जान लिया कि इसका शरीर पृथ्वीमें दबा पड़ा है, तृण से आच्छादित है, उसको निकालने के लिये आया है।

ऐसा विचार कर अपने सारथी को कहा–हे सारथिन्! विंध्याचल की कन्दरा में वीतव मुनीश्वर का शरीर दबा पड़ा है, तू जाकर उसको निकाल दे, तब अरुण नामक सारथी जिसका शरीर हस्तिवत् है उसने विंध्याचल की कन्दरा में आकर पृथ्वी में गड़े हुए उस शरीर को नखों से निकाल दिया। उसके नख कैसे हैं? जिन्होंने पहाड़ उखाड़ कर धर दिये हैं, उन्हीं नखों से उसने मुनिवर के शरीर को निकाल दिया, तब मुनीश्वर ने पुर्यष्टका से शरीर में प्रवेश किया, जैसे पक्षी आकाशमार्ग से उड़ता हुआ आलय में आकर प्रवेश करता है, ऐसे शरीर में आकर प्रवेश किया और सावधान होकर अरुण को नमस्कार किया, परस्पर नमस्कार हो जाने के अनन्तर अपने अपने कार्य की ओर प्रवृत्त हुए, अरुण आकाशमार्ग और गया और मुनीश्वर तालाब की ओर गया, कीचड़ से भरे शरीर से मुनि ने तालाब में डुबकी लगाई, जैसे हाथी मल धोता है, ऐसे स्नान किया, सन्ध्यावंदन किया, सूर्य भगवान् को अर्घ्य प्रदान तथा भगवान् की पूजा की, जैसे प्रथम तप से शरीर शोभा पाता था, ऐसे ही सुशोभित किया, मैत्री, समता, सत्य, मुदिता आदि गुणों से सम्पन्न हुआ, ब्रह्मलक्ष्मी से शोभावान् हुआ और सब के संग से रहित हुआ, जो इन गुणों को भी स्वरूप में स्पर्श न करे, आपको शुद्ध स्वरूप जाने।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवसमाधियोगोपदेशो नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ।।८५।।

षडशीतितमः सर्गः ।।८६।।

वीतवोपाख्यानइन्द्रियनिर्वाणवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस प्रकार जब कुछ दिन व्यतीत हुए तब समाधि के निमित्त मुनीश्वर का मन उदय हुआ तब जाकर विंध्याचल की कंदरा में स्थित हुआ, पूर्व समय में जो विचार अभ्यास किया था और परावर दृष्टि हुई थी, उससे फिर चित्त को कहा–हे

चित्त! हे इन्द्रियों! मैंने पूर्व ही तुम्हारा प्रहार कर छोड़ा है, अब तुम्हारे अचित्त में अनर्थ अर्थ कोई नहीं, क्योंकि अस्तिनास्ति कलना मेरी नष्ट हुई है, अस्ति नास्तिक के पीछे जो शेष रहता है, उसमें मैं स्थित हूँ, जैसे पहाड़ का सिंह अचल होता है, ऐसे अचल हूँ और सदा उदय रूप असत् की नाई स्थित हूँ, उदय स्वरूप इससे सदा ज्ञानरूप प्रकाशवान् हूँ और असत् की नाई इस प्रकार जो सदा अक्रिय रूप हूँ और असत् रूप उदय की नाईं स्थित हूँ, असत् इस कारण से कि मन इन्द्रियों का विषय नहीं और उदय की नाईं इस कारण से कि सबका साक्षीभूत हूँ और सदा समरस प्रकाश रूप अपने आप में स्थित हूँ, पुनः कैसा हूँ, प्रबुद्ध हूँ और सुषुप्ति में स्थित हूँ, प्रबुद्ध इस कारण से कि इंद्रियों को विषयों की उपलब्धि कराता हूँ और सुषुप्त इस कारण से कि हर्ष शोक इष्ट अनिष्ट से रहित हूँ और जगत् की ओर से सुषुप्ति समाधि में हूँ, वहां जाग्रत हुआ तुरीयापद आत्मतत्व में स्थित हूँ, जैसे स्थाणु स्तंभ स्थित होता है, ऐसे स्थित रूप हूँ, नित्य, शुद्ध समान सत्ता आत्मपद वहां मैं निरामय स्थित हूँ, हे रामजी! इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मुनीश्वर ध्यान में जुड़ा, षट् दिन पर्यन्त ध्यान में रहा, तदनन्तर जब जगा तब उसको यह छः दिन का समय एक क्षण के समान जान पड़ा जैसे सोया क्षण में जगता है इसी प्रकार वीतव शुद्ध पद को प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्त होकर चिरकाल पर्यन्त विचरता रहा, उसको न किसी वस्तु से हर्ष होता था न किसी वस्तु से शोक होता था, चलता हुआ भी स्थिर रहता था, इन्द्रियों के व्यवहार में इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में सम रहता था, कदाचित् किसी प्रकार से भी विचलित नहीं होता था, चलता बैठता मन इन्द्रियों से कहता था हे—इन्द्रियों! रे मन! तुम अब शमवान् हुए हो, आत्मा को पाकर अब देखो तुम्हें कितना सुख है, जिस सुख को पाकर अन्य पाने योग्य कोई वस्तु नहीं रहती, ऐसा अपूर्व सुख है, ऐसा जो परम शान्तरूप अचल सुख है, उसका आश्रय करो, चंचलता को त्यागो, हे इन्द्रियों! तुम्हारा वास्तव से स्वरूप कुछ नहीं, आत्मपद में तुम दृष्टि भी नहीं

आतीं, अपने स्वरूप को जाने बिना तुम मुझे दुःख देती थी, अब मैं अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ, तुम्हारे अन्दर सामर्थ्य नहीं कि मुझे अपने वश में कर सको, क्योंकि तुम अवस्तु रूप हो, आत्मा के प्रमाद से तुम्हारा मान होता है, जैसे जेवरी में सर्प भासता है, ऐसे अनात्मा में आत्म भावना और आत्मा में अनात्म भावना होती है, वह अविचार से होती है, विचार से नहीं होती, अब विचार करके यह भ्रम निवृत्त हुआ है, तुम इन्द्रियगण और हो, अहंकार और है, ब्रह्म और है, कर्तृत्व और है भोक्तृत्व और है, दूसरे का दुःख अपने आप में मानना ही मूर्खता है जैसे वन की लकड़ी और है बांस और है, चर्म और है, जिस करके रथ बनता है, लोहा और पीतल आदि जिससे रथ जड़ा है, बैल जो रथ को चलाते हैं, उन सब करके रथ बनता है, जैसे गृह का आकार होता है ऐसे रथ है, उसमें बैठने वाला पुरुष और होता है, रथ की सामग्री परस्पर और होती है, उसमें बैठनेवाला कहे कि मैं रथ हूँ, वह नहीं बनता, ऐसे शरीररूपी रथ है, अज्ञान करके मिला है, इन्द्रिय और हैं, मन आदिक और हैं, उसमें जो पुरुष वह जीव है, जीव कहे मैं शरीर हूँ, बड़ी मूर्खता से उस शरीर के सुख दुःख मूर्खता से अपने माने जा रहे हैं, विचार कर देखे तो राग द्वेष क्षोभ से मुक्त हों, मैंने अविचाररूप विस्मृति स्वरूप को दूर से त्यागा है और स्वरूप की स्मृति स्पष्ट की है, जो आत्मतत्व सत् है उसको सत् जाना है और अनात्मा असत् है उसको असत् जाना है, जो सत् है वह स्थित है, जो असत् है वह क्षीण हो जाता है, हे रामजी! इस प्रकार वीतव मुनि विचार करके जीवन्मुक्त हुआ, अपने स्वरूप में बहुत वर्षों को व्यतीत किया, अपना जो निर्भय पद है जिसमें चित्तादिक भ्रम सब नष्ट हो जाते हैं, ऐसे शुद्ध पद को प्राप्त हुआ, यथा भूतार्थ आत्मध्यान में स्थित हुआ, ग्रहण और त्याग की भावना कुछ न रही, परिपूर्ण आत्मपद को प्राप्त हुआ, अगस्त्यमुनि का पुत्र वीतवमुनि इस पद को पाकर निर्वासनिक हुआ, जिस प्रकार जिस समय में विदेह मुक्त हुआ वह सुनिये। बीस हजार सात सौ वर्षों जीवन्मुक्त में रहकर तदनन्तर विदेह

मुक्त हुआ, जो इच्छा अनिच्छा से रहित पद है, जन्म मरण का जिसमें अन्त है, रागद्वेष से रहित उस पद को प्राप्त हुआ है, हे रामजी! हिमालय पर्वत की कन्दरा में उसने प्रवेश किया। पद्मासन लगाकर हाथ जोड़कर कहने लगा–हे राग! तू निरागता को प्राप्त हो और हे द्वेष! तू निर्द्वेषता को प्राप्त हो, तुम्हारे साथ में बहुत देर तक खेला हूँ, परन्तु वह खेलना विवेक से रहित था, तुम अब जाओ, मेरा तुमको नमस्कार है और हे भोग! तुम्हारी लालसा से मुझको परमपद का विस्मरण हो गया था, जैसे माता सुख के निमित्त पुत्र की लालसा करती है, ऐसे मैं सुख जानकर तुम्हारी लालसा किया करता था, अब जाओ, तुमको मेरा नमस्कार है, अब निर्वाण पद को प्राप्त होता हूँ, हे दुःख! तुझको भी नमस्कार है, तेरे उपदेश से मैं आत्मपद को प्राप्त हुआ हूँ, क्योंकि मैं सदा भोग सुख को चाहता था, जब सुख प्राप्त होता था तब तुझको भी साथ ले आता था, सुख से तेरी उत्पत्ति होती है, सुख की लालसा में तो मैं अनेक जन्म पाता रहा और जब सुख आता तब तुझे भी साथ ले आता, तुझको देखकर मुझको आत्मपद की इच्छा उत्पन्न हुई, तेरे प्रसाद से मैं परम शीतल पदवी को प्राप्त हुआ हूँ, हे दुःख! तू तो दुःख था परन्तु मुझको सुख प्राप्त हुआ, वह सब तुम्हारी ही कृपा से हुआ है, इसलिये तुम्हारा कल्याण हो, तुम अब जाओ, हे मित्र! संसार में जीना असार है, जिसका संयोग होता है, उसका वियोग भी होता है, तुमने मुझ पर बड़ा उपकार किया है, जो अपना नाश किया है और मुझको सुख प्राप्त कराया है यदि तुम मुझे न मिलते तो मैं आत्मपद की प्राप्ति के लिये यत्न कब करता? तुमने अपना नाश स्वीकार किया परन्तु मुझे सुख सम्पन्न बनायां हे मित्र! तू बान्धवों के समान देर तक मेरे साथ रहा, तू कदाचित् मुझसे दूर न हुआ, मैंने तेरा नाश नहीं किया, तुमने अपना नाश आप ही किया है, तू मुझको जब प्राप्त हुआ था तब मुझको विवेकोत्पत्ति हुई, उस विवेक ने तेरा नाश किया है, इसलिये तुझको मेरा नमस्कार है, हे माता तृष्णा! तुझको नमस्कार है, तू सदा मेरे साथ

होकर रही, कदाचित् मेरा त्याग नहीं किया जैसे अयाने बालक का त्याग माता नहीं करती, ऐसा तुमने मेरा त्याग नहीं किया, अब तुम जाओ। हे कामदेव! तुमने स्वयं विरीत होकर अपना नाश किया है, जब तू बहिर्मुख था तब जीता था, जब अन्तर्मुख हुआ तब तू मिट गया, तुझको नमस्कार है और हे सुकृती! तुमको नमस्कार है, तुमने भी बड़ा उपकार किया था जो नरकों से निकालकर स्वर्ग में पहुँचा दिया था, परन्तु अन्त सबका वियोग होना है, इसलिये तुम भी जाओ, हे दुष्कृतो! तुम भी जाओ विकर्म रूप तुम्हार क्षेत्र है युवा अवस्था बीज है, उससे नरक दुःख फल होता है, वह तुम्हारे साथ संयोग हुआ था, अतः तुमको भी नमस्कार है, तुम भी जाओ हे मोह! तुमको भी नमस्कार है, तेरे द्वारा मैं बहुत देर से बँधा पड़ा था और नाना प्रकार के स्थानों को प्राप्त होता था और तू भय दिखाता था, उससे मैं भारी भय पाता था इसलिये तुझको भी नमस्कार है, तब तुम जाओ। हे गिरिकंदरा! तुझको भी नमस्कार है, तुझमें मैंने चिरकाल तप किया था, हे बुद्धि! हे विवेक! तुमको भी नमस्कार है, तुमने मेरे ऊपर उपकार किया है जो संसार बंधन से मुक्त किया है, तुम भी जाओ। हे दंड! अरे तुम्बा! तुमको भी नमस्कार है, तुम भी जाओ, बहुत काल तक तुम भी मेरे सम्बन्धी रहे हो। हे देह! रक्त मांस का पिंजर होकर तू मेरे साथ बहुत काल रहा है और तुमने उपकार किया है कि विवेक उत्पन्न करने का स्थान तू ही है, तेरे संयोग से मैंने परम पद पाया है, तू भी अब जा, तुझको नमस्कार है, हे संसार के व्यवहारो! तुमको भी नमस्कार है तुम्हारे बीच पड़ कर मैंने बहुत काम किया है ऐसा पदार्थ जगत् में कोई नहीं जो लिया दिया न होगा और ऐसा कर्म कोई नहीं जो किया न होगा और ऐसा देश कोई नहीं जो देखा न होगा। अब सबको नमस्कार है, हे इंद्रियों! हे प्राण! हे मन आदिक! तुमको नमस्कार है, हमारा चिरकाल तक संयोग था, अब वियोग हुआ है, क्योंकि जिसका संयोग होता है उसका वियोग भी होता है, इसलिये

हमारा तुम्हारा भी अब वियोग है, नेत्रों की ज्योति सूर्य मंडल में जाकर लीन होगी, घ्राण की गन्ध शक्ति पृथ्वी में जाकर लीन होगी, प्राण त्वचा पवन में लीन होंगे, श्रवण के शब्द आकाश में लीन होंगे, मन चन्द्रमा में लीन होगा, जिह्वा रस में लीन होगी, इसी प्रकार सब अपने अपने अंशों में जाकर लीन होगें, जैसे लकड़ियों के जलने से अग्नि शान्त हो जाती है जैसे शरत्काल में मेघ शान्त हो जाता है, जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण हो जाता है, जैसे सूर्य के अस्त हुए प्रकाश शान्त हो जाता है, ऐसे ही मन आदिक शान्त हो जायँगे, हे रामजी! ऐसा विचार करते करते मन सब कार्यों से रहित हो, प्रणव के ध्यान में लगा, सर्व दृश्य की ओर से शान्त हो गया, मोहरूप मल को त्यागकर चित्त प्रणव के विचार में लगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवोपाख्यानइन्द्रियनिर्वाणवर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ।।८६।।

सप्ताशीतितमः सर्गः ८७

वीतवनिर्वाणयोगपदेशवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! इस प्रकार शब्द ब्रह्म प्रणव का उच्चारण किया। पंचम भूमिका जो चित्त की अवस्था है उसको प्राप्त हुआ है, अन्दर बाहिर के जो स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं और त्रिलोकी के जो संकल्प विकल्प हैं उनको त्यागकर क्षोभ रहित हो स्थित हुआ, जैसे चिन्तामणि अपने प्रकाश में स्थित होती है, जैसे पूर्ण कला से चन्द्रमा अपने आप में स्थित हुआ है और जैसे मंदराचल के निकलने पर क्षीर सागर स्थित हुआ है, जैसे मथने से रहित मंदराचल स्थित हुआ है, जैसे कुम्हार का चक्र फिरता ठहरता जाता है, जैसे सूर्य के अस्त हुए जीवों की व्यवहार क्रिया ठहर जाती है और जैसे मेघ से रहित शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, जैसे प्रकाश तम से रहित आकाश होता है, ऐसे

फुरने से रहित मन शांति को प्राप्त हुआ, प्रणव के ध्यान से फिर उस वृत्ति के अन्त को प्राप्त हुआ और मंत्र को भी त्याग दिया, जैसे महापुरुष क्रोध को त्यागता है, ऐसे उसने वृत्ति को त्याग दिया, पुनः तेज प्रकाश उदय हुआ, उसको भी निमेष में त्याग दिया, आगे न तेज है न तम है, उसमें अभाववृत्ति रहती है, उसको भी निमेष में त्याग दिया, तब जैसे नूतन बालक की जन्म के समय पदार्थ ज्ञान से रहित अवस्था होती है, ऐसी अवस्था प्राप्त हुई, तब जो सत्तामात्र आत्मतत्व सुषुप्तपद है उसका आश्रय किया, महा अचल जो सुमेरु की नाईं स्थिर अवस्था है, उसको प्राप्त हुआ, फिर केवल अचेतन चिन्मात्रपद तुरीया निरानन्द आनन्द है, जिसमें स्वरूप से इतर और आनन्द नहीं, ऐसे आनन्द को प्राप्त हुआ, जो असत् सत्रूप है, सर्व क्रिया से अतीत है, इस कारण से असत् है, अनुभवरूप है, इस कारण से सत्य स्वरूप है, ऐसे अशब्द पद को प्राप्त हुआ जो परमशुद्ध पावन पद है और सर्वभाव के अन्तः प्राप्त है और सर्व भाव शब्द से रहित है, जिसको शून्यवादी शून्य कहते हैं, ब्रह्मवादी ब्रह्म कहते हैं, विज्ञानवादी जिसको विज्ञान कहते हैं, सांख्यमतवाले जिसको पुरुष कहते हैं, योगवाले जिसको ईश्वर कहते हैं, शैव जिसको शिव कहते हैं, वैष्णव जिसको विष्णु कहते हैं, शाक्त जिसको परम शक्ति कहते हैं, कालवादी जिसको काल कहते हैं, आत्मवादी जिसको आत्मा कहते है और माध्यमिक जिसको मध्यम कहते हैं, इत्यादिक जो शास्त्रोंवाले कहते हैं, वह एक परब्रह्म कहते हैं, क्योंकि जो सर्वदा सर्वकाल सर्वप्रकार सब में सबरूप वही है, ऐसे सर्वात्मा को वीतव मुनीश्वर प्राप्त हुआ जिस आनन्द समुद्र के बल से उसको आनन्द होता है, ऐसे आत्मतत्व अनुभव रूप अपने आनन्द को प्राप्त हुआ, वही रूप हो गया, जो अन्य है, निरन्य है, निरंजन है, सर्व है, असर्व है, अजर है, अमर है, सबका आदि है, सकलंक है, निष्कलंक है, ऐसा जो आकाश से निर्मल पद है, उसको वीतव मुनीश्वर प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतवनिर्वाणयोगपदेशो
नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥८७॥

अष्टाशीतितमः सर्गः ८८

वीतविश्राप्तिसमान्तिवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! वीतव मुनीश्वर दुःखरूप संसार समुद्र के पाररूप परमपद को प्राप्त हुआ, जिस पद के प्राप्त हो जाने पर पुनः जन्म मरण नहीं होता, जिस पद में स्थित हुआ परमशान्त उपशमानन्द को प्राप्त होता है, जैसे समुद्र में पड़ी बूंद समुद्ररूप हो जाती है, ऐसे ब्रह्म समुद्र में मुनि ब्रह्म रूप हुए और वीतव मुनि का शरीर विरस होकर गिर पड़ा, जैसे शीतकाल में वृक्षों के सूखे पत्र गिर पड़ते हैं, ऐसे शरीर गिर पड़ा। शरीर रूपी वृक्ष था उसमें हृदय रूपी आलय था उसमें प्राण रूप पक्षी रहता था, वह चिदाकाश में पहुँचा, जैसे पत्थर खंभानी से फेंका हुआ दौड़ता है, ऐसे जा पहुँचा अपने स्वरूप में स्थित हुआ, हे रामजी! मैंनें यह वीतव की कथा तुमको सुनाई है जो कि अनन्त विचारों से भरी है, इस प्रकार विचार कर वीतव विश्रामवान् हुआ, तुम भी उसको विचारकर सफलता प्राप्त करो और दृश्य का चिन्तन त्यागकर सावधान हो जाओ, हे रामजी! जो कुछ मैंने तुमको पहिले कहा है, उसको प्राप्त कर लेने पर पाने योग्य वस्तु शेष नहीं रहती अर्थात् मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और अब मैं जो कहता हूँ और जो कुछ पीछे कहूँगा, उसको विचार कि मुक्ति ज्ञान से ही होती है और ज्ञान से ही सब दुःख नाश होते हैं, ज्ञान से ही अज्ञान निवृत्त होता है, ज्ञान ही से परम सिद्धता को प्राप्त होता है, पाने योग्य यह वस्तु है, दुःखों के नाश करने को और कोई समर्थ नहीं, यह निश्चय है कि ज्ञान से सब पाश कट जाते हैं। ज्ञान से ही वीतव ने मन को चूर्ण किया है, हे रामजी! वीतव की संवित् जगत् के अतीत हो गयी, जितना दुःख है सब मन से होता है, मन के उपशम हुए सब जगत् अनुभव रूप हो जाता है, वीतव भी मनोमात्र था, मैं भी मनोमात्र हूँ, तू भी मनोमात्र है, पृथ्वी आदि जगत् सब मनोमात्र है, मन से इतर कुछ नहीं, जहां मन होता है वहां जगत् होता है, मन ही जगत्

रूप है और जगत् ही मनोरूप है जो ज्ञानवान् पुरुष है, वह मन के पक्ष का त्याग करके केवल चिदानन्द आत्मतत्व में स्थित होता है, राग द्वेष विषय विकार आदि इनसे मिट जाते हैं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे वीतविश्रान्तिसमाप्ति नाम अष्टाशीतितमः सर्गः ॥८८॥

एकोननवतितमः सर्गः ८९

सिद्धिलाभविचारवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी वीतव की नाईं विदित वेद्य होकर राग द्वेष से रहित मनोवृत्ति में रहो वीतव हजार वर्ष तक बीतशोक जीवन्मुक्त होकर विचरा है, ऐसे ही तुम भी विचरो और भी बोधवान् राजा और मुनीश्वर हुए हैं, यथाप्राप्त राज्यादिव्यवहार में रहे हैं, तुम भी जीवन्मुक्त होकर ऐसे ही विचरो, हे रामजी! सुख दुःख कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते, आत्मा सर्वज्ञ है, तू किस निमित्त शोक करता है, बहुत विदित वेद्य पृथ्वी पर विचरते हैं, परन्तु शोकाकुल कभी नहीं देखे गये, जैसे तुम भी अब शोक नहीं करते, हे रामजी! अब तुम स्वस्थ हो उदार हो, सम सर्वज्ञ हो, आत्मा हो, तुम्हें पुनर्जन्म नहीं है, जीवन्मुक्त पुरुष जो अपने स्वरूप में स्थित है, वह हर्ष शोक को नहीं प्राप्त होता, जैसे सिंह वानर गीदड़ आदि के वश में नहीं आता, ऐसे जीवन्मुक्त विकारों से रहित होता है। रामजी बोले–हे भगवन् इस प्रसंग में मुझे एक संदेह हुआ है उसको निवृत्त कीजिये। जैसे शरत्काल से मेघ नष्ट हो जाते हैं ऐसे नाश कीजिये। हे तत्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ! जीवन्मुक्त के शरीर में शक्ति क्यों नहीं दृष्टि आती जो आकाश में उड़ता फिरे और सूक्ष्मरूप से अन्य शरीर में प्रवेश कर जाय, इत्यादि शक्ति शरीर में नहीं दिखती, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! आकाश गमनादि जो सिद्धियाँ हैं, वे तापादिक कर्मों की शक्तियाँ जितने हैं कुछ जगद् वैचित्र्य हैं दिखाई देना

फिर गुप्त हो जाना इत्यादि वस्तु द्रव्य के स्वभाव हैं, आत्मा के ज्ञान के नहीं, हे रामजी! कोई द्रव्य क्रिया काल को यथा क्रम साधता है, उसको शक्ति प्राप्त होती है, ज्ञानी साधे या अज्ञानी साधे शक्ति प्राप्त हो जाती है, परन्तु शक्ति आत्मज्ञान का फल नहीं, आत्मज्ञानी को आत्मज्ञान की सिद्धता होती है, आत्मा से आत्मा में तृप्त होता है, सिद्धि, जो अविद्यारूप है, उसकी ओर नहीं दौड़ता, उसने जगत् मात्र को अविद्यारूप जाना है, ऐसा जानकर पदार्थों में नहीं डूबता जो अज्ञानी है वह सिद्धता के निमित्त इन पदार्थों को साधता है और जो ज्ञानवान् है वह इन पदार्थों के वास्ते यत्न नहीं करता और यत्न करे तो ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी इन्द्रादिकों के ऐश्वर्य को पाता है और ज्ञान की शक्ति नहीं, द्रव्य की शक्ति है, वह अविद्यारूप है, अज्ञानी इनकी ओर दौड़ते हैं, ज्ञानवान् नहीं दौड़ते, वे सबसे अतीत हैं, सर्वेच्छा का जिसने त्याग किया है और आत्मपद में सन्तोष पाया, वे इनकी इच्छा नहीं करते, इनकी इच्छा भोगों अथवा बड़ाई के निमित्त होती है अथवा मान और जीने के निमित्त तथा सिद्धि के निमित्त इच्छा होती है, आत्मज्ञानी को न भोगों की इच्छा होती है न सिद्धि की तथा न मान की, क्योंकि यह सब अनात्मधर्म हैं, वह नित्य तृप्त परम शान्त रूप है, बीतराग निर्वासनिक पुरुष है और आकाश की नाईं सदा अपने आप में स्थित है, जैसे सुख स्वाभाविक आता है ऐसे दुःख स्वाभाविक आता है, शरीर की सुख दुःख अवस्था में विचलित नहीं होता नित्य तृप्त असंग होता है, जीवन मरण की वृत्ति उसकी नहीं फुरती, सब में सम रहता है, समुद्र में नदियां प्रवेश करती है और समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित है, ऐसे ज्ञानवान् को क्षोभ नहीं प्राप्त होता, हे रामजी! जो कुछ ज्ञानवान् को प्राप्त होता है वह आत्मार्चन करते हैं, उसको करने में कुछ अर्थ नहीं, न करने में प्रत्यवाय नहीं होता और उसको किसी का आश्रय नहीं, सदा अपने स्वरूप में स्थित है और यह जो सिद्धियां हैं मंत्र काल और कर्म से होती हैं, एक योग क्रिया ऐसी होती है उसके साधने से उड़ने की शक्ति आती है, एक

मंत्रो से शक्ति होती है और एक गुटिका मुख में रखने से उड़ने की शक्ति आती है, इत्यादिक शक्ति की प्रथम ही नीति रहती है अन्यथा नहीं होती हे रामजी! जैसी शक्ति जिस साधन से नियत हुई है उसके अन्यथा करने को सदाशिव भी समर्थ नहीं, क्योंकि जो स्वाभाविक है स्वतः सिद्ध है, जैसे चन्द्रमा में आदि नीति शीतलता है, अग्नि में उष्णता है इत्यादि पदार्थों में आदि नीति से जो स्वयं भाव हुआ है उसके दूर करने को कोई समर्थ नहीं, सर्वज्ञ जो विष्णु भगवान् हैं वे भी अन्यथा करने को समर्थ नहीं होते, हे रामजी! जिस द्रव्य में मारने की सत्ता है, वह मारता है, मद्य में मत्त करने की शक्ति है, ऐसे ही द्रव्य योग काल आदिक में सिद्धता शक्ति नियत हुई है, जैसे एक औषध में क्लेश करने की शक्ति है, उसके पाने से क्लेश होता है, जैसे इनमें अपनी अपनी शक्ति है, जो इनको साधता है, उसको वह प्राप्त होती है, जो आत्मज्ञानी इनका साधन करे वह करते हुए भी अकर्ता है और आत्मज्ञान के पाने में सिद्धि कुछ उपकार नहीं कर सकती, परन्तु जो इनकी वांछा करे तो यत्न करके पाता है, यत्न बिना नहीं पाता, आत्मज्ञानीको इच्छा भी नहीं होती है, आत्मपरायण ही होता है, आत्म लाभ से उसकी सब इच्छा शान्त हो जाती है हे रामजी! जितने लाभ हैं उनसे परम आत्मलाभ है, आत्मा को पाकर पुनः इच्छा किसी की नहीं होती जैसे अमृत पान करने से अन्य जलपान की इच्छा नहीं रहती, ऐसे आत्मा के लाभ से और इच्छा नहीं होती, जिनको आत्मलाभ हुआ है उनको अन्य इच्छा कैसे हो क्योंकि आत्मलाभ से सम्पूर्ण इच्छाएं कामना वासनाएं समाप्त हो जाती हैं, आत्मज्ञान के पूर्व ही इच्छाओं की प्रबलता रहती है उसके अनन्तर आनन्द। वीतव मुनिवर के मन में कोई इच्छा न थी और इनमें पहिले सूर्य के समीप गमन की शक्ति जो दृष्टि आई थी वह क्रिया के साधन करने से थी, उसके बाद जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब कुछ इच्छा न रही, हे रामजी! जो कुछ किसी को फल प्राप्त होता है, वह अपने प्रयत्न से होता हैं, जो ज्ञानवान् है वह सदा तृप्त रहता है, उसको इष्ट अनिष्ट से

इच्छा कुछ नहीं फुरती, रामजी बोले–हे भगवन्! इतना समय अर्थात् तीन सौ वर्ष वीतव मुनि समाधि में रहे तब उनका शरीर पृथ्वी के साथ पृथ्वी क्यों न हो गया? और सिंहव्याघ्रादि उस शरीर को क्यों नहीं खा गये? और वह पीछे विदेह मुक्त हुए पहिले क्यों न हुए? जो पृथ्वी में दबे हुए को निकालने के लिये बड़ा यत्न किया, इस संशय का निवारण कीजिये, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जो संवित् वासना बद्ध है, वह सुख दुःख को भोगती है और मलिन भाव से आवृत्त हुई है और जो वासना से रहित है, वह शुद्ध समतारूप है सुख दुःख के भोग से रहित है किसी कारण से छेदी नहीं जाती, हे रामजी! जिस जिस पदार्थ में चित्त लगता है, वही वही पदार्थ स्वरूप में भासता है, यह पदार्थ की शक्ति है, जैसी पदार्थों में शक्ति होती है, ऐसी भासती है, इस कारण से बहुत वर्ष व्यवतीत होते हैं, तो भी समाधि के बल से उसका शरीर ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि चित्त जिस पदार्थ में लगता है, उसका रूप हो जाता है, जैसे मित्र को मित्रभाव से देखता है, स्वाभाविक ही प्रसन्न होता है और शत्रु को देखकर चित्त में स्वाभाविक ही अप्रसन्नता फुर आती है, मिष्ट वस्तु को देखकर चित्त स्वाभाविक लोलुप हो जाता है, कटुक विरसता को प्राप्त होता है, जैसे मार्ग चलनेवाले का चित्त मार्ग के पर्वत वृक्षों के राग से बंधन में नहीं आता और जैसे चन्द्रमा के निकट जाने से शीतलता होती है, सूर्य के निकट उष्णता प्राप्त होती है, वह पदार्थ की शक्ति है, जिस पदार्थ के साथ वृत्ति का स्पर्श होता है, उसका स्वाभाविक आरंभ विफल प्राप्त होता है, ऐसे जब योगी देह इन्द्रियों की वासना ममत्वभाव को त्यागकर समभाव में प्राप्त होता है, तब उसको समभाव को अनुभव होता है, अर्थात् सब में एक ही भासता है, इस कारण से शरीर को सिंहादि कोई हिंसक जन्तु काट नहीं सकता जो जीव उसका घात करने को आते हैं, वे हिंसाभाव को त्याग देते हैं, अहिंसक हो जाते हैं, निकट आने पर शान्त हो जाते हैं, वीतव का शरीर छिन्न नहीं हुआ, न पृथ्वी में पृथ्वी हो गया, सर्वत्र समता आकाश एक ही स्थित है, काष्ठलोष्ठ पत्थर

ब्रह्मादितृणपर्यन्त सब में एक अनुस्यूत है और जहाँ पुर्यष्टका होती है वहां भासता है, जहां पुर्यष्टका नहीं होती वहां नहीं भासता, जैसे सूर्य का प्रतिबिंब सर्वत्र पूर्ण है परन्तु जहां स्वच्छ स्थान, जल तथा दर्पण आदि होते हैं वहां भासता है, जहां उज्ज्वल स्थान नहीं होता वहां प्रतिबिंब नहीं भासता, ऐसे जहां पुर्यष्टका है, वहां संवित् भासती है, अन्यथा नहीं भासती, इस कारण से जो वीतव की संवित् समभाव में स्थित है, उसको किसी तत्व का और जीव का क्षोभ नहीं होता और पञ्चतत्वों का क्षोभ तब होता है, जब प्राण फुरते हैं, जब प्राण फुरने से रहित होता है तब तत्वों का क्षोभ नहीं होता, वीतव की बाह्य और अन्तर (अन्दर की) स्पन्द कला प्राणों की शान्ति हो गयी थी, प्राण और चित्तकला दोनों फुरणे से रहित थी, इसका हृदय भी क्षोभयुक्त न हुआ, हे रामजी! देहरूप गृह में चित्त और वायु का स्पन्द शान्त हो जाता है, जब इनका फुरना शान्त हो जाता है तब शरीर का नाश हो जाता है, तब सब सुमेरु की नाईं स्थित हो जाते हैं, किसी की सामर्थ्य नहीं जो उसको क्षुब्ध करे और नाश करे, योगीश्वर का चित्त और प्राण निस्पन्द हो जाता है, वह इनको वश करके जुड़ता है, तब उसको न तत्वों का क्षोभ होता है, न बात पित्त कफ का क्षोभ होता है, न और किसी प्रकार का क्षोभ होता है, इससे योगी का शरीर सहस्र वर्ष पर्यन्त भी ज्यों का त्यों रहता है, नष्ट नहीं होता जैसे–वज्र को कोई चूर्ण नहीं कर सकता, सबकी शक्ति उसके ऊपर कुंठित हो जाती है, इस प्रकार से वीतव का शरीर ज्यों का त्यों रहा और तब क्यों न विदेह मुक्त हुआ? वह सुनो, हे रामजी! तत्वज्ञ विादत वेद्य वीतराग महाबुद्धि है, जिनकी अभिमान रूपी गांठ टूट पड़ी है, वे पुरुष स्वतन्त्र स्थित होते हैं, उनको न कोई प्रारब्धकर्म है, न संचित् कर्म है, न वर्तमान (क्रियमाण) कर्म है, सबसे मुक्त तत्ववेत्ता स्वतंत्र स्थित होते हैं और स्वेच्छा से विचरते हैं, जैसे इच्छा करें वैसी शीघ्र होती है, हे रामजी! वीतव को आकाश मात्र से जीवन का स्पन्द फुर आया तब कुछ समय जीवित रहा, जब उसकी संवित् में विदेह मुक्त होने

का स्पन्द फुरा तब विदेहमुक्त हो गया, उसकी स्थिति स्वाभाविक स्वतंत्र होती है, जिसकी वांछा करता है वह तत्काल हो जाता है, मन आत्मपद में स्थित होता है, उसको कुछ कृत्य कर्तव्य नहीं।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे सिद्धिलाभविचारो नाम एकोननवतितमः सर्गः ॥८९॥

नवतितमः सर्गः ९०

ज्ञानविचारवर्णनम् ।

रामजी बोले– हे भगवन्! जब विचार से वीतका चित्त शान्त हो गया, तब उसको मैत्री करुणा आदिक गुण आकर प्राप्त हुए, यह तुमने कहा, परन्तु जब विवेक करके चित्त उसका नष्ट हो गया, तब मैत्री आदिक गुण कहाँ आकर प्राप्त हुए, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! चित्त का नाश दो प्रकार का है, जीवन्मुक्त का चित्त अचित्तरूप हो जाता है और विदेह मुक्त का चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है, जैसे भूना हुआ दाना होता है ऐसे जीवन्मुक्त का चित्त देखने मात्र से चित्त है बीच से शब्द भाव नहीं जैसे दाना नष्ट हो जाय ऐसा विदेह मुक्त का चित्त है, वह देखने मात्र के लिये नहीं रहता, हे रामजी! जो चित्त की सत्यता है, वह दुःखों का कारण है और चित्त की असत्यता (अभाव) सुखों का कारण है, चित्त में विषयों की वासना फुरती है, वह चित्त जन्मों के देनेवाला है और दुःखों का कारण है गुणों के संग से अहं मम भाव में रहता है, चित की सत्यता से जीव कहाता है, हे रामजी! जब तक चित्त विद्यमान है, तब तक अनन्त दुःख होता है, दुःखरूपी बीज का वृक्ष चित्त है, जब चित्त नष्ट हुआ, तब कल्याण हुआ, रामजी बोले–हे ब्राह्मण! मन किसका नाम हुआ और कैसे नष्ट होता है और अस्त कैसे होता है, यह कहिये। वसिष्ठजी बोले– हे प्रश्नवेत्ताओं में श्रेष्ठ! चित्त सत्ता का

लक्षण मैंने तुम्हें कहा है अब चित्त मृतक का लक्षण सब सुन। सुख और दुःख की दशा जिसके धैर्य को विचलित नहीं कर सकती, जैसे सुमेरु को पवन चला नहीं सकता, ऐसे ही जिसके चित्त को दुःख विचलित नहीं कर सके, उसको मृत जानो, अर्थात् सारांश यह है कि उसका चित्त सत् पद को प्राप्त हुआ है, उस चित से चिन्ता (चित्तत्व) नाश हो गयी (या) है, जैसे भूने दाने से अंकुर नाश हो जाता है, ऐसे उसका चित्तनाश हो जाता है, आत्मा से इतर जिसको कुछ नहीं फुरता वह चित मृतक हुआ है, हे रामजी! अहं इच्छा, द्वेषादि विकार जिसके चित्त को तुच्छ नहीं कर सकते उसके चित्त को मृतक जानो और जिस पुरुष को इंद्रियों के इष्ट अनिष्ट विषय प्राप्त हों और रागद्वेष की ग्रहण त्याग की द्वैत भावना उत्पन्न न हो, ज्यों का त्यों रहे उस पुरुष का चित मृतक जानो, जिसका चित्त नाश हुआ है उसे जीवन्मुक्त जान और जिसको संसार के इष्ट अनिष्ट पदार्थों में रागद्वेष की प्राप्ति के कारण ग्रहण त्याग की इच्छा उत्पन्न होती है तो मालूम होता है कि देह में अभिमान है और चित्त अभी जीवित है, अहं मम संयुक्त देह में अभिना है, उससे अपने आपको सुखी दुःखी मानता है और अपने में अनुभव होता है तो ऐसा चित्त जीवित है, यह चित्त सत्यता है और जब चित्त संसार से विरक्त हो और जब चित्त सत्संग करे सत् शास्त्रों का श्रवण मनन करे और स्वरूप का अभ्यास करे तब चित्त अचित्त हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति होती है, तब जीवन्मुक्त होकर विचरता है और मैत्री आदिक गुण जिस प्रकार जीवन्मुक्त में होते हैं, वह सुनो, हे रामजी! चित्त में जो संसार की सत्यतारूप मैल है, यही चित्त भाव है, यह आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है, तब मैत्री आदिक गुण आकर प्राप्त होते हैं, जैसे सूर्य के उदय हुए तम नष्ट हो जाता है और प्रकाश उदय होता है और जैसे भूने दाने का अंकुर जल जाता है, ऐसे ज्ञान से चित्त का चित्स्वभाव नष्ट हो जाता है और मैत्री आदि गुण उदय होते हैं, देखने मात्र चित्त देखता है अज्ञानी की नाईं यत्न करता भासता है, परन्तु अज्ञानी का चित जन्म का कारण है, ज्ञानी

का चित्त जन्म का कारण नहीं, जैसे कच्चा दाना उत्पन्न होता है, भूना हुआ नहीं, ऐसे अज्ञानी जन्म लेता है ज्ञानी नहीं जन्म लेता। जैसे चन्द्रमा राहु से छूटता है, तब चित्त में मैत्री करुणा आदि गुण आकर उदय होते है, जैसे वसन्त ऋतु के आये बल्लियां सब प्रफुल्लित हो आती हैं, ऐसे चित्तभाव मिटने पर मैत्री आदिक गुण स्वाभाविक आकर फुरते हैं और जो विदेह मुक्त होता है उसका चित्त स्वरूप से भी नष्ट हो जाता है, वहां गुण कोई नहीं रहता, वह अवस्था ऐसी है उसको कोई नहीं जानता विदेह मुक्त जानता है, उसमें द्वैत कल्पना कुछ नहीं फुरती, निर्मल पावन पद है, हे रामजी! जीवन्मुक्त का चित्त स्वरूप में अचित्त होकर रहता है और विदेह मुक्त में चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है, इस कारण से जीवन्मुक्त में मैत्री आदि गण पाते हैं, विदेह मुक्त में आत्मा निर्मल निष्कलंक है, वह चित्त के नष्ट हुए विदेह मुक्त में रहता है, गुणों की कल्पना उसमें कोई नहीं फुरती, परम पावन निर्मल पद में स्थित होता है और शांति आदि गुण भी नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि चित्त स्वरूप से नष्ट हो जाता है, चित्त के नष्ट हुए चित्त की अवस्था कहां रहे, न कोई गुण रहता है न अवगुण रहता है, न वह गुणों से उत्पन्न हुआ, सार कहाता है, न अवगुणों से उत्पन्न हुआ असार कहाता है, न लोलुप है न लक्ष्मी है, न अलक्ष्मी है, न उदय है, न अस्त है, न हर्ष है न शोक है, न तेज है, न तम है, न दिन है, न रात्रि है, न सन्ध्या है, न दिशा है, न आकाश है, न अर्थ है, न अनर्थ है, न वासना है, न अवासना है, न अंजन है, न निरंजन है, न सत्य है, न असत्य है, न चन्द्रमा है, न तारे हैं, न सूर्य है, ऐसा जो सर्व कलना से रहित पद है शरत्काल के आकाश की नाईं निर्मल है और बुद्धि से परे हैं, उसमें और की गम नहीं, जैसे आकाश के स्थान को पवन जानता है, ऐसे उसकी अवस्था को वही जानें, वहां स्थित हुए सर्व दुःख शान्त हो जाते हैं, ब्रह्मानंद में लीन हो जाता है, ज्ञानवान् आकाश की नाईं निर्मल पद को प्राप्त होता है, जिसके पाने से और पाना शेष नहीं रहता।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे ज्ञानविचारोनाम नवतितमः सर्गः ॥९०॥

एकनवतितमः सर्गः ९१

स्मृतिबीजविचारवर्णनम् ।

रामजी बोले–हे भगवन्! परमाकाश के कोश में एक पहाड़ है, उसके ऊपर एक जगत्रूप वृक्ष है, तारे उसके फूल हैं, नील नीरद पल्लव हैं, सूर्य चन्द्रमा स्कंद हैं, देवता दैत्य मनुष्यादिक जीव सब उसके ऊपर रहनेवाले पक्षी हैं, सप्त समुद्र उसके पास बावड़ियां हैं, अनन्त नदियां उसमें प्रवेश करती हैं, चतुर्दश प्रकार से भूत जात उत्पन्न होते हैं, सुख दुःखरूप फलों से पूर्ण है, मोहरूप जल से सींचता है वह दृढ़ होकर स्थित हुआ है, उसका बीज कौन है? यह ज्ञानरूप बोध को वृद्धिके लिये मुझे संक्षेपसे कहो, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इस संसार का बीज बड़ा शरीर है, जिसके अन्तर (अन्दर) आरम्भ (कर्म) की घनता है, जब शुभ अशुभ का आरंभ शरीर का अंकुर होता है, तब शुभ अशुभ करता है, इसलिये संसार का बीज शरीर है, उस शरीर का बीज चित्त है, राजस सात्विक तामस वृत्ति जिसके टास हैं और जन्म मरण का भंडार है, सुख दुःखरूपी रत्नों का डिब्बा है, ऐसा जो चित्त है वह इस शरीर का कारण है, हे रामजी! जितना कुछ जगज्जाल दृष्टि आता है, वह सब असत्रूप है, चित्त के फुरणे से नाना प्रकार के आडम्बर भासते हैं, जैसे गंधर्व नगर नाना प्रकार के आरंभ सहित भ्रम करके भासते हैं, जैसे संकल्पपुर भासता है वह असत् है, ऐसा यह जगत् असत् है, जैसे मृत्तिका में घटाभाव होता है, ऐसे चित्त में जगत् का सद्भाव होता है, चित्तरूप अंकुर के वृत्तिरूप दो टास होते हैं, एक प्राणों का दूसरा दृढ़ भावना, जब प्राण स्पन्द होता है, हृदय गात्र सम्बन्धी इकहत्तर सौ नाडियों की ओर जब संवेदनरूप चित्त उदय होता है, तब प्राण स्पन्द उनकी ओर नहीं फुरता, जब प्राण फुरता है तब शुद्ध सात्विक चित्त आकर उत्पन्न होता है, उसमें जगत् भासता है, जैसे आकाश में नीलता भासती है, ऐसे प्राण

में नीलता भासती है, जब प्राण स्पन्द होता है, तब चित्त संवित् उछलती है जैसे हाथ में ताडित किया गेंद उछलता है, जैसे प्राण स्पंद में सर्वगत संवित् होती है, वहां प्रतिबिंबितरूप होकर सात्विक भाग में स्थित होती है, महासूक्ष्म से सूक्ष्म है, जैसे वायु में गंध रहती है, वही संवितरूप को त्याग कर बहिर्मुख भागती है, उससे नाना प्रकार का जगत् भासता है और नाना प्रकार की वासनाएं उठती हैं, उनसे अनेक दुःख पाता है, अतः हे रामजी! संवित् को अन्तर्मुख रोकना कल्याण का कारण है, जब संवित स्वरूप में स्थित होती है, तब क्षोभ मिट जाता है, जब शुद्ध संवित् में अहं उल्लेख होता है तब वेदनरूप होती है, वह चित्त है, चित्त से अनेक दुःख होते हैं, चित्त का होना अनर्थ का कारण है, जब चित्त न उपजे तब शान्ति हो जाती है और चित्त सब निवृत्त होता है जब प्राण स्पंद को रोका जाय, अथवा वासना नष्ट हो जाय, ध्यान और प्राणायाम से योगीश्वर प्राणों को रोकता है, तब चित्त स्थिर हो जाता है यह योग से अनुभव करता है और ज्ञान से भी अनुभव सुनो, हे रामजी! चित्त वासना से उत्पन्न होता है, वह वासना विचार से रहित फुरती है, जैसे बालकों को जन्म से ही स्तनों से दूध चूसने की वृत्ति फुरती है ऐसे अकस्मात् भावना की दृढ़ता से वासना फुर आती है, हे रामजी! जिसमें पुरुष की तीव्र भावना होती है, वही रूप पुरुष का होता है, स्वरूप के प्रमाद से भासा है, उसमें दृढ़ प्रतीति हो गयी है उसकी भावना करता है जगत् की वासना से मोह को प्राप्त हुआ है, जो स्वतः सिद्ध अनुभवरूप आत्मा है उसको जान नहीं सकता और वासना की प्रवलता से स्वरूप का त्याग किया है और भ्रान्तिरूप जगत् को सत्य देखता है, जैसे मद्य के कारण से मत्त हुए को पदार्थ विपर्यय हुए और के और भासते हैं, ऐसे मूर्खों को वासना के बल से जगत् के पदार्थ सत्य भासते हैं। हे रामजी! असम्यक् ज्ञान से जीव दुःखी होता है, शान्ति नहीं पाता, मानसिक चिन्ता से जलता है, मन किसका नाम है सुनो—जो असम्यक् ज्ञान से अनात्मा में आत्मभावना हो और वस्तु आत्मा में अवस्तु अनात्मभावना

हो, उसका नाम मन है, वह मन कैसे उत्पन्न होता है, चेतन संवित् में जो पदार्थों का चिन्तन होता है और पुनः तीव्र पदार्थ की दृढ़ भावना होती है, तब वही चेतन संवित् चित्तरूप हो जाती है, उस चित्त में फिर जन्म मरणादिक विकार उत्पन्न होते हैं फिर किसी का ग्रहण और किसी का त्याग करता है, जब ग्रहण और त्याग का संकल्प अन्दर से निवृत्त हो तब चित्त भी मृत्तक हो जाय, जब वासना नष्ट हो जाती है, तब मन अमनपद को प्राप्त होता है, मन का अमन होना परम उपशम का कारण है, हे रामजी! जितने जगत् के पदार्थ हैं, उनकी अभावना कीजिये और सब जगत् भूत करके त्यागिये, तब हृदय आकाश में चित्त शान्त हो। हे रामजी! चित्त का स्वरूप इतना मात्र ही है, जब पदार्थों का रस उठ जाय तब चित्त फिर नहीं उत्पन्न होता, जब तक पदार्थों का रस फुरता है तब तक स्थूल हो जाता है, असम्यक् ज्ञान से जो अनात्मा में आत्मभावना है, ज्यों ज्यों दृढ़ होती है, त्यों त्यों चित्तरूप वृक्ष अनर्थ के लिये बढ़ता जाता है और ज्यों ज्यों अनात्मा से आत्मबुद्धि निवृत्त हो जाती है जो अवस्तु में वस्तुबुद्धि न हो त्यों त्यों चित्तरूप वृक्ष क्षीण हो जाता है, वह कल्याण कारक है, जब चित्त भूत यथार्थ को देखता है, तब चित्त अचित्त हो जाता है और सब आशाएं निवृत्त हो जाती है, परम शान्ति शीतलता हृदय में स्थित होती है, तब पदार्थों को ग्रहण भी करता है, परन्तु अन्दर से राग संयुक्त वासना निवृत्त हुई है, उससे चित्त शान्ति को प्राप्त होता है, हे रामजी! जीवन्मुक्ति में भी चेष्टा दृष्टि आती है, परन्तु जन्म कारण नहीं होती, क्योंकि मन में मन का सद्भाव नहीं, जैसे नटुआ अभिमान से रहित अनेक प्रकार के स्वाँग धारण करता है, ऐसे वह अभिमान से रहित चेष्टा करता है, जैसे कुम्हार का चक्र घूमता ताड़ना से रहित हुआ शनैः शनैः स्थिर हो जाता है, ऐसे ज्ञानवान् का चित्त चेष्टा करता दृष्टि भी आता है, परन्तु जन्म का कारण नहीं, जब प्रारब्ध भोग वेग पूर्ण हो तब स्वाभाविक ठहर जाता है, जैसे भूना बीज नहीं उत्पन्न होता, ऐसे राग से रहित ज्ञानी की चेष्टा है, जैसे भूना और

कच्चा बीज एक सा मालूम होता है परन्तु कच्चा उत्पन्न होता है भूना हुआ उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसे ज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण नहीं होती क्योंकि चित्त शान्त हो जाता है, हे रामजी! जिसकी चेष्टा अभिमान से रहित है वह जीवन्मुक्त कहाता है, जिसका चित्त केवल चिन्मात्र को प्राप्त हुआ है, जब शरीर को त्यागता है तब अचित्तरूप चिदाकाश होता है हे रामजी! चित्त के दो बीज हैं, एक प्राण स्पन्दन दूसरा वासना स्फुरण, दोनों में जब एक का अभाव हो जाता है तब दोनों नाश हो जाते हैं, यह परस्पर कारण रूप हैं, जैसे ताल से मेघ जलपान कर जाता है, पुनः वर्षा से ताल भर जाता है, ऐसे ही प्राण स्पन्द और वासना परस्पर कारणरूप हैं, जैसे बीज से अंकुर होते हैं और अंकुर से बीज होते हैं, ऐसे प्राण स्पन्द से वासना होती है और वासना से प्राण स्पंद होता है, यह दोनों चित्त का कारण है, जैसे फूल बिना सुगंधि नहीं होती, सुगंधि बिना फूल नहीं होता, ऐसे वासना बिना प्राण नहीं होते, प्राणों के बिना वासना नहीं होती, हे रामजी! जब वासना फुरती है, तब संवित् में क्षोभ होता है, वह प्राणों को जगाती है, उससे जगत् उत्पन्न होता है, जब हृदय में प्राण स्पन्द के धर्म होते हैं, तब संवित् क्षोभ होता है और चित्तरूप बालक उत्पन्न होता है, इस प्रकार वासना और प्राण दोनों चित्त का कारण हैं, दोनों में एक का नाश हो तब दोनों हो जाय और चित्त का भी नाश हो जाय, हे रामजी! चित्तरूप एक वृक्ष है, सुख दुःख रूप उसके स्कंध हैं, चिन्ता रूप फल है, कार्य रूप पत्र है, वृत्तिरूपी बल्ली से वेष्टित हुआ है, रागद्वेष रूप दोनों बगले ऊपर आकर बैठ गये हैं, तृष्णा रूप काली सर्पिणी से वेष्टित किया है और इंद्रिय रूप पक्षी उस पर आकर स्थित होते हैं, इच्छादि रोगों से पुष्ट होता है अज्ञान इसका मूल है अवासना रूप खड्ग से शीघ्र ही काटा जाता है, संसार की अभावना और स्वरूप की भावना से शीघ्र ही नाश हो जाता है, जैसे तीक्ष्ण पवन से पका फल वृक्ष से शीघ्र ही गिर पड़ता है, ऐसे ही आत्मभाव से फल गिर पड़ता है, हे रामजी! चित्तरूप आंधी है सब

दिशाएं उसने मलिन कर रक्खी है, प्रकाश को आच्छादित कर लिया है और उसमें तृष्णा रूप तृण पड़े उच्छल रहे हैं और शरीर रूप स्तंभाकार अज्ञान के कुंट से उत्पन्न हुआ वायु विरोला अति क्षोभ पैदा कर रहा है, यदि अन्दर कुछ प्रकाश हो जाय तो अन्धकार दूर हो जब स्पन्द रोकिये तो धूलि शान्त हो जाय, आत्मविचार से जब वासना से रहित हुआ जाय तब शरीर रूपी धूलि शान्त हो हे रामजी! प्राणों के रोकने से शान्ति होती है और वासना के अनुदय से चित्त स्थिर हो जाता है, प्राण स्पंद और वासना का बीज संवेदन है जब संवित्मात्र में संवेदन का त्याग करे, तब वासना और प्राण दोनों फुरें। जैसे वृक्ष का बीज मूल काटिये तो नहीं हो सकता, ऐसे इनका मूल संवेदन है, जब संवेदन का अभाव हो तब दोनों नहीं बनते, संवेदन का बीज आत्मसत्ता है, संवित् सत्ता से संवेदन प्रकट हुआ है, उससे इतर नहीं, जैसे तिलों बिना तेल नहीं पाता, बाह्य (बाहिर) अभ्यन्तर (अन्दर) और कुछ नहीं, सब संवित् सत्ता बिना अन्तर नहीं पाता, वही संकल्प द्वारा संवेदन को देखती है, जैसे स्वप्न में अपनी मृत्यु को देखता है, देश देशान्तर को प्राप्त होता है, ऐसे सब सत्ता संवदेन को देखती है, संवित् चिन्मात्र में संवेदन का उत्थान होता है, जो अहमस्मि तब संवेदन जगज्जाल दिखाती है, अपनी संवेदन उठकर आपको भ्रम दिखाती है, जैसे बालकको अपने संकल्पसे उपजा बेताल सत्य भासता है, जैसे स्थानु में पुरुष भासता है, ऐसे संवित् में संवेदन भासती है, हे रामजी! असम्यग् ज्ञान करके संवेदन रूप हो जाती है, उसमें आत्म बुद्धि होती है और सम्यग् ज्ञान करके लीन हो जाती है, जैसे जेवरी में असम्यग् ज्ञान करकें सर्प भासता है ऐसे आत्मा में संवेदन भासती है, तीनों जगत् ब्रह्म संवित् रूप हैं, संवेदन भी कुछ भिन्न नहीं, यह निश्चय जिसको दृढ हो, इसको बुद्धीश्वर सम्यग् ज्ञान कहते हैं, जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् है उससे वास्तव बुद्धि का त्याग करना भी संसार की पार प्राप्तिका कारण है, ऐसा न करने अथवा अन्यथा करनेसे संसारका विस्तार बढ़ेगा। हे रामजी! संवेदन का जो उत्थान होता है बड़े दुःखों के देनेवाला

है और संवेदन जो जड़वत् अजड़ है, परम सुख सम्पत्ति का कारण है, वह आनन्द उत्थान से रहित आनन्दस्वरूप है, जिसको संवेदन उत्थान से रहित असंवेदन संवित आत्मा की बुद्धि हुई है, वह संसार समुद्र के पार जाता है, रामजी बोले—हे प्रभो! जड़ता से रहित असंवेदन कैसे होता है और असंवेदन से जड़ता कैसे निवृत्त होती है? वसिष्ठजी बोले—हे रामजी! जो सर्वत्र आसक्त नहीं होता और कहीं चित्त की वृत्ति नहीं लगती और जीवत्व का ज्ञान कुछ न रहे, वह असंवेदन जड़ता से रहित है, संवेदन स्पन्द रूप है जिससे दृश्य भासता है, वह दृश्य की ओर से जड़ है और स्वरूप में चेतन है, अजड कहाता है, हे रामजी! हृदयाकाश जो चेतन संवित् है, उसके साथ संवेदन का स्पर्श कुछ नहीं ऐसा संवित् अजड़ है, देवता भी वही है, नाग, दैत्य, राक्षस, हस्ती और मनुष्य आदिक स्थावर जंगमरूप सब वही धारण किये हैं, हे रामजी! अपनी चेष्टा से संवित् आप ही अपने आपको बन्धवाती है, जैसे घुराण आप ही अपने आपको बन्धवाती है, ऐसे संवित् अपने आपको जब अपनी ओर आती है तब आप ही आपको प्राप्त होती है, हे रामजी! जगत् जाग्रत रूप समुद्र है, संवित्‌रूप उसमें जल है, उससे सब स्थान पूर्ण हो गये हैं, अन्तरिक्ष पृथ्वी आकाश, पर्वत नदियाँ आदिक सब संवितरूप जल की लहरे हैं। इसलिये सर्व जगत् संवित्‌मात्र है, उसमें द्वैतकलना का अभाव है, यह सम्यक् ज्ञान है, इस संवित् का बीज सन्मात्र है, सन्मात्र सत्ता से संवित् का उदय होना हुआ है, जैसे प्रकाश से ज्योति उदय होती है और इस सत्ता के दो रूप हैं, एक रूप नाना प्रकार हो भासता है, द्वितीय एक ही रूप है। घट पट तत्व आदिक एक सत्ता के नाना प्रकार के विभाग स्थित है और विभाग से रहित एक सत्ता स्थित है, वह सत्ता सामान्य अद्वैतरूप परमार्थ सत्ता है, हे रामजी! विषय को त्यागकर जो सन्मात्र है वह अलेप एक रूप है, वह महासत्ता है, उसको ज्ञानवान् परम सत्ता कहते हैं और नाना आकार भी सत्ता कभी नहीं धारण करती। यह संवेदन करके हुए हैं इस कारण अवस्तु रूप हैं, एक रूप जो परम सत्ता निर्मल

अविनाशी है, न कभी नाश होती है न विस्मरण होती है, क्योंकि अनुभव रूप है, हे रामजी! एक काल सत्ता एक एक आकाश सत्ता है, यह सत्ताएँ अवस्तु रूप हैं, इस विभाग सत्ता को त्यागकर सन्मात्र सत्ता जो है तत् परायण हो जाओ, काल सत्ता आकाश सत्ता यद्यपि उत्तम हैं परन्तु वास्तव नहीं, जहां नाना विभाग कला आकार और नाना कारण हैं, वह पवित्र कर्ता पावन नहीं इसी से कहा है कि आकाश काल आदिक सत्ता वास्तव नहीं और सत्ता सामान्य जो संवित् मात्र है वह सबका बीज है उससे सबकी निवृत्ति होती है, हे रामजी! जितने कुछ पदार्थ हैं उनकी जो कलना सत्ता सामान्य पर्यन्त है, उस परमपद आनंद अनादि बीज रूप का बीज और कोई नहीं, जब उसका भान हो तब यह निर्विकार होकर स्थित हो, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं, जब दृश्य की भावना कुछ न फुरे जैसे बालक मूक (गूंगा) होता है, अभिमान से रहित होता है ऐसे ज्ञान करके यह निर्वासनिक हो, तब जड़ता से मुक्त होता है और सर्व आत्मभाव को प्राप्त होता है और जिस संवित् में दृश्य का स्पर्श होता है वह संवित् जड़ है क्योंकि शुद्ध स्वरूप में मालिन्य का स्पर्श होता है, इसी से जड है और जो संवित् द्वैत फुरणे से रहित है, वह शुद्ध है और अजड़ है और जो द्वैत भाव को ग्रहण करती है, वह स्वरूप की ओर से जड़ है, हे रामजी! जिसको स्वरूप की ओर से स्थित हुई है और दृश्य भाव का लेप नहीं होता, वह सर्व वासना को त्यागकर निर्विकल्प समाधि में जुड़ता है, जैसे आकाश में नीलता स्वाभाविक वर्तमान होती है, ऐसे योगी आनंद में वर्तता है और निःसवेदन संवित् मे नष्ट होता है, वही रूप हो जाता है, मन की वृत्ति वहां स्थिर हो जाती है, बैठते चलते, स्पर्श करते सुगंध लेते, देखते, सुनते, सब इन्द्रियों की क्रिया करते भी मन स्थिर रहता है, दृश्य का अभिमान नहीं फुरता, वह अजड़ कहाता है, संवेदन से रहित सुखी होता है, हे रामजी! ऐसी दृष्टि प्रथम तो कष्टरूप भासती है, परन्तु सर्व दुःख नाश कारिणी होती है, इसलिये इसी दृष्टि का आश्रय करके दुःखरूप संसार सागर से पार हो जाओ, यह कैसा

संसार है, जैसे वट का बीज सूक्ष्म है, विस्तार को पाकर आकाश को स्पर्श करने लगता है, ऐसे सूक्ष्म संवेदन से जब संकल्प फैलता है, तब वही बड़े जगत् के विस्तार को धारण करती है और जन्म के जाल को प्राप्त होती है, बीजरूप से आप ही जन्मों में डालता है, पुनः पुनः मोह में गिरता है, जब संवित् अपनी ओर होती है, तब मोक्ष को प्राप्त होता है, जैसी भावना स्वरूप से दृढ होती है, वही सिद्ध होती है, जैसे नटुआ अनेक स्वांग धारण करता है ऐसे संवित् अनेक आकारों को धारण करती है, जब नट भूमिका को त्यागता है तब अपने स्वरूप में प्राप्त होती है, हे रामजी! संवित्रूप नटिनी है, जगत्रूप धारणकर नृत्य करती है, जो दुःखरूप संसार समुद्र में गिरे नहीं, वह सत्ता सब कारणों का कारण है उसका कारण कोई नहीं और सर्व सारों का सार है, उसका सार कोई नहीं, उस चेतनरूप बड़े दर्पण में सम सत् जगत् भासता है, प्रतिबिंबित होता है, जैसे ताल में किनारे के वृक्ष प्रतिबिंबित होते हैं ऐसे सब वस्तुएं चिदर्पण में प्रतिबिंबित होती हैं, हे रामजी! जितने भी पदार्थ हैं वे आत्मसत्ता से सिद्ध होते हैं, उसी अनुभव में सबका अनुभव होता है, जैसे षट्रसों का स्वाद जिह्वा से सिद्ध होता है, ऐसे सब पदार्थ चिदाकाश के आश्रय सिद्ध होते हैं। सब जगत् गण उसी से उत्पन्न हुए हैं, उसी में वर्तते हैं, बढ़ते हैं, उसी में स्थित दीखते हैं, उसी में लीन होते हैं, सबका अधिष्ठान वही सत्ता है फिर कैसी है कि गुरु की गुरुता वही है, लघु की लघुता वही है, स्थूल की स्थूलता वही है, सूक्ष्म की सूक्ष्मता वही है, द्रव्यों का द्रव्यत्व वही है, कष्टों में कष्टता वही है, बड़े में बड़ाई वही है, तेजों का तेज वही है, तम का तम वही है, वस्तु की वस्तु वही है, दृश्यों का दृश्य वही है, दृष्टि का द्रष्टा वही है, किंचन में किंचनत्व वही है, निष्किंचन में निष्किंचनत्व वही है, तत्वों का तत्व वही है, असत्य का असत्य वही है, सत्य का सत्य भी वही है, आश्रम में आश्रम वही है, अनाश्रम में अनाश्रम वही है, हे रामजी! ऐसी जो परमपावन सत्ता है, उसमें प्रयत्न करके स्थिति प्राप्त करो, तदनन्तर जैसी इच्छा हो कीजिये,

वह आत्मतत्व निर्मल है, अजर है, अमर है, शान्तरूप है, चित्त के क्षोभ से रहित है, भव जल से मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त उसमें स्थिति प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे संस्कृतिबीजविचारो नामैकनवतितमः सर्गः ।।९१।।

द्विनवतितमः सर्गः ९२

संशयनिराकरणोपदेशवर्णनम् ।

रामजी बोले–हे आनन्द के देनेवाले! यह जो बीजों का बीज तुमने कहा है, वह किस प्रकार से प्राप्त हो सके, जिस प्रकार उस पद की शीघ्र प्राप्ति हो सके वही उपाय कहिये, वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! इनके सबके बीज का जो उत्तर दिया है, उस उपाय से परम पद की प्राप्ति होती है, अब और भी जो तुमने पूछा है सुनो–सत्ता सामान्य में स्थित होने के लिये यत्न करना चाहिये, जितनी भी संसार की वासनाएं हैं, उनको बलपूर्वक त्याग करना चाहिये और शुद्धआत्मा में तीव्र अभ्यास कीजिये, तब शीघ्र ही निर्विघ्न आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी, हे तत्ववेत्ता! उस पद में यदि पूर्ण रूप से स्थित न भी हो सकोगे तो भी अभ्यास की निरन्तरता से शीघ्र और अवश्य स्थिति प्राप्त होगी, हे रामजी! सत्ता सामान्य संवित् मात्र तत्व है, उसमें स्थित हो जाओ जो इच्छा हो वही करो, उसके बिना कुछ और सिद्ध न होगा, सब वही भासेगा, ऐसा जो अनुभव तत्व है, वह तेरा स्वरूप है, उसके ध्यान में स्थित हुए तुझको खेद कुछ न होगा, ऐसा संवेदन के साथ ध्यान नहीं होता और ऊंचा पद है, पुरुष प्रयत्न के साथ उस पद को प्राप्त करो, हे रामजी! केवल संवेदन के साथ ध्यान नहीं होता, क्योंकि जो सर्वत्र संभव संवित् तत्व संवित् सर्वदा सर्वकाल सहायक है और सबके साथ

लिये यदि एक ही आदमी जाय तो वह उसको मार न सके, अगर बहुत से इकट्ठे होकर उस पर जा पड़ें तो उसको जीत सकते हैं, ऐसे ही संसार रूप शत्रु है, जब तत्व ज्ञान, मनोनाश और वासना क्षय का इकट्ठा अभ्यास हो तब संसार रूप शत्रु का नाश हो सकता है, हे रामजी! जब तीनों का अभ्यास करेगा तब हृदय की ग्रन्थि टूट पड़ती है, जैसे अनेक जन्मों की संसार सत्यता जो इसके हृदय में स्थित हो रही है, वह अभ्यास योग से टूट पड़ेगी, नाश हो जायेगी, इसलिये चलते बैठते, खाते, पीते, सूंघते, स्पर्श करते, जगते, इन तीनों का अभ्यास करो, हे रामजी! वासना के त्याग से प्राण स्पन्द रोका जाता है, जब प्राणस्पंद रोका तब चित्त अचित्त हो जाता है, आत्मयोग से अथवा वासना त्याग से आत्मतत्व प्रकाशित होगा, इनमें जो तेरी इच्छा हो वह कर, चाहे प्राणों का संयम कर या वासना का त्यागकर प्राणायाम तब होता है, जब गुरु की दी हुई युक्ति अभ्यस्त होती है, आसन और आहार के संयम से प्राणों का स्पंद रोका जाता है और सम्यक् ज्ञान करके जगत् को अवास्तव जानता है, तब वासना नहीं प्रवृत्त होती है, जो जगत् के आदि और अन्त में स्थित है, उसमें मन जब स्थित होता है तब वासना उत्पन्न नहीं होती, हे रामजी! जब व्यवहार में निःसंग हुआ और संसार की भावना से विवर्जित हुआ और शरीर में नाशवती बुद्धि हुई तब वासना नहीं प्रवृत्त होती जब विचार से वासना का क्षय हो (जो कि अति कठिन है) तब चित्त नष्ट हो जाता है, जैसे वायु के ठहरने से धूलि नहीं उड़ती, ऐसे ही वासना के क्षय होने पर चित्त नहीं उत्पन्न होता, जो प्राण स्पंद है, वही चित्त स्पंद है, जब वासना फुरती है, तब जगद्भ्रम उत्पन्न होता है, जैसे अरुड से धूलि उपजती है ऐसे चित्त से वासना पैदा होती है, जब प्राण स्पंद ठहरता है तब चित्त भी ठहर जाता है, इसलिये यत्नपूर्वक प्राण स्पंद अथवा वासना के जीतने का अभ्यास करो, तब शान्तिमान् हो जाओगे, यदि यह उपाय न किया गया और प्रकारान्तर से चित्त को वश करने का उपाय करोगे तो विलम्ब से पाओगे, हे रामजी! मन के जीतने का अन्य

सम्मिलित है, जो कुछ चिन्तन करे, जहां जो इच्छित हो, जो कुछ करे वह सब संवित् से सिद्ध होता है, हे रामजी! आत्मतत्व प्रत्यक्ष है उसका भान नहीं होता और जो कुछ भासता है, यही अविद्या आवरण है, यह इसको दुःख होता है, जो कि स्वरूप के प्रमाद से दृश्य की वासना करता है, उसकी दृढ़ता से अन्तःकरण दुःख पाता है। जब यत्न करके वासना का त्याग किया जाये तब तन और मन के सब दुःख नाश हो जायँगे। जैसे मेरु को मूल से उखाड़ना कठिन है ऐसे ही वासना का त्याग कठिन हो रहा है, वह वासना मन से होती है, जब तक मन क्षय नहीं होता, तब तक वासना भी क्षय नहीं होती और तत्वज्ञान बिना मन नाश नहीं होता, वासना और मन का आवरण दूर हुए तत्व ज्ञान होता है, यह परस्पर कारण रूप है। इसलिये हे रामजी! तुम पुरुष प्रयत्न करके मन के संकल्प विकल्प को निवृत्त कर, अभ्यास और विचार से विवेक पूर्ण उपाय से भोगों की वासना को दूर से त्याग दे। ऐसा करने से तू शान्तिमान् होगा, इन तीनों का सम अभ्यास करके तत्व ज्ञान मनोनाश वासना क्षय का बार बार अभ्यास कर, जब तक इनको न साधेगा, तब तक अनेक उपायों से शान्ति को न प्राप्त होगा, हे रामजी! यदि वासना का क्षय हो और मनोनाश तत्व ज्ञान का अभ्यास न करे तो कार्य सिद्ध नहीं होता और जो मनोनाश करे और तत्वज्ञान से वासना क्षय न करे तब भी कल्याण न होगा और तत्व ज्ञान का विचार करे और वासना क्षय न हो तो भी कुशल न होगा, जब तीनों का सम अभ्यास हो तब फल की प्राप्ति होती है, हे रामजी! एक के सेवन से सिद्धि नहीं मिलती, जैसे मंत्रों में कोई प्रतिबन्धक दोष आ जाये तो फल दायक नहीं होते, अर्थात् मंत्र सम्पूर्ण पढ़ा हुआ फलदायक होता है, एक एक चरण पढ़ें तो फल दायक नहीं होता, जब तक सब मंत्र संध्यादिक एक स्थान पर नहीं पढ़े जाते तब तक नहीं फुरते, ऐसे ही अकेले किसी से कार्य सिद्ध नहीं होता, जब चिरकाल तक इनका इकट्ठा ही सेवन हो तब कार्य सफलता भी संभावना है, जैसे शत्रु बड़ा बलवान् हो और सेना भी उसके साथ हो, उसको मारने के

उपाय इन युक्तियों के बिना और कोई नहीं, जैसे मतवाले हस्ती को वश करनेके लिये अंकुश विना अन्य कोई उपाय कोई नहीं, ऐसे मन युक्ति बिना वश में नहीं आता, वह युक्ति क्या है! सत्संग और सच्छास्त्रों का विचार करना, यह मन को वश में करने के लिये परम युक्ति है, तत्व ज्ञान, वासना क्षय और प्राण स्पन्द का रोकना यह चित्त को वश करने की परम युक्ति है, इससे चित्त शीघ्र ही जीता जाता है और जो इन उपायों का त्याग करके हठ से मन वश किया चाहते हैं, वे अन्धेरा दूर करने के लिये दीपक न जलाकर अन्धेरे को शस्त्रों से काटना चाहते हैं, ऐसे अन्य उपायों से मन वश न होगा, अतः उपायान्तर करने वाले मूर्ख हैं, जैसे मतवाला हाथी मृणाल तंतु से नहीं बांधा जा सकता, परन्तु यदि कोई बांधना ही चाहे तो उसकी मूर्खता है, ऐसे ही मन को जीतने के लिये और प्रकार ढूंढ़ने वाले भी वृथा परिश्रम और क्लेश पायेंगे, आत्मसुख न प्राप्त होगा, जैसे भाग्यहीन जीवों को कहीं सुख नहीं मिलता, हे रामजी! तीर्थ, दान, तप, देव पूजा यह चारों साधन जिन्होंने किये हैं परन्तु मन को जीतने का उपाय नहीं किया तो जानिये कि वे निरे पशु हैं, जैसे पशु पत्र फल आदि खाते हुए पहाड़ों में घूमते रहते हैं, इसी प्रकार वे लोग हैं जिन्होंने मन को वश में नहीं किया, इसलिये आत्मपद की प्राप्ति हुई नहीं, इसलिये उन पशुओं के समान ही वे भी पहाड़ों में घूमते हैं अतः पशु हैं। हे रामजी! जिस पुरुष ने मन को वश में नहीं किया, उसको शान्ति प्राप्त नहीं होती, जैसे कोमल अंग मृग ग्राम में गया, शान्ति को प्राप्त नहीं होता, जैसे जल में आया तृण नदी के वेग से भटकता फिरता है, कष्टवान् होता है, ऐसे वह पुरुष जो मन को वश में किये बिना कष्ट पाता है, कभी दुःख में जलता है, कभी कर्मों के वश से स्वर्ग को प्राप्त होता है, वह भी नाश हो जाता है, जैसे जल में तरंग उछलता है, कभी अधः को जाता है ऐसे कर्मों के वश से जीव स्वर्ग में नरक के मध्य में भ्रमते हैं, इसलिये ऐसी दृष्टि का त्यागकर शुद्ध संवित् मात्र का आश्रय लेकर वीतराग होकर स्थित हो, हे रामजी! जगत् में ज्ञानवान् सुखी हैं

और जीता भी वही है और सब दुःखी हैं और मृतक समान हैं और बली भी ज्ञानवान् है, वह मोहरूप शत्रु को मारकर संसार समुद्र से पार को प्राप्त होता है, इसलिये तुम ज्ञानवान् बनो, संवेदन से रहित जो संवित्मात्र तत्व है, वह एक है और सबका आदि है, सबसे उत्तम कलना से रहित सब में स्थित है उसमें स्थित हो, तब कर्ता हुआ भी अकर्ता होगा और परब्रह्म का साक्षात्कार होगा।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे संशय निराकरणोपदेशवर्णनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥९२॥

त्रिनवतितमः सर्गः ९३

मोक्षोपायवर्णनम् ।

वसिष्ठजी बोले–हे रामजी! जिस पुरुष ने आत्मविचार के बल से अपने चित्त को कुछ थोड़ा सा भी निगृहीत किया है, वह पूर्ण फल को प्राप्त होगा और ऐसे ही पुरुष का जन्म सफल है, हे रामजी! जिसके चित्त में एक कणमात्र भी विचार उत्पन्न हुआ है वह आत्माभ्यास द्वारा बड़े विस्तार को प्राप्त करेगा, जिसके हृदय में राग सहित विचार उत्पन्न हुआ है वह बढ़ता जाता है और वह अविद्यारूप गुणों (सत्व, रज, तम) के फल को काट डालेगा और सब शुभगुण आकर आश्रय करेंगे, जैसे जल से भरे तालाब का सब पक्षी आकर आश्रय लेते हैं। हे रामजी! जिसको सम्यग् ज्ञान प्राप्त हुआ है और जिसे यथार्थ निर्मल बोध हो चुका है, उसको इन्द्रियों के विषय विचलित नहीं कर सकते, जब तक स्वरूप का प्रमाद होता है, तब तक आधि दुःख इसको होता है और जब स्वरूप में स्थित होता है तब शरीर और मन के दुःख उसको वश नहीं कर सकते, जैसे बिजली को कोई नहीं पकड़ सकता, जैसे मेघों को कोई मुष्टि में जकड़ (बन्द) नहीं कर सकता, जैसे आकाश के चन्द्रमा को कोई हाथ में नहीं ले सकता, जैसे मूढ़ स्त्री चन्द्रमा को मोहित करने में समर्थ नहीं

अंतर होता है वह ज्ञेय परब्रह्मरूम है सत्य है, असत्य की नाईं होकर स्थित हैं, ज्ञानवान् इसको पाकर तृप्त होता है और जीवन्मुक्त होकर अपने आप में प्रकाशित होता है, जैसे चक्रवर्ती राज्य के आनन्द से तृप्त होता है ऐसे ज्ञानवान् ब्रह्मानन्द में इन्द्रियों की इच्छा से रहित शोभा पाता है शब्द, स्पर्श, रूप रसगन्ध इन पांचों विषयों में आसक्त नहीं होता, संगीत के मोहक माधुर्य में कोकिलादिक पक्षियों के आकर्षक कलवर से सुन्दर राग रागनी अथवा गंधर्वों के गायन में उसको आसक्ति नहीं होती तथा जितनी भी सुस्पर्श वस्तुएं हैं जैसे सुगंध पुष्प, चन्दन, मन्दार कल्पवृक्ष के पुष्प, अप्सरा, नाग कन्याएं जिनके अंग का रंग द्रवित सुवर्ण के समान सुन्दर है वे मनोहारिणी कामनियों का स्पर्श तथा हीरों मणियों जवाहिरात, आदि का सुखद स्पर्श है उसमें भी वह आसक्ति नहीं जानता, यद्यपि मनुष्य के मन को मोहित करने के लिये विधाता की सृष्टि में सामान की कमी नहीं है परन्तु चन्द्रमा सुन्दर और शीतल है तो भी सूर्यमुखी कमलों को विकसित नहीं कर सकता, ऐसे ही सुन्दर वस्तुओं के स्पर्श ज्ञानी के चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकते, जैसे मरुस्थल में हंस प्रसन्न नहीं होता, ऐसे ज्ञानवान् स्पर्श में प्रसन्न नहीं होता, रसादिक में भी ज्ञानी बद्ध नहीं होता, दूध दही घृत आदिक जो रस हैं और भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य यह चार प्रकार के भोजन तथा कटु तीक्ष्ण मीठे खारे आदि पदार्थों की ज्ञानवान् इच्छा नहीं करते, किसी के बन्धन में नहीं पड़ते, बोध से नित्य तृप्त हैं, किसी भोग की इच्छा नहीं करते, जैसे ब्राह्मण कूकर का मांस खाने की इच्छा नहीं करते, ऐसे ज्ञानवान् उर्वशी, रंभा मेनका आदिक अप्सराओं की इच्छा नहीं करता, चन्दन अगर कस्तूरी मन्दार पुष्प आदिक गन्ध की भी उसको इच्छा नहीं, जैसे मछली मरुस्थल की इच्छा नहीं करती, ऐसे ज्ञानवान् सुगन्धि की इच्छा नहीं करता, सुन्दरी स्त्रियाँ बाग, तालाब, नदियाँ आदिक रूपवान् पदार्थों की ज्ञानवान् इच्छा नहीं करता, जैसे चन्द्रमा बादलों की इच्छा नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् रूप की इच्छा नहीं करता और की बात क्या है, इन्द्र, यम,

होती, ऐसे ही ज्ञानवान् को कोई दुःख अपने वश में नहीं कर सकता, हे रामजी! जो हाथी मद से मत्त है और जिसके मस्तक से मद झरता है और भँवरे उसके आगे शब्द करते हैं उसको मच्छरों के प्रहार और स्त्रियों के श्वास काट नहीं सकते। ऐसे ज्ञानवान् को विषयों के रागद्वेष विचलित नहीं कर सकते और जिस हस्ती के मस्तक से मोती निकलते हैं ऐसे बलवान् हाथी को अपने नखों से चीर फाड़कर रख देनेवाले सिंह को हिरण नहीं मार सकता, ऐसे ज्ञानवान् को दुःख नहीं चला सकता और जिसके फूत्कार के साथ वन के वृक्ष जल जाते हैं ऐसे सर्प को मेंडक नहीं खा सकते। ऐसे ही ज्ञानवान् को रागद्वेष नहीं फिसला सकते, जैसे राजसिंहासन पर विराज रहे राजा को कोई चोर तस्कर आदि दुःख नहीं दे सकते, इसी प्रकार स्वरूप स्थित ज्ञानवान् को विषयों के प्रभाव का भान भी नहीं होता और जो लोग उनसे विपरीत अर्थात् देहाभिमानी विचारहीन विषय वासनादीन अज्ञान की साक्षात् मूर्तियां हैं, उनको यह विषयों के प्रबल वेग मोह के महामद में बहा ले जाते हैं। अथवा वे अज्ञानी लोग इतने सत्त्वहीन हो चुके हैं कि उन्हें विषयों का वायु अपने सामान्य बल से भी सूखे पत्ते की नाईं दूर उड़ा ले जाता है, परन्तु जैसे पर्वत पवन से हिलाये नहीं जाते उसी प्रकार सांसारिक विषयों के प्रबल वेग ज्ञानवान् के आसन को नहीं हिला सकते और जो विचार से रहित हैं वे मृतक समान हैं। इसको यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? यह जगत् क्या है? कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे निवृत्त होगा? इस प्रकार सत् पुरुषों के संग और अध्यात्म शास्त्र के विचार से जो पुरुष दृश्य भाव को त्यागकर आत्मतत्व में स्थित होता है वह परम पद को पाता है, जैसे दीपक के प्रकाश से पदार्थ को पाता है ऐसे ही विचार से आत्मतत्व को पाता है, हे रामजी! जो शास्त्र विचार से आत्मतत्व का बोध होता है वह ज्ञान कहाता है, वह ज्ञान ज्ञेय के साथ अभिन्नरूप है, अध्यात्म विद्या के विचार से आत्मज्ञान प्राप्त होता है जैसे दूध के मंथन से माखन निकाला जाता है, ऐसे ही विचार से आत्मज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञेय इसके

खट्टा, कड़वा, सलोना, दूध, दही, घृत, रस, रक्त, मांस, मद्य, अस्थि, तृण आदिक और जो भक्ष्य भोज्य चोष्य लेह्य भोजन हैं, सब सम हैं, उसे न इष्ट में राग है, न निष्ट में द्वेष है, उसके सामने एक आदमी प्राण निकालने को और दूसरा प्राणों की रक्षा के लिये आ जाय तो दोनों को आत्मस्वरूप मधुर मन शांतरूप देखता है, राग द्वेष से रहित है, रमणीय अरमणीय पदार्थों को सम देखता है, संसार की आस्था उसने त्याग दी है, बोध स्वरूप में निश्चय हुआ है, चित्त राग सहित पद को प्राप्त हुआ है, सब जगत् उसको आत्मरूप भासता है, शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध यह पांचों विषयों के भोग अपना अवसर नहीं पाते, जैसे दर्पण में देखने लगें तो प्रतिबिंब भासता है, दर्पण की सूरत नहीं रहती, ऐसे विषयों में आत्मा देखता है, विषयों की सूरत नहीं रहती और जो अज्ञानी है, उसको इन्द्रिय ग्रस लेते हैं, जैसे तृण को मृग ग्रास करता है, अर्थात् खाता है और जिसने आत्मपद में विश्रान्ति पाई है, उस पर इन्द्रियों का बल नहीं चलता है, हे रामजी! अज्ञान रूप समुद्र में जो पड़ा है, वासना रूप लहर से मिलकर उछलता है गिरता है उसको आशारूप नक्र (तंदुआ) पकड़ लेता है, हाय हाय करता है, शांति नहीं पाता। जो पुरुष विचार करके आत्मपद को प्राप्त हुआ है वह विश्रान्ति पाकर विचलित नहीं होता, जैसे सुमेरु पर्वत जल के समूह से विचलित नहीं हो सकता ऐसे ही वह संकल्प विकल्प में चंचल नहीं होता, आत्मपद में विश्रांति संकल्प की सीमा है, वह जिसको हुई है वह उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ है, हे रामजी! उसको यह जगत् ज्ञान मात्र भासता है, संवित् मात्र जानकर विचार करता है, न किसी का ग्रहण त्याग करता है इसलिये भ्रान्ति को त्यागकर संवित्मात्र ही तेरा वास्तव स्वरूप है, किसका ग्रहण करता है किसका त्याग करता है, जो आदि में भी न हो अन्त में भी न रहे, मध्य में कुछ भासे वह भ्रम मात्र जानिये, इस प्रकार जानकर भाव अभाव की बुद्धि को त्यागकर निःसंवेदन रूप होकर संसार समुद्र को तर जाओ, मन बुद्धि इन्द्रियों से कर्म करो, चाहे न करो, निःसंग होगे तब तुमको लेप न

विष्णु ब्रह्मा, समुद्र कैलास मंदराचल यत्न मणि कांचन यह जो बड़े बड़े पदार्थ हैं, इनकी इच्छा नहीं करता, जैस राजा नीच पदार्थों की इच्छा नहीं करता, ऐसे ज्ञानवान् किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता, समुद्र, सिंह, बिजली आदिकों के जो भयानक शब्द हैं उनको सुनकर नहीं डरता, जैसे शूरवीर धनुष का शब्द सुनकर भीत नहीं बल्कि प्रसन्न होता है, ऐसे ज्ञानवान् मत्त हस्ती, वेताल पिशाच तथा इन्द्र के वज्र का भी शब्द सुनकर कंपित नहीं होता, सत्स्वरूप स्थिति से उसकी मनोवृत्ति कभी विचलित नहीं होती, ज्ञानवान् के शरीर को आरे से चीरिये, खड्ग से काटिये बाण से बेधिये तो भी अविचल रहेगा और यही कहेगा आत्मा मरती नहीं, देह को चाहो मारो, लोहे की आग की पानी की यहां मार नहीं, उसको रागद्वेष किसी में नहीं होता, शरीर पर एक ओर जलता अंगार रखिये और दूसरी ओर फूलों का सुस्पर्श कराइये, तो भी हर्ष शोक का निशान नहीं मिलेगा, उसके लिये खड्ग धारा और पुष्पशय्या एक समान है, अर्थात् इनसे कोई सुखदुःख का भान नहीं तप्त शिला और शीतल स्थान दोनों पर समान रूप से बैठता है ज्ञानवान्। जीवित करने वाले अमृत और मारनेवाले विष के हाथ में ज्ञानवान् का जीवन मरण नहीं है, हे रामजी! उसको सम्पत्ति मिले या विपत्ति उसके अन्दर दोनों अवस्थाओं में व्यवहार करते हुए भी लेशमात्र हर्ष शोकर नहीं है, उसका मन अन्दर से मुक्त सदा सम रहता है, हे रामजी! लोह के जम्बूरों से उसका मांस नोचा जाये, शस्त्रों की वर्षा की जाये, घोर नरक में उसे डाल दिया जाये, परंतु उसकी निर्भयता अक्षुण्य रहेगी, भारी से भारी संकट में भी ज्ञानवान् उद्वेगवान् न दीखेगा, किन्तु सदा प्रसन्न वदन आनंद सदन, ब्राह्मी स्थिति मग्न दिखाई देगा हे रामजी! ज्ञानवान् रागद्वेष से रहित है, क्योंकि देहाभिमान से मुक्त है, उसका शरीर अग्नि में पड़े अथवा खाई में गिरे या स्वर्ग में प्राप्त हो उसके लिये सर्वत्र समता है, हर्ष शोक से रहित है, हे रामजी! जिसको दृढ़ता पूर्वक स्वरूप स्थिति प्राप्त है, वह कभी विचलित नहीं होता, जैसे मेरु स्थित है, उसको पवित्र पदार्थ हो अथवा अपवित्र हो, पथ हो या कुपथ विष हो या अमृत, मीठा,

लगेगा, हे रामजी! जिसका मन अभिमान से रहित हुआ है, वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता, जैसे मन और ठौर गया होता है तो विद्यमान शब्द अथवा रूप पदार्थों को होते भी नहीं जानता, ऐसे जिसका मन आत्मपद में स्थित हुआ है, उसको सुख दुःख कर्म नहीं लगता, जो पुरुष अभिमान से रहित है, वह कर्मों में सुख दुःख भोगता दृष्टि आता है, परन्तु उसको स्पर्श नहीं करता, देखो तो यह बालक भी जानते हैं, जो मन और ठौर जाता है तो सुनता भी नहीं सुनता, ऐसे वह पुरुष करता भी नहीं करता, हे रामजी! जिसका मन असंग हुआ है, वह देखता है, परन्तु नहीं देखता, सुनता है परन्तु नहीं सुनता, स्पर्श करता है परन्तु नहीं करता, सूंघता है, रस लेता है, परन्तु नहीं लेता, इत्यादिक जो कुछ चेष्टायें हैं, वह कर्ता भी अकर्ता है, उसका चित्त आत्मपद में लीन हुआ है, जैसे कोई पुरुष देशान्तर को जाता है उस देश में काम करता है परन्तु चित्त उसका घर में रहता है, ऐसे ज्ञानवान् का चित्त आत्मपद में रहता है, यह बात मूर्ख भी जानता है कि जैसा वेग मन में तीव्र होता है, किसी की सिद्धि होती है वही भासता है और नहीं भासता, हे रामजी! सब अनर्थों का कारण संग है, संसार के संग से जन्म मरण बंधन को प्राप्त होता है, इसलिये सब अनर्थों का कारण संसार का संग है, सब इच्छाओं का कारण संग है, सब आपत्तियों का कारण संग है, संग त्याग से मोक्षरूप अजन्मा होता है, इसलिये संग को त्यागकर जीवन्मुक्त होकर विचरो, रामजी बोले–हे भगवन्! सर्व संशयों के संशयरूप कोहरे के नाश कर्ता शरत्काल के पवन! संग किसको कहते हैं? संक्षेप से मुझको कहो, वसिष्ठजी बोले– हे रामजी! भाव अभाव जो पदार्थ हैं, हर्ष शोक देने वाले हैं, जिस मलिन वासना से यह प्राप्त होता है, वह वासना संग कहाता है, हे रामजी! जो देह में अहं बुद्धि होती है और संसार की सत्य प्रतीति होती है, उस संसार के इष्ट अनिष्ट को रागद्वेष सहित ग्रहण करता है, ऐसी मलिन वासना संग कहाती है और जीवन्मुक्त की वासना हर्ष शोक से रहित शुद्ध होती है, वह निःसंग

कहाती है, उसकी वासना जन्ममरण का कारण नहीं होती, हे रामजी! जिस पुरुष को देह में अभिमान नहीं होता और स्वरूपमें जो स्थित है, शरीर के इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता, उसकी शुद्ध वासना है, वह जो सत्ता है, वह बन्धन का कारण नहीं होती, जैसे भूना बीज नहीं उपजता, ऐसे ज्ञानवान् की वासना जन्ममरण का कारण नहीं होती और जिसकी वृत्ति जगत् के पदार्थों में स्थित है और रागद्वेष से ग्रहण त्याग करता है, ऐसी जो मलिन वासना है वह जन्मों का कारण है इस वासना को त्याग कर जब तू स्थित होगा, तब तू कर्ता हुआ भी निर्लेप रहेगा, हर्ष शोकादिक विकारों से जब तू रहित होगा तब वीतराग, भय क्रोध से असंग होगा, हे रामजी! जिसका मन असंग हुआ वह जीवन्मुक्त हुआ है, इसलिये तू भी वीतराग होकर आत्मतत्व में स्थित हो, जीवन्मुक्त पुरुष इन्द्रियग्राम का निग्रह करके स्थित होता है और मान मद वैर को त्यागकर संताप से रहित स्थित होता है, जो कुछ कर्म करते हैं सब आत्मा जानकर करते हैं, परन्तु व्यवहार बुद्धि से रहित असंग होकर कर्म करते हैं, करते हुये भी नहीं करते हैं, उनको संपति मिले या विपत्ति मिले अपना स्वभाव नहीं त्यागते, जैसे क्षीर समुद्र को मंदराचल ने पाकर शुक्लता नहीं त्यागी, ऐसे जीवन्मुक्त अपने स्वभाव को नहीं त्यागते। हे रामजी! आपत्ति प्राप्त हो अथवा चक्रवर्ती राज्य प्राप्त हो या सर्प का शरीर प्राप्त हो, इन्द्र वन जायें तो भी आत्म ज्ञानी लोग इन सब में समभाव से स्थित होते हैं, जैसे क्षयकाल और उदय चन्द्रमा एकसा ही रहता है, वैसे वे हर्षशोक को नहीं प्राप्त होते और सर्व आरंभ त्यागकर नानात्व भाव से रहित होकर स्थित होते हैं, विचार द्वारा उन लोगों ने आत्मतत्व पाया है, जैसी स्थिति हो, ऐसी हो, तुम भी इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो। तब वीतज्वर होकर आत्मपद प्राप्ति के बल से जन्ममरण बन्धन में न आओगे।

इति श्रीयोगवासिष्ठे उपशमप्रकरणे आर्षे देवदूतोक्तमहारामायणे
मोक्षोपायवर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ।।९३।।

इति पञ्चममुपशमप्रकरणं समाप्तम् ।५।

खेमराज श्रीकृष्णदास

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई